प्रकाशक :-



शाह चतुरदास चीमनलाल
श्री 'दिव्यदर्शन' साहित्य समिति
कालुशीनी पोल, अहमदाबाद



प्राथमिक सहायक :-



(१) पूना, मोटाजी रुघनाथजी के उपधान खाते से
(२) जामनगर, शांतिदास खेतसीभाई जैन चेरीटेबल ट्रस्ट खाते से।
(३) बम्बई, सेठ श्री माणेकलाल चुनीलाल
(४) वाली (राजस्थान) जैन संघ ज्ञानखाते से।



प्राप्तिस्थान

(१) चतुरदास चीमनलाल शाह
कालुशीनी पोल, अहमदाबाद
(२) जेठालाल चुनीलाल घीवाला
३५५, कालबादेवी रोड, बम्बई २
(३) पुखराज भरमचंद
पिंडवाडा (स्टेशन- सिरोही रोड)



मुद्रक :-
राष्ट्रभाषा प्रि. प्रेस, पूना
(पृष्ठ १ से ५६ तक)
सुभाष प्रि. प्रेस, अहमदाबाद
(पृष्ठ ५७ से २८८ तक)
मनोहर प्रि. प्रेस, ब्यावर
(पृष्ठ २८९ से ४३६)
कृष्णा आर्ट प्रेस, ब्यावर
प्रस्तावनादि .. ...

वीर संवत् २४८९
वि० सं० २०१९
इ० स० १९६३
प्रथम आवृत्ति



कर्मसाहित्य के सूक्ष्मबुद्धिगम्यकर्मप्रकृत्यादि शास्त्रों के प्रखरज्ञाता
सर्वहितवत्सल तपगच्छगगनाङ्गण दिवाकर २५० मुनिवरों के
परमगुरु तप–त्याग–वैराग्य–संयममूर्ति बहुजनश्रद्धेय

पूज्य आचार्यदेवेश श्री विजयप्रेमसूरीश्वरजी महाराजा !

आप के अगण्य उपकार की नगण्य कृतज्ञता के रूपमें यह हिन्दी ललितविस्तरा–विवेचन आप के पावन करकमलों में अर्पित करते हुए, मुझे आप अधिकाधिक सुकृत बल दें ऐसी प्रार्थना.........

—भानुविजय

प्रकाशकीय निवेदन ★ ★ ★

जैन शासन के महान् ज्योतिर्धर, स्व-पर दर्शनों के प्रकाण्ड विद्वान, सूक्ष्म तत्त्वसभर १४४४ शास्त्र प्रणेता पूज्यपाद आचार्य पुरन्दर श्रीमद् हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराज की 'नमुत्थुणं' आदि सूत्रों पर की 'श्री ललितविस्तरा' नाम की विवेचना अलौकिक कोटि की है। जिस में तर्कपुरस्सर वर्णित श्री अरिहंत परमात्मा व जैन-दर्शन की विश्वश्रेष्ठ विशिष्टताएँ पढ़कर व्याख्यातृचूडामणि श्री सिद्धर्षिगणी महाराज की बौद्धदर्शन के अध्ययनवश हुई चलचित्तता जैनदर्शन की अनूट आस्था में परिवर्तित हो गई। और वे गुरु के आगे अश्रुपूर्ण नयनों से क्षमा याचने लगे। (देखिए मुखपृष्ट चित्र) इस ललित विस्तरा पर आचार्य श्री मुनिचन्द्रसूरिजी महाराज की रहस्यप्रकाशक 'पंजिका'' टीका है। उन दोनों पर बाल जीवों के गम्य ऐसी सरल व स्पष्ट हिन्दी विवेचना परम कृपालु गुरुदेव सिद्धान्तमहोदधि पू० आचार्य भगवंत श्रीमद् विजयप्रेमसूरीश्वरजी म० की परम कृपा से उन के विद्वान तपस्वी शिष्यरत्न पू० पं० श्री भानुविजयजी गणि के द्वारा बहुत परिश्रम से लिखी गई है। आज हमें ललितविस्तरा, पंजिका, व हिन्दी विवेचना रूप यह तीनों ग्रन्थरत्न का प्रकाशन करते हुए अत्यधिक हर्ष होता है।

यह भी आनन्द की बात है कि हमारी विज्ञप्ति से इस ग्रन्थ पर राजस्थान स्टेट के माननीय राज्यपाल (गवर्नर) श्री सम्पूर्णानन्दजी महोदय ने 'भूमिका' लिख देने का एवं पूना वाडिया कालेज के प्रोफेसर डा० पी० एल वैद्य (एम० ए० डी० लिट्) महाशय ने 'परिचय' लिख देने का अनुग्रह किया है। पू० मुनिराज श्री राजेन्द्रविजयजी महाराज ने विस्तृत प्रस्तावना-आलेखन एवं पू. मुनिराज श्री पद्मसेनविजयजी महाराज आदि ने प्रूफ संशोधन व विषयसूचि-शुद्धिपत्रक निर्माण आदि में काफी सहकार देने की कृपा की है। पृष्ट २ पर उल्लिखित महानुभावों ने आर्थिक सहकार दे कर हमारा उत्साह बढ़ाया है। इन सब के प्रति हम आभार प्रदर्शित करते हुए इस महाशास्त्र की प्रस्तावना से दिग्दर्शन एवं खुद ग्रन्थावलोकन से असाधारण तत्त्वबोध पाकर मूल्याङ्कन करें यही प्रार्थना करते हैं।

विशेष में केवल संस्कृत ललितविस्तरा और पंजिका टीका का अलग प्रकाशन भी किया गया है। जो कि केवल संस्कृतार्थी अभ्यासकों के लिए बहुत उपयोगी है।

अहमदाबाद
२-७-६३
वीर संवत् २४८९ आषाढ़ शु. ११

प्रकाशकः—
चतुरदास चीमनलाल शाह

'श्री ललितविस्तरा' के सम्बन्ध में राजस्थान स्टेट के माननीय गवर्नर साहिब श्रीमान् संपूर्णानन्दजी महोदय क्या फरमाते हैं ?

भूमिका

राजभवन माउन्टआबू
दिनांक जून २५-१९६३ ई०

"ललितविस्तरा" के सम्बन्ध में दो शब्द लिखने का जो मुझ को अवसर मिला है उसके लिए मैं अपने को भाग्यशाली मानता हूँ। वस्तुतः प्रस्तुत सस्करण तीन पुस्तकों का समुच्चय है। पहिले तो आ० श्री हरिभद्रसूरिजी द्वारा विरचित ललितविस्तरा नाम की चैत्यवन्दन सूत्र-विवेचना है जिसको भाष्य कहना चाहिए, फिर इस भाष्य पर आ० श्री मुनिचन्द्रसूरिजी द्वारा विरचित पंजिका व्याख्या नाम की वृत्ति है और भाष्य एवं वृत्ति पर प्रकाश नाम की हिन्दी टीका है। यद्यपि टीका के साथ 'संक्षिप्त' विशेषण लगा है परन्तु वस्तुतः यह पर्याप्त मात्रा में विशद है। जो लोग संस्कृत से अनभिज्ञ है उनको इससे विषय को समझने में पूरी सहायता मिलेगी।

"ललित विस्तरा" को जैन धर्म और दर्शन पर स्वतंत्र निबंध कहना अनुचित न होगा। उदाहरण के लिए पहले सूत्र को ही लीजिए, वह इस प्रकार है:—
'नमोत्थुणं अरहंताणं, भगवंताणं, आइगराणं, तित्थयराणं, सयंसंबुद्धाणं, पुरिसुत्तमाणं, पुरिससीहाणं, पुरिसवरपुंडरीयाणं, पुरिसवरगंधहत्थीणं, लोगुत्तमाणं, लोगनाहाणं, लोगहियाणं, लोगपईवाणं, लोगपज्जोअगराणं, अभयदयाणं, चक्खुदयाणं, मग्गदयाणं, सरणदयाणं, बोहिदयाणं, धम्मदयाणं, धम्मदेसयाणं, धम्मनायगाणं, धम्मसारहीणं, धम्मवरचाउरन्तचक्कवट्टीणं, अप्पडिहयवरनाणदंसणधराणं, वियट्टछउमाणं, जिणाणं, जावयाणं, तिण्णाणं, तारयाणं, बुद्धाणं, बोहयाणं, मुत्ताणं, मोयगाणं, सव्वन्नूणं, सव्वदरिसीणं, सिव-मयल-मरुअ-मणंत-मक्खय-मव्वाबाह-मपुणरावित्ति सिद्धिगइनामधेयं ठाणं संपत्ताणं, नमो जिणाणं जिअभयाणं।'

देखने पर तो यह मंगलाचरण जैसा लगता है, तीर्थंकरों की वन्दना है। परन्तु आ० श्री हरिभद्र सूरि ने उसे एतावत् मात्र नहीं माना है। पहले तो इन प्राकृत शब्दों का 'नमोऽस्तु अर्हद्भ्य' इत्यादि संस्कृत रूप दिया गया है, और फिर एक एक शब्द की इस प्रकार व्याख्या की गई है कि समूचा जैन दर्शन सामने आ जाता है। केवल स्वमत-प्रतिपादन ही नहीं है, परन्तु भाष्यकारों की शैली के अनुसार प्रसंगवशात् अन्य मतों की आलोचना भी की गई है और जैन मत की विशेषताओं का सम्यक् रूप से निरुपण भी किया गया है।

भारत में जिन दार्शनिक विचारधाराओं का समय समय पर उदय हुआ है। इसमें जैन मत भी अपना विशेष स्थान रखता है। वह अवैदिक है, अर्थात् वेद को प्रमाण नहीं मानता, परन्तु जैन दर्शन-जैन धर्मशास्त्र और जैन पुराणों में इस देश की बहुत सी प्राचीन परम्पराएं यथावत् सुरक्षित है। दर्शन के विद्यार्थी के लिए जैन दर्शन का अध्ययन करना नितान्त आवश्यक है। वह भले हो उस के तथ्यों से सहमत न हो फिर भी स्वमत पुष्टि के लिए भी जैन शास्त्रों का ज्ञान परमावश्यक है। आजकल हमारे यहां बहुधा एकदेशीय पठन-पाठन होता है। वेदान्त के विद्यार्थी शारीरक दर्शन के शांकर भाष्य में जैन मत के खंडन को तो पढ़ लेते हैं, परन्तु जैन आचार्य स्वयं क्या कहते हैं उसको जानने का कष्ट नहीं करते। इसलिए उन का ज्ञान अधूरा और भ्रामक रह जाता है। ऐसे लोगों को 'ललितविस्तरा' जैसी पुस्तकों का निश्चय ही अध्ययन करना चाहिए। मेरी सम्मति में यह प्रकाशन सर्वथा उपादेय है।

संपूर्णानन्द
राज्यपाल, राजस्थान

पूना वाडिया कॉलेज के प्रा. डा. पी. एल वैद्य, एम. ए. डी. लिट् का उच्च अभिप्राय

卐 परिचय 卐

प्रस्तुत ग्रन्थ में जैन आगम में रहे 'नमोत्थुणं अरहन्ताणं' इस वाक्य से आरम्भ होने वाले सुप्रसिद्ध चैत्यवन्दन सूत्र, उस पर सुविख्यात जैन आचार्य श्री हरिभद्रसूरि की 'ललितविस्तरा' नामक पांडित्य-प्रचुर व्याख्या एवं मुनिचन्द्रसूरि द्वारा उपर्युक्त व्याख्या पर लिखित 'पञ्जिका' नामक उपव्याख्या और इसी पञ्जिका व्याख्या के आधार पर पंन्यासजी श्री भानुविजयजी गणि का किया हुआ हिन्दी अनुवाद-इन सबका संग्रह है। मूल-चैत्यवन्दन स्तोत्र प्रत्येक जैन के नित्य पाठ में होता है। यह प्रायः प्राकृत किंवा अर्धमागधी भाषा में है। इसमें जिन-वर्णनात्मक ३२ या कुछ विद्वानों की मान्यतानुसार ३३ पद हैं। इनमें से प्रत्येक पद के अर्थ का सविस्तार विवेचन आचार्य श्री हरिभद्रसूरि ने अपनी 'ललित विस्तरा' नामक संस्कृत टीका में किया है। इस टीका में कई मूलभूत लेकिन गम्भीर विषयों की चर्चा आई है। इस पर से आचार्य श्री हरिभद्रसूरि का जैन-धर्म सम्बन्धी ज्ञान कितना सूक्ष्म था- इसकी प्रतीति पाठक वर्ग को हुए बिना रहेगी ही नहीं। इतना ही नहीं बल्कि हिन्दू-धर्मान्तर्गत पूर्वमीमांसा, न्याय, सांख्य, योग वगैरह विविध शास्त्रों का अभ्यास भी आचार्य श्री का कितना गहरा था, इसका भी ख्याल पाठकों को निःसन्देह आएगा। आचार्य हरिभद्रसूरि केवल व्याख्याकार ही नहीं, अपितु जैन वाङ्मय में उनका एक स्वतन्त्र सा स्थान है। आपने विपुल प्रमाण में ग्रन्थरचना की है, उनकी भाषा प्रौढ एवं पांडित्य-प्रचुर होने के कारण सामान्य संस्कृतज्ञ लोगों के सहज रुप से (विवेचन की सहायता विना) समझ में आने जैसी नहीं है।

शायद उपरोक्त कारणो से आचार्य मुनिचन्द्रसूरि को मूलटीका 'ललित विस्तरा, पर उपटीका लिखने की आवश्यकता प्रतीत हुई होगी। आचार्य श्री हरिभद्रसूरि विरचित टीका में जहाँ-जहाँ क्लिष्टता प्रतीत हुई वहां श्री मुनिचन्द्रसूरि ने अत्यन्त सुगम भाषा में स्पष्टीकरण किए हैं, और वे भी उन्होंने जैन ग्रन्थ एवं हिन्दूग्रन्थों का यथायोग्य उपयोग करके किये है। इसके फलस्वरुप प्रस्तुत ग्रन्थत्रयी, अर्थात प्राकृत भाषा में मूल चैत्यवन्दन स्त्रोत, उस पर 'ललितविस्तरा, नामक संस्कृत टीका और उस टीका पर 'पञ्जिका, नामक उपटीका, इन तीनों ग्रन्थों को जैनसाहित्य में असाधारण महत्व प्राप्त हुआ है।

मूल चैत्यवन्दन स्तोत्र समस्त आबालवृद्ध जैन श्रावकों के नित्यपाठ का विषय होने के कारण तथा उस पर की संस्कृत टीकाओं का श्रावक वर्ग में उतना उपयोग न हो सकने की वजह से पंन्यासजी श्री भानुविजयजी गणि ने उपरोक्त तीनों ग्रन्थों का सुलभ हिन्दी अनुवाद कर श्रावक वर्ग पर अत्यन्त उपकार किया है। जैन श्रावक-वर्ग तो इन चारों ही कृतिओं का अब आसानी से उपयोग करेंगें ही, साथ ही साथ जैनेतर जनता को भी जैन-धर्म के शाश्वत मूल्यों का ज्ञान प्राप्त कर लेने में पंन्यासजी श्री भानुविजयजी के प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद का बहुत उपयोग होगा, ऐसा मेरा स्पष्ट मन्तव्य है।

—प. ल. वैद्य
(परशुराम लक्ष्मण वैद्य
एम. ए. डी. लिट्
प्रोफेसर वाडिया कॉलेज)

पूना
दि. १०-३-६३

प्रस्तावना

आंखों के इशारे मात्र से जगत में उलटपुलट करने में समर्थ चक्रवर्ती सम्राट भी जिस महाकाल के शिकार हैं, उस महाकाल का भी नियन्त्रण त्रिलोकनाथ के धर्मशासन द्वारा हो सकता है। यह नियन्त्रण अनंत कल्याण की सिद्धि के रूप में काल को अनुकूल कर देने से होता है। अनंत कल्याण का सृजन अनंतदर्शी के तत्त्व व मार्ग से ही हो सके यह युक्तियुक्त है।

विक्रम की ग्यारहवी सदी का प्रसंग है। व्याख्यातृचूडामणि श्री सिद्धर्षि गणिवर्य पहले अपने गुरुजी के द्वारा सप्रमाण सत्तत्त्व की समझाइश कराने पर भी बौद्ध-तत्त्वज्ञान से व्यामोहित हो चल-विचल होते रहते थे। अन्त में गुरुजी ने प्रौढ़ शास्त्रकार पूर्वाचार्य श्री हरिभद्रसूरीश्वरविरचित 'श्री ललितविस्तरा' महाशास्त्र उन्हें पढ़ने को दिया। बस, पढ़ कर श्री सिद्धर्षि का मिथ्यात्व कहां ठहर सकता? वह बिल्कुल पिघल गया। पहले बौद्ध युक्ति के प्रतिपक्षी जैन युक्ति से तो उन के मन का मात्र प्रासङ्गिक समाधान होता था, लेकिन फिर जैन तर्क के खण्डनकारी बौद्ध तर्क मिलने पर चित्त चलित हो जाता था। अब 'श्री ललितविस्तरा' में अनन्तदर्शी के अनन्त कल्याणसाधक तत्त्व-मार्ग की सर्वाङ्गीण सर्वश्रेष्ठ विशेषताओं व मार्मिक व्यापक तर्क समूह प्राप्त होने पर ऐसा दिव्यदर्शन उन्हें मिल गया कि इससे गुरुचरणों में झुक झुक कर अपनी पूर्व स्खलना पर शर्मिन्दा हो तीव्र पश्चात्ताप से हृदयद्रावी रुदन करने लगे। (देखिए मुखपृष्ठ-चित्र) बाद में तो उनके द्वारा श्री ललित विस्तरा शास्त्र में कथित अनन्तदर्शी के अनन्त-कल्याण साधक विविध असाधारण तत्त्व-मार्ग के आधार पर प्रकाशित व स्वच्छ की हुई अपनी बुद्धि से 'उपमित-भवप्रपंच कथा' नामक संसार व मोक्ष के प्रतिस्पर्धी साधनों का विश्व में अनन्य उपमाशास्त्र निर्मित हुआ, एवं अन्य व्याख्या शास्त्र इत्यादि तत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक शास्त्रों की उन्होंने रचना की। इससे पता चलता है कि श्री ललितविस्तरा महाशास्त्र तत्त्वमार्ग का कितना अनुपम व गंभीर आध्यात्मिक साहित्य है।

आज के युग में विविध साहित्य प्रगट हो रहा है। लेकिन भौतिक एवं विलासी साहित्य की प्रचुरता ने जनता को इतना घेर लिया है कि लोगों के मस्तिष्क पर पवित्र आध्यात्मिक आर्य-संस्कार लुप्त-सा हो भौतिक वासना का काफी असर पहुँच गया है। अफसोस कि ऐसे सत्त्वनाशक, निःसत्त्व साहित्य का करुण अंजाम क्या आयेगा, इसका ध्यान बहुत कम लोगों को आता है। गतानुगतिक प्रवाह में भोली जनता भौतिक वृत्ति-प्रवृत्ति का दारुण दीर्घ भविष्य भूलकर उद्भट इन्द्रिय विषयों के पीछे दौड़ रही है। हमारा उन से साग्रह अनुरोध है कि जरा ठहरिए! दो मिनट आंखें बंद कर विचार कीजिए कि ऐसे मात्र अर्थहीन ही नहीं वरन् अनर्थकारी विलासवाद, विलासी-साहित्य-इत्यादि से आप की पवित्र आर्य संस्कृति कितनी खतरे में आ गई है? मानवता कितनी छिन्न भिन्न हो रही है? अनात्मवादी पाशवी वृत्ति कैसी 'दिन दोगुन रात चारगुन' बढ़ रही है? आस्तिकता, परमात्म-श्रद्धा, परोपकार, दया, नीति, सत्य, संतोष इत्यादि को कुचल कर नास्तिकता, भौतिक विज्ञान-श्रद्धा, स्वार्थान्धता हिंसा असत्य, अनीति तृष्णातिरेक इत्यादि दुर्गुण पिशाचों का विषमय साम्राज्य कितना व्यापक हो रहा है?

इन सब अनर्थों का एक प्रधान कारण भौतिक व विलासी साहित्य है। इसके जरिए प्रजा में प्रपंच, दम्भ, स्वेच्छाचार, तोड़ फोड़, यावत् मानव हत्या तक के महा अनिष्ट भी फैल रहे हैं। विद्यार्थी-विद्यार्थिनी गण में भी दुराचार का गम्भीर रोग प्रविष्ट हो गया है।

इससे स्पष्ट है कि इस दुर्दशा का प्रतिकार विशिष्ट आध्यात्मिक साहित्य के प्रचुर प्रचार से ही हो सकेगा। मानव भव जैसे सर्वोच्च स्तर पर पहुँचे हुए प्राणिगण का कल्याण इसी से हो सकता है।

यों तो आज जैनेतर आध्यात्मिक साहित्य का प्रचार होने लगा है, फिर भी वह एकान्त दर्शन अर्वाग्दर्शी (असर्वज्ञ) के तत्त्व की नींव पर निर्मित होने की वजह से सर्वाङ्गदर्शी जिज्ञासु के हृदय को तृप्ति नहीं दे सकता। इसीलिए आध्यात्मिक साहित्य अनन्तदर्शी से उपदिष्ट तत्त्व व मोक्षमार्ग के आधार पर रचित हो, जिसमें प्रतिपादनों का आमूलचूल अविसंवाद व युक्तिसिद्ध निर्दोष परमात्म-स्वरूप, अनेकान्तमय जीवाजीवादि तत्त्व, और अहिंसामय अनेकविध ज्ञानादि आचार एवं साधना मार्ग जैसे कि हेतु-स्वरूप-फलशुद्ध योग-ध्यान-भक्ति-विरति इत्यादि वर्णित हो वैसा ही साहित्य जिज्ञासा को तृप्त कर जीवनोत्थान के प्रेरणा-प्रदान पूर्वक उसका दिग्दर्शन करा सकता है।

अनन्तदर्शी तीर्थंकर भगवान के अनेकान्तवादी व स्व-पर अहिंसाप्रधान शासन में इन विषयों के प्रतिपादक कई आगम व शास्त्र हैं। इनमें श्री ललितविस्तरा एक विशिष्ट कोटि का शास्त्र है। इसके रचयिता प्रकाण्ड विद्वान, स्वपरागममर्मज्ञ, समर्थ तार्किक, १४४४ शास्त्र सूत्रधार आचार्य भगवान श्री हरिभद्र सूरीश्वरजी महाराज हैं। आपकी असाधारण प्रतिभा व सूक्ष्मतत्त्वावगाहक शक्ति इस ग्रन्थ में भी स्पष्ट द्योतित हो रही है। यह ग्रन्थ नित्य विहित चैत्यवन्दन के मङ्गलमय भक्ति अनुष्ठान में उपयुक्त प्रणिपात दण्डक सूत्र (शक्रस्तव, अपरनाम 'नमोत्थुणं') चैत्यस्तव ('अरिहंत चेइयाणं') चतुर्विंशति स्तव (लोगस्स०), श्रुत स्तव (पुक्खर वर०), सिद्धस्तव ('सिद्धाणं बुद्धाणं'), प्रणिधानसूत्र (जयवीयराय) इत्यादि के विवेचन स्वरूप है।

इन सूत्रों में प्रधान सूत्र 'प्रणिपात दंडक सूत्र' वीतराग सर्वज्ञ श्री अरिहंत परमात्मा की स्तुतिरूप है। श्री अरिहंत भगवान अतीत अनन्त काल में अनन्त हो चुके, वर्तमान में महाविदेह क्षेत्र में बीस विहरमान हैं, भविष्यकाल में अनन्त होंगे। जैन दर्शन की यह विशेषता है कि परमात्मपद का सर्वाधिकारी किसी एक को नहीं माना है। यह तो कहता है कि अनादि काल से इतर जीवों की अपेक्षा जात्य रत्न की तरह विशिष्ट योग्यता सपन्न होती है, वह स्वकीय विशिष्ट योग्यता व पुरुषार्थ वश कालक्रम से परमात्मपन के उच्च स्तर पर पहुँचती है। ऐसे जीव अन्तिम भव के पूर्व तृतीय भव में अरिहंत-सिद्ध प्रवचन-आदि बीसस्थानक के एक या अनेक पद की ज्वलन्त उपासना करके अर्हत्पद प्रापक 'तीर्थंकर नामकर्म' संज्ञक उत्कृष्ट पुण्य उपार्जन करते हैं। बाद में अन्तिम भव में जब यहां भरत, ऐरवत या महाविदेह क्षेत्र में अवतरण पाते हैं, तब इन्द्र अवधिज्ञान से जानकर सिंहासन से नीचे उत्तर करके प्रस्तुत प्रणिपात दण्डक सूत्र से भगवान की स्तुति करता है। चैत्य अर्थात् अर्हत् प्रतिमा को वन्दना करने के लिए भी इसी सूत्र का उपयोग होता है।

सूत्र के विवेचन में श्री हरिभद्रसूरिजी महाराज ने पद पद पर (i) दार्शनिक विचारधाराओं की तटस्थ भाव से तर्कपूर्ण समीक्षा (ii) अर्हत्परमात्मा के विशिष्ट स्वरूप-शक्ति आदि का सतर्क प्रतिपादन, (iii-vi) आत्मोत्थान के विविध उपाय, क्रमबद्ध साधनामार्ग, जैन दर्शन की विशेषताएँ व अनेक

सिद्धान्त इत्यादि का तर्क सहित व्यवस्थापन अद्भुत शैली से किया है। इतना ही नहीं, ग्रन्थ की भूमिका में आपने चैत्यवन्दन का माहात्म्य, धर्म के अधिकारी के लक्षण, ज्ञान प्राप्ति-परिणमन के अव्यभिचारी उपाय, वगैरह महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक पदार्थों पर भव्य प्रकाश डाला है। आगे 'अरिहंत चेइयाणं' आदि सूत्रों के विवेचन में आपने तार्किक चर्चा पुरस्सर अनेक साधनाओं व तात्त्विक पदार्थों का दिग्दर्शन कराने में भी जैन दर्शन का प्रमाणसिद्ध स्वतंत्र असाधारण दृष्टि का काफी परिचय दिया है।

इस महाशास्त्र के मूल्यवान विषयों का परिचय विभागशः संक्षेप में इस प्रकार किया जा सकता है।

धर्मः—धर्म के अधिकारी का स्वरूप व लक्षण, धर्मबहुमान युक्त धर्मविधिसावधान व उचितवृत्ति का परिचय, धर्म के बीज-काण्ड-नाल-पत्र-पुष्प फल, प्रार्थना, प्रणिधान का ११ द्वार से परिचय, धर्म के ४ प्रकार,—१. दानादि धर्म, २. सम्यग्दर्शनादि धर्म, ३. साश्रव-निराश्रव धर्म, ४. योगात्मक धर्म, धर्मयोग्य आत्मोन्नति के परार्थ व्यसनितादि १० गुण व आत्मपराक्रम के शौर्यादि १० उपाय, साधनाविशुद्धि के ३ अंग,—उपादेय बुद्धि, संज्ञाविष्कम्भण, आशंसात्याग, साधनामयता के ३ उपाय, दीर्घकाल सत्कार व सातत्य से आसेवन, श्रावक के १२ व्रत—११ पडिमा, साधुधर्म, इच्छायोग-शास्त्रयोग-सामर्थ्य योग, धर्मसन्यास, योगसन्यास, प्रातिभज्ञान, क्षपकश्रेणि, क्षायोपशमिक व क्षायिक धर्म, अपूर्वकरण, आयोज्यकरण, शैलेशीकरण, केवलिसमुद्घात, महासमाधि, कायोत्सर्ग, भवनिर्वेदादि, इच्छा प्रवृत्ति-स्थैर्य-सिद्धि। धर्मनायकत्व के लिए आवश्यक धर्मवशीकरण—क्षायिकधर्मप्राप्ति—धर्मफलभोग—धर्मअविघात प्रत्येक के ४-४ लक्षण, धर्म का अन्यों में सम्यक् प्रवर्तन-पालन-दमन के उपाय, चारित्र में दानादि धर्म, दानादि ४ धर्म से ४ सञ्ज्ञानाश व मिथ्यात्वादि कर्म हेतुओं का नाश।

अरिहंतः—अर्हत् परमात्मा की अनन्य स्वतन्त्र विशेषताएँ, जैसे कि अनन्य योग-वीर्य-ऐश्वर्यादि-तीर्थङ्करत्व-स्वयंबुद्धत्व-परार्थव्यसनितादि, सिंहवत् कर्मनाशक शौर्यादि, अनंतज्ञान, ३५ गुणयुक्त विशिष्ट-वाणी, ३४ अतिशय, यथार्थविश्वतत्त्वप्रकाशकता, अनेकान्तादि सिद्धान्तप्ररूपकता, अभय-चक्षु-मार्ग शरण-श्रुतधर्म चारित्रधर्म-दातृत्व, गुणसिद्धलक्षणोपेत वास्तव धर्मनायकत्व-धर्मसारथित्व-धर्मचक्रवर्तित्व, परमात्मा का विजातीय निमित्तकर्तृत्व, वास्तवनाथता, प्रद्योतकरता, वीतरागता से अप्रतिकूल आशासाविषयता।

परमात्मभक्ति का विशिष्ट स्वरूप.-भवनिर्वेदात्मकभगवद्‌बहुमान-दर्शनादि की विशिष्ट भावनाएँ, ४ प्रकारकी पूजा—पुष्प-आमिष स्तोत्र-प्रतिपत्ति व वंदन-पूजन सत्कार-सन्मान, द्रव्यस्तव-भावस्तव, पूजा-सत्कारलालसातिरेक, पूजा में यतना, तत्त्वाविरुद्धहृदय, जिनप्रतिमा निर्माण-प्रतिष्ठा, चैत्यवन्दना की विधि, स्तोत्र का स्वरूप, निर्दोष सद्भूत विशेषण उपमायुक्तता, योगवृद्धि, अन्यों के योग का अव्याघात, सर्वजिन-वंदनादि निमित्तक कायोत्सर्ग, जिनाज्ञाधीनता बोधि की उच्च उच्च कक्षा, ध्यान के उपाय व स्वरूप, रागद्वेष-मोहगर्भ आशसा से भिन्न अर्हत् कृपा की आशंसा।

जैनदर्शन की विशेषताएं.— दृष्टेष्ट अविरुद्ध वचन, कष-छेद ताप व परस्पर अविसंवादी आदि-मध्य अंत इन त्रिकोटि में परिशुद्ध जैन आगम, उत्सर्ग-अपवाद की विशिष्ट मर्यादा (गुरुलाघव विचार) उत्सर्गोद्देशसाधक अपवाद, इतरदर्शन व्यापिता प्रवचन गांभीर्य, हेतु स्वरूप फलशुद्ध अनुष्ठान, प्रवचन मालिन्यवारण, स्खलना के पूर्व प्रतिकार, भिन्नाभिन्न सामान्य विशेष, विशिष्ट अनेकान्तवादादि सिद्धान्त, विशिष्ट तत्त्व व प्रमेय।

विशिष्ट सिद्धान्तः—अनेकान्तवाद, आत्मादि द्रव्यों का उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य व नित्यानित्यत्व, गुण-पर्यायों का संकलन, द्रव्यपर्याय उभयरूप से वस्तु एकानेकस्वभाव, आत्मा का मौलिक-विकृत स्वरूप, कर्म-सिद्धान्त, आत्मा-कर्मपुद्गल दोनों में बन्धयोग्यता, ज्ञान-ज्ञेय दोनों में परस्पराकार परिणति, वाचकशब्द-वाच्यपदार्थ दोनों में अभिधेय-अभिधायकाकार परिणमन, प्रमाण-नय व्यवस्था, पंचकारण, समवाय, विशिष्ट शक्ति से भी वस्तुस्वभाव अपरिवर्तनीय, परिणामी उपादान, कार्य प्राप्ति से विलक्षण कार्यपरिणमन।

विशिष्टतत्त्व व प्रमेयः—जीवाजीवादि ७ तत्त्व, धर्मास्तिकायादि ६ द्रव्य, स्व-पर पर्याय, शब्द-अर्थ पर्याय, आत्मा के षट्स्थान, आत्मा में षट्कारक, आत्मोत्क्रान्ति के क्रमिक १४ गुणस्थानक, १५ प्रकार से सिद्ध (मुक्त) स्त्री मुक्ती, भव्यत्व-अभव्यत्व, ज्ञानावरणीयादि ८ प्रकार के मूल कर्म, प्रकृति-स्थिति-रस-प्रदेश व बंध, उदय-उदीरणा-संक्रमणादि विस्तृत प्रक्रियायुक्त कर्माणुतत्त्व, बद्धस्पृष्ट निधत्त-निकाचित कर्म, सानुबन्ध-निरनुबन्ध कर्मबन्ध, सानुबन्ध-निरनुबन्ध कर्मक्षयोपशम, उपशम क्षयोपशम-क्षय, क्षपकश्रेणि, विशिष्ट द्विविध कैवल्य, सांव्यवहारिक अव्यवहारिक जीवराशि, दर्पणादि में प्रतिबिम्ब यह छाया पुद्गल है, औदयिक-पारिणामिकादि ५ भाव, सप्तनय, निश्चय- व्यवहारनय, द्रव्येन्द्रिय-भावेन्द्रिय, ८ कर्मों के बन्धहेतुओं के प्रतिपक्ष उपाय।

कई चर्चाएँ—द्रव्यस्तव में हिंसा दोष क्यों नहीं? आगम पौरुषेय कैसे? सामान्य-विशेष, द्रव्य-पर्याय, द्रव्य-गुण व कार्य-कारण में भेदाभेद कैसे? शब्द वाच्य में क्रम-अक्रम कैसे? ज्ञानक्रिया उभय से मोक्ष क्यों? परमात्मा व मुक्तात्मा में अवतारवाद क्यों नहीं? ज्ञान में साकारता निराकारता कैसे? इत्यादि।

जैनेतरदर्शन— (1) सांख्य दर्शन के २५ तत्त्व, आत्मा में अकर्तृत्व, ज्ञान यह जड़प्रकृति-बुद्धि का धर्म,

(2) न्याय-वैशेषिकदर्शन-आत्मा विभु (व्यापक), कार्य-कारण व द्रव्यगुण सर्वथा भिन्न, ज्ञान परतो ग्राह्य,

(3) वेदान्त-दर्शन-अद्वैतवाद, परमब्रह्म में मुक्तात्मालय, अवतारवाद, वेद अपौरुषेय,

(4) मीमांसा दर्शन-ज्ञान स्वयं परोक्ष,

(5) बौद्धदर्शन-माध्यमिक, विज्ञानवादी योगाचार, सौत्रान्तिक, व वैभाषिक शाखा, क्षणिकवाद, पूर्वक्षण ही उपादान कारण, वस्तु एक स्वभाव, वासनामूलक विविध व्यवहार, ज्ञान में प्रतिबिम्बसंक्रम निषेध,

(6) 'अक्रमवत् असत्' दर्शन,

(7) सांकृत्यमतः-स्तुति में उपमा अघटित

(8) गोपेन्द्र परिव्राजक मत-धृति, श्रद्धा, सुख, विविदिषा, विज्ञप्ति

(9) अनंत का मत—ऋतुवत् संसारावर्त,

(10) तत्त्वान्तवादि मत, कल्पित अविद्या

इन विषयों से अवगत होता है कि श्री ललितविस्तरा ग्रन्थ कितने गंभीर, आध्यात्मिक तत्त्वों से भरा हुआ महाशास्त्र है। इसके लेख में प्रधान रूप से वीतराग सर्वज्ञ श्री अर्हत् परमात्मा, अनेकान्तवादी श्री जैनदर्शन व अहिंसा-संयम-तपप्रधान श्री जैनधर्म की विश्वश्रेष्ठ विशेषताएँ कूट कूट कर भरी पड़ी है। संसारी जीव अनतानंत काल से असत्य कुवासना, आहार-विषय परिग्रहादि संज्ञा, रागद्वेषादि कषायावेश व मिथ्यामतिवश संसार की ८४ लक्ष योनियों में भटकता रहा है। वहां अनन्तानन्त पुद्गलपरावर्त काल

पसार कर जब संसार के चरमपुद्गलपरावर्त काल में जीव प्रविष्ट होता है तभी सहजमल का विशिष्ट ह्रास होने से वहां उन कड़े दोषों की निवृत्ति होने पर उन्हें आत्मिक उत्क्रान्ति का अवसर प्राप्त होता है। जीव वहां भवविरागपूर्वक मोक्ष के प्रति कुछ दृष्टिवाला बनता है। लेकिन फिर भी वहां असर्वज्ञप्रणीत एकान्तवादी लौकिक-दर्शनों के अन्यतम में रुक जाने से उसे सर्वज्ञप्रणीत अनेकान्तवादी लोकोत्तर दर्शन का दर्शन भी प्राप्त होना मुश्किल है, तो दर्शन की श्रद्धा का तो पूछना ही क्या? लेकिन हमें विश्वास है कि ललितविस्तरा महाशास्त्र में वर्णित उपर्युक्त विशेषताओं का अगर मध्यस्थ भाव से परामर्श किया जाय तो वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा के प्रति अनन्य आकर्षण एवं उनके अनेकान्तवादी दर्शन का ठीक मूल्यांकन हो उन दोनों पर अनन्य श्रद्धा लग जायगी। इसके सहारे से भौतिक-वैज्ञानिक दृष्टि, वैभव-विलास का आकर्षण, अहत्वपोषक लालसा, जड़पूजा इत्यादि आज की विषमय संस्कृति पर की आस्था हट कर पवित्र प्राचीन आत्मवादी कल्याण संस्कृति पर श्रद्धा जम जायगी। और जीवन में परलोकदृष्टि, अनन्य अर्हद्-भक्ति-उपासना, संवेग, वैराग्य, नम्रता लघुता, जिनाज्ञापालन वगैरह प्रधान बन जायेंगे।

पुरुषविश्वासे वचन विश्वास-इस न्याय के अनुसार अगर वीतराग श्री अरिहंत प्रभु पर आस्था जम जाए तो उन के वचन पर श्रद्धा होना आसान है। इसलिए भगवान पर विश्वास होना आवश्यक है। विश्वास होने के लिए उन की ठीक पहिचान होनी चाहिए। श्री ललितविस्तरा महाशास्त्र में अर्हत्स्तव सूत्रों के विवेचित अद्भुत भावों के परिशीलन से श्री अर्हत् परमात्मा की अनंतगुणगणालंकृत अचिन्त्य अमेय सर्वतोमुखिकल्याणसमर्थ-प्रभावसंपन्न, वास्तव मोक्षमार्गदायक व यथास्थित-विश्वस्वप्रकाशक इत्यादि लोकोत्तर अनन्य देवाधिदेव के रूप में ऐसी पहिचान होती है कि अर्हद् भगवान् के प्रति सर्वेसर्वा श्रद्धा प्रकट हो जाती है। इतना ही नहीं किन्तु यह ज्ञात होता है कि हमें इस मनुष्य भव, पञ्चेन्द्रियपटुता, आर्यकुल इत्यादि पुण्यसामग्री एवं अर्हत् प्रभु का आलंबन व प्रवचन प्राप्त होने में हमारे पर भगवान का कितना अगणित उपकार है। इस से भगवान के प्रति ऐसा कृतज्ञभाव जाग्रत हो उठता है कि उस उपकृततावश सर्वस्व समर्पित करने की भावना बन जाती है।

ऐसा कृतज्ञभाव आराधना के मूल में आवश्यक है क्योंकि उसके आधार पर निराशंसभाव से उत्तेजित आत्महित साधना का पुरुषार्थ प्रगट होता है।

श्री चैत्यवंदन सूत्रों पर 'श्री आवश्यक' टीका में एवं 'नमुत्थुणं' सूत्र पर श्री भगवती (व्याख्या प्रज्ञप्ति) सूत्र व श्री कल्पसूत्र की टीकाओं में शब्दार्थ बतलाये गये हैं किन्तु श्री ललितविस्तरा में सूत्रों के प्रत्येक पद पर गर्भित भव्य दार्शनिक रहस्यों के तार्किक शैली से उद्घाटनार्थ ऐसा ललित (सुन्दर) विस्तार किया गया है कि ग्रन्थ का नाम ललितविस्तरा सान्वर्थ है। अलबत्ता बौद्धों का भी एक 'ललित विस्तरा' नामक ग्रन्थ है, लेकिन नामकरण में किसने दूसरे का अनुकरण किया इसकी चर्चा का कोई विशेष उपयोग नहीं। सही बात है कि महापुरुषों के आध्यात्मिक ग्रन्थ जीवनसरणी में तत्त्वसरणी के तानावितान बुनने के लिए हैं; हेय तत्त्वों का आत्मा से पृथग्भाव एवं उपादेय तत्त्वों को आत्मसात् करने हेतु हैं। यहां ग्रन्थ का नाम अनुकृत है या अनुकारी? इस चर्चा का क्या उपयोग? वैसे ही आज की संशोधन शैली के अनुसार 'ग्रन्थकार छट्ठी शताब्दी में हुए या आठवीं नवमी में? ग्रन्थ की भाषा कैसी? ग्रन्थ रचना के समय में देशकाल कैसे? ग्रन्थकार पर किसका असर है?' इत्यादि पर की जाती चर्चा व इस से प्रस्तावना के भर जाते कई पृष्ठों का लेख हमें तो कोई उपयुक्त नहीं प्रतीत होता है। इसके बजाय तो ग्रन्थ के पदार्थों का सरल विभागीकरण, सरल रूप से सार-प्रतिपादन रहस्योद्घाटन एवं जीवन में उन को कैसे सर्वांगीन बनाया जाए यह पेश करने योग्य है।

इस बहुमूल्य ललितविस्तरा के रचयिता श्री हरिभद्रसूरिजी महाराज का लेख सूत्र-सा है, शब्द संक्षिप्त व अर्थगंभीर हैं, न्याय भाषाबद्ध व रहस्यपूर्ण हैं। इस को यथार्थ समझने वाले भी तथाविध-प्रज्ञा-विद्वत्तासंपन्न ही हो सकते हैं। हमारे गुरु महाराज पू० पंन्यासप्रवर श्री भानुविजयजी गणीवर जो कि सिद्धान्त महोदधि पू० आचार्यदेव श्रीमद् विजयप्रेमसूरीश्वरजी महाराजा के विद्वान शिष्यों में से एक हैं, उन्होंने सोचा कि 'इसे सामान्य बुद्धिवाले लोगों से भी ग्राह्य बनाया जाए तो उन्हें श्री अर्हत् परमात्मा व जैन दर्शन की असाधारण विशेषताओं का ठीक अवगम व इतर दर्शनों का ख्याल हो जाए, जिससे उनमें परमात्मभक्ति, प्रवचनराग, तत्त्वश्रद्धा व मार्गरुचि सुचारु रूप में विकस्वर हो उठे, एवं वे यथार्थ मोक्षमार्ग के प्रवासी बन जाए,' इसी सद्भावनावश आपने गुरुकृपा से प्राप्त आगमबोध, दर्शनविज्ञान, तार्किकबुद्धि व मार्गानुसारी मति के आधार पर बिलकुल लोकभोग्य संस्कृत भाषा में श्री ललितविस्तरा का विवेचन लिखना प्रारंभ किया। किन्तु यहां ऐसा अनुरोध हुआ कि आज के युग में गृहस्थवर्ग में संस्कृतज्ञ लोग कितने ? ऐसे अनभिज्ञ लोगों को इस महाकल्याणकारी शास्त्र का लाभ कहां से मिलेगा ? इसलिए विवेचन चालू भाषा में लिखा जाए। वर्तमान जैनमतावलम्बियों में अर्हद्भक्ति, अरिहंत के प्रति सक्रिय कृतज्ञभाव व सर्वज्ञोक्त तत्त्व श्रद्धा इत्यादि का सविशेष संवर्धन एवं अन्यों में अरिहंत व अर्हदुक्त तत्त्व के प्रति आकर्षण करने हेतु यह सूचन ठीक प्रतीत हुआ। अतएव हिन्दी में ही यह विवेचन लिखा गया। इसे पढ़ने से पता चलेगा कि ग्रन्थकार महर्षि श्री हरिभद्रसूरिजी महाराज ने बहुत थोड़े शब्द में लिखे हुए जटिल दार्शनिक पदार्थों व सूक्ष्म आगमिक तत्त्वों एवं उस पर आचार्य श्री मुनिचन्द्रसूरिजी महाराज के द्वारा न्यायशैली से अल्पशब्दों में लिखी गई पंजिका टीका का भी आपने सरल हिन्दी भाषा में कैसा सुन्दर बोधक व रोचक विवेचन किया है। विवेचन में नवतत्त्व, तत्त्वार्थ, धर्मसंग्रह, योगबिन्दु, योगदृष्टि, षोडशक, पंचाशक, धर्मसंग्रहणी, श्राद्धविधि, इत्यादि कई जैनशास्त्र एवं सांख्य, योग, अद्वैत बौद्ध-न्याय व वैशेषिक दर्शनशास्त्रों के आधार पर पदार्थ-स्पष्टीकरण बहुत सरलभाषा में दिया गया है।

विशेष आनन्द की बात यह है कि अहमदाबाद के वि० सं० २०१३ के चातुर्मास में पू० गुरुदेवश्री ने युवान शिक्षित श्रावकों को श्री ललितविस्तरा की वाचना दी, यह करीब १० मास तक चली। वाचना के अवतरण पर से तैयार किया गया विस्तृत व्याख्याग्रन्थ गुजराती भाषा में 'परमतेज' भाग-१ के नाम से क्राउन साइज़ ३५० पृष्ठ में प्रगट हो चुका है और उसका भाग-२ करीबन ७०० पृष्ठ का अब छप रहा है। अत: इस शास्त्र का अधिक व्याख्याविस्तार उसमें से देखने योग्य है।

यह ग्रन्थ अब मुद्रित रूप में जिज्ञासुओं के आगे प्रकाशित किया जाता है। प्रकाशन में एक और विशेषता यह है कि संस्कृत मूल ग्रन्थ एवं पंजिका टीका में भिन्न भिन्न विषयों के अलग अलग पेरेग्राफ दिये गए हैं और वे भी विषय शीर्षक कोष्ठक में देने के साथ टीका में मूल के पदों को ब्लेक टाईप व परिवर्तित विराम ("... ..") inverted comas देकर इनके अर्थ को विराम से अलग बताये गये हैं। यह सब संस्कृत वाचक को आसानी से ग्रन्थ लगाने में अतीव उपयुक्त बना है। हिन्दी भाग में भी प्रत्येक विषय के अलग अलग पेराग्राफ विषयशीर्षक के साथ दिये गए हैं। ग्रन्थ के प्रारंभ में पृष्ठ-पृष्ठ के भिन्न भिन्न विषयों की निर्देशक विस्तृत विषय-सूची दी गई है। ग्रन्थ का ठीक अध्यापन करनेवालों को ग्रन्थ पढ़ने के बाद मन से पुनरावर्तन करने के लिये यह ठीक उपयोग में आएगी।

अध्येताओं से हमारा अनुरोध है कि एक बार अच्छे ढंग से इस ग्रन्थ का अध्ययन करने के बाद इस प्रस्तावना में पहले दिये गये मुख्य विषय—विभाग एवं प्रत्येक विभाग के अवान्तर विषय समूह

को ग्रन्थ के उस उस स्थान से छाँटकर प्रत्येक मुख्य विभाग पर अलग संक्षिप्त नोट्स तैयार करेंगे। इससे काफी बोध बढेगा और विभागशः सुचारु चिन्तन कर सकेंगे।

प्रस्तुत ग्रन्थ संशोधन में निम्नोक्त हस्तलिखित व मुद्रित प्रति का उपयोग किया गया है।

(१) श्री जैन ज्ञानभंडार, सवेगी उपाश्रय, हाजा पटेल की पोल, अहमदाबाद मूलग्रन्थ की ह० लि० प्रति १५०७ में चैत्र शुक्ला तृतीया के दिन पूर्ण हुई है, पृ० १९ हैं। (२) यहां की दूसरी ह० लि० प्रत मूल एवं पंजिका सहित पृ० ३० हैं, वि० सं० १४९६ भाद्रवा सुद पूर्णिमा के दिन पूर्ण हुई है। (३) पूज्य मुनिवर्य श्री पुण्यविजयजी महाराज की ह० लि० प्रति अहमदाबाद से मिली। (४) भांडारकर रीसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना से ह० लि० प्रति मिली। यह दोनों प्राचीन है। (५) श्री देवचंद लालभाई (सूरत) ट्रस्ट तरफ से प्रकाशित श्री ललितविस्तरा मुद्रित प्रति मिली। इस प्रति पर से पहला संशोधन हुआ। इस में यद्यपि अशुद्धियां है फिर भी कई ठीक शुद्ध पाठ मिले, उदाहरणार्थ मुद्रित प्रति में पृ० ६२ पर की ४-५ पंक्तियां वस्तुतः पृ० ६२ के पाठ की ही हैं, यह इस प्रति से ज्ञात हुआ वगैरह.......

अन्त मे श्री वर्धमान आचाम्ल (आयंबिल) तप के महातपस्वी प्रभावक व्याख्यानकार पूज्य गुरुमहाराजश्री का शास्त्रबोध बहुत गहरा व तर्कबद्ध चिन्तन-मनन से परिपूर्ण हैं। पदार्थ समझाने की व विवेचन लिखने की शैली सरल, रोचक व तात्त्विक है। स्व-पर न्याय ग्रन्थों का अच्छा परिशीलन किया है व अनेकों को कराया है। जिसके फलस्वरूप आपके द्वारा तैयार किये गये ऐसे महा कठिन ग्रन्थ का सुन्दर व सरल विवेचन प्राप्त करने का हमारा बड़ा सौभाग्य है। अत में पूज्य गुरुदेव श्री बालजीवों को लक्ष्य में रखकर ऐसे अनेकानेक कठिनग्रन्थों का सरल विवेचन लिखने की अनुकूलता प्राप्त करें एवं उनके प्रकाशन में उदार गृहस्थ सुन्दर धनव्यय करें ऐसी भगवान से हमारी प्रार्थना है।

अषाढ सुद १०
वि० सं० २०१६
जायाल

विद्वद्वर्य गुरुदेवश्री पंन्यासप्रवर
भानुविजयजी गणिवर चरणकिंकर
मुनि राजेन्द्रविजय

: ललितविस्तरा-विषयसूचि :





:: ललितविस्तरा–शुद्धिपत्रक ::



पृष्ठ	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
१	५	परन्त्र	परतन्त्र
३	७	कतिपथ	कतिपय
,,	२१	कहा	कहां
,,	२६	मंडन का	मडन, उसका
,,	२६	दिवाल	दिवार
४	१३	सची त्समन्वय	सच्ची समन्वय
४	१५	होना	ज्ञात होना
५	२६	वह	वे
६	१६	घडे की	घडे के
७	२	इत्यं	इत्थं
,,	५	व्याख्याऽ	व्याख्याना
,,	७	सत्रस्य	सूत्रस्य
,,	११	श्यामलादपि	ध्यामलादपि
९	७	(ल०)—	(ल०)-अत्रोच्यते
९	७	...सिद्ध	सिद्धं
९	१२	(पं०)	(पं०) अत्र 'उच्यते' प्रतिविधीयते
९	१४	श्चैत्ये	श्चैत्य
९	११	त्तयोपशमफल	क्षयोपशमो-पशमफल
१०	२	(ललित०)	(ललित०) आह,
,,	३	विपययामार्वः	विपर्ययाभावः।
,,	६	स्यान	स्यानं विशेषो
,,	७	पयोगग्रह	पयोगादन्योप-योग ग्रह
,,	७	...सिद्धे।	....सिद्धेः।
१३	७	[illegible]	इहलोक
१४	६	क्षयः,	क्षयं
,,	७	व्यज्य	व्यङ्ग्य
१५	२	विघाप्य	विधाप्य
,,	२५	जन्म	जन्म व
,,	२४	गुन २	गुण २
१७	३।५	अनके/दुःखोघ	अनेक/दुःखौघ
,,	७	मवैत्यै	मवेत्ये
,,	१३	चत्यवन्दन सूत्रेके	चैत्यवन्दन सूत्रके
,,	३२	निन्दाक	निन्दा का
१८	७	नोक्तमेव	नोक्त एव
,,	९	खरय	खरयं
१९	७	पादनेनं=लघूकरणेनं,	पादनेन = लघूकरणेन,
,,	,,	निगेघतः	निरोधतः
२०	१३	नहा	नहीं
२१	८	अनाक्षम्यनेमत्र	अनात्तम्यनमेव
२३	१९	होवा	होती
,,	३२	लड्ह	लड्डू
२४	९	पत्तमें ही	पक्षमें भी
२५	२	पर वे	वे
२६	११	'व्यस्थितश्च	'व्यवस्थितश्च
२८	६	परिमाणो	परिणामो
३०	२६	दूसरों के	दूसरों को
३२	७	कारक	कारकत्वात्
,,	२२	तत्वदशा	तत्त्वदर्शी
३५	३	पर्ययाद्वि	पर्ययाधि
,,	५	द्विपर्ययये	द्विपर्यये
,,	२५	जीवांको	जीवोंको
३९	५	(पं०–)	(पं०–)उत्कस्येत्यादि,
४०	१८	किया	क्रिया
४०	३१	होते ह।	होते है।
४१	१४	विम्कम्भणा	विष्कम्भणा
,,	२७	यहीं	यहां ही
४२	८	यजि	बीज
४३	१७	अनुपङ्गिक	आनुषङ्गिक

पृष्ठ	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
४४	७	नमस्का	नमस्का
४७	६	द्वैतं	द्वैतं
„	१६	कृष्ट	स्कृष्ट
४६	१०	प्रम दतः	प्रमादतः
„	१७	इति ।	इति योऽर्थः ।
५०	१५	यह	इस
„	२२	अर्थम	अर्थमें
५२	१६	शास्त्रादेयः	शास्त्रादेव
५३	२५	ह,—	है,—
५४	७	इतच'	इत च'
५५	६	स्यानेपु	स्थानेपु
„	„	सवेग	सवेग
„	१०	प्रधान्य	प्राधान्य
„	१४	प्रवज्याया	प्रव्रज्याया
„	„	स्पत्वात्	रूपत्वात्
५८	११	यहां	यहां सावद्य-प्रवृत्तिरूप
६१	१८	वतलाते	वतलाते समय
६३	„	प्रतिहार्य	प्रातिहार्य
„	२२	कराने	कराना
„	२३	धर्म के	धर्म की
६४	१८	का आनेका	को आनेका
६७	६	(प्र०)	(पं०)
„	„	साम्यावस्या	साम्यावस्था
„	१६	तत्व का	तत्व
„	२०	गया ।	गया । जितने पुरुष उतने प्रधान मानने वाले
„	२६	विपय में	विपय में
६६	१०	अतिप्रङ्ग	अतिप्रसङ्ग
„	२१	सम्वन्ध	सम्बन्ध
७१	१३	स्वरूपस्य	रूपस्य
७२	१५	में हा	में ही
„	३१	मलाका	अलोका
७३	४	करेणे	करणे
„	६	कृत	कृत
„	३०	एसा	ऐसा
७४	१८	फल	फल के
७६	३	कारणां	कारणों
„	७	पुरुषों	पुरुषों
„	२३	काई	कोई
„	अंत्य	लोकन	लेकिन
८०	१३	'सम्भवात्)	सम्भवात्)
८१	६	व्यभिचर	व्यभिचार
८२	१६	वोध	बोध
„	२६	किया	क्रिया
८४	१६	हा	ही
८६	„	अर्हद्भ गवंत	अर्हद् भगवंत
८७	८	अद्दढ़ो	अद्दढः
„	२७	का आत्मा	की आत्मा
८८	२५	भा	भी
८६	१०	„	„
„	२९	भगवंता	भगवंतों
९०	३	पद्मरागी भवति	पद्मरागी भवति
९१	१४	मृत्यु/तयो	मृत्युः/तयोः
९३	११	ब्राह्यार्थसंवाधवे	वाह्यार्थसंवाधेव
९४	३०	रहता है	रहती है
९५	२०	कता	कताके
९६	६	पत्तिभवति	पत्तिर्भवति
९७	१३	गम्भार	गम्भीर
९८	२१	वस्तु भा	वस्तु भी
१००	३	बधित भा	बधित भी
„	३४	कथर्मो में	कथनों में
१०२	६	अभिन्ने...भिन्ने	अणभिन्ने....अभिन्ने
„	२६	में जा	में जो
„	२७	उन्हीं	उन्हीं
„	२८	इसालिए	इसलिए
१०३	११	जीवात्वाच	जीवत्वाच
„	१२	सति	सति
१०४	२८	ता भा	तो भी
१०७	१८	गुणा	गुणों
„	२४	सिद्ध हा	सिद्ध हो
१११	११	नीतत्य	नीतात्य
११२	२८	कम वाली	क्रम वाली

पृष्ठ	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
११७	३२	काइ	कोइ
११४	१०	सिद्द	सिंह्
११६	६	जाय	जीव
११८	[illegible]	स्वकाल	स्वकाल (प्र०...स्वकाले)
,,	११	युगपदुपनिपात	युगपत्तदुपनिपातः
१२०	४	तथाराग	तथानथाराग
,,	६	एयमुत्तर	एयमुत्तरत्र
,,	७	सूत्रेप्विति	सूत्रेष्वपि
,,	८	मशक्ति	मशक्ति(प्र मशक्य)
,,	२२	हा सके।	हो सके।
१२१	१७	बड़ा कारण	बड़ा निमित्त कारण
१२२	२१	? भात एसी	? भीत ऐसी
१२३	२८	नाथ भा	नाथ भी
१२५	७	...हारिक भेद	..हारिकादिभेद
,,	२५	अव्यहार	अन्यव्यहार
१२६	१	मुक्ता	मुक्त
,,	२७	यह्	ये
,,	२९	एक शरीर	एक एक शरीर
,,	३०	एक एक	एक ही
१२८	१७	यहर्तरक	यहारिक
,,	२४	होता....कराते ओर।	होता,....करोते,
,,	२५	करते फलतः	करते; फलतः
१३०	८	चेश्रमानो	चेष्टमानो
१३१	२	हेतुल्यमनेकान्तिकं	हेतुल्यमेकान्तिकं
,,	३०	दर्शना	दर्शन
१३२	३	निश्रित	निश्रितं
१३३	१०	कामित्वम	कामित्ववन्
,,	२१-३०	भा	भी
१३४	६	एतस्य	एतस्य
१३५	१९	योग भा	योग भी
१३६	१०	प्रदिपरूप	प्रदीपरूप
,,	१४	के ही प्रति	के प्रति ही
१३७	८	सत्येऽपि	सत्यपि
,,	२२	दापक	दीपक
१३८	९	तन् किमि	ततः किमि
,,	३०	लोगां के	लोगों के
१३९	३२	करगे	करेंगे
१४०	४	जैस	जैसे
,,	१५	एसे	ऐसे
१४१	१६	लाक	लोक
१४२	१०	प्रद्योतक...	भगवतां प्रद्योतक...
,,	१४/१७	लाक	लोक
१४३	१४	त्रिपदी का	त्रिपदी के
१४५	५	'तत्तुल्यमेव'	'तत्तुल्यमेव'=प्रथम-दृष्टसममेव, 'दर्शन' वस्तुबोधम्, 'अकुर्वन्' अविदधानो, 'न' 'तेनैव'
१४६	७	स्वभाववस्ता	स्वभावस्ता
,,	१९	ऐसा	ऐसी
,,	२९	का वजह	की वजह
१४९	२६/३२	कमी/'लाक'शब्द	कमी/'लोक' शब्द
१५१	२४	भगववान्	भगवान्
१५३	५	(पं०-)	(पं०)—'इहेत्यादि'
१५४	३	तोपद्रवैः	तभयोपद्रवैः
१५८	२३	देखने का	देखने की
,,	२९	होता है	होती है
१६०	३१	वाला	वाले
१६५	५	दर्शनात्मागपि ....दुःख	दर्शनावातावपि ....दुःखा
१६६	४	इति मार्गं	इति मार्गं'
१६७	२९	प्राणिधानादि	प्रणिधानादि
१६९	१०	यहा	यहां
१७१	७	श्रुन	श्रुत एतद्
,,	१५	तारतम्य	भेद क्यों ?
१७२	७	चेयं	चेदं
१७३	५	नेयं	नैव
१७४	२१	हा यही	हो यही
१७५	९	अनन्तरोदितम्	अनन्तरोक्तम्
,,	१५	शरणगलं,	शरणगतः,
१७६	५	मन्य माप्ति	मन्य प्राप्ति
१८०	३	तिशयरूपः	निशय(प्र०लापाशय) रूपः

पृष्ठ	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
१८३	३	भवत्येत.......	भवत्येवैत......
१८४	४	अयम्:	अयम्
१८६	■	शोचते २	शोचति २
१८८	३	संपन्नयोगेपु	संपन्न(प्र०सपन्न) योगेपु
१८९	१४	चाहिए।	चाहिए। एवं असपन्नधर्मयोगप्रयत्न अर्थात् अन्यान्य धर्मयोगों का बाध न हो वैसी धर्मसाधना की जाए।
१९७	४	खिल	खिलाशुद्ध
१९८	१४	प्राप्तान्य	प्राप्तायन्थ्य
२०२	२४	ठोसा	ठोस
२०३	१४/२४	'अनुबन्ध'/मील	अनुबन्ध/मिल
२०६	३	वरं	स एव वरं
,,	१०/८	परिशुद्धं/रत्न	परिसुद्धं/रन्त
२०८	३	धर्मैः	धर्म्मैः
२०९	५	विवेपोयोग	विशेषोपयोग
,,	७	चतुरत्न	चतुरन्त
२१०	१६	सर्वज्ञता निषपेक्ष मत के निरासार्थ/अत्र	इस पाठ को अप्पडिहयवर-नाण इत्यादि के ऊपर पढिए
२१२	५	०दीनाम्	०द्विषीयानाम्
२१२	२७	निरावरणता	निरावरणता का अभाव
२१५	३	काणेरन	कारणेन
२१६	१७	३. आशाता/ विलागदि	३. अशाता/विलापादि
२१७	२७	उत्पन्न	उपपन्न
२२०	५	व्यावृत्तद्वाभ्य:	व्यावृत्तच्छद्माभ्य.
,,	७	विर्योत।	विर्येति) । (प्र०....एव)
२२६	७/२४	यदभ्यु/वह सत्	'तदभ्यु/वह भ्रान्तिसन्
२२८	७	कारणकाल	कालकारण
२३०	७/४	त्त्वावर्त/पत्तेः	त्त्वावर्त/पत्तेः (प्र०....त्वोपपत्तेः)
,,	२६	उत्पन्न	उपपन्न
२३१	७	असविदितत्वे	अस्वसविदितत्वे
२३४/२३१	२-३/२०	च्छिन्नोऽर्थ/हे	न्छेचोऽर्थ/हि

पृष्ठ	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
२३४	७/१२	लिङ्गमभिमता/ घटदि	लिङ्गाभिमता/घटादि
२३८	६	मुक्तानां	मुक्तानां (प्र० युक्तानां)
,,	१०	'मुक्तत्वम्'	'मुक्तत्वम्' इति
,,	१२/२०	स्वातन्त्र/सा न	स्वतन्त्र/सिद्ध न
२३९	१३/२३	जरिए विना,/को	जरिए, विना/की
२४०	५	कर्तु	कर्तृ
२४१	४	मापन्नः	मापन्नः (प्र०मासन्न.)
२४२	४/१६	कर्तु ४	कर्तृ ४
२४४	३/५	मर्थ/(अ०	मर्थ/(प्र०
२४५	३१	टिक	स्फटिक
२५०	११	(प्र० ...दुःखा- ननुभवान्)	(प्र०....दुःखा- ननुभवतः)
,,	,,	स्वभावतत्रो	स्वभावत्वो
,,	१२	भावत्वोपप- पत्तेरिति	भावत्वो (प्र०... भावो) पपत्तेरिति
,,	१६	बाघ	बाह्य
२५२	५	दर्शनेन विपमता...	दर्शनेन च विपमता
,,	,,	ग्रहणाद्, धर्म- नेनच समताख्य धर्म्माग्रहणाद्, धर्म्माणामपि	...ग्रहणाद्, धर्म्माणामपि
२५३	३	तत्त्वता	तत्त्वतो
,,	५	चामूर्तत्वे	चामूर्त्ते
,,	१४	मुक्तावस्थायां	मुक्त्यवस्थायां
,,	१६	'विपय...	'विपय ...
,,	२१	स्वसंवेदनेनैव।	स्वसंवेदनेनैव इति।
,,	२४	में....में	का....का
२५९	१६	बाध	बोध
२६०	६	एतद्न्य-	एतद्-
२६२	४	बाधम्	बाधमव्याबाधम्
२६४	३	सर्वत्रैव	सर्वत्र
,,	३/३	प्रदेश	प्रदेश=
२६६	७	ब्रह्मस्फुलिंग	ब्रह्मविस्फुलिङ्ग
२६८	७	जितभयत्व	जितभयत्व
,,	१५	शुद्धिगम्यस्य	शुद्धिजन्यस्य
२६९	१७	प्रमत्रह्म	परमब्रह्म
२७०	४	त्वन्	त्वात्

पृष्ठ	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
,,	२१	ब्राह्मणादि	ब्राह्मर्णादि
२७१	६/१०	एकरुप/विकल्पां	एकरूप/विकल्पों
२७६	३	विपयताया	विपयतायां
२७६	१७	का/क्यां	को/क्यों
२८२	७/८	निग्व/सङ्क्ँचेत्य	निख/सङ्कचेत्य
,,	६	व्याप्ति/तृतीय	व्याप्ति/तृतीयं
२८३	११	बुद्धिमतां:	बुद्धिमतां
२८४	१/३	२८४/गुण	२८४-२८८/गुरु
२६१	४/८	तत्तद्बीजा	तत्तद्बीजा
,,	२४	अशुभोपार्जन	शुभोपार्जन
२६२	६	नान्तरीयकं	नान्तरीयक
२६३	६	भ्रन्	भ्रान्
,,	२७	से व्यवहार	से यह व्यवहार
३००	६	वैचित्र्यादारि...	वैचित्र्याद् द्वारि...
३०२	१६	अन्यश्च	अन्यश्च
३०४	४/५	थांम्बन/(प्र० ...	थालम्बन/(प०...
३०५	५	वन्दना या	वन्दनाया
३०८	१०/१३	कायोत्सर्गे	कायोत्सर्गे
३१२	४	सर्वे	सर्व्वे
३१३	१७	रैणाव्य	रेणाव्य
३२१	४	तथातथो	यथातथो
,,	८	भेदवती	भेदवतीति
३२२	६	वाह्याधि...	वाह्याधि....
,,	३०	परम	उत्तम
३२३	६	वाह	वाहं
३२४	२५/२६	हुआ/याने हुआ	हुआ, याने/हुआ
३२६	३	तद्वादरादि	तदाद्रादीति
,,	२०	कारण नहीं	कारण, कार्य नहीं
३३०	११/१४	भावनीयन/भण्यते	भावनीयम्/भण्यते, तेन
३३१	९/१०	अङ्गकचारैः/कुर्व्वे	अङ्गसञ्चारैः/कुर्व्वे
,,	२२	वीर्यसंयोगी	वीर्यसयोगी
३३४	७	'अप्पाण'	'अप्पाण' ति
३४२	७	प्रथमः .	प्रथमकायोत्सर्ग.
३४५	१३	ते न	न ते
३४६	५	० नित्यय०	० नित्याय०
३५२	३	उपन्यासोऽस्याश्र	उपन्यासोऽस्या च
,,	१५	नाह्यग्रति/मश्नुते	नाह्ययति/मश्नुते
,,	१८	०शुद्धयामीष्ट च	०शुद्धयाऽभिष्ट
३५७	६	०सिद्धयै/ऋद्धय	०सिद्धयो/ऋद्धय
३६१	७	मशास्य	मशक्त...
३६८	८	धियाम्	सुधियाम्
३६६	६/२६	प्रवणे/अपौरुपेय	श्रवणे/अपौरुपेयवचन
,,	४	वादिनः	वादिनः (प्र० वादिनः सत्वतः परमार्थतः)
३७०	१२	सम्य द....	सम्यग्द...
३७१	११	भवनवद्	भवनवत्
,,	३०	मोक्षजीवन्मोक्ष	मोक्ष हो, यह जीवन्मोक्ष
३७८	१२	मन्यन्त/ (जिनमत	मन्यन्ते/(जिनमत विद्यमान
३८२	६/१०	पीःन/श्राह-	पीनः/श्राह-'एवम्'
,,	२६	सुखसाधक	सुखलाभसाधक
३८३	१६	भोजन अन्य	भोजन आदि के
३८५	५/११	श्रुतग्रहण/सद्भाव	श्रुतमात्र/तद्भाव
३८८	२	श्रुतस्य	श्रुतस्यैव
३६०	४/३६	मर्थ/वस्त	मर्थ /वक्त
३६३	८	व्यपोह्याव	व्यपोह्याय
३६७	१०/४/	तश्च/सिद्धाः।	तच्च/सिद्धाइति
	१५	बोऽयम्	योऽयम्
४०२	८-६	तद्व्यो-पाह्य	तद्व्य पोह्य
४०३	१४	के लक्षण	का लक्षण
४०३	५/८	नैवेतत्प/स्तिस्त्र	नैवैतत्प/स्तिस्त्रः
४१०	७/३०	सर्वज्ञ भी/कहीं	सर्वज्ञ श्री/नहीं
४१२	२२/६	उनमें/गुणों	उन/गुणों
,,	८/११	बने/वृत्तिसय	बने हुए/वृत्तिसक्षय
४१५	५/११	तत्रो/न्नत	ततो/न्नत(प्र०..,श्रा त)
४१७	२२	न्माद्	न्माद्
४१८	३	...क्षययोगा ..	...लक्षणायोगा...
४१६	३/१६	दशक/किये	दर्शक/करनेवाला है
४२१	२०/२६	पणि.../प्राणि...	प्रणि/प्रणि
४२२	७/१६	प्राणि/(४)	प्रणि/(४-५)
,,	३०	से युक्त	से भी युक्त
४२५	२५/२६	आसवेन/सामध्य	आसेवन/सामर्थ्ये
४२६	३२	का दर्शन	का भी दर्शन
४२७	२६	पढने ..	को पढने
४३१	२	की देवादि	की इतरदेवादि
४३४	१०	विप्लवादि	विप्लावना
४३५	४	सुबीज वा	सबीज (प्र०.. सद्-वन्दनादि सबीज वा

ॐ अर्हं नमः।

प्रकाण्ड विद्वान, समर्थ शास्त्रकार, आचार्यपुरंदर श्री हरिभद्रसूरिजी महाराजद्वारा विरचित (चैत्यवन्दनसूत्र-विवेचना)

श्री ललित विस्तरा

एवं उसकी स्वपरतन्त्रकुशल आचार्यवर्य श्री मुनिचन्द्रसूरिजीद्वारा रचित

पञ्जिका व्याख्या

और इन दोनोंका संक्षिप्त हिंदी

प्रकाश

×××○————○×××

(ललित)— प्रणम्य भुवनालोकं महावीरं जिनोत्तमम् । चैत्यवन्दनसूत्रस्य व्याख्येयमभिधीयते ॥१॥

(पञ्जिका)— नत्वानुयोगवृद्धेभ्यश्चैत्यवन्दनगोचराम् । व्याख्यामहं कचित्किंचिद् वृत्तिं ललितविस्तराम् ॥१॥

समस्त सामान्य और विशेष स्वरूप से विश्व के ज्ञाता जिनेश्वरदेव श्री महावीर परमात्मा को प्रबल नमस्कार कर चैत्यवन्दनसूत्रकी यह (ललित विस्तरा नामकी) व्याख्या कही जाती है ।

अनुयोगवृद्धों को प्रणाम कर चैत्यवन्दनसूत्रसम्बन्धी ललितविस्तरा नाम की विवेचना का मैं कहीं कहीं अल्प ही व्याख्यान (भावस्पष्टीकरण) करता हूँ ।

(प्रकाश—)

जैन दर्शन में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, ये मोक्षप्राप्ति का त्रिपुटी साधन है जिनमें कि सम्यग्दर्शन प्रथम है । सर्वज्ञ श्री जिनेश्वर देव के प्रति अनन्य प्रेम और उनके कहे हुए सभी तत्त्वोंपर अनन्य श्रद्धा जाग्रत करनेसे सम्यग्दर्शन की सिद्धि होती है । परन्तु इस प्रकार के प्रेम और श्रद्धाको प्रकट करनेवाला, एवं प्रकट हुए को अधिकाधिक निर्मल व सुस्थिर करनेवाला दर्शनाचार है । इस दर्शनाचार को सिद्ध करनेवाले अनेक अनुष्ठानों में से चैत्यवंदन एक अमोघ अनुष्ठान (क्रिया) है। और चैत्यवन्दनके सम्यग् रीति के आचरण से आत्मा में ऐसे विशिष्ट शुभ अध्यवसाय प्रकट होते हैं कि जिन से सम्यग्दर्शनमें बाधक जो मोहनीय कर्म, मात्र उस ही का नहीं किन्तु ज्ञानावरणीयादि कर्मों का भी क्षय होता है,

(पं०) यां बुद्ध्वा किल सिद्धसाधुरखिलव्याख्यातृचूडामणिः, संबुद्धः सुगतप्रणीतसमयाभ्यासाच्चलच्चेतनः । यत्कर्तुः स्वकृतौ पुनर्गुरुतया चक्रे नमस्यामसौ, को ह्येनां विवृणोतु नाम ? विवृत्तिं स्मृत्यै तथाप्यात्मनः ॥ २ ॥ शास्त्रान्तरदर्शनतः, स्वयमप्यूहाद् गुरूपदेशाच्च । क्रियते मयैष दुर्गमकतिपयपदभञ्जिकारम्भः ॥ ३ ॥ (युग्मम्)

ऐसे अद्भुत चैत्यवंदन के अनुष्ठान में "श्री शक्रस्तव" (नमुत्थुणं) आदि सूत्र अतीव उपयोगी है। इससे सफल ऐसे भाव अनुष्ठान की निश्चित सिद्धि होती है। अतः चैत्यवंदन सूत्रों के शब्दार्थ, भावार्थ और ऐदंपर्यार्थको जानना अत्यंत ही आवश्यक है। और वे तीनो बड़े गंभीर हैं। चौदह सौ चवालीस शास्त्रोंके प्रणेता, पूर्वधर के अति निकट कालवर्ती, जैनदर्शन की अनेक असाधारण विशेषताओ के सप्रमाण प्रकाशक, महासंवेग-वैराग्य रस के पातालकलशसम, सत्तर्कपूर्वक षड्दर्शन के समर्थ समीक्षक, इत्यादि अनेकानेक प्रभावकगुणगणोंसेअलंकृत आचार्य भगवत श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराजने चैत्यवंदन सूत्र के रहस्यमय अर्थ को सविस्तार समझाने के लिये एक व्याख्या की रचना की है; जिसका नाम है "ललित विस्तरा"।

यह "ललित विस्तरा" एक व्याख्या ग्रंथ है। फिर भी हरिभद्रसूरिजी महाराज की व्याख्या ग्रंथ की लेखनी (भाषा) के लिये ऐसी प्रसिद्धि है कि जैसे वह सूत्र भाषा है। क्योंकि उन के व्याख्या शब्द गंभीर और विस्तृत भावों से ओतप्रोत होते हैं। इसलिये समर्थ विवेचनकार, प्रखर दार्शनिक, और स्व पर आगम के विशिष्ट ज्ञाता आचार्यपुंगव श्री मुनिचंद्र सूरिजी महाराज ने इसी "ललित विस्तरा" पर एक संक्षिप्त व्याख्या 'पंजिका' नाम से लिखी है।

"पंजिका पदभंजिका" इस कोषवचन से यह पंजिका नाम की व्याख्या 'ललित विस्तरा' के कतिपय पदों का संक्षिप्त विवेचन करनेवाली है। इस पंजिका का शुभारंभ करते समय मंगल-सूचक और अभिधेय-दर्शक श्लोक की इस प्रकार रचना करते हैं :—'नत्वानुयोगवृद्धेभ्य :... । इसका भाव है,

(पं० अर्थः—) अनुयोग वृद्धोंको नमस्कार कर, चैत्यवंदनसूत्र संबंधी 'ललित विस्तरा' नाम की विवेचना का मैं कहीं-कहीं अल्प ही व्याख्यान (भाव-स्पष्टीकरण) करता हूँ।

(प्रः—) अनुयोगके चार प्रकार हैं—(१) चरणकरणानुयोग, (२) गणितानुयोग, (३) धर्मकथानुयोग, और (४) द्रव्यानुयोग। सामान्यतः अनुयोगका अर्थ व्याख्या होता है। अनु = सूत्रके पीछे, योग = अर्थका संबन्ध। अर्थात् सूत्रका अर्थ जिससे ज्ञात होता हो, ऐसी व्याख्या अनुयोग है। उसमें पदार्थको सुस्पष्ट करनेवाले पूर्वपुरुष अनुयोगवृद्ध कहलाते हैं। अर्थात् प्रथमतः तत्त्वको अर्थसे कहनेवाले जिनेन्द्र श्री तीर्थंकर देव हैं; और जिनोक्त तत्त्वोंको सूत्रमें प्रतिबद्ध करनेवाले श्रीगणधर भगवंत हैं। वे ही अपने शिष्योंको सूत्रार्थ पढाते हैं, सूत्र व्याख्यान देते हैं। उनको और अन्य व्याख्याकारक पूर्वाचार्योंको यहाँपर नमस्कार किया गया है।

(प:—) ललित विस्तरा ग्रन्थका विवरण करनेमें कौन समर्थ है,—यह स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि "यां बुद्ध्वा..." अर्थात् निखिल व्याख्याताओंमें मुकुटमणि समान श्री सिद्धर्षिगणि महाराज, जिनकी आत्मा बुद्ध

रचित शास्त्र के अभ्यास से चलायमान हो गई थी, उन्होंने स्वयं जिस ललित विस्तरा का अवगाहन कर के प्रतिबोध पाया; इतना ही नहीं बल्कि अपने उपमितभवप्रपंच कथा नाम क ग्रन्थ में ' यत्कर्तुः ' = जिस ललित विस्तराके रचयिता (श्री हरिभद्रसूरिजी म०)को गुरु की तरह माना और नमस्कार किया; ऐसी इस ललित विस्तरा का विवरण कौन कर सकता है ? तथापि अपनी स्मृति हेतु, ' शास्त्रान्तरदर्शनतः...' अर्थात् अन्य दूसरे शास्त्रोक्त अवलोकन कर, [२]अपने तर्कपूर्ण विचारों के आधार पर, और[३] गुरु के उपदेशानुसार, इस पंजिका का शुभारंभ किया जाता है। जिसमें कि कतिपय दुर्बोध पदों के अर्थ का स्पष्टीकरण है।

प्र०—इसी के संदर्भ मे विवेचक ने यह सूचित किया है कि ललित विस्तरा एक महान् गंभीर, और सूक्ष्म भावों से ओतप्रोत ग्रंथ है। श्री सिद्धर्षिगणि महाराज बौद्ध शास्त्र के अभ्यास से विचलित चित्तवाले बने। फिर उन के विरुद्ध जैन दर्शन की युक्तियों का प्रकाश मिलने से बौद्ध की युक्तियों को मिथ्या मानते, परंतु पुनः बौद्ध युक्तियाँ इन्हीं भागों मे मिलने से बौद्ध धर्म के पक्षपाती बनते। ऐसी चल विचलता का अर्थ यह होता है कि मिथ्या दर्शन के भ्रामक युक्तियों में आकर्षित न हो इसके लिये जैन दर्शन की मात्र सच्ची युक्तियाँ ही सब कुछ नहीं थीं, परंतु जैन दर्शन की ऐसी सर्वांगीण विशेषताओं और सच्चे तत्वों के हृदयभेदी प्रकाश की भी आवश्यकता थी जिस से चित्त ऐसा सुस्थिर हो जाए कि अन्य दर्शन द्वारा पेश की हुई चाहे जैसी युक्तियॉं हो, उनकी असत्यता और अश्रद्धेयता हृदय मे सुव्यक्त बनी रहे; और उन का प्रतिकार करने में सामर्थ्यवान होने से, अपने को प्राप्त हुआ सम्यग् बोध और सत् तर्क के आधार से मिथ्या मत का जोरदार खंडन ज्ञात हो जाए। अथवा क्षयोपशम की मंदताके आधार से उतना तीक्ष्ण बोध न होने पर भी उसे कुतर्क समझकर उसपर लेशमात्र भी श्रद्धा या आकर्षण नहीं हो। ऐसे जैन दर्शन के विशिष्ट तत्वोंका प्रकाश अद्भुत कोटिके 'ललित विस्तरा' ग्रंथ से जब उन्हें प्राप्त हो गया, तब उन्हें अपनी चचलता और मिथ्यात्ववशता पर घोर पश्चात्ताप हुआ; उन्हें ऐसा अनुभव हुआ कि ' ऐसे मिष्टान्न स्वरूप जैन दर्शन को त्याग कर मेरे जैसे मूर्खने यह कहा कदन्नतुल्य अन्य दर्शन को स्वीकार किया ! अहो ! कैसा सर्वोत्तम जैनदर्शन ! कैसे उसके उच्च एवं समस्त विश्वमें अप्राप्य विशिष्ट तत्त्व !' इस तरह मिथ्या मतके प्रति घृणा एवं जैन दर्शन के प्रति महान आदर हो जाने से सम्यग् दर्शन मे सुदृढ हो गये। जिनोक्त तत्त्वके प्रति अचल तथा असीम श्रद्धावान हुए। इतना ही नहीं, पर इस ग्रंथ में अन्यान्य दर्शनोंके विविध कुमतो का दर्शनादिवाकर प्रकाण्ड विद्वान श्री हरिभद्रसूरीजी महाराज द्वारा किया गया तर्क-पूर्ण खंडन और साथ ही जैन तत्त्व का मंडन का अपूर्व बोध होने से कुमतप्रहार के सामने लोह-दिवाल जैसे बन गये।

सहज ही यह भाव उत्पन्न होगा कि ऐसा इस ललित विस्तरा ग्रंथ में क्या है ! लेकिन इस आश्चर्य के प्रति कहना पड़ेगा कि एक शक्रस्तव नमोत्थुणं सूत्र का भी प्रत्येक पद कुमतों के निराकरण से गर्भित है, साथ ही उन में अनेक विशिष्ट पदार्थों का गर्भित प्रतिपादन है। उन की श्री हरिभद्र सूरिजी महाराज द्वारा प्रगट की गई दिव्य ज्योति का अनुभव करनेवाले पुरुष ही इस ग्रंथ की विशेषता समझ सकते हैं।

यद्यपि सिद्धर्षि गणि महाराज ललित विस्तराकार महर्षि के बाद शताब्दियों के अन्तर पर हुए हैं; फिर भी ललित विस्तरा से अपने पर हुए अप्रतिम भावोपकार की कृतज्ञतावश ललित विस्तराकार

(पं०) यां बुद्ध्वा किल सिद्धसाधुरखिलव्याख्यातृचूडामणिः, संबुद्धः सुगतप्रणीतसमयाम्भासाच्चलच्चेतनः । यत्कर्तुः स्वकृतौ पुनर्गुरुतया चक्रे नमस्यामसौ, को ह्येनां विवृणोतु नाम ? विवृतिं स्मृत्वे तथाप्यात्मनः ॥ २ ॥ शास्त्रान्तरदर्शनतः, स्वयमप्यूहाद् गुरूपदेशाच्च । क्रियते मयैव दुर्गमकतिपयपदभञ्जिकारम्भः ॥ ३ ॥ (युग्मम्)

ऐसे अद्‌भुत चैत्यवंदन के अनुष्ठान में "श्री शक्रस्तव" (नमुत्थुणं) आदि सूत्र अतीव उपयोगी है। इससे सफल ऐसे भाव अनुष्ठान की निश्चित सिद्धि होती है। अतः चैत्यवंदन सूत्रों के शब्दार्थ, भावार्थ और ऐदंपर्यार्थको जानना अत्यंत ही आवश्यक है। और ये तीनों बडे गंभीर हैं। चौदह सौ चवालीस शास्त्रोंके प्रणेता, पूर्वधर के अति निकट कालवर्ती, जैनदर्शन की अनेक असाधारण विशेषताओं के सप्रमाण प्रकाशक, महासंवेग–वैराग्य रस के पातालकलशसम, सत्तर्कपूर्वक षड्‌दर्शन के समर्थ समीक्षक, इत्यादि अनेकानेक प्रभावकगुणगणोंसेअलंकृत आचार्य भगवंत श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराजने चैत्यवंदन सूत्र के रहस्यमय अर्थ को सविस्तार समझाने के लिये एक व्याख्या की रचना की है; जिसका नाम है "ललित विस्तरा"।

यह "ललित विस्तरा" एक व्याख्या ग्रंथ है। फिर भी हरिभद्रसूरिजी महाराज की व्याख्या ग्रंथ की लेखनी (भाषा) के लिये ऐसी प्रसिद्धि है कि जैसे वह सूत्र भाषा है। क्योंकि उन के व्याख्या-शब्द गंभीर और विस्तृत भावों से ओतप्रोत होते हैं। इसलिये समर्थ विवेचनकार, प्रखर दार्शनिक, और स्व पर आगम के विशिष्ट ज्ञाता आचार्यपुंगव श्री मुनिचंद्र सूरिजी महाराज ने इसी "ललित विस्तरा" पर एक संक्षिप्त व्याख्या 'पंजिका' नाम से लिखी है।

"पंजिका पदभंजिका" इस कोषवचन से यह पंजिका नाम की व्याख्या 'ललित विस्तरा' के कतिपय पदों का संक्षिप्त विवेचन करनेवाली है। इस पंजिका का शुभारंभ करते समय मंगल-सूचक और अभिधेय-दर्शक श्लोक की इस प्रकार रचना करते हैं :—'नत्वानुयोगवृद्धेभ्यः... । इसका भाव है,

(प० अर्थः–) अनुयोग वृद्धोंको नमस्कार कर, चैत्यवंदनसूत्र संबंधी 'ललित विस्तरा' नाम की विवेचना का मैं कहीं-कहीं अल्प ही व्याख्यान (भाव-स्पष्टीकरण) करता हूँ ।

(प्र:–) अनुयोगके चार प्रकार हैं–(१) चरणकरणानुयोग, (२) गणितानुयोग, (३) धर्मकथानुयोग, और (४) द्रव्यानुयोग । सामान्यतः अनुयोगका अर्थ व्याख्या होता है। अनु = सूत्रके पीछे, योग = अर्थका संबन्ध। अर्थात् सूत्रका अर्थ जिससे ज्ञात होता हो, ऐसी व्याख्या अनुयोग है। उसमें पदार्थको सुस्पष्ट करनेवाले पूर्वपुरुष अनुयोगवृद्ध कहलाते हैं। अर्थात् प्रथमतः तत्त्वको अर्थसे कहनेवाले जिनेन्द्र श्री तीर्थंकर देव हैं; और जिनोक्त तत्त्वोंको सूत्रमें प्रतिबद्ध करनेवाले श्रीगणधर भगवंत हैं। वे ही अपने शिष्योंको सूत्रार्थ पढाते हैं, सूत्र व्याख्यान देते हैं। उनको और अन्य व्याख्याकारक पूर्वाचार्योंको यहाँपर नमस्कार किया गया है।

(प:–) ललित विस्तरा ग्रन्थका विवरण करनेमें कौन समर्थ है,–यह स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि "यां बुद्ध्वा..." अर्थात् निखिल व्याख्याताओंमें मुकुटमणि समान श्री सिद्धर्षिगणि महाराज, जिनकी आत्मा बुद्ध

रचित शास्त्र के अभ्यास से चलायमान हो गई थी, उन्होंने स्वयं जिस ललित विस्तरा का अवगाहन कर के प्रतिबोध पाया; इतना ही नहीं बल्कि अपने उपमितभवप्रपंच कथा नाम क ग्रन्थ में ' यत्कर्तृ: ' = जिस ललित विस्तराके रचयिता (श्री हरिभद्रसूरिजी म०)को गुरु की तरह माना और नमस्कार किया; ऐसी इस ललित विस्तरा का विवरण कौन कर सकता है ? तथापि अपनी स्मृति हेतु, ' शास्त्रान्तरदर्शनतः...' अर्थात् अन्य दूसरे शास्त्रोका अवलोकन कर, [२]अपने तर्कपूर्ण विचारों के आधार पर, और[३] गुरु के उपदेशानुसार, इस पंजिका का शुभारंभ किया जाता है। जिसमें कि कतिपय दुर्बोध पदों के अर्थ का स्पष्टीकरण है।

प्र०—इसी के संदर्भ में विवेचक ने यह सूचित किया है कि ललित विस्तरा एक महान्, गंभीर, और सूक्ष्म भावो से ओतप्रोत ग्रंथ है। श्री सिद्धर्षिगणि महाराज बौद्ध शास्त्र के अभ्यास से विचलित चित्तवाले बने। फिर उन के विरुद्ध जैन दर्शन की युक्तियों का प्रकाश मिलने से बौद्ध की युक्तियों को मिथ्या मानते, परंतु पुनः बौद्ध युक्तियाँ इन्हीं भागों में मिलने से बौद्ध धर्म के पक्षपाती बनते। ऐसी चल विचलता का अर्थ यह होता है कि मिथ्या दर्शन के भ्रामक युक्तियों में आकर्षित न हो इसके लिये जैन दर्शन की मात्र सच्ची युक्तियाँ ही सब कुछ नहीं थीं, परंतु जैन दर्शन की ऐसी सर्वांगीण विशेषताओं और सर्वज्ञ तत्त्वों के हृदयभेदी प्रकाश की भी आवश्यकता थी जिस से चित्त ऐसा सुस्थिर हो जाए कि अन्य दर्शन द्वारा पेश की हुई चाहे जैसी युक्तियाँ हों, उनकी असत्यता और असंबद्धता हृदय में सुव्यक्त बनी रहे; और उन का प्रतिकार करने में सामर्थ्यवान होने से, अपने को प्राप्त हुआ सम्यग् बोध और सत् तर्क के आधार से मिथ्या मत का जोरदार खंडन ज्ञात हो जाए। अथवा क्षयोपशम की मंदताके आधार से इतना तीक्ष्ण बोध न होने पर भी उसे कुतर्क समझकर उसपर लेशमात्र भी श्रद्धा या आकर्षण नहीं हो। ऐसे जैन दर्शन के विशिष्ट तत्त्वोंका प्रकाश अद्‌भुत कोटिके 'ललित विस्तरा' ग्रंथ से जब उन्हें प्राप्त हो गया, तब उन्हें अपनी चचलता और मिथ्यात्ववशता पर घोर पश्चात्ताप हुआ; उन्हें ऐसा अनुभव हुआ कि ' ऐसे चिंतामणि स्वरूप जैन दर्शन को त्याग कर मेरे जैसे मूर्खने यह क्या कांचतुल्य अन्य दर्शन को स्वीकार किया ! अहो ! कैसा सर्वोत्तम जैनदर्शन ! कैसे उसके उच्च एवं सनातन विश्वमें अप्राप्य विशिष्ट तत्त्व !' इस तरह मिथ्या मतके प्रति घृणा एवं जैन दर्शन के प्रति महान आदर हो जाने से सम्यग् दर्शन से सुदृढ हो गये। जिनोक्त तत्त्वके प्रति अचल तथा अदीन श्रद्धावान हुए। इतना ही नहीं, पर इस ग्रंथ में अन्यान्य दर्शनोंके विविध कुमतों का दर्शनदिवाकर प्रकाण्ड विद्वान श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराज द्वारा किया गया तर्क-पूर्ण खंडन और साथ ही जैन तत्त्व का मंडन का अपूर्व बोध होने से कुशलकार के समान [illegible] बन गये।

सहज ही यह बात [illegible] कि ऐसा इस ललित विस्तरा ग्रंथ में क्या है ! लेकिन इस आश्चर्य के प्रति कहना [illegible] कि यह [illegible] तत्त्व का [illegible] पर कुमतों के निराकरण से गर्भित है, साथ ही उन में अनेक विशिष्ट पदार्थों का [illegible] है। इस ग्रंथ को हरिभद्र सूरिजी महाराज द्वारा प्रगट की गई [illegible] का अनुभव [illegible] इस ग्रंथ की विशेषता समझ सकते हैं।

[illegible] सिद्धर्षि [illegible] ललित विस्तरा [illegible] के [illegible] अन्तर पर हुए हैं फिर भी ललित विस्तरा में [illegible] निम्नाकार

।(पं०१) ।तत्राचार्यः शिष्टसमाचारतया विघ्नोपशमकतया च मंगलं, ।प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यर्थमभिधेयं सप्रसङ्गं प्रयोजनं सामर्थ्यगम्यं सम्बन्धं च वक्तुकाम आह ' प्रणम्य भुवनालोकं,.... ।

श्री हरिभद्रसूरिजी महाराज को अपने गुरू करके अपने विश्व श्रेष्ठ ' उपमित ग्रंथ ' में नमस्कार करते हैं। यह सच है कि जब आत्मा मिथ्यात्व के अंधकार में फँसकर साधु के छठे गुणस्थानकसे, श्रावक के पांचवेसे, और जैन के चौथे सम्यक्त्व के गुणस्थान से भ्रष्ट होती है; अगर वहाँ उसे कोई पुनः निर्मल सम्यग्दर्शन के प्रति सुस्थिर कर दे, जिससे पुनः छठा चारित्र गुणस्थानक पर आरूढ हो, तो ऐसा अनुभव होगा कि इस उपकारका बदला देना प्रायः असंभव है। श्री सिद्धर्षि गणि महाराज ने तो यहाँ तक कहा है कि यह ललित विस्तरा ग्रंथ मानो मेरे लिए ही लिखा गया है ।

इस पवित्र ग्रन्थ का विवरण लिखने के लिये पञ्जिकाकार द्वारा प्रतिपादित तीन साधन सुयोग्य और अति आवश्यक हैं। जैसे कि (१) इस ग्रन्थमें दूसरे शास्त्रोंके कहे हुए कितने ही पदार्थोंका प्रतिपादन है अतः इसकी व्याख्या के लिये अन्य दूसरे शास्त्रोंका अवलोकन आवश्यक है।(२) ललित विस्तरामें रहस्य भी ऐसे गूढ हैं कि उन्हें स्पष्ट करने के लिये तर्कशक्ति के साथ ही सच्चीःसमन्वय शक्ति भी होनी चाहिये जिसे सम्यग् 'ऊहा' कहा जाता है । ललित विस्तरा जैसे महान ग्रन्थ का भाव सिर्फ तर्क के आधार पर विपरीत होना सभव है । इस के निवारणार्थ (३) पूर्व पुरुषो का संप्रदाय अर्थात् पठन परिपाटी के संदर्भ में शब्दार्थ, भावार्थ और दूरवर्ती तात्पर्यतक का बोध होना भी उतना ही आवश्यक है। उपरोक्त साधनों से सुसज्ज पंजिकाकार महात्मा अपने कार्य का शुभारंभ करते हैं।

(पं०:-) यहाँ ललितविस्तरा ग्रन्थ के रचियता आचार्य महाराज,(१) शिष्ट पुरुषों के आचार स्वरूप एवं विघ्न के शांतिकारक होने से मंगल करने की कामनावश, (२) प्रेक्षावान अर्थात् विचार कर कार्यप्रारंभ करनेवाले बुद्धिशालि पुरुषों को इस शास्त्रके पठनमे प्रवृत्ति हेतु शास्त्र के विषय को कहने के लिये, एवं (३-४) प्रसङ्गसे प्रयोजन और सम्बन्ध को ज्ञात कराने के लिये यह श्लोक कहते हैं- ' प्रणम्य भुवना-लोकं··· 'इसका अर्थ हैः—

समस्त सामान्य और विशेष रूपसे विश्वके ज्ञाता जिनेश्वर श्री महावीरप्रभु को प्रकट प्रणाम कर, चैत्यवन्दन सूत्र की व्याख्या की जाती है।

(प्रः-) विश्व की प्रत्येक वस्तु मे विशेष और सामान्य ऐसे दो स्वरूप होते हैं। उदाहरणार्थ, आकाश विशेषतया अवकाशदायी स्वतत्र ' आकाश ' नाम का द्रव्य है, और सामान्यतया जीव आदि और द्रव्य की तरह ' द्रव्य ' भी है। घड़ा विशेषतया लाल मिट्टी का और बडा घड़ा है, साथ ही सामान्य रूप मे अन्य घड़े की तरह पानी भरनेका एक पात्र है। अथवा कहिये, यही घड़ा सामान्यतया अन्य रक्त घड़े की तरह रक्त व मोटा है। परंतु विशेषतया नया और कीमती भी है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से कई विशेष और सामान्य ऐसे दो प्रकार के स्वरूप होनेका ज्ञान होता है। ऐसे समस्त त्रिकालवर्ती विशेष और सामान्य स्वरूपसे विश्व को केवलज्ञान एवं केवलदर्शन के द्वारा जो जानते हैं और प्रत्यक्ष देखते हैं, ऐसे इस अवसर्पिणी के चरम जिनपति भगवान श्री महावीर देव को आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी महाराज इच्छायोग के प्रकर्ष से नमस्कार कर सुप्रसिद्ध ऐसे चैत्यवंदन सूत्र-पर अभी कही जाने वाली व्याख्या करते हैं। इच्छायोग-शास्त्रयोगादिका वर्णन योगदृष्टिग्रन्थ में है।

(पं०-) तत्र 'प्रणम्य'=प्रकर्षेण नत्वा 'भुवनालोकं' 'भुवनं'=जगत्, 'आ' इति विशेष-सामान्यरूपविषयभेदसामस्त्येन, 'लोकते' केवलज्ञानदर्शनाभ्यां बुध्यते यः स तथा तं, कमेवंविधमित्याह 'महावीरं' अपश्चिमतीर्थपतिं जिनोत्तमं=अवध्यादिजिनप्रधानं, 'चैत्यवंदनसूत्रस्य' प्रतीतस्य, 'व्याख्या'= विवरणं, 'इयं' अनन्तरमेव वक्ष्यमाणा, 'अभिधीयते'=प्रोच्यते इति ॥ १ ॥ सम्प्रत्याचार्यः प्रतिज्ञातव्या-ख्याकृत्स्नपक्षाक्षमत्वमात्मन्याविष्कुर्वन्नाह,—

(ल०-) अनन्तगमपर्यायं सर्वमेव जिनागमे । सूत्रमतोऽस्य कार्त्स्न्येन व्याख्यां कः कर्तुमीश्वरः ॥२॥

(पं०-) अनन्ताः=अनन्तनामकसंख्याविशेषानुगताः, गमाः=अर्थमार्गाः, पर्यायाश्च= (अवस्था-विशेषाः) उदात्तादयोऽनुवृत्तिरूपाः पररूपाभवनस्वभावाश्च व्यावृत्तिरूपा, यत्र तत्तथा (अनन्तगमपर्यायं), सर्वमेव=अंगगतादि निरवशेषं, जिनागमे=अर्हच्छासने, सूत्रं=शब्दसन्दर्भरूपं यतो=यस्माद्धेतोः । 'ततः, इति गम्यते (अध्याहारेण), अस्य=सूत्रस्य कार्त्स्न्येन=सामस्त्येन व्याख्यां=विवरणं, कः कर्तुं=विधातुम्, ईश्वरः=समर्थः ?

प्रभु को 'जिनोत्तम' इसलिये कहा जाता है कि 'जिन' शब्द का अर्थ है, राग, द्वेष और मोह रूपी आंतरशत्रु पर विजय प्राप्त करनेवाले (उन्हें दूर हटाने वाले)। ऐसे हैं अवधिज्ञानी जिन, मनःपर्याय जिन, श्रुतकेवली जिन, वीतराग केवली जिन (सर्वज्ञ)। इन सभी जिन भगवंतो में सर्वज्ञ वीतराग जिन ने तो रागद्वेषका निर्मूल नाश किया है। उनमें भी मुख्य है सर्वज्ञ वीतराग तीर्थंकर जिन। क्यों कि वे समस्त रागद्वेष के विनाशक होते हुए विश्वमें धर्मतीर्थके प्रवर्तक होते हैं इससे विश्व की आत्माएँ जिन बन सकती हैं।

आचार्य महाराज जिस व्याख्यासंबन्धी प्रतिज्ञा कर चुके उस व्याख्या के दो भेद हैं (१) संपूर्ण व्याख्या, और (२) आंशिक व्याख्या। इसमें से संपूर्ण व्याख्या का प्रकार अवलम्बित करने की सामर्थ्य खुदमें नहीं है, इसी को प्रकट करते हुए दूसरा श्लोक कहते हैं 'अनन्तगम........'।

(ल०) श्री अरिहंत प्रभु के शासन में सभी सूत्र अनंत गम एवं अनंत पर्याय से युक्त हैं। इसलिये इस चैत्यवंदन सूत्र का पूर्ण रूप से विवरण करने में कौन समर्थ है।

(पं०) संख्या संख्यात, असंख्यात और अनंत—ऐसी तीन प्रकार की होती है। इन में से अनंत नामक विशिष्ट संख्या से युक्त है सूत्र के गम व पर्याय। 'गम' कहते हैं अर्थ के मार्ग को, अर्थात् सूत्र में रही हुई अर्थबोधन-शक्तियों को, जो उस-उस अर्थ की अभिव्यक्ति करने में उपायभूत हैं। जैसे भग शब्द के सूर्य, सौभाग्य, ऐश्वर्य आदि कई अर्थ कोष में निर्दिष्ट हैं। भग शब्द में उस-उस अर्थ प्रकाशन करने की शक्ति होती है। तदुपरांत वाक्य में निविष्ट भग शब्द से, आगे पीछे शब्दों के सन्दर्भवशात्, कितने ही लाक्षणिक अर्थ भी ज्ञात होते हैं। तब उन अर्थों को भी प्रकाशित करने का सामर्थ्य भग शब्द में सिद्ध है। ऐसे अनंत अर्थबोधन शक्ति स्वरूप अर्थमार्ग अर्थात् 'गम' प्रत्येक सूत्र में रहे हैं। एवं सत्पदादि, गति-इन्द्रियादि, उद्देश-स्वामित्वादि मार्गणाद्वारों से अनंत गम बनते हैं।

इसी प्रकार प्रत्येक सूत्र के पर्याय भी अनन्त हैं। पर्याय का अर्थ है अवस्था। उनको दो विभागों में विभाजित कर सकते हैं :—(१) अनुवृत्ति पर्याय और (२) व्यावृत्ति पर्याय। अनुवृत्ति पर्याय वे है जो वस्तु के स्वरूप में तद्रूप रहे हुए हैं। उदाहरणार्थ मिट्टी के घड़े में मृण्मयता (मिट्टीपन) स्वरूप के साथ तद्रूप रही है। हीरे में प्रकाशत्व स्वरूप में तद्रूप है। वह अनुवृत्ति पर्याय कहलाता है।

दूसरा है व्यावृत्ति पर्याय, वह पररूप के अभवन अर्थात् निषेध स्वभाववाला है। उदाहरण से, घड़ा सूत्रमय नहीं है। सूत्रमयता तो वस्त्र का अनुवृत्ति स्वरूप है, ठीक उस सूत्रमयता की अननुवृत्ति घड़े ही में है। ऐसी निषेध रूप से संबद्ध सूत्रमयता घड़े का व्यावृत्ति पर्याय कहलाता है।

(पं०) अयं हि 'किं' शब्दो (१) अस्ति क्षेपे—'स किं सखा योऽभिद्रुह्यति ?।' (२) अस्ति प्रश्ने—'किं ते प्रियं करोमि ?' (३) अस्ति निवारणे—किं ते रुदितेन ?' (४) अस्त्यपलापे—'किं ते धारयामि ?' (५) अस्त्यनुनये—किं ते अहं करोमि ?' (६) अस्त्यवज्ञाने—'कस्त्वामुल्लापयते ?' । इह त्वपलपे,—नास्त्यसौ यः सूत्रस्य कार्त्स्न्येन व्याख्यां कर्तुं समर्थः इत्यभिप्रायोऽन्यत्र चतुर्दशपूर्वधरेभ्यः । यथोक्तं–'शक्नोति कर्तुं श्रुतकेवलिभ्यो, न व्यासतोऽन्यो हि कदाचनापि' इति । जिनागमसूत्रान्तर्गतं च चैत्यवन्दनसूत्रमतोऽशक्यं कृत्स्नव्याख्यानमिति ॥ २ ॥

परपर्याय स्वीय कैसे ?

प्रश्न—मृण्मयता घड़े में है, तो उसे घड़े का पर्याय ठीक ही माना जाय, परन्तु सूत्रमयता जो कि घड़े में है ही नहीं उसे घड़े का पर्याय कैसे कह सकते हैं ?

उत्तर—जिस प्रकार मृण्मयता का विधान घड़े में होता है उसी प्रकार सूत्रमयता का निषेध भी घड़े में ही होता है । या यों कहिये कि मृण्मय कौन ? तो घड़ा । उसी प्रकार सूत्रमय कौन नहीं है ? तो भी उत्तर यही कि घड़ा । इस प्रकार घड़े में दो अवस्थाएँ हुई । प्रथम विधान अवस्था और द्वितीय निषेध-अवस्था । कौन कह सकता है कि घड़े में विधान अवस्था अर्थात् विधेय भले ही हो, परन्तु निषेध-अवस्था (निषेध्य) हो ही नहीं सकती ? यदि सूत्रमयता घड़े की निषेध-अवस्था न होती तो घडा सूत्रमय ही बन जाता । तात्पर्य यह है कि मृण्मय और सूत्रमय दोनों ही घडे की अवस्था हैं । अन्तर इतना ही है कि एक विधान-संबन्ध से संबद्ध है, अपर निषेध-सम्बन्ध से संबद्ध । एक है विधेय रूप में, और दूसरी है निषेध रूप में । दूसरे शब्द से कहें तो एक अवस्था अनुवृत्ति रूप है और दूसरी व्यावृत्ति रूप । परन्तु दोनों ही घड़े के पर्याय हैं इसमें कोई संशय नहीं । इस द्रव्यपर्याय की तरह क्षेत्र-काल-भावादि की अपेक्षा से घडे की अनन्त अवस्थाएं हैं अर्थात् अनन्त पर्याय हैं ।

अब चैत्यवन्दनादि सूत्र में देखें तो सूत्र यह शब्द-पुद्गल होने से इन में भी ऊंचे या नीचे स्वर से उच्चारित उदात्त या अनुदात्त, वैसे ह्रस्व या दीर्घ, इत्यादि अनुवृत्ति और व्यावृत्ति नामक अनन्त पर्याय हैं । ऐसे ही अर्हत् प्रभु के प्रवचन में अंग उपांग, कालिक उत्कालिक वगैरह सूत्र समूह के अनन्त गम और अनन्त पर्याय हैं ।

ये सभी गम-पर्याय सूत्र के विवेचन में लिये जायँ तो सूत्र का विवेचन सपूर्ण रूप से हुआ वैसा कहा जाय । किन्तु वैसे करने के लिए कौन समर्थ होगा ? अर्थात् कोई समर्थ नहीं है ।

यहां 'कौन समर्थ है' इस वाक्य-प्रयोग में 'कौन' शब्द आया । उसके भिन्न-भिन्न अर्थों का थोड़ा विचार बतलाते हैं, "अयं हि 'किं' शब्दो..."

'कौन' व 'क्या' यह शब्द आक्षेप[1]-प्रश्न[2]-निवारण[3] (रोकना) अपलाप[4] (निषेध)-अनुनय[5] प्रार्थना और अवज्ञा[6],–ऐसे छः अर्थों में प्रयुक्त होता है । दृष्टान्त से (१) 'आक्षेप' :–जो विश्वासघात करता है वह मित्र कौन ? यहा मित्रता पर आक्षेप किया गया । (२) 'प्रश्न' :–मैं तुम्हारा क्या हित कर सकता हूँ ? अर्थात् प्रश्न रूप में हित जानने की इच्छा व्यक्त की । (३) 'निवारण' :—अब तुम्हारे रोने से क्या ? अर्थात् 'रोना बन्द करो' । रोने का निवारण किया । (४) 'अपलाप' :—मेरे पर तुम्हारा क्या ऋण है ? अर्थात् कुछ देना नहीं है ऐसा निषेध किया । (५) 'प्रार्थना '–' मैं तुम्हारा क्या करूं ? अर्थात् तुम्हें क्या चाहिये ? वह कहने के लिये प्रार्थना की गई । (६) 'अवज्ञा.'–तुम्हें कौन बुलाता है ? अर्थात् तुम्हे कोई पूछता नहीं फिर भी बीच में क्यों बोलते हो, ऐसा भाव प्रदर्शित कर, उसका तिरस्कार किया गया ।

(पं०) इत्थं कृत्स्नव्याख्यापक्षाशक्यावितरपक्षाश्रयणमपि सफलतया वक्तुकामः श्लोकद्वयमाह
(ल०) यावत्तथापि विज्ञातमर्थजातं मया गुरोः। सकाशादल्पमतिना, तावदेव ब्रवीम्यहम् ॥३॥
ये सत्वाः कर्मवशतो मत्तोऽपि जडबुद्धयः। तेषां हिताय गदतः सफलो मे परिश्रमः ॥४॥

(पं०) यावत् = यत्परिमाणं, तथापि = कृत्स्नव्याख्यानाशक्तिलक्षणो यः प्रकारस्तस्मिन् सत्यपि, विज्ञातं = अवबुद्धम्, अर्थजातम् = अभिधेयप्रकारस्तत्समूहो वा, प्रक्रमाच्चैत्यवन्दनसूत्रस्य, मया = इत्यात्मनो निर्देशे, गुरोः = व्याख्यातुः, सकाशात् = संनिधिमाश्रित्य, कीदृशेनेत्याह अल्पमतिना, अल्पा = तुच्छा गुरुमत्यपेक्षया मतिः = बुद्धिर्यस्य स तथा तेन, तावदेव = विज्ञातप्रमाणमेव, अविज्ञातस्य वक्तुमशक्यत्वात्, ब्रवीमि = वच्मि अहं कर्त्तेति। अल्पमतिनेत्यनेन चेदमाह, कदाचिन्नधिकधीर्गुरोः शृण्वंस्ततोऽधिकमपीदमवैति। 'श्यामलादपि दीपात्तु निर्मलः स्यात्स्वहेतुतः'–इत्युदाहरणात्। तत्समधीश्च तत्समं, अहं त्वल्पमतित्वाद् गुरुनिरूपितादपि हीनमेवार्थजातं विज्ञातवानिति तदेव ब्रवीमि ॥ ३ ॥

ये = इति अनिरुपितनामजात्यादिभेदाः, सत्त्वाः = प्राणिनः, कर्मवशतो = ज्ञानावरणाद्यदृष्टपारतन्त्र्यात्, मत्तोऽपि = मत्सकाशादपि, नान्यः प्रायो मत्तो जडबुद्धिरस्तीतिसम्भावनार्थः 'अपि' शब्दः, जडबुद्धयः = स्थूलबुद्धयो, विचित्रफलं हि कर्म, ततः किं न सम्भवतीति, तेषां = जडबुद्धीनां हिताय = पथ्याय, गदतो = विवृण्वतः, सफलो = बोधलक्षणतदुपकारफलवान्, अधिकसदृशबुद्धिकयोस्तु प्रमोदमाध्यस्थ्यगोचरतयाऽतोनुपकारात्, मे = मम, परिश्रमः = व्याख्यानरूपः।

प्रस्तुत में चैत्यवंदन सूत्र की पूर्ण रूप से व्याख्या कौन कर सकता है? इसमें 'कौन' शब्द अपलाप अर्थ में ले कर ऐसे व्याख्याता होने का अपलाप किया यानी निषेध किया।

पञ्जिकाकार महर्षि फरमाते हैं कि चौदह पूर्वों के पारगामी को त्याग कर ऐसा कोई नहीं है कि जो सूत्र की संपूर्णतया व्याख्या करने में समर्थ हो, ऐसा श्लोक का अभिप्राय है। ऐसा कहा भी है कि श्रुतकेवली के सिवाय अन्य कोई विद्वान् सपूर्ण विस्तार से कभी भी व्याख्या नहीं कर सकता। चैत्यवंदन सूत्र भी जिन-प्रवचन सूत्र में अन्तर्गत है, अतः उसका पूर्ण रूप से विवेचन असभव है।

इस प्रकार सपूर्ण व्याख्या पक्ष का अवलंबन करने की जब शक्ति नहीं तब दूसरे पक्ष का अर्थात् आंशिक व्याख्या पक्ष का अवलंबन करना भी सफल है, ऐसा कहने की इच्छा से ग्रन्थकार महर्षि दो श्लोक कहते हैं– यावत्तथापि····' 'ये सत्त्वा..'। (ल०) अर्थ यह है कि यद्यपि मुझ अल्पबुद्धि ने जितना अर्थसमूह गुरुदेव के पास से जाना है उतना ही मैं यहां पर कहता हूँ। (फिर भी) जो जीव कर्मवश मुझ से भी मन्द बुद्धि वाले हैं उनके हित के लिये उतना भी कहने में मेरा परिश्रम सफल है। सपूर्ण व्याख्या करने की असामर्थ्य का प्रकार रहने पर भी जितने प्रमाण में चैत्यवदन सूत्र के वक्तव्य पदार्थ-समूह व्याख्याता गुरुदेव से मेरे जैसे अल्पबुद्धि ने उन के सान्निध्य को पाकर जाना है, उतने ही प्रमाण में मैं यहाँ उल्लेख कर रहा हूँ। नहीं जाना हुआ अर्थ कहाँ से कहा जाए? ग्रन्थकार स्वयं अपने को

(पं०) इह चेष्टदेवतानमस्कारो मंगलं, चैत्यवंदनार्थोऽभिधेयः, तस्यैव व्याख्यायमानत्वात्, कर्तुस्तथाविधसत्त्वानुग्रहोऽनन्तरं प्रयोजनं, श्रोतुश्च तदर्थाधिगमः, परंपरं तु द्वयोरपि निःश्रेयसलाभः, अभिधानाभिधेयलक्षणो व्याख्यानव्याख्येयलक्षणश्च संबंधो बोद्धव्यः 'इति' मंगलादिनिरूपणासमाप्त्यर्थः ॥ ४ ॥

(ल०) अत्राह–चिन्त्यमत्र साफल्यं, चैत्यवंदनस्यैव निष्फलत्वात् इति । अत्रोच्यते,-

---

अल्पबुद्धि कह कर, यह सूचित करते हैं कि यदि गुरु के सान्निध्य में गुरु से भी कुशाग्र बुद्धिवाला सुने तो वह उन से भी अधिक पदार्थ समूह जान सकता है। जैसे कि, मन्द दीपक की तुलना में नवीन दीपक, जो स्वयं मन्द दीपक से प्रज्वलित हुआ है फिर भी अति तेजस्वी हो सकता है। अब गुरु के समकक्ष बुद्धिमान् शिष्य गुरु से कहे बराबर पदार्थ समूह जान सकता है। परंतु मैं तो व्याख्याता गुरु से मन्द बुद्धिवाला होने से गुरु ने बतलाया उतना भी नहीं किन्तु उससे भी कम पदार्थ-समूह समझा हूँ, इसलिये मैं उतना ही कहता हूँ।

नाम जाति के विषय में गहराई से सोचे बिना यूँ ही कहिये कि जो प्राणी मात्र ज्ञानावरणीय आदि पाप कर्म की परवशता से मुझ से भी अधिक मन्द बुद्धिवाले हैं,–अर्थात् संभवतः मुझसे जड बुद्धिवाले अन्य कोई नहीं होंगे; फिर भी कर्म विचित्र फलदायी होते हैं, उससे क्या संभव नहीं है? इसलिये संभव है कि मुझसे भी कम बुद्धिमान् हों,–उनकी भलाई के लिये इस ग्रन्थ के विवरण की रचना करता हूँ। वैसा करने से उन मन्द जीवों को बोध स्वरूप उपकार होगा। अधिक बुद्धिवाले जीव अपनी प्रमोद (गुणानुराग) की भावना के विषय है, और समान बुद्धिशाली जीव मध्यस्थभाव के विषय हैं। इसलिये उनको इस व्याख्या से उपकार नहीं है। उपकार तो मन्द बुद्धिवालों पर होता है। इसी लिए व्याख्या करने का परिश्रम सार्थक है।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगल–अभिधेय (विषय) – प्रयोजन–सम्बन्ध, इन 'अनुबन्ध चतुष्टय' का जो निर्देश आवश्यक है वह पञ्जिकाकार स्पष्ट करते कहते हैं:– यहाँ अपने इष्ट देव श्री महावीर प्रभुको नमस्कार किया गया, यह मङ्गल हुआ। इस ग्रन्थ में कहे जानेवाले चैत्यवंदन सूत्र के पदार्थ अभिधेय अर्थात् ग्रन्थके विषय हुए, चूँ कि उन्हीं का यहां व्याख्यान करना है। ग्रन्थ के प्रयोजन सम्बन्ध में ग्रन्थ-कर्ता का साक्षात् प्रयोजन है–जीवों पर बोधस्वरूप दया करना, और श्रोताओं का साक्षात् प्रयोजन है– चैत्यवंदन के अर्थ का बोध प्राप्त करना, कर्ता व श्रोता दोनों का पारंपरिक प्रयोजन है मोक्ष की प्राप्ति करना। ग्रन्थ और उसमें कहने की वस्तु के बीच अभिधान–अभिधेय नामक सम्बन्ध है। अथवा ललितविस्तरा नामक यह विवरण ग्रन्थ और मूल चैत्यवंदन सूत्र, इन दोनों के बीच व्याख्यान–व्याख्येय नामक सम्बन्ध है। यहाँ ललितविस्तरामें दिया गया 'इति'–शब्द मङ्गलादि चारों के निरूपण की समाप्ति का सूचक है।

प्रश्न:– मङ्गलादि की आवश्यकता क्या है?

उ०–शुभ कार्यमें संभावित विघ्न मङ्गलसे दूर हो जाते हैं। ऐसे मङ्गल को जान कर वाचक को मङ्गल करने की शिक्षा मिलती है।

ग्रन्थ का विषय जानने से प्रज्ञापूर्वकारी पुरुष अपना इष्ट विषय देख कर ग्रन्थ पढने में प्रवृत्त होता है। ग्रन्थरचना का उदात्त प्रयोजन दिखलाने से, ग्रन्थ निर्माण की प्रवृत्ति निरर्थक या अल्पमूल्यवती नहीं है, यह सूचित होता है। ग्रन्थ का सम्बन्ध जानने से, कर्ता असम्बद्धभाषक नहीं है, यह ज्ञात होता है।

(पं०) अत्र = मंगलादिनिरूपणायां सत्यां, आह = प्रेरयति। चिन्त्यं = नास्तीति अभिप्रायः अत्र = चैत्यवन्दनव्याख्यानपरिश्रमे, साफल्यं = सफलभावः। कुत इत्याह—'चैत्यवन्दनस्यैव निष्फलत्वात्।' अत्र 'एव' शब्दो 'अपि'अर्थे। ततः पुरुषोपयोगिफलानुपलब्धेश्चैत्यवन्दनमपि निष्फलमेव, किं पुनस्तद्विषयतया व्याख्यानपरिश्रमः? ततो यन्निष्फलं तन्नारम्भणीयं, यथा कण्टकशाखामर्दनं, तथा च चैत्यवन्दनव्याख्यानमिति व्यापकानुपलब्धिः। 'इतिः' परवक्तव्यतासमाप्त्यर्थः।

(ल०)– निष्फलत्वादित्यसिद्धं, प्रकृष्टशुभाध्यवसायनिबन्धनत्वेन ज्ञानावरणीयादिलक्षण-कर्मक्षयादिफलत्वाद्, उक्तं च,

> 'चैत्यवन्दनतः सम्यक्, शुभो भावः प्रजायते।
> तस्मात्कर्मक्षयः सर्वं, ततः कल्याणमश्नुते'॥

इत्यादि।

(पं०)– 'निष्फलत्वादित्यसिद्धम्' —'इतिः' हेतुस्वरूपमात्रोपदर्शनार्थः। ततो यन्निष्फलत्वं हेतुतयोपन्यस्तं, तद् असिद्धं = असिद्धाभिधानहेतुदोषदूषितम्। कुत इत्याह, 'प्रकृष्ट....' इत्यादि। अयमत्र भावो—लोकोत्तरकुशलपरिणामहेतुश्चैत्यवन्दनं; स च परिणामो यथासम्भवं ज्ञानावरणीयादिस्वभाव-कर्मक्षयक्षयोपशमफलः, कर्मादानाध्यवसायविरुद्धत्वात्तस्य। ततः कृत्स्नकर्मक्षयलक्षणपरमपुरुषार्थमोक्ष-फलतया चैत्यवन्दनस्य निष्फलव्याख्येयार्थविषयतया तद्व्याख्यानस्यानारम्भाऽऽसंजनमयुक्तमिति।

चैत्यवन्दनकी निष्फलता-सफलता पर चर्चा

अब चैत्यवन्दन-व्याख्या ग्रन्थका परिश्रम सफल हो, ग्रन्थ प्रेक्षावान् पुरुषके लिए आदरणीय हो, सम्बद्ध अर्थका प्रतिपादक हो, इत्यादिके लिए मङ्गल अभिधेयादिका जो निवेदन किया, यहाँ वादीका यह कथन है कि चैत्यवन्दन व्याख्यानके परिश्रममें सफलता है यह विचारणीय है; अर्थात् सफलता नहीं है, ऐसा हमारा अभिप्राय है। कारण यह है कि चैत्यवन्दन ही निष्फल है। अथवा जहाँ चैत्यवन्दनमें पुरुषो-पयोगी कोई लाभ नहीं दिखाई देनेसे अगर वह भी निष्फल है, तो उसके संबन्धी व्याख्यानके परिश्रमका क्या पूछना? इस लिए चैत्यवन्दनकी व्याख्या करना फजूल है। जो निष्फल है, उसका आरम्भ नहीं करना चाहिए; जैसे कि कण्टककी डालको तोडनेमें कोई लाभ नहीं, तो तोडनेका परिश्रम कौन करता है? वैसा ही है चैत्यवन्दन व्याख्याका प्रयत्न; अतः वह नहीं करना चाहिए। नियम ऐसा है कि जहाँ यत्न होता है, वहाँ सफलता अवश्य होनी चाहिए। यहाँ 'यत्न' व्याप्य धर्म है, 'सफलता' व्यापक धर्म है। व्याप्य धर्म व्यापक धर्मको छोडकर नहीं रह सकता। दृष्टान्तसे 'जहाँ धुवाँ है वहाँ अग्नि अवश्य है।' इसमें व्याप्य है धुवाँ, व्यापक है अग्नि। व्यापक अग्नि जहाँ है वहाँ ही व्याप्य धुवाँ हो सकेगा; जहाँ अग्नि नहीं वहां धुवाँ भी नहीं। ऐसे यहाँ चैत्यवन्दन-व्याख्यामें अगर व्यापक अंश 'सफलता' की अनुपलब्धि है, अर्थात् वह नहीं दीखती, तब व्याप्य अंश 'प्रयत्न' भी कैसे? तात्पर्य, व्याख्या मत करो। इतना हुआ वादीका वक्तव्य।

(ललित०) 'नायमेकान्तो यदुत ततः शुभ एव भावो भवति, अनाभोग-मातृस्थानादेर्विपर्ययस्यापि दर्शनादिति' । अत्रोच्यते,— सम्यक्करणे विपर्ययाभावः । तत्सम्पादनार्थमेव च नो व्याख्यारम्भप्रयास इति । न ह्यविदिततदर्थाः प्रायस्तत्सम्यक्करणे प्रभविष्णवः इति ।

(पञ्जिका) एकान्त इति = एकनिश्चयः । अनाभोगेत्यादि, अनाभोगः = सम्मूढचित्ततया व्यक्तोपयोगाभावः । (मातृस्थानं—) दोषाच्छादकत्वात् संसारिजन्महेतुत्वाद् वा मातेव माता = माया, तस्याः स्थानं मातृस्थानम् । आदिशब्दाच्चलचित्ततया प्रकृतस्थानवर्णार्थालम्बनोपयोगप्रहस्तरमाद्, विपर्ययस्यापि = अशुभभावस्यापि । शुभभावस्तावत्ततो दृश्यते एवेति सूचकोऽपिशब्दः । दर्शनाद् = उपलम्भात् ।

चैत्यवन्दनका सम्यक्करण

अब वादीके कथनका निराकरण करनेके लिए ग्रंथकार महर्षि कहते हैं कि चैत्यवन्दन-व्याख्याका प्रयत्न न करनेमें हेतु जो चैत्यवन्दनकी निष्फलता दिखलाया, वह हेतु ही असिद्ध है। क्यों कि चैत्यवन्दन तो प्रबल शुभ अध्यवसायकी उत्पत्ति द्वारा ज्ञानावरणीयादि स्वरूप कर्मकेक्षयादिका लाभ कराता है, अतः निष्फल नहीं है।

पञ्जिकाकार कहते हैं कि मूलग्रन्थमें 'निष्फलत्वादिति' इस तरह जो दो पद दिए हैं, वहाँ 'इति' पद हेतुस्वरूपका दर्शक होनेसे, यह विवक्षित है कि निष्फलत्व नामका हेतु असिद्ध है, यानी 'असिद्धि' नामके हेतुदोषसे दूषित है। अर्थात् चैत्यवन्दनमें निष्फलता तो नहीं किंतु सफलता सिद्ध है; क्यों कि वह उत्कृष्ट शुभ अध्यवसाय (शुभ आत्मिकभाव) का कारण है। यहाँ तात्पर्य ऐसा है कि चैत्यवन्दन अलौकिक पुरुष श्री सर्वज्ञ अरिहंत परमात्माके प्रति वन्दनरूप है, और वन्दनमें होनेवाले परमात्माके अलौकिक पवित्रतम गुणोंके स्मरण-कीर्तनादिके कारण चैत्यवन्दन अलौकिक मानसिक शुभ परिणति (भावधारा) को उत्पन्न करता है : यह शुभ परिणति यथासम्भव ज्ञानावरणीयादि स्वरूप कर्मबन्धनके क्षय, क्षयोपशम (कथंचित् क्षय), या उपशमको पैदा करती है; क्यों कि यह शुभ परिणाम (भावधारा) कर्मबन्धनके हेतुभूत अशुभ अध्यवसायसे बिलकुल विरुद्ध है। चैत्यवन्दनसे, इस प्रकार, कर्मक्षय होते होते सर्वविरति···यावत् सर्वज्ञ वीतरागतापर्यन्तकी प्राप्ति होती है; पीछे सर्व कर्मका नाश होकर, धर्म-अर्थ काम-मोक्षरूपी चार पुरुषार्थोंमें श्रेष्ठ मोक्षपुरुषार्थ प्रकट होता है। अतः ऐसा मोक्षतकका फल संपादित करनेवाले चैत्यवन्दनको निष्फल कहना अयुक्त है। एवं 'उसकी व्याख्याका व्याख्येय अर्थ निष्फल होनेसे उस व्याख्याका आरम्भ न करें,' यह भी कहना अनुचित है।

(यहाँ वादी प्रश्न करता है:—) प्र०— ऐसा कोई एक निर्णय नहीं कि चैत्यवन्दनसे केवल शुभ अध्यवसाय हो; चूंकि मोहमूढ चित्तके कारण चैत्यवन्दनमें असावधानी, एवं कपट और चाञ्चल्यादि होनेपर अशुभ भाव भी दिखाई दे सकता है।[1] असावधानीमें चित्त चैत्यवन्दनमें है ही नहीं।[2] और कपटमें चैत्यवन्दन अपवित्र उद्देशसे किया जाता है, फलतः शुभभाव नहीं होता। कपटको मातृस्थान कहा गया है। माता जैसे पुत्रको जन्म देती है और पुत्रके दोषोंको ढकती छिपाती है, इस तरह कपट-माया भी जीवके दोषोंको छिपाकर जीवको सांसारिक जन्मपरंपरा देती है। इस तरह मायाके साथ किया गया चैत्यवन्दन शुभ भाव किस प्रकार पैदा कर सके ? एवं[3] चचलताकी वजहसे भी मन चैत्यवन्दनके योगमुद्रादि आसन, सूत्राक्षर, सूत्रार्थ, और जिनप्रतिमा—इन चारोंमें एकाग्र न होकर, किसी अन्यमें ही रमण करता है। यहाँ भी चैत्यवन्दनसे शुभ भाव नहीं हो सकता। फिर वह एकान्ततः सफल कैसे रहा ?

(पंजिका)– अत्र = शुभभावानेकान्तप्रेरणायां, उच्यते = ' नानेकान्त ' इत्युत्तरमभिधीयते । कथम् ? सम्यक्करणे विपर्ययाभावात् । यत्र तु ' सम्यक्करणे विपर्ययाभाव ' इतिपाठस्तत्र प्रथमैव हेतौ । अस्तु सम्यक्करणे शुभाध्यवसायभावेन विवक्षितफलं चैत्यवन्दनम्, परमकिंचित्करं तद्व्याख्यानमित्याशङ्क्याह तत्सम्पादनेत्यादि । तत्सम्पादनार्थं=चैत्यवन्दनसम्यक्करणसम्पादनार्थम् ।

(ल०) आह–लब्ध्यादिनिमित्तं भावस्थानतः सम्यक्करणेऽपि शुभभावानुपपत्ति रिति । न, तस्य सम्यक्करणत्वासिद्धेः । तथाहि–प्रायोऽधिकृतसूत्रोक्तेनैव विधिनोपयुक्तस्याऽऽशंसादोषरहितस्य सम्यग्दृष्टेर्भक्तिमत एव सम्यक्करणं; नान्यस्य, अनधिकारित्वात्; अनधिकारिणः सर्वत्रैव कृत्ये सम्यक्करणाभावात् । श्रावणेऽपि तर्ह्यस्याधिकारिणो मृग्याः ? को वा किमाह, एवमेवैतत् । न केवलं श्रावणे, किं तर्हि, पाठेऽपि; अनधिकारिप्रयोगे प्रत्युतानर्थभावात्, ' अहितं पथ्यमप्यातुरे, इति वचन-प्रामाण्यात् ।

(पं०) प्रायोधिकृतसूत्रोक्तेनैव विधिनेति, अधिकृतसूत्रं=चैत्यवन्दनसूत्रमेव, तत्र साक्षादनुक्तोऽपि तद्व्याख्यानोक्तो विधिस्तदुक्त इत्युपचर्यते, सूत्रार्थप्रपंचरूपत्वाद् व्याख्यानस्य । प्रायोग्रहणाद् मार्गानु-सारितीव्रक्षयोपशमवतः कस्यचिदन्यथाऽपि स्यात् ।

उ०– यहाँ चैत्यवन्दनसे ' शुभभाव होना अनेकान्त है अनिर्णीत है,'–इस कथनपर यह कहा जाता है कि शुभभावस्वरूप फलका अनेकान्त नहीं है, किन्तु एक निर्णय ही है। क्यों कि चैत्यवन्दन सम्यग् तरीकेसे करनेसे अशुभभाव होता ही नहीं। कदाचित् कोई शंका करे कि

प्र०– ठीक है सम्यक्करणसे शुभ अध्यवसाय होनेके कारण चैत्यवन्दन विवक्षित फलके दाता हो, लेकिन चैत्यवन्दनका व्याख्यान-परिश्रम निरर्थक क्यों नहीं ?

उ०– इस शंकाके निवारणार्थ कहते हैं कि चैत्यवन्दनका सम्यक्करण संपादित करनेके लिए ही व्याख्यानका यह प्रयास किया जा रहा है। जगतमें देखते हैं कि किसी क्रियाके सूत्रार्थको न जाननेवाले प्रायः उसको सम्यग् रूपसे करनेमें समर्थ नहीं हो सकते हैं।

प्र०– विशिष्ट शक्ति या संपत्तिरूप लब्धि वगैरह पानेके लिए कपटसे कोई आदमी शुभ भावका उद्देश न रखे, और चैत्यवन्दन सम्यग्रूपसे करता हो फिर भी उसे शुभभाव होता तो नहीं! तब यह कैसे कहा जा सकता है कि चैत्यवन्दनका सम्यक्करण तो अवश्य सफल है?

उ०– इस प्रकारका चैत्यवन्दन सम्यग्रूपसे हुआ नहीं कहा जा सकता। सम्यक्करण इस तरहसे लभ्य है। जो प्रायः

[१] प्रस्तुत सूत्रमें कही गई विधिसे ही सूत्रक्रियामें दत्तचित्त हो,

[२] पौद्गलिक आशंसासे रहित हो,

[३] सम्यग्दृष्टि हो, और

[४] भक्तिमान हो, – ऐसे साधकका अनुष्ठान सम्यक्करण होता है, अन्यका नहीं, क्योंकि वह अधिकारी ही नहीं है। और जो अधिकारी नहीं, उसके एक भी कार्यमें सम्यक्करणरूपता नहीं होती।

(ललित०) **'नायमेकान्तो यदुत ततः शुभ एव भावो भवति, अनाभोग-मातृस्थानादेर्विपर्ययस्यापि दर्शनादिति' । अत्रोच्यते,— सम्यक्करणे विपर्ययाभावः । तत्सम्पादनार्थमेव च नो व्याख्यारम्भप्रयास इति । न ह्यविदिततदर्थाः प्रायस्तत्सम्यक्करणे प्रभविष्णवः इति ।**

(पञ्जिका) एकान्त इति = एकनिश्चयः । अनाभोगेत्यादि, अनाभोगः = सम्मूढचित्ततया व्यक्तोपयोगाभावः । (मातृस्थानं—) दोषाच्छादकत्वात् संसारिजन्महेतुत्वाद् वा मातेव माता = माया, तस्याः स्थानं मातृस्थानम् । आदिशब्दाच्चलचित्ततया प्रकृतस्थानवर्णार्थालम्बनोपयोगप्रहस्तस्माद्, विपर्ययस्यापि = अशुभभावस्यापि । शुभभावस्तावत्ततो दृश्यते एवेति सूचकोऽ'पि'शब्दः । दर्शनाद् = उपलम्भात् ।

चैत्यवन्दनका सम्यक्करण

अब वादीके कथनका निराकरण करनेके लिए ग्रंथकार महर्षि कहते हैं कि चैत्यवन्दन-व्याख्याव प्रयत्न न करनेमें हेतु जो चैत्यवन्दनकी निष्फलता दिखलाया, वह हेतु ही असिद्ध है। क्यों कि चैत्यवन्दन तो प्रबल शुभ अध्यवसायकी उत्पत्ति द्वारा ज्ञानावरणीयादि स्वरूप कर्मकेक्षयादिका लाभ कराता है, अतः निष्फल नहीं है।

पञ्जिकाकार कहते हैं कि मूलग्रन्थमें 'निष्फलत्वादिति' इस तरह जो दो पद दिए हैं, वहाँ 'इति' पद हेतुस्वरूपका दर्शक होनेसे, यह विवक्षित है कि निष्फलत्व नामका हेतु असिद्ध है, यानी 'असिद्धि' नामके हेतुदोषसे दूषित है। अर्थात् चैत्यवन्दनमें निष्फलता तो नहीं किंतु सफलता सिद्ध है, क्यों कि वह उत्कृष्ट शुभ अध्यवसाय (शुभ आत्मिकभाव) का कारण है। यहाँ तात्पर्य ऐसा है कि चैत्यवन्दन अलौकिक पुरुष श्री सर्वज्ञ अरिहंत परमात्माके प्रति वन्दनरूप है, और वन्दनमें होनेवाले परमात्माके अलौकिक पवित्रतम गुणोंके स्मरणकीर्तनादिके कारण चैत्यवन्दन अलौकिक मानासिक शुभ परिणति (भावधारा) को उत्पन्न करता है ; यह शुभ परिणति यथासम्भव ज्ञानावरणीयादि स्वरूप कर्मबन्धनके क्षय, क्षयोपशम (कथंचित क्षय), या उपशमको पैदा करती है; क्यों कि यह शुभ परिणाम (भावधारा) कर्मबन्धनके हेतुभूत अशुभ अध्यवसायसे बिलकुल विरुद्ध है। चैत्यवन्दनसे, इस प्रकार, कर्मक्षय होते होते सर्वविरति…यावत् सर्वज्ञ वीतरागतापर्यन्तकी प्राप्ति होती है; पीछे सर्व कर्मका नाश होकर, धर्म-अर्थ काम-मोक्षरूपी चार पुरुषार्थोंमें श्रेष्ठ मोक्षपुरुषार्थ प्रकट होता है। अतः ऐसा मोक्षतकका फल संपादित करनेवाले चैत्यवन्दनको निष्फल कहना अयुक्त है। एवं 'उसकी व्याख्याका व्याख्येय अर्थ निष्फल होनेसे उस व्याख्याका आरम्भ न करें,' यह भी कहना अनुचित है।

(यहाँ वादी प्रश्न करता है:—) प्र०— ऐसा कोई एक निर्णय नहीं कि चैत्यवन्दनसे केवल शुभ अध्यवसाय हो; चूंकि मोहमूढ चित्तके कारण चैत्यवन्दनमें असावधानी, एवं कपट और चाञ्चल्यादि होनेपर अशुभ भाव भी दिखाई दे सकता है।[1] असावधानीमें चित्त चैत्यवन्दनमें है ही नहीं।[2] और कपटमें चैत्यवन्दन अपवित्र उद्देशसे किया जाता है, फलतः शुभभाव नहीं होता। कपटको मातृस्थान कहा गया है। माता जैसे पुत्रको जन्म देती है और पुत्रके दोषोंको ढकती-छिपाती है, इस तरह कपट-माया भी जीवके दोषोंको छिपाकर जीवको सांसारिक जन्मपरंपरा देती है। इस तरह मायाके साथ किया गया चैत्यवन्दन शुभ भाव किस प्रकार पैदा कर सके ? एवं[3] चंचलताकी वजहसे भी मन चैत्यवन्दनके योगमुद्रादि आसन, सूत्राक्षर, सूत्रार्थ, और जिनप्रतिमा—इन चारोंमे एकाग्र न होकर, किसी अन्यमें ही रमण करता है। यहाँ भी चैत्यवन्दनसे शुभ भाव नहीं हो सकता। फिर वह एकान्ततः सफल कैसे रहा ?

(पंजिका)– अत्र = शुभभावानेकान्तप्रेरणायां, उच्यते = 'नानेकान्त 'इत्युत्तरमभिधीयते । कथम् ? सम्यक्करणे विपर्ययाभावात् । यत्र तु 'सम्यक्करणे विपर्ययाभाव' इतिपाठस्तत्र प्रथमैव हेतौ । अस्तु सम्यक्करणे शुभाध्यवसायभावेन विवक्षितफलं चैत्यवन्दनम्, परमकिंचित्करं तद्व्याख्यानमित्याशङ्क्याह तत्सम्पादनेत्यादि । तत्सम्पादनार्थं=चैत्यवन्दनसम्यक्करणसम्पादनार्थम् ।

(ल०) आह–लब्ध्यादिनिमित्तं मातृस्थानतः सम्यक्करणेऽपि शुभभावानुपपत्तिरिति ? न, तस्य सम्यक्करणत्वासिद्धेः । तथाहि–प्रायोऽधिकृतसूत्रोक्तेनैव विधिनोपयुक्तस्याऽऽशंसादोषरहितस्य सम्यग्दृष्टेर्भक्तिमत एव सम्यक्करणं; नान्यस्य, अनधिकारित्वात्; अनधिकारिणः सर्वत्रैव कृत्ये सम्यक्करणाभावात् । श्रावणेऽपि तर्ह्यस्याधिकारिणो मृग्याः ? को वा किमाह, एवमेवैतत् । न केवलं श्रावणे, किं तर्हि, पाठेऽपि; अनधिकारिप्रयोगे प्रत्युतानर्थभावात्, 'अहितं पथ्यमप्यातुरे, इति वचन-प्रामाण्यात् ।

(पं०) प्रायोधिकृतसूत्रोक्तेनैव विधिनेति, अधिकृतसूत्रं=चैत्यवन्दनसूत्रमेव, तत्र साक्षादनुक्तोऽपि तद्व्याख्यानोक्तो विधिस्तदुक्त इत्युपचर्यते, सूत्रार्थप्रपंचरूपत्वाद् व्याख्यानस्य । प्रायोग्रहणाद् मार्गानु-सारितीव्रक्षयोपशमवतः कस्यचिदन्यथाऽपि स्यात् ।

उ०– यहाँ चैत्यवन्दनसे 'शुभभाव होना अनेकान्त है अनिर्णीत है,'–इस कथनपर यह कहा जाता है कि शुभभावस्वरूप फलका अनेकान्त नहीं है, किन्तु एक निर्णय ही है। क्यों कि चैत्यवन्दन सम्यग् तरीकेसे करनेसे अशुभभाव होता ही नहीं। कदाचित् कोई शंका करे कि

प्र०– ठीक है सम्यक्करणसे शुभ अध्यवसाय होनेके कारण चैत्यवन्दन विवक्षित फलके दाता हो, लेकिन चैत्यवन्दनका व्याख्यान-परिश्रम निरर्थक क्यों नहीं ?

उ०– इस शंकाके निवारणार्थ कहते हैं कि चैत्यवन्दनका सम्यक्करण संपादित करनेके लिए ही व्याख्यानका यह प्रयास किया जा रहा है । जगतमें देखते हैं कि किसी क्रियाके सूत्रार्थको न जाननेवाले प्रायः उसको सम्यग् रूपसे करनेमें समर्थ नहीं हो सकते हैं।

प्र०– विशिष्ट शक्ति या संपत्तिरूप लब्धि वगैरह पानेके लिए कपटसे कोई आदमी शुभ भावका उद्देश न रखे, और चैत्यवन्दन सम्यग्रूपसे करता हो फिर भी उसे शुभभाव होता तो नहीं ! तब यह कैसे कहा जा सकता है कि चैत्यवन्दनका सम्यक्करण तो अवश्य सफल है ?

उ०– इस प्रकारका चैत्यवन्दन सम्यग्रूपसे हुआ नहीं कहा जा सकता ।

सम्यक्करण इस तरहसे लभ्य है । जो प्रायः

[१] प्रस्तुत सूत्रमें कही गई विधिसे ही सूत्रक्रियामें दत्तचित्त हो,

[२] पौद्गलिक आशंसासे रहित हो,

[३] सम्यग्दृष्टि हो, और

[४] भक्तिमान हो, – ऐसे साधकका अनुष्ठान सम्यक्करण होता है, अन्यका नहीं, क्योंकि वह अधिकारी ही नहीं है । और जो अधिकारी नहीं, उसके एक भी कार्यमें सम्यक्करणरूपता नहीं होती ।

प्र०– तो फिर सूत्र सुनानेमें भी अधिकारीका अन्वेषण आवश्यक है क्या ?

उ०– कौन निषेध करता है ? ऐसा ही है। केवल श्रवण करानेमें अर्थात् सूत्रको अर्थसहित सुनानेमें तो क्या किन्तु पाठमें भी अर्थात् मात्र सूत्रोच्चारण करानेमें भी अधिकारिता देखनी चाहिये। क्यों कि अनधिकारीको अच्छी भी बात देनेमें लाभ तो दूर, वरन् नुकसान होता है। अच्छा भोजन भी रोगीको अहितकर होता है– ऐसा वचन-प्रमाण मिलता है।

यहाँ पहले, किसी धर्मानुष्ठानको सम्यक्करणकी कक्षामें स्थापित करनेके लिए आवश्यक विशेषताएँ ठीक दिखलाई; जैसे कि, (१) प्रायः प्रस्तुत सूत्रसे कही हुई विधिसे चित्तोपयोग रखना जरूरी है। यहाँपर प्रस्तुत सूत्र चैत्यवन्दन है।

प्र०– चैत्यवन्दन सूत्रमें साक्षात विधि तो नहीं कही गई !

उ०– ठीक है, तब भी चैत्यवन्दनके व्याख्याग्रन्थोंमे जो विधि कही गई है, उसे सूत्रोक्त विधि ही समझना चाहिए। क्योंकि व्याख्याग्रन्थ सूत्रके अर्थका ही विस्तार है। व्याख्यामें कहा गया भाव सूत्रसे ही कहा हुआ है। यहाँ जो प्रायः सूत्रोक्तविधिसे चित्तोपयोग कहा, इसमें 'प्रायः' शब्द इसलिए कहा कि कोई साधकको मार्गानुसारी अर्थात् सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्गमें अनुकूल ऐसा विशिष्ट कर्मक्षय होवे, तब विधि न जाननेपर भी चित्तोपयोग संभवित है। किन्तु सामान्यरूपसे तो विधिपूर्वक दत्तचित्तता रखनी आवश्यक है। वन्दनादि क्रियामें चित्त तन्मय न रहनेसे वह भावशून्य या संमूर्छिम क्रिया होती हुई वास्तवमें फलदायिनी नहीं हो सकती। एवं (२) क्रियामें चित्तकी जागति रखनेपर भी यदि वह जगतकी जड वस्तुकी आशंसा (इच्छा, उद्देश)से की जाए, तब भी अशुद्ध उद्देशके कारण इससे ज्ञानावरणीयादि कर्मका क्षय तो नहीं, बल्कि कलुषित वासनायुक्त ऐसा पापानुबंधी तुच्छ पुण्यकर्मका अर्जन होता है कि फलतः उस पुण्यका उदय उसे दुर्गतिमें घसीट ले जाता है। अतः पौद्गलिक उद्देश नहीं रखना चाहिए। (३) एवं चित्तचाञ्चल्य और अशुद्ध आशंसा न होनेपर भी क्रियाकारक सम्यग्दृष्टि न हो किन्तु मिथ्यात्व, अर्थात सराग असर्वज्ञ आप्तसे कथित तत्त्वाभासपर श्रद्धा रखनेवाला हो तो तब भी हृदय भ्रान्त रहनेसे वह कर्मक्षय स्वरूप फल नहीं मिलता। इसलिए वीतराग सर्वज्ञ परमात्मासे कथित तत्त्वपर ही एक श्रद्धा स्वरूप सम्यग्दर्शन भी चाहिए। (४) एवं ये तीनों दोष न होनेपर भी क्रियाकालमें हृदय देवाधिदेवके प्रति भक्तियुक्त न हो, भरपूर प्रेम–आस्था और बहुमानसत्कारसे संपन्न न हो तब भी क्रिया शुष्क रह जानेसे उल्लेखनीय कर्मक्षय नहीं हो सकता। अतः भक्ति भी आवश्यक है। इस प्रकार दत्तचित्तता, कर्मक्षयका शुद्ध उद्देश, सम्यक्त्व और भक्तिसे किया गया धर्मानुष्ठान ही सम्यक्करण है।

(ल०) अर्थी समर्थः शास्त्रेणापर्युदस्तो धर्मेऽधिक्रियते, इति विद्वत्प्रवादः, धर्म्मश्चैतत्पाठादि, कारणे कार्योपचारात् । यद्येवमुच्यतां के पुनरस्याधिकारिण इति ?

उच्यते,–एतद्बहुमानिनो, विधिपरा, उचितवृत्तयश्च ।

(पं०) अर्थीत्यादि । अर्थी = धर्माधिकार(रि)प्रस्तावात्तदभिलाषातिरेकवान् । समर्थो= निरपेक्षयता धर्म्ममनुतिष्ठन्न कुतोऽपि तदनभिज्ञाद् बिभेति । शास्त्रेण = आगमेन । अपर्युदस्तः = अप्रतिक्रुष्टः । स च एवं लक्षणो यः (१) त्रिवर्गरूपपुरुषार्थचिन्तायां धर्ममेव बहुमन्यते, (२) इहलोकपरलोकयोर्विधिपरो, (३) ब्राह्मणादिस्ववर्णोचितविशुद्धवृत्तिमांश्चेति । 'विधिपरा' इति, विधिः=इहलोकपरलोकयोरविरुद्धफलमनुष्ठानं, स परः=प्रधानं येषां ते, तथा 'उचितवृत्तय' इति=स्वकुलाद्युचितशुद्धजीवनोपाया इति,

धर्म के अधिकारी के लक्षण

प्राचीन विद्वज्जनों का कथन है कि धर्म में अधिकारी वही, जो [1]'अर्थी' हो, [2]समर्थ हो, एवं [3]शास्त्र से अनिषिद्ध हो ।

तीनों का अर्थ यह है:—(१) यहां धर्म के अधिकारी का प्रस्ताव चलता है, अत. 'अर्थी' का मतलब है धर्म की उत्कट अभिलाषा रखनेवाला । यदि धर्म की इच्छा ही न होगी, या उत्कट इच्छा नहीं, किन्तु सामान्य इच्छा होगी, तब वह मनुष्य धर्म के कुछ अंश में भी काठिन्य का पालन करने को तय्यार न होगा, और धर्म को बीच में ही छोड़ देगा। ऐसे मनुष्य से धर्म कलंकित होगा, अतः वह धर्म का अधिकारी नहीं है । इस वास्ते धर्म की उत्कट अभिलाषा वाला लिया । (२) अर्थी की तरह वह समर्थ भी होना चाहिए । 'समर्थ' वह है, जो धर्म का पालन, किसी की अपेक्षा न रखकर, निजी रुचि और बलपर कर सके, एवं उस धर्म के अनजान किसी पुरुष से डरे नहीं । इस का शुभ परिणाम यह होगा कि धर्म स्वीकारने के बाद यदि उस धर्म में विघ्नकारक कोई आ गया, तब भी वह निरुत्साह हो कर धर्म त्याग करे वैसा नहीं । (३) ऐसा भी धर्म का अधिकारी आगम शास्त्र से निषिद्ध न होना चाहिए। अर्थात् शास्त्र में जो दोष योग्यता के बाधक दिखलाए हैं, उन दोषों से वह रहित होना चाहिए । अन्यथा दोष के कारण वह कदाचित् धर्मभ्रष्ट होगा, अथवा औरों को धर्मनिन्दा का निमित्त देगा । प्रस्तुत विषय में चैत्यवंदन सूत्र का पठन-अध्ययन भी धर्म है, इसलिए उसका प्रदान करने के पहले, अधिकारिता है या नहीं, यह देखना आवश्यक है ।

प्र०—धर्म तो चैत्यवन्दन का अनुष्ठान या उसके द्वारा निष्पन्न शुभ अध्यवसाय है, फिर यहां सूत्रपाठ को धर्म क्यों कहा ?

उ०—कभी कारण को कार्यशब्द से बोला जाता है । दृष्टान्त से, जहां 'दूध ही मेरा जीवन है' ऐसा बोलते हैं वहां जीवन वस्तुतः आयुष्यकर्म का फलभोग है किन्तु उस मनुष्य को आयुष्यरक्षा का कारण दूध होने से, उपचार से कार्य 'जीवन' शब्द कारणीभूत दूध में लगा दिया । यों हो यहां शुभ अध्यवसाय या चैत्यवन्दन के अनुष्ठान स्वरूप धर्म में कारणभूत जो सूत्रपाठ, उसको धर्म कहा ।

प्र०—अधिकारी करके अर्थी, समर्थ वगैरह जो कहा, ऐसा अधिकारी कौन हो सकता है ?

उ०—ऐसा अर्थी इत्यादि स्वरूपवाला अधिकारी वही है जोः—

(१) धर्म का बहुमान रखने वाला हो अर्थात् धर्म अर्थ काम, इन तीन वर्गस्वरूप पुरुषार्थ की चिंता में धर्म को ही बहु मानता हो, अर्थात् धर्म की मुख्य चिन्ता करता हो । एवं

(२) विधि-तत्पर हो, अर्थात् इस लोक में और परलोक में हितकारी याने सुयोग्य फल देनेवाले कार्यों को ही प्रधान करने वाला हो । और

(३) उचित वृत्तिवाला हो, अर्थात् ब्राह्मणादि स्वकुल के उचित पवित्र आजीविका रखने वाला हो।

(ल०) न हि विशिष्टकर्म्मक्षयमन्तरेणैवंभूता भवन्ति । क्रमोऽप्यमीषामयमेव । न खलु तत्त्वत एतद् बहुमानिनो विधिपरा नाम, भावसारत्वाद्विधिप्रयोगस्य । न चायं बहुमानाभावे, इति।

(पं०) ननु ज्ञानावरणादिकर्म्मविशेषे उपहन्तरि सति सम्यक्चैत्यवन्दनलाभाभावात् तत्क्षयवानेवाधिकारी वाच्यः, किमेतद्बहुमान्यादिगवेषणया ? इत्याह 'नहीत्यादि' । न=नैव, हिः = यस्माद्, विशिष्टकर्मक्षयं, विशिष्टस्य = अन्तःकोटिकोट्यधिकस्थितेः कर्म्मणो = ज्ञानावरणादेः, क्षयो = विनाशः, तम् अन्तरेण=विना, इत्थंभूता=एतद्बहुमान्यादिप्रकारमापन्ना, भवन्ति=वर्तन्ते । एतद्बहुमान्यादिल्यङ्ग्यकर्मविशेषक्षयवानेवाधिकारी, नापर इति । भवतु नामैवं, तथापि कथमित्थमेषामुपन्यासनियम इत्याह 'क्रमोऽपी'त्यादि । 'न चायमि'ति, न च = नैव, अयं = भावः, चैत्यवन्दनादिविषय--शुभपरिणामरूप संवेगादिः विधिप्रयोगहेतुरिति ।

प्र०—यह ठीक है कि जहां तक चैत्यवन्दन के शुभभाव में उपघात करने वाले ज्ञानावरण आदि कर्म मौजूद हों, वहां तक सम्यक् चैत्यवन्दन का लाभ संभवित नहीं, चूंकि चैत्यवन्दन का अधिकारी वही माना जा सकता है जिसके तथाप्रकार के कर्म नष्ट हो चुके हों। अब इस कर्मक्षय से अधिकारी ज्ञात हो जाय, लेकिन अधिकारी में बहुमान आदि लक्षण होने आवश्यक क्यों समझे जाये ?

उ०—इसलिये कि विशिष्ट अर्थात् एक कोटाकोटी सागरोपमकाल के भीतर की कालस्थिति जो अन्त कोटाकोटी कही जाती है, इससे अधिक कालस्थिति वाले जो ज्ञानावरण वगैरह कर्म, उनका विनाश चर्मचक्षु से दुर्ज्ञेय है, जब कि बहुमानादि सुज्ञेय हैं। और ज्ञानावरण इत्यादि कर्म का विनाश होने के सिवाय चैत्यवन्दनादि धर्म का बहुमानी वगैरह विशिष्ट स्वरूप प्रगट होता नहीं। इसलिए तादृश कर्मक्षय के द्योतक जो बहुमान, विधिपरतादि लक्षण, वे देखने आवश्यक है। बात तो सही है कि ऐसे लक्षण से निश्चित होने वाले विशिष्ट कर्मनाश वाला ही अधिकारी है, दूसरा नहीं।

प्र०— ठीक है, तब यह बतलाओ कि इन तीन लक्षणों का उपन्यास इस ढंग से ही क्यों नियत किया गया ?

उ०—इन तीन स्वरूप का क्रम वैसा ही है। सचमुच जो चैत्यवन्दनादि धर्म के वस्तुगत्या बहुमानी नहीं हैं, वे विधिपर नहीं हो सकते। कारण यह है कि विधिप्रयोग भावप्रधान है। चैत्यवन्दनादि के ऊपर बहुमान न हो, तो यह भाव, जो कि चैत्यवन्दनादि संबन्धी संवेगादि शुभ आत्मपरिणाम-स्वरूप है और चैत्यवन्दनादि कृत्य करने में हेतुभूत है, वह प्रगट होता नहीं। तात्पर्य, उस धर्म पर बहुमानी हो अर्थात् अन्य पुरुषार्थ की अपेक्षा उस धर्म की प्रधानता रखता हो, तभी उस धर्माचरण में उपयोगी अच्छा संवेग-संभ्रमादि भावोल्लास हो सकता है। और बिना भावोल्लास कृत्य की क्या किंमत ?

(ल०) न चामुष्मिकविधावप्यनुचितकारिणोऽन्यत्रोचितवृत्तय इति, विषयभेदेन तदौचित्याभावात् । अप्रेक्षापूर्वकारिविजृम्भितं हि तत् ।

(पं०) 'न चामुष्मिके'त्यादि । न च = नैव । 'च' शब्दः उचितवृत्तेर्विधिपूर्वकत्वभावनासूचनार्थः । आमुष्मिकविधौ = परलोकफले कृत्ये, किं पुनरैहिकविधाविति 'अपे'रर्थः । अनुचितकारिणो = विरुद्धप्रवृत्तयः । अन्यत्र = इहलोके । उचितवृत्तयः = स्वकुलाद्युचितपरिशुद्धसमाचारा भवन्ति, परलोकप्रधानस्यैवेहाप्यौचित्यप्रवृत्तेः । तदुक्तम्—" परलोकविरुद्धानि कुर्वाणं दूरतस्त्यजेत् । आत्मानं योऽतिसन्धत्ते सोऽन्यस्मै स्यात्कथं हितः ॥ " कुत एतदित्याह – विषयभेदेन = भिन्नविषयतया, 'तदौचित्याभावात्' तयोः = इहलोकपरलोकयोः, औचित्यस्य = दृष्टादृष्टापायपरिहारप्रवृत्तिरूपस्य अभावात् । यदेवह्यमुष्मिन् परिणामसुन्दरं कृत्यमिहापि तदेवेति विधिपरतापूर्वकमेवोचितवृत्तित्वमिति । प्रकारान्तरनिरसनायाह –' अप्रेक्षापूर्वकारिविजृम्भितं हि तत्' अप्रेक्षापूर्वकारिणो ह्येवं विजृम्भन्ते यदुतैकत्रानुचितकारिणोऽप्यन्यत्रोचितकारिणो भवेयुरिति ।

प्र०—ठीक है, बहुमान के बाद ही विधिपरता हो; लेकिन ऐसा क्यों, कि 'विधिपरता' के बाद ही 'उचित वृत्ति' गुण होना चाहिये ?

उ०—कारण यह है कि जो विधिपर नहीं है वह उचितवृत्ति नहीं हो सकता । अर्थात् जो, इस लोक के हितकारी कृत्योंमें तो क्या, किन्तु परलोकहितकारी कृत्योंमें भी अनुचितकारी है अर्थात् जन्मान्तर के हितसे विरुद्ध प्रवृत्ति करनेवाला होता है, वह इस लोकमें निजकुलादि के उचित विशुद्ध आचारका पालन क्या करता होगा ? नहीं कर सकता । शास्त्रमें ऐसा कहा है "परलोकविरुद्ध अर्थात् परलोकमें अहित हो ऐसे कृत्यों को आचरनेवाले का दूरसे परित्याग करना चाहिए । जो अपनी आत्मा को ठगता है, भ्रम से अहित में लगाता है, वह दूसरे के लिए कल्याणरूप कहां से हो ?"

प्र०—इस जन्म के कृत्य और परजन्म के कृत्य, जो कि औचित्यके विषय हैं, वे तो अलग अलग हैं, फिर ऐसा क्यों ?

उ०—विषय अलग होनेसे जीवका एक स्थानमें औचित्य न होनेपर भी अपर स्थानमें औचित्य हो ऐसा कोई औचित्य ही नहीं बन सकता । अर्थात् प्रत्यक्ष अहितका तो त्याग और परोक्ष अहितकी प्रवृत्ति, ऐसा कोई इस जन्म व पर जन्मका औचित्य नहीं है । तात्पर्य, औचित्य वही है जो दृष्ट या अदृष्ट दोनों अहित का त्याग करा सके । अतः परोक्ष में अहित करनेवाला कृत्य सुन्दर कृत्य है ही नहीं । जिस कृत्य से परलोकमें सुन्दर परिणाम होता है वही कृत्य यहां भी सुन्दर होता है । वास्ते इस लोक एवं परलोकमें हितकारी कृत्यों को प्रधान करने का जो विधिपरता गुण है वह प्राप्त हो, तभी 'उचित जीवन-उपाय' का गुण आ सकता है । दूसरा कोई प्रकार नहीं है । सोच-समझ के कार्य नहीं करने वाले ही ऐसा मानते हैं कि एक स्थान में अनुचितकारी लोक दूसरे स्थान में उचितकारी हो सकते हैं ।

(ल०) तदेतेऽधिकारिणः परार्थप्रवृत्तैर्लिङ्गतोऽवसेयाः माभूदनधिकारिप्रयोगे दोष इति। लिङ्गानि चैषां तत्कथाप्रीत्यादीनि, तद्यथाः-(१-५) तत्कथाप्रीतिः, निन्दाऽश्रवणम्, तदनुकम्पा, चेतसो न्यासः, परा जिज्ञासा। तथा (६-१०) गुरुविनयः, सत्कालापेक्षा, उचितासनं, युक्तस्वरता, पाठोपयोगः। तथा (११-१५) लोकप्रियत्वं, अगर्हिता क्रिया, व्यसने धैर्यं, शक्तितस्त्यागो, लब्धलक्ष्यत्वं चेति। एभिस्तदधिकारितामवेत्यैतदध्यापने प्रवर्तेत, अन्यथा दोष इत्युक्तं।

(पं०) ३. 'तेष्वनुकम्पे'ति। तेषु=चैत्यवन्दननिन्दकेषु, अनुकम्पा=दया यथा 'अहो कष्टं! यदेते तपस्विनो रजस्तमोभ्यामावेष्टिता विवशा हितेषु मूढा इत्थमनिष्टमाचेष्टन्त इति।' ४. 'चेतसो न्यास' इति = अभिलाषातिरेकाच्चैत्यवन्दने एव पुनः पुनर्मनसः स्थापनं। ५. 'परा जिज्ञासे'ति। 'परा' = विशेषवती, चैत्यवन्दनस्यैव जिज्ञासा=ज्ञातुमिच्छा। ७. 'सत्कालापेक्षे'ति=सन्ध्यात्रयस्वरूपसुन्दरकालाश्रयणम्। ९. 'युक्तस्वरते'ति=परयोगानुपघातिशब्दता। १०. 'पाठोपयोग' इति। पाठे=चैत्यवन्दनादिसूत्रगत एव, उपयोगो=नित्योपयुक्तता। १५. 'लब्धलक्ष-(क्ष्य)त्वं चेति'। लब्धं=निर्णीतं सर्वत्रानुष्ठाने लक्षं (क्ष्यं)=पर्यन्तसाध्यं येन स तथा तद्भावस्तत्त्वं; यथा 'जो उ गुणो दोसकरो, न सो गुणो, दोसमेव तं जाण। अगुणो वि हु होइ गुणो, विणिच्छओ सुन्दरो जत्थ॥' त्ति।

अनधिकारी को धर्म देने में हित तो नहीं, वरन् अनर्थ होता है; यह न हो इस वास्ते उपस्थित मनुष्य अधिकारी है या नहीं यह परोपकार करनेवालोंने बहुमानादि चिन्हों द्वारा पहले देखना चाहिए।

अधिकारीके तीन लक्षणोंके बाह्य १५ चिह्न

प्र० - उपस्थित मनुष्यमें बहुमानादि है या नहीं यह कैसे जाना जाए ?

उ०—बहुमान संपन्नतादि तीनों गुण बाह्य चिह्नोंसे ज्ञात होते हैं; और उस-उसके चिह्न है प्रस्तुत धर्म की कथाप्रीति वगैरह। जैसे कि—

१. उस धर्म की बातों पर प्रीति, २. उस धर्म की निन्दाको न सुनना, ३. धर्म-निन्दक पर दया, ४. उस धर्ममें चित्त का स्थापन, ५. उस धर्म की तीव्र जिज्ञासा।

६. गुरुविनय, ७. धर्मक्रिया के योग्य कालकी अपेक्षा, ८. उचित आसन-मुद्रादि, ९. उचित आवाज, १०. सूत्रपाठमें दत्तचित्तता।

११. लोकप्रियता, १२. अनिन्द्य क्रिया, १३. संकटमें धैर्य, १४. शक्ति-अनुसार दान, १५. ध्येयका निर्णीत खयाल।

इनका थोडा स्पष्टीकरण प्रस्तुत चैत्यवन्दन धर्म पर ही देखिए। चैत्यवन्दन धर्मका अधिकारी यदि चैत्यवन्दन पर अंतर में सच्चा बहुमान वाला अर्थात् प्रधान दृष्टि वाला होगा, तब उसमें

(१) चैत्यवन्दन की चर्चा पर प्रेम प्रीति होगी। जैसे व्यापारी को बाजार-भावतालादि की चर्चा पर प्रीति रहती है, इस प्रकार चैत्यवन्दन सबन्धी बातें करने-सुनने में बहुत रस रुचि होगी। यह रुचि देखनेसे बहुमानिता ज्ञात होती है। ऐसे ही आगेके गुणोंमें। (२) वस्तुके बहुमान से सपन्न आदमी उस वस्तु की निन्दा कभी सुनेगा नहीं; निन्दा में तभी आदर-आकर्षण होता है जब कि हृदय में बहुमान न हो। (३) चैत्यवन्दनादि की निन्दा करने वाले पुरुष पर द्वेष-तिरस्कारादि भी नहीं, किन्तु

(ल०) आह ' क इवानधिकारिप्रयोगे दोप ' इति। उच्यते—स ह्यचिन्त्यचिन्तामणिकल्पम्, अनकेभवशतसहस्रोपात्तानिष्टदुष्टाष्टकर्म्मराशिजनितदौर्गत्यविच्छेदकमपि इदमयोग्यत्वात् अवाप्य न विधिवदासेवते, लाघवं चास्यापादयति । ततो विधिसमासेवकः कल्याणमित्र महदकल्याणमासादयति । उक्तं च, " धर्म्मानुष्ठानवैतथ्यात्प्रत्यपायो महान् भवेत् । रौद्रदुःखौघजनको दुष्प्रयुक्तादिवौषधात् ॥ " इत्यादि । अतोऽनधिकारिप्रयोगे प्रयोक्तृकृतमेव तत्त्वतस्तदकल्याणम्; इति लिङ्गैस्तदधिकारितामवेत्यैतदध्यापने प्रवर्तेत ।

(पं०) क इवेति = कीदृशः ।

दया जाग्रत हो जैसे कि ' अरे ! खेदकी बात है कि ये बेचारे रजोभाव–तमोभावसे पीडित लोग परवश बनकर अपने हितसे अनजान होते निंदा जैसी अनिष्ट चेष्टाएँ कर रहे हैं ।' (४) चैत्यवन्दनकी उत्कट रुचि रहनेसे इसमें चित्तको भी बारबार स्थापित करेगा। (५) चैत्यवन्दनके सूत्र-सूत्रार्थ-अनुष्ठानादिका ज्ञान प्राप्त करनेकी विशिष्ट सक्रिय इच्छा भी बनी रहेगी ।

विधिपरता गुणको लेकर विशेषतया...(६) चैत्यवन्दनसूत्रके दाता गुरुका पूरा विनय करता हो। (वस्तुका ऊंचा बहुमान सहजतया वस्तुदाताकी अच्छी विनयभक्ति कराता ही है) (७) चैत्यवन्दन करनेमें तीन संध्यास्वरूप सुन्दर कालका आश्रय करता हो। योग्य कालकी अपेक्षा रखता हो। (८) चैत्यवन्दनमें जानुनमन, योगमुद्रादि, उचित आसनका ठीक पालन रखता हो। (९) चैत्यवन्दन करते समय अपनी आवाज इतनी ही ऊँची रखता हो कि जिससे दूसरेके धर्मयोगमें बाधा न पहुँचे। (धर्मका सच्चा बहुमान अपने धर्मकी तरह दूसरेके धर्मकी हानिसे दूर रखेगा।) (१०) चैत्यवन्दन करते समय उसके सूत्रपाठमें ठीक सतत दत्तचित्त रहता हो; (न कि चित्त सूत्र-अर्थको छोडकर अन्यत्र भटकता रहे)

' उचितवृत्ति ' नामक गुणका स्वरूप इन चिह्नोंसे ज्ञात हो सकता है :–

(११) वह मनुष्य लोकप्रिय होना चाहिए। विशुद्ध जीवन-आचारका यह प्रभाव है कि लोकमें वह अप्रिय न होगा। (१२) इनका कोई कृत्य निन्द्य नहीं होगा; जीवन अनिन्द्य कृत्योंसे और अनिन्द्य वचनोंसे वहता होगा। (१३) संकटमें धैर्य रखेगा। अधीरता करना अनुचित है, इससे सत्त्वका अभाव सूचित होता है, और सत्त्व न हो तो धर्म निश्चल भावसे कैसे करेगा? (१४) शक्तिके मुताबिक दान भी करता होगा। उचित आचार-शीलतामें यह एक प्रधान अंग है। (१५) अन्तिम साध्य निर्णीत होगा; आखिर परिणाम तक दृष्टि दे कर, अपनी प्रवृत्तिका अच्छा परिणाम निश्चित करके प्रवृत्ति करता होगा। क्योंकि जो गुण अंतमें जा कर दोषकारी होता है, वह गुण ही नहीं है; उसको तो दोष ही जान लेना। दृष्टान्तसे कसाईको छूरीका दान अंतमें जीवघातके बडे दोषका सर्जक होता है, तब ऐसे दानको गुण कैसे कहे? यों ही जहां परिणाम सुन्दर आता है वहां वह प्रारंभमें दोष स्वरूप दिखाई पडता हो, तब भी वह गुण रूप है। अन्तिम ध्येयका निर्णय न रखता हो और अनुचित साहस कर बैठता हो, तब संभव है कि इसका अशुभ परिणाम अपनेमें धर्मका बाधक अथवा लोकमें धर्म निन्दाक प्रयोजक बन जाए।

इन चिह्नोंसे चैत्यवन्दन धर्मकी अधिकारिता देख कर चैत्यवन्दन-सूत्र पढानेमें प्रवृत्ति की जाए। अन्यथा दोष होता है ऐसा कहा है।

(ल०) एवं हि कुर्वता आराधितं वचनं, बहुमतो लोकनाथः, परित्यक्ता लोकसंज्ञा, अंगीकृतं लोकोत्तरयानं, समासेविता धर्मचारितेति । अतोऽन्यथा विपर्ययः । इत्यालोचनीयमेतदति-सूक्ष्माभोगेन । न हि वचनोक्तमेव पन्थानमुल्लंघ्यापरो हितोप्युपायः । न चानुभवाभावे पुरुषमात्र-प्रवृत्तेस्तथेष्टफलसिद्धिः ।

(पं०) 'लोकसंज्ञे'ति = गतानुगतिलक्षणा लोकहेरिः । 'लोकोत्तरयानमि'ति = लोकोत्तरा प्रवृत्तिः । पुरुषमात्रप्रवृत्तिरपि हिताप्युपायः स्यान्न वचनोक्तमेव पन्थाः, इत्याशङ्क्याह—'नचानुभवे'-त्यादि । अयमभिप्रायः—प्राक् स्वयमेव दृष्टफले कृष्यादौ तदुपायपूर्वकम्, आप्तोपदिष्टोपायपूर्वकं चादृष्टफले निधान-खननादौ कर्मणि, प्रवृत्तस्य स्वाभिलषितफलसिद्धिरवश्य भवति, नान्यथा । अतोऽतीन्द्रियफले चैत्यवन्दने फल प्रति स्वानुभवाभावे पुरुषमात्रप्रवृत्त्याश्रयणान्न विवक्षितफलसिद्धिः, व्यभिचारसम्भवात् । अतः शास्त्रो-पदेशात् तत्र प्रवर्तितव्यमिति ।

अनधिकारीको देनेमें हानि

प्र०—अनधिकारीको देनेमें क्या दोष है ?

उ०—दोष यह है कि चैत्यवन्दनादि धर्म तो अचिन्त्य चिन्तामणि समान है, एवं अनेक लाखों जन्मोंमें उपार्जित अनिष्ट और दुष्ट आठ कर्मोंके समूहसे उत्पन्न होती दुर्दशाका उच्छेदक है; फिर भी वह अनधिकारी स्वयं अयोग्य होनेके कारण उस धर्मको प्राप्त करके विधिपूर्वक उसकी आराधना नहीं करता है, और उसकी लघुताका कारण बनता है । फलतः जैसे विधिपूर्वक आराधना करनेवाला कल्याण-को प्राप्त करता है, वैसे वह विधि-विराधक बडे अहितको प्राप्त करता है । कहा भी है कि, 'धर्म-क्रियाएँ शास्त्रीय नियमोंके भङ्ग सहित करनेसे, औषधके विपरीत प्रयोगकी तरह, उसे भयंकर दुःखसमूहको देनेवाला महान नुकसान होता है...' इत्यादि । तात्पर्य यह है कि अनधिकारीको धर्ममें लगानेसे उसका जो अहित होता है, वह उसे लगानेवालेसे ही निर्मित है । इसलिए पूर्वोक्त चिह्नोंसे उसकी अधिकारिताको जानकर ही उसे चैत्यवन्दनसूत्र पढानेमें प्रवृत्त होना उचित है ।

(चैत्यवन्दनादि धर्म यावत् सूत्रपठन तक का धर्म अचिन्त्य चिन्तामणि है । लौकिक चिन्तामणि बहुतकर इस जन्ममें दारिद्र्यादि दुर्दशाको मिटाता है, किन्तु यह तो कई लाखों भवोंके पापोंसे संभावित दुर्गतिकी विडम्बनाओंका नाश करता है । लेकिन यह तब, कि जब धर्म सम्यक् विधिसे किया जाए । पूर्वोक्त पंद्रह गुणोंसे रहित अनधिकारी जीव चैत्यवन्दनादि महाधर्मको सम्यक् विधिसे नहीं कर पाता, वरन् वह जगतके बालजीवोंकी दृष्टिमें धर्मको हंसीपात्र बनाता है । यह एक घोर दुष्कृत्य है, जिसका कटु फल उस आत्माके भयङ्कर विनाशमें आता है । परलोकमें उसे मात्र दुःखोंका अनुभव ही नहीं, किन्तु उसके विशे-षतः दुष्ट बुद्धिका निर्माण होता है, जिससे वह अधिकाधिक दुष्ट कृत्योंमें फँसता है । इतना उसके गंभीर अहितका उत्थान मूलतः उसे सूत्रपठनादि करानेवालेसे हुआ यह स्पष्ट है । अतः अध्ययन करानेके पूर्व अधिकारिताका निर्णय कर लेना आवश्यक बतलाया ।)

अधिकारीको ही सूत्रपाठादि धर्म देना यह जो विधान है, उसका ठीक पालन करनेवालेने ही श्री जिनवचनकी आराधना की । आज्ञाका बहुमान करनेसे त्रिभुवन गुरु श्री अरिहंत परमात्माका सच्चा बहुमान किया । लोकसंज्ञा अर्थात् भेडोंके समूहकी तरह आगे जानेवालेके पीछे पीछे किया जाता गमनस्वरूप गतानुगति, जो कि 'लोकहेरि' है, उसका परित्याग किया । लोकोत्तर प्रवृत्तिका आदर

(ल०) अपि च, लाघवापादनेन शिष्टप्रवृत्तिनिरोधतस्तद्विघात एव। अपवादोऽपि सूत्राबाधया गुरुलाघवालोचनपरोऽधिकदोषनिवृत्त्या शुभः, शुभानुबन्धी, महासत्त्वासेवित उत्सर्गभेद एव; न तु सूत्रबाधया गुरुलाघवचिन्ताऽभावेनाहितमहितानुबन्ध्यसमंजसं परमगुरुलाघवकारि क्षुद्रसत्त्वविजृम्भितमिति।

(पं०) 'अपि च' इति दूषणान्तरसमुच्चये। यदृच्छाप्रवृत्त्या सम्यक्चैत्यवन्दनविधेः लाघवापादनेन=लघूकरणेन, शिष्टप्रवृत्तिनिरोधतः=पूज्यपूजारूपशिष्टाचारपरिहारात्, तद्विघात एव=उपायान्तरादपि संभवन्त्यास्तस्येष्टफलसिद्धेर्विष्कम्भ एव। यथोक्तम्—'प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः' इति। आह—ननु गतानुगतिकरूपश्चैत्यवन्दनविधिरपवादमार्ग इत्यादित्याशङ्क्याह 'अपवादोऽपी'त्यादि। उत्सर्गभेद एवेति=उक्तविशेषणोऽपवाद उत्सर्गस्यानापन्नत्वेनोत्सर्गफलहेतुरित्युत्सर्गविशेष एवेति।

किया। और वास्तविक धर्माचारिताका सेवन किया। (धर्म जिनाज्ञासे अविरुद्ध ही होता है अतः आज्ञानुसारितामें धर्माचारिपन सुरक्षित रहता है) इससे विपरीत अनधिकारीको सूत्रपाठादि देनेमें तो विपर्यास होता है अर्थात् आज्ञाविराधन, भगवद्-अपमान, लोकहेरिसेवन, लोकोत्तर प्रवृत्तिका भंग, एवं धर्माचारोल्लंघन होता है। यह वस्तु सूक्ष्म चिंतनसे विचारणीय है।

प्र०— जिनाज्ञाके पालनपर इतना आग्रह क्यों?

उ०— कारण यह है कि आज्ञासे प्रतिपादित मार्गको छोडकर दूसरा कोई हितप्राप्तिका उपाय नहीं है।

प्र०—हितप्राप्तिका उपाय पुरुषमात्रकी प्रवृत्ति भी हो, वचनोक्त मार्ग ही क्यों?

उ०—समाधान यह है कि अनुभवके विना पुरुषमात्रकी प्रवृत्ति होनेद्वारा ऐसी इष्ट फलकी सिद्धि नहीं होती। इस कथनका अभिप्राय यह है कि पहले कृषि आदिका फल प्रत्यक्ष देखा है, तभी उसके उपाय लगाकर कृषि आदिमें प्रवृत्ति होती है, और ऐसी प्रवृत्ति करनेवाले पुरुषको अपने इच्छित फलकी सिद्धि अवश्य होती है। एवं जहाँ निधान याने गुप्तकोष खुदना वगैरहमें प्रत्यक्ष फल नहीं दिखता, अर्थात् यह पता नहीं कि यहाँ खोदनेसे निधान अवश्य मिलेगा, वहाँ भी यदि आप्त (विश्वसनीय) पुरुषका उपदेश मिल जाए तो उनके उपदेश अनुसार खुदाई आदिकी क्रियामें प्रवृत्त होनेसे इष्ट फलकी सिद्धि अवश्य होती है। (कृषि आदिकी अपेक्षा) अंतर इतना है कि ऐसे अदृश्य फलवाले कर्ममें स्वानुभव नहीं होनेसे आप्तजनके उपदेशानुसार ही चलना पडता है, तभी फलप्राप्ति होती है; अन्यथा फलप्राप्ति नहीं। यों ही अदृश्य (अतीन्द्रिय) फल देनेवाले चैत्यवन्दनमे स्वानुभव नहीं होनेपर, अज्ञ पुरुषमात्रकी प्रवृत्तिके आधारपर चलनेसे वास्तविक इष्टफल सिद्ध नहीं हो सकता; क्योंकि उसमें व्यभिचार संभावित है। अर्थात् विना अनुभव यथेच्छ प्रवृत्ति करनेमें निष्फलता आने पर, उपाय रूपसे कल्पित अनुष्ठान फलशून्य हुआ। इसलिए ऐसे स्थानमें अतीन्द्रियार्थदर्शि शास्त्रके उपदेशानुसार ही प्रवृत्ति करनी चाहिए।

स्वकल्पित प्रवृत्तिमें और भी दूषण हैं। चैत्यवन्दनके अनुष्ठानमें स्वेच्छासे प्रवृत्ति करने पर उस महाविधिकी लघुता होती है। इससे पूज्यकी पूजास्वरूप शिष्टाचारका परित्याग होता है, अर्थात् 'चैत्यवन्दनविधानके मूल उपदेशक पूज्य पुरुषने चैत्यवन्दन सम्बन्धमें फरमाए हुए सर्व आदेश शिरोमान्य करना,–' यह जो पूज्यपुरुषकी सच्ची पूजा है, और वही जो शिष्टपुरुषोंका आचार है, उसका लोप होता है। फलतः दूसरे उपायसे भी संभवित ऐसे जो शुभ अध्यवसाय और इससे जनित विशिष्ट कर्मक्षय, एवं कल्याणस्वरूप इष्ट फल, उनकी सिद्धिकी भी अवश्य रुकावट ही हो जाती है। (कारण यह है कि पूज्यपूजाका लोप करनेसे कल्याणकारी वास्तविक शुभ अध्यवसायकी भूमिका ही नष्ट हो जाती है। जैसे पूर्व पुरुषोंने कहा है कि पूज्यकी पूजाका लोप कल्याणको रोक देता है।)

प्र०– गतानुगतिक ढंगसे की जाती चैत्यवन्दनविधि उत्सर्गके नियमानुसार न हो, फिर भी अपवादस्वरूप क्यों नहीं गिनी जा सकती?

उ०– अपवाद भी,

(१) सूत्रसे अबाधित होना आवश्यक है नहा कि सूत्रसे बाधित; एवं,

(२) लाभ-हानिकी अधिकता-न्यूनताके परामर्शपूर्वक होना चाहिए, नहीं कि वैसी चिन्तासे शून्य;

(३) ऐसा भी आदरणीय होनेके लिए लाभकी अपेक्षा अधिक मात्राके दोषसे रहित होकर हितकारी होना जरूरी है, नहीं कि अहितकारी।

(४) शुभ परिणामकी, नहीं कि अहितकी, परंपराका सर्जक बनना आवश्यक है; एवं

(५) महान आत्माओंसे आचरित होना चाहिए; नहीं कि अघटित हो और परमात्माकी लघुता करनेवाला हो, एवं क्षुद्र जीवोंसे आसेवित हो। इतने विशेषणोंसे युक्त अपवाद एक प्रकारका उत्सर्ग ही है, अर्थात् औत्सर्गिक नियमका ही स्थान पाता है; क्योंकि उत्सर्ग पालनका जो फल होता है उसीमें वह अनुकूल होता है।

(शास्त्रके नियमोंमें जहां अपवाद खोजनेकी प्रवृत्ति होती है, वहाँ पहले ऊपर कही हुई सच्चे अपवादकी खासियतें देखनी चाहिये। सूत्रको इष्ट ऐसी मर्यादा (नियमन) का ही घातक हो, और दोषकी प्रचुरताका सर्जक हो, तो वह अपवाद मार्ग कैसा? सूत्रकथित राजमार्गके पालनकी असामर्थ्य हो, और आपवादिक मार्ग लेनेमें दोष लगता हो लेकिन बिलकुल साधना ही न करे तो महान लाभसे वंचित रहना पड़ता हो; तब आपवादिक मार्गसे साधना करनेमें अनिवार्य दोषकी अपेक्षा लाभ अधिक प्राप्त होता है। ऐसी परिस्थितिमें अपवाद भी आदरणीय है। अनधिकारीको चैत्यवन्दन देनेके अपवाद मार्गमें तो उलटा है, इसमें दोषकी प्रचुरता निष्पन्न होती है। इसलिए यह सच्चा अपवाद ही नहीं। अनधिकारीमें इससे शुभपरिणामोंकी धारा भी नहीं चलती बल्कि भारी अशुभ परिणामोंका सर्जन होता है। और महान पुरुषोंने ऐसे अपवादको अपनाया भी नहीं। वह तो क्षुद्रजीवोंका चेष्टित है। फिर वह कैसे आदरणीय बन सके?)

(ल०)—(जैनदर्शनवैशिष्ट्यम् :—) एतदङ्गीकरणमप्यनात्मज्ञानां संसारसरिच्छ्रोतसि कुशकाशावलम्बनमिति परिभावनीयं; सर्वथा निरूपणीयं प्रवचनगाम्भीर्यं; विलोकनीया तन्त्रान्तर-स्थितिः; दर्शनीयं ततोऽस्याधिकत्वम्, अपेक्षितव्यो व्याप्तीतरविभागः; यतितव्यमुत्तमनिदर्शने-ष्विति श्रेयोमार्ग्गः॥

(पं०—)'एतदङ्गीकरणमपि'ति, 'एतस्य'=क्षुद्रसत्त्वविजृम्भितस्य, अपवादतया'अङ्गीकरणमपि' =आदरणमपि, किं पुनरनङ्गीकरणमवलम्बनं न भवतीति'अपि'शब्दार्थः। 'कुशकाशावलम्बनमि'ति, कुशाश्च काशाश्च='कुशकाशाः,' तेषा'मवलम्बनं'=आश्रयणम्, अनालम्बनमेव, अपुष्टालम्बनत्वादिति। 'दर्शनीयं-ततोऽस्याधिकत्वमि'ति,'दर्शनीय'=दर्शयितव्यं, परेषां स्वयं वाद्रष्टव्यं,'ततः'=तन्त्रान्तरस्थितेः,'अस्य'=प्रकृत-तन्त्रस्य, 'अधिकत्व'=अधिकभावः, कपादिशुद्धजीवादितत्त्वाभिधायकत्वात् । 'व्याप्तीतरविभाग'इति, 'व्याप्तिश्च'=सर्वतन्त्रानुगमो, अस्य सर्वनयमतानुरोधित्वात्, 'इतरा=अव्याप्तिः', तन्त्रान्तराणामेक-नयरूपत्वाद्,'व्याप्तीतरे,' तयोः'विभागो'=विशेषः। इह चेतराशब्दस्य पुंवद्भावो 'वृत्तिमात्रे सर्वादीनां पुंवद्भावः' इतिवचनात् । 'उत्तमनिदर्शनेषु' इति=आज्ञानुसारप्रवृत्तमहापुरुषदृष्टान्तेषु ।

छः कर्तव्य– (१) क्षुद्र जीवोंकी ऐसी प्रवृत्तिको अपवाद रूपसे भी आदर करना, यह अपनी आत्माको नहीं पहचाननेवाले जीवोंके लिये इस संसार-प्रवाहमें तृणका आलम्बन लेने जैसा है; अर्थात् यह आलम्बन रूप ही नहीं है, क्योंकि ऐसा आलम्बन जिन भगवान द्वारा प्ररूपित सम्यग्दर्शन, सम्यग् ज्ञान, एवं सम्यक् चारित्र, इन तीनोंमेंसे किसीका भी पोषक नहीं है। इससे यह स्पष्ट होता है कि क्षुद्र जीवोंकी वैसी प्रवृत्तिको अपवाद रूपसे मान्य रखना तो क्या, न मानकर भी हितकारी गिनना किसी भी तरह आलम्बन रूप नहीं हो सकता। अत एव इस बातपर भली भाँति विचार एवं मनन करना आवश्यक है।

(२) आर्हत प्रवचनकी गम्भीरताका योग्य रूपसे अन्वेषण और उसका योग्य मूल्यांकन करना चाहिए

(३) अन्य दर्शनोंकी स्थितिका भी योग्य पर्यवेक्षण करना चाहिए।

(४) उन इतर दर्शनोंकी अपेक्षा कष-छेद-ताप परीक्षामें उत्तीर्ण जैनदर्शनके वैशिष्ट्यका प्रति-पादन करना चाहिए। यह बात सतत ध्यानमें रखनी आवश्यक है कि जैनदर्शनका वैशिष्ट्य कष-छेद-ताप परीक्षा द्वारा शुद्ध प्रमाणसिद्ध जीवादि तत्त्वोंके प्रतिपादन पर निर्भर है।

(५) जैनदर्शनमें अन्य सभी दर्शनोंका समावेश होता है, जबकि प्रमाणभूत सब नयोंके याने दृष्टियोंके समुच्चय रूप जो जैनदर्शन है, उसका अन्य दर्शनोंमें समावेश नहीं हो सकता है—जैनदर्शनका यह विशेषत्व खास लक्ष्यमें लेने योग्य है।

(६) जिनाज्ञानुसार प्रवृत्ति करनेवाले और उत्तम दृष्टान्तरूप महापुरुषोंके चरित्रको आदर्शके तौरपर सम्मुख रखकर प्रयत्नशील होना आवश्यक है। ऐसी प्रवृत्ति करनेवालेके मनमें ऐसी दृढ श्रद्धा नितान्त आवश्यक है कि कल्याणका उत्कृष्ट मार्ग जिनेश्वरदेवके आदेश शिरोधार्य करनेमें ही है।

यहाँ 'व्याप्तीतरविभाग' इस सामासिक पदमें अव्याप्तिसूचक 'इतर' शब्द स्त्रीलिंगमें न रखकर पुल्लिंगमें रखनेका हेतु यह है कि समासमें स्त्रीलिंग सर्वनामोंका पुल्लिंग रूप हो जाता है।

अब इस प्रतिपादनमें देखिए कि जैनदर्शनकी कितनी विशेषताएँ बतलाई हैं।

जैनदर्शनकी विशेषताएँ

१. गाम्भीर्य — आर्हत प्रवचन कितना गम्भीर है इसकी सब तरहसे गवेषणा करना आवश्यक है। चैत्यवन्दनकी आराधनाके अभिलाषीको भी उसकी अनधिकारिताके कारण मना करनेमें जैन प्रवचनका कितना गहरा रहस्य होगा, आत्मकल्याणकारिणी आराधना क्यों समग्ररूपसे आवश्यक एवं अनिवार्य भूमिकाके साथ करनी चाहिए, ऐसी आराधना उत्तरोत्तर विकासशील एवं गुणानुबन्ध तथा हितानुबन्धसे सम्पन्न क्यों होनी चाहिए, और किस प्रकार ऐसा हो सकता है, — इन और ऐसे दूसरे विषयोंमें जैन प्रवचनका गम्भीर मन्तव्य विचारणीय एवं आदरणीय है। साथ ही, दूसरे दर्शनोंकी परिस्थिति भी, उनके समग्र बाध्याबाध्य अंशके साथ, देखनी चाहिए, जिससे उनकी गहराई या छिछलापन, उनके तात्त्विक चिन्तनकी समग्रता या अल्पता और, विचारणाकी विश्वतोमुखिता या क्षुद्रता ख्यालमें आ सके।

२ *त्रिविध परीक्षामें उत्तीर्णता— शास्त्र परीक्षामें जैनप्रवचनकी उत्तीर्णता भी देखने योग्य है।* जिस प्रकार सुवर्णकी परीक्षा पहले कसौटीपर कसकर की जाती है कि यह सच्चा सुवर्ण है या नहीं, फिर भीतर चाँदी है या सोना या और कुछ, यह देखनेके लिये उसका छेद करते हैं—उसे काटते हैं। बादमें उसकी सर्वांशमें सच्चाई जाँचनेके लिये उसे अग्निमें तपाते हैं, और इन तीनों परीक्षाओंमेंसे गुजरनेके बाद ही *सुवर्णकी सुवर्णता प्रमाणित होती है, तथा यह मान्य भी होता है।* उसी प्रकार शास्त्रोंकी शुद्ध तत्त्व व्यवस्था याने तात्त्विक शुद्धता भी इन तीन प्रकारकी परीक्षाओंसे प्रमाणित होती है। प्रस्तुत जैन प्रवचन भी कप, छेद और ताप इन त्रिविध परीक्षाओंमेंसे उत्तीर्ण जीव-अजीव आदि सात तत्त्वोंका प्रतिपादन करता है। इसीलिये इतर दर्शनोंकी अपेक्षा इसका अपना एक तरहका सौन्दर्य, यथार्थता गौरव और वैशिष्ट्य है। (१) *'आत्मदर्शन करो,' 'हिंसा मत करो'* इत्यादि सम्यग् विधि-निषेध जिसमें हैं वह 'कष' परीक्षामें उत्तीर्ण है। परन्तु सोनेकी भाँति यह तो ऊपर ऊपरकी परीक्षा है। (२) भीतरी जाँचके लिये 'छेद' परीक्षा द्वारा यह देखना आवश्यक है कि इन विधि-निषेधोंके पालनके अनुरूप आचारमार्ग एवं क्रियाओंका विधान है या नहीं। अगर ऐसा विधान नहीं है, अथवा है तो विधि-निषेधके अनुरूप नहीं किन्तु प्रतिकूल आचार-मार्गोंका विधान है, तो वहाँ शुद्धताकी अपेक्षा रखना मूर्खता ही होगी। (३) तीसरे प्रकारकी सर्वतोगवेषी 'ताप' परीक्षाके लिये यह जरूरी है कि उस तत्त्व व्यवस्थामें ऐसे सिद्धान्त मान्य होने चाहिए जिनसे विधि-निषेध एवं आचारमार्गकी संगति बिठाई जा सके। उदाहरणार्थ यदि हम देखें तो जैनदर्शनमें अहिंसा-संयम तपकी विधि (विधान) और क्रोध-लोभ, हिंसा—असत्य इत्यादिका निषेध प्रतिपादित है। इन विधिनिषेधोंके पालनमें उपयोगी पाँच समिति, तीन गुप्ति आदि क्रिया एवं आचारोंका मार्ग भी दिखलाया गया है। और इन सबके मूलमें अनेकान्तवादका सिद्धान्त मान्य रखा गया है। किसी भी वस्तुमें भिन्न भिन्न दृष्टिकोणोंसे सिद्ध सब धर्मोंको मान्य रखना उसको अनेकान्तवाद कहते हैं। जीवको लेकर यदि विचार करें तो ऐसा कहा जा सकता है कि जीवको यदि नित्यानित्य मानें तभी विधि-

निषेधका उपदेश सफल हो सकता है। जीव (१) अनित्य अर्थात् परिवर्तनशील हो तभी उसमें भिन्न भिन्न क्रियाओंका कर्तृत्व संगत हो सकता है; और (२) नित्य होने पर ही पाप-पुण्यसे बद्ध होकर उनके फल रूपसे दुःख या सुखका भोक्ता भी खुद बन सकता है। इसी प्रकार गुण-गुणीके भेदा-भेदके अनेकान्त सिद्धान्त पर ही जीवमें हिंसा-अहिंसा आदि आचारके मार्ग संगत हो सकते हैं। यदि हिंसा-अहिंसा आदि गुण जीवसे एकान्त भिन्न हो तो उनका जीवके साथ कोई सम्बन्ध स्थापित न हो सकेगा; और यदि वे एकान्त अभिन्न हों तो जीव सदाके लिये या तो हिंसास्वरूप या अहिंसास्वरूप ही रहेगा। इस परसे फलित यही होता है कि अनेकान्तवाद वगैरह यथार्थ सिद्धान्तोंके ऊपर ही जीव-अजीव आदि तत्त्वोंकी व्यवस्था शुद्ध रूप धारण कर सकती है, और ये सब सिद्धान्त, तत्त्व, एवं आचार जैनदर्शनमें सुचारु रूपसे पाये जाते हैं, और ये ही जैनदर्शनकी विशेषता रूप हैं। इन्हें स्वयं समझना और दूसरोंको यथावत् समझाना चाहिए।

यौवन एवं वृद्धावस्था, और आभ्यन्तर भिन्न भिन्न विषयोंके नये नये ज्ञानादिकी अवस्था जैसी अनेक अवस्थाओंके परिवर्तनके बावजूद भी आत्मद्रव्य चेतनरूपसे सदा सनातन-नित्य बना रहे [1]तभी वह सब परिवर्तनके सहिष्णु स्वय हो सकता है, और [2] परिवर्तन भी तभी अस्तित्व पाकर स्थान-स्थित हो सकते हैं अर्थात् इस नित्यताके आसपास ही याने नित्यतासे संवलित ही प्रतिक्षण आत्माके नए नए परिवर्तन भी दिखाई पडते हैं; एवं नित्यता भी परिवर्तनशीलतासे संवलित रहती है। इसीलिए आत्माको कथंचित् अनित्य कहा जाता है। यहाँ कथंचित् का अर्थ है अमुक दृष्टिकोणसे। वस्तुमें अनेक दृष्टिकोणोंसे अनेक स्वरूप पाये जाते हैं। अतः समस्त दृष्टिकोणोंसे विचार करनेपर आत्मा न तो केवल नित्य ही या न केवल अनित्य ही ज्ञात होता है, एवं वह अलग अलग नित्यता और अनित्यता शील भी नहीं, वरन् विजातीय नित्या-नित्यात्मक ठीक ही प्रतिभासित होता है।

यहाँ यह बात दृष्टान्तसे देखिए, आत्माका अनेकान्त स्वरूप चावलमें दाल मिलाकर जो हम खाते हैं, वैसा नहीं है। उसमे सामान्यतया चावल और दालका कुछ अलग अलग-सा स्वाद आता है। परन्तु इसी उपमा द्वारा समझाना हो तो हम कह सकते हैं कि दाल और चावल मिलाकर जो खिचडी तैयार की जाती है उसके जैसा नित्यानित्य आदि अनेकान्त स्वरूप है। खिचडीमें दाल और चावलका अपना अपना स्वतंत्र अस्तित्व नष्ट हो जाता है और दोनोंसे विलक्षण एक और ही किस्मके स्वाद आदि गुणधर्म प्रकट होते हैं। यही बात नित्यानित्य स्वरूपमें भी लागू होती है। यह नित्यानित्यरूपता खिचडीकी भाँति एक एक विलक्षण संयोजन है; और इसीलिये अनित्य पक्षपर नित्य पक्ष द्वारा किये जानेवाले आक्षेपोंसे तथा नित्य पक्षपर अनित्य पक्ष द्वारा किए जानेवाले आक्षेपोंसे यह सर्वथा मुक्त है। भला, खिचडीपर दाल–चावल दोनोंमेंसे कौन आक्षेप करेगा? और फिर भी खिचडी खिचडी है, दाल–चावल नहीं। दूसरा दृष्टान्त सूँठ और गुडका भी दिया जा सकता है। जब तक ये दोनों अलग अलग होते हैं तबतक इनके रसादि गुण और पित्त-दोषकारिता, कफ-दोषकारिता आदि विशेष दूसरे ही होते हैं, पर इन दोनोंको मिलाकर लड्डू बनानेसे रसादिमें परिवर्तन होकर एक नया और पित्तकफकारितासे विनिर्मुक्त अपूर्व गुणदायी पदार्थ तैयार होता है। ऐसे अनेक दृष्टान्त हम अपने व्यावहारिक तथा वैज्ञानिक अनुभवके बल पर दे सकते हैं। यहाँपर तो कहनेका अभिप्राय इतना ही है कि मिट्टीका ढेर लगाना एक चीज है और उसीमेंसे एक नया घडा पैदा करना दूसरी चीज है। आत्माकी नित्यानित्यरूपता नित्यता और

अनित्यताका ढेर नहीं है; वह तो वस्तुतः नित्य एवं अनित्य इन दोनोंकी सामग्रीमेंसे एक सुन्दर घडेके निर्माण जैसा कोई अभिनव स्वरूप निर्माण है। इस स्वरूप निर्माणके प्रतिपादनको हम सर्वसमन्वयकारी और सर्वजनहितावह स्याद्वाद या अनेकान्तवाद कहते हैं।

आत्माके बारेमें कथंचित् नित्यानित्यके अनेकान्तवादका स्वरूप माननेपर ही बन्ध-मोक्षकी उपपत्ति हो सकती है, तथा कृतनाश एवं अकृतागम रूप दोषोंका आक्षेप भी निर्मूल किया जा सकता है। एकान्त नित्य और एकान्त अनित्य पक्षमें तो बन्ध-मोक्षकी अनुपपत्ति एवं कृतनाश और अकृतागम रूप दोष आते हैं। कारण यह है कि अगर आत्मा नित्यमात्र है तो वह बद्ध ही नहीं; यदि बद्ध होता तो एकरूपसे ही सदा बद्ध रहता। एवं यदि बद्ध नहीं तो मुक्त होनेका क्या ? एकान्त अनित्य पक्षमें ही बंध-मोक्ष नहीं, क्यों कि बंधके हेतुको सेवन करनेवाला तो नष्ट हो गया, फिर बंध किसको ? एवं मोक्ष साधक अनुष्ठान करनेवाला खुद नष्ट हो गया तब मोक्ष किसका ? कृतनाश – अकृताभ्यागम नामके दोनों दोष केवल नित्य आत्मा माननेवालेको भी इस प्रकार लगते हैं कि ऐसा नित्य आत्मा कुछ भी करे लेकिन नित्य होनेके नाते उसके फलभोगका परिवर्तन नहीं सह सकेगा। यों कृतनाश अर्थात् कृतकर्मका विना फलभोग नाश हुआ। एव वर्तमानमें जो आत्माकी दशा है उसके लिए भी, स्वयं एकान्त नित्य होनेके सबब प्राक् कालमें कर्मकारणका परिवर्तन सहा नहीं होगा, इस प्रकार न किये कर्मका फलभोग आनेसे अकृतागम दोष लगा। एकान्ततः अनित्य आत्मा माननेमें भी वर्तमान कृत्यकारी आत्मा अनित्यतावश नष्ट हो जानेसे फलभोग नहीं कर सकता। यह कृतनाश हुआ। और वर्तमान फलभोग करता हुआ जीव प्राक् कालमें उस फलके हेतुभूत कृत्य करनेके लिए था ही नहीं; इस प्रकार अकृत कर्मका फलभोग उन्हें मिला यह अकृतागम दोष हुआ। जैनदर्शनमें अनेकान्त सिद्धान्त होनेके कारण ये दोष नहीं लगते हैं।

प्रश्न— ऊपर आपने कहा कि जैनदर्शनमें इतर दर्शनोंका समन्वय होता है, तब तो यदि वे दर्शन सदोष हैं तो उनके दोष भी जैनदर्शनमें आएँगे ही। तो फिर जैनदर्शनको निर्दोष दर्शन कैसे कह सकते हैं ?

उत्तर— किसी भी पदार्थको समझना–कहना अमुक दृष्टिसे याने अमुक अपेक्षासे होता है। जो यह समझानेका कार्य करता है और कहनेका, उसे दर्शन कहते हैं। न्याय, वैशेषिक, सांख्य आदि दर्शन वस्तुको एक एक दृष्टिकोणसे समझते हैं। ढालकी एक बाजू सोनेकी और दूसरी बाजू चाँदीकी हो और उसे दो तरफसे दो व्यक्ति देखे तो उनमेंसे एक उसे सोनेकी और दूसरा चाँदीकी देखेगा और कहेगा। दोनों अपनी अपनी दृष्टिसे वस्तुके जितने अंशमें प्रत्यक्ष कर रहे हैं उतने अंशमें सही है। कारण ढाल सोनेकी भी है और चाँदीकी भी है; परन्तु कोई उसे केवल सोनेकी या केवल चाँदीकी कहे तो उनका वैसा समझना और कहना सम्पूर्ण सत्य तो नहीं वरन् इतरांशका निषेध करनेसे असत्य भी होगा। सम्पूर्ण सत्य तो है इन दोनोंको योग्य स्वरूपमें समझने पूर्वक उनका समन्वय करके कहना कि ढाल एक तरफसे चाँदीकी बनी है और दूसरी तरफसे सोनेकी। ऐसी बातको समझानेके लिये जैनदर्शन 'कथंचित्' अथवा 'स्यात्' शब्दका प्रयोग करता है। इन शब्दोंका अर्थ होता है 'अमुक दृष्टिसे, अमुक अपेक्षासे'। उदाहरणार्थ 'आत्मा स्यात् नित्य है, स्यात् अनित्य है' अर्थात् 'आत्मा नित्य है ही, लेकिन अमुक अपेक्षासे; एवं अनित्य है ही किन्तु अमुक अपेक्षासे।' जब दूसरेकी बात न मानकर अपना ही ढोल पीटा जाय तब दोष आता है। न्याय-वैशेषिक आदि दर्शन जब कहते हैं कि 'आत्मा नित्य है' तब उनका यह कहना तो सही है, लेकिन

पर वे अपने एक ही दृष्टिकोणसे प्रतीत होनेवाली वस्तुको मानकर जब बौद्धदर्शनसे पेश किये गए दूसरे दृष्टिकोणसे सिद्ध जो वास्तविक अनित्यता, उसका इन्कार करते हैं तब उनका कहना असत्य होता है। बिलकुल असत्य रहित सत्यको और दूसरेके यथार्थकथनके मर्म को समझनेके लिए दृष्टि विशाल एवं गहरी बनानी आवश्यक है। ऐसी दृष्टि रखनेवाले जैनदर्शनमें जब दूसरे दर्शनोंसे मान्य नित्यत्व एवं अनित्यत्व अनेकांत शैलीसे मान्य किये गये हैं, तब उसमें उन दर्शनोंका समन्वय तो हुआ ही; लेकिन साथ-साथ, उन दर्शनोंसे मान्य किये गए अनित्यत्वाभाव और नित्यत्वाभाव जब जैनदर्शनमें मान्य हैं ही नहीं, तब उन मान्यताओंके कारण उन दर्शनोंपर पडनेवाले दोष जैनदर्शनमें कैसे लग सकते हैं? तात्पर्य, इसमें दोनों पक्षोंकी सच्चाइका संग्रह है, जब कि तनिक दोषका संग्रह नहीं।

जैन दर्शनका इतर दर्शनमें असमावेश

प्र०– यह ठीक है, लेकिन जैनदर्शनका अंशतः समावेश भी इतर दर्शनोंमें क्यों नहीं?

उ०– इतर दर्शन एकान्त-धर्मोंको मान्य करते हैं, जिसके कारण वे दोषग्रस्त होते हैं। जैनदर्शन इनसे विलक्षण अनेकान्तधर्मधारी है; और इसीलिए वह, निर्दोष एवं केवल गुणसम्पन्न है। अतः इसका तनिक भी समावेश उन दर्शनोंमें कैसे हो सकता है? उनका जैनदर्शनमें समावेश इस कारण होता है कि उनके मान्य धर्मोंका अंश जैन दर्शनमें मान्य हो जाता है। इससे हम सहज ही समझ सकते हैं कि जैन-दर्शन कितना व्यापक, गम्भीर और परीक्षाशुद्ध है। ऐसा जैनदर्शन जब योग्य जीवोंको सूत्रप्रदान करनेकी गम्भीर आज्ञा देता हो तब वह आज्ञा कितनी अनुसरणीय है, यह सहज ही ख्यालमें आ सकता है। ऐसी आज्ञाके पथ पर ही प्रवृत्ति करनेवाले महापुरुषोंके उत्तम दृष्टान्तोंको आदर्श बनाकर ही इस आज्ञाको अपने भी जीवनमें मान कर, उन्नत एवं कल्याणमय प्रवृत्ति रखनी चाहिए। जीवनको उन्नतिशील एवं कल्याणवाही बनानेका क्षेमंकर एवं सरल राजमार्ग और क्या हो सकता है?

यहाँ पर कोई ऐसा प्रश्न उठा सकता है :—

शक्य प्रवृत्ति : व पुनर्बन्धक जीव

प्रश्न — यह सही है कि उत्सर्ग एवं अपवाद मार्गको उनके योग्य स्वरूपमें समझनेके लिये तथा कल्याणमार्गकी जिज्ञासाके तृप्तिहेतु आर्हत प्रवचनकी गम्भीरताका अन्वेषण एवं मूल्यांकन करना चाहिए। किन्तु बुखार उतारनेके लिये कोई नागके मस्तकमें रही हुई मणिका अलंकार धारण करनेको कहे, तो वह जैसे अशक्यानुष्ठान है अर्थात् उसका अमल करना अशक्य है, वैसे ही आर्हत प्रवचनकी गम्भीरताका अन्वेषण आदि भी अगर अशक्यानुष्ठान रूप हो तो फिर उत्सर्ग अपवादका ज्ञान एवं आत्माका कल्याण कैसे शक्य है?

उत्तर — इस शंकाका निराकरण यह है कि यह कल्याणमार्ग प्रयोगसिद्ध है और इसीलिये वह अशक्यानुष्ठान नहीं है। 'तीव्र भावसे पाप न करना, घोर संसारपर आस्था न रखना, सर्व उचितका आदर करना' इत्यादि सुलक्षणोंसे सम्पन्न, तथा कर्मबन्धनोंकी उत्कृष्ट स्थितिका अब पुनः उपार्जन नहीं करनेवाले, ऐसे अपुनर्बन्धकादि महापुरुषोंके द्वारा यह कल्याणमार्ग आचरित है, अतः इसे अशक्य नहीं कह सकते। ऐसे महापुरुषोंके जीवनसे ज्ञात होता है कि (१) उन्होंका कर्ममल बहुत क्षीण हो गया है, (२) कर्ममलकी क्षीणताके कारण वे पवित्र आशयवाले बने हैं, और (३) वे हृदयसे संसारकी आस्था

(ल०) व्यवस्थितश्चायं महापुरुषाणां क्षीणप्रायकर्म्मणां विशुद्धाशयानां भवाबहुमानिनांमपुनर्बन्धकादीनामिति । अन्येषां पुनरिहानाधिकार एव, शुद्धदेशनानर्हत्वात् । शुद्धदेशना हि क्षुद्रसत्त्वमृगयूथसंत्रासनसिंहनादः । ध्रुवस्तावदतो बुद्धिभेदः, तदनु सत्त्वलेशचलनं, कल्पितफलाभावापत्त्या दीनता, स्वभ्यस्तमहामहोवृद्धिः, ततोऽधिकृतक्रियात्यागकारी संत्रासः । भवाभिनन्दिनां स्वानुभवसिद्धमप्यसिद्धमेतद्, अचिन्त्यमोहसामर्थ्यादिति । न खल्वेतानधिकृत्य विदुषा शास्त्रसद्भावः प्रतिपादनीयो दोषभावादिति । उक्तं च—अप्रशान्तमतौ शास्त्रसद्भावप्रतिपादनम् । दोषायाभिनवोदीर्णे, शमनीयमिव ज्वरे ॥ इति कृतं विस्तरेण । अधिकारिण एवाधिकृत्य पुरोदितान्, अपक्षपातत एव ।निरस्येतरान् प्रस्तुतमभिधीयत इति ।

(प०) अस्तु नामायं प्रवचनगाम्भीर्यनिरूपणादिरुत्सर्गापवादस्वरूपपरिज्ञानहेतुः श्रेयोमार्गः, परं ज्वरहरतक्षकचूडारत्नालङ्कारोपदेशवदशक्यानुष्ठानो भविष्यतरियाशङ्क्याह 'व्यस्थितश्चे'इत्यादि । 'व्यवस्थितश्च'=प्रतिष्ठितश्च,स्वयमेव महापुरुषैरपुनर्बन्धकादिभिरनुष्ठितत्वात् । 'ध्रुवे'त्यादि—ध्रुवो=निश्चितः, 'तावत्'शब्दो वक्ष्यमाणानर्थक्रमार्थः, 'अतः'=शुद्धदेशनायाः, 'बुद्धिभेदो'=यथाकथञ्चित् क्रियमाणायामधिकृतक्रियायामनास्थया क्षुद्रसत्त्वतया च शुभकरणासामर्थ्यात् करणपरिणामविघटनम् । 'तदनु'=ततो, बुद्धिभेदात् क्रमेण, 'सत्त्वलेशचलनं'=सुकृतोत्साहलवभ्रंशः, 'कल्पितफलाभावापत्त्या'=स्वबुद्धिसम्भावितस्य फलस्य 'अयथास्थितकरणेऽपि न किञ्चिदि'ति देशनाकर्तुर्वचनाद् असत्त्वसम्भावनया, 'दीनता'=मूलत एव सुकृतकरणशक्तिक्षयः । 'स्वभ्यस्तमहामोहवृद्धिः', 'महामोहो'=मिथ्यात्वमोहस्ततः, 'स्वभ्यस्तस्य'=प्रतिभवाभ्यासान्महामोहस्य, 'वृद्धिः' उपचय इति ।

अथवा बहुमान करनेवाले नहीं हैं, अर्थात् संसार परसे उनकी आस्था उठ गई है। किसी भी व्यक्तिमें ऐसी पूर्वभूमिका यदि तैयार हो तो उसके लिये आर्हत प्रवचनमें उल्लिखित कल्याणमार्ग पर चलना अशक्य नहीं है।

किन्तु यह सर्वदा ध्यानमें रखना चाहिए कि कल्याणमार्ग जितना सरल है उतना ही तलवारकी धारके जैसा पैना भी है। इस मार्गपर चलनेका अधिकार अपुनर्बन्धक और उससे उन्नत श्रेणीके पुरुषोंके अतिरिक्त दूसरोंको नहीं है। यह तो क्या, किन्तु वैसे अनधिकारी पुरुष तो शुद्ध उपदेशके श्रवणके भी अधिकारी नहीं हैं। 'चैत्यवन्दन अधिकारीको ही देना'—यह शुद्ध उपदेश है। ऐसा शुद्ध उपदेश सुननेकी योग्यता आती है कर्ममलके क्षय, शुद्ध आशयसंपन्नता तथा संसार परकी अनास्थासे ही। ऐसी योग्यता आनेके पश्चात् तो जिनप्रवचनकी गहराईका अन्वेषण एवं मूल्याकन करना इत्यादि सुसाध्य हो जाते हैं। बाकी, कर्ममलका क्षय न होनेपर जब उपदेशश्रवणकी योग्यता ही न हो, तब वह जैन प्रवचनकी गम्भीरताके अन्वेपण एवं मूल्यांकन आदिका अधिकारी ही कैसे हो सकता है?

सिंहनाद-सी शुद्ध देशनाः क्षुद्रोंको बुद्धिभेदादिः—

प्रश्न—शुद्ध उपदेशश्रवण का इतना बडा तो क्या माहात्म्य है कि जिनका कर्मक्षय आदि नहीं हुआ है वे इसके अधिकारी तक नहीं माने जाते?

उत्तर—वस्तुतः शुद्ध उपदेश तो सिंहनाद जैसा है। इसे सुनकर क्षुद्र प्रकृतिवाले जीवरूपी मृगोंके समूहमें एक तहलका-सा मच जाता है। बात यह है कि ऐसे क्षुद्र जीव अनेक जन्मोंमें अभ्यस्त

क्षुद्रतावश अपनी पौद्‌गलिक सुखरूप संसारमें तथा मद-मत्सर-अहंकार आदि दुर्वृत्तियोंमें सविशेष आसक्त रहते हैं। उनकी प्रकृति भी अशुद्ध आशयवाली होती है। अतः यदि वे धर्मानुष्ठान करते भी हैं तो उसके पीछे उनका उद्देश मलिन रहता है। अतएव जब वे सुनते हैं कि ' शुद्ध उपदेशमें तो अर्थित्व, सामर्थ्य, शास्त्राविरोध; तथा बहुमान, विधिपरता एवं उचितवृत्ति आदि मौलिक व योग्यतासूचक गुणोंकी आवश्यकता होती है; और इनके होनेपर ही धर्मानुष्ठानकी सफलता, अन्यथा उलटी विफलता और हानि होती है, '-तब उन क्षुद्र जीवोंमें घबराहट एवं अस्वस्थता क्यों न हो? वस्तुतः इनमें सिर्फ घबराहट ही नहीं होती, अपितु (१) बुद्धिभेद, (२) सत्त्वनाश, (३) दीनता, (४) महामोहकी वृद्धि, और (५) क्रियात्याग जैसे अनर्थोंकी परम्पराकी सृष्टि होती है। इन अनर्थोंको हम बराबर समझ लें।

बुद्धिभेद-सत्त्वनाश आदिका स्वरूप

(१) बुद्धिभेदः— ज्यों-त्यो की जानेवाली क्रियाकी निष्फलता आदिका वर्णन सुनकर एक ओर तो ऐसी क्रियामें अविश्वास पैदा होता है, और दूसरी ओर क्षुद्रतावश अपनेमें शुद्ध क्रिया करनेकी सामर्थ्य भी नहीं होती। फलतः धर्मक्रिया करनेकी बुद्धिका भंग हो जाता है-वैसी क्रिया करनेकी मनोभावना ही नष्ट हो जाती है। यह हुआ बुद्धिभेद।

(२) सत्त्वनाशः— बुध्दिभेद होनेके पश्चात् अपनेमें रहा सहा सत्त्व अर्थात् सुकृत करनेका उत्साह भी नष्ट हो जाता है। यह स्वाभाविक है कि अशुद्ध धर्मक्रियाकी निष्फलताके कारण पैदा हुई निराशा एवं उपेक्षा सुकृत करनेके बचे खुचे उत्साह पर ठंढा पानी डाल देती है। यह हुआ सत्त्वभेद।

(३) दीनताः— धर्मानुष्ठान बिलकुल न करनेपर जैसे फल नहीं मिलता वैसे यथार्थ रूपसे न करनेपर भी फल नहीं मिलता-ऐसा कथन सुननेपर अभिलाषित फलकी अप्राप्ति देख कर, उद्‌भूत निराशा-वश सुकृतके आचरणकी उनकी शक्ति भी क्षीण हो जाती है। यह है आत्माकी दीनता।

(४) महामोहवृद्धिः— जीव द्वारा जन्म-जन्मान्तरमें आसेवित मिथ्यात्वमोह अर्थात् वस्तु-स्वरूपका विपर्यास (विपर्यास=विपरीत दृष्टि) अब दीनतावश बढती व पुष्ट होती जाती है। विपरीत दृष्टिकी ऐसी अभिवृद्धि होनेपर जीवके अधःपतनका फिर पूछना ही क्या?

(५) क्रियात्यागः— सामान्यतः परिस्थिति ऐसी है कि संसारके पापकार्योंमें निष्फल होने पर भी लोग उन्हें छोड देनेके बजाय निष्फलताजनक क्षतियोंको सुधार कर पुनः उसे सफल करनेकी कोशिश करते हैं। परन्तु धर्ममार्गमें ऐसा होता है कि अपनी क्रियासे यदि शास्त्रसे सुना कि यथार्थ रूपसे न करनेपर धर्मक्रियामें निष्फलता आती है, तो उसे सुनकर सामान्य लोग चौंक पडते हैं और उसे छोड देते हैं।

संसाररसिकोंका मोह

यों संसाररसिक जीवोंमें शुद्ध एवं शास्त्रीय उपदेश सुननेकी योग्यता तक नहीं होती है, और यदि कभी सुननेका अवसर मिले तो फलतः ऐसी अनर्थ-परम्परा निर्मित होती है। यह अनर्थ-परम्परा उसे स्वानुभवसिद्ध है, फिर भी मिथ्यात्वमोहके अचिन्त्य प्रभावसे उन्हें यह ख्यालमें भी नहीं आता कि-'मैं अयोग्यतावश ही अनर्थ-परम्पराका भोग बन रहा हूँ, इसलिये योग्यता प्राप्त करके यथार्थ धर्मक्रिया करूँ।' शास्त्रज्ञ जनोंको चाहिए कि ऐसे अनधिकारी जीवोंके प्रति शास्त्रकी सच्ची बातका प्रतिपादन न

(ल)०— (चैत्यवन्दनाविधिः–) इह प्रणिपातदण्डकपूर्वकं चैत्यवन्दनम्, इति स एवादौ व्याख्यायते। तत्र चायं विधिः,–इह साधुः श्रावको वा चैत्यगृहादावेकान्तप्रयतः परित्यक्तान्यकर्तव्यः प्रदीर्घतरतद्भावगमनेन यथासम्भवं भुवनगुरोः सम्पादितपूजोपचारः ततः सकलसत्त्वानपायिनीं भुवं निरीक्ष्य,परमगुरुप्रणीतेन विधिना प्रमृज्य च, क्षितिनिहितजानुकरतलः प्रवर्द्धमानातितीव्रतरशुभपरिमाणो भक्त्यतिशयात् मुदश्रुपरिपूर्णलोचनो रोमाञ्चाञ्चितवपुः 'मिथ्यात्वजलनिलयानेककुग्राहनक्रचक्राकुले भवाब्धावनित्यत्वाच्चायुषोऽतिदुर्लभमिदं सकलकल्याणैककारणं च अधःकृतचिन्तामणिकल्पद्रुमोपमं भगवत्पादवन्दनं कथञ्चिदवाप्तम्, न चातः परं कृत्यमस्ती'त्यनेनात्मानं कृतार्थमभिमन्यमानो भुवनगुरौ विनिवेशितनयनमानसोऽतिचारभीरुतया सम्यगस्खलितादिगुणसम्पदुपेतं तदर्थानुस्मरणगर्भमेवं प्रणिपातदण्डकसूत्रं पठति;

तच्चेदम्,–नमोऽत्थु णं अरहंताण–मित्यादि।

करें, क्यों कि ऐसा करनेसे उन्हे हितके बजाय अहित ही होता है–पयःपानं भुजंगानां केवलं विषवर्धनम्। कहा भी है––

अप्रशान्तमतौ शास्त्रसद्भावप्रतिपादनम्। दोषायाभिनवोदीर्णे शमनीयमिव ज्वरे।'

—जैसे नए बुखारमें उसे दवा देनेवाली औषधि दोषावह होती है, वैसे ही जिसकी मति मिथ्यात्वकर्म रूपी मलके कारण शान्त नहीं हुई है उसके प्रति शास्त्रीय सत्योंका प्रतिपादन दोषका कारण होता है।

अब किसी भी प्रकारका पक्षपात किए बिना अनधिकारीकी उपेक्षा करके, पूर्वोक्त अधिकारीको लक्ष्में रखकर प्रस्तुत चैत्यवन्दनसूत्रका विवेचन करते हैं––

यहाँ चैत्यवन्दन, 'प्रणिपातदण्डक'सूत्र अपरनाम शक्रस्तवसूत्र पढने पूर्वक ही होता है, अतः सर्व प्रथम इस सूत्रकी ही व्याख्या की जाती है।

चैत्यवन्दन शुरू करनेसे पूर्व यह विधि है––

चैत्यवन्दन– पूर्वविधि

चैत्यवन्दनार्थी साधु या श्रावक जिनमन्दिर आदिमें अत्यन्त एकाग्र बनकर अन्य सब कर्तव्योंको मनसे भी छोड दे और चैत्यवन्दनकी भावात्मक परिणतिमें मनको अत्यन्त दीर्घ काल तक स्थिर करके श्री अरिहन्त भगवानकी पूजा-सत्कार विधिका सम्पादन अपनी शक्ति और सम्भावनाके अनुरूप करे। बादमें चैत्यवन्दन करनेकी भूमिपर किसी भी जीवजन्तुका नाश न हो अथवा उसे तनिक भी कष्ट न पहुँचे ऐसी निर्जीव भूमिको देखकर परमगुरु श्री अर्हत्प्रभु द्वारा उपदिष्ट विधिके अनुसार भूमिकी प्रमार्जना करे और उसपर अपने दो घुटने तथा हस्ततल स्थापित करे। इस समय वन्दनके लिये आवश्यक ऐसी भावोर्मि अर्थात अत्यन्त तीव्र शुभ अध्यव्यवसाय भी उल्लसित होते रहने चाहिए। साथ ही जिनेश्वरदेवके प्रति ऐसे भक्तिका समुद्र उस समय उमड पडे जिससे अपने नेत्र आनन्दाश्रुसे भर जाएँ, और शरीरपर रोमांच

नमोत्थु णं अरहंताणं–भगवंताणं, आइगराणं–तित्थयराणं–सयंसंबुद्धाणं, पुरिसुत्तमाणं -पुरिससीहाणं-पुरिसवरपुंडरीयाणं-पुरिसवरगंधहत्थीणं, लोगुत्तमाणं-लोगनाहाणं-लोगहियाणं-लोगपई-वाणं-लोगपज्जोअगराणं, अभयदयाणं–चक्खुदयाणं–मग्गदयाणं–सरणदयाणं–बोहिदयाणं, धम्मदयाणं-धम्मदेसयाणं-धम्मनायगाणं-धम्मसारहीणं-धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टीणं, अप्पडिहयवर-नाणदंसणधराणं-वियट्टछउमाणं, जिणाणं–जावयाणं तिण्णाणं–तारयाणं, बुद्धाणं-बोहयाणं मुत्ताणं-मोयगाणं, सव्वन्नूणं-सव्वदरिसीणं–सिव-मयल–मरुअ–मणंत-मक्खय–मव्वाबाह–मपुणरावित्ति-सिद्धिगइनामधेयं ठाणं संपत्ताणं नमो जिणाणं जिअभयाणं ।

हो जाएँ। ऐसे भगवद्भक्तकी दृष्टिमें भगवान्‌के चरणोंकी वन्दना इतनी अपरिमित लाभकारी प्रतीत होती है, कि भक्तिके भावावेशमें उसका हृदय पुकार उठता है कि—

"अहो ! मिथ्यात्वरूपी जलके निधि रूप, अनेक मिथ्या मत और मिथ्यामती रूपी जलचर जन्तुओंसे भरे हुए संसार-सागरमें, तथा आयुष्यकी क्षणभंगुरताके बीच श्री अरिहन्त भगवान्‌के चरणोंमें वन्दन करनेका प्राप्त होना अत्यन्त ही दुर्लभ है। यह वन्दन समस्त कल्याणोंका एकमात्र ही उत्पादक है। इसके आगे चिन्तामणिरत्न तथा कल्पवृक्ष आदिकी उपमाएँ भी तुच्छ हैं; (क्योंकि दर्शनसे जो सर्वोच्च एवं कल्पनातीत लाभ प्राप्त होता है उसके सम्मुख तो चिन्तामणिरत्न, कल्पवृक्ष आदिसे प्राप्त होनेवाले लाभोंकी कोई गिनती ही नहीं है–वे अत्यन्त तुच्छसे प्रतीत होते हैं। अर्हन्-वन्दना तो अपरिमित, अनन्त एवं शाश्वत लाभ प्रदान करती है, जबकि इसकी दृष्टिमें चिन्तामणि आदिसे मिलनेवाले लाभ मात्र ऐहिक, परिमित, कम और विनश्वर होते हैं।) अहो ! किसी अगम्य भाग्योदयसे मुझे यह वन्दन करनेका मौका प्राप्त हुआ है। इस वन्दनसे बढकर और कोई दूसरा उत्तम कर्तव्य नहीं है।"

इस प्रकार मनमें दृढ भक्तिवश चिन्तन करता हुआ भक्त अपनी आत्माको कृतार्थ समझकर त्रिभुवनगुरु अर्हत् परमात्मामें अपनी चक्षु एवं मनको स्थापित करे। बादमें वन्दनके लिए प्रणिपातदण्डक-सूत्र (अर्थात् 'नमोत्थुणं···' शक्रस्तव) पढे। पढनेमें अतिचार अर्थात् ज्ञानावरणीय आदि कर्मबन्धनोंके उपार्जक ज्ञानविराधना आदि दोष न लगने पाएँ इस भयसे सूत्र-उच्चारण अस्खलित, अमीलित, अहीनाक्षर और अनत्यक्षर (अर्थात् पदोंका अस्खलित उच्चारण, एक दूसरेमें मिल न जाएँ इस तरह अमिश्रित और स्पष्ट उच्चारण, अक्षरोंमें कमीवेशी न करके पूर्ण उच्चारण) इत्यादि गुणसंपन्न होना चाहिए। साथ ही साथ सूत्रपाठ पदार्थ, वाक्यार्थ एवं महावाक्यार्थके स्मरणके साथ पढना चाहिए।

चैत्यवन्दनके लिये जो प्रथम प्रणिपातदण्डक सूत्र(शक्रस्तव)बोला जाता है वह सूत्र इस प्रकार है—

नमोऽत्थु णं अरहंताणं–भगवंताणं–आइगराणं–तित्थयराणं–सयंसंबुद्धाणं, पुरिसुत्तमाणं–पुरिससीहाणं-पुरिसवरपुंडरीयाणं-पुरिसवरगंधहत्थीणं, लोगुत्तमाणं-लोगनाहाणं-लोगहियाणं-लोग–पईवाणं-लोगपज्जोअगराणं, अभयदयाणं चक्खुदयाणं-मग्गदयाणं-सरणदयाणं-बोहिदयाणं, धम्म–दयाणं-धम्मदेसयाणं-धम्मनायगाणं-धम्मसारहीणं-धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टीणं, अप्पडिहय-वरनाण–दंसणधराणं-वियट्टछउमाणं, जिणाणं-जावयाणं तिण्णाणं-तारयाणं बुद्धाणं-बोहयाणं मुत्ताणं-मोयगाणं, सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं सिव-मयल-मरुअ-मणंत-मक्खय-मव्वाबाह-मपुणरावित्ति-सिद्धिगइनामधेयं ठाणं संपत्ताणं नमो जिणाणं जिअभयाणं।

(ल०) इह च द्वात्रिंशदालापकाः, त्रयस्त्रिंशदित्यन्ये ' वियट्टच्छउमाण'मित्यनेन सह। (१) इह चाद्यालापकद्वयेन स्तोतव्यसम्पदुक्ता, यतोऽर्हतामेव भगवतां स्तोतव्ये समग्रं निबन्धनम्। (२) तदन्यैस्तु त्रिभिः स्तोतव्यसम्पद एव प्रधाना साधारणाऽसाधारणरूपा हेतुसम्पत्, यत आदिकरणशीला एव तीर्थकरत्वेन स्वयंसम्बोधतश्चैते भवन्ति। (३) तदपरैस्तु चतुर्भिः स्तोतव्यसम्पद एवासाधारणरूपा हेतुसम्पत्, पुरुषोत्तमानामेव सिंह-पुण्डरीक-गंधहस्ति-धर्मभाक्त्वेन तद्भावोपपत्तेः। (४) तदन्यैस्तु पञ्चभिः स्तोतव्यसम्पद एव सामान्येनोपयोग-सम्पत्, लोकोत्तमत्व-लोकनाथत्व-लोकहितत्व-लोकप्रदीपत्व-लोकप्रद्योतकरत्वानां परार्थत्वात्। (५) तदपरैस्तु पञ्चभिरस्या एवोपयोगसम्पदो हेतुसम्पत्, अभयदान-चक्षुर्दान-मार्गदान-शरणदान-बोधिदानैः परार्थसिद्धिः। (६) तदन्यैस्तु पञ्चभिः स्तोतव्यसम्पद एव विशेषेणोपयोगसम्पत्, धर्मदत्व-धर्मदेशकत्व-धर्मनायकत्व-धर्मसारथित्व-धर्मवरचतुरन्तचक्रवर्तित्वेभ्यस्तद्विशेषोपयोगात्। (७) तदन्यद्वयेन तु स्तोतव्यसम्पद एव सकारणा स्वरूपसम्पत्, अप्रतिहतवरज्ञानदर्शनधरा व्यावृत्तच्छद्मानश्चार्हन्तो भगवन्त इतिहेतोः। (८) तदपरैश्चतुर्भिरात्मतुल्यपरफलकर्तृत्वसम्पत्, जिनजापकत्व-तीर्णतारकत्व-बुद्धबोधकत्व-मुक्तमोचकत्वानामेवंप्रकारत्वात्। (९) तदन्यैस्तु त्रिभिः प्रधानगुणापरिक्षय-प्रधानफलाप्ति-अभयसम्पदुक्ता, सर्वज्ञसर्वदर्शिनामेव शिव-अचलादिस्थानसम्प्राप्तौ जितभयत्वोपपत्तेः।

(पं० -) ' साधारणाऽसाधारणरूपे 'ति=सर्वजीवैः साधारणमादिकरत्वं, मोक्षापेक्षया ' आदौ '-भवे, सर्वजीवानां जन्मादिकरणशीलत्वात्। तीर्थकरत्वस्वयसम्बोधौ असाधारणौ अर्हतामेव भवतः। ' एते ' इति= अर्हन्तो भगवन्तः।

प्रधानगुणापरिक्षय-प्रधानफलावाप्ति-अभयसम्पदुक्तेति, प्रधानगुणयोः=सर्वज्ञत्व-सर्वदर्शित्वयोः, अपरिक्षयेण=अव्यावृत्या, प्रधानस्य=शिवाचलादिस्थानस्य, अवाप्तौ=लाभे, अभयसम्पद्= जितभयस्वरूपा उक्तेति।

प्रणिपातदण्डक सूत्र

नमस्कार हो अरहंत भगवंतको, जो आदिकर हैं, तीर्थंकर हैं, एवं स्वयं संबुद्ध हैं; जो पुरुषोत्तम हैं, पुरुषसिंह हैं, पुरुषोंमें श्रेष्ठ पुण्डरीक हैं और पुरुषोंमें श्रेष्ठ गन्धहस्ति हैं; जो लोकोत्तम हैं, लोकनाथ हैं, लोगोंके लिये कल्याणस्वरूप हैं, लोकप्रदीप हैं और लोगोंके प्रद्योतकारी हैं; जो अभयदाता हैं, चक्षुदाता हैं, मार्गदाता हैं, शरणदाता हैं, बोधिदाता हैं, जो धर्मदाता हैं, धर्मोपदेशक हैं, धर्मनायक हैं, धर्मसारथि हैं, एवं धर्मके चातुरन्त चक्रवर्ती हैं; जो अप्रतिहत ज्ञान और दर्शनके धारक हैं, छद्मस्थभाव (आवरण) से मुक्त हैं; जो स्वयं जिन (रागद्वेषादिके) विजेता हैं, दूसरोंके जिन बनानेवाले हैं; जो अज्ञानसे तर गये

हैं; और अन्योंके तारक हैं; जो बुद्ध हुए हैं, और दूसरोंके बोधक हैं; जो कर्मबन्धनसे मुक्त हैं और दूसरोंको मुक्त करानेवाले हैं; जो सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी हैं तथा जो निरुपद्रव-अचल-नीरोग-अनंत-अक्षय-व्याबाधारहित-अपुनरावृत्ति ऐसी सिद्धिगति नामके स्थानको प्राप्त हैं, जो भयके विजेता हैं-ऐसे जिनेन्द्रदेवको मैं नमस्कार करता हूँ। यहाँ ३२ आलापक (पद) हैं, कोई कहते हैं कि 'विअट्टछउमाणं' पदके साथ ३३ आलापक हैं। इनमें नव संपदा यानी मुख्य बातें कही गई हैं।

नौ सम्पदाएँ

(१) अरिहंताणं, भगवंताणं-इन आद्य दो पदोंसे स्तोतव्य-संपदा कही गई; क्यों कि स्तोतव्य अर्थात् स्तुतिपात्र होनेमें समग्र निमित्त अर्हत् भगवंत ही हैं।

(२) आइगराणं...इत्यादि तीन पदोंसे स्तोतव्य संपदा की ही प्रधान रूपसे साधारण-असाधारण हेतु संपदा कही गई। कारण यह है कि अन्य जीवोंसे समान ऐसी धर्मकरणशीलतासे संपन्न होकर असाधारण ऐसी तीर्थकरता एवं स्वयं संबोधरूप हेतुसम्पदासे युक्त होनेसे ही भगवान ऐसे स्तोतव्य होते हैं।

(३) बादमें, पुरिसुत्तमाणं...इत्यादि अन्य चार पदोंसे स्तोतव्य संपदा की ही असाधारण स्वरूपवाली हेतुसंपदा कही है। चूं कि जो पुरुषोत्तम है उसीमें सिंह-पुण्डरीक-गन्धहस्तीके धर्म घट सकते हैं, और इसी वजहसे स्तोतव्य संपदा याने अर्हत्-परमात्मभाव हो सकता है।

(४) इसके पीछे, 'लोगुत्तमाणं '·· इत्यादि पांच पदोंसे स्तोतव्य संपदाके ही क्या क्या सामान्य उपयोग हैं इनकी संपदा कही गई। इसका कारण यह है कि अर्हद् भगवंतमें जो लोकोत्तमता-लोकनाथता-लोकहितकारिता लोकदीपकता-एवं लोकप्रद्योतकता हैं ये दूसरों के हितार्थ हैं; अर्थात् ये अर्हत् प्रभुके सामान्य उपयोग हैं।

(५) अभयदयाणं···इत्यादि पांच पदोंसे इसी उपयोग संपदाकी कारण-सम्पदा कही गई, क्यों कि अभयदान-चक्षुदान-मार्गदान-शरणदान बोधिदान से ही परोपकार अर्थात् उपयोग सिद्ध होता है।

(६) बादमें 'धम्मदयाणं'... इत्यादि पांच पदोंसे स्तोतव्य संपदाकी ही विशेषोपयोग संपदा कही गई, क्यों कि धर्मदातृत्व, धर्मदेशकता, धर्मनायकता, धर्मसारथिपन एवं धर्मवरचतुरन्तचक्रवर्तित्व द्वारा स्तोतव्य श्री अर्हन् प्रभुका विशेष उपयोग सूचित किया है।

(७) इनके पश्चात् 'अप्पडिहयवरनाण...' इत्यादि पदोंसे मूल निमित्तभूत स्तोतव्य संपदामें से फलित होनेवाली स्वरूप संपदा कही गई, क्यों कि श्री अर्हत् परमात्मा अप्रतिहत ऐसे श्रेष्ठ ज्ञान एवं दर्शनके धारक होते हैं, तथा छद्मसे मुक्त होते हैं।

(८) इसके पीछे 'जिणाणं-जावयाणं ..' इत्यादि चार पदोंसे आत्मतुल्यपरफलकर्तृत्व अर्थात् स्वयंप्राप्त फलके समान फल दूसरोंको भी कराते हैं यह सूचित करनेवाली संपदा कही गई है, क्यों कि जिन-जापकादि चार इस प्रकारके गुण हैं।

(९) आगेके 'सव्वन्नूणं···' इत्यादि तीन पदोंसे प्रधानगुणाऽपरिक्षय-प्रधानफलप्राप्ति-अभय-संपदा कही गई, क्यों कि सर्वज्ञता-सर्वदर्शिता स्वरूप दो प्रधान गुण अब कभी नाश नहीं होते हैं। इसके

(८०) इह च द्वात्रिंशदालापकाः, त्रयस्त्रिंशदित्यन्ये ' तिविहेण वंदामि'मित्यनेन सह। (१) इह चाद्यालापकद्वयेन स्तोतव्यसम्पदुक्ता, यतोऽर्हतामेव भगवतां स्तोतव्ये समग्रं निबन्धनम्। (२) तदन्यैस्तु त्रिभिः स्तोतव्यसम्पद एव प्रधाना साधारणाऽसाधारणरूपा हेतुसम्पत्, यत आदिकरणशीला एव तीर्थकरत्वेन स्वयंसम्बोधतश्चैते भवन्ति। (३) तदपरैस्तु चतुर्भिः स्तोतव्यसम्पद एवासाधारणरूपा हेतुसम्पत्, पुरुषोत्तमानामेव सिंह-पुण्डरीक-गंधहस्ति-धर्म्मभाक्त्वेन तद्भावोपपत्तेः। (४) तदन्यैस्तु पञ्चभिः स्तोतव्यसम्पद एव सामान्येनोपयोग-सम्पत्, लोकोत्तमत्व-लोकनाथत्व-लोकहितत्व-लोकप्रदीपत्व-लोकप्रद्योतकरत्वानां परार्थत्वात्। (५) तदपरैस्तु पञ्चभिरस्या एवोपयोगसम्पदो हेतुसम्पत्, अभयदान-चक्षुर्दान-मार्गदान-शरणदान-बोधि-दानैः परार्थसिद्धिः। (६) तदन्यैस्तु पञ्चभिः स्तोतव्यसम्पद एव विशेषेणोपयोगसम्पत्, धर्म्मदत्व-धर्म्मदेशकत्व-धर्म्मनायकत्व-धर्म्मसारथित्व-धर्म्मवरचतुरन्तचक्रवर्त्तित्वेभ्यस्ताद्विशेषोपयोगात्। (७) तदन्यद्वयेन तु स्तोतव्यसम्पद एव सकारणा स्वरूपसम्पत्, अप्रतिहतवरज्ञानदर्शनधरा व्यावृत्तच्छद्मानश्चार्हन्तो भगवन्त इतिहेतोः। (८) तदपरैश्चतुर्भिरात्मतुल्यपरफलकर्तृत्वसम्पत्, जिनजापकत्व-तीर्णतारकत्व-बुद्धबोधकत्व-मुक्तमोचकत्वानामेवंप्रकारत्वात्। (९) तदन्यैस्तु त्रिभिः प्रधानगुणा-परिक्षय-प्रधानफलाप्ति-अभयसम्पदुक्ता, सर्वज्ञसर्वदर्शिनामेव शिव-अचलादिस्थानसंम्प्राप्तौ जितभयत्वोपपत्तेः।

(पं०—) ' साधारणाऽसाधारणरूपे 'ति=सर्वजीवैः साधारणमादिकरत्व, मोक्षापेक्षया ' आदौ '— भवे, सर्वजीवानां जन्मादिकरणशीलत्वात्। तीर्थकरत्वस्वयसम्बोधौ असाधारणौ अर्हतामेव भवतः। ' एते ' इति= अर्हन्तो भगवन्तः।

प्रधानगुणापरिक्षय-प्रधानफलावाप्ति-अभयसम्पदुक्तेति, प्रधानगुणयोः=सर्वज्ञत्व--सर्वदर्शित्वयोः, अपरिक्षयेण=अव्यावृत्या, प्रधानस्य=शिवाचलादिस्थानस्य, अवाप्तौ=लाभे, अभयसम्पद्= जितभयत्वरूपा उक्तेति।

प्रणिपातदण्डक सूत्र

नमस्कार हो अरहंत भगवंतको, जो आदिकर है, तीर्थंकर हैं, एवं स्वयं संबुद्ध हैं; जो पुरुषोत्तम हैं, पुरुषसिंह हैं, पुरुषोंमें श्रेष्ठ पुण्डरीक हैं और पुरुषोंमें श्रेष्ठ गन्धहस्ति हैं; जो लोकोत्तम हैं, लोकनाथ हैं, लोगोंके लिये कल्याणस्वरूप हैं, लोकप्रदीप हैं और लोगोंके प्रद्योतकारी हैं; जो अभयदाता हैं, चक्षुदाता हैं, मार्गदाता हैं, शरणदाता हैं, बोधिदाता हैं; जो धर्मदाता हैं, धर्मोपदेशक हैं, धर्मनायक हैं, धर्मसारथि हैं, एवं धर्मके चातुरन्त चक्रवर्ती हैं; जो अप्रतिहत ज्ञान और दर्शनके धारक हैं, छद्मस्थभाव (आवरण) से मुक्त हैं; जो स्वयं जिन (रागद्वेषादिके) विजेता हैं, दूसरोंके जिन बनानेवाले हैं; जो अज्ञानसे तर गये

हैं, और अन्योंके तारक हैं; जो बुद्ध हुए हैं, और दूसरोंके बोधक हैं; जो कर्मबन्धनोंसे मुक्त हैं और दूसरोंको मुक्त करानेवाले हैं; जो सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी हैं तथा जो निरुपद्रव-अचल-नीरोग-अनंत-अक्षय-व्याबाधारहित-अपुनरावृत्ति ऐसी सिद्धिगति नामके स्थानको प्राप्त हैं, जो भयके विजेता हैं-ऐसे जिनेन्द्रदेवको मैं नमस्कार करता हूँ। यहाँ ३२ आलापक (पद) हैं, कोई कहते है कि 'विअट्टछउमाणं' पदके साथ ३३ आलापक हैं। इनमें नव संपदा यानी मुख्य बाते कही गई हैं।

नौ सम्पदाएँ

(१) अरिहंताणं, भगवंताणं–इन आद्य दो पदोंसे स्तोतव्य–संपदा कही गई; क्यों कि स्तातव्य अर्थात् स्तुतिपात्र होनेमें समग्र निमित्त अर्हत् भगवंत ही हैं।

(२) आइगराणं...इत्यादि तीन पदोंसे स्तोतव्य संपदा की ही प्रधान रूपसे साधारण-असाधारण हेतु संपदा कही गई। कारण यह है कि अन्य जीवोंसे समान ऐसी धम्मकरणशीलतासे संपन्न होकर असाधारण ऐसी तीर्थंकरता एवं स्वयं संबोधरूप हेतुसम्पदासे युक्त होनेसे ही भगवान ऐसे स्तोतव्य होते हैं।

(३) बादमें, पुरिसुत्तमाणं...इत्यादि अन्य चार पदोंसे स्तोतव्य संपदा की ही असाधारण स्वरूपवाली हेतुसंपदा कही है। चूं कि जो पुरुषोत्तम है उसीमें सिंह-पुण्डरीक-गन्धहस्तीके धर्म घट सकते हैं, और इसी वजहसे स्तोतव्य संपदा याने अर्हत्-परमात्ममाय हो सकता है।

(४) इसके पीछे, 'लोगुत्तमानां'·· इत्यादि पांच पदोंसे स्तोतव्य संपदाके ही क्या क्या सामान्य उपयोग हैं इनकी संपदा कही गई। इसका कारण यह है कि अर्हद् भगवंतमें जो लोकोत्तमता-लोकनाथता-लोकहितकारिता लोकदीपकता-एवं लोकप्रद्योतकता हैं ये दूसरों के हितार्थ हैं; अर्थात् ये अर्हत् प्रभुके सामान्य उपयोग हैं।

(५) अभयदयाणं·· इत्यादि पांच पदोंसे इसी उपयोग संपदाकी कारण-सम्पदा कही गई, क्यों कि अभयदान-चक्षुदान-मार्गदान-शरणदान-बोधिदान से ही परोपकार अर्थात् उपयोग सिद्ध होता है।

(६) बादमें 'धम्मदयाणं'... इत्यादि पांच पदोंसे स्तोतव्य संपदाकी ही विशेषोपयोग संपदा कही गई, क्यों कि धर्मदातृत्व, धर्मदेशकता, धर्मनायकता, धर्मसारथिपन एवं धर्मवरचतुरन्तचक्रवर्तित्व द्वारा स्तोतव्य श्री अर्हत् प्रभुका विशेष उपयोग सूचित किया है।

(७) इनके पश्चात् अप्पडिहयवरनाण... ' इत्यादि पदोंसे मूल निमित्तभूत स्तोतव्य संपदामें से फलित होनेवाली स्वरूप संपदा कही गई, क्यो कि श्री अर्हत् परमात्मा अप्रतिहत ऐसे श्रेष्ठ ज्ञान एवं दर्शनके धारक होते हैं, तथा छद्मसे मुक्त होते हैं।

(८) इसके पीछे 'जिणाणं-जावयाणं...' इत्यादि चार पदोंसे आत्मतुल्यपरफलकर्तृत्व अर्थात् स्वयंप्राप्त फलके समान फल दूसरोंको भी कराते हैं यह सूचित करनेवाली संपदा कही गई है, क्यों कि जिन-जापकादि चार इस प्रकारके गुण हैं।

(९) आगेके 'सव्वन्नूणं···' इत्यादि तीन पदोंसे प्रधानगुणाऽपरिक्षय-प्रधानफलप्राप्ति-अभय–संपदा कही गई, क्यों कि सर्वज्ञता-सर्वदर्शिता स्वरूप दो प्रधान गुण अब कभी नाश नहीं होते हैं। इसके

(ल०) इह च द्वात्रिंशदालापकाः, त्रयस्त्रिंशदित्यन्ये ' वियट्टच्छउमाण'मित्यनेन सह। (१) इह चाद्यालापकद्वयेन स्तोतव्यसम्पदुक्ता, यतोऽर्हतामेव भगवतां स्तोतव्ये समग्रं निबन्धनम्। (२) तदन्यैस्तु त्रिभिः स्तोतव्यसम्पद एव प्रधाना साधारणाऽसाधारणरूपा हेतुसम्पत्, यत आदिकरणशीला एव तीर्थकरत्वेन स्वयंसम्बोधतश्चैते भवन्ति। (३) तदपरैस्तु चतुर्भिः स्तोतव्यसम्पद एवासाधारणरूपा हेतुसम्पत्, पुरुषोत्तमानामेव सिंह-पुण्डरीक-गंधहस्ति-धर्म्मभाक्त्वेन तद्भावोपपत्तेः। (४) तदन्यैस्तु पञ्चभिः स्तोतव्यसम्पद एव सामान्येनोपयोग-सम्पत्, लोकोत्तमत्व-लोकनाथत्व-लोकहितत्व-लोकप्रदीपत्व-लोकप्रद्योतकरत्वानां परार्थत्वात्। (५) तदपरैस्तु पञ्चभिरस्या एवोपयोगसम्पदो हेतुसम्पत्, अभयदान-चक्षुर्दान-मार्गदान-शरणदान-बोधि-दानैः परार्थसिद्धिः। (६) तदन्यैस्तु पञ्चभिः स्तोतव्यसम्पद एव विशेषेणोपयोगसम्पत्, धर्म्मदत्व-धर्म्मदेशकत्व-धर्म्मनायकत्व-धर्म्मसारथित्व-धर्म्मवरचतुरन्तचक्रवर्त्तित्वेभ्यस्ताद्विशेषोपयोगात्। (७) तदन्यद्वयेन तु स्तोतव्यसम्पद एव सकारणा स्वरूपसम्पत्, अप्रतिहतवरज्ञानदर्शनधरा व्यावृत्तच्छद्मानश्चार्हन्तो भगवन्त इतिहेतोः। (८) तदपरैश्चतुर्भिरात्मतुल्यपरफलकर्तृत्वसम्पत्, जिनजापकत्व-तीर्णतारकत्व-बुद्धबोधकत्व-मुक्तमोचकत्वानामेवंप्रकारत्वात्। (९) तदन्यैस्तु त्रिभिः प्रधानगुणा-परिक्षय-प्रधानफलाप्ति-अभयसम्पदुक्ता, सर्वज्ञसर्वदर्शिनामेव शिव-अचलादिस्थानसम्प्राप्तौ जितभयत्वोपपत्तेः।

(पं० –) ' साधारणाऽसाधारणरूपे 'ति=सर्वजीवैः साधारणमादिकरत्व, मोक्षापेक्षया ' आदौ '– भवे, सर्वजीवानां जन्मादिकरणशीलत्वात्। तीर्थकरत्वस्वयसम्बोधौ असाधारणौ अर्हतामेव भवतः। ' एते ' इति= अर्हन्तो भगवन्तः।

प्रधानगुणापरिक्षय-प्रधानफलावाप्ति-अभयसम्पदुक्तेति, प्रधानगुणयोः=सर्वज्ञत्व–सर्वदर्शित्वयोः, अपरिक्षयेण=अव्यावृत्या, प्रधानस्य=शिवाचलादिस्थानस्य, अवाप्तौ=लाभे, अभयसम्पत्= जितभयस्वरूपा उक्तेति।

प्रणिपातदण्डक सूत्र

नमस्कार हो अरहंत भगवंतको, जो आदिकर हैं, तीर्थंकर हैं, एवं स्वयं संबुद्ध हैं; जो पुरुषोत्तम हैं, पुरुषसिंह हैं, पुरुषोंमें श्रेष्ठ पुण्डरीक हैं और पुरुषोंमें श्रेष्ठ गन्धहस्ति हैं; जो लोकोत्तम हैं, लोकनाथ हैं, लोगोंके लिये कल्याणस्वरूप हैं, लोकप्रदीप हैं और लोगोंके प्रद्योतकारी हैं; जो अभयदाता हैं, चक्षुदाता हैं, मार्गदाता हैं, शरणदाता हैं, बोधिदाता हैं, जो धर्मदाता हैं, धर्मोपदेशक हैं, धर्मनायक हैं, धर्मसारथि हैं, एवं धर्मके चातुरन्त चक्रवर्ती हैं; जो अप्रतिहत ज्ञान और दर्शनके धारक हैं, छद्मस्थभाव (आवरण) से मुक्त हैं; जो स्वयं जिन (रागद्वेषादिके) विजेता हैं, दूसरोंके जिन बनानेवाले हैं; जो अज्ञानसे तर गये

हैं; और अन्योंके तारक हैं; जो बुद्ध हुए हैं, और दूसरोंके बोधक हैं; जो कर्मबन्धनेसे मुक्त हैं और दूसरोंको मुक्त करानेवाले हैं; जो सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी हैं तथा जो निरुपद्रव-अचल-नीरोग-अनंत-अक्षय-व्याबाधारहित-अपुनरावृत्ति ऐसी सिद्धिगति नामके स्थानको प्राप्त हैं, जो भयके विजेता हैं-ऐसे जिनेन्द्रदेवको मैं नमस्कार करता हूँ। यहाँ ३२ आलापक (पद) हैं, कोई कहते हैं कि ' विअट्टछउमाणं ' पदके साथ ३३ आलापक हैं। इनमें नव संपदा यानी मुख्य बातें कही गई हैं।

नौ सम्पदाएँ

(१) अरिहंताणं, भगवंताणं-इन आद्य दो पदोंसे स्तोतव्य-संपदा कही गई; क्यों कि स्तोतव्य अर्थात् स्तुतिपात्र होनेमें समग्र निमित्त अर्हत् भगवंत ही हैं।

(२) आइगराणं...इत्यादि तीन पदोंसे स्तोतव्य संपदा की ही प्रधान रूपसे साधारण-असाधारण हेतु संपदा कही गई। कारण यह है कि अन्य जीवोंसे समान ऐसी धर्मकरणशीलतासे संपन्न होकर असाधारण ऐसी तीर्थकरता एवं स्वयं संबोधरूप हेतुसम्पदासे युक्त होनेसे ही भगवान ऐसे स्तोतव्य होते हैं।

(३) बादमें, पुरिसुत्तमाणं...इत्यादि अन्य चार पदोंसे स्तोतव्य संपदा की ही असाधारण स्वरूपवाली हेतुसंपदा कही है। चूं कि जो पुरुषोत्तम है उसीमें सिंह-पुण्डरीक-गन्धहस्तीके धर्म घट सकते हैं, और इसी वजहसे स्तोतव्य संपदा याने अर्हत्-परमात्मभाव हो सकता है।

(४) इसके पीछे, ' लोगुत्तमाणं '.. इत्यादि पांच पदोंसे स्तोतव्य संपदाके ही क्या क्या सामान्य उपयोग हैं इनकी संपदा कही गई। इसका कारण यह है कि अर्हद् भगवंतमें जो लोकोत्तमता-लोकनाथता-लोकहितकारिता लोकदीपकता-एवं लोकप्रद्योतकता हैं वे दूसरों के हितार्थ हैं; अर्थात् ये अर्हत् प्रभुके सामान्य उपयोग हैं।

(५) अभयदयाणं...इत्यादि पांच पदोंसे इसी उपयोग संपदाकी कारण-सम्पदा कही गई, क्यों कि अभयदान-चक्षुदान-मार्गदान शरणदान-बोधिदान से ही परोपकार अर्थात् उपयोग सिद्ध होता है।

(६) बादमें ' धम्मदयाणं '... इत्यादि पांच पदोंसे स्तोतव्य संपदाकी ही विशेषोपयोग संपदा कही गई, क्यों कि धर्मदातृत्व, धर्मदेशकता, धर्मनायकता, धर्मसारथिपन एवं धर्मवरचतुरन्तचक्रवर्तित्व द्वारा स्तोतव्य श्री अर्हन् प्रभुका विशेष उपयोग सूचित किया है।

(७) इनके पश्चात् ' अप्पडिहयवरनाण... ' इत्यादि पदोंसे मूल निमित्तभूत स्तोतव्य संपदामें से फलित होनेवाली स्वरूप संपदा कही गई, क्यो कि श्री अर्हत् परमात्मा अप्रतिहत ऐसे श्रेष्ठ ज्ञान एवं दर्शनके धारक होते हैं, तथा छद्मसे मुक्त होते हैं।

(८) इसके पीछे 'जिणाणं-जावयाणं ..' इत्यादि चार पदोंसे आत्मतुल्यपरफलकर्तृत्व अर्थात् स्वयंप्राप्त फलके समान फल दूसरोंको भी कराते हैं यह सूचित करनेवाली संपदा कही गई है, क्यों कि जिन-जापकादि चार इस प्रकारके गुण हैं।

(९) आगेके ' सव्वन्नूणं...' इत्यादि तीन पदोंसे प्रधानगुणाऽपरिक्षय-प्रधानफलप्राप्ति-अभय-संपदा कही गई, क्यों कि सर्वज्ञता-सर्वदर्शिता स्वरूप दो प्रधान गुण अब कभी नाश नहीं होते हैं। इसके

(ललित०–) इयं च चित्रा सम्पदनन्तधर्मात्मके वस्तुनि मुख्ये मुख्यवृत्त्या । स्तवप्रवृत्तिश्चैवं प्रेक्षापूर्वकारिणामितिसंदर्शनार्थमेवमुपन्यासोऽस्य सूत्रस्य, स्तोतव्यनिमित्तोपलब्धौ तन्निमित्ताद्यन्वेषणयोगात् । इति प्रस्तावना ।

(पं० –) ननु चैकस्वभावाधीनत्वाद् वस्तुनः कथमनेकस्वभावाक्षेपिका स्तोतव्यसम्पदादिका चित्रा सम्पदेकत्र ? यदि परमुपचारवृत्त्या स्यादित्याशङ्क्याह' इयं च चित्रा ' इत्यादि । ' स्तोतव्यनिमित्तोपलब्धौ ' इति, 'स्तोतव्याः' =स्तवार्हाः अर्हन्तः, ते एव निमित्तं=कर्मकारकहेतुः स्तवक्रियायाः, तस्य उपलब्धौ= ज्ञाने । ' तन्निमित्ताद्यन्वेषणयोगाद् ' इति,—तस्य=स्तोतव्यरूपस्य, निमित्तस्य = अर्हल्लक्षणस्य निमित्तं आदिकरत्वादि आदिशब्दादुपयोगादिसंग्रहः तस्य, अन्वेषणघटनादिति ।

फल-स्वरूप निरुपद्रव एवं अचल आदि गुणसंपन्न स्थान प्रधान फल रूपमें प्राप्त होता है । इससे जितभय स्वरूप संपदा होती है । यहां प्रश्न होता है कि-(संपदाओंमें अनेकान्त वादः—)

प्र०– आपने विविध सम्पदाएँ बतलाई यह तो ठीक, लेकिन जब वस्तु एक ही स्वभावके अधीन है, तब स्तोतव्यसम्पदादि विविध सम्पदाएँ क्यों कही गईं ? इनसे तो एक वस्तुमे अनेक स्वभावोंका ही अनुमान होता है ? अथवा क्या यह मुख्यवृत्तिसे नहीं, किन्तु उपचारवृत्तिसे कहा गया है ?

उ०– नहीं, मुख्यवृत्तिसे ही विविध सम्पदाओंका प्रतिपादन किया गया है, क्यों कि एक ही वस्तुमें भी अनेक स्वभाव मुख्य वृत्तिसे ही समाविष्ट होते हैं । सर्वज्ञ वचन है कि जगतमें वस्तुमात्र अनन्तधर्मात्मक होती है । एक ही समयमें द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावादि रूपसे वस्तुमें एक साथ ही अनन्त स्वपर्याय-परपर्यायके अस्तित्वके कारण अनन्तधर्मात्मकता वस्तुरूपसे सिद्ध है, औपचारिक रूपसे नहीं। हम देखते हैं कि जिस समय घडा मिट्टीका बना हुआ है, उसी समय वह अमुक स्थानमें स्थित भी है, और अमुक कालसे संबद्ध भी है, इसी प्रकार उसी समयमें वह श्याम, मोटा, सुन्दर, जलपूर्ण इत्यादि धर्मोंसे युक्त भी है । ठीक इसी प्रकार स्तुतिपात्र अर्हत् परमात्मामें भी अनेक विविध सम्पदा रूप धर्म अबाधित है । इसी तरह, तत्वदर्शी विचारक पुरुषोंकी अर्हत्-स्तवनमें प्रवृत्ति होती है-यह दिखलानेके लिए ही इसी सूत्रका ऐसा उपन्यास किया गया है ।

प्र०– इस प्रकारसे ही अर्हत्-स्तवन करनेका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर– तात्पर्य यह है कि इस 'नमोऽत्थुणं' इत्यादि प्रणिपातदंडक-सूत्रमें प्रभुके हेतु-उपयोगादि जिन विशिष्ट धर्मोंका कथन किया है वे संकलनाबद्ध हैं; और प्रेक्षावान पुरुष ऐसी संकलनाके ढंगसे ही स्तुति करते हैं । इसका कारण यह है कि ' श्री अर्हत् परमात्मा स्तोतव्य हैं अर्थात् स्तुतिरूप क्रियाके विषय हैं । व्याकरणशास्त्र जिसको कर्ता-कर्म-करण इत्यादि कारकोंमें से कर्मकारक (इप्सिततम) कहता है, ऐसे स्तुतिक्रियाके कर्म कारक हैं अर्हत्प्रभु,' —इस प्रकार ज्ञात होने पर अर्हत्परमात्मामें आदिकरत्व आदि जिन जिन गुणोंका उल्लेख किया है, ' उनका क्या कारण है ? ' ' उनका क्या क्या उपयोग है ?'...इत्यादि सबका अन्वेषण करना उचित एवं युक्तियुक्त है । ऐसा अन्वेषण करनेपर प्रणिपातसूत्रोक्त संपदाओंकी यही संकलना स्तुति उपयोगी है–ऐसा ज्ञात होगा ।—यह हुई प्रस्तावना ।

व्याख्या - ६ लक्षण–७ अङ्ग

(ललित०) अथास्य व्याख्या । तल्लक्षणं च संहितादि, यथोक्तम्–

संहिता च पदं चैव, पदार्थः पदविग्रहः । चालना प्रत्यवस्थानं, व्याख्या तन्त्रस्य षड्विधा ॥ इति ।

एतदङ्गानि तु जिज्ञासा, गुरुयोगो, विधि इत्यादीनि । अत्राप्युक्तम्–

जिज्ञासा गुरुयोगो, विधिपरता बोधपरिणतिः स्थैर्यम् ।

उक्तक्रियाऽल्पभवता, व्याख्याङ्गानीति समयविदः ॥

(१) तत्र 'नमोऽस्त्वर्हद्भ्य' इति संहिता । (२) पदानि तु 'नमः' 'अस्तु,' 'अर्हद्भ्यः' । (३) पदार्थस्तु 'नमः' इति पूजार्थ, पूजा च द्रव्यभावसङ्कोचः । तत्र करशिरःपादादिसंन्यासो द्रव्यसङ्कोचः, भावसङ्कोचस्तु विशुद्धस्य मनसो नियोग इति । 'अस्तु' इति भवतु; प्रार्थनार्थोऽस्येति । 'णं' इति वाक्यालङ्कारे; प्राकृतशैल्या इति चेहोपन्यस्तः । 'अर्हद्भ्यः' इति देवादिभ्योऽतिशयपूजामर्हन्तीति अर्हन्तस्तेभ्यो; नमःशब्दयोगाच्चतुर्थी । (४) पदविग्रहस्तु यानि समासभाञ्जि पदानि तेषामेव भवतीति नेहोच्यते ।

(पं०)— प्राकृतशैल्येति चेहोपन्यस्तः=प्राकृतस्यस्वाभाव्येन, इति=एवं वाक्यालङ्कारतया, 'चः' पुनरर्थो (थे), इह=सूत्रे, उपन्यस्तः, संस्कृते वाक्यालङ्कारतयाऽस्य प्रयोगादर्शनात् । प्राकृतशैल्येहोपन्यस्त इति पाठान्तरं, व्यक्तं च ।

व्याख्याके ६ लक्षण

अब सूत्रकी व्याख्या की जाती है । व्याख्याके 'संहिता' आदि छः लक्षण होते हैं । कहा है कि, १ संहिता, २ पद, ३ पदार्थ ४ पदविग्रह, ५ चालना, ६ प्रत्यवस्थान, क्रमशः इन छः प्रकारोंसे शास्त्रकी व्याख्या होती है ।– व्याख्याके अंग सात हैं –

१ जिज्ञासा, २ गुरुयोग, ३ विधितत्परता, ४ बोधपरिणति, ५ स्थैर्य, ६ उक्तक्रिया, ७ अल्पभवता;–ऐसे शास्त्रज्ञ लोग कहते हैं । अर्थात् सूत्रकी व्याख्या करनी हो तो,

(१) पहले संहिता करनी चाहिए । सूत्रके शुद्ध स्पष्ट उच्चारणको संहिता कहते हैं । जैसे कि– 'नमोऽस्त्वर्हद्भ्यः' (नमोत्थु णं अरहंताणं) ।

(२) बादमें इसके अलग-अलग पद दिखलाना आवश्यक है; जैसे कि 'नमः, अस्तु, अर्हद्भ्यः' ।

पूजा क्या है ?

(३) तदनन्तर पदोंके अर्थ कहने चाहिए । दृष्टान्तके लिए 'नमः' यह पद पूजाके अर्थमें है । पूजा क्या है ? द्रव्यभावसङ्कोच यह पूजा है । हाथ-सिर-पैर-दृष्टि-वाणी इत्यादिके सम्यक् नियमनको द्रव्य संकोच कहते हैं । (अर्थात् नमस्कार करते समय अपने हाथोंको अंजलिबद्ध करना, अंजलिसहित सिरको कुछ नमाना, पैरोंके वामजानू भूमिसे कुछ ऊंचा रखना और दाहिना जानू भूमिपर स्थापित करना, दृष्टि जिनबिंबपर स्थिर रखना; वाणीको सूत्रोच्चारणमें ठीक शुद्धिसे योजित करना; इत्यादि सब द्रव्य संकोच है ।

(ल०)—(५) चालना तु अधिकृतानुपपत्तिचोदना । यथा, 'अस्तु'इति प्रार्थना न युज्यते तन्मात्रादिष्टासिद्धेः । (६) प्रत्यवस्थानं तु नीतितस्तन्निरासः, यथा युज्यते एव, इत्थमेवेष्टसिद्धेरिति । पदयोजनामात्रमेतद्, भावार्थं तु वक्ष्यामः ।

व्याख्याङ्गानि तु जिज्ञासादीनि, तद्व्यतिरेकेण तदप्रवृत्तेः। तत्र धर्मं प्रति मूलभूता वन्दना।

(१) जिज्ञासा—' अथ कोऽस्यार्थः' इति ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा । न सम्यग्ज्ञानाद् ऋते सम्यक्क्रिया, ' पढमं नाणं तओ दया ' इति वचनात् । विशिष्टक्षय-क्षयोपशमनिमित्तेयं नासम्यग्दृष्टेर्भवतीति तन्त्रविदः ॥

विशुद्ध मनको क्रियामें स्थापित करना उसे भाव संकोच कहते हैं। जैसे कि, पौद्गलिक फलकी कामना रखे विना चैत्यवन्दनके सूत्र, अर्थ और परमात्मामें चित्तको स्थापित करना । यह 'नमः' पदका अर्थ हुआ।

' अस्तु ' पदका अर्थ है ' हो '। इसका अर्थ ' प्रार्थना ' होता है । अर्थात् 'नमोऽस्तु- नमःअस्तु' पदसे नमस्कारकी प्रार्थना की गई है। ' णं ' पदका अर्थ कुछ नहीं, सिर्फ प्राकृत भाषाके ग्रन्थकी शैलीसे वाक्यालंकार रूपमें ही इस सूत्रमें इसका उपयोग किया गया है । संस्कृतभाषामें उसका प्रयोग नहीं दिखाता है।

' अरहंत ' का अर्थ :—

' अर्हद्भ्यः (अरहंताणं)' इस पदका अर्थ है अर्हत् (अरहंत) देवको। अर्हत् परमात्मा वे ही हैं जो अनंतज्ञानस्वरूप ज्ञानातिशय, वीतरागतादिरूप अपायापगमातिशय, वचनातिशय, इन्द्रादिसे पूज्यतारूप पूजातिशय इत्यादि चौंत्तीस अतिशयोंकी पूजाके योग्य हैं। अर्हत् परमात्माका देह प्रस्वेद–रोगादिसे रहित होता है; सांस कमलके समान सुगंधित होती है; रक्त गौ के दूधकी भांति सफेद होता है; चलते समय पैर रखनेके लिए देवता नौ मृदु सुवर्ण कमल मार्गपर योजित करते हैं। वे निरंतर सिंहासन-चामरादि प्रातिहार्य स्वरूप विभूतिसे युक्त होते हैं, सर्व जीवोंसे सुग्राह्य एवं सर्व संशयभेदक तथा भाषालंकारसहित, इत्यादि पैंतीस विशिष्ट गुणसंपन्न वाणीसे प्रवचन करते हैं...ऐसी ३४विशेषताओंको अतिशय कहा जाता है। ये पदोंके अर्थ हुए।

(४) पदविग्रह उन्हीं पदोंका होता है जो समासके घटक होते हैं। अतः यहाँ समास न होनेके कारण पदविग्रहका अवसर नहीं है।

(५) चालना नामके पांचवे व्याख्यालक्षणका अर्थ है, प्रस्तुत विषयकी असंगतताकी संभावना करना। जैसे कि, यहाँ ' नमस्कार हो ' इस कथनसे ' हो ' पदद्वारा प्रार्थना की गई; किन्तु वह युक्तियुक्त नहीं है, क्यों कि प्रार्थना मात्रसे इष्ट वस्तुकी सिद्धि नहीं हो सकती। (नमस्कारकी प्रार्थना करने मात्रसे नमस्कार प्राप्त नहीं हो सकता। यह हुई प्रस्तुत नमस्कार प्रार्थनाकी असंगतता।)

(६) अब प्रत्यवस्थान है, युक्तिपूर्वक उस असङ्गतिका निवारण करना; जैसे कि, प्रार्थना युक्तियुक्त ही है क्योंकि प्रार्थनासे ही इष्ट नमस्कारकी सिद्धि होती है। इस युक्तिकी चर्चाका यहाँ अवसर नहीं है। आगे कहेंगे कि किसी भी धर्मकी सिद्धि करनेके लिए उस धर्मके बीज अंकुर आदिके रूपमें उसकी विशुद्ध प्रशंसा, अभिलाषा वगैरह कारणभूत है। प्रार्थनामें इस अभिलाष आदिकी ठीक सिद्धि होती है; अतः कहा गया कि प्रार्थनासे ही इष्ट सिद्धि होती है।

यह तो पदोंकी योजना मात्र दिखलाई गई है। उनके भावार्थ आगे कहेंगे।

(ल०)—तथा (७. गुरुयोगः) गुरुणा यथार्थाभिधानेन स्वपरतन्त्रविदा परहित-निरतेन पराशयवेदिना सम्यक्सम्बन्धः; एतद्विपर्ययाद्विपर्ययसिद्धेः, तद्व्याख्यानमपि अव्याख्यान-मेव । अभक्ष्यास्पर्शनीयन्यायेनाऽनर्थफलमेतादितिपरिभावनीयमिति ।

(पं०)—'एतद्विपर्ययेत्यादि', ईदृशगुणविपरीताद् गुरोः 'विपर्ययसिद्धेः' = अव्याख्यान-सिद्धेः, एतद्भावनार्थमाह 'तद्व्याख्यानम्'....इत्यादि 'अभक्ष्यास्पर्शनीयन्यायेने' ति = भक्ष्यमपि गोमांसादि कुत्सितत्वादभक्ष्यं, तथा स्पर्शनीयमपि चाण्डालादि कस्यचित् कुत्सितत्वादस्पर्शनीयं,त एव 'न्यायो' = दृष्टा-न्तः, तेन ।

व्याख्याके ७ अङ्गोंका स्वरूप

किसी भी सूत्रकी व्याख्या सिद्ध करनेमें जिज्ञासाआदि सात अङ्ग आवश्यक हैं; क्योंकि उनके बिना व्याख्याकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती । और व्याख्याकी प्रवृत्तिमें भी पहले गुरुको वन्दन करना आवश्यक है । कारण यह है कि व्याख्या प्राप्त करना यह एक प्रकारका धर्म है और धर्मके प्रति मूलभूत वन्दना है । ('विणयमूलो धम्मो' इस शास्त्रउक्तिके अनुसार धर्मवृक्षका मूल है विनय; अतः वन्दनादि-विनय किये बिना कोई भी धर्म किस आधार पर अस्तित्व पा सके ?)

व्याख्याके ७ अङ्ग

१. जिज्ञासा

व्याख्या प्राप्त करनेके लिए प्रथम जिज्ञासा आवश्यक है । 'भला क्या अर्थ है इसका ?' यह जाननेकी इच्छाको जिज्ञासा कहते हैं । प्रस्तुतमें 'चैत्यवन्दन 'सूत्रकी व्याख्याके लिए 'चैत्यवन्दन' सूत्रके ज्ञानकी इच्छा अर्थात् जिज्ञासा होनी चाहिए । जिज्ञासासे ज्ञान प्राप्त करना इसीलिए आवश्यक है कि सम्यग्ज्ञानके बिना सम्यक्क्रिया नहीं हो सकती है, तब चैत्यवन्दनके ज्ञान न होने पर उसकी क्रिया कैसे की जा सके ? । शास्त्रमें कहा गया है कि 'पढमं नाणं तओ दया' पहले जीवोंका ज्ञान हो तब उनकी दया हो सकेगी । अतः यहाँ ज्ञान होना प्रथमावश्यक है; और ज्ञान संपादन करनेकी स्वतः इच्छा ही न हो तो ज्ञानार्थ व्याख्या कौन सुनायेगा या सुनेगा ? वास्ते, व्याख्या होनेमें जिज्ञासा आवश्यक मानी गई ।

चैत्यवन्दनकी जिज्ञासा, बाधकभूत मिथ्यात्वमोहनीयादि कर्मोंके क्षयोपशमसे हो सकती है । इसी वजहसे वह सम्यग्दृष्टि जीवोंको ही हो सकेगी, औरोंको अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीवोंको नहीं—ऐसा शास्त्रज्ञ पुरुष कहते हैं । कारण यह है कि चैत्यवन्दना श्री अर्हन् परमात्माके प्रति करनेकी है; तो चैत्यवन्दनकी सच्ची जिज्ञासा उन परमात्माके ऊपर अनन्य श्रद्धा-प्रीति धारण करनेवालोंको ही हो सकेगी, और ऐसी श्रद्धाप्रीति रखनेवाला ही सम्यग्दृष्टि कहा जाता है; एवं वह मिथ्यात्वादि कर्मोंके नाश होनेपर होती है । इसीलिए कहा गया है कि इस कर्मनाशके बल पर सम्यग्दृष्टिको ही यह जिज्ञासा होती है । चैत्य० क्रियाके लिए चैत्य०का ज्ञान व्याख्या द्वारा अभिलषित है ।

२. गुरुयोग

व्याख्याका दूसरा अङ्ग है गुरुयोग । सम्यग् गुरुके साथ सम्यक् सम्बन्ध होवे तब उसके पाससे व्याख्या प्राप्त हो सकेगी । सम्यग् गुरु वही है जो [१] गुरुका यथार्थ नाम धारण करता है, [२] स्वपरशास्त्रोंके वेत्ता है, [३] परोपकारमें-परकल्याणमें रक्त है, और [४] पराशयको समझनेवाला है ।

गुरुकी ४ विशेषता :—

१. 'गुरु' शब्दका अर्थ है, जो शास्त्रके सत्योंकी और तत्त्वकी सम्यग् गिरा बोले । यदि शास्त्रके अर्थोंका सच्चा कथन करनेवाला न हो तो उससे सम्यग् व्याख्या कैसे प्राप्त की जा सके ?

२. यथार्थ गुरु भी (१) स्वदर्शनके शास्त्रोंका ज्ञाता होना चाहिए; अन्यथा सूत्रकी व्याख्या करते समय सम्भव है इसमें प्रस्तुत कोई विषयका वर्णन अन्य शास्त्रमें मिलता हो और वह शास्त्र ज्ञात न हो, तो यहाँ उस विषयकी व्याख्यामें गरबडी कर बैठेगा । (२) एवं परदर्शनके शास्त्रोंका भी ज्ञान होना चाहिए; यह न होनेपर प्रस्तुत सूत्रकी व्याख्यामें पूर्वपक्षरूपसे आवश्यक परमतका व्याख्यान और उत्तरपक्षके रूपसे उसका ठीक खण्डन सम्यग् नहीं कर सकेगा ।

३. गुरु परोपकाररक्त होना जरूरी है । तभी वह अपना स्वार्थ और कष्ट भूलकर शिष्यको अच्छा व्याख्याज्ञान करानेमें उद्यत रहेगा । अन्यथा, शायद संकुचित व्याख्या करेगा, कहीं-कहीं यो ही मात्र शब्दार्थ कर चलेगा, शिष्य पर एकान्त हितबुद्धि न होनेके कारण शिष्यकी अल्पज्ञता पर क्रोधित हो उसे भग्नोत्साह कर देगा, या व्याख्या बन्द कर देगा ।

४. गुरु पराशय अर्थात् शिष्यका अभिप्राय समझनेकी शक्तिवाला होना चाहिए । अन्यथा ऐसा होगा कि व्याख्यामें शिष्य शङ्का या जिज्ञासा कुछ करेगा, पूछनेका अभिप्राय कुछ रखेगा, और गुरु इसका अभिप्राय न समझता हुआ उत्तर कोई दूसरा ही देगा ।

इससे यह स्पष्ट होता है कि गुरुमें ये चार गुण न होनेपर ऐसे गुरुके द्वारा व्याख्या अगर की जाएगी तो भी वह यथार्थ व्याख्यान ही नहीं होगा; अव्याख्यान कहलायेगा ।

प्र०— व्याख्यान किया हुआ भी अव्याख्यान कैसे ?

उ०— अभक्ष्य-अस्पर्शनीय न्यायसे ऐसा है । यह न्याय यानी दृष्टान्त ऐसा है—गोमांस वगैरे भक्ष्य नहीं अर्थात् खाया न जा सके ऐसा नहीं, किन्तु वह कुत्सित होनेसे अभक्ष्य कहलाता है । एवं चंडालका स्पर्श न किया जा सके ऐसा नहीं लेकिन किसीको गर्हणीय लगनेसे ही वह अस्पृश्य कहा जाता है । इसी प्रकार गुणहीन गुरुका व्याख्यान अनर्थकारी होनेसे अव्याख्यान माना जाता है । अतः गुणसंपन्न गुरुके साथ सम्यक् संबन्ध अर्थात् सुशिष्यभाव पूर्वक संबन्ध होना व्याख्यामें आवश्यक है ।

३. विधिपरता

व्याख्या प्राप्त करनेके लिए विधिमें तत्परता बताना यह तीसरा आवश्यक अङ्ग है विधि :- [१] व्याख्या प्राप्त करनेवालोंको मंडलिबद्ध बैठ जाना चाहिए । [२] गुरुका आसन स्थापित करके [३] बीचमें स्थापनाचार्य रखने चाहिए । [४] गुरुके अनुकूल द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी सेवामें प्रयत्नपूर्वक चिंता करनी चाहिए । इत्यादि विधिमें खूब प्रयत्न करना आवश्यक है । इस प्रकार [५] बैठनेमें छोटे बडेके क्रमका भी पालना करना

(ललित) ३. तथा विधिपरता = मण्डलिनिषद्याऽक्षादौ प्रयत्नः, ज्येष्ठानुक्रमपालनम्, उचितासनक्रिया, सर्वथा विक्षेपसंत्यागः, उपयोगप्रधानतेति श्रवणविधिः। हेतुरयं कल्याणपरम्परायाः। अतो हि नियमतः सम्यग्ज्ञानम्। न ह्युपाय उपेयव्यभिचारी, तद्भावानुपपत्तेरिति।

(पं०) 'तद्भावानुपपत्तेरिति'= उपेयव्यभिचारिण (प्र०....चारेण) उपायस्य उपायत्वं नोपपद्यते इति भावः।

(ल.)— ४. तथा बोधपरिणतिः = सम्यग्ज्ञानस्थिरता, रहिता कुतर्कयोगेन, संवृतरत्नाधारावाप्तिकल्पा, युक्ता मार्गानुसारितया, तन्त्रयुक्तिप्रधाना। स्तोकायामप्यस्यां न विपर्ययो भवति, अनाभोगमात्रं; साध्यव्याधिकल्पं तु तद् वैद्यविशेषपरिज्ञानादिति।

(पं०—) ' वैद्यविशेषपरिज्ञानादि ' ति—वैद्यविशेष इव परिज्ञानं, तस्मात्। अयमत्र भावो,— यथा वैद्यविशेषात् साध्यव्याधिर्निवर्तते, तथा परिज्ञानादनाभोगमात्रमिति। (प्रत्यन्तरे पाठः— वैद्यविशेषस्य द्रव्यभावरूपस्य, परिज्ञानं सुनिश्चताप्ततयाऽवगमः तस्मात्। अयमत्र भावो, यथा द्रव्यवैद्यपरिज्ञानादयस्यं तदुक्तकरणेन साध्यव्याधिर्निवर्त्तते, तथा भाववैद्यपरिज्ञानादनाभोगमात्रमिति।)

चाहिए। अर्थात् पहले बडा बैठे, बादमें छोटे क्रमशः बैठें। [५]वाचना लेने योग्य मुद्रासे बैठना चाहिए। और यह भी आवश्यक है कि [६]विक्षेपका सर्वथा त्याग किया जाय। अर्थात् व्याख्या श्रवणको छोडकर और कुछ भी मन, वचन और कायासे न किया जाये। फिर भी मूढ होकर बैठना नहीं चाहिए, [७]व्याख्यान दत्तचित्त और बडी सावधानीसे लेना आवश्यक है। यही व्याख्याश्रवणकी यथार्थ विधि है। इससे गुरु-शिष्य दोनों ही व्याख्याको देने-लेनेमें एकाग्रतासे रत रह सकते हैं। यह विधि एक दो कल्याण नहीं किन्तु कल्याणकी परम्परा सर्जन करती है। क्योंकि इससे सूत्रार्थके ज्ञानकी प्राप्ति तो होती ही है परंतु उसके अतिरिक्त गुरुविनय, ज्ञानविनय, ज्येष्ठके प्रति विनय, योग्य मुद्रास्वरूप संलीनतानामक तप, शुभचित्तकी एकाग्रता...इत्यादिका भी लाभ उपलब्ध होता है; और इन सबके फलस्वरूप दृढ सुसंस्कार तथा बडा पाप कर्मोंका क्षय होता है, एवं साथ ही पुण्यानुबन्धि पुण्यका लाभ भी संपन्न हो सकता है। ऐसी विधिसे अवश्य सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति होती है। कारण यह है कि यह विधि उपाय है और ज्ञान उसका कार्य है। उपाय वह है जो कार्यका व्यभिचारी न हो; अर्थात् वह उपाय कार्य न भी करे ऐसा नहीं; क्योंकि कार्यको नियमसे नहीं करनेवाले उपायमें सचमुच उपायता ही नहीं बन सकती। उपाय वही है जो कार्यको नियमसे करे।

४. बोधपरिणति :

व्याख्याका चतुर्थ अङ्ग बोधपरिणति है। इसका अर्थ है [१]सम्यग् ज्ञानकी स्थिरता और यह भी [२]कुतर्कसे रहित, [३]रत्नोंके ढके हुए भाजनकी प्राप्तिसमान, एवं [४]मार्गानुसारितासे समन्वित होनी चाहिए। इस बोधपरिणतिमें शास्त्रयुक्तिकी प्रधानता आवश्यक है। गुरुके पाससे सम्यग्[१] ज्ञान प्राप्त होनेपर भी अगर वह ज्ञान अस्थिर होगा, तो व्याख्या करनेका कोई अर्थ नहीं रहेगा। अतः वह स्थिर होना आवश्यक है। [२]ज्ञान भी यदि शास्त्राधार एवं तर्कको प्रधानता देनेवाला न हो और कुतर्कसे समन्वित हो तो सम्भव है कि बादमें कोई विरोधी निरूपण सुनने पर अपने ज्ञानमें सन्देह या अनास्था उपस्थित

(ल०)—– ५. तथा स्थैर्य= ज्ञानद्ध्र्यनुत्सेकः, तदज्ञानुपहसनं, विवादपरित्यागः, अज्ञबुद्धि-भेदाकरणं, प्रज्ञापनीये नियोगः। सेयं पात्रता नाम बहुमता गुणज्ञानां विग्रहवती शमश्रीः, स्वाश्रयो भावसम्पदामिति ।

(पं०) 'तदज्ञानुपहसनमि' ति = स्वयंज्ञातज्ञेयानभिज्ञानुपहसनम्, 'विवादपरित्यागः' तदनभिज्ञैः सहेति गम्यते, 'अज्ञबुद्धिभेदाकरणमिति' = सम्यक्चैत्यवन्दनाद्यजानतां तत्राऽप्रवृत्तिपरिणामाऽनापादनम्, 'प्रज्ञापनीये नियोग' इति = प्रज्ञापनीयमेव सम्यक्करणे नियुङ्क्त इति ।

होगी । अथवा अपना ही ज्ञान कुयुक्तियोंसे समर्थित होनेपर उद्देश्यमें गडबड़ी होनेकी भी शक्यता है । अतः कुतर्करहित और शास्त्राधार एवं सद्युक्तिसे विभूषित होना आवश्यक है। [२]ऐसी ज्ञानकी स्थिरता रत्नोंके एक ढके हुए भाजनके समान होगी; और कहीं भी ये ज्ञान-रत्न उछल नहीं पडेंगे, बल्कि सुरक्षित रहेंगे । इसीलिए रत्न-पात्रकी उपमासे इसके प्रति अपना अत्यन्त आदर एवं मूल्यांकन रहेगा । [३]साथमें बोध, मार्गानुसारितासे युक्त होनेपर ठीक रूपसे परिणत हो सकता है, अर्थात् इसका असरकारक भाव हृदयमें जम जाता है । जीवनमें ज्ञान कितना ही प्राप्त किया जाए किन्तु यदि प्राथमिक मार्गानुसारि,गुणोंके अनुसार आचार कुछ भी न होगा, तो वह ज्ञान कैसे स्थिर हो सकेगा, और उसमें बोधरूपता भी क्या होगी ? परिमित सम्यग् बोध अल्पांश भी हो तो भी बादमें चित्तका विपर्यास नहीं हो सकता; तत्त्व-सम्बन्धमें भ्रान्ति और अश्रद्धा जैसा कुछ भी नहीं होने पाता । हां, कदाचित् विस्मरण या बेध्यान जैसा होना संभवित है, लेकिन वह तो सम्यग्ज्ञानस्वरूप वैद्य विशेषसे निवारण-योग्य साध्य व्याधि सा होता है। जैसे कुशल वैद्यसे साध्य व्याधिका नाश होता है, इसी प्रकार सम्यग् बोधसे विस्मरण, बेध्यान आदि दूर हो सकते हैं।

५. स्थैर्य

व्याख्या ग्रहण करनेवालों को स्थैर्य भी चाहिए । जो ज्ञानसमृद्धि प्राप्त हो, इसका उतना महत्त्व उन्हें समझना आवश्यक है कि 'यह पवित्र ज्ञानसमृद्धि तभी आत्मपरिणत हो सकती है कि जब वह मूलभूत दोषोंसे अलिप्त हो' । इसके लिए यह अति आवश्यक है कि—

(१) ज्ञानसमृद्धिसे संभावित गर्वनामक जो दोष है, वह उसे छू न पाये । कारण यह है कि गर्वसे ज्ञानका प्रधान अमूल्य फल प्राप्त नहीं हो सकता ।

(२) ऐसी ज्ञानसमृद्धि से रहित जीवों का उपहास भी स्वयं न करे; क्योंकि उपहास करनेमें प्रतिजीवोंका तिरस्कार होता है ।

(३) इस ज्ञानसमृद्धिके बलपर वह अज्ञान पुरुषोंके साथ विवाद भी न करे; कारण कि उसमें, अज्ञान पुरुष अपनी अज्ञानतावश तत्त्व न समझनेसे, व्यर्थसी खिंचातानी एवं समय-दुर्व्यय होता है ।

(४) अज्ञान जीवोंका बुद्धिभेद याने चित्त-विपर्यास भी वह न करे। तात्पर्य, चैत्यवन्दनकी ज्ञानसमृद्धिके सम्बन्धमें ऐसा ऐसा वर्णन या बर्ताव न करे, जिससे सम्यक्चैत्यवन्दनादि न जाननेवाले जीवोंकी, अपनी शुभ प्रवृत्तिमें, आस्था ही उठ जाए; उल्लास ही नष्ट हो जाए। और फलतः उसमें उनकी प्रवृत्ति ही रुक जाए।

(ल०)— (६. तथा उक्तक्रिया) तथा उक्तस्य=विज्ञातस्य तत्तत्कालयोगिनः तदासेवन-समये तथोपयोगपूर्वं शक्तितस्तथाक्रिया । नौषधज्ञानमात्रादारोग्यम्; क्रियोपयोग्येव तत् । न चेयं यादृच्छिकी शस्ता प्रत्यपायसम्भवादिति ।

(पं०—) उक्तस्य = वचनाऽऽदिष्टस्य चैत्यवन्दनादेः, तदेव विशिनष्टि ' विज्ञातस्य ' = वचनानुसारेणैव विनिश्चितविषयविभागस्य, ' तत्तत्कालयोगिनः ' = तेन तेन चित्ररूपेण कालेन तदवसर-लक्षणेन सम्बन्धवतः । इत्यमुक्त विशेषणम्,(प्र. विशेष्यम्)क्रियां विशेषयन्नाह —'तदासेवनसमये '=तस्योक्तस्य करणकाले,'तथोपयोगपूर्वं' = आसेव्यमानानुरूप उपयोगः 'पूर्वो'=हेतुर्यत्र तथया भवति,' शक्तितः ' = स्वशक्ति-मपेक्ष्य, न तु तदतिक्रमेणापि, ' तथाक्रिया ' = उक्तानुरूपप्रकारवान् व्यापारः । आह किमुक्तक्रियया ? व्याख्याफलभूतादुक्तज्ञानादेवेष्टफलसिद्धिसम्भवादित्याशङ्क्याह ' न ' = नैव, ' औषधज्ञानमात्रात् ' = क्रियारहितादौषधज्ञानात् केवलाद् ' आरोग्य ' = रोगाभावः । कुत इत्याह'क्रियोपयोग्येव तत् ' । यतः ' क्रियायां '= चिकित्सालक्षणायाम्, ' उपयुज्यते '= उपकुरुते, तच्छीलं च यत्तत्तथा । नाऽऽरोग्योपयोगवद-पीति एवकारार्थः । ' इद् ' इति = औषधज्ञानमात्रं, क्रियाया एवारोग्योपयोगात् । तर्हि क्रियैवोपादेया, न ज्ञानम् ? इत्याशङ्क्याह ' न चेय ' मित्यादि । ' न च ' = नैव, ' इय ' = वन्दनादिक्रिया, ' यादृशी तादृशी ' = यथा तथा कृता, ' शस्ता ' = इष्टसाधिका मता, किन्तु ज्ञानपूर्विकैव शस्ता भवतीति ।

ऐसे दोषोसे निर्लिप्त रहते हुए ऐसे उद्देशके लिए पात्र जीवोंको ही इस ज्ञानसमृद्धिका लाभ कराना चाहिए एवं उन्हे ही सम्यक्करणमें लगाना चाहिए।

ज्ञानीके लिए ये सब अनुचित हैं। अत ऐसे क्षतियोवालो के ज्ञानकी स्थिरता नहीं हो सकती, और व्याख्या-ज्ञानके लिए ये अपात्र यानी अयोग्य गिने जाते हैं। ऐसा ज्ञानसमृद्धिका निरभिमानत्व वगैरेह पात्रता है, और यह गुणके मूल्यांकन करनेवाले पुरुषोंके लिए आदरणीय होती है। पुरुषोंमें यह पात्रता सचमुच मूर्तिमान प्रशमलक्ष्मी-सी है, एवं भावसंपत्ति का बढिया आश्रय हो सकती है। (निरभिमानता, अज्ञोंको प्रोत्साहन, गांभीर्य, आदि गुण स्वयं आत्मामे गुप्त प्रशान्तभावके ऐसे व्यक्त रूप हैं कि यदि ये न हों तो भीतर प्रशान्तता कैसे मानी जाए? इतना ही नहीं बल्कि आत्माके ज्ञानादि स्वरूप भावसंपत्ति उन गुणोंको शरण आ जाती है।)

६. उक्तक्रिया

छठवाँ व्याख्या-अङ्ग है उक्तक्रिया । इसका अर्थ है कि शास्त्रवचनमे जिसका आदेश दिया गया है १. उस चैत्यवन्दनादिके विषयविभागको शास्त्रवचनके अनुसार ही सुनिश्चित करे, और २. उसमे तत् तत् काल याने भिन्न भिन्न उचित समयका सम्बन्ध रख कर उसका अनुष्ठान करना चाहिए। वह अनुष्ठान भी कैसा ? ३. शास्त्र-वचनसे आदिष्ट अनुष्ठानकी साधना का अवसर आने पर साधनाके यथोचित ध्यानपूर्वक और शक्तिके अनुसार ही, नहीं कि शक्तिका उल्लंघन कर, वचनोक्त प्रकार-वाला अनुष्ठान करना आवश्यक है।

(ल०)—७. तथा 'अल्पभवता' व्याख्याङ्गं, प्रदीर्घतरसंसारिणस्तत्त्वज्ञानायोगात् । तत्र 'अल्प':- पुद्गलपरावर्त्तादारतो, 'भव':=संसारो यस्य, तद्भावः अल्पभवता । न हि दीर्घदौर्गत्यभाक् चिन्तामणिरत्नावाप्तिहेतुः, एवमेव नानेकपुद्गलपरावर्त्तभाजो व्याख्याङ्गमिति समयसारविदः। अतः साकल्यत एतेषां व्याख्यासिद्धिः, तस्याः सम्यग्ज्ञानहेतुत्वादिति सूक्ष्माधियाऽऽलोयनीयमेतत् ।

(पं० –) 'चिन्तामणिरत्नावाप्तिहेतु'रिति, चिन्त मणिरेवरत्नं मणिजातिप्रधानत्वाच्चिन्तामणिरत्नं, पृथग्वा चिन्तामणिररत्ने, तस्य तयोर्वाऽवाप्तिहेतुः; अभाग्य इति कृत्वा ।

प्र०—तो फिर सूत्र-व्याख्यासे निर्दिष्ट चैत्यवन्दनादि का अनुष्ठान ही करनेकी क्या जरूर ? व्याख्याके फलस्वरूप ज्ञानसे ही इष्ट फल सिद्ध हो जायगा ।

उ०—जिस प्रकार औषधसेवनकी क्रिया जिसे चिकित्सा कहते हैं वह अगर न की जाए और सिर्फ औषधका ज्ञान मात्र रखे तो आरोग्य नहीं मिल सकता याने रोग दूर नहीं हो सकता है; क्यों कि औषध-ज्ञानका उपयोग क्रिया पर ही है, नहीं कि आरोग्य पर। अर्थात् औषध ज्ञानसे मात्र चिकित्सास्वरूप सम्यक् क्रिया निष्पन्न हो सकती है, आरोग्य नहीं; आरोग्य तो औषधसेवन स्वरूप चिकित्सासे ही प्राप्त हो सकता है; इस प्रकार चैत्यवन्दनादि की व्याख्याका ज्ञान उसके अनुष्ठानमें उपयुक्त है, नहीं कि फलमें फल तो चैत्यवन्दन क्रियाकी साधनासे ही प्राप्त हो सकता है ।

प्र०— तब तो साधना ही की जाए, ज्ञानप्राप्ति की क्या आवश्यकता ?

उ०— ज्ञानकी काफी जरूरत है, क्यों कि बिना ज्ञान अगर चैत्यवन्दनादि क्रिया जैसी-वैसी की जाए तो वह इष्टसाधक नहीं मानी है। इससे तो उलटा नुकसान होता है। ज्ञानपूर्वक और ठीक रूपमें की गई क्रिया ही प्रशंसनीय है।

७ अल्पभवता

व्याख्याका सातवाँ अङ्ग है 'अल्पभवता'। अल्पका अर्थ है पुद्गलपरावर्त नामक कालके भीतर; और भवका अर्थ है ससार। अल्प है संसार जिसका, ऐसा पुरुष यह 'अल्पभव' शब्दका अर्थ हुआ। अल्पभवता याने अल्पसंसारिता यह उसकी विशेषता हुई। अर्थात् जो अन्तिम (चरम) पुद्गलपरावर्तकालमें आ चुका है वही व्याख्या ग्रहणके योग्य है। कारण यह है कि अति दीर्घ संसारकालवाले जीवको तत्त्व-ज्ञान नहीं हो सकता। जिस प्रकार दीर्घदुर्भागी, अपना भाग्य न होनेसे मणियोंमें श्रेष्ठ ऐसे चिन्तामणि रत्नकी या अन्य मणिकी प्राप्तिमें हेतुभूत नहीं बन सकता, इसी प्रकार अनेक पुद्गलपरावर्त काल तक जिन्हें अभी ससार-परिभ्रमण करनेका बाकी है वे व्याख्याके अङ्ग नहीं बन सकते यह शास्त्रकार भगवंतो का मन्तव्य है। (पुद्गलपरावर्त काल उसे कहते हैं जिसमें एक जीव समस्त चौदह राजलोकके सभी असख्य आकाश प्रदेशोंमें क्रमशः प्रत्येक प्रदेशको मृत्युसे स्पर्श करे । यह काल भी विराट काल है जिसमें अनंत कालचक्र व्यतीत होते हैं। इससे भी अधिक कालतक संसारमें जिसका पर्यटन अवशिष्ट है, उसे व्याख्या पढानेमें कोई लाभ नहीं ।)

नमोऽत्थुणं अरहंताणं (नमः अस्तु अर्हद्भ्यः)

(ल०)— तत्र 'नमोऽस्त्वर्हद्भ्यः' इत्यत्र 'अस्तु'=भवत्वित्यादौ प्रार्थनोपन्यासः, दुरापो भावनमस्कारः तत्त्वधर्म्मत्वात्, अत इत्थं बीजाधानसाध्य इति ज्ञापनार्थम् । उक्तं च,

' विधिनोप्ताद्यथा बीजादङ्कुराद्युदयः क्रमात् । फलसिद्धिस्तथा धर्म्मबीजादपि विदुर्बुधाः॥
वपनं धर्म्मबीजस्य सत्प्रशंसादि तद्गतम् । तच्चिन्ताद्यङ्कुरादि स्यात्फलसिद्धिस्तु निर्वृतिः॥
चिन्ता-सत्श्रुत्य-ऽनुष्ठानं-देवमानुषसम्पदः । क्रमेणाऽङ्कुर-सत्काण्ड-नाल-पुष्पसमा मताः॥
फलं प्रधानमेवाहुर्नानुषङ्गिकमित्यपि । पलालादिपरित्यागात् कृषौ धान्याप्तिवद् बुधाः॥
अत एव च मन्यन्ते तत्त्वभावितबुद्धयः॥ मोक्षमार्गक्रियामेकां पर्यन्तफलदायिनीम् ॥'
इत्यादि ।

(पं०—) नमो० । ' वपन = मित्यादिश्लोकः, 'वपनं' = निक्षेपणं, 'धर्म्मस्य' = श्रुतचारित्र-रूपस्य, 'बीजं' = फलनिष्पत्तिहेतुः, धर्म्मबीजं, तस्या'ऽऽत्मक्षेत्रे' इति गम्यम् । किं तदित्याह ' सत्प्रशंसादि,''सत्' = संशुद्धं तच्चेत्यंलक्षणं

'उपादेयधियाऽत्यन्तं संज्ञाविष्कम्भणान्वितं । फलाभिसन्धिरहितं संशुद्धं ह्येतदीदृशम् ॥'

' प्रशसादि ' = वर्णवाद-कुशलचित्त-उचितकृत्यकरणलक्षणम्, ' तद्गतं ' = धर्म्मगतम् । ' तच्चिन्तादि ', तस्य = धर्म्मस्य, चिन्ता = अभिलाषः, आदिशब्दात् सत्श्रुत्यादि वक्ष्यमाणम्, अंकुरादि= अंकुर-सत्काण्डादि वक्ष्यमाणमेव । ' फलसिद्धिस्तु निर्वृतिरिति ' प्रतीतार्थम् । ' चिन्ता... ' इत्यादि श्लोकौ भावितार्थौ एव । ' फलं.... ' इत्यादि श्लोकः, फल = साध्यं, किं तदित्याह ' प्रधानमेव ' = ज्येष्ठमेव, फलमिति पुनः सम्बध्यते ततः प्रधानमेव फलं फलमाहुः । अवधारणफलमाह ' नानुषङ्गिकमित्यपि ' = नोपसर्जनभवमपीति । दृष्टान्तमाह ' पलालादिपरित्यागात् ' = पलालपुष्पे परित्यज्य, ' कृषौ' = कर्षणे, ('धान्याप्तिवद्' =) धान्याप्तिमिव ' बुधाः ' = सुधियः । ' अत एव ' इत्यादि, 'अत एव' = फलं प्रधानमेवे-त्यादेरेवहेतोः,('च')'चकारो'ऽर्थप्राप्तमिदमुच्यत'इति सूचनार्थः,' मन्यन्ते = प्रतिपद्यन्ते, 'तत्त्वभावितबुद्धयः'= परमार्थदर्शिधियः,'मोक्षमार्गक्रियां'=सम्यग्दर्शनाद्यवस्थां,'एकां'=अद्वितीयादिरूपां मोक्षमार्गत्वेन, 'पर्यन्तफल-दायिनी'मित्यादि=मोक्षरूपचरमकार्यकारिणीं शैलेश्यवस्थामित्यर्थः, अन्यावस्थाभ्यो ह्यनन्तरमेव फलान्तरभावेन मोक्षाभावात् ।

उपरोक्त सातों व्याख्या–अङ्गोंके समुदाय मिलने पर ही व्याख्याकी सिद्धि हो सकती है। व्याख्याका अवकाश वहीं बन सकता है । क्योंकि व्याख्यासे उन्हीं जीवोंको सम्यग्ज्ञान हो सकता है। इस तत्त्व पर सूक्ष्म बुद्धिसे पर्यालोचन करना योग्य है ।

अथ ललितविस्तराकार सूत्रके प्रत्येक पदकी व्याख्याका प्रारम्भ करते हैं ।

' नमोऽत्थुणं अरहंताणं ' (नमः अस्तु अर्हद्भ्यः)

यहां ' अर्हत्परमात्माको नमस्कार हो ' इस वाक्यमें ' हो ' पदसे प्रार्थनाका उपन्यास किया गया। अर्थात् नमस्कार वर्तमान कालमें करनेकी सामर्थ्य नहीं है कि जिससे अब नमस्कार करनेका दावा रखा जाए अतः नमस्कार करनेका सामर्थ्य प्राप्त होनेके लिए प्रार्थना की जाती है। इस प्रकारका प्रार्थनाका उपन्यास यह सूचित करता है कि भाव नमस्कार दुर्लभ है; कारण, भावनमस्कारमें ही सच्चा नमस्कारत्व धर्म है इसलिए वैसा नमस्कार ज्यों त्यों सिद्ध नहीं हो सकता। समझ लो कि नमस्कारादि धर्म एक तरहका पेड़ है, और वह बीजस्थापन आदिसे सिद्ध हो सकता है। कहा है कि:– जिस प्रकार विधिपूर्वक बोये गए बीज द्वारा क्रमशः अंकुरादिसे फल पर्यन्त उत्पत्ति होती है इसी प्रकार धर्मके बीजसे भी अन्तिम फल पर्यन्त की सिद्धि होती है; ऐसा विद्वान लोग कहते हैं।

धर्मबीज-वपन—

प्र०—धर्म बीजका बोना क्या है ?

उ०— धर्म-बीजका बोना है, धर्म सम्बन्धी प्रशंसा करना याने विशुद्ध रूपसे धर्मके गुणगान करना, धर्ममें शुभ चित्तको स्थापित करना अर्थात् धर्म बहुत अच्छा है ऐसी भावना उत्पन्न करना, और उचित कार्योंका सेवन करना। धर्मके दो प्रकार हैं, श्रुतधर्म और चारित्रधर्म। आगमशास्त्रोंके श्रद्धा-पूर्वक श्रवणस्वाध्यायादिको श्रुतधर्म कहते हैं और शास्त्रोक्त व्रतनियमादिके पालन स्वरूप सम्यक् प्रवृत्तिको चारित्रधर्म कहते हैं। दोनोंकी विशुद्ध रूपसे प्रशंसादि करना, यही बीज-स्थापन है।

प्र०—विशुद्ध प्रशंसादिमें विशुद्धि क्या चीज है ?

साधनाकी विशुद्धिके तीन अंग—

'योगदृष्टिसमुच्चय' ग्रन्थमें कहा है कि प्रशंसादिमें ही क्या किसी भी साधनामें विशुद्धिका संपादन करनेके लिए ये तीन बातें अति आवश्यक हैं।

(१)वह प्रशंसादि साधना अत्यन्त उपादेय बुद्धिसे, कर्तव्य-बुद्धिसे होनी चाहिए अर्थात जीवनमें हमें सतत लगना चाहिए कि यह आत्महित के लिए अत्यन्त करने योग्य कृत्य है; (२) जीव को साथ अनादिसे लगी हुई आहारादि संज्ञाएँ हैं:– आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, विषयसंज्ञा, परिग्रहसंज्ञा, क्रोधसंज्ञा०, मान०, माया०,लोभ०, लोक०, ओघसंज्ञा इत्यादि, इनमेंसे प्रत्येक संज्ञाकी रुकावट यानी उसका उपशमन करनेके साथ साधना होनी आवश्यक है। (३) साधना पौद्‌गलिक याने दुन्यवी किसी लाभकी अपेक्षासे बिलकुल विनिर्मुक्त होनी चाहिए।

धर्मवृक्षके बीज-अङ्कुर....पुष्प-फलका स्वरूप—

इन तीनोंसे युक्त विशुद्ध धर्मप्रशंसादि करना यही धर्मके लिए बीजका वपन है। बादमें धर्मकी अभिलाषा करना वगैरह अङ्कुरादि अवस्था है। और अंतमें जाकर मोक्ष प्राप्त करना, यह धर्मका फल है।

(ल० —भावनमस्कारवतोऽपि प्रार्थना:—) आह, यद्येवं न सामान्येनैवंपाठो युक्तः भावनमस्कारवतस्तद्भावेन तत्साधनायोगात् । एवमपि पाठे मृषावादः ' असदभिधानं मृषा' इति-वचनात् । असदभिधानं च भावतःसिद्धे तत्प्रार्थनावचः, तद्भावेन तद्भवनायोगादिति ।

(पं०)—'तत्साधनायोगादिति' ('तत्') तस्य=सिद्धस्य नमस्कारस्य, यत् ' साधनं '=निर्वर्तनं प्रार्थनया,तस्य 'अयोगात्'=अघटनात् । असदभिधानमिति, असतो=अयुज्यमानस्य, 'अभिधानं' =भणनमिति । 'तद्भावेने'त्यादि 'तद्भावेन'=भावनमस्कारमात्रेन, 'तद्भवनायोगात्'=आशंसनीयभावनमस्कारभवनायोगात् । अनागतस्येष्टार्थस्य लाभेनाविष्करणमाशीः, सा च प्रार्थनेति ।

प्र०—धर्मके अङ्कुरादि स्वरूपमें क्या क्या लिया जाता है ?

उ०—साध्यधर्मकी चिन्ता अर्थात् स्वयं करनेकी अभिलाषा यह है 'अङ्कुर'। धर्मका स्वरूप जाननेके लिए सम्यग् उपदेशका श्रवण करना यह सम्यक् ' काण्ड नाल '(मुख्य और अवान्तर डाली) अवस्था है। आगे उस धर्मका अनुष्ठान यानी सम्यग् विशुद्ध आचरण करना, उसे 'पत्ते'की अवस्था कहते हैं । उस आचरणसे पुण्यद्वारा देव-मनुष्यकी संपत्तियाँ अर्थात् स्वर्गीय व मानवीय सुख मिलता है यह 'पुष्प' अवस्था है । अन्तमें मोक्ष पाना, यह 'फल ' अवस्था है ।

प्र०—स्वर्गादि सुख-संपत्तिको फल क्यों नहीं कहा ?

उ०—सुबुद्ध लोग सबसे बडे फल याने मुख्य फलको ही फल कहते हैं, नहीं कि अनुषङ्गिक अर्थात् बीचके गौण अवान्तर फलको । उदाहरणार्थ कृषिमें धान्यकी प्राप्तिको ही फल कहते हैं, नहीं कि घास, पुष्प वगैरह की प्राप्ति को । सबसे बडा फल ही फल है, इसलिए परमार्थदर्शी बुद्धिवाले लोग सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप मोक्षमार्गानुष्ठान जो कि अंतमें जाकर शैलेशी अवस्थारूप है उसको अद्वितीयमोक्षमार्गरूपसे मोक्षस्वरूप अन्तिम फलको पैदा करनेवाला मानते हैं । क्यों कि शैलेशी को छोडकर दूसरी अवस्थाओंसे तुरन्त ही दूसरे फल होते हैं, मोक्ष नहीं । जब कि शैलेशीसे तुरन्त मोक्षफल होता है । इस मोक्षको ही अन्तिम फल माना गया है।

शैलेशी अवस्था—

प्र०—शैलेशी अवस्था किसे कहते हैं ।

उ०—शैलेशका अर्थ है सबसे बडा पर्वत मेरु । इसके भाँति आत्माकी अत्यन्त स्थिर अवस्था बनाना यह शैलेशी अवस्था है । जब तक सूक्ष्म भी योग यानी मन-वचन-कायाकी सूक्ष्म भी प्रवृत्ति विद्यमान हैं, तब तक आत्मद्रव्य अस्थिर होता है याने उसके प्रदेश सतत कम्पनशील होते हैं । शुक्लध्यानके अन्तिम दो प्रकारसे इन योगोंका पूर्णतः निरोध करनेपर आत्मप्रदेश स्थिर हो जाते हैं। यह है शैलेशी अवस्था। इसे करनेके बाद तुरन्त ही पंच ह्रस्वाक्षरोंके उच्चारणमें जितना समय लगता है, उतने कालमें सर्व कर्मोंका क्षय हो कर मोक्ष होता हैं । अतः मोक्ष यह अन्तिम फल है ।

(ल०)— उच्यते, यत्किञ्चिदेतत्, तत्त्वापरिज्ञानात् । भावनमस्कारस्यापि उत्कर्षादि-भेदोऽस्त्येवेति तत्त्वम् । एवं च भावनमस्कारवतोऽपि तथा तथा उत्कर्षादिभावेनास्य तत्साधना-ऽयोगोऽसिद्धः, तदुत्कर्षस्य साध्यत्वेन तत्साधनोपपत्तेरिति । एवं च, ' एवमपि पाठे मृषावादः' इत्याद्यपार्थकमेव, ' असिद्धे तत्प्रार्थनावच ' इति न्यायोपपत्तेः ।

(पं०)— ' भावनमस्कारस्यापी'ति, किं पुनर्नामादिनमस्कारस्य इति'अपि'शब्दार्थः । 'तत्साधनोपपत्तेरि'ति, 'तस्य'=उत्कर्षानन्यरूपस्य नमस्कारस्य प्रार्थनया साधनस्य, 'उपपत्तेः'=घटनात् ।

भावनमस्कार वालोंको भी प्रार्थना जरूरी :—

अब यहाँ प्रश्न हो सकता है.—

प्र०— अगर प्रार्थनासूचक ' नमोऽस्तु ' पाठ कहना है तो ऐसा सूत्रपाठ सामान्यरूपसे अर्थात् सबके लिए नहीं रखना चाहिए; क्यों कि जो भावनमस्कार करनेमें समर्थ है उसे तो भावनमस्कार सिद्ध हो चुका, फिर नया कोई नमस्कार सिद्ध करनेकी उसे आवश्यकता नहीं; तब वह नमस्कारकी प्रार्थना क्यों करे ? सीधा नमस्कार ही करनेके हेतु, 'अस्तु'पदके बिना, 'नमोऽर्हद्भ्यः' इतना ही पाठ पढे न ? फिर भी वह अगर प्रार्थनागर्भित पाठ पढेगा, तब मृषाभाषण होगा। असत् कथन करना यह मृषा-भाषण है। प्रार्थनामें तो, अब तक जो इष्ट वस्तु सिद्ध नहीं हुई उसे प्राप्त करनेकी कामनाका आविष्कार किया जाता है। भाव नमस्कार जिसे सिद्ध है, उसे उसकी कामना है ही नहीं, फिर भी यदि वह कामना-सूचक प्रार्थनावचन कहता है तो क्या वह असत् कथन नहीं है ?

प्रश्न रूपमें यह आक्षेप तकका जो कथन किया, अब इसका उत्तर दिया जाता है ।

उ०—' नमोऽस्तु अर्हद्भ्यः—यह पाठ सबके लिए नहीं होना चाहिए अन्यथा भावनमस्कार सिद्ध किये हुए योगीके लिए ऐसा पाठ मृषावाद होगा '—इस प्रकारकी शङ्का और आक्षेप वास्तविक ही नहीं है; क्यो कि आक्षेपके मूलमें भावनमस्कारकी सिद्धिका रहस्य ही ज्ञात नहीं है । रहस्य यह है कि भावनमस्कारकी सिद्धिका एक ही प्रकार नहीं वरम् अपकर्ष, उत्कर्ष, अधिक उत्कर्ष,—इत्यादि कई प्रकार होते हैं । ऐसी हालतमें नामनमस्कार, स्थापनानमस्कार और द्रव्यनमस्कार वालो को तो क्या किन्तु भावनमस्कार वालों को भी उत्तरोत्तर उत्कर्ष याने अधिकसे अधिक नमस्कार सिद्ध करना बाकी है। अतः उन्हें भी भावनमस्कार संपूर्णतया सिद्ध है ही नहीं । जब अधिकरूपता का भावनमस्कार अब सिद्ध करना अवशिष्ट है, तब प्रार्थना द्वारा उसकी सिद्धि करना कोई असङ्गत नहीं। अर्थात् अधिकाधिक भावनमस्कार सिद्ध करनेके लिए प्रार्थना करना यह उपपन्न है, युक्तियुक्त है। एवमेव प्रार्थनाका सूचक ' नमस्कार हो ' यह पाठ पढना भी युक्तियुक्त है । इसमें कोई असत्कथन नहीं है । इसलिए यह आक्षेप, कि भावनमस्कार सिद्ध होने पर भी ऐसा पाठ पढना मृषाभाषण होगा इत्यादि अर्थशून्य है। क्यों-कि वह सिद्ध है ही नहीं। उत्तरोत्तर अधिकरूपसे नमस्कार तो अब तक असिद्ध है और असिद्धके लिए प्रार्थना वचन हो सकता है ।

(ल०-- पूजाचतुष्टयः–) तत्प्रकर्षवांस्तु वीतरागो नैवैवं पठतीति न चान्यस्तत्प्रकर्षवान्, भावपूजायाः प्रधानत्वात्, तस्याश्च प्रतिपत्तिरूपत्वात् । उक्तं चान्यैरपि– ' पुष्पाऽऽमिषस्तोत्र-प्रतिपत्तिपूजानां यथोत्तरं प्राधान्यम् '। प्रतिपत्तिश्च वीतरागे, पूजार्थं च नम इति । पूजा च द्रव्यभावसंकोच इत्युक्तम् । अतः स्थितमेतदनवद्यं ' नमोऽस्त्वर्हद्भ्य ' इति ।

(पं०)– ' नैवैवं पठती'ति, एवमिति प्रार्थनम्, 'नमस्तीर्थाये'ति निराशंसमेव तेन पठनात् । 'पुष्पामिषस्तोत्रप्रतिपत्तिपूजानामि'त्यादि,तत्र 'आमिष' शब्देन मांस-भोज्यवस्तु-रुचिर-वर्णादिलाभ-संचयलाभ-रुचिररूपादि-शब्द-नृत्यादिकामगुण-भोजनादयोऽर्थाः यथासम्भवं प्रकृतभावे योज्याः । देशविरतौ चतुर्विधाऽपि, सरागसर्वविरतौ तु स्तोत्रप्रतिपत्ती द्वे पूजे समुचिते । भवतु नामैव यथोत्तरं पूजानां प्राधान्यं तथापि वीतरागे का सम्भवतीत्याह 'प्रतिपत्तिश्च वीतरागे' इति; 'प्रतिपत्तिः'=अविकलाप्तोपदेशपालना, 'चः' समुच्चये,'वीतरागे' =उपशान्तमोहादौ पूजाकारके । यदि नामैवं पूजाक्रमो, वीतरागे च तत्सम्भवः, तथापि नमस्कारविचारे तदुपन्यासोऽयुक्त इत्याह ' पूजार्थं चे'त्यादि । प्रतिपत्तिरपि द्रव्यभावसंकोच एवेतिभावः ।

चारों प्रकारके नमस्कारमें न्युनाधिकता :—

यहाँ देखिए कि नमस्कार चार प्रकारके होते हैं:– १. नाम नमस्कार (केवल नमस्कार शब्द),२. स्थापना नमस्कार (नमस्कार करते हुए पुरुषका चित्र अथवा मूर्तिकी स्थापना इत्यादि), ३. द्रव्यनमस्कार (हृदयमें नमस्कारकी भावनाशून्य या नमस्कारक्रियामें मन लगाये बिना की जाती नमस्कारक्रिया), और ४. भावनमस्कार (नमस्कारके विशिष्ट शुभ अध्यवसायसे युक्त नमस्कार)। प्रत्येक नमस्कारमें कई प्रकारके न्यूनाधिक भेद होते हैं; जैसे कि नामनमस्कारमें नमस्कार शब्दका शुद्ध शुद्धतर उच्चारण; स्थापनामें विशिष्ट-विशिष्टतर नमस्कार-चित्र आदि स्थापना; द्रव्यनमस्कारमें पूर्वोक्तानुसार अधिकाधिक व्यवस्थित ढंगसे सिर-पैर-दृष्टि आदिको स्थापित कर की जाती नमस्कार-क्रिया; और भावनमस्कारमें मनकी विशिष्ट-विशिष्टतर शुद्धि एवं स्थैर्य, और हार्दिक अधिकाधिक संवेग वैराग्य आदि भावोल्लास, विरति,उपशम, वगैरह । इनमेंसे जितना शुद्ध नमस्कार सिद्ध हुआ उसके लिए तो अब कोई प्रार्थना करनेकी जरूरत नहीं, किन्तु अब तक जो जो उच्चतर भावनमस्कार सिद्ध नहीं कर सके हैं उनके लिए तो प्रार्थन करना बिलकुल आवश्यक एवं युक्तिसङ्गत ही है।

हां, श्रेष्ठतम शुद्धि और स्थैर्यवाला सर्वोत्कृष्ट भावनमस्कार सिर्फ वीतराग आत्माओंको ही सिद्ध हुआ है, अतः उन्हे अब प्रार्थना करनेकी कोई जरूरत नहीं, क्योंकि उन्हें अब नया कुछ सिद्ध करना है ही नहीं और ऐसे वीतराग जीव प्रार्थनासूचक यह ' नमस्कार हो' पाठ पढते भी नहीं हैं ।

प्र०–वीतराग भी'नमस्तीर्थाय 'यह पाठ तो पढते हैं न ? वीतराग क्यों पढे ? वे तो जीवन्मुक्त हो गये ।

उ०–ठीक है, लेकिन वे निराशंस भावसे अर्थात् किसी कामनाके विना मात्र अपने कल्प याने आचाररूपसे पढते हैं। उन्हें न तो इससे कुछ सिद्ध करना है, न उसके फलकी कोई कामना है । इस प्रकार वीतरागके अलावा भावनमस्कारकी पराकाष्ठावाला कोई नहीं है । यहां द्रव्यपूजा, भावपूजा,

इन दोनोंमें भावपूजा प्रधान है, इसलिए नमस्कारके विचारमें भावपूजा और उसके अधिकारी वीतराग प्रस्तुत किये गये। क्योंकि 'नमः' पदसे लभ्य नमस्कारका अर्थ पूजा ही है. तथा पूजा द्रव्यसङ्कोच और भावसङ्कोच उभयस्वरूप है यह पहले कह दिया गया है।

पूजाके चार प्रकार—

प्र०–वीतरागको किस प्रकारकी भावपूजा होती है?

उ०–वह भावपूजा प्रतिपत्तिरूप होती है। अन्योंने भी कहा है कि 'पुष्पामिषस्तोत्रप्रतिपत्ति-पूजानां यथोत्तरं प्राधान्यम्'– अर्थात् पूजाके चार प्रकार होते हैं:-पुष्प, आमिष (नैवेद्यादि), स्तोत्र, और प्रतिपत्ति; जो क्रमशः उत्तरोत्तर प्रधान होती हैं। पुष्पपूजाकी अपेक्षा आमिषपूजा प्रधान है; उससे स्तोत्रपूजा प्रधान होती है; एवं स्तोत्रपूजाकी अपेक्षा प्रतिपत्तिपूजा प्रधान है। यहाँ 'पुष्प, आमिष....' इत्यादिमें जो 'आमिष' शब्द लिया उसके कई अर्थ होते हैं, जैसे कि, मांस, भोग्य वस्तु, रोचक वर्ण आदिका लाभ, सञ्चयका लाभ, रोचक रूपादि रोचक शब्द, नृत्य आदि इन्द्रियविषय, भोजन इत्यादि। लेकिन प्रकृतमें यथासम्भव अर्थोंकी योजना करनी जरूरी है। 'यथासम्भव' इसीलिए कहा, कि यह पूजा श्री वीतराग सर्वज्ञके शासनद्वारा साधककी भूमिकानुसार विहित की गई है; अतः मांसादि अभक्ष्य-असेव्यके उपहारसे पूजा नहीं हो सकती, वास्ते शेष साधनोंसे आमिषपूजा करनी योग्य है।

गृहस्थ और मुनिके लिए पूजाका विभाग:—

प्र०- जैनदर्शनमें क्या सबके लिए इस चतुर्विध पूजाका विधान है?

उ०- नहीं, जो देशविरति अर्थात् अहिंसादिके अणुव्रतधारी गृहस्थ है उसके लिए तो चारों प्रकारकी पूजाएँ उचित हैं; और सराग सर्वविरतिधर साधुके लिए मात्र स्तोत्र पूजा, और प्रतिपत्ति पूजा ही उचित है। कारण यह है कि पुष्प एवं आमिष द्रव्य हैं, और गृहस्थ द्रव्यके आधिपत्यमें बैठे हैं, अतः वे द्रव्यपूजाके अधिकारी हैं, लेकिन साधु सर्व सङ्गोके त्यागी होनेकी वजहसे द्रव्यके अधिकारी नहीं हैं, अतः वे द्रव्यपूजाके अधिकारी नहीं हो सकते।

प्र०- तब साधुओंको तो उतना लाभ कम मिलेगा न?

उ० उसमें कम लाभकी बात ही नहीं है; क्योंकि द्रव्यपूजा भी भावपूजाके ही लाभार्थ करनी है, और द्रव्यपूजाकी अपेक्षा भावपूजा उत्कृष्ट होनेसे उच्चतम फल भी प्रदान करती है; तब साधुके लिए कम लाभकी बात ही कहाँ रही?

द्रव्यपूजाकी क्या आवश्यकता?

प्र०—तब तो गृहस्थ भी केवल भावपूजा ही करे, द्रव्यपूजा क्यों करे?

उ०— गृहस्थके लिए द्रव्यपूजाकी आवश्यकता इसलिए है कि,

(१) द्रव्यसंग्रहमें बैठा हुआ गृहस्थ द्रव्यकी मूर्छा कम न करे तबतक श्रद्धा, संवेग, वैराग्य, विरति, उपशम एवं अनासक्ति इत्यादि गुणोंसे गर्भित शुभभाव अपनेमें पैदा नहीं कर सकता; एवं वीतराग सर्वज्ञ देवाधिदेवकी पूजा वीतरागताके प्रति आकृष्ट होकर उनके आज्ञापालनकी रुचिसंपन्नतासे

(ल०)– इह च प्राकृतशैल्या चतुर्थ्यर्थे षष्ठी, उक्तं च– ' बहुवयणेण दुवयणं, छट्ठि-विभत्तीए भण्णइ चउत्थी । जह हत्था तह पाया, णमोऽत्थु देवाहिदेवाणं ॥' बहुवचनं तु अद्वैत-व्यवच्छेदेनार्हद्बहुत्वख्यापनार्थं, विषयबहुत्वेन नमस्कर्त्तुः फलातिशयज्ञापनार्थं च,-इत्येतच्चरमालापके 'नमो जिणाणं जियभयाण'मित्यत्र सप्रतिपक्षं भावार्थमधिकृत्य दर्शयिष्यामः ।

(पं०)– 'अद्वैतव्यवच्छेदेनेति,'- द्वौ प्रकारावितं द्वीतं, तस्य भावो द्वैतं, तद्विपर्ययेण 'अद्वैतं'= एकप्रकारत्वम् । तदाहुरेके–" एक एव हि भूतात्मा देहे देहे प्रतिष्ठितः (प्र० ' व्यवस्थितः ') । एकधा बहुधा चापि (प्र० 'चैव'), दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥ " ज्ञानशब्दाद्यद्वैतवहुत्वेऽप्यात्माद्वैतमेवेह व्यवच्छेद्यम्, अर्हद्बहुत्वेन तस्यैव व्यवच्छेद्यत्वोपपत्तेः । ' फलातिशयज्ञापनार्थं चे'ति, ' फलातिशयो'=भावनोत्कर्ष इति ।

नहीं कर पाता । इसलिए तादृश शुभभावमें प्रतिबन्धक द्रव्यमूर्छाको हटाना आवश्यक है; अतः द्रव्यपूजा उसके लिए जरूरी है । यद्यपि केवल द्रव्यपूजासे काम नहीं चलेगा; उसके साथ उपरोक्त शुभभावोंका लक्ष्य रखना गृहस्थके लिए भी अत्यन्त जरूरी है।

और भी एक कारण यह है कि गृहस्थ अपने सांसारिक जीवनमें विविध द्रव्योंके सहकारसे वैसे वैसे भावोंसे संपन्न होता है, इसलिए यहां भी द्रव्यपूजाके सहकारसे ही भावपूजामें फलभूत शुभभाव पा सकेगा; अतः शुभ अध्यवसाय स्वरूप भावकी संप्राप्ति हेतु द्रव्यपूजाका सहकार अनिवार्य एवं जरूरी है ।

प्रतिपत्ति–पूजाः—

प्रतिपत्ति पूजाका अर्थ है पूर्ण आप्त पुरुष-सर्वज्ञ पुरुषके उपदेशका पालन । यह पालन सर्वोत्कृष्ट कोटिका तो वीतराग आत्मामें होता है । वीतराग जीव तीन प्रकारके होते हैं, उपशान्तमोह, क्षीणमोह और केवलज्ञानी । उन्हींमें ऐसी उत्कृष्ट प्रतिपत्तिपूजा लब्ध-अवसर होती है । कारण, उन्हें वैराग्य, तत्त्वरुचि, विरति, अनासक्ति, सर्वथा आत्मशुद्धि इत्यादिरूप सर्वज्ञकी आज्ञा पूर्णरूपसे आत्मसात् हो चुकी है, इसी लिए वे उत्कृष्ट द्रव्यभाव-सयम अर्थात् भावपूजाकी पराकाष्ठा का पद प्राप्त कर चुके हैं । नमस्कारका अर्थ पूजा ही है, अतः नमस्कारके चालू प्रकरणमें पूजाका इतना विवेचन अप्रस्तुत नहीं है । एवं भावपूजाकी पराकाष्ठा न पाये हुए सब जीवोंके लिए तो उच्च-उच्चतर भाव नमस्कारकी प्रार्थना युक्तियुक्त है । अतः ('नमोऽस्त्वर्हद्भ्यः') 'नमो त्थु णं अरहंताणं' यह स्तुतिपाठ पढना बिलकुल सङ्गत है, निर्दोष है । इसमें मृषाभाषण का कोई दोष नहीं है ।

प्र०–'अरहंताणं' इस पदमें षष्ठी विभक्ति क्यों रखी गई है ? 'नमः' पदके योगमें तो चतुर्थी विभक्ति आती है न ?

उ०– षष्ठी विभक्ति प्राकृत भाषाकी शैलीसे आई है । चतुर्थीका अर्थ प्राकृत भाषामें षष्ठी विभक्तिसे सूचित किया जाता है; जैसे कि प्राकृतमें द्विवचनका भाव भी बहुवचनसे बतलाया जाता है।

उदाहरणार्थ, 'जह हत्था तह पाया'-मनुष्यको ज्यों दो हाथ है त्यों दो पैर होते हैं, । कहा है, ' बहुवयणेण दुवयणं छट्ठिविभत्तीए भण्णइ चउत्थी । ' जह हत्था तह पाया णमो त्थु देवाहिदेवाणं ॥

अनेक परमात्माओंको नमन क्यों ?

प्र०–अरिहंत परमात्माको नमस्कार करना है तो एकवचन-प्रयोग करके ' नमोत्थु णं अरहंतस्स' क्यों नहीं कहा ? बहुवचन क्यों लिया ? अनेक अरिहंत परमात्माओंको नमस्कार क्यों किया गया ?

उ०–बहुवचन लेनेके तात्पर्य दो हैं (१) अरिहंत परमात्माके अद्वैतका अर्थात् एकमात्र संख्याका निषेध करके बहुत्व संख्या सूचित करनेका है; अर्थात् अर्हत् परमात्मा एक नहीं हैं, कई हैं; एवं (२) नमस्कारका विषय बहुत होनेसे नमस्कार-कर्ताको शुभ भावनाका आधिक्य स्वरुप अधिक फल प्राप्त होता है, यह भी दिखलाना है । यह बात अन्तिम ' नमो जिणाणं जिअभयाणं ' इस आलापक याने पदसमूहमें संबन्धी प्रतिपक्षके स्वरूपसहित भावार्थ प्रदर्शित करनेमें कहेंगे ।

प्र०–द्वैत शब्दका अर्थ क्या है ?

उ०–द्वैत शब्दका अर्थ है,–दो प्रकार जिसे प्राप्त है वह द्वीत, इसका तत्त्व हुआ द्वैत, अर्थात् एक नहीं किन्तु अनेक प्रकारवाला स्वरूप। इससे विपरीत है अद्वैत। अद्वैत से एक ही प्रकार होनेका फलित होता है । कहा है ।

" एक एव हि भूतात्मा, देहे देहे व्यवस्थितः । एकधा बहुधा चापि, दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥

—एक ही सद्‌भूत आत्मा याने पारमार्थिक एक ही आत्मद्रव्य अनेकानेक देहोंमें सम्बद्ध हुआ है । वह एक शरीरमें एक रूपसे और अनेक शरीरोंमें अनेक रूपोंसे भासित होता है; जैसे एक ही चन्द्र एक तालाबके जलमें एक रूपसे और अनेक तालाबोंमें अनेक रूपोंसे प्रतीत होता है । "

लेकिन यहाँ परमात्माके ऐसे अद्वैतका निषेध करना है । इतना ध्यानमें रहे कि अद्वैत अनेक रीतियोंसे माना जाता है, उदाहरणार्थ ज्ञानाद्वैत, शब्दाद्वैत इत्यादि । फिर भी प्रस्तुतमें आत्माद्वैतका ही निषेध सूचित है; कारण, अर्हत् परमात्माका बहुत्व निर्दिष्ट होनेके कारण आत्माके ही अद्वैतका निषेध प्रस्तुत होता है; न कि ज्ञान या शब्द के अद्वैतका निषेध । आत्मा एक नहीं है, अन्यथा प्रत्येकके मोक्ष होनेकी सङ्गति, क्रमशः मोक्ष, मोक्षमार्गकी सत्यता, गुरु-शिष्यभाव, पापि-धर्मिभाव;···इत्यादि कैसे उपपन्न हो सके ?

नमस्कार-क्रिया अनेक परमात्माओंके प्रति करनेसे नमस्कार-कर्ताके हृदयमें शुभभावना बढ जाती है । अतः यहाँ नमस्कार क्रियाका विषय अनेक अरहंतोंको बनाया गया ।

प्रार्थनावच इच्छायोगज्ञापकम् :—

(ल०)— अन्ये त्वाहुः'नमोऽस्त्वर्हद्भ्य' इत्यनेन प्रार्थनावचसा तत्त्वतो लोकोत्तरयानवतां तत्साधनं प्रथममिच्छायोगमाह, ततः शास्त्रसामर्थ्ययोगभावात्, सामर्थ्ययोगश्चानन्तर्येण महाफलहेतुरिति योगाचार्याः ।

इच्छायोगादित्रयम् ।

(ल०)— अथ क एते इच्छायोगादयः ? उच्यते, अमी खलु न्यायतन्त्रसिद्धा इच्छादिप्रधानाः क्रियया विकलाविकलाधिकास्तत्त्वधर्म्मव्यापाराः । उक्तं च,

(इच्छायोग :—)

" कर्तुमिच्छोः श्रुतार्थस्य ज्ञानिनोऽपि प्रमदतः ।
विकलो धर्मयोगो यः स इच्छायोग उच्यते ॥ १ ॥

(पं.)— 'न्यायतन्त्रसिद्धाः'इति; न्यायो=युक्तिः,स एव तन्त्रम्=आगम ,तेन सिद्धाः=प्रतिष्ठिताः, सूत्रतः समय क्वचिदपि तदश्रवणात्, वक्ष्यति च 'आगमश्चोपपत्तिश्च'त्यादि ।

कर्तुमित्यादिश्लोकनवकम् । अथास्य व्याख्या, — कर्तुमिच्छोः कस्यचिन्निर्व्याजमेव तथाविधकर्मक्षयोपशमभावेन । अयमेव विशिष्यते ' श्रुतार्थस्य ' = श्रुतागमस्य, अर्थशब्द आगमवचनः, अर्थ्यते (पाठान्तरे ' अर्थ्यते ')ऽनेन तत्त्वमिति कृत्वा । अयमपि कदाचिदज्ञान्येव भवति क्षयोपशमवैचित्र्यात्, अत आह ' ज्ञानिनोऽपि ' = अवगतानुष्ठेयतत्त्वस्यापि, इति । एवंभूतस्यापि सतः किम् ? इत्याह ' प्रमादतः ' = प्रमादेन विकथादिना, ' विकलः ' = असंपूर्णः कालादिवैकल्यमाश्रित्य, 'धर्मयोगो' = धर्म्मव्यापारो, ' यः ' इति = वन्दनादिविषयः, ' स इच्छायोग उच्यते ' इच्छाप्रधानत्वं चास्य तथाकालादावकरणादिति (प्रत्यन्तरे—तथाकालादावनवधारणादिति) ।

प्रार्थना–अन्य आचार्य कहते हैं कि 'नमोत्थु णं अरहंताणं' इस प्रकारके प्रार्थनासूचक वचनसे परमार्थसे लोकोत्तर मार्गवालोंके लिए इस लोकोत्तर मोक्षमार्गके प्रथम साधनभूत इच्छायोग का ही निर्देश किया गया है । अर्थात् इच्छायोगसे मैं नमस्कार करता हूँ, यह भाव सूचित किया। क्यों कि इच्छायोगकी पूर्ण साधनासे शास्त्रयोग और बादमें सामर्थ्ययोग सिद्ध होता है। इनमें सामर्थ्ययोग तो तत्क्षण ही वीतराग–सर्वज्ञता स्वरूप महाफलको पैदा करता है। इस प्रकार योगके आचार्योंका अभिप्राय है।

इच्छायोग-शास्त्रयोग-सामर्थ्ययोग

प्र०–ये इच्छायोग आदि क्या है ?

उ०–इच्छायोग आदि तीन योग तत्त्वभूत याने तात्त्विक धर्मकी प्रवृत्तियाँ हैं । इनमें इच्छा, शास्त्र और सामर्थ्यका प्राधान्य रहनेसे, ये क्रमशः इच्छायोग, शास्त्रयोग, एवं सामर्थ्ययोग कहे जाते हैं । शुद्ध क्रियाकी दृष्टिसे ये क्रमशः त्रुटित, अखण्ड और अधिक होते हैं; अर्थात् (१) इच्छायोग भी धर्म-

प्रवृत्ति ही है लेकिन इसमें क्रियाकी शुद्धिकी अपेक्षा धर्मप्रवृत्तिकी इच्छा प्रधान मानी जाती है, क्रिया अशुद्ध रहती है। (२) शास्त्रयोग इच्छायोगकी अपेक्षा उच्चतर प्रवृत्ति है। इसमें शास्त्र अर्थात् शास्त्रीय औत्सर्गिक सर्व नियमोंका पालन प्रधान रहता है, इससे क्रियाशुद्धि अखंडित रहती है। (३) सामर्थ्य-योगमें तो शास्त्रीय आदेशोंके पूर्ण पालनके अतिरिक्त आत्माकी अचिन्त्यसामर्थ्य प्रगट होनेसे धर्म-प्रवृत्ति अत्यधिक बलवती होती है। ये योग न्यायशास्त्रसे निर्दिष्ट हैं, आगममें सूत्ररूपसे कहीं भी सुननमें आते नहीं हैं। फिर भी ये काल्पनिक नहीं किन्तु वास्तविक हैं, इनके बारेमें आगे 'आगमश्रोपपत्तिश्च'' इत्यादि श्लोकसे कहेंगे।

इच्छायोग :—

प्र०—इच्छायोगका स्वरूप क्या है?

उ०— 'धर्मकरनेका इच्छुक, श्रुतार्थ, एवं ज्ञानी ऐसे साधकके भी प्रमादवश त्रुटित धर्मव्यापार याने धर्मप्रवृत्तिको इच्छायोग कहते हैं। इन विशेषणोंमें,

(१) इच्छा धर्म करनेकी शुद्ध अभिलाषाको कहते हैं। शुद्ध होनेके लिए वह कोइ भी दुन्यवी आशंसा-अपेक्षा न होते हुए स्वतः प्रगट होनी चाहिए। यह सभी को नहीं किन्तु किसी-किसी को हो सकती है; जिसे इच्छाके बाधक कर्म-आवरणका क्षयोपशम हुआ है। यह निराशंस धर्मप्रवृत्तिकी शुद्ध इच्छाके प्रभावसे शुद्ध धर्मप्रवृत्ति, एवं विशिष्ट पापक्षय सहित नूतन पापका निवारण, ये दोनों सिद्ध होते हैं। और इससे संपन्न आत्मोन्नतिकारक शुद्ध धर्म और आगेके शास्त्रयोग एवं सामर्थ्ययोगकी भूमिका भी सिद्ध हो सकती है। ऐसी शुद्ध इच्छासे भी की गई धर्मप्रवृत्ति इच्छायोग बन सकती है, यह सूचित किया।

(२) श्रुतार्थः—ऐसा धर्मेच्छु भी 'श्रुतार्थ' होना अर्थात् उस धर्मसे सम्बन्धित आगमका श्रवण किया हुआ होना चाहिए; क्योंकि बिना शास्त्रश्रवण धर्म प्रवृत्तिकी इच्छा होनेपर भी वह किस विधिसे करना, उसे यह कैसे ज्ञात हो सकेगा? यह 'श्रुतार्थ' पदमें 'अर्थ' शब्द आगमके अर्थमें है, और ऐसा अर्थ भी हो सकता है; क्यों कि संस्कृत भाषामें 'ऋ' धातु (क्रियावाची शब्द)से 'अर्थ' शब्द बन सकता है, और 'ऋ' का अर्थ गमन, ज्ञान और प्राप्ति होता है। अतः जिससे तत्त्वकी प्राप्ति या ज्ञान हो वह 'अर्थ' है और आगमसे ही तत्त्वकी प्राप्ति या ज्ञान होता है; अतः आगम ही 'अर्थ' हुआ।

(३) ज्ञानीः—ज्ञानावरणीय कर्मका क्षयोपशम अनेकानेक प्रकारोंसे होता है, अतः संभव है किसीको आगमशास्त्र सुननेपर भी, अत्यन्त मन्द क्षयोपशम वश धर्मक्रियाकी विधि आदिका ज्ञान न हुआ होगा, तब वह धर्मेच्छु और श्रुतार्थ होनेपर भी धर्म-प्रवृत्ति कैसे करेगा? इसलिए करने योग्य धर्म-प्रवृत्तिके स्वरूपका ठीक ज्ञान होना भी आवश्यक है।

(४) प्रमादवश धर्म प्रवृत्तिकी शुद्ध इच्छा एवं उसका शास्त्रीय तत्त्वज्ञान होनेपर भी विकथा-निद्रादि प्रमादके कारण वह बिलकुल शुद्ध धर्म प्रवृत्ति कर पाता नहीं है; योग्य काल, आसन, मुद्रादिका सर्वांश पालन करता नहीं है। कहा है 'मज्जं विसयकसाया निद्दा विकहा य पञ्च पमाया'। प्रमाद पांच प्रकारका होता हैः—मदिरादि व्यसन, विषयासक्ति, क्रोधादि कषाय, निद्रा और विकथा। राजकथा, देशकथा। भक्तकथा और स्त्रीकथाको विकथा कहा जाता है। प्रमादवश यह त्रुटित धर्मप्रवृत्ति करता है।

शास्त्रयोग —

(ल०)— शास्त्रयोगस्त्विह ज्ञेयो यथाशक्त्यप्रमादिनः।
श्राद्धस्य तीव्रबोधेन वचसाऽविकलस्तथा ॥ २ ॥

(पं०)—शास्त्रयोगस्वरुपामिधित्सयाह 'शास्त्रयोगस्तु' इति। शास्त्रप्रधानो योग शास्त्रयोगः, प्रक्रमादेतद्विषयव्यापार एव, स ['तु']=पुनः, 'इह'=योगतन्त्रे ज्ञेयः। कस्य कीदृगित्याह 'यथाशक्ति'= शक्त्यनुरूपम्, 'अप्रमादिनो'=विकथादिप्रमादरहितस्य। अयमेव विशिष्यते 'श्राद्धस्य'=तथाविधमोहापगमात् स्वसंप्रत्ययात्मिकाद्रिश्रद्धावतः, 'तीव्रबोधेन' हेतुभूतेन, 'वचसा'=आगमेन, 'अविकलः'=अखण्डः 'तथा'= कालादिवैकल्याबाधया। न ह्यपटोऽतिचारदोषज्ञः, इति कालादिवैकल्येनाबाधायां तीव्रबोधो हेतुतयो- पन्यस्तः ॥२॥

ऐसी जो वन्दनादि सम्बन्धी धर्मप्रवृत्ति है, उसे इच्छायोग कहते हैं। इसमें योग्य कालादिका पालन नहीं करनेसे क्रियाका प्राधान्य नहीं रहता, किन्तु धर्मइच्छा की शुद्धता-प्रबलता के कारण इच्छाका प्राधान्य गिना जाता है, अतः वह इच्छायोग कहा जाता है।

शास्त्रयोग :—

योगशास्त्रमें वर्णित शास्त्रयोग वही है, जिसमें शास्त्रयोगी [१] यथाशक्ति धर्मप्रवृत्ति कर रहा हो, [२] अप्रमादी हो, [३] श्रद्धा-सम्पन्न हो, [४] तीव्र बोधसे युक्त, एवम् [५] आगमानुसार कालादिके भंगसे खंडित न हो। यहाँ,

(१) 'यथाशक्ति' का अर्थ है, शक्तिके अनुरूप; अर्थात् अपनी शक्ति यानी ताकतका उल्लंघन न करते हुए अपनी सर्वशक्तिका उपयोग करना।

(२) अप्रमादी यानी विकथा निद्रादि प्रमादोंसे बिलकुल रहित होना।

(३) श्रद्धा-संपन्न होना। इसमें विशिष्ट प्रकारका मोह-नाश होकर स्वसंप्रत्यय होना चाहिए। स्वसंप्रत्ययका मतलब यह है कि ऐसी उच्च प्रकारकी श्रद्धा करनी चाहिए कि जिससे हृदयमें अनुभवरूप बढिया प्रतीति और तीव्ररुचि हो; एवम् अधिकाधिक आत्मबल-स्थैर्य आदिकी जो प्रेरक हो। अनुभवस्वरूप प्रतीतिका तात्पर्य यह है कि धर्मप्रवृत्तिका शास्त्रोक्त कठोर पालन सिर्फ शास्त्रके अनुरोधसे या पापभयसे होता है वैसा नहीं, किन्तु वह धर्मप्रवृत्ति अपने जीवनके स्वभाव-सी बन जाए ऐसा तत्त्वसंवेदन हो गया हो।

(४) तीव्रबोध युक्त होना, इसमें धर्मप्रवृत्तिकी सूक्ष्मसे सूक्ष्म औत्सर्गिक विधि एवम् संभवित अतिचार अर्थात् दोष आदिका विस्तृत ज्ञान आवश्यक है।

(५) आगमके अनुसार धर्मप्रवृत्ति अखंडित होना। इसमें काल-आसन-मुद्रादिकी लेशमात्र भी स्खलना न होनी चाहिए। तभी वह अखण्ड धर्मप्रवृत्ति कही जा सकती है। अनभिज्ञ लोग जब धर्मप्रवृत्ति- में लगते हैं तब महान् या सूक्ष्म अतिचारकी समझ न पानेके कारण वे धर्मप्रवृत्तिको खण्डित बना देते हैं। अतः कालादिके भंग से बाधा न हो पावे, इसलिए तीव्र बोधको साधनरूपसे आवश्यक बताया।

सामर्थ्य-योग —

(ल०)—शास्त्रसंदर्शितोपायस्तदतिक्रान्तगोचरः ।
शक्त्युद्रेकाद् विशेषेण सामर्थ्याख्योऽयमुत्तमः ॥ ३ ॥

(पं०)—अथ सामर्थ्ययोगलक्षणमाह 'शास्त्रसंदर्शितोपायः'=सामान्येन शास्त्राभिहितोपायः, सामान्येन शास्त्रे तदभिधानात्, 'तदतिक्रान्तगोचरः'=शास्त्रातिक्रान्त विषयः, कुत इत्याह 'शक्त्युद्रेकात्'=शक्तिप्राबल्यात्, 'विशेषेण'=न सामान्येन शास्त्रातिक्रान्तगोचरः, सामान्येन फलपर्यवसानत्वाच्छास्त्रस्य, 'सामर्थ्याख्योऽयं'=सामर्थ्ययोगाभिधानोऽयं योगः, 'उत्तमः'=सर्वप्रधानो, अक्षेपेण प्रधानफलकारणत्वादिति ॥ ३ ॥

शास्त्रादेव सर्वमोक्षोपायज्ञाने आपत्तिः—

(ल०)—सिद्धयाख्यपदसंप्राप्तिहेतुभेदा न तत्त्वतः ।
शास्त्रादेवावगम्यन्ते सर्वथैवेह योगिभिः ॥ ४ ॥
सर्वथा तत्परिच्छेदात्साक्षात्कारित्वयोगतः ।
तत्सर्वज्ञत्वसंसिद्धेस्तदा सिद्धिपदाप्तितः ॥ ५ ॥

(पं०)—एतत्समर्थनायैवाह 'सिद्धयाख्यपदसंप्राप्तिहेतुभेदा' इति = मोक्षाभिधानपदसंप्राप्तिकारणविशेषाः सम्यग्दर्शनादयः, किमित्याह 'न तत्त्वतो'=न परमार्थतः, 'शास्त्रादेव'=आगमादेव अवगम्यन्ते। न चैवमपि शास्त्रवैयर्थ्यमित्याह 'सर्वथैवेह योगिभिः' सर्वैरेव प्रकारैः, 'इह'=लोके, साधुभिः; अनन्तभेदत्वात् तेषामिति ॥ ४ ॥ सर्वथा तत्परिच्छेदे शास्त्रादेवाभ्युपगम्यमाने दोषमाह 'सर्वथा'=सर्वैः प्रकारैः, अक्षेपफलसाधकत्वादिभिः 'तत्परिच्छेदात्'=शास्त्रादेव सिद्धयाख्यपदसंप्राप्तिहेतुभेदपरिच्छेदात्, किमित्याह 'साक्षात्कारित्वयोगतः'=केवलेनेव साक्षात्कारित्वयोगात् कारणात्, 'तत्सर्वज्ञत्वसंसिद्धेः'=श्रोतृयोगिसर्वज्ञत्वसंसिद्धेः, अधिकृतहेतुभेदानामन्येन सर्वथा परिच्छेदायोगात्। ततश्च 'तदा'=श्रवणकाले एव, 'सिद्धिपदाप्तितः'=मुक्तिपदाप्तेः, अयोगिकेवलित्वस्यापि शास्त्रादेवायोगिकेवलित्वभावमयनेनापगतिप्रसङ्गाद्, अनिष्टयेऽपि शास्त्रसामर्थ्याभ्युपगमे इत्यमपि शास्त्रसामर्थ्यप्रसङ्गात् ॥ ५ ॥

सामर्थ्य-योग :—

सामर्थ्य योग शास्त्र-योगकी अपेक्षा अत्यधिक बलवान होता है। इसमें (१) उपाय यद्यपि शास्त्रद्वारा निर्दिष्ट होते हैं, किन्तु बिलकुल सामान्य रूपसे। (२) उन उपायोंका विशिष्ट विस्तृतस्वरूप तो मात्र स्वानुभवगम्य होनेसे शब्दतः अवर्णनीय है; इसलिए शास्त्र जो सामान्यरूपसे फलपर्यन्त जाता है वह असमर्थ है। फलतः शास्त्रसे आगे बढ जानेवाला ही पुरुषार्थ सामर्थ्ययोगका विषय हो सकता है। (३) ऐसे सामर्थ्ययोगमें आत्म-सामर्थ्यकी प्रबलता हो उठती है। ऐसी विशिष्ट शक्तिसे सम्पन्न धर्मप्रवृत्ति, जो सामर्थ्ययोग कहलाती है, वह तीनों योगोंमें उत्तम योग है। उत्तम होनेका दूसरा यह भी कारण है कि उससे शीघ्र ही वीतराग-सर्वज्ञता स्वरूप श्रेष्ठ फल उत्पन्न होता है।

द्विविधसामर्थ्ययोगकालः—

(ल०)— द्वितीयापूर्वकरणे, प्रथमस्तात्त्विको भवेत् ।
आयोज्यकरणादूर्ध्वं, द्वितीय इति तद्विदः ॥ ८ ॥

(पं०)— यो यदा भवति स तदाऽभिधातुमाह 'द्वितीयापूर्वकरण'इति । ग्रन्थिभेदनिबन्धन-प्रथमापूर्वकरणव्यवच्छेदार्थं 'द्वितीय'ग्रहणं, प्रथमेऽधिकृतसामर्थ्ययोगासिद्धेः । 'अपूर्वकरणं' त्वपूर्वपरिणामः शुभोऽनादावपि भवे तेषु तेषु धर्मस्थानेषु वर्तमानस्य तथाऽसंजातपूर्वो ग्रन्थिभेदादिफल उच्यते ।

तत्र प्रथमे अस्मिन् ग्रन्थिभेदः फलम्; अयं च सम्यग्दर्शनफलः; सम्यग्दर्शनं च प्रशमादिलिङ्ग आत्मपरिणामः । यथोक्तम्—"प्रशमसंवेगनिर्वेदाऽनुकम्पाऽऽस्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" इति । (तत्त्वार्थभाष्यम् अ०१ सू०२) यथाप्राधान्य (प्र. प्रधान)मयमुपन्यासः,लाभस्तु पश्चानुपूर्व्येति समयविदः।

द्वितीये त्वसिंस्तथाविधकर्मस्थितेस्तथाविधसङ्ख्येयसागरोपमातिक्रमभाविनि, किम् ? इत्याह 'प्रथमस्तात्त्विको भवेद्'इति । 'प्रथमो'=धर्मसन्याससंज्ञितः सामर्थ्ययोगः, 'तात्त्विकः=पारमार्थिको भवेत्, क्षपकश्रेणियोगिनः क्षायोपशमिकक्षान्त्यादिधर्मनिवृत्तेः, अतोऽयमित्युपन्यास इति । अतात्त्विकस्तु प्रव्रज्या-कालेऽपि भवति सावद्यप्रवृत्तिलक्षणधर्मसंन्यासयोगः, प्रव्रज्याया ज्ञानयोगप्रतिपत्तिरूपत्वात् । 'आयोज्य-करणादूर्ध्वम्' इति केवलाभोगेनाचिन्त्यवीर्यतया 'आयोज्य'=ज्ञात्वा तथा तथा तत्तत्कालक्षपणीयकर्म तथैवोपग्राहिकर्मणस्तथाऽवस्थानभावेन 'करणं'= कृतिः, आयोज्यकरणं शैलेश्यवस्थाफलमेतत् अत एवाह 'द्वितीय इति तद्विदः' —योगसन्याससंज्ञितः सामर्थ्ययोग इति तद्विदोऽभिदधति शैलेश्यवस्थायामस्य भावात् । तत आयोज्यकरणादूर्ध्वं तु द्वितीयः ॥ ८ ॥(प्रत्यन्तरे 'प्रव्रज्याया ज्ञानप्रवृत्तिरूपत्वात् '-पाठः)

क्षायोपशमिक एवं क्षायिक धर्म —

प्र०—'क्षयोपशम' किसे कहते हैं? और इससे निष्पन्न धर्म कौन, एवं उनका त्याग किस प्रकार ?

उ०—जैन शास्त्र कहते हैं कि धर्म यह क्षमा-निरहंकार; . ,अहिंसा-सत्य; .. ,तप-चारित्र... इत्यादि रूप हैं। वे क्षमा आदि आत्माके स्वरूप हैं; लेकिन वे क्रोध मोहनीय, मान मोहनीय, इत्यादि कर्म-आवरणोंसे आवृत याने छिप गये हैं। उन आवरणोंका अगर अंशतः भी क्षमादिपोषक शुभ भावना, मनोनिग्रह इत्यादि सत्पुरुषार्थसे नाश किया जाए, तो आत्मामें क्षमादि धर्म प्रगट होते हैं। कर्मोंका यह अंशतः नाश क्षयोपशम कहलाता है। उसके द्वारा निष्पन्न धर्मोंको 'क्षायोपशमिक धर्म' कहते हैं। वे यों प्रगट होते हुए भी, संभव है सत्तागत अवशिष्ट कर्मोंके पुनः उदयसे वे स्वयं ढक जाएँ। इसीलिए यह आवश्यक है कि उन कर्मोंका आमूलचूल नाश करके ये धर्म क्षायिक रूपमें परिवर्तित किये जाएँ।

प्र०—'क्षायिक' शब्दका क्या अर्थ है ?

उ०—कर्म-आवरणोंका मूलतः नाश अर्थात् क्षय करने पूर्वक प्रगट होते धर्म 'क्षायिक धर्म' कहलाते हैं। यहां पूर्वके प्रगट क्षायोपशमिक धर्म क्षायिक रूपमें परिवर्तित हो जाते हैं। अर्थात् क्षायोपशमिक धर्म जो निवृत्त हो जाते हैं यही उन धर्मोंका त्याग हुआ, धर्म संन्यास हुआ।

द्विविधः सामर्थ्य-योग :—

(ल०) — द्विधाऽयं धर्मसंन्यास – योगसंन्याससंज्ञितः ।
क्षायोपशमिका धर्माः, योगाः कायादिकर्म तु ॥ ७ ॥

(पं०) — सामर्थ्ययोगभेदाभिधानायाऽऽह ' द्विधा ' = द्विप्रकारो, ' अयं ' = सामर्थ्ययोगः, कथमित्याह ' धर्मसंन्यासयोगसंन्यास-संज्ञितः ', – ' संन्यासो ' = निवृत्तिरुपरम इत्येकोऽर्थः । ततो धर्मसंन्याससंज्ञा सञ्जातास्येति धर्मसंन्याससंज्ञितः ' तारकादिभ्य इतच् ' (पा० ५-२-३६) । एवं योगसंन्याससंज्ञा सञ्जातास्येति योगसंन्याससंज्ञितः । क एते धर्माः ? के वा योगाः ? इत्याह ' क्षायोपशमिका धर्माः' = क्षयोपशमनिर्वृत्ताः क्षान्त्यादयो । ' योगाः कायादि कर्म तु ' = योगाः पुनः कायादिव्यापाराः कायोत्सर्गकरणादयः । एवमेव द्विधा सामर्थ्ययोग इति ॥ ७ ॥

प्र० :— शास्त्रसे ही विशिष्ट उपाय अवगत हो, उसमें क्या बाधा है ?

उ० :— यह समझना चाहिए कि वस्तुतः शास्त्रसे सर्वज्ञता एवम् अयोगिकेवलिता के उपायका बोध जो शक्य मनाते है, वह होनेपर भी मोक्ष तो होता नहीं ! इसीलिए यह मानना होगा कि इसके अलावा विशिष्ट आत्म-सामर्थ्यकी प्रधानतावाला सामर्थ्ययोग नामक कोई अवर्णनीय धर्म-व्यापार अपेक्षित है, कि जिससे तुरन्त ही सर्वज्ञत्वादिकी सिद्धि प्राप्त हो ।

प्रातिभज्ञान और क्षपकश्रेणीः—

यह सामर्थ्ययोग प्रातिभज्ञानसे समन्वित होता है । प्रातिभज्ञान उसे कहते हैं कि जो एक मार्गानुसारी उत्कृष्ट चिंतन तर्कात्मक ज्ञान है, और वह केवलज्ञान स्वरुप दिवाकरके उदयके पूर्ववर्ती अरुणोदयकी भाँति प्रगट होता है । धर्मव्यापार के प्रकरण से सामर्थ्ययोग भी धर्मव्यापार ही है । लेकिन क्षपकश्रेणी के पुरुषार्थ के अंतर्गत जो धर्मव्यापार है, वही सामर्थ्ययोग कर के लिया जाता है ।

प्र० :— क्षपकश्रेणी का पुरुषार्थ क्या है ?

उ० :— क्षपकश्रेणी का पुरुषार्थ उसे कहा जाता है, जिसमें शुक्लध्यानके बलपर अन्तर्मुहूर्त मात्रकालमें मोहनीयकर्मकी प्रकृतियों का क्षय करते करते पूर्ण वीतरागदशा प्राप्त होती है; और बादमें शीघ्र ही ज्ञानावरण कर्म, दर्शनावरण कर्म, एवम् अंतराय कर्मका मूलतः नाश हो जाता है । फलतः सर्वज्ञदशा यानें केवलज्ञान प्रगट होता है, जिसमे समस्त जगत के समस्तकालवर्ती निखिल द्रव्योंका सर्व पर्याय सहित साक्षात्कार प्रगट हो जाता है ।

दो प्रकारके सामर्थ्य योग—

सामर्थ्ययोगके दो प्रकार होते हैं । (१) धर्म-संन्यास, एवम् (२) योग-संन्यास । ' संन्यास ' शब्दका अर्थ है, निवृत्ति । निवृत्ति कहो उपरम कहो, या त्याग कहो, अर्थ एक ही है । १. धर्मका संन्यास, एवम् २. योगका संन्यास । धर्मसंन्यासका नाम यानें संज्ञा है जिसकी, वह योग ' धर्मसंन्यास-संज्ञित ' योग कहलाता है । पाणिनीय व्याकरणके ५-२-३६ सूत्रानुसार संज्ञा शब्दसे ' इतच् ' नामक प्रत्यय लगनेसे 'संज्ञित' शब्द बना । इसी प्रकार योगसंन्यास संज्ञा है जिसकी, ऐसा योग 'योगसंन्यास-संज्ञित' कहलाता है ।

प्र०—धर्मका त्याग एवम् योगका त्याग, इनमें ' धर्म ' और ' योग ' शब्दोसे क्या विवक्षित है ?

उ०—'धर्म' शब्दसे कर्मक्षयोपशमके द्वारा निष्पन्न क्षमा आदि धर्म गृहीत हैं, और 'योग' शब्दसे कायादि क्रिया ली जाती है । कायादि क्रियामें कायोत्सर्ग वगैरह धर्म-व्यापार आते हैं । इसी तरह दो प्रकारके सामर्थ्ययोग होते हैं ।

द्विविधसामर्थ्ययोगकाल :—

(ल०)— द्वितीयापूर्वकरणे, प्रथमस्तात्त्विको भवेत् ।
आयोज्यकरणादूर्ध्वं, द्वितीय इति तद्विदः ॥ ८ ॥

(पं०)—– यो यदा भवति स तदाऽभिधातुमाह 'द्वितीयापूर्वकरण'इति । ग्रन्थिभेदनिबन्धन-प्रथमापूर्वकरणव्यवच्छेदार्थं 'द्वितीय'ग्रहणं, प्रथमेऽधिकृतसामर्थ्ययोगासिद्धेः । 'अपूर्वकरणं' त्वपूर्वपरिणामः शुभोऽनादावपि भवे तेषु तेषु धर्मस्थानेषु वर्तमानस्य तथाऽसंजातपूर्वो ग्रन्थिभेदादिफल उच्यते ।

तत्र प्रथमे अस्मिन् ग्रन्थिभेदः फलम्; अयं च सम्यग्दर्शनफलः; सम्यग्दर्शनं च प्रशमादिलिङ्ग आत्मपरिणामः । यथोक्तम्—"प्रशमसंवेगनिर्वेदाऽनुकम्पाऽऽस्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" इति । (तत्त्वार्थभाष्यम् अ०१ सू०२) यथाप्रधान्य (प्र. प्रधान)मयमुपन्यासो, लाभस्तु पश्चानुपूर्व्येति समयविदः।

द्वितीये त्वस्मिंस्तथाविधकर्मस्थितेस्तथाविधसङ्ख्येयसागरोपमातिक्रमभाविनि, किम् ? इत्याह 'प्रथमस्तात्त्विको भवेद्'इति । 'प्रथमो'=धर्मसंन्याससंज्ञितः सामर्थ्ययोगः, 'तात्त्विकः=पारमार्थिको भवेत्, क्षपकश्रेणियोगिनः क्षायोपशमिकक्षान्त्यादिधर्मनिवृत्तेः, अतोऽयमित्युपन्यास इति । अतात्त्विकस्तु प्रव्रज्याकालेऽपि भवति सावद्यप्रवृत्तिलक्षणधर्मसंन्यासयोगः, प्रव्रज्याया ज्ञानयोगप्रतिपत्तिरूपत्वात् । 'आयोज्यकरणादूर्ध्वम्' इति केवलाभोगेनाचिन्त्यवीर्यतया 'आयोज्य'=ज्ञात्वा तथा तथा तत्तत्कालक्षपणीयोपग्राहिकर्मणस्तथाऽवस्थानभावेन 'करणं'= कृतिः, आयोज्यकरणं शैलेश्यवस्थाफलमेतत् अत एवाह 'द्वितीय इति तद्विदः' —योगसंन्याससंज्ञितः सामर्थ्ययोग इति तद्विदोऽभिदधति शैलेश्यवस्थायामस्य भावात् । तत आयोज्यकरणादूर्ध्वं तु द्वितीयः ॥ ८ ॥(प्रत्यन्तरे 'प्रव्रज्याया ज्ञानप्रवृत्तिरूपत्वात्'-पाठः)

क्षायोपशमिक एवं क्षायिक धर्म —–

प्र०—'क्षयोपशम' किसे कहते हैं? और इससे निष्पन्न धर्म कौन, एवं उनका त्याग किस प्रकार ?

उ०—–जैन शास्त्र कहते हैं कि धर्म यह क्षमा निरहंकार;.. ,अहिंसा-सत्य; .. ,तप-चारित्र... इत्यादि रूप हैं। ये क्षमा आदि आत्माके स्वरूप हैं; लेकिन वे क्रोध मोहनीय, मान मोहनीय, इत्यादि कर्म-आवरणोंसे आवृत याने छिप गये हैं। उन आवरणोंका अगर अंशतः भी क्षमादिपोषक शुभ भावना, मनोनिग्रह इत्यादि सत्पुरुषार्थसे नाश किया जाए, तो आत्मामें क्षमादि धर्म प्रगट होते हैं। कर्मोंका यह अंशतः नाश क्षयोपशम कहलाता है। उसके द्वारा निष्पन्न धर्मोंको 'क्षायोपशमिक धर्म' कहते हैं। वे यों प्रगट होते हुए भी, संभव है सत्तागत अवशिष्ट कर्मोंके पुनः उदयसे वे स्वयं ढक जाएँ। इसीलिए यह आवश्यक है कि उन कर्मोंका आमूलचूल नाश करके ये धर्म क्षायिक रूपमें परिवर्तित किये जाएँ।

प्र०—'क्षायिक' शब्दका क्या अर्थ है ?

उ०—–कर्म-आवरणोंका मूलतः नाश अर्थात् क्षय करने पूर्वक प्रगट होते धर्म 'क्षायिक धर्म' कहलाते हैं। यहां पूर्वके प्रगट क्षायोपशमिक धर्म क्षायिक रूपमें परिवर्तित हो जाते हैं। अर्थात् क्षायोपशमिक धर्म जो निवृत्त हो जाते हैं यही उन धर्मोंका त्याग हुआ, धर्म संन्यास हुआ।

प्र०—योगसंन्यास क्या है।

उ०—धर्मसंन्यास होने पर आत्माकी जीवन्मुक्त परमात्म-अवस्था होती हैं। इसमें भी आयुष्य बाकी होनेपर पादविहार (प्रवास)उपदेश आदि कायिक-वाचिक-मानसिक प्रवृत्तियां जो चालू रहती हैं वे योग कहलाते हैं। आयुष्यके अंतिम कालमें उनका भी जो त्याग किया जाता है वह 'योगसंन्यास' है। इसके द्वारा समस्त कर्म हट जानेसे विदेह-मुक्त अर्थात् देहरहित अनंत ज्ञान-सुखादिमय शुद्ध सिद्ध दशा प्रगट हो जाती है।

प्र०–दो प्रकारके ये संन्यास किस साधनाके कालमें होते हैं ?

उ०–धर्मसंन्यास द्वितीय अपूर्वकरण कालमें पारमार्थिक रूपसे होता है, और योगसंन्यास आयोज्यकरणके अनन्तर होता है, वैसा तज्ज्ञ महापुरुष कहते हैं।

प्र०–अपूर्वकरण क्या है ? यहाँ 'द्वितीय' अपूर्वकरण क्यों लिया ?

उ०–द्वितीय अपूर्वकरण, ग्रन्थिभेदको पैदा करनेवाले प्रथम अपूर्वकरणके निषेधार्थ लिया गया है, क्योंकि प्रथम अपूर्वकरणमें प्रस्तुत सामर्थ्ययोग सिद्ध नहीं हो सकता। अपूर्वकरणका अर्थ देखिए।

प्रथम अपूर्वकरण :—

अपूर्वकरण यह आत्माका एक अभूतपूर्व शुभ परिणाम याने शुभभाव है, और यह परिणाम अनादिकालसे, इस भवचक्रमें आत्माको उन उन शुभभावोंमें वर्तते हुए भी पहले कभी उत्पन्न नहीं हुआ है। अतः यह अपूर्व कहलाता है। पहले आत्माको कई बार धार्मिक शुभभाव पैदा हुए हैं; वे तथाप्रकारके विशिष्ट प्रयत्नोंसे नहीं, किन्तु नदीघोल–पाषाणन्यायसे याने यों ही सामान्य यत्नसे। इसीलिए वे **यथाप्रवृत्तकरण** कहे जाते हैं। सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिमें विघ्नभूत है अनन्तानुबन्धि नामक रागद्वेषकी परिणति। इसको ग्रन्थि कहते हैं। वह इतनी घनिष्ट होती है कि बांसकी गाँठके समान दुर्भेद्य होती है। यथाप्रवृत्तकरणसे उसका भेदन नहीं हो पाता है। अतः आत्माका यथाप्रवृत्तकरणसे बहुधा अशुभभावमें पुनरागमन होता है। क्वचित् किसी धन्य अवसरपर ग्रन्थि देशसे न गिरते हुए किसीको विशिष्ट आत्मवीर्य उल्लसित होता है, जो शुभभावकी प्रबलताके लिए अनुकूल है। ससारमें यह परिणाम पहले-पहला होनेके कारण उसे 'अपूर्वकरण' कहते हैं। इससे ग्रन्थि-भेद होते हुए पाँच अपूर्व वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं।

५ अपूर्व वस्तु :—

प्र०—अपूर्व करणसे कौन कौन पांच अपूर्व वस्तुएँ होती हैं ?

उ०— पापकर्मोके (१) विपाक कालका **स्थितिघात** एवम् (२) **रसघात**। (पूर्वोपार्जित पाप कर्मकी लम्बी कालस्थितिका घात करके अल्प स्थितिवाला बना देना, वह स्थितिघात है; और तीव्र रसको मंद बना देना, वह रसघात है।), (३) **गुणश्रेणी** अर्थात् उत्तरोत्तर असंख्यगुण वृद्धिके क्रमसे मिथ्यात्वादि कर्मोके दलियोंकी रचना करना जिससे उनका शीघ्रनाश हो। (४) गुणसंक्रम इसी वृद्धिके क्रमसे पूर्व-बद्ध अशुभकर्मोका शुभ कर्मोमें परिवर्तन होना, और (५) **नए कर्मोका अपूर्व स्थितिबन्ध**।

इस प्रकार प्रथम अपूर्वकरणमें ग्रन्थि भेदरूप कार्य होता है और उसका कार्य है सम्यग्दर्शन।

सम्यग्दर्शन :—

प्र०—सम्यग्दर्शन क्या है ?

सम्यग्दर्शन प्रशम आदि लक्षणोंसे विभूषित एक सुन्दर आत्मपरिणति है। वाचकवर्य श्री उमास्वाति महाराजसे विरचित तत्वार्थद्वारा भाष्यमें कहा गया है।

सम्यग्दर्शन के प्रशम आदि ५ लक्षणः—

'१. प्रशम-२. संवेग-३. निर्वेद-४. अनुकम्पा-५. आस्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं तत्त्वार्थ-श्रद्धानं सम्यग्दर्शनमिति' (अ० १ सू० २)

अर्थात् प्रशमादि पांचों लक्षणों की अभिव्यक्ति से सम्यग्दर्शन यानी तत्त्वार्थ की श्रद्धा सुलक्षित होती है। यह सम्यग्दर्शन मूलभूत आत्मगुण है, इसके बाद ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र प्रगट होते हैं; इन तीनों को मोक्षमार्ग कहा गया है। पांचों में आत्मा की अवस्था देखिए।

(१) **प्रशम** है कषायों का एमा उपशमभाव, कि जिससे, उदाहरणार्थ अपने शत्रु के प्रति भी प्रतिकूल चिंतन नहीं, अर्थात् उसके विनाश की भावना नहीं। वैसे अन्य कषायों का उपशम।

(२) **संवेगमें** संसार के उत्कृष्ट सुखी देवताओं का सुख भी दुःख स्वरुप प्रतीत होता है, और मोक्ष के सुख की तीव्र कामना बनी रहती है।

(३) **निर्वेदमें** धर्म को ही तारक समझता हुआ चतुर्गतिमय संसार को नर्क के कारागार की भांति मान कर ऐसे संसार के प्रति उद्वेग, अनास्था आदि रखता है।

(४) **अनुकम्पा** है जगत के दुःखपीडित जीवों के प्रति द्रव्यदया ओर पापपीडित जीवों के प्रति भावदया; जिसमे उनके दुःख एवं पापोंका नाश करने की अभिलाषा बनी रहती है।

(५) **आस्तिक्यमें** हृदय के भीतर सर्वज्ञ श्री जिनेन्द्रदेव के सभी वचन बिलकुल सत्य और निःशंक होने की प्रतीति होती है।

तत्त्वज्ञ लोग कहते हैं कि प्रशम, संवेग आदि गुणोंका उल्लेखक्रम उत्पत्ति की दृष्टि से नहीं किन्तु प्रधानता की दृष्टि से है। सर्वप्रधान प्रशम प्रथम है, संवेग दूसरे नंबर में है,...यावत् आस्तिक्य पांचवें नंबर मे आता है। इनकी उत्पत्तिका क्रम पश्चानुपूर्वी से है। अर्थात् आस्तिक्य प्रथमतः उत्पन्न होता है, बाद मे तात्त्विक अनुकम्पा, इसके आधार पर तात्त्विक निर्वेद, ततः तात्त्विक संवेग, और इसके आधार पर तात्त्विक प्रशम उत्पन्न होता है।

यह हुई प्रथम अपूर्वकरण की बात। इसमें विशिष्ट आत्मवीर्योल्लास अपेक्षित है।

द्वितीय अपूर्वकरणः—सामर्थ्ययोग प्रथम अपूर्वकरण में आवश्यक नहीं है और वहां उत्पन्न भी नहीं हो सकता। वह तो द्वितीय अपूर्वकरण में होना शक्य है। प्रथम अपूर्वकरण से लभ्य सम्यग्दर्शन के काल में आत्मा के प्राग् उपार्जित कर्मबन्धनों की कालस्थिति अन्तःकोटिकोटि सागरोपमों की रहती है। विशिष्ट शुभ अध्यवसाय के बल पर उस स्थिति में से संख्येय सागरोपम-प्रमाण कालस्थिति का ह्रास होने से आत्मा में देशविरति गुण याने श्रावकयोग्य स्थूल अहिंसा-सत्य आदि अणुव्रत की परिणति उत्पन्न होती है। इस अवशिष्ट कालस्थिति में से भी जब संख्येय सागरोपम प्रमाण कालमान कम हो जाता है तब सर्वविरति गुण प्रगट होता है, अर्थात् मुनियोग्य सूक्ष्म अहिंसादि महाव्रत की आत्म-परिणति उत्पन्न होती है।

इससे आगे उस कालस्थिति में से भी संख्यात सागरोपम–प्रमाण स्थिति नष्ट हो जाने पर द्वितीय अपूर्वकरण प्राप्त होता है। और यह अपूर्वकरण सामर्थ्ययोग से साध्य है। इस द्वितीय अपूर्वकरण द्वारा विशिष्ट कर्मक्षय की धारा जिसे क्षपक श्रेणी कहते हैं,–वह चालु हो जाती है। तो इस प्रकार द्वितीय अपूर्वकरण प्राग्बद्ध कर्मपुद्गलों की तथाविध कालस्थिति में संख्येय सागरोपम–प्रमाण अतिक्रमण अर्थात् ह्रास होने पर द्वितीय अपूर्वकरण उत्पन्न हुआ। यह होनेमें तात्त्विक याने पारमार्थिक धर्मसंन्यास नामक प्रथम सामर्थ्ययोग कारणभूत होता है।

प्र०–यहां तात्त्विक धर्मसंन्यास कहा, तो क्या अतात्त्विक धर्मसंन्यास भी कोई चीज़ है ?

उ०–हां, मनुष्य जब संसारत्याग की संन्यासदीक्षा अर्थात् प्रव्रज्या अङ्गीकार करता है, तब उसमें समस्त सावद्य व्यापारोंका त्याग होता है; याने सूक्ष्मतर भी पापप्रवृत्ति न करने की प्रतिज्ञा होती है। यहां धर्मोंका त्याग जो हुआ वह एक प्रकारका धर्मसंन्यास तो हुआ ही, लेकिन वह अतात्त्विक है; तात्त्विक नही है; अर्थात् शाश्वतिक नहीं है; क्यों कि वह इस प्रकार अस्थिर है,:–प्रव्रज्या हिंसादि पापयोगों के और रागादि मोहयोगों के त्याग रूप एवं ज्ञानयोग के स्वीकार रूप है। यहां अशुभ धर्मों के संन्यास से, ज्ञानयोग में अलबत्ता क्षमा–मृदुतादि दशविध यतिधर्म, एवं ज्ञानाचार आदि पवित्र पंचाचारों के गुण उत्पन्न होते हैं, लेकिन पूर्व कह आये उस प्रकार ये धर्मसंन्यास और ये क्षमादिगुण क्षायोपशमिक होने के नाते शाश्वत–स्थायी नहीं हो सकते हैं। जब कि क्षायिक क्षमादि धर्मों से उन क्षायोपशमिक क्षमादि धर्मों की निवृत्ति यानी संन्यास किया जाय, तो यह धर्मसंन्यास शाश्वतिक हो जाता है, अतः वही तात्त्विक है।

यह क्षपक श्रेणी भी सामर्थ्ययोग से द्वितीय अपूर्वकरण द्वारा ही की जा सकती है। अतः इस प्रकार प्रतिपादन किया कि तात्त्विक धर्मसंन्यास द्वितीय अपूर्वकरणमें होता है।

आयोज्यकरणः—

सामर्थ्ययोग से साध्य 'योगसंन्यास' नामक द्वितीय संन्यास आयोज्यकरणके बाद होता है। आयोज्यकरण उसे कहते है जिस क्रियामें अवशिष्ट भवोपग्राही कर्म विशिष्ट अवस्थापन्न किये जाते हैं। यह क्रिया, अनन्तज्ञेयप्रकाशी केवलज्ञान के प्रकाश से, अवशिष्ट भवोपग्राही कर्मों, अर्थात् संसार–समर्थक वेदनीयकर्म, आयुष्यकर्म, नामकर्म, और गोत्रकर्म,–इन चारों को देखकर, केवलज्ञान की सहचारी अचिन्त्य शक्ति के तौर पर की जाती है। वहां कर्मों को विशिष्ट अवस्थापन्न किया जाता है। यह विशिष्ट अवस्था उसे कहते है जिस मे अवशिष्ट कर्मों का उस–उस योग्य समय क्षय हो। और कर्मों की ऐसी क्षययोग्य अवस्था उपस्थित करने की क्रियाका प्रयत्न आयोज्यकरण है। तत्पश्चात् योगसंन्यास होता है।

शैलेशीकरणः—

पहले कह आये कि स्थूल एवं सूक्ष्म मन–वचन–कायाकी सभी प्रवृत्तियाँ, जो योग कहलाती है, उनका सर्वांश त्याग यह संन्यास है। यह योगसंन्यास मोक्ष–प्राप्ति के उतने निकट काल में उत्पन्न

(ल०)—अतस्त्वयोगो योगानां योगः पर उदाहृतः।
मोक्षयोजनभावेन सर्वसंन्यासलक्षणः ॥९॥ इत्यादि ('योगदृष्टिसमुच्चय' श्लोक३—११)

(पं०) 'अतस्तु' इत्यादि, 'अतएव'=शैलेश्यवस्थायां योगसंन्यासात्कारणात्, 'अयोगो'= योगाभावो, 'योगानां'—मैत्र्यादीनां, 'मध्ये' इति गम्यते, योगः' 'पर':=प्रधानः उदाहृतः। कथमित्याह 'मोक्ष-योजनभावेन' हेतुना, 'योजनात् योग' इति कृत्वा, स्वरूपमस्याह 'सर्वसन्यासलक्षणो', अधर्मधर्मसंन्यास-योरप्यत्र परिशुद्धिभावात्। 'इत्यादि' शब्दाद्

'एतत्त्रयमनाश्रित्य विशेषेणैतदुद्भवाः। योगदृष्टय उच्यन्ते अष्टौ सामान्यतस्तु ताः ॥१॥
१ मित्रा—२ तारा—३ बला—४ दीप्रा—५ स्थिरा—६ कान्ता—७ प्रभा—८ परा।
नामानि योगदृष्टीनां लक्षणं च निबोधत ॥२॥
इत्यादि ग्रन्थो दृश्यः। (योगदृष्टिसमुच्चये श्लो० १२—१३)

होता है कि जितना समय पञ्च ह्रस्वाक्षरके उच्चारणमें लगे। योगसंन्यास में आत्मा की मेरुपर्वत की भांति, निष्प्रकंप अवस्था हो जाती है। मेरु को शैलेश कहा जाता है, इसलिए आत्माकी शैलेश जैसी स्थिति निर्मित करना यह शैलेशीकरण है। यहां ध्यान रहे कि जिस प्रकार उबलते जलके अन्दर रहा हुआ कपड़ा कांपता रहता है, इस प्रकार काययोगादि अवस्था में कर्मपुद्गलसे व्याप्त आत्मा के असंख्य सूक्ष्मतम अंश अस्थिर याने कम्पनशील रहते हैं। शैलेशी अवस्था के पूर्व योगोंका निरोध हो जाने से शैलेशी दशा में आत्मप्रदेश अचल—अकम्पित बन जाते है। इससे अवशिष्ट समस्त कर्म-बन्धन नष्ट हो मोक्ष—अवस्था प्रगट हो जाती है। योगसंन्यास शैलेशी अवस्था में प्रादुर्भूत होने के कारण, और शैलेशीकरण एक आयोज्यकरण नामक करण के बाद ही पैदा होनेसे, यह निश्चित होता है कि योगसंन्यास भी आयोज्य करण के बाद ही उत्पन्न होगा।

श्रेष्ठ योगः— इसीलिए शैलेशी अवस्था में संपूर्ण योगसंन्यास यानी योगोंका अभाव सिद्ध हो चुकने के कारण वह योगसंन्यास मैत्री आदि योगों मे प्रधान योग कहा गया है। यह अयोग सर्व-संन्यासरूप है, अर्थात् सभी अधर्म, कर्मउदय से निष्पन्न औदयिक धर्म, क्षायोपशमिक धर्म, एवं योग, —इन सभी के त्याग स्वरूप है; और नामसे अयोग कहलाने पर भी 'योग' इसी वास्ते है कि वह आत्मा का मोक्ष के साथ योग करा देता है। योग का लक्षण है **'मोक्षेण योजनाद् योग':**—मोक्ष से जो मिलन करा देता है, वह योग है। निश्चयनय के हिसाब से उन सर्व संन्यासों की परिशुद्धि, यानी सर्वशुद्ध पराकाष्ठा यहां हो जाती है। नववें श्लोकके साथ जो 'इत्यादि' शब्द दिया इसका यह अर्थ है;

इच्छायोग—शास्त्रयोग—सामर्थ्ययोग, ये सब **'योगदृष्टि समुच्चय'** नामक शास्त्र के प्रारम्भ में कहे गये हैं। वहां लिखा है कि—"यहां इन तीन योगों की विवक्षा न कर आठ योगदृष्टियाँ सामान्य रूप से कही जाती हैं। इतना ध्यान में रहे कि यद्यपि यहां तीन योगों की विवक्षा नहीं करते है, फिर भी वे आठों योगदृष्टियां विशेष रूप से इन तीनों योगोंके द्वारा ही उत्पन्न होती हैं।

योगत्रयघटनाः—

(ल०) तत्र, 'नमोऽर्हद्भ्यः' इत्यनेनेच्छायोगाभिधानम्; 'नमो जिनेभ्यो जितभयेभ्य' इत्यनेन तु वक्ष्यमाणेन शास्त्रयोगस्य, निर्विशेषेण सम्पूर्ण'नमो'मात्राभिधानात्; विशेषप्रयोजनं चास्य स्वस्थान एव वक्ष्याम इति। तथा, 'इक्कोवि णमोकारो ('नमुक्कारो' प्र०) जिणवरवसहस्स वद्धमाणस्स। संसारसागराओ तारेइ नरं व नारिं वा ॥१॥, इत्यनेन तु पर्यन्तवर्तिना सामर्थ्ययोगस्य, कारणे कार्योपचारात्, न संसारतरणं सामर्थ्ययोगमन्तरेणेति कृत्वा।

वे आठ दृष्टियाँ–१ मित्रा, २ तारा, ३ बला, ४ दीप्रा, ५ स्थिरा, ६ कान्ता, ७ प्रभा, और ८ परा, इन नामोंसे हैं, इनके अब लक्षण सुनिए।"–यह लेख देखने योग्य है।

चैत्यवन्दन सूत्रों में योगों का स्थानः—

यहां जो इच्छायोगादि तीन योग बतलाये गए, उनका चैत्यवन्दन सूत्रों में कहां कहां स्थान हैं उसकी अब चर्चा करेंगे। 'नमोऽर्हद्भ्यः' अर्थात् 'नमो अरिहंताणं' इस पदसे इच्छायोगका नमस्कार कथित हुआ। 'नमो जिनेभ्यः जितभयेभ्यः' ('नमो जिणाणं जिअभयाणं') इससे शास्त्रयोग का नमस्कार अभिप्रेत हैं, क्यों कि यहां किसी विशेपको न बतलाते हुए संपूर्ण 'नमो' मात्र पद का अभिधान किया गया है। 'नमो त्थु णं' इसमें तो 'नमः' पद के साथ 'अस्तु' पदका कथन है, जिससे वहां सामर्थ्ययोग की प्रार्थनापूर्वक इच्छायोगका नमस्कार कथित हुआ; लेकिन 'नमो जिणाणं' पद मे तो शुद्ध 'नमो' पद का कथन है इसलिए इससे शास्त्रयोग के नमस्कार का कथन होता है। इसका विशेष प्रयोजन आगे अपने स्थान मे कहेंगे। सूत्रों मे आगे सिद्धस्तव नामके अन्तिम सूत्र में एक गाथा हैः—

'इक्को वि नमुक्कारो जिणवरवसहस्स वद्धमाणस्स। संसारसागराओ तारेइ नरं व नारिं वा॥

अर्थात् 'जिनवरों मे वृषभ समान वर्द्धमान स्वामी को किया गया एक भी नमस्कार पुरुष या स्त्री को संसारसागर से पार करता है'—इस मे ऐसे नमस्कार को सीधा संसारतारक कहा जाता है, इस से सूचित होता है कि यह सामर्थ्ययोग के नमस्कार का कथन है। क्यों कि विना सामर्थ्ययोग संसारतरण नहीं हो सकता। सामर्थ्ययोग से ही ऐसा नमस्कार निष्पन्न हुआ कि जिस से भवतरण हुआ।

प्र०—तब तो नमस्कार ही संसारका तारक हुआ न? सामर्थ्ययोग तारक कैसे? सामर्थ्ययोग तो नमस्कार का कारण हुआ!

उ०—'कारणे कार्योपचारः' अर्थात् कारण मे कार्य शब्द का प्रयोग हो सकता है,–इस न्याय से, कारणभूत सामर्थ्ययोग को कार्यभूत नमस्कार के 'संसारतारक' अभिधान से बोल सकते हैं।

(ल०–प्रातिभज्ञानः–)

आह 'अयं प्रातिभज्ञानसङ्गत इत्युक्तं, तत् किमिदं प्रातिभं नाम? असदेतत्, मत्यादि-पञ्चकातिरेकेणास्याऽश्रवणात्।' उच्यते, चतुर्ज्ञानमकर्षोत्तरकालभावि केवलज्ञानादधः तदुदये सन्निधालोककल्पम्। इति न मत्यादिपञ्चकातिरेकेणास्य श्रवणम्। अस्ति चैतद्, अधिकृता-(अधिकृत्वा .प्र०) वस्थोपपत्तेरिति एतद्विशेष एव प्रातिभमिति कृतं प्रसङ्गेन ('विस्तरेण'....प्र०)

प्रातिभज्ञानः—

प्र०–पहले जो कह आयें कि प्रातिभज्ञान युक्त सामर्थ्ययोग के द्वारा केवलज्ञान होता है वहां प्रातिभज्ञान क्या चीज है? पांचों ज्ञान में न तो एसा कोई ज्ञान गिना गया है या न तो मति-ज्ञान–श्रुतज्ञान–अवधिज्ञान–मनःपर्यायज्ञान एवं केवलज्ञान,–इन पांचको छोड कर कोइ अन्य भी ज्ञान कहा गया है, जिससे प्रातिभ नामका कोई ज्ञान कहा जाए।

उ०–मतिज्ञान से ले कर मनःपर्याय ज्ञान तक के चार ज्ञान उत्कृष्ट रूपमें होने के अनन्तर और केवलज्ञान होने के पूर्व प्रातिभ ज्ञान होता है, और वह, केवलज्ञान स्वरूप सूर्य के उदय में उसके पूर्व प्रकाश अरुणोदय के सदृश होने से उसको मतिज्ञानादिसे अलग करके सुनने में नही आता। लेकिन वह होता है जरूर, क्यों कि केवलज्ञान क पूर्व ऐसी चार ज्ञान की उत्कृष्ट अवस्था संगत हो सकती है, और वही विशिष्ट अवस्था का नाम प्रातिभ ज्ञान है। अस्तु, अब इस विचार पर विस्तार नहीं करेंगे।

'नमोत्थु णं' पदोंके अर्थ बतलाते विविध पूजा दिखलाइ गई; और नमस्कार की प्रार्थना के प्रसंग में इच्छायोगादि तीन योगों का स्वरूप प्रदर्शित किया।



अरहंताणं

(ल०)–(' अरहंताणं '–अर्हद्भ्यः) एते चार्हन्तो नामाद्यनेकभेदाः, 'नाम–स्थापना–द्रव्य–भावतस्तन्न्यासः' (तत्त्वार्थ० १–५) इति वचनात्।

अरहंताणं

'नमोऽत्थु णं' पदों की व्याख्या की गई। अब 'अरहंताणं' पद की व्याख्या करते हैं:—

ये अर्हत्परमात्मा (अरहंत) नामअरहंत आदि अनेक प्रकारों के होते हैं। क्यों कि तत्त्वार्थाधिगम महाशास्त्र में कहा गया है कि जीव, अजीव आदि सभी पदार्थों के, क्रम में क्रम, नाम–स्थापना–द्रव्य–भाव, इस प्रकार चार निक्षेप याने विभाग होते हैं; उदाहरणार्थ नामजीव, स्थापनाजीव, द्रव्यजीव और भावजीव।

प्रस्तुत में, अरहंत के चार निक्षेप होते हैं, नामअरहंत, स्थापनाअरहंत, द्रव्यअरहंत, और भावअरहंत।

' नाम अरहंत ':—किसी पुरुषका 'अरहंत' नाम रखा जाता है तो यह भी अरहंत कहलायेगा, अतः यह नाम–निक्षेप है। अर्थात् वह सिर्फ नाम–अरहंत है। इस में अरहंत परमात्माका, सिवाय नाम, अन्य कोई सम्बन्ध नहीं।

'स्थापना अरहंत':—अरहंत परमात्माकी जिस प्रतिमा में या चित्र आदि में स्थापना की जाए वह स्थापना अरहंत है और वह मूर्ति आदि 'अरहंत' शब्द से संबोधित होती है।

' द्रव्य अरहंत ' अरहंत परमात्मा जब से यहां जन्म पाते हैं, जन्म ही क्या, माता के गर्भ मे आते हैं, तब से वे अरहंत शब्द के अर्थ से संपन्न न होते हुए भी अरहंत कहलाते हैं; वे हैं द्रव्य अरहंत।

' भाव अरहंत ' जब वे अरहंत पद के अर्थ से ठीक ही संपन्न होते है तब वे भाव अरहंत है। अरहंत पद का अर्थ है, देवता वगैरह की अष्ट प्रातिहार्यादि महापूजा की पात्रता।

प्र०—यदि जन्म पर नहीं, तो वे भाव अरहंत कब होते हैं?

उ०—केवलज्ञान पाने पर अर्थात् वीतराग सर्वज्ञ–सर्वदर्शी बनने पर तीर्थंकर नामकर्म स्वरूप उत्कृष्ट पुण्यका उदय होने से ऐसी योग्यता याने अरहंतपन अमल मे आता है।



भगवंताणं

(ल०)—तत्र भावोपकारकत्वेन भावार्हत्संपरिग्रहार्थमाह 'भगवद्भ्य' इति।

तत्र 'भगः' समग्रैश्वर्यादिलक्षणः। उक्तं च,

'१ ऐश्वर्यस्य समग्रस्य २ रूपस्य ३ यशसः ४ श्रियः।

५ धर्मस्याथ ६ प्रयत्नस्य षण्णां भग इतीङ्गना॥

(१) समग्रं चैश्वर्यं भक्तिनम्रतया त्रिदशपतिभिः शुभानुबन्धि महाप्रातिहार्यकरणलक्षणम्। (२) रूपं पुनः सकलसुरस्वप्रभाव-विनिर्म्मिताङ्गुष्ठरूपाङ्गारनिदर्शनातिशयसिद्धम्। (३) यशस्तु रागद्वेषपरिषहोपसर्गपराक्रमसमुत्थं त्रैलोक्यानन्दकार्याकालप्रतिष्ठम्। (४) श्रीः पुनः घातिकर्मोच्छेदविक्रमावाप्तकेवलालोक-निरतिशयसुखसम्पत्समन्विता (प्र०....न्वितता) परा। (५) धर्मस्तु सम्यग्दर्शनादिरूपो दानशीलतपोभावनामयः साश्रवानाश्रवो महायोगात्मकः। (६) प्रयत्नः पुनः परमवीर्यसमुत्थ एकरात्रिक्यादिमहाप्रतिमाभावहेतुः समुद्घातशैलेश्यवस्थाव्यङ्ग्यः समग्र इति। अयमेवंभूतो भगो विद्यते येषां ते भगवन्तः। तेभ्यो भगवद्भ्यो नमोऽस्त्विति, एवं सर्वत्र क्रिया योजनीया। तदेवंभूता एव प्रेक्षावतां स्तोतव्या इति स्तोतव्यसम्पत्। (इति १ संपत्।)

भगवंताणं

नामअरहंत आदि चार निक्षेपों में से भावअरहंत भावउपकार करते हैं, और वे भाव-अरहंत की संपत्ति से युक्त होने के नाते ही भावअरहंत हैं, इसलिए उन्हीं संपत्तियों के परिग्रहार्थ 'अरहंताणं' पद के साथ 'भगवंताणं' यह पद देते हैं।

प्र०—भावोपकार का क्या अर्थ है।

उ०—उपकार दो प्रकारका होता है, १. द्रव्य-उपकार एवं २. भाव-उपकार। द्रव्यउपकार में दूसरों को बाहिरी लाभ पहुंचाना, जैसे कि धन-आजीविका-औषध वगैरहकी सहायता करना, यह द्रव्य उपकार है। जब भाव-उपकारमें अन्यको आत्मिक लाभ कराने होता है। जैसे कि पापत्याग, पुण्यार्जन, दुर्गतिनिरोध, सन्मति-समता-समाधि, धर्म के प्राप्ति-वृद्धि इत्यादि का लाभ पहुंचाना। श्री अर्हत् परमात्मा के द्वारा यह भाव उपकार श्रेष्ठ रूपमें किया जाता है, इसलिए उनमें भाव संपत्ति अर्थात् आभ्यन्तर समृद्धि सहज रुपसे है। यह 'भगवंताणं' पद से निर्दिष्ट होती है। 'भगवंत' शब्दका अर्थ है भगवाले।

प्र०—'भग' शब्द से क्या कहना चाहते हैं?

उ०—भगका अर्थ समग्र ऐश्वर्य आदि होता है। कहा है कि,

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य रूपस्य यशसः श्रियः । धर्म्मस्याथ प्रयत्नस्य षण्णां भग इतीङ्गना ॥'

अर्थात् १ समग्र ऐश्वर्य, २ रूप, ३ यश, ४ श्री, ५ धर्म, एवं ६ प्रयत्न, छःकी 'भग' संज्ञा होती है। 'भग' शब्द के ये छःही अर्थ होते हैं। अरहंत परमात्मामें इस प्रकार मिलते हैं।

(१) समग्र ऐश्वर्य परमात्मामें इन्द्रों द्वारा किये गए महाप्रातिहार्य की विभूतिस्वरूप होता है। यह इन्द्रों से भक्ति एवं नम्रभाव वश किया जाता है; और पुण्यानुबन्धी अर्थात् पुण्यकी परंपरा देने वाली भव्य शुभ आत्मपरिणतिका अर्जक भी होता है।

प्र०—प्रातिहार्य किसे कहते हैं।

उ०—१ सिंहासन, २ चामर, ३ भामंडल, ४ छत्र, ५ अशोकवृक्ष, ६ सुरपुष्पवृष्टि, ७ दिव्यध्वनि, ८ देवदुन्दुभि,—ये आठ प्रतिहार्य हैं। (१) अर्हत् परमात्मा को बैठने के लिए रत्नमय सिंहासन सदा साथ ही रहता है। चलते समय वह आकाश में साथ चलता है। (२) प्रभु के दोनों ओर चामर सदा घुमते रहते हैं। (३) प्रभु के शिर के पीछे भव्य तेजका गोलाकार पुञ्ज, जिसका नाम भामंडल होता है, वह सदा चमक उठता है। (४) अरहंत नाथ के ऊपर गगन में मोतियों के झूमके से अलंकृत तीन छत्र सदा साथ रहते हैं। (५) देवाधिदेव अर्हत् की उपदेशभूमि, जो समवसरण कहलाती है, उसके ऊपर सदा समस्त पर्षदाको छाया देनेवाला अशोकवृक्ष बीचमें रहता है। (६) परमात्मा के आसपास चारों ओर देवता सुगन्धित पुष्पवृष्टि करते हैं। (७) समवसरणमें यों तो जगद्गुरु अरहंत देव उत्कृष्ट मधुरतम मालकोश रागमें देशना देते हैं, फिर भी देवता भक्तिवश उसमें वंसरीसे दिव्यध्वनि का सुर पूरते हैं। (८) वहीं भव्य जीवों के लिए मोक्षपुरी के सार्थवाह समान श्री अरहंत परमात्मा के आश्रय ग्रहणार्थ भव्यों कोआनेका सूचन करती देव–दुन्दुभि गगनमें बजती है।

अष्ट प्रातिहार्य के अलावा भी, श्री अर्हत्प्रभुकी देशनाके स्थानके लिए रजत–सुवर्ण–रत्नमय तीन गढ़ों के समवसरणकी रचना, चलते समय प्रभु के पैर रखने के पूर्व नीचे मृदु सुवर्णकमलोंका आयोजन, इत्यादि असाधारण पूजा होती है।

(२) रूप तो इतना अलौकिक होता है, कि इसे समझने के लिए यह दृष्टान्त दिया जाता है कि यदि विश्व के सर्व देवताओं द्वारा अपने दिव्य प्रभावसे सभी के रूप सम्मिलित किये जाएँ और कुल पिंड को भी संकुचित करते करते एक अङ्गुष्ठ के समान बनाया जाए, तब भी वह परमात्मा के रूप के सामने एक अंगार–सा भासेगा, इतना सुन्दरतम प्रभु का रूप, चौत्तीस अतिशयों में से मात्र एक रूप नाम के अतिशयसे जन्मसिद्ध होता है।

(३) यश भगवानका यावच्चन्द्र–दिवाकर प्रतिष्ठित होता है, क्यों कि वह, दुर्जय ऐसे राग–द्वेष–परीसह–उपसर्गादि के आक्रमण में अतुल विजयवंत पराक्रम प्रगट करने से उत्पन्न होता है।

(४) श्री याने शोभा प्रभु में उत्कृष्ट कोटिकी होती है। वह ज्ञानावरण आदि चार घाती कर्मों के नाश करने का जो पराक्रम है, उस के द्वारा प्राप्त केवलज्ञान और अनुपम उत्कृष्ट सुखसंपत्ति से समन्वित होती है, युक्त होती है।

(५) धर्म भी श्रीअर्हत्प्रभु में अवश्य विद्यमान है, जो कि सम्यग्दर्शन आदि स्वरूप होता है, जो दान, शील, तप एवं भावनामय होता है, जो साश्रव और अनाश्रव इन दो प्रकार का कहा जाता है, और महायोगात्मक होता है।

प्र०—सम्यग्दर्शनादि तो गुण है, धर्म कैसे ?

उ०—यहां सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र को धर्म स्वरूप इसीलिए बतलाया कि ये तीनों ही मोक्षके उपाय हैं; और मोक्षके उपाय तो अवश्य धर्म कहलाते ही हैं। सम्यग्दर्शन तत्त्वपरिणति स्वरूप होता है; सम्यग्ज्ञान तत्त्वप्रकाश स्वरूप होता है; और सम्यक् चारित्र तत्त्व-संवेदनात्मक है, जिस में चरणसित्तरि के ७० मूल गुण एवं करणसित्तरि के ७० उत्तरगुणोंका पालन समाविष्ट होता है।

प्र०—दान, शील वगैरह धर्मों से क्या क्या लिए जाते हैं ?

उ०—दान मे जीवोंको अभयदान, ज्ञानदान, और धर्मसामग्रीका प्रदान, समाविष्ट होता है। शील धर्ममें सम्यक्त्व के ६७ व्यवहार, अहिंसादि व्रत, ईर्यासमिति-भाषासमिति वगैरह पंच समिति एवं मनोगुप्ति आदि तीन गुप्ति, इत्यादि आचार अन्तर्भूत होते हैं। तप-धर्म में अनशन आदि षड्विध बाह्य एवं प्रायश्चित्तादि षड्विध आभ्यन्तर तप गिने जाते हैं। भावना धर्ममें अनित्यता-अशरणता-संसार आदिकी अनुप्रेक्षा, तत्त्वका चिंतन, मैत्री आदिकी ४ भावना, संवेग वैराग्य, आदि कई प्रकार यावत् वीतरागता तक सिद्ध करनेका होता है।

प्र०—साश्रव धर्म और अनाश्रव धर्मका क्या तात्पर्य है ?

उ०—प्रवृत्ति रूप धर्म साश्रव धर्म है, और निवृत्ति रूप धर्म निराश्रव धर्म है। परमात्मामें प्रवृत्ति धर्म, भूतल पर पैदल विहरना, धर्मोपदेश करना, सम्यक्त्वादि धर्मका दान करना वगैरह स्वरूप होता है; और निवृत्ति धर्म हिंसा-असत्यादि एवं राग-द्वेषादिसे सर्वथा निवृत्त हो जाना, इत्यादि होता है। प्रवृत्ति-धर्म से आत्मा में शाता वेदनीय नामक शुभ पुण्य कर्म का स्रोत वह आता है इसलिए वह साश्रव धर्म कहलाता है। निवृत्ति धर्म द्वारा ज्ञानावरण आदि समस्त पाप कर्मोंका आस्रवण बन्द हो जाने से वह अनाश्रव धर्म याने निराश्रव धर्म कहा जाता है।

प्र०—महायोगात्मक धर्म से क्या तात्पर्य है ?

उ०—योग कई प्रकार के होते हैं; जैसे कि इच्छायोगादि। 'योगबिन्दु' शास्त्र में अध्यात्म-भावना-ध्यान-समता-वृत्तिसंक्षय, इन पांच प्रकारका योग कहा गया है। 'योग दृष्टि समुच्चय' शास्त्र में मित्रा-तारा इत्यादि आठ दृष्टि स्वरूप योग बतलाया है, इनमें यम-नियम आदि से संप्रज्ञात-असंप्रज्ञात

समाधि पर्यन्त अष्टाङ्गयोग, अद्वेष-जिज्ञासा से लेकर प्रवृत्ति तकका योग, एवं अखेद-अनुद्वेग आदि से अनासङ्ग पर्यंत योग समाविष्ट किये गये हैं । 'विंशति-विंशिका' ग्रन्थ के 'योग विंशिका' प्रकरण में स्थान-ऊर्ण-अर्थ-आलंबन-निरालम्बन, एवं इच्छा-प्रवृत्ति-स्थैर्य-सिद्धि नामके योग कहे गये हैं । इन सभीमे से श्रेष्ठ-कोटिके योग सामर्थ्य योग, वृत्तिसंक्षय योग, पराद्दष्टि, इत्यादि महायोग हैं ।

(६) प्रयत्न नामका 'भग' शब्दका छठवाँ अर्थ भी श्री अरिहंत परमात्मामें उत्कृष्ट वीर्य द्वारा समग्र रूपमें प्रादुर्भूत हुआ है । यह प्रयत्न एकरात्रिकी आदि प्रतिमाभावका उत्पादक होता है; और अन्तमें जा कर केवलि-समुद्घात एवं शैलेशी तकके कार्य से सुज्ञेय है ।

प्र०—प्रतिमा किसे कहते हैं ?

उ०—योग्य हो विशिष्ट आराधनार्थ की जाती प्रतिज्ञाको प्रतिमा कहते हैं । गृहस्थ जीवनमें ग्यारह श्रावकप्रतिमा और साधुजीवन मे बारह भिक्षुप्रतिमा होती हैं । एकरात्रिकी प्रतिमामें प्रतिज्ञाबद्ध हो रात्रिभर कायोत्सर्ग ध्यानमें खडे रह कर देवोंके उपद्रवसे भी चलित न होवे । ऐसा सिद्धशिला सन्मुख ऊँची अनिमेष दृष्टि से एकाग्रचित्त रहना होता है । इस प्रतिज्ञाके पालनमें क्षण मात्र भी स्खलना नहीं की जा सकती; इतना पूरा दत्तचित्त एवं अथाग प्रयत्नशील रहना पड़ता है । यह बारहवी भिक्षु प्रतिमा है ।

प्र०—केवलि समुद्घात क्या चीज है ?

उ०—समुद्घात प्रबल प्रयत्न स्वरूप होता है । यह वैक्रियादि सात प्रकारका होता है । उस प्रसङ्गमें आत्माको प्रबल प्रयत्न करना पडता है । केवलि समुद्घात, यह केवलज्ञानी को अब अवशिष्ट वेदनीय कर्म, नामकर्म और गोत्रकर्मकी स्थितियां अवशिष्ट आयुष्य कर्मकी स्थिति-प्रमाण करनेके लिए, करना आवश्यक होता है । इसका प्रयत्न ऐसा होता है कि सर्वज्ञ भगवान अपनी आत्मा के शरीरव्यापी प्रदेशोंको प्रथम समयमें ऊर्ध्व अधो लोकान्त तक विस्तृत कर एक दण्डसा बनाते हैं । दूसरे समयमें उसीको पूर्वपश्चिम या उत्तरदक्षिण लोकान्त तक विस्तृत कर कपाट रूपमें स्थापित करते हैं । तीसरे समयमें अवशिष्ट दिशामें दण्डको विस्तृत करके मंथानरूप बनाया जाता है । चौथे समय अवशिष्ट कोणके समस्त लोक आत्मप्रदेशसे व्याप्त किया जाता है । बादमें इससे विपरीत क्रमसे आत्मप्रदेशोंका संहार याने सङ्कोच करते करते पांचवें समय मंथान, छठवें समय कपाट, सातवें समय दण्ड और आठवें समय वापिस आत्मप्रदेश मात्र शरीर-व्यापी किये जाते हैं । इतनी क्रियामें कर्मोंकी स्थिति सम हो जाती है । यह केवली समुद्घात, विशिष्ट प्रयत्न-साध्य है ।

इन छः प्रकारोंका 'भग' जिन्हें प्राप्त है, वैसे अरिहंत देव 'भगवान' कहलाते हैं । उन भगवानको नमस्कार हो, यह 'नमो त्थु भगवंताणं' का अर्थ हुआ । इस प्रकार 'आइगराणं, 'तित्थयराणं' इत्यादि हरेक पदके साथ 'नमोऽत्थु=नमस्कार हो' क्रियापद जोड देना चाहिए ।

निष्कर्ष यह आया कि प्रेक्षावान पुरुष के लिए ऐसे अर्हत्पन और भगवंतपनसे युक्त देव ही स्तुति करने योग्य हैं इसलिए 'अरहंताणं भगवंताणं'—यह स्तोतव्य संपदा हुई ॥ (संपदा-१.)

“आइगराणं”

(ल०)–एतेऽपि भगवन्तः प्रत्यात्मप्रधानवादिभिर्मौलिकसांख्यैः सर्वथाऽकर्त्तारोऽभ्युपगम्यन्ते ‘अकर्त्ताऽऽत्मा’–इति वचनात्। तद्व्यपोहेन कथञ्चित् कर्तृत्वाभिधित्सयाऽऽह (‘आइगराणं=) आदिकरेभ्य’ इति।

(प्र०)–‘प्रत्यात्मप्रधानवादिभिः’ इति–सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, सैव प्रधानम्, ततः आत्मानमात्मानं प्रति प्रधानं वदितुं शीलं येषां ते प्रत्यात्मप्रधानवादिनस्तैः। उत्तरे हि साङ्ख्या ‘एकं नित्यं सर्वात्मसु प्रधानम्’ इति प्रतिपन्नाः, तद्व्यवच्छेदार्थं–मौलिकसाङ्ख्यैरित्युक्तम्। तद्ग्रहणमपि च प्रत्यात्म कर्मभेदवादिनां जैनानां कर्तृत्वमात्रविषयैव तैः सह विप्रतिपत्तिरित्यभिप्रायात् कृतम्।

आइगराणं (सांख्यदर्शनका खंडन)

अब ‘आइगराणं’ पदकी व्याख्या करते कहते हैं कि प्रत्येक आत्मा के, साथ अलग अलग ‘प्रधान’ नामक तत्त्व मानने वाले मौलिक सांख्य दर्शन के लोग भगवान को भी सर्वथा अकर्ता मानते हैं; क्यों कि ‘अकर्ताऽऽत्मा’ अर्थात् जीव कर्ता नहीं होता है–ऐसा सांख्यसूत्र है। इस मान्यताका खंडन करके जीवमें कथंचित् कर्तृत्वका प्रतिपादन करने की इच्छा से सूत्रकार ‘आइगराणं’=आदिकरेभ्यः पद जोड़ते हैं। इसका अर्थ है ‘आदि करने वाले को’।

प्र०—यहां ‘मौलिक सांख्य’ ऐसा क्यों कहा ?

उ०—सांख्य दर्शन के दो विभाग हैं,–१. मौलिक सांख्य, और २. उत्तर सांख्य; अर्थात् एक मूलभूत सांख्य दर्शन और दूसरा उत्तरवर्ती यानी पश्चाद्वर्ती सांख्य दर्शन। उत्तर कालके सांख्य ‘एकं नित्यं सर्वात्मसु प्रधानम्’ इस सूत्रसे सभी आत्माओंमें एक ही नित्य ‘प्रधान’ नामक तत्त्वका का स्वीकार करते हैं। इन के निवारणार्थ यहां मौलिक सांख्य–ऐसा कहा गया। मौलिक सांख्योंका ग्रहण भी इस अभिप्रायसे किया कि हरेक आत्मामें अलग अलग कर्म प्रकृतियां मानने वाले जैनोंका उनके साथ यहां मात्र कर्तृत्व संबन्धमें विवाद प्रस्तुत है। यों तो कई प्रकारके विषयमें विवाद है, लेकिन ‘आइगराणं’ पद यहां मात्र कर्तृत्व के विषयमें विवादसूचक है।

प्र०—प्रधान किसे कहते हैं ?

उ०—प्रधान कहो या प्रकृति कहो दोनों एक ही चीज है। प्रकृति त्रिगुणात्मक होती है। सत्व गुण, रजोगुण और तमोगुण इन तीनों की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं। इसमें ये तीनों समान अंशसे होते हैं। संसार के उत्तरोत्तर सभी आविष्कारों में मूल कारण, मूलभूत उपादान यही होनेसे यह प्रकृति कहलाती है, और मुख्य भी यही होनेसे इसे प्रधान शब्दसे संबोधित किया जाता है।

सांख्य लोग कहते हैं कि जगतमें पुरुष और प्रकृति दो तत्त्व हैं। अर्थात् आत्मा चेतन है, और प्रकृति जड है। अनादि कालसे ले कर अनंत काल तक आत्मा सदा शुद्ध कूटस्थ अर्थात्

(ल०)—इत्यादेः (? देः) करणशीला आदिकराः अनादावपि भवे तदा तदा तत्तत्कर्म्मा-णवादिसम्बन्धयोग्यतया विश्वस्यात्मादिगामिनो जन्मादिप्रपञ्चस्येति हृदयम् ।

(पं०)—अनेत्यादि,—'**अनादावपि**' प्रवाहापेक्षया किं पुनः प्रतिनियतव्यक्त्यपेक्षया आदिमति, इति '**अपि**' शब्दार्थः । '**भवे**'=संसारे, '**तदा तदा**'=तत्र तत्र काले, '**तत्तत्कर्म्माणवादिसम्बन्धयोग्यतया**'—'**तत्तत्**'=चित्ररूपं, '**कर्म्माणवो**'=ज्ञानावरणादिकर्म्मपरिणामार्हाः पुद्गलाः, 'आदि'शब्दात्तेषामेव बन्धोदयोदीरणादिहेतवो द्रव्यक्षेत्रकालभावा गृह्यन्ते; तेन '**सम्बन्धः**'=परस्परानुवृत्ति(त्त....प्र०) चेष्टारूपः संयोगः, '**तस्य योग्यता**'=तं प्रति प्रह्वता, तया, '**विश्वस्य**'=समग्रस्य । एवंविधयोग्यतैवात्मनः कर्तृत्वशक्तिरिति । '**आत्मादिगामिनः**'=आत्मपरतदुभयगतस्य, '**जन्मादिप्रपञ्चस्य**' प्रतीतस्य, '**इति हृदयम्**'=एष सूत्रगर्भः ।

अपरिवर्तित नित्य रहती है। और, नित्य भी त्रिगुणात्मक प्रकृति के गुणों में विषम अंश होनेसे यही बुद्धितत्त्व यानी महनतत्त्व रूपमें परिवर्तित होती रहती है। यों बुद्धि प्रकृति का ही एक परिणाम है। बुद्धिमें से अहंकार तत्त्व और अहंकारसे शब्द-रूप-रस-गंध-स्पर्श इन पांचों की सूक्ष्म पंच तन्मात्रायें उत्पन्न होती हैं। तन्मात्राओं से एक ओर पृथ्वी-पानी-अग्नि-वायु-आकाश ये पांच भूत, और दूसरी ओर श्रोत्र-चक्षु-रसना-घ्राण-स्पर्शन ये पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, वाणी-हस्त-पैर-गुदा-लिङ्ग ये पांच कर्मेन्द्रियाँ, और अन्तःकरण यानी मन नामकी आभ्यन्तर इन्द्रिय, इस प्रकार एकादश इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। सब मिलाके २४ प्रकृतिके तत्त्व और १ पुरुष, यों २५ तत्त्व सांख्य मानते हैं। ये कहते हैं कि बुद्धि तत्त्व दर्पणके समान स्वच्छ होनेसे इसमें पुरुषका सिर्फ प्रतिबिम्ब पडता है लेकिन वह भ्रान्तिसे मान लेता है कि बुद्धि के सभी कार्य मैं करता हूं। दरअसल उन कार्योंको बुद्धि ही करती है क्यों कि वे बुद्धिके ही परिणाम हैं। अगर पुरुषके परिणाम होते तो पुरुष कूटस्थ नित्य नहीं रह सकता, और बिना कूटस्थ-नित्यता चैतन्य भी कहा से सुरक्षित रह सकता? इतना ही नहीं, चैतन्य भी पुरुष का ही है किन्तु जड भावों का नहीं यह किस आधार पर? सबब पुरुषमें कूटस्थ नित्यता होनेकी वजह ही चैतन्य है एवं कर्तृत्व नहीं है।

सांख्यमतका निराकरणः जैनमतका प्रदर्शन

जैनदर्शन कहता है कि सांख्योंका यह कथन कि 'आत्मा कर्ता नहीं है'—यह युक्तियुक्त नहीं है, क्यों कि आत्मामें कर्तृत्व होता है। इसीलिए अरहंत प्रभुको 'आदिकर' विशेषण दिया गया है, 'आदिकर' माने जन्म लेनेवाले। यह भी एकबार नहीं, किन्तु बारबार। यह बात ललितविस्तरा-कार ने 'आदिकर' शब्द का 'आदिकरणशील' अर्थ लेकर स्पष्ट किया है। इसका अर्थ है, जन्म-करण के स्वभाववाले, अर्थात कई बार जन्मने रहनेवाले। परमात्मा होने के पूर्व वे सामान्य आत्माकी तरह कई जन्म संसार मे पा चुके हैं। उनकी आत्मा कई जन्मों की कर्ता बन आई है।

प्र०—आत्मा का संसार तो अनादिसे चला आ रहा है, फिर आत्माका कर्तृत्व कैसे?

ल०—अन्यथाऽधिकृतप्रपञ्चासम्भवः प्रस्तुतयोग्यतावैकल्ये प्रक्रान्तसम्बन्धासिद्धेः, अतिप्रसङ्गदोषव्याघातात्, मुक्तानामपि जन्मादिप्रपञ्चापत्तेः, प्रस्तुतयोग्यताऽभावेपि प्रक्रान्तसम्बन्धाविरोधादिति परिभावनीयमेतत्।

(पं०)—विपक्षे बाधकमाह **'अन्यथा'**=अकर्तृत्वे, **'अधिकृतप्रपञ्चासम्भवः'**=विश्वस्यात्मादिगामिनो जन्मादिप्रपञ्चस्यानुपपत्तिः। कुत इत्याह **'प्रस्तुतयोग्यतावैकल्ये,'** 'प्रस्तुतायाः'=अनादावपि भवे तदा तदा तत्तत्कर्माण्वादिसंबन्धनिमित्ताया योग्यतायाः, कर्तृत्वलक्षणायाः,('वैकल्ये'=) अभावे, **'प्रक्रान्तसंबन्धासिद्धेः',**-'प्रक्रान्तैः'=प्रतिविशिष्टैः कर्माण्वादिभिः, 'सम्बन्धस्य' उक्तरूपस्य (असिद्धेः=) अनिष्पत्तेः। एतदपि कुत इत्याह 'अतिप्रसङ्गदोषव्याघाताद्,' एवमभ्युपगमे यो**'ऽतिप्रसङ्गः'**=अतिव्याप्तिः, स एव **'दोषः'** अनिष्टत्वात्, तेन **'व्याघातो'**=अनिवारणं प्रकृतयोग्यतावैकल्ये प्रस्तुतसम्बन्धस्य, तस्मात्। अतिप्रङ्गमेव भावयति-**'मुक्तानामपि'**=निर्वृतानामपि, आस्तामन्येषां. **'जन्मादिप्रपञ्चापत्तेः'**=जन्मादिप्रपञ्चस्यानिष्टस्य प्राप्तेः, कुत इत्याह-**'प्रस्तुतयोग्यताऽभावेऽपि'**=प्रस्तुतयोग्यतामन्तरेणापि, **'प्रक्रान्तसम्बन्धाविरोधात्'**=तत्तत्कर्माण्वादिभिः सम्बन्धस्यादोषाद्, आत्माऽकर्तृत्ववादिनाम्, इत्येवमन्वयव्यतिरेकाभ्यां भावनीयमेतत्।

उ०—संसार अनादि है लेकिन प्रवाहकी दृष्टि से, अर्थात् वह कई जन्मों की अनादि कालसे चली आई एक धारा है। इसमें प्रत्येक जन्म के प्रति भिन्न भिन्न चित्रविचित्र कर्माणुओं का संबन्ध कारण है। यह संबन्ध सामान्य संयोगरूप नहीं किन्तु आत्मप्रदेश और कर्मप्रदेश परस्परके एक रूप-सा, संबन्ध स्वरूप संयोग होता है। 'कर्माणु' का मतलब है ज्ञानावरणीयादि कर्मरूपमें परिणमन के योग्य पुद्गल द्रव्य।

प्रश्न उठता है कि 'वह सम्बन्ध आकाश से क्यों नहीं हुआ, आत्मा के साथ ही क्यों हुआ।' अगर कहा जाए 'आकाश चेतन नहीं, आत्मा चेतन है इसलिए आत्मा के साथ ही सम्बन्ध हो सकता है,' तो भी विचारणीय है कि 'तो फिर मुक्त आत्मा के साथ कर्माणुका सम्बन्ध क्यों नहीं होता? वह तो चेतन है न?'

यहां सांख्यदर्शन कहेगा कि "मुक्त आत्मा को विवेकख्याति यानी 'प्रकृतिसे मैं पृथग् हूं भिन्न हूं,' ऐसा भेदज्ञान हो गया है, जब कि भ्रमाधीन संसारी आत्मा को यह नहीं हुआ है इसलिए प्रकृति का संसार संसारीमें आरोपित होता है, मुक्त आत्मामें नहीं।"

लेकिन सांख्यों को यही सोचने योग्य है कि जब आत्मा सदा शुद्ध एवं कुटस्थ नित्य ही है, तब संसारी जीवमें भी भ्रम कैसा? उसे अगर वह प्राप्त हो सके तो मुक्त जीवमें भी पुनः भ्रम क्यों न हो? इसी वास्ते जैनशासन यह तत्त्व-दर्शन कराता है कि संसारी आत्मामें कर्म-प्रकृति का सम्बन्ध होने की कोई योग्यता अवश्य माननी होगी कि जिसकी वजह से सिद्ध होगा कि इसके साथ ही कर्मसम्बन्ध हो सकता है। अलबत्ता योग्यता एक तरह की होने पर भी, अन्यान्य मिथ्यात्वादि कारण-सामग्री वश भिन्न भिन्न कर्माणुओं का सम्बन्ध आत्मा के साथ हो सकता है। मात्र कर्माणु-

संबन्ध का ही क्या, उन उन कर्मों के १. प्रकृतिबन्ध-स्थितिबन्ध-रसबन्ध-प्रदेशबन्ध, एवं २. उदय, ३. उदीरणा वगैरह उत्पन्न होने में कारणभूत द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके भी संबन्ध,-जिसमें शरीर मन आदिका भी संबन्ध समाविष्ट होता है, उन्हें होने के लिए भी आत्मामें योग्यता माननी आवश्यक है। आत्मामें रही हुई यह कर्माणु आदिके संबन्ध की योग्यता ही कर्तृत्वशक्ति है; जो कि वीतराग अयोग अवस्था पाने पर नष्ट हो जाती है; और तुरन्त मोक्ष पाने पर कभी कर्माणु आदिका सम्बन्ध आत्मा के साथ हो सकता नहीं है। अतः मुक्त जीवमें कभी कर्म सम्बन्ध की आपत्ति नहीं आती है। आत्माको छोडकर शरीरादि अन्य पदार्थों में भी कर्मवश जो भाव उत्पन्न होते हैं, उनके प्रति भी आत्मा मे योग्यता याने कर्तृत्वशक्ति स्वीकार करनी होगी। तात्पर्य, जन्म आदि समस्त विस्तारका कर्तृत्व आत्मा में ही है अतः आत्माको अकर्ता नहीं कह सकते।

जैन मत से आत्मा में कर्तृत्वसिद्धि:-

सांख्यों के प्रति जैन कहते हैं कि आप अगर आत्मा में कर्तृत्व को स्वीकार नहीं करेंगे तो आत्मादि में होने वाले जन्म आदि सृष्टि का उपपादन आप से नहीं हो सकेगा। कारण है कि प्रवाहसे अनादि भी संसार में उस उस समय चित्रविचित्र जन्म आदि सर्जन जो होते हैं, उनमें हेतुभूत हैं, तत्तत् यानी अमुक-अमुक कर्माणु आदि के सम्बन्ध; और वे सम्बन्ध उन उन सर्जन पानेवाले ही आत्मा वगैरह में हो, इस के मूल मे उन आत्मा आदि में रही हुई कोई विशिष्टता अर्थात् योग्यता निमित्तभूत है। ऐसी योग्यता याने कर्तृत्वशक्ति यदि उनमें न हो तो निश्चित है कि कर्म-अणु आदिके साथ उनका सम्बन्ध नही हो सकेगा।

शायद आप पूछ सकते हैं, 'यह भी क्यों?'

तो हम कहते है, यदि विना योग्यता भी सम्बन्ध मान लिया जाए तो मुक्तात्मा मे अतिव्याप्ति होगी! यह तो आपके लिए भी अनिष्ट होने से दोषरूप है, क्यों कि इस से फिर व्याघात होगा अर्थात् मुक्त आत्मा में संसार होने की आपत्ति का निवारण नहीं हो सकेगा। अतिव्याप्ति इस प्रकार

१, कर्म कार्मण नामक पुद्गल द्रव्य मे बनते हैं। मिथ्यात्व-अव्रत-कषायादिके कारण, आत्मा के साथ उनका संबन्ध होता है और उस समय उनमें चार वस्तुएं निश्चित होती हैं। १ उन कर्मों के विभाग हो कर कौन कौन कर्म आत्मा के स्वभावगत ज्ञान दर्शन सहज असायोगिक सुख, तत्त्व श्रद्धा, चारित्र इत्यादि के आवारक अर्थात् आच्छादक प्रकृति वाले होंगे अर्थात् कौन कौन कर्म ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय वगैरह होंगे; यह यह जो निश्चित होता है वह **प्रकृतिबन्ध** है। . वे कर्म कितने काल तक आत्मा में रह कर अपना विपाक याने फल दिखलायेंगे, यह निर्णीत होना, वह **स्थितिबन्ध** है। ३ कर्मों का विपाक भी कितना उग्र या मन्द होगा, इसका निर्णय जिससे हो, वह **रसबन्ध** (अनुभागबन्ध) है। ४ कर्मों मे जो भिन्न भिन्न अणुओं का दल तय होता है वह **प्रदेशबन्ध** कहलाता है।

२, वे कर्म अपनी अपनी काल स्थिति के परिपाक स्वरूप जब आत्मा को अपना फल दिखलाते हैं तब उन कर्मों का उदय हुआ; ऐसा कहा जाता है।

३ इन कर्मों के परिपाक की स्थिति यो तो अभी बाकी है फिर भी आत्मा अध्यवसाय विशेष से उन्हें हठात् खींचकर जो उदय प्राप्त किया जाता है वह है उनकी उदीरणा।

(७०) न च तत्तत्कर्म्माण्वादेरेव तत्स्वभावतया आत्मनस्तथासम्बन्धसिद्धिः, द्विष्ठत्वेनास्योभयोस्तथास्वभावापेक्षितत्वात्; अन्यथा कल्पनाविरोधात्, न्यायानुपपत्तेः । न हि कर्माण्वादेस्तथाकल्पनायामप्यलोकाकाशेन सम्बन्धः, तस्य तत्सम्बन्धस्वभावत्वायोगात् ।

(पं०)—अथ पराशङ्कां परिहरन्नाह '**न च**'=नैव तत्, यदुत '**तत्तत्कर्म्माण्वादेरेव**' उक्तरूपस्य, '**तत्स्वभावतया**'=स आत्मना सह सम्बन्धयोग्यतालक्षणः स्वभावो यस्य तत्तथा (=तत्स्वभावः), तद्भावस्तत्ता (=तत्स्वभावता) तया, '**आत्मनो**'=जीवस्य, '**तथा**'=संबन्धयोग्यतायामिवास्मदभ्युपगतायां, '**सम्बन्धसिद्धिः**' कर्म्माण्वादेरिति । कुत इत्याह '**द्विष्ठत्वेन**'=द्व्याश्रयत्वेन, '**अस्य**'=सम्बन्धस्य, '**उभयोः**'=आत्मनः कर्म्माण्वादेश्च, '**तथास्वभावापेक्षितत्वात्**'=सम्बन्धयोग्यस्वरूपापेक्षित्वात् । विपक्षे बाधकमाह '**अन्यथा**'=आत्मनः सम्बन्धयोग्यस्वभावाभावे, '**कल्पनाविरोधात्**'='कर्म्माण्वादेरेव स्वसम्बन्धयोग्यस्वभावेन आत्मना (सह) सम्बन्धसिद्धिः'—इति कल्पनाया व्याघातात् । कुत इत्याह '**न्यायानुपपत्तेः**', न्यायस्य=शास्त्रसिद्धदृष्टान्तस्यानुपपत्तेः; 'न च तथासम्बन्धसिद्धि'रिति योऽयम् । न्यायानुपपत्तिमेव भावयन्नाह—'**न**'=नैव, '**हि**'=यस्मात्, '**कर्म्माण्वादेः**' उक्तस्वरूपस्य, '**तथाकल्पनायामपि**'=अलोकाकाशसम्बन्धयोग्यस्वभावकल्पनायामपि, किं पुनस्तदभाव इति 'अपि' शब्दार्थः । किमित्याह '**अलोकाकाशेन**' प्रतीतेन, '**सम्बन्धः**'=अवगाह्यावगाहकलक्षणः, कुत एवं इत्याह—'**तस्य तत्सम्बन्धस्वभावत्वायोगात्**' तस्य=अलोकाकाशस्य तेन=कर्म्माण्वादिना सम्बन्धस्वभावत्वं तस्यायोगात् ।

है;—भव पार कर गए दूसरे आत्माओं में भी जन्म आदि सर्जन, कि जो अनिच्छनीय है, वह आ पड़ेगा, कारण, प्रस्तुत योग्यता यानी कर्मादिकर्तृत्वशक्ति उन मुक्त जीवोंमें न होने पर भी उन में संसारी आत्मा की भांति कर्म-अणु आदि के साथ सम्बन्ध निर्दुष्ट हैं, अर्थात् आत्म-अकर्तृत्ववादियों के लिए दोषरूप नहीं है । तात्पर्य, संसारी एवं मुक्त इन दोनोंमें ही योग्यता नहीं, तो संसारी में कर्म-सम्बन्ध और मुक्तमें नहीं, ऐसा क्यों ? अन्वय और व्यतिरेक दोनों के द्वारा यह सोचनीय है ।

प्र०—अन्वय और व्यतिरेक क्या चीज है ?

उ०—एक के होने मे दुसरे का अवश्य होना, यह अन्वय है; और एक के न होने में दुसरे का अवश्य न होना, यह व्यतिरेक है । उदाहरणार्थ, यदि धुवां हो तो अग्नि होना ही चाहिए यह उन का अन्वय है, अग्नि न हो तो धुवां नहीं ही होगा, यह व्यतिरेक है । ऐसे यहां भी कर्म आदि का सम्बध यदि संसारी आत्मा मे योग्यता विना ही हो, तब योग्यतारहित ऐसे मुक्त आत्मा में भी होना चाहिए; और यदि मुक्त आत्मामें योग्यता न होने के कारण कर्मसम्बन्ध न हो, तो संसारी आत्मामें भी नहीं ही होगा ।

यहां सांख्य कर्माणुकी ही योग्यता मान पूछ सकते है कि,

प्र०—जैसे आप आत्मा और कर्म दोनों के तादृश तादृश स्वभाव मानते हैं और संबन्ध बना

(ल०)—अतत्स्वभावे चालोकाकाशे विरुध्यते कर्म्माण्वादेस्तत्स्वभावताकल्पनेतिन्यायानुपपत्तिः, तत्स्वभावताङ्गीकरणे चास्यास्मदभ्युपगतापत्तिः।

(पं०)—भवतु नामैवं, तथापि कथं प्रक्तकल्पनाविरोध इत्याह—'अतत्स्वभावे च'=कर्म्माण्वादिना सम्बन्धायोग्यस्वभावे च, 'अलोकाकाशे' 'विरुध्यते'=असम्बन्धद्वारायातया अतत्स्वभावताकल्पनया निराक्रियते 'कर्म्माण्वादेस्तत्स्वभावताकल्पना', 'इति'=एवं 'न्यायानुपपत्तिः'=न्यायस्योक्तलक्षणस्यानुपपत्तिः, प्रयोग श्च—यो येन स्वयमसम्बन्धयोग्यस्वभावो भवति, स तेन कल्पितसम्बन्धयोग्यस्वभावेनापि न सम्बध्यते, यथाऽलोकाकाशं कर्म्माण्वादिना, तथा चात्मा कर्म्माण्वादिभिरिति व्यापकानुपलब्धिः। एवं तर्हि तत्स्वभावोऽयमङ्गीकरिष्यते इत्याह—'तत्स्वभावताङ्गीकरणे च' कर्म्माण्वादिसम्बन्धयोग्यरूपाभ्युपगमे च, 'अस्य'=आत्मन. 'अस्मदभ्युपगतापत्तिः'=अस्माभिरभ्युपगतस्य कर्तृत्वस्यापत्तिः प्रसङ्गः।

लेते हैं, इसकी जगह केवल भिन्न भिन्न कर्माणु आदि ही आत्मा के साथ संबन्ध होने योग्य स्वभाववाले माने जाएँ, तो क्या हर्ज है ? इस से भी आत्मा के साथ इनका संबन्ध हो सकेगा।...

ऐसा आप पूछेगे, लेकिन जैन कहते हैं कि:—

उ०—ऐसा नही बन सकता, क्यों कि संबन्ध एक ऐसा पदार्थ है कि वह एक मात्र मे नहीं किंतु दोनों में हा रह सकने के कारण दोनों के ही तथास्वभाव की अपेक्षा करता है। अतः यहां आत्मा में भी संबन्धयोग्य स्वभावकी आवश्यकता है। इससे विपरीत कल्पना अर्थात् आत्मामें ऐसे संबन्धयोग्य स्वभाव के विना ही केवल कर्माणु के तादृश स्वभाववश संबन्ध होने की कल्पना व्याहत है विरुद्ध है, क्योंकि इसमे न्याय यानी शास्त्रप्रसिद्ध दृष्टान्तकी असंगति हो जाती है; इसलिए ऐसा संबन्ध सिद्ध हो सकता नही है। असङ्गति इस प्रकार है,

न्यायकी असंगतिः—जैनशास्त्र कहते है कि जितने आकाश के भाग मे सभी के सभी जीव, पुद्गल, आदि द्रव्य रहते हैं, इतना आकाश भाग 'लोकाकाश' कहा जाता है, बाकी आकाश के खाली अनंत हिस्सा का नाम 'अलोकाकाश' है। लोकाकाश मे जो कर्माणु द्रव्य अवगाहित होते हैं उसका उनके साथ अवगाह्य-अवगाहक संबन्ध होता है। यह संबन्ध होनेके लिए कर्माणु आदि द्रव्य और लोकाकाश, दोनो में वैसा संबन्धयोग्य स्वभाव होना आवश्यक है।

प्र०-स्वभाव दोनोंमें क्यों माना जाए ? केवल कर्माणु आदि द्रव्यों में ही रहे हुए स्वभाववश क्या सम्बन्ध नहीं घट सकता ? ऐसी कल्पना मे क्या विरोध है ?

उ०-नहीं, तब तो यह भी प्रश्न होगा कि उन द्रव्यों का संबन्ध लोकाकाश की तरह अलोकाकाश में भी क्यों न हो ? वास्तवमें होता तो नहीं है, अर्थात वे द्रव्य अलोकमें अवगाहित होते नहीं है, यह एक सिद्ध हकीकत है। ऐसी परिस्थिति मे, दोनों मे नहीं किन्तु एक केवल कर्माणु आदि द्रव्यों मे आकाश-संबंध के योग्य स्वभाव मान लेने का क्या उपयोग ? वैसा स्वभाव होने पर भी अलाकाकाशमें द्रव्यसंबन्ध तो होता नहीं है। असंबन्ध से यह फलित होता है कि अलोकाकाश में वैसा स्वभाव नहीं है। और वह न होने के कारण ही यह प्राप्त होता है कि

(ल०)–न चैवं स्वभावमात्रवादसिद्धिः, तदन्यापेक्षित्वेन सामग्र्याः फलहेतुत्वात्, स्वभावस्य च तदन्तर्गतत्वेनेष्टत्वात्। निर्लोठितमेतदन्यत्र। इति 'आदिकरत्व'सिद्धिः ॥ ३ ॥

(पं०)–अत्रैव शङ्काशेषनिराकरणायाह 'न च'=नैव, 'एवं'=एतत्स्वभावताङ्गीकरणे, 'स्वभावमात्रवादसिद्धिः'=स्वभावमात्रवादस्य—'कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं विचित्रभावं मृगपक्षिणां च। स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं, न कामचारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः, एवंलक्षणस्य सिद्धिः। कुत इत्याह 'तदन्यापेक्षित्वेन'=स्वभावव्यतिरिक्तकालाद्यपेक्षित्वेन, 'सामग्र्याः'=कालः स्वभावः नियतिः पूर्वकृतं पुरुषश्च–इत्येवंलक्षणायाः, 'फलहेतुत्वात्'=फलं कार्यं प्रति निमित्तत्वात्। कथं तर्हि प्राक् स्वभावः एव फलहेतुरुपन्यस्त इत्याह 'स्वभावस्य च' 'तदन्तर्गतत्वेन'=सामग्र्यन्तर्गतत्वेन, 'इष्टत्वात्' फलहेतुतया। 'निर्लोठितं'=निर्णीतम्, 'एतत्'=सामग्र्याः फलहेतुत्वम्, 'अन्यत्र'=उपदेशपदादौ।

कर्माणु आदि द्रव्योंमें भी अलोक-संबन्ध योग्य स्वभाव नहीं है। अर्थात् अलोक के ऐसे अ-स्वभावसे ही कर्माणु आदि का भी यह स्वभाव सहज ही निषिद्ध हो जाता है।

नियम यह है कि जो जिससे संबद्ध होने योग्य स्वभाववाला नहीं, उसका उसके साथ सबन्ध नहीं हो सकता है, चाहे वह दूसरा पदार्थ संबन्ध के अनुकूल कल्पित स्वभाववाला क्यों न हो। उदाहरणार्थ, अलोकाकाश स्वयं कर्माणुसंबन्धयोग्य स्वभाववाला न होने से कर्माणु-संबन्धवाला नहीं होता है, चाहे कर्माणु ऐसे संबन्धयोग्य कल्पित स्वभाववाला क्यों न हो। इसी प्रकार सांख्य यदि मानें कि आत्मा कर्माणुसंबन्ध के अनुकूल स्वभाववाला नहीं है तो उसका कर्माणुओं के साथ संबन्ध नहीं बन सकेगा। यहां जो नियम बतलाया गया कि 'जो अमुक संबन्धवाला होता है, वह अवश्य संबन्धयोग्य स्वभाववाला होता है,' इस नियम में 'जो' पद के साथ लिया गया 'संबन्ध' व्याप्य कहलाता है, और 'वह' के साथ लिया गया 'तत्संबन्धयोग्य स्वभाव' व्यापक कहलाता है। व्याप्य-व्यापक में नियम कह आये हैं कि जहां व्याप्य होता है वहां व्यापक अवश्य होता है; इससे उलटा जहां व्यापक नहीं, वहां व्याप्य भी नहीं हो सकता है। इस नियम के आधार पर प्रस्तुत में यह सिद्ध होता है कि जहां तत्संबन्धयोग्य स्वभाव नहीं है, वहां तत्संबन्ध नहीं बन सकता अर्थात् आत्मा में कर्माणु आदि के साथ संबन्ध होने योग्य स्वभाव के बिना कर्माणु आदि के साथ संबन्ध निष्पन्न नहीं हो सकता है। फलतः उन संबन्ध पर निर्भर जन्मादि सद्भव नहीं हो सकेगा। और यदि वह सद्भव करने के लिए आत्मा में संबन्धयोग्य स्वभाव मान लेंगे, तो वही कर्तृत्व-शक्ति रूप होने से हम से स्वीकृत आत्म-कर्तृत्व का ही आपने स्वीकार कर लिया!

स्वभाववादः पंचकारणवादः—

प्र०–आत्मादि का एसा स्वभाव मानने पर तो शुद्ध स्वभाववाद ही सिद्ध होगा न? स्वभाव वादीने कहा भी है कि 'कांटोको तीक्ष्ण बनानेको कौन जाता है? एवं मृग और पक्षियों को चित्रविचित्र बनाने के लिए कौन प्रयत्न करता है? कोई नहीं, ये सब स्वभावतः उत्पन्न होते हैं;

यहां जब किसी की इच्छा काम नहीं आती कि ऐसा ही सर्जन हो, तब प्रयत्न की तो बात ही क्या ?'-अर्थात् स्वभाव मात्रसे ही कार्य बनता है यह सिद्ध होगा न ?

उ०—नहीं, कार्योत्पत्ति के लिए सामग्री में स्वभाव के अलावा काल वगरेह और भी कारण अपेक्षित हैं। १ काल-२ स्वभाव-३ नियति-४ भाग्य-५ पुरुषार्थ ये पांचो स्वरूप सामग्री है, पांचों संयुक्त हो कर ही अपने कार्यजनन के प्रति निमित्तभूत होती है *। शायद आप पूछ सकते हैं,

प्र०-तब पहले आत्मामें कर्तृत्व के स्वभाव मात्र को कारण सिद्ध करने का यत्न क्यों किया गया ?

उ०—हम कहते हैं कि स्वभाव भी सामग्री में अन्तर्भूत हो कर ही कार्य के प्रति कारण होता है, सामग्री कारण कैसे हो सकती है, यह बात हमने "उपदेशपद" आदि ग्रन्थों में सिद्ध की है। इस प्रकार आदिकरत्व की सिद्धि हुई। अब तीर्थंकरत्वकी सिद्धि बतलाते हैं।

* जैन दर्शन दिखलाता है कि कार्य होने में पांचो कारण आवश्यक है, लेकिन कहीं कहीं इन में से अमुक अमुक कारण की प्रधानता गिनी जाती है। उदाहरणार्थ, गर्भ-परिपाक में और कारण हेतुभूत होते हुए भी काल की प्रधानता है; ९ मास का काल मिलने पर ही वह पूर्ण होता है। दूध से दही, बीज से पाक, इत्यादि काल जाने पर ही बनता है। भिन्न भिन्न फल-फूलादि अमुक ऋतु के काल में ही तैयार होते हैं। युवावस्था आदि में भी काल प्रधान कारण है। ऐसे दहन में अग्नि का और शैत्यसंपादन में जलका स्वभाव कार्य करता है। उस उस फल होने में उस उस बीज का स्वभाव मुख्य कारण है। मिट्टी का स्वभाव ही ऐसा है कि इस से घड़ा बने, [illegible] नहीं। भव्य जीव का ही ऐसा स्वभाव है कि वह मोक्ष पा सके, अभव्य नहीं। इस प्रकार कितनेक कार्य में नियति अर्थात् भवितव्यता मुख्य कारण कही जाती है। जैसे कि, अन्यान्य कारण मिलने पर कार्य संपन्न होने का अवसर आया, लेकिन भवितव्यता कोई ऐसी हो तो कार्य नहीं हो पाता। आम के वृक्ष पर कई खट्टे आमें में और कई मधुर आम में परिणत होते हैं; इस में भवितव्यता संचालक होती है। भवितव्यता से अघटित घटना बन जाती है और घटित योजना निष्फल होती है। दृष्टान्त से वृक्ष पर बैठे हुए पक्षी पर शिकारी पुरुष और हिंसक पक्षी दोनों की चोट होने पर भी पुरुष को उसी समय सर्प डसा, और उस से उस का बाण हिंसक पक्षी को उसी समय लगा, दोनों मरे और पक्षी बच गया; ऐसी परिस्थिति में भवितव्यता के अलावा और कौन निमित्त माना जाए ? यों, [illegible] विचित्र घटना, राम का वनवास, सीताहरण, सीता पर कलंक, पांडव को दरिद्रता, अंकिय [illegible] इत्यादि में भाग्य (कर्म) प्रधान कारण है। किन्तु मोक्षगमन और क्षमादि गुणों की साधना में पुरुषार्थ (उद्यम) प्रधान कारण बनता है। राम ने पुरुषार्थ से रावण पर विजय पाया और सीता मिली। [illegible] वगैरह मूर्ति-निर्माण आदि कार्य उद्यम से सिद्ध हो सकते हैं। यों भिन्न भिन्न कारण की प्राधान्य होने पर भी जैसे केवल [illegible] में पांचों अमुक निमित्त होते हैं वैसे कार्य बनने में पांचों कारण निमित्त होते हैं।

४. तित्थयराणं–(तीर्थंकरेभ्यः)

(ल०)—एवमादिकरा अपि कैवल्यावाप्त्यनन्तरापवर्गवादिभिरागमधार्म्मिकैरतीर्थकरा एवेष्यन्ते 'अकृत्स्नकर्म्मक्षये कैवल्याभावाद्'इतिवचनात् । तन्निरासेनैषां तीर्थकरत्वप्रतिपादनायाह 'तीर्थंकरेभ्यः' इति ।

(पं०)—'आगमधार्म्मिकै'रिति=आगमप्रधाना धार्म्मिका आगमधार्म्मिका वेदवादिनस्तैः । ते हि धर्माधर्म्मादिकेऽतीन्द्रियार्थे आगममेव प्रमाणं प्रतिपद्यन्ते, न प्रत्यक्षादिकमपि, यदाहुस्ते " अतीन्द्रियाणामर्थानां साक्षाद् द्रष्टा न विद्यते । वचनेन हि नित्येन यः पश्यति स पश्यति ॥ १ ॥ " इति ।

---

४. तित्थयराणं

तीर्थंकर नहीं मानने वालों का पूर्वपक्षः—

आगमधार्मिक अर्थात् आगमको प्रधान करने वाले वेदवादी लोग परमात्मा को इस प्रकार आदिकर मानते हुए भी तीर्थंकर नहीं मानते हैं । क्यों कि वे कैवल्य-प्राप्ति के अनन्तर तुरन्त मोक्ष मानते हैं । 'अकृत्स्नकर्मक्षये कैवल्याभावात्,' यह उनका सूत्र है; जिसका अर्थ है समस्त कर्मों के क्षय बिना कैवल्य होता नहीं है । कैवल्यकी प्राप्ति के पूर्व तो स्वयं अपूर्ण होने से तीर्थस्थापन कैसे करे ? और कैवल्य प्राप्ति के बाद मोक्ष ही हो जाने से तीर्थस्थापन का अवसर ही रहता नहीं है । इसलिए वे तीर्थंकर नहीं हैं । तब प्रश्न हो सकता है कि

प्र०—धर्म-अधर्म अर्थात् शुभाशुभ भाग्य जो अतीन्द्रिय पदार्थ हैं, चर्मचक्षु से दृश्य नहीं हैं, उन की व्यवस्थामें क्या प्रमाण है ?

उ०—इस में प्रमाण वेदशास्त्र आगम ही हैं । ऐसे अतीन्द्रिय पदार्थ प्रत्यक्ष-अनुमानादि प्रमाण के द्वारा ज्ञात हो सकते नहीं हैं। कहा है कि,—

'अतीन्द्रियाणामर्थानां साक्षाद् द्रष्टा न विद्यते । वचनेन हि नित्येन यः पश्यति स पश्यति ॥'

अतीन्द्रिय पदार्थों का कोई साक्षात् द्रष्टा नहीं हो सकता; जो नित्य आगम से जानता है वही उनका द्रष्टा है । पुरुष मात्र दोषपात्र होनेका संभव है, और सदोष पुरुष पूर्ण आप्त बन सकता नहीं है, इसलिए उसका कथन कैसे प्रमाणभूत माना जाए ? इसलिए हम कहते हैं कि वेदशास्त्र जो कि अपौरुषेय (किसी पुरुषसे नहीं रचा गया) और नित्य हैं, वे निर्दोष होने के नाते अतीन्द्रिय पदार्थों की प्रमाणभूत व्यवस्था बतलाते हैं । इसलिए कोई पुरुष स्वतन्त्र रूपसे अतीन्द्रिय पदार्थ के शास्त्ररचयिता अर्थात् तीर्थंकर नहीं हो सकता है । इस मतका निरास करने हेतु परमात्मा में तीर्थंकरता स्थापित करने के लिए कहते हैं तित्थयराणं (तीर्थंकरेभ्यः) ।

तीर्थंकर मानने वालोंका उत्तरः—

यहां तीर्थंकर वे हैं जो तीर्थ रचनेके स्वभाववाले हैं । यह तीर्थरचना अचिन्त्य प्रभावशाली तीर्थंकर-नामकर्म (जिननामकर्म) नामक महापुण्य कर्म के विपाक-उदयसे होती है । ऐसे

यहां जब किसी की इच्छा काम नहीं आती कि ऐसा ही सर्जन हो, तब प्रयत्न की तो बात ही क्या ?'-अर्थात् स्वभाव मात्रसे ही कार्य बनता है यह सिद्ध होगा न ?

उ०—नहीं, कार्योत्पत्ति के लिए सामग्री में स्वभाव के अलावा काल वगैरह और भी कारण अपेक्षित हैं। १ काल–२ स्वभाव–३ नियति-४ भाग्य–५ पुरुषार्थ ये पांचो 'स्वरूप सामग्री है, पांचों संयुक्त हो कर ही अपने कार्यजनन के प्रति निमित्तभूत होती है *। शायद आप पूछ सकते हैं,

प्र०–तब पहले आत्मामें कर्तृत्व के स्वभाव मात्र को कारण सिद्ध करने का यत्न क्यों किया गया ?

उ०—हम कहते हैं कि स्वभाव भी सामग्री में अन्तर्भूत हो कर ही कार्य के प्रति कारण होता है, सामग्री कारण कैसे हो सकती है, यह बात हमने "उपदेशपद" आदि ग्रन्थों में सिद्ध की है। इस प्रकार आदिकरत्व की सिद्धि हुई। अब तीर्थकरत्वकी सिद्धि बतलाते हैं।

* जैन दर्शन दिखलाता है कि कार्य होने में पांचो कारण आवश्यक है, लेकिन कहीं कहीं इन में से अमुक अमुक कारण की प्रधानता गिनी जाती है। उदाहरणार्थ, गर्भ-परिपाक में और कारण हेतुभूत होते हुए भी काल की प्रधानता है; ९ मास का काल मिलने पर ही वह पूर्ण होता है। दूध से दही, बीज से पाक, इत्यादि काल आने पर ही बनता है। भिन्न भिन्न फल-फलादि अमुक ऋतु के काल में ही तैयार होते हैं। युवावस्था आदि में भी काल प्रधान कारण है। ऐसे दहन में अग्नि का और शैत्यसंपादन में जलका स्वभाव कार्य करता है। उस उस फल होने में उस उस बीज का स्वभाव मुख्य कारण है। मिट्टी का स्वभाव ही ऐसा है कि [illegible] से घड़ा बने, वस्त्र नहीं। भव्य जीव का ही ऐसा स्वभाव है कि वह मोक्ष पा सके, अभव्य नहीं। इस प्रकार कितनेक कार्य में नियति अर्थात् भवितव्यता मुख्य कारण कही जाती है। जैसे कि, अन्यान्य कारण मिलाने पर कार्य संपन्न होने का अवसर आया, लेकिन भवितव्यता कोई ऐसी हो तो कार्य नहीं हो पाता। आम के वृक्ष पर कई खट्टे आमें में और कई मधुर आम में परिणत होते हैं: इस में भवितव्यता संचालक होती है। भवितव्यता से अचिंत्य घटना बन आती है और घटित योजना निष्फल होती है। दृष्टान्त से वृक्ष पर बैठे हुए पक्षी पर शिकारी पुरुष और हिंसक पक्षी दोनों की चोट होने पर भी पुरुष को उसी समय सर्प डसा, और इस से इस का बाण हिंसक पक्षी पर उसी समय लगा, दोनों मरे और पक्षी बच गया; ऐसी परिस्थित में भवितव्यता के अलावा और कौन निमित्त माना जाए ? यों, लोगों में विचित्र घटना, राम का वनवास, सीताहरण, सीता पर कलंक, पंडित को दरिद्रता, औचित्य सुख दुःख इत्यादि में भाग्य (कर्म) प्रधान कारण है। किन्तु मोक्षमार्ग और शमदमादि गुणों की साधना में पुरुषार्थ (उद्यम) प्रधान कारण बनता है। राम ने पुरुषार्थ से रावण पर विजय पाया और सीता मिली। शिल्पी वगैरह मूर्तिनिर्माण आदि कार्य उद्यम से सिद्ध कर सकते हैं। यों भिन्न भिन्न कारण की अग्रता होने पर भी जैसे कवल लेने में पांचों अंगुल निमित्त होती है वैसे कार्य बनने में पांचों कारण निमित्त होते हैं।



४. तित्थयराणं-(तीर्थंकरेभ्यः)

(ल०)—एवमादिकरा अपि कैवल्यावास्यनन्तरापवर्गवादिभिरागमधार्म्मिकैरतीर्थकरा एवेष्यन्ते 'अकृत्स्नकर्मक्षये कैवल्याभावाद्'इतिवचनात्। तन्निरासेनैषां तीर्थकृत्त्वप्रतिपादनायाह 'तीर्थकरेभ्यः' इति।

(पं०)—'आगमधार्म्मिकै'रिति=आगमप्रधाना धार्म्मिका आगमधार्म्मिका वेदवादिनस्तैः। ते हि धर्माधर्म्मादिकेऽतीन्द्रियार्थे आगममेव प्रमाणं प्रतिपद्यन्ते, न प्रत्यक्षादिकमपि, यदाहुस्ते " अतीन्द्रियाणामर्थानां साक्षाद् द्रष्टा न विद्यते। वचनेन हि निन्येन यः पश्यति स पश्यति ॥ १ ॥ " इति।

---

४. तित्थयराणं

तीर्थंकर नहीं मानने वालों का पूर्वपक्षः—

आगमधार्मिक अर्थात् आगमको प्रधान करने वाले वेदवादी लोग परमात्मा को इस प्रकार आदिकर मानते हुए भी तीर्थंकर नहीं मानते हैं। क्यों कि वे कैवल्य-प्राप्ति के अनन्तर तुरन्त मोक्ष मानते हैं। 'अकृत्स्नकर्मक्षये कैवल्याभावात्,' यह उनका सूत्र है; जिसका अर्थ है समस्त कर्मों के क्षय विना कैवल्य होना नहीं है। कैवल्यकी प्राप्ति के पूर्व तो स्वयं अपूर्ण होने से तीर्थस्थापन कैसे करे? और कैवल्य प्राप्ति के बाद मोक्ष ही हो जाने से तीर्थस्थापन का अवसर ही रहता नहीं है। इसलिए वे तीर्थंकर नहीं हैं। तब प्रश्न हो सकता है कि

प्र०—धर्म-अधर्म अर्थात् शुभाशुभ भाग्य जो अतीन्द्रिय पदार्थ हैं, चर्मचक्षु से दृश्य नहीं हैं, उन की व्यवस्थामें क्या प्रमाण है?

उ०—इस में प्रमाण, वेदशास्त्र आगम ही हैं। ऐसे अतीन्द्रिय पदार्थ प्रत्यक्ष-अनुमानादि प्रमाण के द्वारा ज्ञात हो सकते नहीं हैं। कहा है कि,—

'अतीन्द्रियाणामर्थानां, साक्षाद् द्रष्टा न विद्यते। वचनेन हि नित्येन यः पश्यति स पश्यति ॥'

अतीन्द्रिय पदार्थों का कोई साक्षात् द्रष्टा नहीं हो सकता; जो नित्य आगम से जानता है वही उनका द्रष्टा है। पुरुष मात्र दोषपात्र होनेका संभव है, और सदोष पुरुष पूर्ण आप्त बन सकता नहीं है, इसलिए उसका कथन कैसे प्रमाणभूत माना जाए? इसलिए हम कहते हैं कि वेदशास्त्र जो कि अपौरुषेय (किसी पुरुषसे नहीं रचा गया) और नित्य हैं, वे निर्दोष होने के नाते अतीन्द्रिय पदार्थों की प्रमाणभूत व्यवस्था बतलाते हैं। इसलिए कोई पुरुष स्वतन्त्र रूपसे अतीन्द्रिय पदार्थ के शास्त्ररचयिता अर्थात् तीर्थंकर नहीं हो सकता है। इस मतका निरास करने हेतु परमात्मा में तीर्थंकरता स्थापित करने के लिए कहते हैं तित्थयराणं (तीर्थंकरेभ्यः)।

तीर्थंकर मानने वालोंका उत्तर :—

यहां तीर्थंकर वे हैं जो तीर्थ रचनेके स्वभाववाले हैं। यह तीर्थरचना अचिन्त्य प्रभावशाली तीर्थंकर-नामकर्म (जिननामकर्म) नामक महापुण्य कर्म के विपाक-उदयसे होती है। ऐसे

(ल०)—तत्र तीर्थकरणशीलाः तीर्थकराः, अचिन्त्यप्रभावमहापुण्यसंज्ञिततन्नामकर्म्मविपाकतः, तस्यान्यथावेदनाऽयोगात्। तत्र येनेह जीवा जन्मजरामरणसलिलं मिथ्यादर्शनाविरतिगम्भीरं महाभीषणकषायपातालं सुदुर्लङ्घ्यमोहावर्त्तरौद्रं विचित्रदुःखौघदुष्टश्वापदं रागद्वेषपवनविक्षोभितं संयोगवियोगवीचीयुक्तं प्रबलमनोरथवेलाकुलं सुदीर्घं संसारसागरं तरन्ति तत्तीर्थमिति। एतच्च यथावस्थितसकलजीवादिपदार्थप्ररूपकं अत्यन्तानवद्यान्याविज्ञातचरणकरणक्रियाऽऽधारं त्रैलोक्यगतशुद्धधर्मसम्पद्युक्तमहासत्त्वाश्रयं अचिन्त्यशक्तिसमन्विताविसंवादिपरमबोहित्थकल्पं प्रवचनं सङ्घो वा, (प्र०...'वा' नास्ति) निराधारस्य प्रवचनस्यासम्भवात्। उक्तं च–' तित्थं भंते ! तित्थं ? तित्थगरे तित्थं ? गोयमा ! अरहा ताव नियमा तित्थंकरे, तित्थं पुण चाउव्वण्णो समणसङ्घो '। (प्रत्यन्तरे—'अरिहा')

(पं०)—' महाभीषणकषायपातालम् 'इति=पातालप्रतिष्ठितत्वात् तद्वद्गम्भीरत्वाच्च पातालानि, योजनलक्षप्रमाणाश्चत्वारो महाकलशाः, यथोक्तम् ' पणनउई उ सहस्सा, ओगाहित्ता चउद्दिसिं लवणं। चउरोऽलिंजरसंठाणसंठिया होंति पायाला॥' ततो महाभीषणाः कषाया एव पातालानि यत्र स तथा तम्, ' त्रैलोक्यगतशुद्धधर्मसम्पद्युक्तमहासत्त्वाश्रयमिति',—त्रैलोक्यगता=भुवनत्रयवर्त्तिनः, 'शुद्धया'=निर्दोषया 'धर्मसम्पदा'=सम्यक्त्वादिरूपया,'युक्ताः=समन्विताः,'महासत्त्वाः'=उत्तमप्राणिनः 'आश्रयः'=आधारो यस्य तत्तथा।

पुण्यवान परमात्मा उस पुण्यकर्म के वेदनकालमें अर्थात् फलभोगकाल में तीर्थस्थापन करते हैं । उस कर्म का वेदन और किसी प्रकारसे नहीं हो सकता है, तीर्थकरण द्वारा ही वेदन हो सकता है ।

तीर्थ :– प्र०–तीर्थ किसे कहते हैं ?

उ०–जिसके अवलम्बनसे जीव संसार सागरको तैर जाए उसे तीर्थ कहते हैं । ऐसा है प्रवचन या संघ । क्यों कि यह जीव पर लगे हुए बहुत लम्बे संसार से जीवको तार देता है ।

संसार में जन्म–जरा–मृत्यु स्वरूप पानी है; मिथ्यादर्शन और अविरति की गंभीरता है गहराई है; महाभयङ्कर क्रोधादि कषाय पाताल–स्थानमें हैं; अत्यन्त दुर्लङ्घ्य मोहरूप आवर्त (भमरी) से यह भयानक है; भिन्न भिन्न भाँतिके दुःखों के राशि स्वरूप दुष्ट जलचर जन्तु इस में भरे हैं; रागद्वेष रूप पवनसे वह खलबल हुआ है; संयोग–वियोगों की तरङ्गोंसे भरा हुआ है; प्रबल मनोरथ रूप ज्वार सहित है ।

(जन्म, जरा और मृत्यु की सतत धारा में रहते हुए जीवों को मिथ्यादर्शनादि उपाधियाँ लगी हैं, इसलिए जन्म आदि भवसमुद्र के पानी के स्थानमें हैं । मिथ्यादर्शन मिथ्यात्व को कहते हैं; और यह, सर्वज्ञ से कथित नहीं ऐसे अतत्त्व की श्रद्धा स्वरूप है। अविरति है हिंसादि पापोंका प्रतिज्ञापूर्वक त्याग न होना । वे दोनों संसार समुद्रकी गहराई समान हैं क्योंकि इनमें से बाहिर आना अत्यन्त मुश्किल है । क्रोध–मान–माया–लोभ ये चार महाभयङ्कर कषाय चार पाताल–कलशों के स्थानमें हैं । इस पर संसारसमुद्र आधारित है और मनोरथों के ज्वार

उत्थित होते हैं। यहां जो एकेक लक्ष योजन के प्रमाणवाले चार महाकलश पाताल में नित्य स्थायी होते हैं वे पाताल के समान गहरे होने से, उनको पाताल कहा गया। शास्त्रमें कहा है कि 'लवण'समुद्रमें नीचे चार दिशाओं में अवगाहित ऐसे ९५००० योजन प्रमाण घड़ेकी आकृति-वाले चार पातालकलश होते हैं। इनमें नीचे रहे हुए वायु से ऊपरका जल प्रतिदिन नियमबद्ध प्रेरित होनेकी वजह से समुद्रमें नियमबद्ध ज्वार आते हैं। इस प्रकार संसार-सागर के मूल में कषाय रूप पातालकलश है, और उन में से मनोरथ स्वरुप ज्वार उठते हैं। एवं भवसमुद्रमें मोह आवर्त्त-सा है। आवर्त्त है ऐसा जलभाग जो सदा बहुत जल्दी गोलाकारमें घूमता रहता है। जिसमें फँसे हुए नाव या मनुष्य बाहिर निकल नहीं पाते हैं। यों मोह, जो कि अज्ञान-मूढता-व्युद्ग्रह-काम वासनाएँ आदि स्वरूप हैं, वह एक ऐसा आवर्त्त है जिसे लंघना बहुत कठिन है। अपरं च जन्म-मृत्यु आदिकी पीडा-अनिष्टसंयोग-इष्टवियोग-रोग-शोक-दारिद्र-पराधीनता-अपमान-तिरस्कार क्षुधा-तृषा-प्रहार-वध इत्यादि अनेकविध दुःख संसारसागरमें जलजन्तुकी तरह व्याप्त रहते हैं। यह संसार रागद्वेषसे सदा क्षुब्ध रहने के कारण आत्मामें हमेशा अस्वस्थता रहती है। एवं इष्टानिष्ट कई सहस्र संयोग-वियोगोंके तरंग उल्लसित रहते हैं जिनमें सुख अत्यल्प और दुःख अनंत होता है। पुनः ऐसी अगणित प्रबल आशाओंके ज्वारों में जीव कर्षित होता है कि जो बहुधा निष्फल होने के कारण मात्र दुःखद होती हैं इतना ही नहीं, किन्तु नई नई आशाओंको जन्म दे जाती हैं, फलतः दुःख ही प्राप्त होता है।)

ऐसा संसार अनादि अनन्त काल से चला आ रहा है, अतः अत्यन्त लम्बा है। ऐसे संसारसे पार करनेवाले उपाय को तीर्थ कहते हैं। ऐसा तीर्थ जिनप्रवचन है या जैन संघ है।

प्र०-जैन संघ तीर्थ कैसे?

उ०-प्रवचन किसी आधार विना नहीं रह सकता है, इसलिए तीर्थस्वरुप जो प्रवचन उसका आधारभूत सङ्घ भी तीर्थ है। श्रमण भगवान महावीर परमात्मा से गणधर श्री गौतम स्वामीजी महाराजने यह प्रश्न किया कि 'हे भगवन्! तीर्थ कौन है? तीर्थ तीर्थ है या तीर्थंकर तीर्थ है?' प्रभुने उत्तर देते हुए कहा कि 'गौतम! अरिहंत तो अवश्य तीर्थ करनेवाले हैं, जब कि तीर्थ है साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका ये चारों प्रकारोंका श्रमण संघ'। यहां श्रमण शब्दका अर्थ केवल मुनि नहीं लेना है, किन्तु 'जिनवचनानुसार जो श्रमे अर्थात् तप करे वह श्रमण'-यह अर्थ ग्रहण करनेका है, और ऐसा श्रमण है समस्त चतुर्विध संघ। इस वचनसे यह सिद्ध होता है कि प्रव-चन अर्थात् जिनवचनका जो आधार हो वही संघका सदस्य गिना जाता है, वही तीर्थस्वरूप हो सकता है। तो तीर्थ प्रवचन और संघ दो प्रकारका हुआ।

प्र०-ऐसे तीर्थसे संसारका उच्छेद हो इसमें क्या कोइ युक्ति है?

उ०-हां, जो जन्म-जरा-मरण, मिथ्यात्व-अविरति, कषाय-मोह-रागद्वेष...इत्यादि स्वरूप संसार है, ठीक इस से विपरीत स्वरूप तीर्थ से साध्य है, तो ऐसे तीर्थ से संसारका अंत क्यों न होवे?

तीर्थ यानी जिन प्रवचनका स्वरूप यह है :—

(१) जिन प्रवचन यथावस्थित सकल जीवादि पदार्थोंका प्ररुपक हैं;

(२) वह अत्यन्त निर्दोष और अन्यों से अज्ञात एसे चरण और करणकी क्रियाका आधार है,

(३) त्रैलोक्यवर्ती शुद्ध धर्मसंपत्तिसे युक्त ऐसी महान आत्माओं ने जिनप्रवचन का अवलंबन किया है,

(४) प्रवचन अचिन्त्य शक्तिसे संपन्न है, अविसंवादी है, श्रेष्ठ नाव समान है।

इनका थोडा विवेचन देखें—

सात तत्त्व :—

(१) जिनप्रवचन जीव-अजीव-आस्रव-संवर-बन्ध-निर्जरा-मोक्ष,-इन सात तत्त्वोंका प्रतिपादन करता है। विश्व के दो मुख्य विभाग हैं, जीव और अजीव, यानी चेतन और जड। चेतन जीव चैतन्य अर्थात् ज्ञानादि स्फुरण स्वभाववाले होते हैं; अजीव इससे विपरीत जडता, अवकाशदान, रुपरसादि मूर्तता,...गुणवाले होते हैं। जीवकी सर्वथा विशुद्ध ज्ञानादि-अवस्था का प्रगट भाव मोक्षतत्त्व है, और उस को दबा कर रागद्वेष, मोह, जन्म, शरीर इत्यादि अशुद्ध अवस्थाका संपादन करनेवाले जड कर्मों के बंधन, यह बंधतत्त्व है। कर्म मूलतः आठ प्रकार के होते हैं; १ ज्ञानावरण, २ दर्शनावरण, ३ वेदनीय, ४ मोहनीय ५ आयुष्य, ६ नामकर्म, ७, गोत्रकर्म, ८ अंतरायकर्म। इन कर्मों के बंधन होने में कारणभूत हैं मिथ्यात्व, हिंसादि की अविरति, क्रोधादि कषाय वगैरह जिन्हें आस्रव (आश्रव)तत्त्व कहते हैं। (आस्रव=जिससे आत्मामें कर्मोंका स्रवण हो) इन आस्रव-द्वारों को ढँकनेवाले, आस्रवों को रोक देने वाले सम्यक्त्व-व्रत-उपशमभाव आदि हैं इनके साधक समितिगुप्ति, परिसह, यतिधर्म, भावना, और चारित्रको संवरतत्त्व कहते हैं। इससे नये कर्मबंधन रुक जाते हैं। प्राचीन कर्मबंधनों का क्षय करनेवाले बाह्य-आभ्यन्तर तप को निर्जरातत्त्व कहते हैं। बाह्य तपके अनशन-उनोदरिका-वृत्तिसंक्षेप-रसत्याग-कायक्लेश-संलीनता, ये छः प्रकार होते हैं; और आभ्यन्तर तप में प्रायश्चित्त-विनय-वैयावच्च-स्वाध्यान-ध्यान-कायोत्सर्ग, ये छः प्रकार आते हैं। ये सात तत्त्व अनेकांत धर्मोंसे युक्त होते हैं। इन सातों तत्त्वोंका यथार्थ प्रकाशक जिनप्रवचनरूप तीर्थ है। इसी के आलम्बन से अर्थात् सातों तत्त्वोंका सम्यग् श्रद्धान करने पूर्वक आस्रवों का त्याग और संवर-निर्जरा का आसेवन करने से संसार का उच्छेद होना सहज ही है, युक्तियुक्त है।

निर्दोष चारित्र क्रियाएँ :—

जिनप्रवचनमें पवित्र ज्ञानाचार-दर्शनाचार-चारित्राचार-तपाचार-वीर्याचार, इन पांच आचारों का पालन सुशक्य और उग्ररूपसे सुसाध्य हो ऐसी चरण सित्तरी और करण सित्तरी अर्थात् उत्तरगुणों की अत्यन्त निर्दोष साधना बताई गई हैं। इनमें मन-वचन-कायासे करण-करावण-अनुमोदन तीनों रुपसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म हिंसादि पापों के त्यागपूर्वक अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रह के महाव्रतों का पालन, निर्दोष माधुकरी भिक्षाचर्या, अप्रतिबद्ध पादविहार, केशलोच, विषय-कषाय-

निद्रा-विकथादि प्रमादोंका त्याग, आवश्यक सहित ज्ञान-ध्यानमय निष्पाप जीवन, केवल धर्मका उपदेश...इत्यादि शुद्ध योगसाधना का ही चारित्र होने से संसार-कारणों के रुकावट द्वारा संसारका उच्छेद होना युक्तियुक्त है।

धर्मसंपन्न महापुरुषोंके दृष्टांत—

(३) उपरोक्त सच्चे तत्त्व और निर्दोष चारित्रके पथ पर चलनेवाले खुद तीर्थंकर भगवान से ले कर कई मोक्षगामी चक्रवर्ती राजा महाराजा सेट साहुकारादि महापुरुषों के दृष्टांत मिलते हैं। उनके द्वारा सिद्ध की गई, विशुद्ध श्रुत-धर्म और चारित्र-धर्म, अहिंसा-संयम-तपोमय धर्म, दान-शील-तप-भावनामय धर्म, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय धर्म...इत्यादि धर्मसंपत्तियों के दृष्टान्त मिलते हैं, तो उनका आलम्बन ले कर शुद्ध धर्मजीवन और फलतः संसारका उच्छेद क्यों न हो सके?

अविसंवादी प्रतिपादन—

(४) ऐसा जिनप्रवचन ही अज्ञान, मोह और असत्प्रवृत्तिका अन्त ला कर सर्व कर्मों के क्षय करने पूर्वक जीवों के जन्म-जरा-मृत्यु आदिका उच्छेद करनेकी अचिन्त्य सामर्थ्य रखता है। एवं वह अविसंवादी है अर्थात् इसमें किसी भी प्रकारका विरोध नहीं है। विरोध कई प्रकारों के होते हैं, जैसे कि पूर्वापर वचनोंका विरोध, उत्सर्ग-अपवाद का विरोध, विधिनिषेध के साथ अवान्तर आचार मार्ग का विरोध, मूल उद्देश के साथ अवान्तर विधानोंका विरोध, किसी प्राथमिक साधक की हीन कक्षा के लिए किसी अशक्य अथवा अयोग्य साधना का विधान करने से विरोध; इत्यादि रूप यहां कोई विरोध नहीं है; कारण जिनप्रवचन, (१) साक्षात् और परंपरा से मोक्षदायी साधनाओं का विधान जीवों की कक्षा के अनुसार ही करता है (२) उत्सर्ग-अपवाद अविरुद्ध फरमाता है क्योंकि अपवादसाधना भी आखिर मोक्ष के उद्देशवाली ही बताता है, (३) उनके अनुरूप ही अन्यान्य आचरणों का उपदेश करता है, (४) सबसे बडी बात, ऐसे स्याद्वाद आदि सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है जिनके आधार पर विधि-निषेध, साधना-आचरणा, और जीवादि तत्त्व-व्यवस्था सङ्गत होती हैं, और (५) प्रारंभसे अंत तक इन सभी के प्रतिपादनमें कोई पूर्वापर वचन विरोधसे कलंकित नहीं है। इस प्रकार जिनप्रवचन समर्थ और अविसंवादी श्रेष्ठ नाव समान होने से क्यों भव-पार न कर सके?

ज्ञानकैवल्य और मोक्षकैवल्यः—

तीर्थ यानी प्रवचन अपौरुषेय नहीं किन्तु सर्वज्ञ पुरुषसे प्रवृत्त होता है इसीलिए कहा जाता है कि तीर्थंकरकी आत्मा के पूर्वोक्त ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीय-अंतराय इन चार कर्म, जो ज्ञानादि गुणों के घातक होने से घाती कर्म कहलाते हैं, उनका संपूर्ण क्षय हो जाने से ज्ञानकैवल्य प्राप्त होता है; अर्थात् वे 'केवलज्ञान और केवलदर्शन' नामके अनन्त ज्ञान-दर्शन प्राप्त करके सर्वज्ञ सर्वदर्शी होते हैं। यहां बाकी चार अघाती कर्मोंका नाश नहीं होने के कारण वे अभी मुक्त नहीं हुए हैं अर्थात् मोक्षकैवल्य प्राप्त नहीं कर चुके हैं। लेकिन ज्ञानकैवल्य स्वरूप

(ल०)—तत्श्चैतदुक्तं भवति,घातिकर्म्मक्षये ज्ञानकैवल्ययोगात्तीर्थकरनामकर्म्मोदयतस्तत्स्वभावतया आदित्यादिप्रकाशनिदर्शनतः शास्त्रार्थप्रणयनात्, मुक्तकैवल्ये तदसम्भवेनाऽऽगमानुपपत्तेः, भव्यजनधर्म्मप्रवर्त्तकत्वेन परम्परानुग्रहकरास्तीर्थंकराः। इति तीर्थकरत्वसिद्धिः।

(पं०)—'घातिकर्म्मे'त्यादि। 'घातिकर्म्मक्षये'=ज्ञानावरणाद्यष्टचतुष्टयप्रलये, 'ज्ञानकैवल्ययोगात्' 'ज्ञानकैवल्यस्य'=केवलज्ञानदर्शनलक्षणस्य 'योगात्'=सम्बन्धं प्राप्य, 'तीर्थकरनामकर्म्मोदयात्'=तीर्थकरनाम्नः कर्म्मणो विपाकाद्धेतोः, 'तत्स्वभावतया'=तीर्थकरणस्वाभाव्येन, कथमित्याह 'आदित्यादिप्रकाशनिदर्शनतः' इति—'तत्स्वाभाव्यादेव प्रकाशयति भास्करो यथा लोकम्। तीर्थप्रवर्त्तनाय प्रवर्तते तीर्थकर एवम्' ॥ १ ॥ (तत्त्वार्थभाष्ये कारिका ९) आदिशब्दाच्चन्द्रमण्यादिनिदर्शनग्रहः, किमित्याह—'शास्त्रार्थप्रणयनात्', 'शास्त्रार्थस्य'=मातृकापदत्रयलक्षणस्य, 'प्रणयनाद्'=उपदेशनात् तीर्थकरा इति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः। विपक्षे बाधकमाह—'मुक्तकैवल्ये'=अपवर्गलक्षणे, 'तदसम्भवेन'=शास्त्रार्थप्रणयनाघटनेनाशरीरतया प्रणयनहेतुमुखाद्यभावाद्, 'आगमानुपपत्तेः'=आगमस्य परैरपि प्रतिपन्नस्य 'अनुपपत्तेः'=अयोगात्। न चासावकेवलिप्रणीतो, व्यभिचारासम्भवात्, (प्र०...व्यभिचारसम्भवात्) नाप्यपौरुषेयस्तस्य निषेत्स्यमानत्वात्, कीदृशाः सन्त इत्याह—'भव्यजनधर्म्मप्रवर्त्तकत्वेन'=योग्यजीवधर्म्मावतारकत्वेन, 'परम्परानुग्रहकराः,' 'परम्परया'=व्यवधानेन 'अनुग्रहकरा'=उपकारकराः, कल्याणयोग्यतालक्षणो हि जीवानां स्वपरिणाम एव क्षायोपशमिकादिरनन्तरमनुग्रहहेतुः तद्धेतुतया च भगवन्तो, अथवा 'परम्परया'=अनुबन्धेन स्वतीर्थानुवृत्तिकालं यावत् सुदेवत्वसुमानुषत्वादिकल्याणलाभलक्षणया याऽनुग्रहकरा इति ॥

सर्वज्ञता—सर्वदर्शिता प्राप्त होने पर वे वीतराग होते हुए भी 'तीर्थंकर नामकर्म' नामके उत्कृष्ट पुण्यका उदय होने पर वे तीर्थकरण के स्वभावसे आगमों के अर्थका प्रकाशन करते हैं। उदाहरणार्थ जैसे सूर्य वगैरह स्वभावतः विश्वको प्रकाश देते हैं। श्री तत्त्वार्थ महाशास्त्र के भाष्य के ९ वें श्लोक में कहा है।

'तत्स्वाभाव्यादेव प्रकाशयति भास्करो यथा लोकम्। तीर्थप्रवर्तनाय प्रवर्तते तीर्थंकर एवम्॥'

अर्थात् 'जैसे सूर्य प्रकाशकरण के स्वभाव से ही जगत का उद्योत करता है, वैसे तीर्थंकर भगवान तीर्थकरण के स्वभाव से ही तीर्थ प्रवर्तनमें प्रवर्तते है। वे अपने गणधर शिष्योंको सकल शास्त्रों के मूलभूत अर्थ तीन 'मातृका' पदों से देते हैं। 'उप्पन्ने इ वा, विगमे इ वा, धुवे इ वा।' (अर्थात् समस्त जगत उत्पन्न होता है, नष्ट होता है, और स्थिर रहता है) ये तीन पद 'मातृका' पद कहलाते हैं। इनका उपदेश तीर्थंकर भगवान के मुखसे सुननेका अतिशय समर्थ निमित्त पाकर प्रधान शिष्य श्री गणधर महाराजों का संयम-ग्रहण, विनीतभाव, अर्हत्-समर्पण, असाधारण तत्त्व जिज्ञासा-शुश्रूषा, शुश्राषबुद्धि, और पूर्वभव की प्रबल धर्मसाधना वश श्रुतज्ञानावरण कर्मोका यहां विशिष्ट क्षयोपशम हो जाता है; जिससे द्वादशांगी आगम सूत्रोंकी रचना करते हैं और सर्वज्ञ अरिहंत परमात्मा उन्हें प्रमाणित करते हैं।

इस प्रकार अर्हत्प्रभु जो शास्त्रार्थ प्रतिपादन करते हैं वह ज्ञानकैवल्य के बल पर हो सकता है। अन्यथा यदि प्रथमतः मोक्ष स्वरूप मुक्त-कैवल्य संपन्न हो जाता, तब तो शरीर ही छूट जाने से मुखादि के विना प्रवचन कैसे किया जा सकता ? और सर्वज्ञ के प्रवचन विना कोई भी आगम कैसे सर्जित हो सके ? तब यह भी नहीं कह सकते कि अकेवली अर्थात् केवलज्ञान रहित असर्वज्ञ के द्वारा स्वतन्त्र रूपमें विरचित शास्त्र प्रमाणभूत होंगे; क्यों कि उनमें व्यभिचार सम्भवित है, कल्पना से कही गई वस्तु की अपेक्षा जगतमें वास्तविक स्थिति कोई और ही हो सकती है। तो यह भी कहना अनुचित है कि आगमशास्त्र अपौरुषेय हैं, अर्थात् कोई भी पुरुष से प्रणीत नहीं किन्तु नित्य है। अपौरुषेय कैसे नहीं हो सकता यह आगे कहेंगे।

अतः यह सिद्ध बात है कि आगम-अर्थको प्रथम कहनेवाले श्री तीर्थंकर भगवान होते हैं वे भी योग्य जीवों को धर्म में प्रवेश कराने वाले होने के कारण परंपरा से उपकारक हैं।

'परंपरा से उपकारक' के दो अर्थ हैं:—

(१) परंपरासे यानी साक्षात् नहीं, किन्तु व्यवधान से उपकारक; अर्थात् जीवों में धर्म-कल्याण की योग्यता उत्पन्न करने के कारण उपकारक। जीवों में धर्म आने के लिए पहले योग्यता आनी चाहिए। यह योग्यता आत्मा का एक प्रकार का नया परिणमन यानी परिणाम है, जो कर्मों के क्षयोपशम से होता है। आज तक जिन कर्मोंके उदय से आत्मा में अयोग्य परिणाम बने रहते थे, अब तीर्थंकर के उपदेश सुनने से उनका क्षयोपशम या उपशमन हो जाता है। इससे आत्मा में योग्य परिणाम होने द्वारा धर्म प्रादुर्भूत हो सकता है। तो यह आया कि परमात्मा से जीवों में धर्म-कल्याण का सर्जन योग्यता प्रादुर्भूत होने से हुआ, अतः वे परम्परा से उपकारक हुए।

(२) दूसरा अर्थ यह है कि परंपरा से माने अनुबन्ध से उपकारक, अर्थात् अपना अपना शासन जहां तक चले वहां तक उपकार करनेवाले तीर्थंकर होते हैं, यहां तक जीवों को धर्म-शासन द्वारा सुदेवगति, सुमनुष्यगति वगैरह कल्याण संपादन करानेवाले होते हैं।

इस प्रकार अरिहंत परमात्मा तीर्थ करनेवाले सिद्ध हुए।



५. 'सयंसंबुद्धाणं' (स्वयंसंबुद्धेभ्यः)

महेशानुग्रहमतम्–

(ल०)–एतेऽप्यप्रत्ययानुग्रहबोधतन्त्रैः सदाशिववादिभिस्तदनुग्रहबोधवन्तोऽभ्युपगम्यन्ते 'महेशानुग्रहाद् बोध–नियमौ' इतिवचनात्।

(पं०)–'अप्रत्ययानुग्रहबोधतन्त्रैरिति,' 'अप्रत्ययो'=हेतुनिरपेक्षात्मलाभत्वेन महेशः, तस्य 'अनुग्रहो'=बोधयोग्यस्वरूपसम्पादनलक्षण उपकारस्तेन 'बोधः'=सदसत्प्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुर्ज्ञानविशेषस्तत्प्रधान'स्तन्त्र'=आगमो येषां ते तथा तैः, 'सदाशिववादिभिः'=ईश्वरकारणिकैः, तन्त्रमेव दर्शयति–'महेशानुग्रहाद् बोधनियमावि'ति, 'बोधः' उक्तरूपो, 'नियम'श्च=सदसदाचारप्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणः, बोधनियमादिति तु पाठे बोधस्य 'नियमः'=प्रतिनियतत्वं तस्मात्।

---

५. 'सयंसंबुद्धाणं'

महेशानुग्रह का मत–

अब सदाशिववादी अर्थात् ईश्वरवादी मानते हैं कि सदाशिव यानी महेश कि जो अप्रत्यय है अर्थात् किसी कारण–सामग्रीसे पैदा न होते हुए सदा स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं इनके अनुग्रहसे ही, इनकी कृपासे ही, जीवोंको बोध हो सकता है। वे जीवों में बोध की योग्यता संपादित करने का उपकार करते हैं। सदाशिववादी के शास्त्रमें कहा है कि 'महेशानुग्रहाद् बोधनियमौ'। महेशके अनुग्रहसे ही जीव बोध और नियम पा सकता है। 'बोध' का अर्थ है सद् आचार में प्रवृत्ति और असद् आचारसे निवृत्ति करने में कारणभूत ज्ञान–विशेष। 'नियम' का अर्थ है, सद् आचार में प्रवृत्ति, और असद् आचार से निवृत्ति। जीव अनादि कालसे इन दोनोंसे शून्य हैं; तो इसमें इनकी प्राप्तिके लिए योग्यता निष्पन्न होनी चाहिए, और ये महेश के अनुग्रह से ही हो सकती है, तीर्थंकर को भी बोधहेतु महेशानुग्रह अपेक्षित है, फिर वे स्वयंबुद्ध कैसे हो सकते ?—यह वादी का तात्पर्य है।

जैनमतका प्रत्युत्तरः—

महेशानुग्रहवादी के इस मत का निराकरण करने के लिए श्री अर्हत् परमात्मा को विशेषण दिया 'स्वयंसंबुद्ध', अर्थात् स्वयं बोध प्राप्त करने वाले। तथाभव्यत्व आदि के अर्थात् उस उस प्रकार अपने विशिष्ट भव्यत्व आदि सामग्री के विपाक वश, तीर्थंकर भवमें तो क्या, किन्तु इसके पूर्व भवमें प्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त करने में भी अन्य के उपदेश को नहीं किन्तु स्वयोग्यता की प्रधानता से ही संबुद्ध होने वाले, आप ही आप सम्यग् वरबोधि को प्राप्त कर मिथ्यात्वरूप निद्रा के त्याग द्वारा सम्यक् तत्त्वदर्शन और आत्म–जागृति द्वारा संबुद्ध होने वाले। तीर्थंकर के भवमें तो अचिन्त्य प्रभावशाली एवं त्रैलोक्य के आधिपत्य में कारणभूत ऐसे तीर्थंकर–नामकर्म के योग से किसी

जैनमतमस्युत्तरः

(ल०)—) एतदन्यपोहायाऽऽह 'स्वयंसंबुद्धेभ्यः' तथाभव्यत्वादिसामग्री–परिपाकतः प्रथमसम्बोधेऽपि स्वयोग्यताप्राधान्यात् त्रैलोक्याधिपत्यकारणाचिन्त्यप्रभावतीर्थकर–नाम-कर्मयोगे चापरोपदेशेन 'स्वयं' आत्मनैव सम्यग्वरबोधिमाप्त्या 'बुद्धाः' मिथ्यात्वनिद्रा-पगमसंबोधेन स्वयंसम्बुद्धाः । न वै कर्मणो योग्यताऽभावे तत्र क्रिया क्रिया, स्वफलाप्रसाध-कत्वात्, प्रयासमात्रत्वात् अश्वमाषादौ शिक्षापक्त्याद्यपेक्षया ।

(पं०)—'तथे'त्यादि, 'तथा'=तेन प्रकारेण प्रतिविशिष्टं भव्यत्वमेव तथाभव्यत्वम् । आदिशब्दात् तदन्यकालादिसहकारिकारणपरिग्रहः, तेषां 'सामग्री'=संहतिः, तस्या यः 'परिपाकः'=विपाकः, अव्याहता स्व-कार्यकरणशक्तिः, तस्मात् । 'प्रथमसम्बोधेऽपि '=प्रथमसम्यक्त्वादिलाभेऽपि, किं पुनस्तीर्थकरभवप्राप्तावप-रोपदेशेनाप्रथमसम्बोध इति 'अपि'शब्दार्थः, स्वयंसंबुद्धा इति योगः । कुत इत्याह, 'स्वयोग्यताप्राधा-न्यात्'=स्वयोग्यताप्रकर्षो हि भगवतां प्रथमबोधे प्रधानो हेतुः, लूयते केदारः स्वयमेवेत्यादाविव केदारादेर्लवने । 'न वै'इत्यादि, 'न वै'=नैव, 'कर्मणः'=क्रियाविषयस्य कर्मकारकस्येत्यर्थो, 'योग्यताऽभावे'=क्रियां प्रति विषय-तया परिणतिस्वभावाभावे, 'तत्र'=कर्मणि, 'क्रिया'=सदाशिवानुग्रहादिका, क्रिया भवति, किन्तु ? क्रिया-भासैव । कुत इत्याह, 'स्वफलाप्रसाधकत्वाद्'=अभिलषितबोधादिफलाप्रसाधकत्वाद्; एतदपि कुत इत्याह, 'प्रयासमात्रत्वात्' क्रियायाः । कथमेतत्सिद्धमित्याह 'अश्वमाषादौ' कर्मणि, आदिशब्दात् कर्पासादिपरिग्रहः, 'शिक्षापक्त्याद्यपेक्षया' शिक्षां, पक्तिम्, आदिशब्दाल्लाक्षारागादि वाऽपेक्ष्य ।

के उपदेश बिना स्वयं संबुद्ध होते ही हैं । तात्पर्य, भगवान को प्रथम बोध होने में अपनी योग्यता का उत्कर्ष प्रधान हेतु है; जैसे कि पौधे के काटने में कहा जाता है कि पौधा दूसरों से क्या कटता हैं, अपने आप ही कट जाता है; इतना वह कोमल है । वहां काटने वाले को कोई कठिनाई न होने से इस के प्रयत्न की विशेषता नहीं, पौधे को कट जाने की जो योग्यता है उसी की विशेषता है । इसी प्रकार तीर्थंकर की आत्मा को प्रथम संबोध प्राप्त कराने में उपदेशक को कोई कठिनाई नहीं वहां तो अपनी योग्यता का विशिष्ट्य है ।

प्र०—यह कैसे ? उन्हें गुरु उपदेश तो करते हैं न !

उ०—करते हैं, लेकिन 'गुरु उन्हें संबुद्ध करते हैं'–इस वाक्य से निर्दिष्ट जो कर्ता गुरु, उस के द्वारा की जाती संबुद्ध करने की क्रिया में कर्मभूत हैं तीर्थंकर जीव, वे अगर स्वयं योग्य न हो, तो क्रिया बन ही नहीं सकती । क्रिया के प्रति कर्म योग्य होना चाहिए,–क्रिया का फल पाने में विषय-रूप से परिणत बनने का कर्म में स्वभाव होना चाहिए । यदि जीव में, बोध के अनुग्रहादि पाने की क्रिया के प्रति, योग्यता ही न हो तो इस में सदाशिव की अनुग्रह वगैरह किया कुछ नहीं कर सकती । ऐसी क्रिया क्रिया ही न होगी, क्रियाभास होगी, क्यों कि उसने जीव में अभिलषित बोधादि स्वरूप फल ही पैदा नहीं किया; वैसी अनुग्रह–क्रिया एक आयास मात्र हुई ।

(ल०)—सकललोकसिद्धमेतद्, इति नाभव्ये सदाशिवानुग्रहः; सर्वत्र तत्प्रसङ्गात्, अभव्यत्वाविशेषादिति परिभावनीयम्।

(पं)—'सकललोकसिद्धम्' 'एतत्'=क्रियायाः प्रयासमात्रत्वम्। भवतु नामापरकर्तृकायाः क्रियाया इत्थमक्रियात्वं, न पुनः सदाशिवकर्तृकायाः, तस्या अचिन्त्यशक्तित्वादित्याशङ्क्याह 'इति'=एवं कर्मणो योग्यताऽभावे क्रियायाः अक्रियात्वे ऐकान्तिके सार्वत्रिके च सकललोकसिद्धे, 'न'=नैव, 'अभव्ये'=निर्वाणायोग्ये प्राणिनि सदाशिवानुग्रहः। यदि स्वयोग्यतामन्तरेणापि सदाशिवानुग्रहः स्यात्, ततोऽसावभव्यमप्यनुगृह्णीयात्, न चानुगृह्णाति, कुत इत्याह 'सर्वत्र'=अभव्ये, 'तत्प्रसङ्गात्'=सदाशिवानुग्रहप्रसङ्गात्। एतदपि कुत इत्याह 'अभव्यत्वाविशेषात्'। को हि नामाभव्यत्वे समेऽपि विशेषो, येनैकस्यानुग्रहो नान्यस्य ? 'इति'=एतत्, 'परिभावनीयं' यथा स्वयोग्यतैव सर्वत्रफलहेतुरिति।

जातिमान अश्व को शिक्षा देने की क्रिया जो सफल होती है, तो वहां वचन-प्रयोग ठीक ही होता है कि आदमी अश्व को सिखाता है। लेकिन दुष्ट अश्व, जो कि शिक्षायोग्य नहीं है, वह शिक्षाक्रिया का कर्म कैसे होगा ? कैसे कहा जाए कि आदमीने दुष्ट अश्व को सिखाया ? इसी प्रकार, कैसे कहा जाए कि आदमीने कंकटूक माष को पकाया ? लाक्षारस से कापुसको रंगा ? इन वाक्यों में कर्म क्रियायोग्य ही नहीं हैं, अतः यहां इन कर्मों में शिक्षण-पचन-रंगन की कोई क्रिया हा नहीं है; कारण, क्रिया के फल से वे परिणत ही नहीं हुए। क्रियाएँ एक श्रममात्र हैं।

समस्त लोगोंमें यह प्रसिद्ध है कि फलको संपादन न करनेवाली क्रिया एक प्रयासमात्र यानी श्रमदायी नाममात्र क्रिया होती है, सच्ची क्रिया नहीं।

प्र०—दूसरों के द्वारा की गई क्रिया इस प्रकार नाममात्र क्रिया हो, किन्तु सदाशिव की अनुग्रह क्रिया नाममात्र क्रिया नहीं, क्यों कि वह तो अचिन्त्य शक्तिसंपन्न है, ऐसा क्यों न माना जाए ?

उ०—ध्यान में रखिए कर्ताकी क्रिया का कर्म योग्य न होने पर क्रिया अक्रिया ही है, नाममात्र की क्रिया है निष्फल क्रिया ही है, यह नियम निरपवाद और सर्वत्र सभी क्रियाओं में जगत्प्रसिद्ध है। इसीलिए तो मोक्ष के अयोग्य ऐसे अभव्य जीव पर सदाशिव का अनुग्रह नहीं हो सकता है। यदि योग्यता विना भी, अर्थात् योग्यता-अयोग्यता न देखते हुए, सदाशिव अनुग्रह करते हों, तो वे अभव्य के ऊपर भी अनुग्रह करें ? करते तो हैं नहीं, क्यों कि तब तो सभी अभव्य पर अनुग्रह हो जाने से सभी का मोक्ष हो जाए ! कारण कि अभव्यत्व तो सबमें समान है। इतना ही नहीं विश्वमें सभी अयोग्य वस्तुओं पर भी अनुग्रह हो, क्यों कि अयोग्यता तो समान है। तब ऐसा भेद क्यों, कि अयोग्यता समान होने पर भी एक के ऊपर अनुग्रह होवे दूसरे के ऊपर नहीं ? इसलिए यह मननीय है कि सर्वत्र ही फल पाने में प्रधान कारण अपनी योग्यता है, सदाशिवका अनुग्रह नहीं।

तीर्थंकर और अतीर्थंकर के सम्यग्दर्शनादि में तारतम्यः—

प्र०—यहां ऐसा कहा गया कि तीर्थंकर स्वयं वरबोधि प्राप्त कर संबुद्ध हुए, तो वरबोधि क्या है ?

(ल०–तीर्थकर–अतीर्थकरयोः बोधितारतम्यम्:—)

बोधिभेदोऽपि तीर्थकरातीर्थकरयोर्न्याय्य एव,विशिष्टेतरफलयोः परम्पराहेत्वो(प्र० हेतो)रपि भेदात्। एतदभावे तद्विशिष्टेतरत्वानुपपत्तेः। भगवद्बोधिलाभो हि परम्परया भगवद्भाव-निर्वर्त्तनस्वभावो, न त्वन्तकृत्केवलिबोधिलाभवदतत्स्वभावः, तद्वत् ततस्तद्भावासिद्धेः। इति तत्त-त्कल्याणाक्षेपकानादितथाभव्यभावभाज एते। इति स्वयंसम्बुद्धत्वसिद्धिः ॥ ९ ॥

एवमादिकर्तृणां तीर्थकरत्वमन्यासाधारणस्वयंसम्बोधेनेति स्तोतव्यसम्पद एव प्रधाना साधारणासाधारणरूपा हेतुसम्पदिति। (२. संपद्)

(पं०) वरबोधिप्राप्त्येत्युक्तं,तत्सिद्ध्यर्थमाह 'बोधिभेदोऽपि'=सम्यक्त्वादिमोक्षमार्गभेदोऽपि,आस्तां तदाश्र-यस्य विभूत्यादेः, 'तीर्थकरातीर्थकरयोः, 'न्याय्य एव'=युक्तियुक्त एव। युक्तिमेवाह 'विशिष्टेतरफलयोः परम्पराहेत्वो-रपि'=विशिष्टफलस्येतरफलस्य च, 'परंपराहेतोः'=व्यवहितकारणस्य, किं पुनरनन्तरकारणस्येति 'अपि'शब्दार्थः, 'भेदात्'=परस्परविशेषात्। कुत इत्याह 'एतदभावे'=परंपराहेत्वोर्भेदाभावे, 'तद्विशिष्टेतरत्वानुपपत्तेः', 'तस्य'= फलस्य यद्विशिष्टत्वम्, 'इतरत्वं' च=अविशिष्टत्वं, तयोरयोगात्। एतदेव भावयति 'भगवद्बोधिलाभो हि' 'परं-परया'=अनेकभवव्यवधानेन, 'भगवद्भावनिर्वर्त्तनस्वभावो', 'भगवद्भावः'=तीर्थकरत्वम्। व्यतिरेकमाह 'न तु'= न पुनः, 'अन्तकृत्केवलिबोधिलाभवत्,' 'अन्तकृतो'=मरुदेव्यादिकेवलिनो बोधिलाभ इव, 'अतत्स्वभावः'= भगवद्भावानिर्वर्त्तनस्वभाव'। एतदपि कथमित्याह 'तद्वद्'इति. 'तस्मादिव'=अन्तकृत्केवलिबोधिलाभादिव,'ततः' =तीर्थकरबोधिलाभात् 'तद्भावासिद्धे'=तीर्थकरभावासिद्धे'। इति स्वयंसम्बुद्धत्वसिद्धि'।

उ०—'बोधि' शब्दका अर्थ सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्ग है। 'वर' माने श्रेष्ठ, अर्थात् विशिष्ट, यानी अन्य मोक्षगामी जीवों के बोधि से भिन्न प्रकार का। तब वरबोधि अतीर्थकर जीवों की अपेक्षा विशिष्ट सम्यग्दर्शनादि स्वरूप हुआ।

प्र०—तो क्या दोनों के बोधि में तारतम्य है?

उ०—हां, तीर्थकर और अतीर्थकर के विभूति–अतिशयादि में तो तारतम्य हो, किन्तु बोधि में भी तारतम्य युक्तियुक्त है। युक्ति यह है कि जो एक सामान्य और दूसरा विशिष्ट कोटिका कार्य है, उन दोनों के पारंपरिक अर्थात् दूरके कारणों में परस्पर भेद यानी तारतम्य होना आवश्यक है। क्यों कि उन कारणों मे अगर भेद न हो, तो उनके कार्यों में, एक तो विशिष्ट और दूसरा सामान्य, ऐसा भेद नही बन सकता। अब देखिए कार्यभेद कैसा,–तीर्थकर भगवान का बोधिलाभ परंपरा से अर्थात् अनेक भवों के बाद जा कर तीर्थकरत्व के निर्माण करनेका स्वभाववाला है, न कि मरुदेवी प्रमुख अन्तकृत् केवलज्ञान वालों के बोधिलाभ की तरह तीर्थकरता–सर्जन के स्वभावशून्य। अन्तकृत केवल-ज्ञानवाले उन्हें कहते हैं जिनका केवलज्ञान तुरन्त ही अन्त यानी मोक्ष करता है। यदि तीर्थंकर का बोधिलाभ उस स्वभाव से शून्य होता तो जिस प्रकार अन्तकृत् केवलज्ञानी के बोधिलाभ से तीर्थंकरता निर्मीत नहीं होती है, इसी प्रकार तीर्थंकरके आत्मा के बोधिलाभ से भी वह सिद्ध न होती।

६. पुरिसुत्तमाणं

(ल०–) (सर्वजीवसमानवादि–बौद्धमतम्:—)

एते च सर्वसत्त्वैवंभाववादिभिर्बौद्धविशेषैः सामान्यगुणत्वेन न प्रधानतयाङ्गीक्रियन्ते, 'नास्तीह कश्चिदभाजनः(नं) सत्त्वः' इति वचनात् ।

(पं०) 'सर्वसत्त्वे'त्यादि, 'सर्वसत्त्वानां'=निखिलजीवानाम् 'एवंभावं'=विवक्षितैकप्रकारत्वं, ('वादिभिः'=) वदन्तीत्येवंशीलास्तैः, 'बौद्धविशेषैः'=सौगतभेदैः, वैभाषिकैरिति सम्भाव्यते, तेषामेव निरुपचरितसर्वास्तित्वाभ्युपगमात् । ('सामान्यगुणत्वेन') 'सामान्याः'=साधारणाः 'गुणाः'=परोपकारकरणादयः, येषां ते तथा तद्भावस्तत्त्वं तेन, 'न'=नैव, 'प्रधानतया'=अतिशायितया, 'अङ्गीक्रियन्ते'=इष्यन्ते । कुत इत्याह 'नास्ति'=न विद्यते, 'इह'=लोके, 'कश्चिन्'=नरनारकादिः, 'अभाजनो'(नम्)'=अपात्रम्, अयोग्य इत्यर्थः 'सत्त्वः'=प्राणी, 'इति वचनात्'=एवंरूपाप्तोपदेशात् ।

अतः सिद्ध होता है कि तीर्थंकर का बोधिलाभ तीर्थंकरता–जनन के स्वभाववाला होने से दूसरों के बोधिलाभ की अपेक्षा एक विशिष्ट कोटि का है, जो कि '**वरबोधि**' कहा जाता है । इस प्रकार स्वयंसंबुद्धता की सिद्धि हुई ।

इस रीति से आदिकर्ता में तीर्थंकरता होने से एवं अन्यों की अपेक्षा असाधारण स्वयंसंबोध होने से यह संपद् स्तोतव्यसंपद् की, यानी नमस्कार सहित श्री अर्हद्भ गवंत के दो पदों की, संपद् की प्रधान साधारण–असाधारण हेतुसंपद् हुई । क्यों कि अर्हत् प्रभु स्तुतिपात्र होने में ये तीन हेतु हैं ।

६. पुरिसुत्तमाणं

सर्व जीवों को योग्य माननेवाले बौद्धोंका कथनः—

अब ऐसे बौद्ध हैं जो कि तीर्थंकर को अन्यों की अपेक्षा अतिशय वाले अर्थात् विशिष्ट योग्यतावाले मानने को तैयार नहीं है, वे तो उन्हें अन्य जीवों के समान परोपकारादि साधारण गुणवाले मानते हैं । ऐसे बौद्ध, संभवित है शायद, 'वैभाषिक' नाम के बौद्ध हो; क्यों कि उन्हीं के मतमें ही सभी का अस्तित्व समान प्रधानतायुक्त यानी किसी में विशिष्ट योग्यता नहीं ऐसा अस्तित्व स्वीकृत किया गया है । वे कहते हैं कि सभी जीव विवक्षित एक ही प्रकार के होते हैं । अर्थात् प्रस्तुत में तीर्थंकरता की योग्यता वाले कहें तो ऐसे समस्त जीव हैं । वे योग्य प्रयत्न करके तीर्थंकर बन सकते हैं । उन के आप्त जनका उपदेश है कि 'नास्तीह कश्चिदभाजनं सत्त्वः'—लोक में कोई ऐसा मनुष्य–नारकादि जीव नहीं है जो कि अपात्र है, अयोग्य है ।

जैनमतका प्रत्युत्तरः 'पुरुषोत्तम'का अर्थः—

बौद्धमत के निराकरणार्थ अरिहंत परमात्मा की विशेषता कहते हैं 'पुरिसुत्तमाणं'–पुरुषोत्तम के प्रति नमस्कार हो । अरिहंत परमात्मा विशिष्ट योग्यता के बल पर पुरुषोत्तम हैं ।

(ल०)–(जैनमतमत्युत्तरः)

तदेतन्निराचिकीर्षयाह 'पुरुषोत्तमेभ्यः (पुरिसुत्तमाणं)' इति। पुरि शयनात् 'पुरुषाः', सत्त्वा एव; तेषाम् 'उत्तमाः'=सहजतथाभव्यत्वादिभावतः प्रधानाः, पुरुषोत्तमाः॥

तथा हि, आकालमेते परार्थव्यसनिन, उपसर्जनीकृतस्वार्था, उचितक्रियावन्त, अदीनभावाः, सफलारम्भिणः, अदृढानुशयाः, कृतज्ञतापतयः, अनुपहतचित्ताः, देवगुरुबहुमानिनः, तथा गम्भीराशया इति।

(पं०) 'पुरुषोत्तमेभ्य' इति। 'अदृढानुशया' इति, 'अदृढोः'=अनिविडोऽपकारिण्यपि, 'अनुशयः'= अपकारबुद्धिः, येषां ते तथा।

'पुरुष'–शब्द का अर्थ है, पुर् में शयन करनेवाला, अर्थात् शरीर में रहनेवाला। ऐसा है जीवमात्र; तब पुरुष का अर्थ जीव हुआ। जीवों के बीच वे सहज तथाभव्यत्वादि भाव के द्वारा प्रधान है, यही है पुरुषोत्तम। प्रधानता इस प्रकार है:–अनादि काल से अरिहंत परमात्माओं के जीव परार्थ के व्यसनी होते हैं, स्वार्थ को गौण करनेवाले एवं उचित क्रियाशाली होते हैं, दीनता से रहित, और सफल प्रयत्न करने वाले होते हैं। अपकारी के प्रति भी निबिड अपकार–बुद्धि जिनकी नहीं हैं वैसे वे होते हैं। तथा कृतज्ञता के स्वामी और सदा अभग्न चित्तवाले होते हैं। एवं देव–गुरु के प्रति बहुमान करने वाले तथा गंभीर आशय वाले होते हैं।

प्र०–निगोद आदि एकेन्द्रिय अवस्था में परार्थव्यसनिता प्रमुख गुण उन में कहां दिखाई देते हैं? (निगोद कहते हैं साधारण वनस्पतिकाय शरीर को जिसमें अनंत जीव रहते हैं)

उ०–ठीक है परार्थव्यसन आदि गुण दीखते नहीं, फिर भी इनकी स्वरूपयोग्यता है। सामग्री के अभाव की वजह से प्रगटरूप में वे नहीं दिखाई देते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि उन गुणों की सहज योग्यता नहीं है। कारण यह है कि जब अन्य जीवों में परार्थव्यसनिता आदि गुणों का समूह उपदेश वगैरह निमित्त के बल पर प्राप्त होता हैं, तो तीर्थंकर की आत्मा में वे गुण अपनी योग्यता के आधार पर प्रगट होते हैं। इसीका अर्थ यह है कि वे सहज रूप से भीतर पडे हैं। किस प्रकार भीतर पडे हैं इसका अधिक विचार करने के पूर्व परार्थव्यसनिता आदि का कुछ स्वरूप देखें।

परार्थव्यसनिताः–विश्व के सभी प्राणी जब मात्र स्वार्थरसिकता में डूबे हुए हैं, तब तीर्थंकर का आत्मा जीवन में स्वार्थ को गौण कर प्रधान रूप से परार्थव्यसन यानी परहितरसिकता रखती है। व्यसन वही है जो बारबार किया जाय, कई प्रयत्न करने पर भी उसका रस बना रहे; करने का न मिले तो चैन न पडे; अन्य कार्य में इतना रस न रहे...इत्यादि। अर्हत् प्रभु की आत्मा में अनादिकालीन सहज विशिष्ट योग्यतावश परहित का व्यसन होता है।

स्वार्थगौणता:–कई पुरुषों में परोपकारका रस रहने पर भी स्वार्थ की भी मुख्यता रहती है, जब कि परमात्मा में स्वार्थसाधना उपसर्जन भाव से अर्थात् गौण भाव से रहती है। अपनी दृष्टि

और अभिलाषा जितनी परोपकार पर केन्द्रित होती है उतनी स्वार्थ पर नहीं, अपना रस जितना परहितसाधना में रहता है, उतना स्वार्थसाधना में नहीं । अतः जब निजी कार्य करते समय यानी स्वार्थ साधते समय भी दूसरों का भला करने में सावधान रहते हैं, तब पीछे अवकाश मिलने पर तो परोपकार–साधने का पूछना ही क्या ?

उचित क्रिया :– वे जीवन में उचित कर्तव्य–पालन का स्वभाव रखते हैं । कहीं भी औचित्यका भंग नहीं करते हैं । समस्त प्रसङ्ग एवं प्रवृत्तियों में औचित्य का पालन करते हैं । जीवन का यह एक अद्‌भुत वैशिष्ट्य है । अन्य जीवात्माओं के जीवन की अपेक्षा उचित प्रवृत्तियों से भरा हुआ उनका जीवन पुरुषोत्तमता का द्योतक है ।

अदीनभाव :–तीर्थंकर की आत्मा दुन्यवी सुख–संपत्ति में ऐसी लंपट नहीं होती कि जिस से दूसरों के सामने दीन बनना पड़े, दूसरों की चापलुसी करनी पड़े । उन के स्वभाव में दीनता नहीं होती है ।

सफलारंभः–वे कार्य का प्रारंभ भी अन्तिम परिणाम को समझकर करते हैं ताकि परिश्रम निष्फल न हो । यह सफल प्रवृत्ति भी सहज भावसे ही होती है ।

अदृढानुशयः–जीवन में अपने प्रति कई प्रकार के अनिष्ट करने वाले जीवों के संयोग आते हैं; लेकिन तीर्थंकरदेव की आत्मा उनके प्रति गाढ क्रोध, प्रबल अपकारबुद्धि, इत्यादि नहीं करती हैं । पुरुषोत्तम होने की यह उनकी एक अनादिसिद्ध विशिष्टता है ।

कृतज्ञतास्वामिताः– वे कृतज्ञता के स्वामी होते हैं । स्वामी उसे कहते हैं जिसे वस्तु वश है; उत्तम स्वरूप में प्राप्त है, एवं सदा स्थायी है । अर्हत् परमात्मा को कृतज्ञता वशवर्ती, उत्तम स्वरूप में प्राप्त, एवं सदा स्थायी होने के कारण वे कृतज्ञता के स्वामी कहे जाते हैं । अपने लिये कुछ भी उपकार करनेवालों का उपकार कभी भूलना नहीं परन्तु यथाशक्य प्रत्युपकार करना, यह उनका सहज गुण होता है ।

अनुपहतचित्तः—वे सदा अभग्नोत्साह होते हैं । चित्त का उपघात यानी भङ्ग नहीं होने पाता, चाहे कितनी भी आपत्तियाँ क्यों न आवे । इस गुण के बल पर संयम–साधना में लगा हुआ चित्त कई भयङ्कर उपद्रव आने पर भी हतोत्साह नहीं होता है, और संयम के उच्च अध्यवसाय से भ्रष्ट होने नहीं पाता ।

देवगुरु–बहुमानः—जब उन्हें संसारावस्था में भीषण भवसमुद्र से पार करानेवाले देव और गुरु का प्रथम परिचय होता है तब से वे उन के प्रति अत्यन्त आदर निज हृदय में स्थापित करते हैं । वह आदर भी सक्रिय रहता है और तब से संसार पर से बहुमान–आस्था उठ जाती है । देव और गुरु, उन के मनमें, जीवन–सर्वस्व सा प्रतीत होते हैं ।

गम्भीराशयः—अर्हन् प्रभुकी आत्मा गम्भीर अभिप्राय वाली होती है । तुच्छ विचारणा, क्षुद्र

(ल०)—न सर्व एव एवंविधाः, खडुङ्कानां व्यत्ययोपलब्धेः, अन्यथा खडुङ्काभाव इति। (प्रत्यन्तरे 'खुडुङ्क' पाठो लभ्यते)

(पं०)—'न सर्वेत्यादि', 'न'=नैव, 'सर्व एव' सत्त्वाः, 'एवंविधाः'=भाविभगवद्भावसत्त्व समाः, कुत इत्याह 'खडुङ्कानां'=सम्यक् शिक्षानर्हाणां 'व्यत्ययोपलब्धेः'=प्रकृतविपरीतगुणदर्शनाद्, व्यतिरेकमाह 'अन्यथा'=प्रकृतगुणवैपरीत्याभावे, 'खडुङ्काभावः'=खडुङ्कानामुक्तलक्षणानामभावः, (प्रत्यन्तरयोः 'खुडुङ्क खुडङ्क' पाठः) स्वलक्षणस्यैव अभावात् (प्रत्यन्तरे 'भावात्' पाठः) न च न सन्ति ते, सर्वेषामविगानात्।

मान्यता उसे छू नहीं पाती। फलतः उन की वाणी और प्रवृत्ति भी गम्भीर भावों से भरी हुई होती है। वे दूसरों दोषों के प्रति भी अपना हृदय गम्भीर रखते हैं।

इन गुणोंकी सहज योग्यता परमात्मा की आत्मा में एसी चली आती है कि विकास के निमित्तों का थोड़ा सा सहयोग मिलने पर वे गुण विशिष्ट रूप में प्रादुर्भुत होते हैं।

साहजिकविशिष्टता में युक्ति और दृष्टान्तः—

प्र०—अरिहंत प्रभु में ऐसी विशिष्ट योग्यता सहज रूपसे होने का प्रतिपादन आप करते हैं तो क्या सभी जीवों मे यह नहीं हो सकती?

उ०—नहीं, सभी जीव सहज रूपसे, भावी अरिहंतपन पानेवाले जीवों के मुताबिक, ऐसी विशिष्ट योग्यता वाले होते नहीं हैं। इसी लिए तो भविष्य मे अरिहंत अमुक ही होते हैं, दूसरे मोक्ष भी प्राप्त करनेवाले जीव नही। फिर सभी जीवों में तीर्थंकर के समान योग्यता कैसे कहा जा सके? इसका दृष्टान्त यह है, जगत में हम देखते हैं कि जो सम्यक् शिक्षा पानेकी योग्यता नहीं रखते हैं उनमें, ऐसी योग्यतावाले जीवो को सम्यक् शिक्षा से जो गुण प्राप्त होते हैं, उनकी अपेक्षा विपरीत गुण देखते हैं। अगर ऐसा न हो अर्थात् विपरीत गुण न दिखाइ देता हो तो जगत में ऐसे अयोग्य जीवोंका अभाव ही हो जाए अर्थात् कोई ऐसा जीव ही न हो। लेकिन देखते तो हैं कि ऐसे जीव नहीं है वैसा नहीं, ऐसे तो कई हैं; इसमें किसीका विवाद नहीं है। तब यह स्पष्ट है कि शिक्षा देने पर भी गुण प्राप्त नहीं कर सकनेवालों में ऐसी उच्च योग्यता मूलमें ही नहीं है, जैसे कि जातिमान अश्वों की उच्च योग्यता अन्य अश्वों मे नहीं है। इस प्रकार अरिहंत बननेवाले जीवों के समान योग्यता सभी जीवों में नहीं है। अतः अरिहंत ही सहज परार्थव्यसनी आदि होते हुए पुरुषोत्तम हैं।

विशिष्टता बादमें हो, पहले क्यों?:—

प्र०—तीर्थंकरपन मे कारणभूत बोधिलाभ जब प्राप्त हो उस अवस्था में तो उन भगवंता में अन्यों की अपेक्षा असमानता यानी विशिष्टता हो, किन्तु पहली अवस्था में भी असमानता कैसे? अन्यों के समान ये क्यों नहीं?

(ल०)–नाशुद्धमपि जात्यरत्नं समानमजात्यरत्नेन। न चेतरदितरेण। तथासंस्कारयोगे सत्युत्तरकालमपि तद्भेदोपपत्तेः। न हि काचः पद्मरागी भवति, जात्यनुच्छेदेन गुणप्रकर्ष (प्र०....र्षा) भावात्। इत्थं चैतदेवं, प्रत्येकबुद्धादिवचनप्रामाण्यात्, तद्भेदानुपपत्तेः। न तुल्यभाजनतायां तद्भेदो न्याय्य इति।

(पं०)–अस्तु तीर्थकरत्वहेतुबोधिलाभे भगवतामन्यासमानता, इतरावस्थायां तु कथमित्याशङ्क्य प्रतिवस्तूपमया साधयितुमाह 'न'=नैव, 'अशुद्धमपि'=मलग्रस्तमपि, 'जात्यरत्नं'=पद्मरागादि, 'समानं'=तुल्यम्, 'अजात्यरत्नेन'=काचादिना। शुद्धं सत् समानं न भवत्येवेति 'अपि'शब्दार्थः। 'न चेतरद्' इति, 'इतरद्'=अजात्यरत्नं, 'इतरेण'=जात्यरत्नेन। कुत इत्याह 'तथा'=अशुद्धावस्थायामसमानतायां सत्यां 'संस्कारयोगे'=शुद्ध्युपायक्षारमृत्पुटपाकसंयोगे, 'उत्तरकालमपि' किं पुनः पूर्वकालमिति 'अपे'रर्थः, 'तद्भेदोपपत्ते', तयोः=जात्याजात्यरत्नयोः ('भेदोपपत्तेः=') असाद्दश्यघटनात्। तद्भेदोपपत्तिमेव भावयति 'न हि काचः पद्मरागीभवति' संस्कारयोगेऽपीति गम्यते। हेतुमाह 'जात्यनुच्छेदेन'=काचादिस्वभावानुल्लङ्घनेन, 'गुणप्रकर्षभावात्'=गुणानां कान्त्यादीनां वृद्धिभावात्। ('शुद्ध्यभावात्' इति च पाठः)। इदमेव तन्त्रयुक्त्या साधयितुमाह 'इत्थं च'~इत्थमेव=जात्यनुच्छेदेनैव, चकारस्यावधारणार्थत्वात्। 'एतत्'=गुणप्रकर्षभावलक्षणं वस्तु, कुत इत्याह 'एवम्'=अनेन जात्यनुच्छेदेन गुणप्रकर्षभावलक्षणप्रकारेण। 'प्रत्येकबुद्धादिवचनप्रामाण्यात्'=प्रत्येकबुद्ध–बुद्धबोधित–स्वयंबुद्धादीनां पृथग्भिन्नस्वरूपाणां 'वचनानि'=निरूपका ध्वनयः, तेषां 'प्रामाण्यम्'=आप्तोपदिष्टत्वेनाभिधेयार्थाव्यभिचारिभावः, तस्मात्। अस्यैव व्यतिरेकेण समर्थनार्थमाह 'तद्भेदानुपपत्तेः'। इह 'अन्यथा' शब्दाध्यारोपाद् 'अन्यथा तद्भेदानुपपत्ते'रिति योग्यम्। तद्भेदानुपपत्तिमेव भावयति, 'न'=नैव, 'तुल्यभाजनतायां'=तुल्ययोग्यतायां, 'तद्भेदः'=प्रत्येकबुद्धादिभेदो, 'न्याय्यो'=युक्तिसंगतः, 'इति'।

उ०—आपकी यह शङ्काका समाधान एक दूसरी वस्तु की उपमासे देखिए। जगत मे जो पद्मरागादि नामक जात्यरत्न होता है वह जब खान में अशुद्ध मलग्रस्त अवस्था में होता है तब भी वह अजात्यरत्न काँच वगैरह के समान नहीं कहा जाता है, तब शुद्ध अवस्था में तो असमान होने में पूछना ही क्या ? इसी प्रकार अजात्यरत्न काँच वगैरह भी जात्यरत्न के समान नहीं होते हैं, क्यों कि उनके पर शुद्धि करने के उपायभूत क्षार, मिट्टी, संपुटमें तपन, इत्यादि के प्रयोग के उत्तर काल में भी अर्थात् शुद्धि प्रयोग के बाद भी वे काँचादि स्वरूप ही रहते हैं, इसलिए जात्यरत्न और अजात्यरत्न की असमानता तब भी बनी रहने से दोनों का मौलिक भेद सिद्ध होता है अर्थात् प्रयोग के पूर्व काल मे भी अवश्य भेद है, असमानता है। अतः संस्करण–प्रयोग करने पर भी काँच कभी पद्मराग आदि मणि नहीं हो सकता। कारण, जगत मे कान्ति आदि गुणका प्राकट्य और वृद्धि मूल जातिका उल्लंघन न करते हुए ही होता हैं। गधे को अश्व के समान कितनी ही शिक्षा दी जाए, किन्तु अपना असली गुण छोड कर कोई गुणविकास उसमें नहीं होगा, गधापन में योग्य ही विकास प्राप्त होगा। इस प्रकार काँच आदि मे भी, मूल जाति रहते हुए ही, उतना ही विकास होगा।

(ल०— मोक्षे कथं न भेदः ?)

न चात एव मुक्तावपि विशेषः, कृत्स्नकर्मक्षयकार्यत्वात्, तस्य चाविशिष्टत्वात्। दृष्टश्च दरिद्रेश्वरयोरप्यविशिष्टो मृत्युः, आयुःक्षयाविशेषात्। न चैतावता तयोः प्रागप्यविशेषः, तदन्यहेतुविशेषात्। निदर्शनमात्रमेतद् इति पुरुषोत्तमाः ॥ ६ ॥

(पं०)—एवं सत्त्वभेदसिद्धौ मुक्तावपि तद्भेदप्रसङ्ग इति परशङ्कापरिहारायाह 'न च'=नैव, 'अत एव'=इह सत्त्वभेदसिद्धेरेव हेतुतः, 'मुक्तावपि'=मोक्षेऽपि, न केवलमिह, 'विशेषो'=भेदः, तत्रापि सत्त्वमात्रभावात्। कुत इत्याह 'कृत्स्नकर्मक्षयकार्यत्वात्'=ज्ञानावरणादिनिखिलकर्मक्षयानन्तरभावित्वान्मुक्तेः, एवमपि किम् इत्याह 'तस्य च'=कृत्स्नकर्मक्षयस्य, 'अविशिष्टत्वात्'=सर्वमुक्तानामेकाकारत्वात्। तदेवार्थान्तरदर्शनेन भावयति 'दृष्टश्च'=उपलब्धश्च, 'दरिद्रेश्वरयोरपि'=पुरुषविशेषयोरपि, किं पुनरन्ययोरविशिष्टयोरिति 'अपि' शब्दार्थः, 'अविशिष्टः'=एकरूपो 'मृत्यु'=प्राणोपरमः। कुत इत्याह 'आयुःक्षयाविशेषात्' — 'आयुःक्षयस्य' = प्राणोपरमकारणस्य, 'अविशेषाद्'=अभेदात्। कारणविशेषपूर्वकश्च कार्यविशेष इति। तर्हि तयोः प्रागप्यविशेषो भविष्यतीत्याह 'न च'—'एतावता'= मृत्योरविशेषेण, 'तयो'=दरिद्रेश्वरयोः, 'प्रागपि' मृत्युकालात्। 'अविशेषः' उक्तरूपः। कुत इत्याह 'तदन्यहेतुविशेषात्,' तस्माद्=आयुःक्षयविशेषाद्, अन्ये=ये विभवसत्त्वासत्त्वादयो हेतवस्तैः, विशेषात्= विशिष्टीकरणात्। 'निदर्शनमात्रमेतदिति'=क्षीणसर्वकर्मणां मुक्तानां क्षीणायुःकर्मांशविशेषाभ्यां दरिद्रेश्वराभ्यां न किञ्चित्साम्यं परमार्थतः, इति दृष्टान्तमात्रमिदम्। इति पुरुषोत्तमत्वसिद्धिः।

<u>प्रत्येकबुद्धादि शास्त्रदृष्टान्तः—</u>

प्र०—शास्त्र में इसका कोई दृष्टान्त है ?

उ०—हां, शास्त्र में प्रत्येकबुद्ध, बुद्धबोधित, और स्वयंबुद्ध, जिनसिद्ध और अजिनसिद्ध, तीर्थसिद्ध और अतीर्थसिद्ध, इत्यादि भेद पाये जाते हैं; अर्थात् ऐसे भिन्न भिन्न स्वरूपवाले सिद्धों के प्रतिपादक शास्त्रवचन मिलते हैं; और वे वचन आप्त जनों के द्वारा कथित होने से प्रमाणभूत हैं; कथित वस्तुस्थिति के अव्यभिचारी अर्थात् अनुरूप हैं, विसंवादी नहीं हैं। यह इस प्रकार,—यदि कोई मनुष्य संसार का कोई प्रसङ्ग देख कर या कुछ निमित्त पाकर अपने आप ही चिंतन के द्वारा प्रतिबोध प्राप्त करता है और चारित्र (साधु दीक्षा) स्वीकार और पालन करके सिद्ध होता है यानी संसार से मुक्त होता है तो वह प्रत्येकबुद्ध कहा जाता है। और जो गुरु से प्रतिबोधित हो चारित्र द्वारा सिद्ध होता है वह बुद्धबोधित है। जब कि, जो जन्म से सहज ही विरक्त होने की वजह योग्य उम्र में स्वयं ही बुद्ध हो सिद्ध होता है वह स्वयंबुद्ध कहा जाता है। अब सोचिए कि कोई जीव इन तीनों में से कोई एक नियत प्रकार से बुद्ध क्यों होता है, और दूसरा जीव क्यों दूसरे प्रकार से बुद्ध होता है ? कहना होगा कि उस-उस जीव में पहले से वैसी वैसी ही योग्यता है,

जिसे उल्लंघन न करके ही गुण विकास होते होते पृथक् पृथक् स्वरूपवाले प्रत्येकबुद्ध–सिद्ध आदि होते है। एवं जिनसिद्ध या अजिनसिद्ध, तीर्थसिद्ध या अतीर्थसिद्ध, इत्यादि भी भिन्न भिन्न स्वरूपवाले सिद्ध होते हैं। (जिन यानी तीर्थंकर हो कर सिद्ध हो वह जिनसिद्ध। जिन न होकर सिद्ध हो वह अजिनसिद्ध। एवं तीर्थंकर के द्वारा स्थापित किये हुए धर्मतीर्थ पाकर सिद्ध हो वह तीर्थसिद्ध; तीर्थस्थापन पूर्व ही सिद्ध हुए, जैसे कि मरुदेवा माता, वह अतीर्थसिद्ध।) ये भेद आप्तकथित शास्त्र से प्रमाणित हैं; और वे भिन्न भिन्न योग्यताओं पर निर्भर हैं। इस बात का निषेधमुख से समर्थन करते कह सकते हैं कि वैसी वैसी योग्यता न होने पर वैसे भेद सङ्गत नहीं हो सकते; अर्थात् यदि समान योग्यता हो, तो इसके आधार पर एक प्रत्येकबुद्ध हो और दूसरा बुद्धबोधित हो, वैसा भेद होना युक्तियुक्त नहीं है।

सभी का, मोक्ष में, भेद क्यों नहीं? मृत्यु का दृष्टान्तः–

प्र०—यदि जीवों में ऐसा भेद सिद्ध है तब तो मोक्ष में भी भेद बना रहेगा? ऐसा है क्या?

उ०—नहीं, जीवों में यहां भेद सिद्ध होने के कारण, मोक्ष में भी जीवपन तो है ही, इसलिए वहां भी भेद होगा ऐसा नहीं। क्यों कि मोक्ष है ज्ञानावरण आदि समस्त कर्मों के नाश से अनन्तर होनेवाला कार्य, और वैसा कर्मनाश तो सभी मुक्त जीवों में एक–सा हुआ है। फिर मोक्ष स्वरूप कार्य भी एक–सा ही होगा। अन्त में भेद न होने की यह वस्तु एक दूसरे पदार्थ में देखिए। समानों में तो पूछना हि क्या लेकिन निर्धन और धनिक जैसे भिन्नता वाले पुरुषों मे भी प्राणनाश स्वरुप मृत्यु एक–सी दिखाई पड़ती है। इस का कारण यह है कि प्राणनाश का कारणभूत आयुष्यक्षय है, और वह भिन्नता वाले पुरुषों में भी एक-सा होता है तब कार्य एक–सा क्यों न हो? कार्य मे भेद तो कारण में भेद होने से ही हो सकता है। यहां कारण में भेद नही, अतः मृत्युस्वरूप कार्य समान होता है।

प्र०—तब तो मृत्यु के पहले भी समानता क्यों नही होती?

उ०—निर्धन और धनिक की मृत्यु समान है फिर भी मृत्युकाल के पूर्व भी समानता न होने का कारण यह है कि मृत्यु एक मात्र आयुःक्षय पर निर्भर है, जब की निर्धनता एवं धनिकता वैभव के होने न होने पर निर्भर है। इन हेतुओं मे भिन्नता होने से दरिद्रता और धनिकता स्वरुप कार्यो मे भेद पड़ता है।

यह तो एक दृष्टान्त मात्र है। बाकी यह ध्यान रहे जिन्होंने समस्त कर्मों का क्षय किया है ऐसे मुक्त जीवों का, जिन्होंने केवल अंशमात्र आयुःकर्म का क्षय किया है ऐसे मृत्युप्राप्त दरिद्र और धनिक संसारी जीवों के साथ, वास्तव रुप मे कोई साम्य नहीं, कोई समानता नहीं है।

इस प्रकार सभी मुक्त जीवों मे कर्मनाश एक–सा होने से मुक्ति एक–सी होती है। फिर भी तीर्थंकर जीवों में मुक्ति के पूर्व अन्य पुरुषों की अपेक्षा स्वाभाविक विशिष्ट योग्यता होने से फलतः तीर्थंकरपन स्वरुप भिन्न कार्य होता है। यह पुरुषोत्तमत्व की सिद्धि हुई।

७. पुरिससीहाणं (पुरुषसिंहेभ्यः)

<u>साङ्कृत्यमत-तन्निरासौ-</u>

(ल०)—एतेऽपि बाह्यार्थसंवादिसत्यवादिभिः साङ्कृत्यैरुपमावैतथ्येन निरुपमस्तवार्हा एवेष्यन्ते, 'हीनाधिकाभ्यामुपमामृषे'ति वचनात्। एतद्व्यवच्छेदार्थमाह 'पुरुषसिंहेभ्यः' (पुरिससीहाणं) इति। पुरुषाः प्राग्व्यावर्णितनिरुक्ताः, ते सिंहा इव प्रधानशौर्यादिगुणभावेन ख्याताः पुरुषसिंहाः। ख्याताश्च कर्म्मशत्रून् प्रति शूरतया, तदुच्छेदनं प्रति क्रौर्येण, क्रोधादीन् प्रति त्वसहनतया, रागादीन् प्रति वीर्ययोगेन, तपःकर्म्म प्रति वीरतया। अवज्ञैषां परीषहेषु, न भयमुपसर्गेषु, न चिन्तापीन्द्रियवर्गे, न खेद संयमाध्वनि, निष्प्रकम्पता सद्ध्यान इति।

(पं०)—'बाह्ये' इत्यादि। सम्यक्शुभभावप्रवर्त्तकमितरनिवर्तकं च वचनं सत्यमसत्यं वा निश्चयतः सत्य, तत्प्रतिषेधेन 'बाह्यार्थसंवाद्येव'=अभिधेयार्थाव्यभिचार्येव, 'सत्यवादिभिः'=व्यवहाररूपं सत्यं वक्तव्यमिति वदितुं शीलं येषां ते तथा, तैः। 'साङ्कृत्यैः'=सङ्कृताभिधानप्रवादिशिष्यैः, 'उपमावैतथ्येन'= सिंहपुण्डरीकादिसादृश्यालीकत्वेन, 'निरुपमस्तवार्हाः एव'=सर्वासादृश्येन वर्णनयोग्याः, 'इष्यन्ते'। कुत इत्याह 'हीनाधिकाभ्यां', 'हीनेन'=उपमेयार्थान्नीचेन, 'अधिकेन च'=उत्कृष्टेन, उपमेयार्थादेव; 'उपमा'=सादृश्यं, 'मृषा'=असत्या, 'इतिवचनात्'=एवंप्रकाराऽऽगमात्।

---

७. पुरिससीहाणं

<u>'उपमारहित स्तुति'वादी सांकृत्य मत :—</u>

ऐसे श्री पुरुषोत्तम परमात्मा उपमासहित नहीं किन्तु उपमारहित सत्य स्तुति के योग्य हैं- इस प्रकार सङ्कृत नामके वादी के शिष्य साङ्कृत्य मानते हैं। दरअसल सत्य वही है जो सम्यक् शुभ भावका प्रवर्तक हो एवं असम्यग् अशुभ भाव का निवारक हो, चाहे वह सत्य हो या असत्य, लेकिन पारमार्थिक सत्य वही है। परन्तु इसके निषेध में सांकृत्यलोग बाह्य अर्थ के साथ संवादी यानी मिलते-जुलते वचन को ही सत्य वचन मानते हैं। वे कहते हैं कि वचन में सत्यता हो उसके लिए बाह्य वस्तुके साथ संवादिता यानी यथार्थता आवश्यक है। वचन अभिधेय अर्थका अव्यभिचारी होना चाहिए, मतलब जैसी बाह्य वस्तु वैसा ही वह कहने वाला चाहिए, अर्थात् वचन व्यवहारसे सत्य होना चाहिए। ऐसा ही सत्य बोलना इस प्रकार मानने वाले सांकृत्य लोग चाहते हैं कि सिंह, पुण्डरीक आदि की उपमा यानी सादृश्य झूठा है, परमात्मा में अविद्यमान है, इसी लिए वे बिना किसी भी उपमा, स्तुति योग्य है। स्तुति में उपमा नहीं दिखलानी चाहिए, कारण जब उन में वैसा सादृश्य है ही नहीं, तब वह क्यों बोलना ? अगर जो बोलेंगे तो वह मृषाभाषण होगा। सांकृत्य का आगमवचन यह है-'हीनाधिकाभ्याम् उपमा मृषा' न्यून या अधिक के साथ उपमा दिखलाना यह मृषा है, असत्य है। जिसे उपमा लगानी है

वह हुआ उपमेय; उपमेय पदार्थकी अपेक्षा उत्कृष्टता में नीचे या ऊंचे पदार्थके साथ सादृश्य कहना यह असत्य वचन है।

सांङ्कृत्य मतका खण्डनः परमात्मा सिंह समान हैं:—

इस साम्यता के खिलाफ यहां अर्हत् परमात्माको 'पुरुषसिंह' कह कर नमस्कार करते हैं। अर्थात् वे पुरुष सिंह समान हैं। 'पुरुष' शब्दके अर्थ का वर्णन कर आये इस प्रकार अर्थ 'पुर' माने शरीरमें रहनेवाला जीव होता है। ऐसे वे परमपुरुष सिंह समान इसीलिए विख्यात हैं कि उन में सिंह के समान प्रधान शौर्य आदि,—अर्थात् शूरता, क्रूरता, असहनता, वीर्य, वीरता, अवज्ञा, निर्भीकता, निश्चिन्तता, खेदराहित्य, निष्प्रकम्पता, इत्यादि–गुणों के समूह हैं।

भगवान में सिंहवत् शौर्य आदि गुणगण किस प्रकार?:—

जिस प्रकार सिंह मदोन्मत्त हस्तियों के प्रति शूर होकर उनका उच्छेद करने में क्रूर होता है, दूसरे सिंहको नहीं सह सकने से उसे प्रवेश नहीं करने देता, शिकारी पुरुषों के प्रति निःशस्त्र हो कर वीरता रखता है, पीछेहठ न कर सामने जाता है, क्षुद्र जन्तुओं की तो अवज्ञा ही करता है, भयङ्कर उपद्रवों में भी निर्भीक रहता है, अपने खानपान आदि के विषयमें निश्चिन्त रहता है, वनभ्रमणादि परिश्रम से उब जाता नहीं है, और अपनी उद्देश–सिद्धि मे निष्कम्प रहता है;

इस प्रकार, श्री अरिहंत परमात्मा ज्ञानावरण आदि कर्म स्वरूप आंतर शत्रुओं के प्रति शूर हो कर उनके सर्वनाशमें क्रूर होते हैं, लेश मात्र भी कोमल या मृदु नहीं बनते हैं। वे क्रोध–मान–माया–लोभ वगैरह कषायों को न सह कर उनको अपनी आत्मामें प्रवेश नहीं करने देते हैं, और अतुल पराक्रम से राग–द्वेष–मोह आदिका नाश करते हैं। बारह प्रकार के तप के अनुष्ठानों में वे परिचारक, आराम आदि से रहित हो उनमे जानवुझ प्रविष्ट रहने में सदा वीर बने रहते हैं। वैसे, वे क्षुधा–तृषा, सर्दी–गर्मी, आक्रोश–प्रहार इत्यादि परीसहों अर्थात् क्षुद्र उपद्रवों की पीड़ाओं की अवगणना करते हैं, लापरवाही रखते हुए उन्हें सहर्ष सह लेते हैं, और मरणान्त कष्ट–उपद्रव जैसे घोर उपसर्गों में भी निर्भीक बन अपनी मोक्षमार्ग की साधनामें अविचलित रहते हैं। अपनी इन्द्रियों की तृप्ति करने की कोई चिन्ता अभिलाषा उन्हें होती नहीं है; कठिन संयममार्ग पर सदा चलते रहने के परिश्रम में कोई थकावट, कोई नीरसता उन्हें होती नहीं है। एवं सदा सम्यग् धर्मध्यानमें, एकाग्र तत्त्वचिंतन में उन्हें कोई कंप, कोई स्खलना–चंचलता नहीं और निरंतर स्थिरता निश्चलता रहती है।

यहां यह देखिए कि परमात्मा बनने के लिए श्री अरिहंत की आत्मा मन–वचन–कायासे कितनी वैराग्य–अहिंसा–संयम–तप आदि की कड़ी साधना करती हैं! कितने इन्द्रियनिग्रह, कष्ट-सहन, और उच्च गुण रखती हैं! कितनी ध्यानमग्न रहता हैं! तभी तो वह वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा यानी परम शुद्ध आत्मा होती है, एवं विश्व को तत्त्व दर्शन करा कर मोक्ष मार्ग पर ले चलती है और अन्तमें अनंत दुःखमय संसार से छुडाती हैं। असली परमात्मपन ऐसे प्रभु में है,

(ल०)—न चैवमुपमा मृषा, तद्द्वारेण तत्त्वतः तदसाधारणगुणाभिधानात्। विनेय-विशेषानुग्रहार्थमेतत्। इत्थमेव केषाञ्चिदुक्तगुणप्रतिपत्तिदर्शनात्। चित्रो हि सत्त्वानां क्षयोपशमः; ततः कस्यचित् कथंचिदाशयशुद्धिभावात्।

(पं०)—'**न चैवम्**' इत्यादि,—'**न च**'=नैव, '**एवम्**'=उक्तप्रकारेण, '**उपमा**' सिंहसादृश्य-लक्षणा, '**मृषा**'=अलीका। कुत इत्याह '**तद्द्वारेण**'=सिंहोपमाद्वारेण, '**तत्त्वतः**'=परमार्थमाश्रित्य, न शाब्दव्यवहारतः, '**तदसाधारणगुणाभिधानात्**'—'**तेषां**'=भगवताम्, '**असाधारणाः**'=सिंहादौ क्वचिदन्यत्र अवृत्ता (प्रत्यन्तरे 'अप्रवृत्ता') ये '**गुणाः**'=शौर्यादयस्तेषाम्, '**अभिधानात्**'=प्रत्यायनात्। ननु तदसाधारणगुणाभिधायिन्युपमान्तरे (प्रत्यन्तरे 'उपायान्तरे') सत्यपि किमर्थमित्थमुपन्यासः कृतः? इत्याह '**विनेयविशेषानुग्रहार्थमेतत्**'=विनेयविशेषाननुग्रहीतुमिदं सूत्रमुपन्यस्तम्। एतदेव भावयति '**इत्थमेव**' =प्रकृतोपमोपन्यासेनैव, '**केषाञ्चिद्**'=विनेयविशेषाणाम्, '**उक्तगुणप्रतिपत्तिदर्शनात्**,'—'**उक्तगुणाः**' =असाधारणाः शौर्यादयः, तेषां ('प्रतिपत्तिदर्शनात्'=) प्रतीतिदर्शनात्। कुत एतदेवमित्याह '**चित्रो**'= नैकरूपो, '**हि**'=यस्मात्, '**सत्त्वानां**'=प्राणिनां, '**क्षयोपशमः**'=ज्ञानावरणादिकर्म्मणां क्षयविशेषलक्षणः। '**ततः**'=क्षयोपशमवैचित्र्यात, '**कस्यचिद्**'=विनेयस्य, '**कथञ्चित्**'=प्रकृतोपमोपन्यासादिना प्रकारेण, '**आशयशुद्धिभावात्**'=चित्तप्रसादभावात्। नैवमुपमा मृषा इति योगः।

न कि सराग में, या जगत्सर्जक में। विश्व के प्रति लोकोत्तर उपकार भी वे कर सकते हैं। मुमुक्षु को आदर्शभूत भी ऐसे परमात्मा हो सकते हैं। सच्चे तत्त्व और संपूर्ण सत्य ऐसे पर-त्मा ही दिखला सकते हैं।

अब न्यून या अधिक के साथ उपमा का अस्वीकार करने वाले सांकृत्य मत में अप्रमाणि-कता प्रदर्शनार्थ ही ग्रन्थकार महर्षि कहते हैं कि अरिहंत परमात्मा को पूर्वोक्त शौर्यादिरूप से दी गई सिंह के साथ उपमा यानी सादृश्य असत्य है ही नहीं, क्यों कि सिंह की उपमा द्वारा मात्र शब्द व्यवहार से नहीं अर्थात् केवल कहने के लिए नहीं, किन्तु वस्तुस्थिति के अनुरोध से भगवान जिनेन्द्रदेव के असाधारण गुणों का बोध कराया गया है। सिंह आदि दूसरे किसी में भी न रहने वाले विशिष्ट शौर्यादि गुण उन में दिखलाए गए हैं। अर्हत् भगवान में वैसे गुण वस्तुतः हैं यह उपमानिवेश का तात्पर्य है।

प्र०-प्रभु में उन असाधारण गुण प्रदर्शित करने हेतु और उपाय या उपमा भी तो हो सकती है, फिर ऐसी उपमा के दर्शक सूत्र क्यों दिया?

उ०-तथाप्रकार के शिष्यों के प्रति अनुग्रह करने के लिए यह 'पुरिससीहाणं' सूत्र दिया गया है। कारण कि कितनेक ऐसे शिष्य जनों को, प्रस्तुत सिंह की उपमा दिखलाने से ही, पूर्वोक्त शौर्यादि असाधारण गुणों का बोध हो सकता है। शायद आप पूछेंगे, क्यों ऐसा? उत्तर यह है कि बोध में कारणभूत जो क्षयोपशम है वह जीव में विचित्र प्रकार का होता है; अर्थात् जीवों

(ल०)—यथाभव्यं व्यापकश्चानुग्रहविधिः उपकार्यात् प्रत्युपकारलिप्साऽभावेन महतां प्रवर्त्तनात्। महापुरुषप्रणीतश्चाधिकृतदण्डकः आदिमुनिभिरर्हच्छिष्यैर्गणधरैः प्रणीतत्वात्। अत एवैष महागम्भीरः, सकलन्यायाकरो, भव्यप्रमोदहेतुः, परमार्षरूपो, निदर्शनमन्येषाम्, इति न्याय्यमेतद् यदुत 'पुरुषसिंहा' इति।

(पं०)—यदि नाम हीनोपमयापि सिंहादिरूपया कस्यचिद् भगवद्गुणप्रतिपत्तिर्भवति तथापि सा न सुन्दरेति (अत:) आह 'यथाभव्यं'=यो यथाभव्योऽनुग्रहीतुं योग्यो यथाभव्यं योग्यतानुसारः, तेन, 'व्यापकश्च'=सर्व्वानुयायी पुनः, 'अनुग्रहविधिः'=उपकारकरणम्। अत्र हेतुः 'उपकार्याद्'=उपक्रियमाणात्, 'प्रत्युपकारलिप्साऽभावेन'=उपकार्यं प्रतीत्योपकर्त्तुरनुग्रहकरणं प्रत्युपकारः, तत्र 'लिप्साऽभावेन'=अभिलाषनिवृत्त्या, 'महतां'=सतां 'प्रवर्त्तनात्'। अत इत्थमेव केचिदनुगृह्यन्ते, इत्येवमप्युपमाप्रवृत्तिरदुष्टेति। 'परमार्षरूप' इति, 'परमं'=प्रमाणभूतं, यद् 'आर्षं'=ऋषिप्रणीतं, तद्रूपः। 'इति'=इत्येवं 'पुरुषसिंहा' इत्येतदुपमानं 'न्याय्यं'=युक्तियुक्तम्।

के ज्ञानावरण आदि कर्मों का ह्रास भिन्न भिन्न प्रकार का होता है। और इसीलिए किसी शिष्य को प्रस्तुत उपमा-कथन के प्रकार से ही क्षयोपशम द्वारा आशय-शुद्धि यानी परमात्मा के प्रति चित्तआल्हाद उत्पन्न होता है। तात्पर्य, अमुक प्रकार के क्षयोपशम के सहकार द्वारा इस रीति की ही उपमा का निर्देश भावोल्लास को प्रगट कर सकता है, अतः शुभ भाव की प्रवर्तक ऐसी उपमा असत्य नहीं है, परमार्थ सत्य है।

उपमा का आश्रय अगर न किया तो केवल स्वरूपनिरूपण कभी कभी इतना हृदयग्राही और चित्तके सामने साक्षात् चित्रदर्शक नहीं बन सकता है जितनी एक सबल उपमा बन सकती है। परमात्मा शूर है वीर है....इतना कहने से क्या बोध क्या आकर्षण होता, जितना 'प्रभु सिंह की भांति शूर-वीर है,—इस उपमा के कथन से होता है? उपमा द्वारा आसानी से यथास्थित और गंभीर बोध होता है, इतना नहीं बल्कि चित्तप्रसाद भी होता है। अलबत्ता उपमा सर्वांश समान नहीं है फिर भी ऐसा बोध और आल्हादादि स्वरुप शुभ फल पैदा करने वाली और आंशिक समानतावाली उपमा असत्य कैसे कही जा सके? बच्चों को पढ़ाने-समझाने के लिए उन उन ढंग और उपमाओं से कहनेमें क्या असत्य भाषण का दोष लगता है?

प्र०—ठीक है किसी को सिंह आदि नीची उपमासे भी अर्हत्प्रभुके गुणों का बोध होता हो, लेकिन ऐसी उपमा निर्दोष नहीं है, फिर क्यों दी जाए?

उ०—देने का हेतु यह है कि उपकारविधि यानी जीवों पर उपकार करने की जो प्रक्रिया है वह उनकी योग्यतानुसार करनी पड़ती है; और वह कुछ लोगों के लिए नहीं किन्तु सभी लोगों के लाभार्थ की जाती है। उपकार इस प्रकारका हो उसमें कारण यह है कि संत पुरुषों द्वारा जा उपकार किया जाता है उसमे उपकारपात्र की ओर से कोई प्रत्युपकार पानेकी अभिलाषा नहीं है,

अर्हत्प्रभुकी स्तुति काव्यकी रचना करने में प्रशंसा प्रतिष्ठादि की कोई कामना नहीं होती है उन्हें तो केवल एक ही कामना है कि अपने स्तुतिकाव्यका सहारा ले कर जीवों में अर्हद्भक्ति और आशय-विशुद्धि प्रगट हो; अत एव जब वे उपकारविधि में प्रवर्तमान होते हैं, तब उसमें लक्ष्य यह रहेगा कि उपकारविधि सामनेवालों की योग्यतानुसार और व्यापक रूपकी रखी जाए ताकि उन्हें वस्तुतः उपकार हो। प्रस्तुत में वे देखते हैं कि जीव ऐसे है कि इस प्रकार ही अर्थात् सिंहादि की उपमा द्वारा ही उनका उपकार हो सकता है, अतः ऐसी उपमा देते हैं। इसलिए ऐसी उपमा सदोष नहीं, निर्दोष है।

यहाँ इतना ध्यानमें रहे कि यह 'प्रणिपात-दण्डक' ('णमोत्थुणं'....) सूत्र की रचना कोई सामान्य पुरुष द्वारा नहीं किन्तु महापुरुष द्वारा की गई है। खुद भगवान अरिहंत परमात्मा के गणधर शिष्य जो आदिमहर्षि हुए जो परमात्मा के शिष्यगण में प्रथम थे, और द्वादशांग श्रुत सागर के प्रणेता थे, उनके द्वारा यह रचना की गई है। इसीलिए यह समस्त सूत्र गम्भीर हैं, कई गम्भार भावोंसे गम्भीर पदार्थोंसे भरा हुआ है; सकल न्यायों की यानी दृष्टान्त-तर्क-युक्तियों की खान है; भव्य प्रमोद को पैदा करनेवाला है; आर्य यानी ऋषिप्रणीत होने से परम प्रमाण-भूत वचन हैं; और दूसरों के लिए दृष्टान्तरूप है, अथवा दूसरे गंभीर सूत्रों के प्रमाणभूत है।

श्री गणधर भगवान समस्त श्रुत यानी शास्त्रों के केवल पारगामी नहीं बल्कि स्वयं रचयिता होते हैं, और इनमें सर्वजनोपकारक इस अर्हद्गुण-स्तुति के सूत्रकी रचना की गई है; तो फिर इसकी गम्भीरता आदि सोच कर प्रश्न नहीं उठाना चाहिए कि, उपमा दुष्ट क्यों दी गई। सूत्र के प्रणेता और गाम्भीर्यादि गुणों को लक्ष्यमें लेते तो प्रश्न के लिए कोइ गुंजाइश नहीं रहती; और इस में अर्हत परमात्मा को सिंह की उपमा लगाकर जो पुरुष सिंह कहा गया वह युक्ति-युक्त प्रतीत होता।



८. पुरिसवरपुण्डरीयाणं (पुरुषवरपुण्डरीकेभ्यः)

अविरुद्धधर्म्माध्यास वाद–सुचारुमततन्निरासौः—

(ल०)—एते चाविरुद्धधर्म्माध्यासितवस्तुवादिभिः सुचारुशिष्यैः विरुद्धोपमाऽयोगेनाभिन्नजातीयोपमार्हा एवाभ्युपगम्यन्ते; विरुद्धोपमायोगे तद्धर्मापत्त्या तदवस्तुत्वमितिवचनात्।

(पं०)—'एते च' इत्यादि=एते च पूर्वसूत्रोक्तगुणभाजोऽपि,....'अभिन्नजातीयोपमार्हा एवेष्यन्ते' इति योगः। कैरित्याह 'अविरुद्धैः'=एकजातीयैः, 'धर्म्मैः'=स्वभावैः 'अध्यासितं'=आक्रान्तं, 'वस्तु'=उपमेयादि, वदितुं शीलं येषां ते तथा तैः, 'सुचारुशिष्यैः'=प्रवादिविशेषान्तेवासिभिः, 'विरुद्धोपमाऽयोगेन,' 'विरुद्धायाः'=उपमेयापेक्षया विजातीयायाः पुण्डरीकादिकाया 'उपमायाः'=उपमानस्य, 'अयोगेन'=अघटनेन, किम् इत्याह 'अभिन्न ...' इत्यादि, 'अभिन्नजातीयाया एव'=भगवत्तुल्यमनुष्यान्तररूपाया(एव) 'उपमायाः' 'अर्हाः'=योग्याः, 'इष्यन्ते'=अभ्युपगम्यन्ते। कुतः? इत्याह 'विरुद्ध....' इत्यादि, 'विरुद्धोपमायाः' पुण्डरीकादिरूपायाः, 'योगे'=संबन्धे, 'तद्धर्म्मापत्त्या'=विजातीयोपमाधर्मापत्त्या, ('तदवस्तुत्वं') 'तस्य'=उपमेयस्य अर्हदादिलक्षणस्य, 'अवस्तुत्वं' तादृशधर्म्मिणो वस्तुनोऽसम्भवात्। 'इतिवचनाद्'=एवंरूपाऽऽगमात्।

---

८. पुरिसवरपुण्डरीयाणं

सुचारुशिष्यमत–'भिन्नजातीय उपमा नहीं':—

अब सुचारु नामक किसी वादी के शिष्यों द्वारा एसा स्वीकार किया जाता है कि 'पूर्वोक्त सूत्रमें कहे हुए शूरत्वादि गुणों से युक्त भी परमात्मा अभिन्न जातीय ही उपमा के योग्य हैं।' क्योंकि वे सुचारुशिष्य अविरुद्ध धर्माध्यासित वस्तुवादी हैं। अर्थात् वे एसा प्रतिपादन करते रहते है कि अविरुद्ध धर्मों से यानी एकजातीय स्वभावों से ही संपन्न होने वाली वस्तु उपमेय बनती है, नहीं कि भिन्नजातीय धर्मों से। इस लिए उपमार्य उपमान वस्तु भी एसी चाहिए कि जो भिन्नजातीय धर्मोंवाली न हो। क्योंकि जिस उपमेय को उपमा लगाती है उस उपमेयकी अपेक्षा, दृष्टान्तसे, अगर पुंडरीक आदि उपमान एकेन्द्रियादि होने से भिन्नजातीय है, तो यह संगत नहीं हो सकता है। अतः परमात्मा अपने समानजातीय कोई दूसरे मनुष्य की ही उपमा के योग्य है, वैसा वे मानते हैं। कारण मे 'विरुद्धोपमायोगे तद्धर्मापत्त्या तदवस्तुत्वम्'—एसा आगम बतलाते हैं। इसका अर्थ यह है कि एकेन्द्रिय जाति के पुंडरीक कमल आदि का उपमा रूपसे संबन्ध करने पर उपमेय परमात्मादि मे उस विजातीय उपमा के स्वभावों की आपत्ति होगी। अर्थात् एकेन्द्रिय पुंडरीक आदि कमल के धर्म–जैसे कि, एकेन्द्रियपन, पङ्क में उत्पत्ति, अल्प चैतन्य, मूढता, अज्ञान, पापअविरति, इत्यादि की आपत्ति उपमेय अर्हत् परमात्मा आदि में लगेगी। फलतः यह उपमेय अवस्तु ठहर जायगा, क्योंकि ऐसे, पञ्चेन्द्रियता और एकेन्द्रियता, मानवी स्त्री में जन्म और पङ्कमें जन्म, मोहमूढता और वीतरागता, अज्ञान और सर्वज्ञता...इत्यादि विरुद्ध धर्मों को एकसाथ धरनेवाली कोई वस्तु ही नहीं बन सकती। इस लिए 'अर्हन् भगवान् पुण्डरीक जैसे हैं' यह नहीं कहना चाहिए।

(ल०)—एतद्व्यपोहायाह 'पुरुषवरपुण्डरीकेभ्य' इति। पुरुषाः पूर्ववत्, ते वर-पुण्डरीकाणीव संसारजलासङ्गादिना धर्म्मकलापेन पुरुषवरपुण्डरीकाणि। यथा पुण्डरीकाणि पङ्के जातानि, जले वर्धितानि, तदुभयं विहाय वर्तन्ते, प्रकृतिसुन्दराणि च भवन्ति; निवासो भुवनलक्ष्म्याः, आयतनं (प्रत्यन्तरे 'हेतवः') चक्षुराद्यानन्दस्य, प्रवरगुणयोगतो विशिष्ट-तिर्यङ्नरामरैः सेव्यन्ते, सुखहेतूनि च भवन्ति;

तथैतेऽपि भगवन्तः कर्म्मपङ्के जाताः, दिव्यभोगजलेन वर्द्धिताः, तदुभयं विहाय वर्त्तन्ते, सुन्दराश्चातिशययोगेन, निवासो गुणसंपदां, हेतवो दर्शनाद्यानन्दस्य, केवलादिगुणभावेन भव्य-सत्त्वैः सेव्यन्ते, निर्वाणनिबन्धनं च जायन्ते इति।

(पं०)—न च वक्तव्यं, 'पूर्वसूत्रेणैवैतत्सूत्रव्यवच्छेद्य(प्रत्यन्तरे....'द्य')भिप्रायस्य सिंहोपमाया अपि विजातीयत्वेन व्यवच्छिन्नत्वात्, किमर्थमस्योपन्यासः इति?' तस्य निरुपमस्तव इत्येतावन्मात्रव्यवच्छेद-फलत्वेन चरितार्थस्य विवक्षितत्वात्।

इस मतके निरसन के दो सूत्र क्यों? :—

सुधारु शिष्यों के इस मत के खण्डनार्थ कहते हैं कि 'पुरिसवरपुण्डरीयाणं' श्रेष्ठ पुंडरीक के समान पुरुष अर्हत्प्रभु को मेरा नमस्कार हो। इस खण्डन पर शायद आप पूछेंगे।

प्र०—'पुरिससीहाणं' 'पुरुषवरपुण्डरीयाणं' ये दो अलग सूत्र क्यों हैं? पूर्व के 'पुरि-ससीहाणं' सूत्र से ही इस सूत्र के खण्डनीय मत का निरास तो हो जाता है, क्यों कि पुण्डरीक की तरह सिंह का उपमा भी भिन्नजातीय ही है; सिंह पशुजातीय है, तो इसका उपन्यास क्यों किया?

उ०—'पुरिससीहाणं' पद से खण्डनीय है उपमाहीन स्तवके योग्य। अर्थात् 'परमात्मा किसी भी उपमा लगाकर स्तुति योग्य नहीं हैं,' इस मत के खण्डनार्थ दिया गया 'पुरिससीहाणं' पद सिंह की उपमा द्वारा चरितार्थ होने की विवक्षा की; जब कि यहां 'उपमा तो हो लेकिन सजातीय होनी चाहिए; विजातीय नहीं हो सकती,' इस मत के खण्डन की विवक्षासे 'पुरिसवरपुंडरीयाणं' पद सार्थक माना गया।

अर्हत् परमात्मा पुण्डरीक कैसे? :—

अर्हत्परमात्मा ऐसे पुरुष हैं यानी पूर्वकहे 'पुरुष' पद के अर्थानुसार शरीरधारी हैं कि जो संसाररूपी जल को नहीं छूना इत्यादि गुण धर्मों के समूह से युक्त हैं। इसकी वजह वे श्रेष्ठ पुंडरीक कमल के समान हैं। तात्पर्य श्रेष्ठ पुंडरीक की कई विशेषताओं के साथ परमात्मा की विशेषता-ओंका इस प्रकार साम्य हैः—

जिस प्रकार पुण्डरीक पङ्क में उत्पन्न होते हैं, पानी में बढते हैं, फिर भी पङ्क और पानी दोनों को छोडकर ऊपर रहते हैं, एवं वे नैसर्गिक सौन्दर्यशाली होते हैं, दुन्यवी लक्ष्मीदेवी का आ-श्रय है, चक्षु-घ्राण-मन वगैरह को आनन्द का स्थान है, आनन्द का हेतु है, श्रेष्ठ गुण-संपन्नता के कारण अच्छे पशुपंखी मनुष्य और देवताओं से सेव्य बनते हैं, और सुख के कारण होते हैं,

उस प्रकार, ये अरिहंत भगवान मोहनीयकर्म ज्ञानावरणकर्म आदि कर्म स्वरूप पङ्क में जन्म पाते हैं, और दिव्य आहार–वस्त्रालंकारादि भोग स्वरूप जलमें वर्धित होते हैं फिर भी उन कर्म एवं भोग दोनों का त्याग कर अनगार बनकर निःसंग, वीतराग और सर्वज्ञ, ऐसे योगीश्वरपन में रहते हैं। परमात्मा १. चौतीस अतिशय और २. वाणीके पैंतीस अतिशयों की वजहसे अनुपम सौन्दर्यशाली होते हैं।

चौत्तीस अतिशयः—अन्य जीवों की अपेक्षा अरिहंत परमात्मा में जो विशिष्टताएँ होती हैं, उन्हें अतिशय कहते हैं। उनमें ४ मूल अतिशय, १९ देवकृत अतिशय और ११ कर्मक्षयकृत अतिशय हैं।

४ मूल अतिशयों में (१) प्रभुके देहमें इन्द्र से भी अनन्तगुण लावण्य और बल, प्रस्वेदका अभाव, सदैव नीरोगिता, इत्यादि होते हैं। (२) सांस कमलकी भांति सुगंधित होती है। (३) देह में रक्त गोदुग्ध की भांति सफेद औ रमांसादि रमणीय होते हैं (४) प्रभु की आहार–विधि और निहार–क्रिया अदृश्य होती है।

१९ देवकृत अतिशयों में (१) चारित्र–दीक्षा लेने के बाद कभी नख और केश उगते नहीं हैं। केवलज्ञान सर्वज्ञता की प्राप्ति के बाद, (२–६) जघन्यतः १ क्रोड देवता सेवामें रहते हैं। चलते समय पैरों के नीचे देवकृत मृदु सुवर्ण कमल आ जाते है और पैर इनके पर पडते हैं। कण्टक उलटे हो जाते हैं, पेडो नमन करते हैं। और गगन में पक्षी प्रदक्षिणा देते हैं। (७–८) प्रभु जहां विचरते हैं वहां पवन अनुकूल बहता है, और सभी ऋतुओं के पुष्प–फलादि विकसित हो उठते हैं। (९–१३) प्रभु के चलते समय आगे, ऊंचा धर्मचक्र, रत्नमय ध्वज, रत्नसिंहासन, तीन छत्र, और चामर साथ रहते हैं। (१४) प्रभु स्थिर हों, वहां एक योजन भूमि पर, धूली न उडे इसलिए, सुगंधित जलवृष्टि हो जाती है। (१५) देशनाभूमि के लिए देवता रजत, सुवर्ण और रत्न के तीन ऊपरोपर गढ, इन पर सीढी, वापिका वगैरेह रचते हैं। यह **समवसरण** कहा जाता है और एक योजन तक के विस्तार वाला होता है। (१६) समवसरण पर पुष्पवृष्टि होती है और प्रभुके अतिशय से पुष्प अधोमुख रहते हैं और जीवों से क्लेश नहीं पाते हैं। (१७) समवसरण पर छाया देनेवाला विशाल अशोकवृक्ष होता है। (१८) वहां प्रभु पूर्व दिशा में रत्नमय सिंहासन पर विराजमान होते हैं और तीन दिशाओं में देवता प्रभुके ठीक सदृश प्रतिबिम्ब स्थापित करते हैं जिससे चारों दिशाओं में प्रभु दीखते हैं। (१९) वहां ऊंचे गगनमें देवता लोगों को धर्मचक्रवर्ती का आगमन ज्ञात करने के लिए दुन्दुभि बजाते हैं।

११ कर्मक्षयकृत अतिशयों में, (१–८) प्रभु जहां विचरते हैं वहां १२५ योजनों में से रोग, वैरविरोध, टीडी आदि, प्लेगादि, अतिवृष्टि, दुष्काल, स्वचक्रभय (आतंरिक विद्रोह) परचक्रभय (पर सैन्यका आक्रमण)–इन आठों उपद्रव दूर हो जाते हैं। (९) प्रभु के मुख के पीछे सूर्यसम तेजस्वी भामंडल–रहता है (१०) समवसरण में कई करोडों श्रोताओं का समावेश हो जाता है और (११) पशु, पक्षी, मनुष्य, और देव सभी अपनी अपनी भाषामें प्रभुकी देशना समझ लेते हैं।

प्रभुके उपदेशकी वाणी ३५ अतिशयों से युक्त होती है। इनमें, १. अलंकारादि से युक्त **संस्कारित भाषा**; २. **उदात्तसुर** यानी उच्च स्पष्ट आवाज, ३. **उपचारपरीत** यानी तुच्छ, उद्धत नहीं किन्तु शिष्टाचार एवं उदार शब्दयुक्त भाषा; ४. **मेघगंभीर** यानी मेघगर्जना के समान गम्भीर घोष; ५. गुहामें प्रतिध्वनित घटनाद के सदृश **प्रतिनादयुक्तता**; ६. उच्चरण एवं श्रवण में सरलता स्वरूप **दाक्षिण्य**; ७. **अति मधुर मालकोश राग**; घंट के रणकार सम गर्जनीय या देवगना के कोमल कंठगीत की अपेक्षा कई गुणी संगीतमय मधुरता; ८. **महार्थ** यानी वचनों के महागम्भीर और विशाल अर्थ; ९. पूर्वापर कथनों में कोई विरोध न होने स्वरूप **अव्याघात**; उपरांत परस्पर पुष्टि कर के वस्तुतत्त्व का सुंदर समर्थन या प्रतिपादन करना;

अर्हत् प्रभु गुण-संपत्तियों के निवास-स्थान हैं, और भव्य जीवों के सम्यग्दर्शन आदि आत्म-आनन्द के प्रति हेतुभूत होते हैं। पुनः वे केवलज्ञानादि गुणों के सद्भाव की वजह भव्य जीवों द्वारा सेव्य होते हैं, एवं उनके मोक्षलाभ में कारणभूत बनते हैं।

यहाँ पुंडरीक के गुणों की बतलाई गई सदृशता बहुत मननीय है। इसमें भी अर्हत् परमात्मा को गुणोंका निवास-स्थान कहा, वहां भी भगवंतपन, तीर्थंकरपन, स्वयंसंबुद्धपन, पुरुषोत्तमपन, पुरुषसिंहपन और इस पुण्डरीकपन तथा आगे विशेषणोंमें प्रदर्शित किये कई गुण व्यक्तिशः मननीय हैं। इससे आदर्श परमात्मा, तारक परमात्मा, प्रेरक परमात्मा, विश्वोपकारक परमात्मा का क्या क्या स्वरूप होता है यह ध्यान में आएगा, श्रद्धेय बनेगा, और असर्वज्ञ-कल्पित मिथ्या स्वरूप अश्रद्धेय बन अनादरणीय सिद्ध होगा; एवं शुद्ध और सात्त्विक परमात्मा का शरण लेकर यथायोग्य मोक्षमार्गकी साधना बन सकेगी।

---

१० **शिष्ट भाषा** अर्थात् महासज्जन पुरुषों की एवं सिद्धान्तानुसारी पदार्थों को कहने वाली भाषा; **११ असंदेहकर** यानी श्रोतागण को कहीं भी संदेह पैदा न हो और निश्चित बोध करानेवाली हो ऐसी भाषा, **१२. अनन्योत्तर**-प्रभु के एक भी वचन के प्रति कोई प्रश्नोत्तर या दूषण उपस्थित न किया जा सके ऐसी वाणी **१३ अति हृदयंगम** वाणी; १४. शब्दों, पदों, एवं वाक्यों में परस्पर सापेक्षता, यानी सप्रतिबद्ध पदार्थों का धाराबद्ध वर्णन; जिस से कोई असम्बद्ध पदार्थका निरूपण नहीं; १५. प्रत्येक शब्द प्रकरण, प्रस्ताव, देश, काल आदि को उचित; १६. **तत्त्वनिष्ठ** यानी वस्तुस्वरूप के अनुरूप प्रतिपादन; १७. **अप्रकीर्णप्रसृत** अर्थात् अप्रस्तुत या अतिविस्तृत निरूपण रहित; १८. **परनिन्दा एवं स्वप्रशंसा से रहित** वाणी; १९. **अभिजात्य** अर्थात् त्रिभुवनगुरुत्व स्वरूप स्वस्थान के अनुरूप उत्तम वचनप्रवाह; २०. **स्निग्धमधुर**, कई दिवसों तक सतत सुनने में क्षुधा-तृषा कष्ट-थकावटादि न लगे ऐसी अति स्निग्ध और मधुर वाग्धारा; २१. **प्रशंसनीय**, अर्थात् सर्व जनों में जिनवाणी का बहुत प्रशंसा-गुणगान; २२. **अमर्मवेधी**, सर्वज्ञता के प्रभाव से जीवों के मर्म यानी गुप्त रहस्य जानते हुए भी प्रगट न करे ऐसी, एवं श्रोताओं के मर्मस्थान को आघात न पहुंचावे ऐसी वाणी; २३. **उदार**, यानी महान एवं गम्भीर विषय की प्रतिपादक वाणी; २४. **धर्मार्थप्रतिबद्ध**, अर्थात् शुद्ध धर्म की ही उपदेशक और सम्यग् अर्थ के साथ ही संबद्ध वाणी; २५. **कारकादि अविपर्यास**, यानी व्याकरण की दृष्टि से कर्ता-कर्म वगैरह कारक विभक्ति, एकवचनादि वचन, लिङ्ग, काल इत्यादि में कहीं भी स्खलना या उलटपुलट न होना; २६. **विभ्रमादिवियुक्त**, अर्थात् वक्ता के मन में भ्रान्तता, विक्षेप, आदि दोषशून्य वाणी; २७. **चित्रकारी** यानी श्रोता के दिल में अविच्छिन्न आतुरता एवं रस जारी रखनेवाली वाणी; २८ **अद्भुत** अर्थात् विश्व के किसी भी वक्ता के प्रवचन की अपेक्षा अतिशय उच्च एवं चमत्कारपूर्ण वाणी; २९. **अनतिविलम्बी** अर्थात् जल्दी जैसे वैसे या रुक रुक कर विलम्बसे बोली जाय ऐसी नहीं; ३०. **अनेकजातिविचित्र**, यानी वक्तव्य वस्तु के अनेक प्रकार के स्वरूप को वर्णन करनेवाली लचिली वाणी; ३१. **आरोपित विशेषतायुक्त**, अन्य वचनों की अपेक्षा अर्हत् परमात्मा के वचन वचन में स्थापित विशेषता **३२. सत्त्वप्रधान** यानी निर्बल एवं तामसी वाणी नहीं किन्तु सात्विकता और पराक्रमपूर्ण वाणी; ३३. **विविक्त**, अर्थात् वाणीमें प्रत्येक अक्षर, पद और वाक्य स्पष्ट अलग अलग हो; ३४, **अविच्छिन्न**, मतलब वक्तव्य विषयों की युक्ति-हेतु-दृष्टान्तों से सिद्ध वाणी; और ३५. **अखेद**, अर्थात वाणी के प्रकाशन में परमात्मा को जरा भी बल, थकावट, श्रम, या परेशानी न हो ऐसी सहज गंगाप्रवाह की धारा समानवाणी।

परमात्मा का प्रभाव :—

परमात्मा को यहां सम्यग्दर्शन आदि आनन्द में हेतुभूत बताया गया है। इस कथन पर से यह समझना आवश्यक है कि अर्हत् परमात्मा विश्व के निर्माण इत्यादि कर्तृत्व की किसी झंझट में न पड़ते हुए भी, और स्वयं कृतकृत्य होने के कारण कुछ भी अपना कर्तव्य अवशिष्ट न रहने पर भी, वे भव्य जीवों के सम्यग्दर्शनादि में कारणभूत हैं, यह केवल उपचार रूप से भी नहीं बल्कि, मुख्य रूपसे। 'श्री पञ्चसूत्र' नामक महाशास्त्र में 'अचिन्तसत्तिजुत्ता हि ते भगवंतो परमतिलोगनाहा' अर्थात् ये परम त्रिलोकनाथ अर्हत् परमात्मा अचिन्त्य सामर्थ्य युक्त हैं,—यह कह कर प्रार्थना की गइ है 'मूढे अम्हि पावे अणाइमोहवासिए अभिन्ने भावओ भिन्ने सिआ' अर्थात 'हम संसारी जीव पापी हैं अनादिमोह से वासित हैं, और परमार्थतः अनभिज्ञ हैं अबुद्ध हैं, अज्ञान हैं; लेकिन अरिहंत परमात्माकी अचिन्त्य सामर्थ्य से, चाहते हैं हम अभिज्ञ हों, सुबुद्ध हों।' क्या यह वचन औपचारिक है? अर्थात् क्या परमात्मा में ऐसी कोई शक्ति नहीं ऐसा कोई प्रभाव नहीं कि जिस से अभिज्ञता मिले? सुबुद्धता मिले? क्या सिर्फ कहने के लिए यह स्तुति की गई है? नहीं स्तुति वास्तविक है अरहंत परमात्मा की ऐसी सामर्थ्य अवश्य है। इस ग्रन्थ में भी आगे 'चतुर्विंशति स्तव' सूत्र में 'चउवीसं पि जिणवरा तित्थयरा मे पसीयंतु'—इस वचन की व्याख्या में ललितविस्तराकार सिद्ध करेंगे कि २४ अर्हत् परमात्माओं के प्रसाद की की गई स्तुति वास्तविक है, पारमार्थिक है, प्रधानरूप से है; इसलिए महर्षियों के ऐसे वचन असत्य भाषण नहीं हैं। सम्यग्दर्शनादि तो क्या, प्राथमिक मार्गाभिमुख आदि शुभ भाव भी परमात्मा के प्रभाव से ही प्रगट होते हैं। परमात्मा में सचमुच ऐसा प्रभाव ऐसी सामर्थ्य न मानने वाले को पारमार्थिक शुभ भाव होता भी नहीं है। इसलिए यह भ्रान्ति नहीं रखनी चाहिए कि 'अरिहंत परमात्मा तो वीतराग हैं, अकर्ता हैं, अतः उनका कुछ प्रभाव नहीं, वे तो सिर्फ तत्त्वों और मोक्षमार्ग का उपदेश करते हैं; हमें जो कुछ आत्मविकास करना है, वह अपने ही पुरुषार्थ के बल पर करना होगा; इस को कर सकने में उपकार अपने पुरुषार्थ का है परमात्मा का कोई उपकार नहीं; परमात्मा का उपकार तो केवल तत्त्वोपदेश एवं मार्गोपदेश का ही है'—इस प्रकार की भ्रान्त नहीं रखनी चाहिए। यह सचमुच मानना चाहिए कि हमें अरिहंत प्रभु का उपदेश मिलने के बाद भी अपने में जो शुभ भाव, जो सम्यग्दर्शनादि, और जो पुण्यानुबंधी पुण्य आदि प्राप्त हो सकेंगे, वे जगतदयालु अरिहंत परमात्मा के प्रभाव से ही, उन्हों की सामर्थ्य से ही, नहीं कि अपने पुरुषार्थ के बलसे। अलबत्ता पुरुषार्थ तो करना ही होगा, लेकिन उपकार परमात्मा का ही मानना रहेगा।' इसलिए हमें सतत प्रार्थना करते रहना चाहिए कि 'प्रभु! मेरा जो कुछ शुभ होगा वह आप के प्रभाव से। हमें सतत ध्यान में रखना होगा कि—'अरिहंत प्रभु की महिमा से ही मेरा सब कुछ शुभ होता है'। यह प्रामाणिक ख्याल रखने पर ही परमात्मा के प्रति कृतज्ञभाव जो कि विकास का मूल है वह बना रहेगा, आत्मा का उत्थान हो सकेगा, अरिहंत परमात्मा पर छलकती भक्ति-प्रीति जाग्रत रहेगी,

वस्तु एकानेकस्वभावम्ः—

(ल०)—नैवं भिन्नजातीयोपमायोगेऽप्यर्थतो विरोधाभावेन यथोदितदोषसंभव इति। एकानेकस्वभावं च वस्तु, अन्यथा तत्तत्त्वासिद्धेः। सत्त्वामूर्तत्वचेतनत्वादिधर्म्मैरहितस्य जीवत्वाद्ययोग इति न्यायमुद्रा। न सत्त्वमेवामूर्त्तत्वादि, सर्वत्र तत्प्रसङ्गात्; एवं च मूर्त्तत्वाद्ययोगः।

(पं०)—'एकानेकस्वभावं (च)' चकारः प्रकृतोपमाऽविरोधभावनासूचनार्थः द्रव्यपर्यायरूपत्वात् (प्रत्यन्तरे....०रूपतया) 'वस्तु'=जीवादि इति पक्षः। अत्र हेतुः 'अन्यथा'=एकानेकस्वभावमन्तरेण ('तत्तत्त्वासिद्धेः') तस्य=वस्तुनः, तत्त्वं=वस्तुत्वं, तस्यासिद्धेः। एतद्भावनायैवाह 'सत्त्वामूर्त्तत्वचेतनत्वादिधर्म्मैरहितस्य', 'सत्त्वं'=सत्प्रत्ययाभिधानकारित्वं, 'अमूर्त्तत्वं'=रूपादिरहितत्वं, 'चेतनत्वं'=चैतन्यवत्त्वं, 'आदि'शब्दात् प्रमेयत्वप्रदेशवत्त्वादिचित्रधर्म्मग्रहः, तैः 'रहितस्य'=अविशिष्टीकृतस्य, वस्तुनो 'जीवात्वाद्ययोग'=परस्परविभिन्नजीवत्वादिचित्ररूपाभावः, 'इति'=एषा, 'न्यायमुद्रा'=युक्तिमर्यादा वर्तते, प्रज्ञाधनैरपि परैरुल्लङ्घितुमशक्यत्वात्। ननु सत्त्वरूपानतिक्रमादमूर्त्तत्वादीनां, कथं नेति सत्त्वे जीवत्वाद्ययोग इत्याशङ्क्याह 'न'=नैव, 'सत्त्वमेव'=शुद्धसङ्ग्रहनयाभिमतं सत्तामात्रमेव, 'अमूर्त्तत्वादि'=अमूर्त्तत्वचैतन्यादि जीवादिगतं, कुत इत्याह 'सर्वत्र'—सत्त्वे घटादौ, 'तत्प्रसङ्गात्'=अमूर्त्तत्वचैतन्यादिप्राप्तेः, सत्त्वैकरूपात् सर्वथाऽव्यतिरेकात्। यदि नामैवं ततः किम्? इत्याह 'एवं च'=सत्त्वमात्राभ्युपगमे च 'मूर्त्तत्वाद्ययोगो'=मूर्त्तत्वाचैतन्याद्यभावः। तद्भावे च तत्प्रतिपक्षरूपत्वादमूर्त्तत्वादीनामप्यभावः प्रसजति, तथा च लोकप्रतीतिबाधा।

और अपने सुकृतों में प्राण आएगा। इसी सूत्र में 'अभयदयाणं, चक्खुदयाणं....' इत्यादि पदों में ललितविस्तराकार यही बतलायेंगे कि परमात्मा ठीक ही अभय, चक्षु, वगैरह के दाता हैं। अगर वीतराग अरिहंत देव की कुछ भी सामर्थ्य न हो, तो वे दाता कैसे? वस्तुस्थिति यह है कि श्री अरिहंत परमात्मा को हृदय से सर्व शुभ के दाता मानने पर, अर्थात् समस्त शुभ जो प्राप्त हुए हैं और प्राप्त होंगे, वे उन्हीं के प्रभाव से, उन्हीं की कृपासे—यह आन्तर नाद पूर्वक स्वीकार करने पर आत्मा परमात्मा के प्रति कृतज्ञभाव, उपकृतभाव, स्निग्धभाव आदि से भर जाती है; और तभी प्रभुदर्शन स्मरण—पूजन, एवं दान—शील—तप—भावना वगैरह के सभी धर्मानुष्ठान स्निग्ध रुप से तथा वेगवंत भावोल्लास से उज्वलित हो उठते हैं, कर्तृत्वाभिमान नामशेष होता है, और साधना में आत्मा क्रमशः परमात्मा के निकट जा पहुंचती है।

उपमा में विरोध क्यों नहीः—

प्र०—परमपुरुष परमात्मा को तुच्छ एकेन्द्रिय पुण्डरीक की उपमा लगाना यह क्या विरुद्ध नहीं प्रतीत होता है?

उ०—नहीं, जिस प्रकार हमने पुण्डरीक के विशिष्ट गुणों के साथ परमात्मा के विशिष्ट गुणों का साम्य दिखलाया उसी प्रकार, सोचने से पता लगेगा कि, यद्यपि पुण्डरीक उपमान एके-

न्द्रिय होने की वजह भिन्न जातिका है अतः विरुद्ध लगता है तथापि अर्थतः, यानी तात्पर्यतः कोई विरोध नहीं है; जन्म और वर्धन के स्थान से अलग हो अलिप्त जीवन जीना, विशिष्ट सौन्दर्य, विशिष्ट श्रीवास, आनन्दहेतुता इत्यादि गुण धरना,—यह इतर पुष्प और इतर मनुष्यों की अपेक्षा विशिष्टतम रूप दोनों के भीतर होता है। यदि दोनों में परस्पर विरोध ही होता तो इतर में नहीं ऐसा साम्य इन दोनों में कैसे आ सकता। तात्पर्य, उपमा भावार्थ की दृष्टि से विरुद्ध नहीं है इसीलिए पूर्वोक्त जो कल्पित दोष कि,—भिन्न एकेन्द्रियादि जातिकी उपमा लगाने में अरिहंत में भी एकेन्द्रियता आदि धर्मों की आपत्ति खडी होने से अरिहंत अवस्तु ठहरेंगे'—यह दोष, वैसा विरोध ही न होने के कारण सावकाश नहीं है, उत्थान ही नहीं पा सकता है।

वस्तुमात्र एकानेकस्वभाव वाली होती हैं:—

प्रस्तुत उपमा के द्वारा प्रभु को उपमेय बनाने में कोई विरुद्धता नहीं है इस में यह भी कारण है कि जीव आदि वस्तुमात्र एकानेकस्वभाव है; अर्थात् द्रव्य रूपसे एक और पर्यायरूप से अनेक स्वभाव वाली है। कारण यह है कि वस्तुमें अगर ऐसा एकानेकस्वभाव न हो तो वस्तुत्व ही सिद्ध नहीं होगा। उदाहरणार्थ देखिए कि कोई जीववस्तु जीवद्रव्य रूपसे एक है, लेकिन इस में जो सत्त्व, अमूर्तत्व, चेतनत्व आदि धर्म हैं वे अनेक हैं; और वे जीव के स्वभावभूत हैं। सत्त्व एक ऐसा वस्तुधर्म है कि जिस की वजह से वस्तु सत् है ऐसा ज्ञान होता है, और वस्तु का सत् रूप से व्यवहार होता है। ज्ञान और व्यवहार निर्मूलक नहीं हो सकते, अतः इन के अनुकूल धर्म वस्तु में मानना चाहिए। अमूर्तत्व का अर्थ है रूप-रसादि न होना, जैसे कि आकाश, जीव वगैरह अमूर्त हैं। चेतनत्व का अर्थ होता है चैतन्यशालिता यानी ज्ञान-दर्शन का स्फुरण। चेतनत्व आदि में 'आदि' शब्द से और भी प्रमेयत्व, प्रदेशवत्व वगैरह भिन्न भिन्न धर्म लिए जाते हैं। प्रमेयत्व का अर्थ है प्रमाण ज्ञान की विषयता। प्रदेशवत्त्व है सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंश सहितपन। वाच्यत्व है उस उस शब्द से अभिधेय होने का वस्तुधर्म। वैसे कई धर्म वस्तु में होते हैं और वस्तु तद्रूप होती है; अतः वस्तु अनेकस्वभाव कही जाती है। यदि जीवादि वस्तु उन धर्मों से रहित होती तो उस में परस्पर भिन्न ऐसे जीवत्व आदि विविध स्वरूप भी नहीं बन सकते, यह न्यायमुद्रा अर्थात् युक्तिमर्यादा है। कितनी ही बुद्धिसंपत्ति रखने वाले पुरुषों से भी उस मर्यादा का उल्लंघन किया जा सकता नहीं है।

प्र०—यदि जीव, सत्त्व अमूर्तत्व आदि धर्मों की वजह भिन्न भिन्न यानी अनेक स्वभाववाला न हो तो भी कोई हर्ज नहीं है; कारण अमूर्तत्वादि धर्म सत्त्व को छोड़ कर तो रह सकते नहीं, अतः वे सत्त्व रूप हैं। इस से जीवादि सत् पदार्थ में जब सत्त्व है तो मूर्तत्व, चेतनत्वादि हैं ही; तब फिर चेतनत्व आदिका अभाव कैसे ?

उ०—यहां आप चूकते हैं, जो सत्त्व धर्म है वही जीवादिगत अमूर्तत्व-चेतनात्वादि धर्म है ऐसा नहीं; अर्थात् वे सत्त्व स्वरूप नहीं हैं; क्यों कि सत्त्व है शुद्ध संग्रहनय से मान्य की गई केवल सत्ता

(ल०)— सत्त्वविशिष्टताऽपि न, विशेषणमन्तरेणातिप्रसङ्गात्। एवं नाभिन्ननिमित्तत्वाद् ऋते विरोध इति पुरुषवरपुण्डरीकाणि ॥ ८ ॥

(पं०) अत्रैव मतान्तरं निरस्यन्नाह 'सत्त्वविशिष्टतापि न'. 'विशिष्टं'=स्वपरपक्षव्यावृत्तं, 'सत्त्वमपि'=बौद्धाभिमतं, 'न'=नैव, अमूर्तत्वादि, इत्यनुवर्तते। अविशिष्टं सत्त्वं प्रागुक्तयुक्तेरमूर्तत्वादि न भवत्येवेति 'अपि' शब्दार्थः। कुत इत्याह 'विशेषणं'=भेदकम्, 'अन्तरेण'=विना, 'अतिप्रसङ्गाद्'=अतिव्याप्तेः। विशिष्टतायाः सर्वैकरूपे जीवे भेदकरूपान्तराभावे चेतनादिविशिष्टरूपकल्पनायाम्, अजीवेऽपि तत्कल्पनाप्राप्तेरिति। 'एवं'=एकत्वभावे वस्तुन्यनेकदोषोपनिपातेन विचित्ररूपवस्तुसिद्धौ 'न,' 'विरोधो'=विजातीयोपमार्पितधर्मपरस्परनिराकरणलक्षणो। विजातीयोपमायोगेऽपि किं सर्वथा न? इत्याह 'अभिन्ननिमित्तत्वाहते'=अभिन्ननिमित्तत्वं विना। यदि ह्येकस्मिन्नेवोपमेयवस्तुगते धर्मे निमित्ते (सति) उपमा सदृशी विसदृशी च प्रयुज्येत, ततः स्यादपि विरोधो, न तु विसदृशधर्मनिमित्तासूपमास्वनेकास्वपि। पुरुषवरपुण्डरीकेत्यनेन सदृशी विसदृशी चोपमा सिद्धेति। ८।

स्वरूप; और वह तो घड़ा वगैरह सभी पदार्थों में है, अन्तिम संग्रह नयमत से सत् कर के सभी पदार्थ संगृहीत किये जाते हैं। तब फलित यह होगा कि अमूर्तत्व आदि धर्म सत्त्व रूप मान लेने पर तो घड़ा आदि सभी पदार्थों में सत्त्व होने से अमूर्तत्वादि धर्मों की आपत्ति लगेगी! अमूर्तत्वादि धर्म सत्त्व से सर्वथा अभिन्न हो तो वे सत्त्व के अस्तित्व में क्यों प्राप्त नहीं? और जब घड़ा आदि जड़ मूर्त पदार्थों में अमूर्तत्व—चेतनत्वादि प्राप्त हुए, तब उनके विरोधी मूर्तत्व अचेतनत्वादि धर्मों का इन में अभाव आ पड़ेगा! और यदि कहेंगे कि मूर्तत्वादि का अभाव नहीं है किन्तु सद्भाव है, तब तो वे सत्त्व रूप स्वीकृत किये होने से जीव में सत्त्व के साथ इन्हीं मूर्तत्व-अचेतनत्व की आपत्ति होगी, और साथ साथ इन के प्रतिपक्षभूत अमूर्तत्व—चेतनत्वादि के अभाव की आपत्ति! यह ध्यान रहे कि इन आपत्तियों को इष्टापत्ति नहीं कर सकेंगे, क्यों कि इस में लोकव्यवहार का बाध हो जाएगा। सारांश, वस्तु में सत्त्व, अमूर्तत्व आदि धर्म एकरूप नहीं किन्तु भिन्न भिन्न हैं, अतः वस्तु अनेकस्वभाव सिद्ध होती है।

प्र०—ठीक है तब अमूर्तत्वादि धर्मों को शुद्ध सत्त्व रूप न माना जाए लेकिन विशिष्ट सत्त्व रूप मान लें तो क्या आपत्ति है? जीव में तो विशिष्ट सत्ता है तो तत्स्वरूप अमूर्तत्वादि सिद्ध होवे हैं; किन्तु घड़ा आदि अजीव में ऐसी विशिष्ट सत्ता नहीं है, तब फिर उनमें अमूर्तत्व—चेतनत्वादि की आपत्ति नहीं हो सकती है।

उ०—यह बौद्धों का मत है कि "जीव में जो विशिष्ट सत्ता है वह स्वपरपक्षव्यावृत्त है; अर्थात् एक जीव की अपेक्षा दूसरे जीव स्वरूप जो स्वपक्ष, और घड़ा आदिस्वरूप जो परपक्ष, इन, अन्य जीव और घड़ा आदि, दोनों से व्यावृत्त है (असंबद्ध है) विशिष्ट सत्ता; वह सिर्फ जीव मात्र में होती है, दूसरों में नहीं; और वही अमूर्तत्वादि है।" लेकिन यह मत प्रामाणिक नहीं है, क्यों कि अमूर्तत्वादि अविशिष्ट यानी शुद्ध सत्त्व स्वरूप तो नहीं, बल्कि ऐसे विशिष्ट सत्त्व

स्वरूप भी नहीं हो सकते हैं। हम पूछते हैं कि सत्ता को विशिष्ट कहते हैं, तो किस विशेषण से विशिष्ट, यह कहिए। सत्ता के साथ ऐसा कौन सा खास भेदक धर्म है जो इस सत्ता को दूसरी सत्ताओं से भिन्न करता है? विना कोई भिन्न करनेवाला विशेषण, यों ही सत्ता को विशिष्ट-सत्ता कहेंगे तो अतिव्याप्ति होगी, अजीव में भी ऐसी सत्ता की आपत्ति होगी। क्यों कि जब भेद करनेवाला विशेषणीभूत धर्म ही नहीं है, तब तो यह आया कि विशिष्ट सत्ता शुद्ध सत्त्व रूप ही है और जीव में कोई भेदक धर्म न होते हुए भी वह सत्ता चेतनत्वादि स्वरूप है, तब तो अजीव में भी ऐसा सत्त्व होने के नाते चेतनत्व आदि की आपत्ति क्यों नहीं?

इसलिए मानना होगा कि सत्त्व ही अमूर्तत्व–चेतनत्वादि धर्म नहीं है। किन्तु जैसे सत्त्व भिन्न धर्म है, ऐसे अमूर्तत्व भी भिन्न धर्म है, चेतनत्व भी भिन्न धर्म है...इत्यादि। और वस्तु में ये धर्म कथंचित् अभिन्न भाव से रहते हैं; अतः वस्तु इनसे अनेकधर्मात्मक है, अनेकस्वभाव है; इसके स्थान में वस्तु यदि एकस्वभाव ही मानेंगे तो अनेक दोषों का आपात होगा। और जब वस्तु अनेकस्वभाव यानी विचित्रस्वभाव सिद्ध हुई, तब विजातीय उपमा लगाने में कोई विरोध नहीं है। ऐसा नहीं कि ऐसी उपमा की वजह प्राप्त धर्मों का परस्पर खंडन होगा अर्थात् अर्हत् परमात्मा को एकेन्द्रिय पुण्डरीक समान कहते हैं तो परमात्मा में एकेन्द्रियपन आ जाने से पञ्चेन्द्रियपन का खण्डन होगा। ऐसा नहीं है। क्यों कि पुण्डरीक वस्तु अनेकस्वभाव होने से इसमें जो नैसर्गिक सौन्दर्य, आल्हादकता वगैरह भिन्न भिन्न धर्म हैं इनके सदृश धर्म ही अर्हत्प्रभु में सिद्ध हैं, और एकेन्द्रियता आदि जो अलग धर्म हैं उनके समान धर्म प्रभु में नहीं ही हैं; तब पञ्चेन्द्रियता आदि का खण्डन कहां से होगा?

विरोध कहां होता है?—हां, कहीं भी उपमा लगाने में विरोध नहीं आता है ऐसा नहीं है; एक ही निमित्तवाली भिन्न उपमाओं में विरोध अवश्य आता है। अर्थात् यदि जिसके साथ उपमा लगानी है ऐसी उपमेय वस्तु में किसी एक ही धर्म उपमा का निमित्त बनाया जाए और उस पर सजातीय और विजातीय दोनों तरह की उपमाएँ लगाई जाएँ, तो विरोध होगा। उदाहरणार्थ, एक ही सत्त्व धर्म को लेकर कहा जाए कि परमात्मा जीव सदृश हैं एवं पुण्डरीक सदृश हैं तो विरोध होगा। लेकिन भिन्न भिन्न धर्मों को निमित्त बनाकर भिन्न भिन्न अनेक उपमाएँ लगाई जाएँ तो कोई विरोध नहीं हो सकता। जैसे कि, शौर्य धर्म से परमात्मा सिंह समान हैं, और आल्हादकत्व धर्म से वे पुण्डरीक समान हैं। वे धर्म पृथक् पृथक् होने से कोई विरोध या अनिष्ट आपत्ति लग सकती नहीं है।

इस प्रकार परमात्माको पुरुषवरपुण्डरीक कह कर स्तुति करने में, उपमा सदृश एवं विसदृश दोनों प्रकार से मिलती है।



९. पुरिसवरगन्धहत्थीणं (पुरुषवरगन्धहस्तिभ्यः)

गुणक्रमाभिधानवाद-तन्निरासौः—

(ल०---)'एतेऽपि (प्र०....एते च) यथोत्तरं गुणक्रमाभिधानवादिभिः सुरगुरुविनेयैर्हीन-गुणोपमायोग एवाधिकगुणोपमार्हा इष्यन्ते, अभिधानक्रमाभावेऽभिधेयमपि तथा, 'अक्रमवदसद्' इति वचनात् ।

(पं०–) 'यथोत्तर' मित्यादि, 'यथोत्तरं' 'गुणानां'=पुरुषार्थोपयोगिजीवाजीवधर्म्माणां गुण-स्थानकानामिव 'क्रम'=उत्तरोत्तर प्रकर्षलक्षणः, तेन 'अभिधानं'=भणनं विधेयम्, ('वादिभिः'=) वदन्तीत्येवंशीलास्तैः, 'सुरगुरुविनेयैः'=बृहस्पतिशिष्यैः, 'हीनगुणोपमायोगे एव'=हीनगुणोपमयोपमित एव गुणे,हीनगुण इत्यर्थः,'अधिकगुणोपमार्हा इष्यन्ते'=अधिकगुणोपमोपन्यासेनाधिकोगुण उपमातुं युक्त इत्यर्थः। तथाहि, गन्धगजोपमया महाप्रभावशक्रादिपुरुषमात्रसाध्ये मारीतिदुर्भिक्षाद्युपद्रवनिवर्त्तकत्वे भगवद्विहारस्य साधिते, पुण्डरीकोपमया भुवनाद्भुतभूतातिशयसम्पत्केवलज्ञानश्रीप्रमृतयो निर्वाणप्राप्तिपर्यवसाना गुणा भगवता-मुपमातुं युक्ता इति । कुत इत्याह 'अभिधानक्रमाभावे'=वाचकध्वनिपरिपाटिव्यत्यये, 'अभिधेयमपि'= वाच्यमपि, 'तथा'=अभिधानवद्, 'अक्रमवत्'=परिपाटिरहितम्, 'असत्'=अविद्यमानं, क्रमवृत्तिजन्मनो-ऽभिधेयस्याक्रमोक्तौ तद्रूपेणास्थितत्वात्।

---

९. पुरिसवरगन्धहत्थीणं

'गुणों के क्रम से ही कथन युक्त है'–इस मतका पूर्वपक्षः—

अब यहां बृहस्पति के शिष्य जो मानते हैं कि पुरुषार्थ–उपयोगी जीव–अजीव के गुणों में गुण–स्थानक की तरह क्रम हैं, अतः वे कहते हैं कि पूर्वोक्त प्रकार के भी परमात्मा में, पहले हीन गुण की उपमा द्वारा तुलना कि जाए बाद ही अधिक गुण की उपमा देना योग्य है, ऐसी उपमा का उपन्यास कर के उनके अधिक गुणों की तुलना करनी चाहिए है । उदाहरणार्थ, भगवान् में अपने विहार के प्रभावसे महा–मारी, मरकी, प्लेग, दुष्काल, इत्यादि उपद्रवों के निवारण करने का जो गुण है वह नीची कोटि का गुण है; क्यों कि वह तो महान प्रभावशाली इन्द्रादि पुरुष से भी सिद्ध हो सकता है और त्रिभुवन में अद्भुत ऐसे वास्तविक अतिशयों की संपत्ति और केवल-ज्ञान स्वरूप लक्ष्मी प्रमुख मोक्षप्राप्ति पर्यन्त के जो गुण हैं, वे अधिक उच्च कोटि के गुण हैं, जो कि इन्द्रादि से भी साध्य नहीं । अब परमात्मा को उपमा लगानी हो तो पहले गन्धहस्ति की उपमा द्वारा उपद्रव–निवारण का निम्न कक्षा का गुण दिखला कर, पीछे पुण्डरीक की उपमा द्वारा ३४ अतिशय आदि ऊँचे गुण वर्णन करने योग्य हैं। इसका कारण यह है कि वस्तु के वाचक शब्दों में अगर पठनक्रम का व्यत्यास हो, तो पठन की तरह वाच्य वस्तु भी क्रमव्यत्यास वाली यानी क्रमरहित सिद्ध होगी । अब आगम सूत्र है कि 'अक्रमवद् असद्'–जो वस्तु सचमुच क्रम-वाली है अर्थात् वस्तु के जो वक्तव्य गुण यों तो क्रम में रहनेवाले हैं उन्हें अक्रम से कहने में वे अक्रम-

(ल०-) एतन्निरासायाह 'पुरुषवरगन्धहस्तिभ्यः' इति । पुरुषाः पूर्ववदेव, ते वरगन्धहस्तिन इव गजेन्द्रा इव क्षुद्रगजनिराकरणादिना धर्मसाम्येन 'पुरुषवरगन्धहस्तिनः । यथा गन्धहस्तिनां गन्धेनैव तद्देशविहारिणः क्षुद्रगजा भज्यन्ते, तद्वदेतेऽपि परचक्रदुर्भिक्षमारिप्रभृतयः सर्व एवोपद्रवगजा अचिन्त्यपुण्यानुभावतो भगवद्विहारपवनगन्धादेव भज्यन्त इति ।

प्रतिपादन के विषय बनने से अक्रम रूप हो जाते है, अतः असत् हो जाते हैं; क्योंकि वे अक्रम से हैं ही नहीं। तात्पर्य, अक्रम से प्रतिपादन का प्रतिपाद्य असत् सिद्ध होता है। प्रस्तुत में 'पुरिसवरपुण्डरीयाणं' के बाद 'पुरिसवरगंधहत्थीणं'-इस प्रतिपादन में क्रमभङ्ग होता है तो प्रतिपाद्य विषय भी असत् हो जाता है। यह वादी का अभिप्राय है। अब इसका उत्तर देते हैं।

मतका खण्डनः परमात्मा श्रेष्ठ गन्धहस्ती समान कीस प्रकारः--

हीन गुण की उपमा अधिक गुण की उपमा के बाद न दी जा सके इस मत के निवारणार्थ कहते हैं 'पुरिसवरगन्धहत्थीणं'। प्रभु को पहले केवलज्ञान गुण से पुण्डरीक की उपमा दी है अब उपद्रवनिवारण के गुण से गन्धहस्ती की उपमा दी जाती हैं। इस प्रकार हीन गुण उपमा बाद में भी कैसे दी जा सकती है, उसकी युक्ति आगे बताते हैं। पहले यहां पद का अर्थ दिखलाया जाता है। 'पुरुष' पद का अर्थ, पहले कहे मुतायिक, शरीरधारी होता है। परमात्मा ऐसे पुरुष हैं जो कि वर यानी श्रेष्ठ गन्धह[illegible] समान है। क्यों कि क्षुद्र हत्थियों को दूर हटाना इत्यादि जो गन्धहस्ती के धर्म हैं उनकी यहां समानता है। जिस प्रकार गन्धहत्थियों के मदकी गन्ध से ही उस देश में विचरते क्षुद्र हत्थी भाग जाते हैं, इस प्रकार ये सब परराज्य के सैन्य का उपद्रव, दुष्काल, महामारी वगैरह उपद्रव स्वरूप हत्थी भी तीर्थंकर भगवान के विहाररूप पवन की गन्ध से ही भाग जाते हैं, दूर हो जाते हैं। यह तीर्थंकर नामकर्म स्वरूप पुण्यकर्म के प्रभाव से होता है।

अर्हत्प्रभु के ४ मुख्य अतिशयः-

हम पहले कह आये कि ३४ अतिशयों की भीतर यह एक अतिशय है कि जहां जहां भी अर्हत प्रभु विचरते हैं वहां वहां १२५ योजन तक परसैन्य, दुष्काल, इत्यादि उपद्रव दूर हो जाते हैं। इस अतिशय का नाम अपायापगम अतिशय है। अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय; और साधु,-इन पंच परमेष्ठियों के १०८ गुण गिने जाते हैं, उनमें अरिहंत प्रभु के १२ गुण होते हैं-अशोक वृक्षादि अष्ट प्रातिहार्य के ८; और ज्ञानातिशय, वचनातिशय, पूजातिशय, एवं अपायापगम-अतिशय ये ४। ज्ञानातिशय है लोकालोक-प्रकाशक केवलज्ञान; वचनातिशय है ३५ अतिशययुक्त वाणी; पूजातिशय है इन्द्रादि द्वारा की जाती पूजा (सत्कार सन्मानादि); और अपायापगम अतिशय में परसैन्य प्रमुख उपद्रव रूप अपायों का अपगम होना, माने दूर होना। पूर्व के तीसरे भव में प्रभुने अरिहंत आदि बीस या कम स्थानकों की उपासना एवं समस्त विश्व के जीवों को तारने की उत्कृष्ट करुणा भावना की है; उनकी वजह से ऐसा तीर्थंकर-नामकर्म नामक पुण्य कर्म उपार्जित हुआ है कि जिसकी अचिन्त्य

(ल०-जैनमते न अभिधानक्रमाभावः-)

न चैकानेकस्वभावत्वे वस्तुन एवमप्यभिधानक्रमाभावः, सर्वगुणानामन्योन्यसंवलितत्वात्, पूर्वानुपूर्व्याद्यभिधेयस्वभावत्वात्; अन्यथा तथाभिधानाप्रवृत्तेः।

(पं०) 'न चे'त्यादि, 'न च'=नैव, 'एकानेकस्वभावत्वे'=एको द्रव्यतया, अनेकश्च पर्यायरूपतया, 'स्वभावः'=स्वरूपं, यस्य तत्तथा तद्भावस्तत्त्वं, तस्मिन्, 'वस्तुनः'=पदार्थस्य, 'एवमपि'=अधिकगुणोपमायोगे हीनगुणोपमोपन्यासेऽपि, 'अभिधानक्रमाभावो'=वाचकशब्दपरिपाटिव्यत्ययः। कुत इत्याह 'सर्वगुणानां'=यथास्वं जीवाजीवगतसर्वपर्यायाणाम्, 'अन्योन्यं'=परस्परं 'संवलितत्वात्'=संयद्धरूपत्वात्। किमित्याह 'पूर्वानुपूर्व्याद्यभिधेयस्वभावत्वात्', पूर्वानुपूर्व्यादिभि'=व्यवहारनयमतादिभिः, 'आदि'शब्दात् पश्चानुपूर्व्यनानुपूर्वीग्रहः, 'अभिधेयः'=अभिधानविषयभावपरिणतिमान् 'स्वभावो' येषां ते तथा तद्भावस्तत्त्वं, तस्मात्। संवलितरूपत्वे हि गुणानां निश्चितस्य क्रमादेरेकस्य कस्यचिदभावात्। व्यतिरेकमाह 'अन्यथा'=पूर्वानुपूर्व्यादिभिरनभिधेयस्वभावतायां गुणानां,'तथा'=पूर्वानुपूर्व्यादिक्रमेण, 'अभिधानाप्रवृत्ते'=अभिधायकानां ध्वनीनामभिधानस्य=भणनस्याप्रवृत्तेः। 'नैवमप्यभिधानक्रमाभाव' इति योगः।

महिमा से यह बनना सहज है। उत्कृष्ट पुण्यवाले पुरुषों के आगमन पर वातावरण का शान्त हो जाना असंभवित नहीं है।

अब, हीन गुणवाली उपमा को बाद में भी दे सकते हैं; क्यों कि वचन में विविध क्रमवाले प्रतिपादक स्वभाव, और वस्तु में विविध क्रमवाले प्रतिपाद्य स्वभाव होते हैं, इसकी अब चर्चा करते हैं।

शब्द में क्रम नहीं है ऐसा नहीं:—

प्र०—यदि वस्तु एकानेकस्वभाव वाली हैं, अर्थात् वह आधारभूत द्रव्य रूप से एकस्वभाव है, एवं आधेय (रहने वाले) पर्यायों के रूप से अनेकस्वभाव है, और इसी से अधिक गुण की उपमा देने के बाद भी हीन गुण की उपमा दे सकते हैं, तो ऐसी परिस्थिति में तो वाचक शब्दों का अर्थात् प्रतिपादन का भी क्रम नष्ट हो जावेगा, कोई क्रम के अनुसार रहेगा नहीं! क्यों कि यदि वाच्य गुणों में कोई क्रम नहीं तो वाचक शब्दों में भी क्रम कहां से?

उ०—यह कल्पना ठीक नहीं है, कारण, वाचक शब्दों में यानी किसी भी प्रतिपादन में क्रम एक-सा नहीं है, पूर्वानुपूर्वी, पश्चानुपूर्वी, या अनानुपूर्वी क्रम से प्रतिपादन हो सकता है। इसका अर्थ यही है कि वाचक शब्दो में तथाविध क्रम है ही। पूर्वानुपूर्वी क्रम इसे कहते हैं कि जहां शुरूसे ले कर उत्तरोत्तर गुण यावत् अंत तक वर्णित किए जाए; पश्चानुपूर्वी वह कही जाती है, जिस में अन्तिम से ले कर पूर्वपूर्व गुण यावत् प्रारम्भ तक प्रतिपादित किये जायें; ओर अनानुपूर्वी में इन दोनों को छोड कर और क्रम से प्रतिपादन होता है। इन विविध क्रम होने का कारण यह है कि शब्दों से वाच्य खुद वस्तु एसा विषयभाव धारण करती है जो पूर्वानुपूर्वी

(ल०–) एतन्निरासायाह 'पुरुषवरगन्धहस्तिभ्यः' इति। पुरुषाः पूर्ववदेव, ते वरगन्धहस्तिन इव गजेन्द्रा इव क्षुद्रगजनिराकरणादिना धर्मसाम्येन, पुरुषवरगन्धहस्तिनः। यथा गन्धहस्तिनां गन्धेनैव तद्देशविहारिणः क्षुद्रगजा भज्यन्ते, तद्वदेतेऽपि परचक्रदुर्भिक्षमारिप्रभृतयः सर्वे एवोपद्रवगजा अचिन्त्यपुण्यानुभावतो भगवद्विहारपवनगन्धादेव भज्यन्त इति।

प्रतिपादन के विषय बनने से अक्रम रूप हो जाते हैं, अतः असत् हो जाते हैं; क्योंकि वे अक्रम से हैं ही नहीं। तात्पर्य, अक्रम से प्रतिपादन का प्रतिपाद्य असत् सिद्ध होता है। प्रस्तुत में 'पुरिसवरपुण्डरीयाणं' के बाद 'पुरिसवरगंधहत्थीणं'–इस प्रतिपादन में क्रमभङ्ग होता है तो प्रतिपाद्य विषय भी असत् हो जाता है। यह वादी का अभिप्राय है। अब इसका उत्तर देते हैं।

मतका खण्डनः परमात्मा श्रेष्ठ गन्धहस्ती समान कैसे प्रकारः—

हीन गुण की उपमा अधिक गुण की उपमा के बाद न दी जा सके इस मत के निवारणार्थ कहते हैं 'पुरिसवरगन्धहत्थीणं'। प्रभु को पहले केवलज्ञान गुण से पुण्डरीक की उपमा दी है अब उपद्रवनिवारण के गुण से गन्धहस्ती की उपमा दी जाती है। इस प्रकार हीन गुण उपमा बाद में भी कैसे दी जा सकती है, उसकी युक्ति आगे बताते हैं। पहले यहां पद का अर्थ दिखलाया जाता है। 'पुरुष' पद का अर्थ, पहले कहे मुताबिक, शरीरधारी होता है। परमात्मा ऐसे पुरुष हैं जो कि वर यानी श्रेष्ठ गन्धह[illegible] समान है। क्यों कि क्षुद्र हस्तियों को दूर हटाना इत्यादि जो गन्धहस्ती के धर्म हैं उनकी यहां समानता है। जिस प्रकार गन्धहस्तियों के मदकी गन्ध से ही उस देश में विचरते क्षुद्र हस्ती भाग जाते हैं, इस प्रकार ये सब परराज्य के सैन्य का उपद्रव, दुष्काल, महामारी वगैरह उपद्रव स्वरूप हस्ती भी तीर्थंकर भगवान के विहाररूप पवन की गन्ध से ही भाग जाते हैं, दूर हो जाते हैं। यह तीर्थंकर नामकर्म स्वरूप पुण्यकर्म के प्रभाव से होता है।

अर्हत्प्रभु के ४ मुख्य अतिशयः—

हम पहले कह आये कि ३४ अतिशयों की भीतर यह एक अतिशय है कि जहां जहां श्री अर्हत प्रभु विचरते हैं वहां वहां १२५ योजन तक परसैन्य, दुष्काल, इत्यादि उपद्रव दूर हो जाते हैं। इस अतिशय का नाम अपायापगम अतिशय है। अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय; और साधु,–इन पंच परमेष्ठियों के १०८ गुण गिने जाते हैं, उनमें अरिहंत प्रभु के १२ गुण होते हैं–अशोक वृक्षादि अष्ट प्रातिहार्य के ८; और ज्ञानातिशय, वचनातिशय, पूजातिशय, एवं अपायापगम–अतिशय ये ४। ज्ञानातिशय है लोकालोक–प्रकाशक केवलज्ञान; वचनातिशय है ३५ अतिशययुक्त वाणी; पूजातिशय है इन्द्रादि द्वारा की जाती पूजा (सत्कार सन्मानादि); और अपायापगम अतिशय में परसैन्य प्रमुख उपद्रव रूप अपायों का अपगम होना, माने दूर होना। पूर्व के तीसरे भव में प्रभुने अरिहंत आदि बीस या कम स्थानकों की उपासना एवं समस्त विश्व के जीवों को तारने की उत्कृष्ट करुणा भावना की है, उनकी वजह से ऐसा तीर्थंकर–नामकर्म नामक पुण्य कर्म उपार्जित हुआ है कि जिसकी अचिन्त्य

(ल०–जैनमते न अभिधानक्रमाभावः–)

न चैकानेकस्वभावत्वे वस्तुन एवमप्यभिधानक्रमाभावः, सर्वगुणानामन्योन्यसंवलितत्वात्, पूर्वानुपूर्व्याद्यभिधेयस्वभावत्वात्; अन्यथा तथाभिधानाप्रवृत्तेः।

(पं०) 'न चे'त्यादि, 'न च'=नैव, 'एकानेकस्वभावत्वे'=एको द्रव्यतया, अनेकश्च पर्यायरूपतया, 'स्वभावः'=स्वरूपं, यस्य तत्तथा तद्भावस्तत्त्वं, तस्मिन्, 'वस्तुनः'=पदार्थस्य, 'एवमपि'=अधिकगुणोपमायोगे हीनगुणोपमोपन्यासेऽपि, 'अभिधानक्रमाभावो'=वाचकशब्दपरिपाटिव्यत्ययः। कुत इत्याह 'सर्वगुणानां'=यथास्वं जीवाजीवगतसर्वपर्यायाणाम, 'अन्योन्यं'=परस्परं 'संवलितत्वात्'=संसृष्टरूपत्वात्। किमित्याह 'पूर्वानुपूर्व्याद्यभिधेयस्वभावत्वात्', पूर्वानुपूर्व्यादिभि'=व्यवहारनयमतादिभिः, 'आदि'शब्दात् पश्चानुपूर्व्यनानुपूर्वीग्रहः, 'अभिधेयः'=अभिधानविषयभावपरिणतिमान् 'स्वभावो' येषां ते तथा तद्भावस्तत्त्वं, तस्मात्। संवलितरूपत्वे हि गुणानां निश्चितस्य क्रमादेरेकस्य कस्यचिदभावात्। व्यतिरेकमाह 'अन्यथा'= पूर्वानुपूर्व्यादिभिरनभिधेयस्वभावतायां गुणानां,'तथा'=पूर्वानुपूर्व्यादिक्रमेण, 'अभिधानाप्रवृत्ते'=अभिधायकानां ध्वनीनामभिधानस्य=भणनस्याप्रवृत्तेः। 'नैवमप्यभिधानक्रमाभाव' इति योगः।

महिमा से यह बनना सहज है। उत्कृष्ट पुण्यवाले पुरुषों के आगमन पर वातावरण का शान्त हो जाना असंभवित नहीं है।

अब, हीन गुणवाली उपमा को बाद में भी दे सकते हैं; क्यों कि वचन में विविध क्रमवाले प्रतिपादक स्वभाव, और वस्तु में विविध क्रमवाले प्रतिपाद्य स्वभाव होते हैं, इसकी अब चर्चा करते हैं।

शब्द में क्रम नहीं है ऐसा नहीं:—

प्र०—यदि वस्तु एकानेकस्वभाव वाली है, अर्थात् वह आधारभूत द्रव्य रूप से एकस्वभाव है, एवं आधेय (रहने वाले) पर्यायों के रूप से अनेकस्वभाव है, और इसी से अधिक गुण की उपमा देने के बाद भी हीन गुण की उपमा दे सकते हैं, तो ऐसी परिस्थिति में तो वाचक शब्दों का अर्थात् प्रतिपादन का भी क्रम नष्ट हो जावेगा, कोई क्रम के अनुसार रहेगा नहीं! क्यों कि यदि वाच्य गुणों में कोई क्रम नहीं तो वाचक शब्दों में भी क्रम कहां से?

उ०—यह कल्पना ठीक नहीं है; कारण, वाचक शब्दों में यानी किसी भी प्रतिपादन में क्रम एक–सा नहीं है, पूर्वानुपूर्वी, पश्चानुपूर्वी, या अनानुपूर्वी क्रम से प्रतिपादन हो सकता है। इसका अर्थ यही है कि वाचक शब्दो में तथाविध क्रम है ही। पूर्वानुपूर्वी क्रम इसे कहते हैं कि जहां शुरूसे ले कर उत्तरोत्तर गुण यावत् अंत तक वर्णित किए जाए; पश्चानुपूर्वी वह कही जाती है, जिस में अन्तिम से ले कर पूर्वपूर्व गुण यावत् प्रारम्भ तक प्रतिपादित किये जाएँ; ओर अनानुपूर्वी में इन दोनों को छोड कर और क्रम से प्रतिपादन होता है। इन विविध क्रम होने का कारण यह है कि शब्दों से वाच्य खुद वस्तु ऐसा विषयभाव धारण करती है जो पूर्वानुपूर्वी

आदि क्रम वाले कथन के अनुरूप हो। वस्तु स्वयं ऐसे ऐसे विषयभाव में परिणत होने के स्वभाव वाली होती है। वस्तु में ऐसा ऐसा स्वभाव होने से ही उस उस प्रकार के प्रतिपाद्य रूप में वह बन आती है। और तभी तो उसके मुताबिक यथार्थ प्रतिपादन यानी शब्दरचना चल सकती है।

गुण–पर्यायों का संवलनः—

प्र०–वस्तु पहले अधिक गुण द्वारा और बाद में हीन गुण द्वारा प्रतिपाद्य हो ऐसा स्वभाव कैसे बन सकता है?

उ०–यह बनने का कारण यह है कि कोई भी जीव या अजीव वस्तु लीजिए, इस में रहने वाले सभी गुण, सभी पर्याय, व्यवहार नयमत से, परस्पर संवलित यानी संबद्ध होते हैं। तभी तो देखा जाता है कि गुणों के प्रतिपादन का कोई अमुक ही क्रम नहीं किंतु वे गुण कभी पूर्वानुपूर्वी क्रमसे भी प्रतिपादित होते हैं, और कभी पश्चानुपूर्वी या अनानुपूर्वी क्रमसे भी वर्णित होते हैं। ऐसे ऐसे ढंग से वस्तु प्रतिपादित हो सकती है इस से यह सूचित होता है कि वस्तु में प्रतिपाद्य बननेका ऐसा ऐसा स्वभाव है। अगर ऐसा ऐसा पूर्वानुपूर्वी आदि विविध क्रमोंसे प्रतिपाद्य होने का स्वभाव न होता, तो वैसे वैसे विविध क्रमों से प्रतिपादन करने वाले शब्दों का उच्चारण भी न बन सकता। लेकिन शब्दोंकी प्रवृत्ति तो होती है तो इनके अनुसार प्रतिपाद्य वस्तु में भी वैसा वैसा वाच्य स्वभाव मानना होगा। और वह उचित भी है क्योंकि वस्तु के हीनतर, हीन, अधिक, अधिकतर वगैरह गुण, परस्पर संबद्ध हैं, न कि मात्र एक ओर से संबद्ध; तो हीन के साथ अधिक गुण, और अधिक गुण के साथ हीन गुण संबद्ध होने से, पहले चाहे हीन गुण की उपमा से या चाहे अधिक गुण की उपमा से वर्णन कर सकते हैं। यहां ऐसा मत समझना कि तब प्रतिपादन का कोई क्रम ही न रहा! चूं कि क्रम तो है, किन्तु पूर्वानुपूर्वी, पश्चानुपूर्वी वगैरह अनेक प्रकारके क्रम होते हैं।

प्र०—आप कहते हैं 'शब्दों से जो कथन का व्यवहार होता है वह कथनीय वस्तु के वैसे वैसे परिणमन की अपेक्षा रखता है,' तब तो यह आया कि कथन के दृष्टान्त से कथनीय भी क्रमरहित होगा अर्थात् जब कथन में उलटपुलटपन हो सकता है, तब वस्तु के गुण पर्यायों में भी उलटपुलटपन होगा, फलतः वे कथनीय गुण–पर्याय क्रम रहित हो जाने से असत् सिद्ध होंगे, क्यों कि 'अक्रमवद् असत्,' जो क्रम वाला नहीं, वह असत् होता है।

उ०—ऐसा नहीं है, कारण कि पहले बताए अनुसार जब प्रतिपादन में पूर्वानुपूर्वी स्वरूप क्रम, पश्चानुपूर्वी स्वरूप उत्क्रम, और अनानुपूर्वी स्वरूप अक्रम होते हैं, तब इनकी वजह से प्रतिपाद्य में भी तादृश क्रम–उत्क्रमादि वाले प्रतिपादनके योग्य स्वभावों की परिणति सिद्ध होती है। अतः प्रतिपाद्यभूत हीन गुण, अधिक गुण, वगैरह में रहने वाले वे वे प्रतिपाद्य स्वभाव विविध क्रम वाले सिद्ध होते ही हैं। सो अक्रम नहीं है, फिर असत् होने की बात ही कहां रही?

अभिधेय वस्तु में भी क्रम अक्रम हैः—

अभिधान में अर्थात् कथन में क्रम बताया, अब अभिधेय में अर्थात् कथनीय विषय में क्रम

(ल०—नाप्यभिधेयक्रमाभावः)

नैवमभिधेयमपि तथाऽक्रमवदसदिति;उक्तवदक्रमवत्त्वासिद्धेः; क्रमाक्रमव्यवस्थाभ्युपगमाच्च।

(पं०—) अभिधेयतथापरिणत्यपेक्षो ह्यभिधानव्यवहारः, ततः किं सिद्धमित्याह 'न' =नैव, 'एवम्'= अभिधानन्यायेन 'अभिधेयमपि तथा अक्रमवदसद्' इति परोपन्यस्तं, कुत इत्याह 'उक्तवत्'=प्रतिपादित-नीत्या, 'अक्रमवत्त्वासिद्धेः'=अभिधानक्रमाक्षिप्तस्य क्रमवतोऽभिधेयस्य क्रमोत्क्रमादिना प्रकारेणाभिधाना-र्हत्वभावपरिणतिमत्त्वात् सर्वथा क्रमरहितत्वासिद्धेः । एवमभिधेयपरिणतिमपेक्ष्याभिधानद्वारेण गुणानां क्रमा-क्रमावुक्तौ, इदानीं स्वभावत एवाभिधातुमाह 'क्रमाक्रमव्यवस्थाभ्युपगमाच्च'=क्रमेणाक्रमेण च सामान्येन हीनादिगुणानां गुणिनि जीवादौ 'व्यवस्थायाः'=विशिष्टाया अवस्थाया स्वरूपलाभलक्षणाया 'अभ्युपगमात्' =अङ्गीकरणात् स्याद्वादिभिः; चकारः पूर्व्वयुक्त्यपेक्षया समुच्चयार्थः। 'नाभिधेयमपि तथाऽक्रमवदसदि' ति योगः। पुण्डरीकोपमोपनीतत्यन्तातिशायिगुणसिद्धौ गन्धगजोपमया विहारगुणार्पणं पराभिप्रेतहीनादिगुणक्रमा-पेक्षयाऽक्रमवदपि नासदिति भावः ।

बताते हुए ग्रन्थकार कहते हैं, कि कथनीय विषय भी ऐसा क्रमरहित नहीं हैं कि जिससे वह क्रम-शून्य होने के कारण असत् हो जावे । कारण यह है कि कथन-व्यवहार कथनीय विषय की भी उस उस प्रकार की परिणति की अपेक्षा रखता है । अर्थात् कथनीय विषय वैसे वैसे प्रतिपाद्य स्वरूप में परिणत बनें तभी उनके लिए वैसे वैसे शब्द उठते हैं कि जिनमें प्रतिपादकता की परिणति हुई है।

प्र०—तो क्या, जहां किसीने असत्य कथन कहा वहां वस्तु वैसे झूठे स्वरूप में परिणत हुई होगी न ?

उ०—नहीं कभी झूठे स्वरूप में वस्तु परिणत नहीं होती है, शब्द होवे हैं। इसीलिए तो वैसे झूठे स्वरूप में परिणत शब्द असत्य कहे जाते हैं; और वैसा असत्य कथन वस्तु की परिणति के नहीं किन्तु मिथ्यात्वादि की आत्मपरिणति के मुताबिक उत्पन्न होता है । जब कि सत्य कथन में यह वैशिष्ट्य है कि वह कथनीय वस्तु की वैसी परिणति की अपेक्षा कर के उत्पन्न होता है। वास्ते तो वह यथार्थ कथन कहा जाता है । यथार्थ कथन माने पदार्थ की जैसी परिणति उसके अनुरूप पैदा होनेवाली परिणति वाला कथन । तब यह सिद्ध हुआ कि जब हीनाधिक गुणों के कथन में पूर्वानुपूर्वी आदि क्रम हो सकता है, तब कथनीय उन गुणों में भी पूर्वानुपूर्वी पश्चानु-पूर्वी आदि क्रम नहीं है वैसा नहीं । तो वादी जो आक्षेप करता है कि वे क्रमशून्य होने से असत् हैं,—यह बात नहीं है । पूर्व कही गई रीति से सचमुच क्रमरहितता ही असिद्ध है । क्योंकि कथन के क्रम द्वारा कथनीय के क्रम का प्रामाणिक अनुमान होता है; अर्थात् खुद वस्तु भी पूर्वानुपूर्वी स्वरूप क्रम, पश्चानुपूर्वी स्वरूप उत्क्रम, इत्यादि रूप से प्रतिपाद्य स्वभाववाली सिद्ध होती है। अतः कह सकते हैं कि पहले अधिक गुण की उपमा, फिर हीन गुण की उपमा के योग्य स्वभावों का उत्क्रम भी है; तो सर्वथा क्रमशून्यता नहीं है।

स्याद्वादशैलीसे स्वभावतः भी क्रम-अक्रम हैं:—

इस प्रकार कथनीय की वैसी वैसी परिणति पर निर्भर है तथाविध कथन; और उसके द्वारा गुणों का क्रम-उत्क्रम आदि दिखलाया; अब वे स्वभाव से भी है यह दिखलाते हैं । इसके लिए कहते हैं

(ल०—स्तववैयर्थ्यम्ः—) अन्यथा न वस्तुनिबन्धना शब्दप्रवृत्तिरिति स्तववैयर्थ्यमेव। ततश्चान्धकारनृत्तानुकारी प्रयास इति। पुरुषवरगन्धहस्तिन इति।

(तृतीयसम्पदुपसंहारः—)

एवं पुरुषोत्तमसिंहपुण्डरीकगन्धहस्तिधर्म्मातिशययोगत एव एकान्तेनादिमध्यावसानेषु स्तोतव्यसम्पत्सिद्धिः, इति स्तोतव्यसम्पद् एवासाधारणरूपा हेतुसम्पदिति।३॥

कि स्याद्वादी जैन लोग तो मानते हैं कि जीव आदि सगुण वस्तु में हीनाधिक गुण जो अपना विशिष्ट स्वरूप पाते हैं, वह सामान्यतः क्रम और अक्रम दोनों से। स्याद्वाद यानी अनेकांतवाद का सिद्धान्त यही बताता है कि गुणों में क्रम एकान्त रूप से नहीं किन्तु कथंचित् रूप से है, अर्थात् अमुक अपेक्षा से क्रम है भी और दूसरी अपेक्षा से क्रम नही भी है। अतः, जैसे वस्तु मात्र में स्वद्रव्य-स्वक्षेत्र इत्यादि रूप से सत्त्व, और परद्रव्य-क्षेत्रादि रूप से असत्त्व, दोनों होते हैं, इसी प्रकार क्रम और अक्रम दोनों सिद्ध होते हैं। स्याद्वादी दर्शन वस्तु मात्र को अनेकधर्मात्मक मानता है- तब गुणों में क्रमबद्ध स्वरूप और अक्रमबद्ध स्वरूप दोनों की मान्यता है। अतः अक्रमवाला असत् होता है यह सिद्धान्त प्रतिपादक शब्द की तरह प्रतिपाद्य वस्तु में भी नहीं चलेगा। अर्थात् वादी जो कहता है कि 'पुण्डरीक की उपमा द्वारा वर्णित अत्यन्त अधिकता वाले कैवल्यादि गुण की अपेक्षा गन्धहस्ती की उपमा द्वारा वर्णित गुण हीनकक्ष होने से इसका यदि बाद में वर्णन किया जाय तो अक्रम होने के कारण वह असत् सिद्ध होगा,' यह कथन युक्तियुक्त नहीं है, क्यों कि जब स्याद्वादशैली से गुणों में अक्रम भी सिद्ध ही है, तब उनमें असद्रूपता की आपत्ति ही कहां से ? वह तो तब होती कि जब गुणों में अक्रम वस्तुगत्या न हो सकता।

स्तुति निरर्थक नहीं है:—

इसी वस्तु को इसी उपन्यास में निषेधमुख से भी सिद्ध करने के लिये ग्रन्थकार महर्षि कहते हैं कि 'अन्यथा' अर्थात् यदि वस्तु में शब्दानुसार परिणति न मानी जाय तो सम्यक् शब्द-प्रयोग वस्तुसापेक्ष ही हो ऐसा नियम नहीं रहेगा। वस्तु स्वयं अमुक रूप में होगी और उसके प्रतिपादक शब्द किसी भी ढंगका हो सकेगा। तात्पर्य क्रम, अक्रम दोनों की विशिष्ट अवस्था का, यानी पूर्वानुपूर्वी आदि अनेक स्वभावों का, यदि कथनीय वस्तु में अभाव ही होता, तब तो कहना होगा कि अक्रम से उपमा के उपन्यास करने वाला वचनप्रयोग यों ही हुआ किन्तु तादृश वाच्य गुणवस्तु के आधार पर नहीं हुआ ! और गुणों की उत्पत्ति में पहले हीन, बाद में अधिक, अधिकतर...इत्यादि क्रम ही हो, यानी वस्तु-परिणति मात्र एक ही पूर्वानुपूर्वी क्रम वाली ही होती हो, एवं शब्दप्रयोग भी उसके सापेक्ष ही हो सकता हो, तो यह बतलाइए कि पूर्वानुपूर्वी रूप क्रम को छोडकर इस प्रकार अक्रम से गुणस्तुति हुइ कैसे ? महर्षियों ने ऐसा अक्रमवाला स्तुति-प्रयोग किया तो है; वह यदि किसी सद्वस्तु को सापेक्ष न माना जाए तो तादृश स्तुतिप्रयास अर्थशून्य सिद्ध होगा। क्यों कि स्तुति में जैसा कथन करते हैं उसके मुताबिक कोइ सद्वस्तु तो है नहीं,

(पं०—) अमुमेवार्थमनेनैवोपन्यासेन व्यतिरेकतः साधयितुमाह **'अन्यथा'**=क्रमाक्रमव्यवस्थायाः पूर्वानुपूर्व्याद्यभिधेयस्वभावस्य चाभावे, **'न'**=नैव, **'शब्दप्रवृत्तिः'**=प्रस्तुतोपमोपन्यासरूपा, **'वस्तुनिबन्धना'** =वाच्यगुणनिमित्ता, हीनादिक्रमेणैव हि गुणजन्मनियमे पूर्वानुपूर्व्यैवाभिधेयस्वभावत्वे च सति तन्निबन्धने च तथैव शब्दव्यवहारे कथमिव शब्दप्रवृत्तिरित्थं युज्यत इति भावः। **'इति'**=अस्माद्धेतोर्वस्तुनिबन्धनशब्दप्रवृत्त्य-भावलक्षणात् **'स्तवनैयर्थ्यमेव'** **'स्तवस्य'** अधिकृतस्यैव **'वैयर्थ्यमेव'**=निष्फलत्वमेव, असदर्थाभिधायितया स्तवधर्मातिक्रमेण स्तवकार्याकरणात् (प्रत्यन्तरे....०कार्यकरणात्)। **'ततश्च'**=स्तववैयर्थ्याच्च, **'अन्धकार-नृत्तानुकारी'**=सन्तमसविहितनर्त्तनसदृशः, **'प्रयासः'**=स्तवलक्षण इति; न चैवमसौ, सफलारम्भिमहापुरुष-प्रणीतत्वादस्य; इति पुण्डरीकोपमेयकेवलज्ञानादिसिद्धौ गन्धगजोपमेयविहारगुणसिद्धिरदुष्टेति।

'एकान्तेने'त्यादि, **'एकान्तेन'**=अव्यभिचारेण, **'आदिमध्यावसानेषु'**, **'आदौ'**=अनादौ भवे (प्र० भवेषु) पुरुषोत्तमतया, **'मध्ये'**=मतविधौ सिंहगन्धहस्तिधर्मभाक्त्वेन, **'अवसाने'** च=मोक्षे पुण्डरीकोप-मतया **'स्तोतव्यसम्पत्सिद्धिः'**=स्तवनीयस्वभावसिद्धिरिति।

तो स्तवप्रयोग असद् अर्थ-विषयक हुआ। फलतः स्तुति-धर्म का उल्लंघन होने से स्तुति का कार्य नहीं हुआ; क्योंकि स्तुति का धर्म तो यथार्थता है, वास्तविक स्तुति वही होती है जो यथार्थ हो, सत्योक्ति हो। लेकिन स्तुति का यह धर्म यहाँ, यदि स्तुति असत् अर्थ की कहने वाली है, तब खण्डित होता है; और इसी से स्तुति का प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता है। प्रयोजन यही था कि अर्हन् प्रभु के ऐसे ऐसे वास्तविक गुणों का कीर्तन-स्मरणादि करना। लेकिन अक्रमवाले गुण सत् न हो तो यह प्रयोजन कहां रहा? परिणामतः जैसे अन्धकार में नृत्य किसी को न दिखने से आनन्द रूप फल को पैदा नहीं कर सकता है, अतः निरर्थक यत्न है; इसी प्रकार निष्प्रयोजन स्तुति का यत्न यहां निरर्थक यत्न हुआ। लेकिन महर्षि में ऐसे निरर्थक यत्न की संभावना नहीं की जा सकती है। वे तो महाज्ञानी होने के कारण सफल ही प्रयत्न करनेवाले होते हैं। इनके द्वारा किया गया इस स्तुतिरचना का प्रयत्न सार्थक ही है। तब निष्कर्ष यह आया कि प्रभु में पुण्डरीक की उपमा से वर्णनीय केवलज्ञानादि गुणों की सिद्धि पहले दिखला कर बाद में गन्धहस्ती की उपमा से वर्णनीय विहारगुण की सिद्धि दिखलाना निर्दोष है।

तृतीयसम्पदाका उपसंहारः पुरुषोत्तमतादि चार कब होते हैं? :—

तीसरी संपदा के चारों पदों का अब समन्वय बतलाते हैं। अर्हत् परमात्मा में पुरुषोत्त-मता, पुरुषसिंहपन, पुरुषपुण्डरीकता और पुरुषगन्धहस्तिपन के अतिशय वाले धर्म होने से ही वे स्तोतव्य यानी स्तुतिपात्र होते हैं; इस लिए यह संपदा स्तोतव्य-संपदा की असाधारण रूप हेतु-संपदा हुई, अर्थात् अतिशय वाले हेतुओं की संपदा हुई। यहाँ इतना ध्यान रहे कि इन पुरुषोत्तम-पन आदि चार गुण प्रत्येक तीर्थंकर में निम्नोक्त काल से एकान्ततः अर्थात् अवश्य होता है। इन चार में से पुरुषोत्तमपन पहले से होता है, क्यों कि अनादि संसार से वे पुरुषोत्तम होते हैं; और

१०. लोगुत्तमाणं (लोकोत्तमेभ्यः)

(ल०-) (समुदायवाचिशब्दानामनेकविधावयवेष्वपि प्रवृत्तिः—)

साम्प्रतं 'समुदायेष्वपि प्रवृत्ताः शब्दा अनेकधाऽवयवेष्वपि प्रवर्त्तन्ते, स्तवेष्वप्येवमेव वाचकप्रवृत्तिः' इति न्यायसंदर्शनार्थमाह 'लोकोत्तमेभ्यः....' इत्यादि सूत्रपञ्चकम्।

(पं०—) 'अनेकधा'—अनेकप्रकारेषु, 'अवयवेष्वपि' न केवलं समुदाय इति 'अपि'शब्दार्थः। 'शब्दाः प्रवर्त्तन्ते' यथा 'सप्तर्षि' शब्दः सप्तसु ऋषिषु लब्धप्रवृत्तिः सन्नेकः सप्तर्षिः, द्वौ सप्तर्षी, त्रयः सप्तर्षय उद्गता इत्यादिप्रयोगे तदेकदेशेषु नानारूपेषु अविगानेन प्रवर्त्तते, तथा प्रस्तुतस्तवे लोकशब्द इति भावः।

पुरुषसिंहपन एवं पुरुषगन्धहस्तिपन मध्य में होते हैं, क्यों कि जब अन्तिम भव में वे प्रव्रज्याव्रत की ग्रहणविधि करते हैं इसके बाद वे सिंह और गन्धहस्ति की सदृशता धारण करते हैं; एवं पुरुषपुण्डरीकपन अंत में होता है, क्यों कि मोक्ष में वे पुण्डरीक की समानता वाले होते हैं।

१०. लोगुत्तमाणं (भव्य लोगों में उत्तम)

समुदायवाची शब्दों की उसके अनेक प्रकार के भागों में प्रवृत्तिः—

अब इस न्याय का प्रदर्शन करते हैं कि 'जो शब्द समुदाय को बतलानेवाले होते हैं वे कभी कभी समुदाय के किसी-न-किसी भाग को भी बतलाते हैं; अर्थात् वे समुदाय के अनेक भाग में से कुछ भिन्न भिन्न भाग के लिए भी प्रवर्तमान होते हैं, और स्तुति में भी इसी प्रकार ऐसे शब्दों का उपयोग होता है; इस न्याय का प्रदर्शन करने के लिए अब 'लोगुत्तमाणं...' इत्यादि पांच सूत्र दिये जाते हैं। अर्थात् ऐसे शब्द यद्यपि समुदाय को तो कहते ही हैं लेकिन कभी भिन्न भिन्न भागों को भी कहते हैं। उदाहरणार्थ, जिस प्रकार 'सप्तर्षि'शब्द, सप्तर्षि का उदय हुआ—इस वाक्यमें सातों ऋषि-ताराओं का निर्देश करने के लिए प्रवर्तमान होता हैं; फिर भी प्रयोग होता है कि 'एक सप्तर्षि का उदय हुआ' 'दो सप्तर्षियों का उदय हुआ,' 'तीन सप्तर्षियों का उदय हुआ'...इत्यादि। अर्थात् ऐसे ऐसे प्रयोग में वह उसके भिन्न भिन्न रूप के भागों में भी, बिना विवाद, उपयुक्त होता है; इस प्रकार यहां प्रस्तुत 'लोगुत्तमाणं, लोगनाहाणं...' इत्यादि स्तुति में 'लोक' शब्द का विविध रूपसे प्रयोग किया गया है, तो लोगुत्तमाणं आदि पदों में 'लोक' शब्द का, समस्त लोक समुदाय में से, किसी-किसी भाग रूप अर्थ लेना है।

'लोक' शब्दका समुदायार्थ और प्रस्तुत अर्थ—

यहां यद्यपि 'लोक' शब्द से वस्तुगत्या पञ्चास्तिकाय लोक अर्थात् धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय,—इन पांचो का समुदाय कहा जाता है; कहा है कि-

धर्मादीनां वृत्तिर्द्रव्याणां भवति यत्र तत् क्षेत्रम्। तैर्द्रव्यैः सह लोकस्तद्विपरीतं ह्यलोकाख्यम्॥'

अर्थात् धर्मास्तिकायादि द्रव्य जिस क्षेत्र में रहते हैं उन द्रव्यों सहित उस क्षेत्र को 'लोक' कहते हैं, और विपरीत को अर्थात् इनसे रहित क्षेत्र को अलोक कहते हैं।

(ल०—) (लोकशब्दसमुदायार्थ-प्रस्तुतार्थौ)—

इह यद्यपि 'लोक' शब्देन तत्त्वतः पञ्चास्तिकाया उच्यन्ते, 'धर्मादीनां वृत्तिर्द्रव्याणां भवति यत्र तत् क्षेत्रम्। तैर्द्रव्यैः सह लोकस्तद्विपरीतं ह्यलोकाख्यम्॥' इति वचनात्, तथाप्यत्र 'लोक' ध्वनिना सामान्येन भव्यसत्त्वलोक एव गृह्यते; सजातीयोत्कर्ष एवोत्तमत्त्वोपपत्तेः। अन्यथातिप्रसङ्गोऽभव्यापेक्षया सर्वभव्यानामेवोत्तमत्वात्। एवं च नैपामतिशय उक्तः स्यादिति परिभावनीयोऽयं न्यायः। ततश्च भव्यसत्त्वलोकस्य सकलकल्याणैकनिबन्धन-तथाभव्यत्वभावेनोत्तमाः लोकोत्तमाः।

फिर भी 'लोगुत्तमाणं' पद के 'लोक' शब्द से सामान्यतः भव्य जीव-लोक मात्र ही गृहीत किया जाता है अतः 'लोगुत्तमाणं'पद का अर्थ होगा, भव्य जीव वर्ग में उत्तम ऐसे परमात्मा को मेरा नमस्कार हो।

प्र०—पञ्चास्तिकाय में तो कई भाग हैं, फिर यहां 'लोक' का अर्थ सिर्फ भव्य जीवलोक ही क्यों किया जाता है?

उ०—कारण यह है कि यहां परमात्मा का उत्तमत्व यानी उत्कर्ष दिखलाना है और उत्कर्ष समान जाति वालों में ही हो सकता है। सजातीयों की अपेक्षा उत्कर्ष हो तभी उत्तमत्व संगत हो सकता है। उदाहरणार्थ, हत्थी पशु सृष्टि में उत्तम है ऐसा कहा जाता है, किन्तु कीड़े मकोड़े आदि जन्तुओं में या जड़वर्ग में उत्तम नहीं कहा जाता है। इसी प्रकार भव्य जीववर्ग में अर्हत् परमात्मा उत्तम हैं यह कहना समुचित है। यदि ऐसा न कहें तो अतिप्रसङ्ग होगा; अनिष्ट आपत्ति लगेगी; क्यों कि अभव्यों की अपेक्षा तो सभी भव्य जीव उत्तम हैं ही; फिर वे सभी लोकोत्तम कहे जाएँगे! इस आपत्ति को मान्य नहीं कर सकते; कारण ऐसी ही लोकोत्तमता अर्हत्प्रभु में कहने में तो वे और भव्य समान हो जाने से अर्हत् प्रभु की कोई विशेषता ही उक्त नहीं हुई। इसलिये यह न्याय चिन्तनीय है। इस न्याय से यह ज्ञात होता है कि अर्हत् प्रभु में ऐसा विशिष्ट तथाभव्यत्व है जो कि सकल जीवों के कल्याण में और अपने समस्त कल्याणों में कारणभूत है। ऐसा तथा-भव्यत्व अन्य भव्य जीवों में, भव्यत्व होते हुए भी, नहीं है। इसीलिए परमात्मा को भव्य जीवलोक में उत्तम कहते हैं।

भव्यत्व क्या है? –

प्र०—यहां परमात्मा को भव्य जीवों में उत्तम कहा, भव्य माने भव्यत्व वाले; तो प्रश्न होता है 'भव्यत्व किसे कहते हैं?'

उ०—जो जीव विवक्षित मोक्षपर्याय से युक्त होगा, वह भव्य कहा जाता है। भव्य का स्व-भाव है भव्यत्व। ललितविस्तरामें 'भव्यत्वं नाम' कहा यहां 'नाम' शब्द दिया वह संज्ञा यानी नाम के अर्थ में है तो अर्थ हुआ भव्यत्व नामका जीवपर्याय। भव्यत्व यह जीव में सिद्धिगमन की योग्यता रूप अवस्था है। 'सिद्धि' शब्द का अर्थ है, जिस में जीव सिद्ध होते हैं ऐसी यानी समस्त प्रयो-

(ल०–भव्यत्वस्वरूपम्ः–) 'भव्यत्वं' नाम सिद्धिगमनयोग्यत्वम्, अनादिपारिणामिको भावः।

(पं०–) 'भव्यत्व'मित्यादि, भविष्यति विवक्षितपर्यायेणेति भव्यः, तद्भावो भव्यत्वम्। 'नामे' ति संज्ञायाम्। ततो भव्यत्वनामको जीवपर्यायः। सिध्यन्ति=निष्ठितार्था भवन्ति जीवा अस्यामिति 'सिद्धिः' सकलकर्मक्षयलक्षणा जीवावस्थैव। तत्र गमनं तद्भावपरिणमनलक्षणं 'सिद्धिगमनं' तस्य 'योग्यत्वं' नाम योक्ष्यते सामग्रीसम्भवे स्वसाध्येनेति योग्यं, तद्भावो योग्यत्वम्। 'अनादिः'=आदिरहितः, स चासौ 'परि' इति सर्वात्मना 'नामः'=प्रह्वीभावः 'परिणामः', स एव पारिणामिकाश्चानादि पारिणामिको 'भावः'–जीवस्वभाव एव।

जन पूर्ण कर चुके ऐसी सकल कर्मबन्धनों की क्षय अवस्था। यह जीव की ही अवस्था है। उस में जीव का जो परिणमन होता है वही सिद्धिगमन है।

प्राप्ति और परिणमन में अंतरः—

'प्राप्ति'शब्द की अपेक्षा 'परिणमन'शब्द लगाने से जैन दर्शन की विशेषता सूचित होती है। प्राप्ति में सिर्फ वस्तु का किसी से संबन्ध हुआ इतना ही, लेकिन परिणमन में तो वस्तु तद्रूप हो जाती है। उदाहरणार्थ न्याय दर्शन कहता है कि वस्त्र बना तब तन्तुओं में वस्त्र की प्राप्ति हुई, सम्बन्ध हुआ; ऐसे वस्त्र रक्त हुआ तो वस्त्र में रक्त वर्ण की प्राप्ति यानी सम्बन्ध मात्र हुआ; जब कि जैन दर्शन कहता है कि खुद तन्तुओं का वस्त्र रूप में परिणमन हुआ, इसी से लोकव्यवहार होता है कि तन्तु खुद वस्त्र बन गए। यों वस्त्र स्वयं रक्त रूप में परिणत हुआ तभी तो लोग कहते हैं कि वस्त्र लाल बन गया। तात्पर्य, भिन्न भिन्न गुण-पर्यायात्मक अवस्थाओं में वस्तु का ही वैसा वैसा परिणमन होता है, और उन अवस्था एवं वस्तु के बीच भेदाभेद संबन्ध रहता है। इस लिए जो लोग न्याय–वैशेषिकादि दर्शन और जैनदर्शन की इस प्रकार तुलना करते हैं कि दोनों ही दर्शन द्रव्यों को गुण के आश्रय मानते हैं वे भ्रान्त हैं। क्यों कि उन जैनेतर दर्शनों के मत में तो गुणों को द्रव्यों से बिलकुल भिन्न मान लेने पर यह प्रश्न खड़ा होता है कि उनका जो सम्बन्ध द्रव्य से होगा वह द्रव्य से भिन्न होगा या अभिन्न? भिन्न मानने पर यह प्रश्न होगा कि फिर उस का और द्रव्य का जो सम्बन्ध होगा वह द्रव्य से भिन्न होगा या अभिन्न? इस इस प्रकार प्रश्न परंपरा से अनवस्था दोष आयेगा, इस से बचने के लिए संबन्ध को अभिन्न मान लेंगे तो प्राप्तिवाद नहीं किंतु परिणमनवाद स्वीकार करना होगा। एवं, अगर यह मान्य है तो खुद गुण पर्यायों में ही आश्रय द्रव्य का परिणमन क्यों न मान लिया जाय?

योग्यता और अनादि पारिणामिक भावः—

सारांश, मोक्ष–अवस्था जीव की एक परिणति है परिणाम है। वही है मोक्षगमन, सिद्धिगमन। यह बनने की योग्यता का नाम भव्यत्व है। 'योग्य' शब्द का अर्थ यह है कि समस्त सामग्री मिलने पर अपने साध्य के साथ जिसका योग हो सके वह योग्य। योग्य का भाव है योग्यता। तो जीव में भव्यत्व भी एक प्रकार की योग्यता है। भव्यत्व उत्पन्न नहीं होता है, वह तो अनादि कालसे

(ल०—'तथाभव्यत्व'स्वरूपम्—) तथाभव्यत्वमिति च विचित्रमेतत्, कालादिभेदेनाऽऽत्मनां बीजादिसिद्धिभावात्; सर्वथा योग्यताऽभेदे तदभावात्।

(पं०—) एवं सामान्यतो भव्यत्वमभिधायाथ 'तदेव प्रतिविशिष्टं सत् तथाभव्यत्वम्'—इत्याह 'तथाभव्यत्वमिति च'। 'तथा'=तेनानियतप्रकारेण, 'भव्यत्व'मुक्तरूपम्, 'इति'शब्दः स्वरूपोपदर्शनार्थः, 'च' कारोऽवधारणार्थो भिन्नक्रमः ततश्च-यदेतत् तथाभव्यत्वं तत् किम्? इत्याह 'विचित्रं'=नानारूपं सद् 'एतद्' एव भव्यत्वं तथा भव्यत्वमुच्यते। कुत इत्याह 'कालादिभेदेन'=सहकारिकालक्षेत्रगुर्वादिद्रव्यवैचित्र्येण, 'आत्मनां'=जीवानां, 'बीजादिसिद्धिभावात्,' 'बीजं'=धर्मप्रशंसादि, 'आदि' शब्दात् धर्मचिन्ता-श्रवणादिग्रहस्तेषां, 'सिद्धिभावात्'=सत्त्वात्। व्यतिरेकमाह 'सर्वथा योग्यताऽभेदे'=सर्वैः प्रकारैरेकाकारायां योग्यतायां 'तदभावात्'=कालादिभेदेन बीजादिसिद्ध्यभावात्। कारणभेदपूर्वकः कार्यभेद इति भावः।

चला आता है। पहले से ही कोई जीव भव्य है और कोई अभव्य। भव्यत्व को पैदा किया जा सकता नहीं है। इसीलिए उसे अनादि पारिणामिक भाव कहते हैं, अर्थात् वह अनादि का एक जीव परिणाम है।

प्र०—'परिणाम' शब्द का क्या अर्थ है?

उ०—'परि' का अर्थ है सर्वात्मना यानी समस्त ओर से; 'णाम' का अर्थ है नमन होना, तद्रूप होना। तो भव्यत्व नामका परिणाम मानें जीव का एक ऐसा भव्यत्व स्वभाव जो कि जीव में सभी ओर से तद्रूप हो कर रहता है। वह अनादि परिणाम है लेकिन देवत्व-मनुष्यत्व आदि की तरह आदिमान परिणाम नहीं। वही अनादि परिणाम अनादि पारिणामिक भाव कहलाता है।

तथाभव्यत्व का स्वरूपः—

इस प्रकार सामान्यरूप से भव्यत्व का स्वरूप कह कर अब तथाभव्यत्व का स्वरूप कहते हैं। भव्यत्व तो सिर्फ सिद्धिगमन की योग्यता रूप होने की वजह सभी सिद्धिगमन-योग्य भव्य जीवों में समान होता है। लेकिन वही जब प्रतिव्यक्ति देखा जाए तब विशिष्ट प्रकार का होने से तथाभव्यत्व कहलाता है। 'तथा' शब्द का अर्थ है उस उस अनियत प्रकार से, 'भव्यत्व' माने मोक्ष पाने की योग्यता। ललितविस्तरा में 'तथाभव्यत्वमिति च विचित्रमेतत्(भव्यत्वं)' कहा वहां 'च' का अर्थ अवधारण अर्थात् 'ही' है, और उसे 'इति' के साथ नहीं किंतु भिन्न क्रम से भव्यत्व की साथ लगाने का है। इससे अर्थ यह होगा कि तथाभव्यत्व क्या है? तो कहा जाय कि विचित्र यानी भिन्न भिन्न स्वरूपवाला होता हुआ भव्यत्व ही तथाभव्यत्व है।

प्र०—आप तो पहले भव्यत्व को समान यानी एकरूप कह आये, फिर वही भिन्न भिन्न स्वरूपवाला कैसे कह सकते?

उ०—ठीक है, यों तो भव्यत्व सामान्य रूपसे मोक्षप्राप्ति की योग्यता रूप होने से एक-सा

(ल०—भव्यत्वस्वरूपम्:—) 'भव्यत्वं' नाम सिद्धिगमनयोग्यत्वम्, अनादिपारिणामिको भावः।

(पं०—) 'भव्यत्व'मित्यादि, भविष्यति विवक्षितपर्यायेणेति भव्यः, तद्भावो भव्यत्वम्। 'नामे' ति संज्ञायाम्। ततो भव्यत्वनामको जीवपर्यायः। सिध्यन्ति=निष्ठितार्था भवन्ति जीवा अस्यामिति 'सिद्धिः' सकलकर्मक्षयलक्षणा जीवावस्थैव। तत्र गमनं तद्भावपरिणमनलक्षणं 'सिद्धिगमनं' तस्य 'योग्यत्वं' नाम योक्ष्यते सामग्रीसम्भवे स्वसाध्येनेति योग्यं, तद्भावो योग्यत्वम्। 'अनादिः'=आदिरहितः, स चासौ 'परि' इति सर्वात्मना 'नामः'=प्रह्वीभावः 'परिणामः', स एव पारिणामिकश्चानादि पारिणामिको 'भावः'—जीवस्वभाव एव।

जन पूर्ण कर चुके ऐसी सकल कर्मबन्धनों की क्षय अवस्था। यह जीव की ही अवस्था है। उस में जाव का जो परिणमन होता है वही सिद्धिगमन है।

प्राप्ति और परिणमन में अंतरः—

'प्राप्ति'शब्द की अपेक्षा 'परिणमन'शब्द लगाने से जैन दर्शन की विशेषता सूचित होती है। प्राप्ति में सिर्फ वस्तु का किसी से संबन्ध हुआ इतना ही, लेकिन परिणमन में तो वस्तु तद्रूप हो जाती है। उदाहरणार्थ न्याय दर्शन कहता है कि वस्त्र बना तब तन्तुओं में वस्त्र की प्राप्ति हुई, सम्बन्ध हुआ; ऐसे वस्त्र रक्त हुआ तो वस्त्र में रक्त वर्ण की प्राप्ति यानी सम्बन्ध मात्र हुआ; जब कि जैन दर्शन कहता है कि खुद तन्तुओं का वस्त्र रूप में परिणमन हुआ, इसी से लोकव्यवहार होता है कि तन्तु खुद वस्त्र बन गए। यों वस्त्र स्वयं रक्त रूप में परिणत हुआ तभी तो लोग कहते हैं कि वस्त्र लाल बन गया। तात्पर्य, भिन्न भिन्न गुण-पर्यायात्मक अवस्थाओं में वस्तु का ही वैसा वैसा परिणमन होता है, और उन अवस्था एवं वस्तु के बीच भेदाभेद संबन्ध रहता है। इस लिए जो लोग न्याय-वैशेषिकादि दर्शन और जैनदर्शन की इस प्रकार तुलना करते हैं कि दोनों ही दर्शन द्रव्यों को गुण के आश्रय मानते हैं वे भ्रान्त हैं। क्यों कि उन जैनेतर दर्शनों के मत में तो गुणों को द्रव्यों से बिलकुल भिन्न मान लेने पर यह प्रश्न खडा होता है कि उनका जो सम्बन्ध द्रव्य से होगा वह द्रव्य से भिन्न होगा या अभिन्न? भिन्न मानने पर यह प्रश्न होगा कि फिर उस का और द्रव्य का जो सम्बन्ध होगा वह द्रव्य से भिन्न होगा या अभिन्न? इस इस प्रकार प्रश्न परंपरा से अनवस्था दोष आयेगा, इस से बचने के लिए संबन्ध को अभिन्न मान लेंगे तो प्राप्तिवाद नहीं किंतु परिणमनवाद स्वीकार करना होगा। एवं, अगर यह मान्य है तो खुद गुण पर्यायों मे ही आश्रय द्रव्य का परिणमन क्यों न मान लिया जाय?

योग्यता और अनादि पारिणामिक भावः—

सारांश, मोक्ष-अवस्था जीव की एक परिणति है परिणाम है। वही है मोक्षगमन, सिद्धिगमन। यह बनने की योग्यता का नाम भव्यत्व है। 'योग्य' शब्द का अर्थ यह है कि समस्त सामग्री मिलने पर अपने साध्य के साथ जिसका योग हो सके वह योग्य। योग्य का भाव है योग्यता। तो जीव में भव्यत्व भी एक प्रकार की योग्यता है। भव्यत्व उत्पन्न नहीं होता है, वह तो अनादि कालसे

यों यदि कार्य एक सरीखा, तो कारण भी एक सरीखा होना चाहिए। हां, मोक्ष-प्रयाण स्वरूप कार्य में जो फर्क पड़ता है वह सहकारी कारणों की भिन्नता से; किन्तु नहीं की योग्यता के भेद से; एसा क्यों न मानना ?

उ०– ऐसा नहीं माना जा सकता, क्यों कि यदि योग्यता यानी भव्यत्व एकरूप होता, तो सहकारी कारणो में भी भिन्नता नहीं बन सकती, समानता ही हो जाती। और यदि समानता तो नहीं है किन्तु भिन्नता ही है तो भव्यत्व में भी एकरूपता नहीं घट सकती। इसका कारण यह है कि सहकारी कारणों की जो अमुक अमुक काल में ही भव्यत्व के निकटवर्तिता होती है वह भिन्न भिन्न निश्चित काल में होना यह वैसी वैसी योग्यता यानी भव्यत्व पर निर्भर है। सभी जीवों की भव्यत्व रूप योग्यता एकरूप होने पर सहकारी कारणों की भी निश्चित एकरूपता हो जाने से उनकी एकसाथ प्राप्ति हो जाती; फलतः सभी का एकसाथ मोक्ष हो जाता।

इस प्रकार भव्यत्व प्रतिव्यक्ति भिन्न भिन्न होता है यह निश्चय नय यानी सूक्ष्मदर्शी परमार्थ नय का अभिप्राय है। व्यवहार नय के अभिप्राय से तो भव्यत्वों में समानता होती है, क्यों कि वह नय मात्र मोक्षगमन रूप सादृश्य को ले कर प्रवृत्त होता है तो कह सकता है कि मोक्षगमन की योग्यता सभी भव्यों में समान है।



(ल०—) तत्सहकारिणामपि तुल्यत्वप्राप्तेः, अन्यथा योग्यताऽभेदायोगात् तदुपनिपाताक्षेपस्यापि तन्निबन्धनत्वात्। निश्चयनयमतमेतदतिसूक्ष्मबुद्धिगम्यम्। इति लोकोत्तमाः ॥१०॥

(पं०) पारिणामिकहेतोर्भव्यत्वस्याभेदेऽपि सहकारिभेदात् कार्यभेद इत्याशङ्कानिरासायाह, **'तत्सहकारिणामपि'** **'तस्य'**=भव्यत्वस्य, **'सहकारिणः'**=अतिशयाधायकाः प्रतिविशिष्टद्रव्यक्षेत्रादयः, तेषां, न केवलं भव्यत्वस्येति **'अपि'**शब्दार्थः। किमित्याह **'तुल्यत्वप्राप्तेः'**=सादृश्यप्रसङ्गात्। अत्रापि व्यतिरेकमाह **'अन्यथा'**=सहकारिसादृश्याभावे, **'योग्यतायाः'**=भव्यत्वस्य, **'अभेदायोगाद्'**=एकरूपत्वाघटनात्। एतदपि कुत इत्याह **'तदुपनिपाताक्षेपस्यापि,'** **'तेषां'**=सहकारिणाम्, **'उपनिपातो'**=भव्यत्वस्य समीपवृत्तिः, तस्य **'आक्षेपो'**=निश्चितं स्वकालभवनं, तस्य। न केवलं प्रकृतबीजादिसिद्धिमात्रस्येति **'अपि'**-शब्दार्थः। **'तन्निबन्धनत्वाद्'**=योग्यताहेतुत्वात्। ततो योग्यताया अभेदे तत्सहकारिणामपि निश्चतमभेद इति युगपदुपनिपात प्राप्नोतीति। **'निश्चयनयमतं'**=परमार्थनयाभिप्रायः, **'एतद्'** यदुत भव्यत्वं चित्रमिति। व्यवहारनयाभिप्रायेण तु स्यादपि तुल्यत्वं तस्य सादृश्यमात्राश्रयेणैव प्रवृत्तत्वात्।

ही है; फिर भी ऐसा नहीं कि सभी भव्य जीव एक ही प्रकार से मोक्षगमन करते हैं। एवं मोक्ष प्राप्त करने के लिए जो साधना की जाती है वह भिन्न भिन्न व्यक्तियों में किसी एक ही प्रकार से नहीं बनती है, किन्तु अलग अलग रूप से होती है। कारण यह है कि मोक्ष के उपायभूत धर्म की प्रशंसा, धर्मचिन्ता, धर्मश्रवण, वगैरह जो कि धर्म के बीजवपन, अंकुरनिर्माण...इत्यादि स्वरूप हैं, उनके सहकारी कारण, जैसे कि काल, क्षेत्र, गुरु आदि द्रव्य, जीवों को जो प्राप्त होते हैं, वे एक ही रूप के नहीं लेकिन विचित्र विचित्र रूप के होते हैं। अर्थात् कोई जीव किसी काल और क्षेत्र में उन्हें प्राप्त करता है तो दूसरा जीव दूसरे ही काल-क्षेत्र में प्राप्त करता है। यों, अमुक जीव को किसी गुरु द्वारा, और अन्य जीव को दूसरे ही गुरु द्वारा मिलता है। इस प्रकार कोई जीव अमुक अमुक धर्मस्थान, धर्मसामग्री, वगैरह द्वारा, और दूसरा जीव अन्य ही द्वारा उनमें चढ़ता हैं। जीवों की उनमें प्रगति भी अन्यान्य वेग से होती है। यह सब देखने से पता चलता है कि धर्मसाधना यानी मोक्ष के प्रति प्रयाण विविध रूप से होता है। यह प्रयाण योग्य यानी भव्य जीवों में ही हो सकता है, लेकिन वह विविध रूप का होने में जीवों में विविध योग्यता आवश्यक है। क्यों कि योग्यता अगर एक ही रूप की हो, तो धर्मबीजादि की सिद्धि एक ही रूप की अर्थात् एक ही काल-क्षेत्रादि सामग्री पाकर होगी, भिन्न भिन्न कालादि पाकर नहीं। योग्यता कारण है; बीजादि-सिद्धि कार्य है। कार्य में भिन्नता कारण की भिन्नतापूर्वक ही होती है यह तात्पर्य है।

सहकारी का भेद भी योग्यताभेद पर निर्भर—

प्र०— भव्यत्व में अनेक भेद क्यों माना जाएँ ? क्यों कि वह तो मोक्ष के प्रति पारिणामिक कारण है अर्थात् वहा योग्यता अन्त में जा कर मोक्ष रूप एक ही कार्य में परिणत होती है।

(ल०–विना योगक्षेमौ न नाथता) न तदुभयत्यागाद् आश्रयणीयोऽपि, परमार्थेन तल्लक्षणायोगात्। इत्थमपि तदभ्युपगमेऽतिप्रसङ्गात्, महत्त्वमात्रस्येहाप्रयोजकत्वात्, विशिष्टोपकारकृत एव तत्त्वतो नाथत्वात्।

(पं०)–योगक्षेमयोरन्यतरकृत्, सर्वथा तदकर्ता वा, नाथः स्यादित्याशङ्कानिरासायाह 'न'=नैव 'तदुभयत्यागात्'=तदुभयं योगक्षेमोभयं सर्वथा तत्परिहाराद्, अनयोर्वान्यतराश्रयणाद्वा, 'आश्रयणीयोऽपि'=प्राप्योऽपि, अर्थिवशान्नाथः; किं पुनरनाश्रयणीय इति 'अपि'शब्दार्थः। कुत इत्याह 'परमार्थेन'=निश्चयप्रवृत्त्या, 'तल्लक्षणायोगात्'=नाथलक्षणायोगात्। उभयकरत्वमेव तल्लक्षणमित्युक्तमेव। विपक्षे बाधकमाह 'इत्थमपि'=तल्लक्षणायोगेऽपि, तल्लक्षणयोगे तु प्रसज्यत एवेति 'अपि'शब्दार्थः। 'अतिप्रसङ्गाद्'=अकिञ्चित्करस्य कुड्यादेरपि नाथत्वप्राप्तेः। तर्हि गुणैश्वर्यादिना महानेव नाथ इति नातिप्रसङ्गः, इत्याशङ्क्याह 'महत्त्वमात्रस्य'=योगक्षेमरहितस्य महत्त्वस्यैव केवलस्य 'इह'–नाथत्वे 'अप्रयोजकत्वाद्'=अहेतुकत्वात्, कुत इत्याह 'विशिष्टोपकारकृत एव'=योगक्षेमलक्षणोपकारकृत एव नान्यस्य, (प्र०....नान्यथा), 'तत्त्वतो'=निश्चयेन, 'नाथत्वात्'=नाथभावात्।

वे यहां 'लोग' शब्द से ग्राह्य हैं। ऐसा परमात्मा द्वारा हो सकने का कारण यह है कि शुभ आशय, भगवान के प्रसाद से अर्थात् अर्हत् प्रभु के प्रभाव से, लभ्य है। इस से यह सूचित होता है कि शुभ आशय होने में जीव का पुरुषार्थ और अन्य निमित्त कारणभूत होते हुए भी भगवान की कृपा, भगवानका प्रभाव बड़ा कारण है। इसलिए यह ख्याल कि–भगवान तो वीतराग होने से कुछ सामर्थ्य वाले नहीं, हमें जो शुभ प्राप्त होते हैं इनमें हमारा पुरुषार्थ ही कारण है–यह ख्याल भ्रमपूर्ण है। इसलिए धर्मबीजादि सब होने में परमात्मा का अत्यन्त उपकार मानना यह कृतज्ञता पालित होती है और यह अत्यावश्यक एवं अधिकाधिक शुभ भावों की वर्धक है।

प्र०– भगवान में ऐसा सामर्थ्य न माने तो क्या हानि है ?

उ०– हानि यह है कि तब तो भगवान में नाथता नहीं उपपन्न हो सकेगी। भगवान विशिष्ट भव्य जीवों को बीजाधान कराना वगैरह द्वारा उन्हें अन्य भव्यों से पृथक् करानेवाले अगर न हो तो उनमें नाथपन कैसा ? अर्थात् ऐसे विभाग के विषयभूत उन भव्य जीवों के प्रति भगवान में नाथपन नहीं घट सकता। कारण, सच्चे नाथ वही है जो योग–क्षेम करनेवाले होते हैं, ऐसी प्राज्ञ पुरुषों की प्रसिद्धि है। 'योग' का अर्थ नयी प्राप्ति होता है, और 'क्षेम' का अर्थ प्राप्त का रक्षण होता है। बीज–रपनादि जिन्हें प्राप्त नहीं है उन्हें प्राप्त कराना, यह योग है; और जिन्हें प्राप्त है उनके उसका रक्षण करना यह क्षेम है। विद्वज्जनों द्वारा, योग और क्षेम करनेवाला ही नाथ कहलाता है।

<u>योग–क्षेमसे ही नाथता :–</u>

प्र०—जो योग, क्षेम, दोनों में से एक ही करता हो या सर्वथा एक भी न करता हो तो क्या वह नाथ नहीं बन सकता है ?

उ०—नहीं, योग क्षेम दोनों के त्याग से या एक ही करने से वह, चाहे स्वार्थ वश आश्रय

११. लोगनाहाणं (लोकनाथेभ्यः)

(ल०—नाथलक्षणम्) तथा 'लोकनाथेभ्य' इति। इह तु 'लोक' शब्देन तथा इतरभेदाद्विशिष्ट एव, तथारागाद्युपद्रवरक्षणीयतया बीजाधानादिसंविभक्तो, भव्यलोकः परिगृह्यते; अनीदृशि नाथत्वानुपपत्तेः। योगक्षेमकृदयमिति विद्वत्प्रवादः।

(पं०—) तथा 'तथे'ति समुदायेष्वपि प्रवृत्ता....इत्यादिसूत्रं वाच्यमिति 'तथा' शब्दार्थः। एवमुत्तरसूत्रेष्वपि 'तथा'शब्दार्थो वाच्य इति। 'तथेतरभेदात्', तथा'=तत्प्रकारो भव्यरूप एव य 'इतरभेदो' भव्यसामान्यस्य बीजाधानादिना संविभक्तीकर्त्तुमशक्तितस्तस्माद् 'विशिष्ट एव'=विभक्त एव, 'तथा'=तेन तेन प्रकारेण, 'रागाद्युपद्रवरक्षणीतया'=रागादय एव तेभ्यो वा उपद्रवो रागाद्युपद्रवः, तस्माद् रक्षणीयता—तद्विषयभावादपसारणता, तया 'बीजाधानादिसंविभक्तो'—धर्मबीजवपनचिन्तासच्छ्रुत्यादिना कुशलाशयविशेषेण सर्वथा स्वायत्तीकृतेन 'संविभक्तः'—समयापेक्षया संगतविभागवान् कृतः, भगवत्प्रसादलभ्यत्वात् कुशलाशयस्य, 'भव्यलोकः' उक्तस्वरूपः, 'परिगृह्यते'—आश्रीयते, कुत इत्याह 'अनीदृशि'—बीजाधानाद्यसंविभक्ते अविषयभूते 'नाथत्वानुपपत्तेः'—भगवतां नाथभावाघटनात्। कुतः? यतो 'योगक्षेमकृद्'—योगक्षेमयोः कर्त्ता, 'अयमिति'—नाथ इत्येव 'विद्वत्प्रवादः'—प्राज्ञप्रसिद्धिः।

---

११ लोगनाहाणं (बीजाधानादि—योग्य भव्यों के नाथ)

यहां 'लोग'का अर्थ बीजाधानादि—योग्य भव्य जीवः—

यहां 'तथा' शब्द से जो प्रारंभ करते हैं उस 'तथा' शब्द का अर्थ यह है कि समुदाय के निर्वचन में प्रवर्तमान शब्द एक देश में भी प्रवृत्त होता है इस भावका पूर्वोक्त सूत्र यहां भी पढना, और आगे सूत्रों में भी पढना, यही 'तथा' शब्द का अर्थ है। सो यहां 'लोगनाहाणं' पद में 'लोग' शब्द से उस प्रकार विशिष्ट ही भव्य लोक गृहीत करने का है। सामान्यतः सभी भव्य बीजाधानादि से विभाग करने शक्य नहीं हैं, अर्थात् सभी भव्यों में एकसाथ धर्म बीज के आधानादि कराना शक्य नहि है कि जिससे भगवान उन सभी का नाथ हो सके। अतः जिन भव्यसमूह अभी बीजधानादि के द्वारा विभक्त करना शक्य नहीं है ऐसे, दूसरे प्रकार के भव्य सामान्य से विभिन्न भव्यसमूह यहां विशिष्ट भव्यलोग कर के लेना। वे ही रागादि स्वरूप या रागादि के उपद्रवों से उस उस प्रकार रक्षणीय हैं अर्थात् रागादि आन्तर उपद्रवों के विषय न हों इस प्रकार इन से दूर कराने योग्य हैं। इस से वे भव्य जीव धर्म्म—बीजाधानादि द्वारा दूसरों से संविभक्त होते हैं। तात्पर्य, धर्म्मप्रशंसा स्वरूप धर्मबीजका वपन, और धर्म—अभिलाषा सम्यग् धर्म—श्रवण इत्यादि रूप अङ्कुरादि—सर्जन, जो कि आन्तरिक रूप में विशिष्ट प्रकार का कुशल आशय स्वरूप है; इन्हें परमात्मा भव्यों को सर्वथा स्वाधीन कराते हैं। फलतः वे भव्य जीव संविभक्त यानी उस काल की या शास्त्र की अपेक्षा से दूसरे भव्यों से सङ्गत विभागवाले किये जाते हैं।

(ल०-सर्वभव्यनाथत्वे आपत्तिः)—न चैते कस्यचित्सकलभव्यविषये, ततस्तत्प्राप्त्या सर्वेषामेव मुक्तिप्रसङ्गात् । तुल्यगुणा ह्येते प्रायेण, ततश्च चिरतरकालातीतादन्यतरस्माद् भगवतो बीजाधानादिसिद्धेरल्पेनैव कालेन सकलभव्यमुक्तिः स्यात् ।

(पं०)—स्यान्मतम् 'अचिन्त्यशक्तयो भगवन्तः सर्व्वभव्यानुपकर्त्तुं क्षमाः, ततः कथमयं विशेषः ?' इत्याह 'न च'=नैव, 'एते'=योगक्षेमे, 'कस्यचित्'=तीर्थकृतः, 'सकलभव्यविषये'=सर्व्वभव्यानाश्रित्य प्रवृत्ते । विपक्षे बाधकमाह 'ततो'=विशिष्टात्तीर्थकरात्, 'तत्प्राप्त्या'=योगक्षेमप्राप्त्या, सकलभव्यविषयत्वे योगक्षेमयोः, 'सर्व्वेषामेव'=भव्यानां, 'मुक्तिप्रसङ्गात्'=योगक्षेमसाध्यस्य मोक्षस्य प्राप्तेः । एतदेव भावयन्नाह 'तुल्यगुणाः'=सदृशज्ञानादिशक्तयो, 'हि' यस्मादर्थे, 'एते'=तीर्थकराः, 'प्रायेण'=बाहुल्येन, शरीरजीवितादिना त्वन्यथात्वमपीति प्रायग्रहणम् । 'ततः'=तुल्यगुणत्वाद् हेतोः, 'चिरतरकालातीतात्'=पुद्गलपरावर्त्तपरकालभूताद्, 'अन्यतरस्माद्'=भरतादिकर्म्मभूमिभाविनो, 'भगवतः'=तीर्थकराद्, 'बीजाधानादिसिद्धेः'=बीजाधानोद्भेदपोषणनिष्पत्तेरुक्तरूपायाः, 'अल्पेनैव कालेन'=पुद्गलपरावर्त्तमध्यगतेनैव, 'सकलभव्यमुक्तिः स्यात्'=सर्व्वेऽपि भव्याः सिध्येयुः ।

प्रकार की अधिकता मात्र की समानता पर औपचारिक नाथपन का आरोपण करना और नाथ के रूप में स्तवना का वचन-व्यवहार करना, इससे यह स्तवना वास्तविक अर्थवाली स्तवना के समान नहीं बन सकती है। अतः ऐसी स्तवना का क्या विशेष अर्थ हो सकता है ? । इसी लिए पहले कहा गया कि योगक्षेम रहित में नाथत्व संभवित नहीं है। अरिहंत परमात्मा में दूसरी प्रकार की कितनी ही गुण-समृद्धि की महत्ता हो, परन्तु उन्हें नाथ तो तभी कहा जा सकता है कि वे योग्य भव्य जीवों को योगक्षेम करते हों। और तभी उनकी नाथ स्वरूप की स्तवना, औपचारिक नहीं परन्तु वास्तविक मानी जा सके। इसी लिए 'लोकनाथेभ्यः' सूत्र में लोक शब्द से उन्हीं भव्य जीवों को लेना है कि जिनमें अर्हत्प्रभु द्वारा धर्मबीज का आधान, बीज में से अंकुरादि का निष्पादन, पोषण,....इत्यादि अप्राप्य की प्राप्ति स्वरूप 'योग' कराया जाता हो तथा विविध नरकादि दुःख रूपी उपद्रवों और उनके कारणभूत रागादि दोषों के निवारण द्वारा धर्मबीजादिके संरक्षण स्वरूप 'क्षेम' किया जाता हो। यहाँ धर्मप्रशंसादि यह धर्मबीज का आधान है। धर्मचिंता अर्थात् धर्म की सच्ची सतत अभिलाषा आदि यह अंकुर है। और धर्मका सम्यक् श्रवण इत्यादि यह मूल और शाखादि के रूपमें है।

उसमें से दो निष्कर्ष निकलते हैं। एक तो, श्री तीर्थंकर भगवान वास्तविक नाथ है; और दूसरा, नाथ या योगक्षेम के लिए पात्र ऐसे भव्य जीवों के ही होते हैं।

सर्व भव्यों के नाथ क्यों नहि ?—

प्र०—तीर्थंकर भगवान तो अचिन्त्य शक्ति-सम्पन्न होने से सभी जीवों पर उपकार करने के लिए समर्थ है, तो फिर वे सभी भव्य जीवों का नहीं, परन्तु कुछ भव्य जीवों का ही योगक्षेम करते हैं ऐसा क्यों ?

(ल०–योगक्षेमशब्दार्थः) औपचारिकवाग्वृत्तेश्च पारमार्थिकस्तत्तत्त्वासिद्धिः तदिह
मेव बीजाधानोद्भेदपोषणैर्योगः क्षेमं च तत्तदुपद्रवाद्यभावेन, त एवेह भव्याः परिगृह्यन्ते

(पं०–) उपचारतस्तर्हि महानाथो भविष्यतीत्याशङ्क्याह 'औपचारिकवाग्वृत्तेश्च'=उपचारेणानां
विषयसाधर्म्यान्नाथत्वाध्यारोपेण भवा औपचारिकी, सा चासौ वाग्वृत्तिश्च, तस्याः; 'चः' पुनरर्थे। 'प
र्थतस्तत्तत्त्वासिद्धिः'=परमार्थतस्तत्स्वरूपासिद्धिः; इत्यनीदृशि नाथत्वानुपपत्तेरिति पूर्वेण योगः। '
तस्मात्, 'इह'=प्रक्रमे, 'येषामेव'=वक्ष्यमाणक्रियाविषयभूतानामेव, नान्येषां, 'बीजाधानोद्भेदपो
धर्मबीजस्य 'आधानेन'=प्रशंसादिना, 'उद्भेदेन'=चिन्ताङ्कुरकरणेन, 'पोषणेन'=सत्श्रुत्यादिकाण्ड
दिसम्पादनेन, 'योगः'=अप्राप्तलाभलक्षणः, 'क्षेमं'च=लब्धपालनलक्षणं, 'तत्तदुपद्रवाद्यभावेन' '
पद्रवाः'=चित्ररूपाणि नरकादिव्यसनानि 'आदि' शब्दात् तन्निबन्धनभूतरागादिग्रहः, तेषाम् 'अभा
अत्यन्तमुच्छेदेन, 'त एव'=नान्ये, 'भव्याः' उक्तरूपाः, परिगृह्यन्ते'।

किया भी जाता हो तो भी, नाथ नहीं बन सकता है; आश्रय न किये जाने वाले की तो
ही क्या? नाथ न बन सकने का कारण यह है कि परमार्थ से यानी निश्चय नय से,–
व्यवहार मात्र से नहि किन्तु 'नाथ'पदार्थ की दृष्टि से,–'नाथ' का लक्षण उसमें नहीं घटत
योग और क्षेम दोनों का कर्तृत्व, यह नाथका लक्षण कह आये हैं।

प्र०—लक्षण न घटे फीर भी नाथ कहें तो क्या हानि है।

उ०—लक्षण न घटने पर भी नाथ कहेंगे तो इस प्रकार अतिप्रसङ्ग आयेगा,–भीत
परन्तु जो कुछ नहीं करती है उस में भी नाथता प्राप्त होगी! लक्षण के अनुसार चलने पर तो
पौरह नाथ नहीं कही जा सकती, किन्तु बिना लक्षण चलने पर वह नाथ क्यों न कही ज

प्र०—इस अतिप्रसङ्ग को निवारणार्थ तो ऐसा क्यों न कहे कि नाथ वही है जो
समृद्धि से महान है? भीत ऐसी नहीं होने से नाथ नहीं कही जा सकती।

उ०—नाथता के प्रति योग-क्षेम रहित केवल महत्त्व प्रयोजक नहीं हो सकता है। इ
समृद्धि आदि द्वारा महान है इसी लिए नाथ है ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्यों कि
क्षेम स्वरूप उपकार करने वाले में ही वास्तविक नाथता होती है। ऐसा उपकार किये
नाथता किस प्रकारकी?

औपचारिक नाथता से क्या? योग-क्षेम के अर्थः–

प्र०—ठीक है, योगक्षेम करने वाला मुख्यतः नाथ हो परन्तु जो महान है, उसे भी उप
से तो नाथ कहा जा सकता है न?

उ०—इस प्रकार कहने में कोई विशेष अर्थ सिद्ध होता नहीं है। क्यों कि औपचा
अर्थात् गौणभाव के वचन प्रयोग द्वारा पारमार्थिक नाथता सिद्ध नहीं हो सकती है। जैसे
नाथ में अन्य की अपेक्षा अधिकता होती है, वैसे योगक्षेम नहीं कर सकने वाले में भी, द
धार की गुणसमृद्धि आदि की महत्ता को लेकर, अन्य की अपेक्षा अधिकता तो है, परन्तु

(ल०—सर्वभव्यनाथत्वे आपत्तिः)—न चैते कस्यचित्सकलभव्यविषये, ततस्तत्प्राप्त्या सर्वेषामेव मुक्तिप्रसङ्गात्। तुल्यगुणा ह्येते प्रायेण, ततश्च चिरतरकालातीतादन्यतरस्माद् भगवतो बीजाधानादिसिद्धेरल्पेनैव कालेन सकलभव्यमुक्तिः स्यात्।

(पं०)—स्यान्मतम् 'अचिन्त्यशक्तयो भगवन्तः सर्वभव्यानुपकर्त्तुं क्षमाः, ततः कथमयं विशेषः?' इत्याह 'न च'=नैव, 'एते'=योगक्षेमे, 'कस्यचित्'=तीर्थकृतः, 'सकलभव्यविषये'=सर्वभव्यानाश्रित्य प्रवृत्ते। विपक्षे बाधकमाह 'ततो'=विशिष्टात्तीर्थकरात्, 'तत्प्राप्त्या'=योगक्षेमप्राप्त्या, सकलभव्यविषयत्वे योगक्षेमयोः, 'सर्वेषामेव'=भव्यानां, 'मुक्तिप्रसङ्गात्'=योगक्षेमसाध्यस्य मोक्षस्य प्राप्तेः। एतदेव भावयन्नाह 'तुल्यगुणाः'=सदृशज्ञानादिशक्तयो, 'हि' यस्मादर्थे, 'एते'=तीर्थकराः, 'प्रायेण'=बाहुल्येन, शरीरजीवितादिना त्वन्यथात्वमपीति प्रायग्रहणम्। 'ततः'=तुल्यगुणत्वाद् हेतोः, 'चिरतरकालातीतात्'=पुद्गलपरावर्त्तपरकालभूताद्, 'अन्यतरस्माद्'=भरतादिकर्म्मभूमिभाविनो, 'भगवतः'=तीर्थकराद्, 'बीजाधानादिसिद्धेः'=बीजाधानोद्भेदपोषणनिष्पत्तेरुक्तरूपायाः, 'अल्पेनैव कालेन'=पुद्गलपरावर्तमध्यगतेनैव, 'सकलभव्यमुक्तिः स्यात्'=सर्व्वेऽपि भव्याः सिध्येयुः।

प्रकार की अधिकता मात्र की समानता पर औपचारिक नाथपन का आरोपण करना और नाथ के रूप में स्तवना का वचन-व्यवहार करना, इससे यह स्तवना वास्तविक अर्थवाली स्तवना के समान नहीं बन सकती है। अतः ऐसी स्तवना का क्या विशेष अर्थ हो सकता है? इसी लिए पहले कहा गया कि योगक्षेम रहित में नाथत्व संभवित नहीं है। अरिहंत परमात्मा में दूसरी प्रकार की कितनी ही गुण-समृद्धि की महत्ता हो, परन्तु उन्हें नाथ तो तभी कहा जा सकता है कि वे योग्य भव्य जीवों को योगक्षेम करते हों। और तभी उनकी नाथ स्वरूप की स्तवना, औपचारिक नहीं परन्तु वास्तविक मानी जा सके। इसी लिए 'लोकनाथेभ्यः' सूत्र में लोक शब्द से उन्हीं भव्य जीवों को लेना है कि जिनमें अर्हत्प्रभु द्वारा धर्मबीज का आधान, बीज में से अंकुरादि का निष्पादन, पोषण,....इत्यादि अप्राप्य की प्राप्ति स्वरूप 'योग' कराया जाता हो तथा विविध नरकादि दुःख रूपी उपद्रवों और उनके कारणभूत रागादि दोषों के निवारण द्वारा धर्मबीजादिके संरक्षण स्वरूप 'क्षेम' किया जाता हो। यहाँ धर्मप्रशंसादि यह धर्मबीज का आधान है। धर्मचिंता अर्थात् धर्म की सच्ची सतत अभिलाषा आदि यह अंकुर है। और धर्मका सम्यक् श्रवण इत्यादि यह मूल और शाखादि के रूपमें है।

उसमें से दो निष्कर्ष निकलते हैं। एक तो, श्री तीर्थंकर भगवान वास्तविक नाथ है; और दूसरा, नाथ भी योगक्षेम के लिए पात्र ऐसे भव्य जीवों के ही होते हैं।

सर्व भव्यों के नाथ क्यों नहि?—

प्र०—तीर्थंकर भगवान तो अचिन्त्य शक्ति-सम्पन्न होने से सभी जीवों पर उपकार करने के लिए समर्थ हैं, तो फिर वे सभी भव्य जीवों का नहीं, परन्तु कुछ भव्य जीवों का ही योगक्षेम करते हैं ऐसा क्यों?

(ल०—बीजाधानादनु मोक्षकालनियमः) बीजाधानमपि ह्यपुनर्बन्धकस्य। न चास्यापि पुद्‌गलपरावर्त्तसंसार इति कृत्वा। तदेवं लोकनाथाः।

(पं०—) नन्वनादावपि काले बीजाधानादिसम्भवात् कथमल्पेनैव कालेन सर्वभव्यमुक्तिप्रसङ्ग इत्याशङ्‌क्याह '**बीजाधानमपि**'=धर्मप्रशंसादिकमपि, आस्तां सम्यक्त्वादीति '**अपि**'शब्दार्थः '**हि**':= यस्माद्, '**अपुनर्बन्धकस्य**'='पापं न तीव्रभावात् करोती'त्यादिलक्षणस्य '**न च**'=नैव '**अस्यापि**'= अपुनर्बन्धकस्यापि, आस्तां सम्यग्दृष्ट्यादेः, '**पुद्‌गलपरावर्त्तः**' समयसिद्धः, '**संसार**' इति संसारकालः, '**इति कृत्वा**'=इति हेतोः, अल्पेनैव कालेन सर्वभव्यमुक्तिः स्यादिति योगः।

उ०—कारण यह कि है कोई भी तीर्थंकर समस्त भव्य जीवों का योगक्षेम कर सकते नहीं हैं। यदि सर्व सम्बन्धी योगक्षेम हो सकता हो तो किन्हीं एक तीर्थंकर प्रभु द्वारा सभी भव्य जीवों को योगक्षेम का लाभ मिल जाने के कारण सभी भव्य जीवों की मुक्ति हो जाती; क्यों कि योगक्षेम से मुक्ति साध्य होती है। फिर यह भी नहीं है कि कोई एकाध तीर्थंकर ऐसे समर्थ न होने से ऐसा कैसे हो सकता है? क्यों कि सर्व तीर्थंकर परमात्मा प्रायः समान ज्ञानादि शक्तियों से विभूषित होते हैं। (यहाँ 'प्रायः' शब्द इसलिए उपयोग में लिया गया है कि शरीर, आयुष्य आदि में विषमता होती है।) अब समान शक्ति के हिसाब से तो बहुत पहले के भूतकालमें अर्थात् एक पुद्‌गल परावर्त पहले के काल में भरत क्षेत्रादि कर्मभूमि में हुए किन्हीं तीर्थंकर भगवान द्वारा सर्व भव्यों को पूर्वोक्त बीजाधान अंकुरोत्पत्ति-पोषण इत्यादि का योगक्षेम हो जाने से तत्पश्चात् क्रमशः अल्पकाल में ही अर्थात् एक ही पुद्‌गल परावर्त के भीतर-भीतर सर्व भव्य जीवों की मुक्ति हो गई होती।

धर्मबीजाधान के बाद कब मोक्ष?—

प्र०—संभव है बीजाधान इत्यादि तो अनादि काल पर हुए हों लेकिन अभी भी वे जीव संसार में हो सकते हैं। तो अल्प यानी एक पुद्‌गलपरावर्त काल के अन्दर अन्दर ही सर्व भव्यों का मोक्ष हो ही जाता है, यह नियम कहाँ रहा?

उ०—ऐसा नहीं है। बीजाधान के बाद कब मोक्ष, उसका भी नियम है। कारण कि सम्यक्त्वादि उच्च धर्म की तो बात ही क्या की जाय? क्योंकि उसे धारण करनेवाले जीव को तो पीछे अर्ध पुद्‌गलपरावर्त जितना भी संसारकाल शेष नहीं रहता। परन्तु धर्मप्रशंसादि रूप धर्मबीज भी अपुनर्बन्धक आत्मा को ही प्राप्त हो सकता है; और उसे भी पूरा एक पुद्‌गलपरावर्त जितना संसार-काल भी बाकी नहीं रहता है। इसीलिए कहा जा सकता है कि अर्हत्प्रभु द्वारा सभी भव्यों को योगक्षेम करने में तो पुद्‌गलपरावर्त पहले के काल के तीर्थंकर भगवानने सर्व भव्य जीवों का योगक्षेम किया होता, और इसीलिए अल्पकाल में सर्व भव्यों का मोक्ष हो गया होता। परन्तु ऐसा हुआ तो नहीं है; यही उसका सूचक है कि भगवान सर्वो को नहीं परन्तु योग्य भव्य लोगों को योगक्षेम करनेवाले होते हैं। इस प्रकार वे लोकनाथ हैं।

१२. लोगहिआणं (लोकहितेभ्यः)

(ल०—सर्वजीव-पञ्चास्तिकायार्थकः लोकशब्दः—) तथा 'लोकहितेभ्यः'। इह लोक-शब्देन सकलसांव्यावहारिकादिभेदभिन्नः प्राणिलोको गृह्यते, पञ्चास्तिकायात्मको वा सकल एव। एवं चालोकस्यापि लोक एवान्तर्भावः, आकाशास्तिकायस्योभयात्मकत्वात्। लोकादि-व्यवस्थानिबन्धनं तूक्तमेव।

(पं०—) 'सांव्यावहारिकभेदभिन्न' इति; नरनारकादिर्लोकप्रसिद्धो व्यवहारः संव्यवहारस्तत्र भवाः सांव्यवहारिकाः। 'आदि' शब्दात् तद्विपरीता नित्यनिगोदावस्थाः असांव्यवहारिका जीवा गृह्यन्ते। त एव भेदौ प्रकारौ ताभ्यां भिन्न इति।

---

१२. लोगहिआणं

'लोक'का अर्थ समस्त प्राणिलोक या पंचास्तिकायः—

अब 'लोगहिआणं' पद में लोक शब्द सभी सांव्यवहारिक अर्थात् व्यवहारिक राशि के और असांव्यवहारिक अर्थात् अव्यवहार-राशि के जीवों को लेना है अथवा समस्त पंचास्तिकाय लोक लेना है। इससे अलोक आकाश का भी लोक में ही अन्तर्भाव होता है क्योंकि पञ्चास्तिकाय में अन्तर्भूत आकाशास्तिकाय लोकाकाश, अलोकाकाश, उभय स्वरूप है। लोक-अलोक की व्यवस्था में क्या निमित्त है यह कह ही आये हैं।

सांव्यवहारिक : व्यवहारराशि के जीवः—

'सांव्यवहारिक यानी व्यवहार राशि के जीव,' संसार के वे जीव हैं, कि जो मनुष्य, नारक, पृथ्वीकायिक इत्यादि लोकप्रसिद्ध व्यवहार में आ चुके हैं। संसार में जीवों की राशि याने समूह के दो प्रकार हैं—(१) अव्यवहार राशि और (२) व्यवहार राशि। अनादि काल से तो जीव एक मात्र निगोद यानी साधारण वनस्पतिकायिक जीव के रूप में जन्म और मृत्यु पाया करते हैं। संसार में ऐसे अनंतानंत जीव हैं कि जो अभी भी केवल निगोद अवस्था में ही घूमा करते हैं। बस इन जीवों का दूसरी तरह से व्यवहार नहीं हुआ है, अर्थात् वे पृथ्वीकायिक, अप्कायिक,...द्वीन्द्रिय,...पंचेन्द्रिय तिर्यंच, मनुष्य, देव इत्यादि अवस्था नहीं पाये हैं। अतः उनको अव्यहार राशि के जीव यानी असांव्यवहारिक जीव कहा जाता है। अब उनमें से निकल कर जो जो जीव पृथ्वीकायिकपन इत्यादि पाते हैं वे व्यवहारिक राशि के अर्थात् सांव्यवहारिक जीव कहे जाते हैं। व्यवहार राशि में भी जीव अनंत हैं।

जीवों के प्रकारः—

जैन दर्शन जीवों के विभाग इस प्रकार बताते हैं:—सब से पहले तो जीवों के मुख्य दो प्रकार हैं। एक, संसारी; और दूसरा, मुक्त। मनुष्य, तिर्यंच इत्यादि गतिमें जो संसरण अर्थात

परिभ्रमण करते हैं, वे संसारी हैं, और जो संसार से मुक्त हो गए हैं, वे मुक्त याने मोक्ष के जीव हैं। संसारी जीवों के भी दो प्रकार हैं, त्रस और स्थावर। स्वेच्छा से हलन-चलन करने वाले जीव त्रस जीव हैं, और जो स्वयं अपने आप हलन चलन नहीं कर सकते हैं, वे स्थावर जीव कहे जाते हैं। इन स्थावर जीवों को पाँच इन्द्रियों में से मात्र एक स्पर्शेन्द्रिय वाला शरीर होता है। अतः इन जीवों को मात्र स्पर्श का अनुभव होता है, परन्तु स्वाद आदि का अनुभव नहीं होता है। जब, त्रस जीवों को रसनेन्द्रिय इत्यादि और भी इन्द्रिय प्राप्त होती है। अतः, त्रस जीव के ४ भेद होते हैं:—

(१) द्वीन्द्रिय जिसे स्पर्शन और रसना, इस प्रकार दो ही इन्द्रियों वाला शरीर मिला है, –उदाहरण के रूप में समुद्र में शंख, कौडी, जोंक, जलजंतु इत्यादि, वे वस्तुका रस भी समझ सकते हैं परन्तु गंधका अनुभव नहीं कर सकते हैं।

(२) त्रीन्द्रिय ये जीव हैं कि जिन्हें उक्त दो इन्द्रियों के उपरान्त तीसरी घ्राणेन्द्रिय वाला शरीर मिला होता है; उदाहरण के तौर पर चीटी, खटमल, मकोड़े, जू, धान्यकीट इत्यादि असंख्य कीड़े जो चीज की गंध को भी परख सकते हैं, परन्तु चीज को दृष्टि से देख सकते नहीं हैं।

(३) चतुरिन्द्रिय जिन्हें उपर्युक्त तीनों इन्द्रियों के अलावा चक्षुइन्द्रिय वाला शरीर मिला है, जैसे कि मक्खी, भ्रमर, मच्छर, टिड्डु, बिच्छू इत्यादि, वे देख सकते हैं, परन्तु सुन सकते नहीं हैं।

(४) पंचेन्द्रिय जीव, अर्थात् जिन्हें उक्त चार इन्द्रियों के उपरान्त पांचवी श्रोत्र-इन्द्रिय वाला शरीर मिला है, जैसे कि नारक तिर्यंच, मनुष्य और देव; ये जीव देखने के उपरान्त सुन भी सकते हैं। इन में मनुष्य और तिर्यंचों के दो-दो प्रकार हैं। संज्ञी और असंज्ञी। संज्ञी अर्थात् जिन्हें संज्ञा यानी विचारशक्ति वाला मन मिला है; जब कि असंज्ञी को मन नहीं होता हैं।

स्थावर जीव कि जिन्हें एक मात्र स्पर्शनेन्द्रिय वाला शरीर और स्वेच्छासे न हिल सके ऐसी स्थिर स्थिति मिली है, इन जीवों के ५ भेद होते हैं। (१) पृथ्वीकायिक, यानी पृथ्वी ही जिसकी काया है। मिट्टी, पत्थर, धातु, नमक या, रत्न इत्यादि को ही शरीर के रूपमें धारण करनेवाला जीव। (२) अप्कायिक जीव, अर्थात् पानी को ही शरीर के रूपमें धारण करने वाला जीव, जैसे कि वर्षा का पानी, कुएँ, नदी, समुद्र का पानी, बर्फ, कुहरा इत्यादि। (३) तेजस्कायिक अर्थात् अग्नि, विद्युत, दीप, चिनगारी इत्यादि शरीर है जिनके ऐसे जीव। (४) वायुकायिक जीव, यानी पवन, हवा, झंझावात इत्यादि जिसका शरीर है, वह जीव। (५) वनस्पतिकायिक जीव अर्थात् बीज, वृक्ष, पत्र, पुष्प, फल, धान्य, साग, इत्यादि को ही शरीर रूप से धारण करनेवाले जीव। वनस्पतिकाय जीव के दो प्रकार हैं:—(१) एक एक जीवका एक शरीर हो वह प्रत्येक वनस्पतिकायिक, और (२) जो अनंतानंत जीवों का एक एक साधारण शरीर हो, वह साधारण वनस्पतिकायिक जीव। जैसे कि कंदमूल, सेवाल, फूग इत्यादि।

प्रत्येकवनस्पति-कायिक सिवाय पांचों स्थावरकाय जीव, सूक्ष्म और बादर (स्थूल) इस प्रकार, दो प्रकार के होते हैं। इन पांचों सूक्ष्म स्थावरकाय जीवों से सारा विश्व हमेशा भरा हुआ रहता है। सूक्ष्मसाधारण वनस्पतिकायपन में जो जीव अनादिकाल से जन्म-मृत्यु पाते हैं और अद्यापि अन्य किसी जीव-विभाग में नहीं गए हैं, उन्हें असांव्यवहारिक अर्थात् अव्यवहार राशि के जीव कहा जाता है। परन्तु जो जीव इससे छूट कर पृथ्वीकायिकादि अवस्था में आये,-वहां तक की वे फिर सामान्य वनस्पतिकाय में गए भी हों, फिर भी एक बार दूसरे व्यवहार में आ गए होने से, उन्हें व्यवहार राशि के ही जीव कहा जाता है।

अरिहंत परमात्मा समस्त सांव्यवहारिक, असांव्यवहारिक और मुक्त जीवों के अर्थात् जीव मात्र के हितभूत हैं, मात्र जीवों के लिए ही नहीं परन्तु समस्त जीव और अजीव याने पांचों अस्तिकाय स्वरूप लोक के हितकारी हैं। अस्तिकायों का वर्णन पहले किया गया है। इनमें सत् वस्तु मात्र अर्थात् सारा विश्व आ जाता है।

काल अस्तिकाय या स्वतंत्र द्रव्य नहीं:—

प्रश्नः—पहले तो जीव, धर्म, अधर्म, पुद्गल और काल, इस प्रकार छः द्रव्य बताये थे; यहाँ पांच द्रव्य क्यों लिए गए? क्या काल अस्तिकाय नहीं है? क्या वह विश्व में नहीं है?

उ०—काल अस्तिकाय नहीं है। यह इसलिए कि अस्तिकाय है प्रदेशों का समूह; ('अस्ति'= प्रदेश, सूक्ष्म में सूक्ष्म अंश; और उनका 'काय'=समूह।) काल में सूक्ष्म में सूक्ष्म अंश समय है। परंतु जब देखा जाय तब वर्तमान एक ही समय उपस्थित होता है, समयों का समूह नहीं। क्यों कि वर्तमान समय के सिवाय के पहले के समय नष्ट हो चुके हैं और भावी समय अभी उत्पन्न ही नहीं हुए हैं, फिर वे कैसे समुदाय-रूप में हो सके? इसी लिए कहा गया है कि विश्व में कभी भी लभ्य ऐसा काल तो समय स्वरूप ही होता है, नहीं कि समयों का समूह अर्थात् अस्तिकाय स्वरूप। जब कि जीव, धर्म, इत्यादि तो अस्तिकाय रूप में मिलते हैं। फिर भी नय विशेष से अर्थात् अमुक दृष्टि से काल स्वतंत्र द्रव्य स्वरूप भी है, अथवा वस्तु का पर्याय स्वरूप भी है, जिस की वजह जीवादि पदार्थों में छोटी उम्र-बड़ी उम्र, नयापन-पुरानापन, समय, क्षण, प्रहर इत्यादि वर्तनाएँ हुआ करती हैं।

इस पंचास्तिकाय लोक में अलोक का भी समावेश हो जाता है।

प्र०—अलोक का अर्थ तो लोक नहीं, फिर उसका लोक में समावेश किस प्रकार होता है?

उ०—पांच अस्तिकाय लोक में आकाशास्तिकाय तो गिना ही है। उस में ही लोकाकाश और अलोकाकाश अर्थात् लोक और अलोक दोनों मिल जाते हैं। इसी लिए पंचास्तिकाय लोक में अलोक का भी समावेश हो जाता है। फर्क केवल यही रहता है कि पंचास्तिकाय लोक में 'लोक'शब्द का अर्थ है 'जिसका अवलोकन हो, ज्ञान हो, वह वस्तुमात्र'। यही लोक शब्द का व्युत्पत्ति-अर्थ है। लेकिन इस पंचास्तिकाय लोक में समाविष्ट अलोकका वाचक 'अलोक' शब्द

(ल०—'हित' शब्दार्थः-) तदेवंविधाय लोकाय हिताः। यथावस्थितदर्शनपूर्वकं सम्यक्प्ररूपणाचेष्टया तदायत्यबाधनेनेति च। इह यो यं याथात्म्येन पश्यति, तदनुरूपं च चेष्टते भाव्यपायपरिहारसारं, स तस्मै तत्त्वतो हित इति हितार्थः।

(पं०) यथावस्थितेत्यादि, 'यथावस्थितं'=अविपरीतं, 'दर्शनं'=वस्तुबोधः, 'पूर्वं'=कारणं, यत्र तद् यथावस्थितदर्शनपूर्वकं, क्रियाविशेषणमेतत्। 'सम्यक्प्ररूपणाचेष्टया'=सम्यक्प्रज्ञापनाव्यापारेण, 'तदायत्यबाधनेन' 'तस्य'=सम्यग्दर्शनपूर्वकं प्रज्ञापितस्य,'आयतौ'=आगामिनि काले,'अबाधनेन'=अपीडनेन, 'इति च'=अनेन च हेतुना, हिता इति योगः। एतदेवभावयन्नाह 'इह'=जगति, 'यः'=कर्त्ता,'यं'=कर्मतारूपं, 'याथात्म्येन'=स्वस्वरूपानतिक्रमेण, 'पश्यति'=अवलोकते, 'तदनुरूपं च'=दर्शनानुरूपं च, 'चेष्टते'= व्यवहरति, 'भाव्यपायपरिहारसारम्' अनुरूपचेष्टनेऽपि भाविनमपायं परिहरन्नित्यर्थः; न पुनः सत्यभाषि-लौकिककौशिकमुनिवत् भाव्यपायहेतुः। 'स'=एवंरूपः'तस्मै'=यथात्म (प्रत्यन्तरे....याथात्म्य) दर्शनादिविषयीकृताय, 'हितः'=अनुग्रहहेतुः, 'इति'=एवं, 'हितार्थो'=हितशब्दार्थः।

उसका निषेध स्वरूप नहीं परन्तु रूढ 'लोक' शब्द के निषेधस्वरूप है, अतः कोई विरोध नहीं हैं। इस रूढ लोक की व्यवस्था पहले कही गयी इस प्रकार है, जितने आकाश भाग में अन्य द्रव्य रहते हैं, उतना भाग लोक है।

परमात्मा वस्तुमात्र के हितस्वरूप कैसे?

प्र०—परमात्मा असांव्यावहारिक जीव लोक के, मुक्त जीव लोक के, और आगे बढ़ कर पंचास्तिकाय में से अजीव द्रव्यों के हित स्वरूप कैसे ?

उ०—परमात्मा जीवों का और पंचास्तिकाय समस्त का यथावस्थित दर्शन करते हुए सम्यक् निरूपण करने की क्रिया करते हैं इसलिए, और सम्यग्दर्शन द्वारा उपदिष्ट किये पदार्थों को भावीकाल में कोई बाधा नहीं पहुँचाते हैं इसलिए, उनके हितस्वरूप हैं। परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी होने से उन को समस्त वस्तुओं के स्वरूप का यथार्थ दर्शन है, यथास्थित प्रत्यक्ष ज्ञान है। इसीलिए वे वस्तु की सम्यक् प्ररूपणा (उपदेश) करते हैं। यदि दर्शन यथार्थ न होता तो निरूपण भी सम्यक् न होता और गलत निरूपण से श्रोताओं को श्रवण के बाद वस्तु की उलटी समझ कराते और वस्तु को अन्याय करते फलतः वे हितरूप नहीं बन सकते। हित का अर्थ यह है, कि इस जगत में जो पुरुष जिस वस्तु को, उसका स्वरूप न चूकते हुए यथार्थ स्वरूप में देखता है, और देखने के अनुरूप व्यवहार करता है—यह व्यवहार भी आगामी अनर्थ को रोकनेवाला होता हो, वह पुरुष उस दर्शन के विषय के प्रति अनुग्रह का हेतु बनता है। इस से यह स्पष्ट है कि सत्यभाषी माने जाते लौकिक कौशिकऋषि की तरह जो भावी अनर्थ में कारणभूत है वह उसे हित रूप नहीं है उस के प्रति अनुग्रहका कारण नहीं कहा जा सकता, क्यों कि उसमें वास्तव यथार्थ दर्शन ही नहीं है।

(ल०—इष्टव्याख्या-प्रकारोः—) इत्थमेव तदिष्टोपपत्तेः । इष्टं च सपरिणामं हितं, स्वादुपथ्यान्नवदतिरोगिणः ।

(पं०—) 'इत्थमेव'=अनेनैव यथात्म(प्रत्य०....याथात्म्य)दर्शनादि प्रकारेण, 'तस्य'=सद्भूतदर्शनादिक्रियाकर्तुः, 'इष्टोपपत्तेः'=इष्टस्य क्रियाफलस्य चेतनेष्वचेतनेषु वा विषये क्रियायां स यां स्वगतस्य, चेतन विशेषेषु तु स्वपरगतस्य वा घटनात् । इष्टमेव व्याचष्टे,–इष्टं पुनः 'सपरिणामम्'=उत्तरोत्तरशुभफलानुबन्धि, 'हितं'=सुखकारि, प्रकृत हितयोगसाध्योऽनुग्रह इति भावः। दृष्टान्तमाह 'स्वादुपथ्यान्नवत्'=स्वादुश्च जिह्वेन्द्रियप्रीणकं, पन्था इव पन्थाः सततोलङ्घनीयत्वाद् भविष्यत्कालः तत्र साधु, पथ्यं च स्वादुपथ्यं, तच्च तदन्नं च, तद्वत् । 'अतिरोगिणः'=अतीतप्रायरोगवतः; अभिनवे हि रोगे 'अहितं पथ्यमप्यातुरे' इतिवचनात् पथ्यानधिकार एवेति । 'इतिरोगिणः' इति पाठे, 'इति'=एवंप्रकारः स्वादुपथ्यान्नार्हो यो रोगस्तद्वत इति । स्वादुग्रहणं तत्कालेऽपि सुखहेतुत्वेन विवक्षितत्वात् । अस्वादुत्वे च पथ्यस्याप्यतथाभूतत्वान्नैकान्तेनेष्टत्वमिति । उपचारतश्च स्वादुपथ्यान्नस्येष्टत्वं, तज्जन्यानुग्रहस्यैवेष्टत्वाद्, यथोक्तं :—

'कज्जं इच्छंतेणं अणंतरं कारणंपि इट्ठंति । जह आहारजतित्तिं इच्छंतेणेह आहारो ॥'

एवमिष्टहेतुत्वादियं क्रियाऽपि हितयोगलक्षणा इष्टा सिद्धेत्यत एव ।

दो प्रकार का इष्टः—

हित रूप का तात्त्विक अर्थ यही है कि यथार्थ दर्शनादि करते हुए भावी अनर्थ को पैदा न करना । सच्चे वस्तुदर्शनादि क्रिया करने वाले का इष्ट इसी प्रकार, यानी यथार्थ दर्शन, यथार्थ निरूपण, इत्यादि प्रकार से ही संपन्न हो सकता है । इस में इष्ट दो तरह का हो सकता हैः—

(१) यथार्थ दर्शनादि क्रिया, जो चाहे सामान्यतः चेतन जीव सम्बन्धित हो, या अचेतन जड़ वस्तु सम्बन्धित हो, लेकिन उस क्रिया से मात्र अपने में पापनिरोध स्वरूप संवर आदि का जो इष्ट लाभ होता है, वह एक प्रकार का इष्ट है; जैसे कि सिद्ध भगवान सम्बन्धी सत्य भाषण करने में सिद्ध भगवान को तो नहीं परन्तु वक्ता को संवरादि का लाभ होता है ।

(२) यदि वह यथार्थ दर्शनादि क्रिया अमुक विशेष जीव सम्बन्धी हो, तो इस क्रिया से अपने और सामने वाले के लिए जो लाभ हो वह दूसरे प्रकार का इष्ट है; जैसे कि 'वनस्पति में जीव है', ऐसा सत्य दर्शन और सत्य भाषण किया जाय, तो इस से अपने को संवरादि का लाभ होता है, और वनस्पतिकाय जीव को जीव के रूप में परिचय देने से, अन्य लोग उस की हिंसा नहीं करेंगे, इस दृष्टि से उस जीव को भी अभय, अक्लेश को लाभ होता है । इस प्रकार दो तरह का इष्ट यथार्थ दर्शनादि पर ही घट सकता है ।

इष्ट इस प्रकार भावी अनर्थ को रोकने वाला है यह तभी कहा जा सकता है जब कि वह सपरिणाम हित हो, अर्थात् वह इष्ट तत्काल भी सुखकारी हो यानी कल्याण प्रवृत्ति से साध्य उपकार रूप हो, एवं उत्तरोत्तर भी शुभफल की परंपरा का सर्जक हो। जैसे कि, जिसे रोग

(ल०–विपरीतबोधादवश्यं पापबन्धः)–अतोऽन्यथा तदनिष्टत्वसिद्धिः, तत्कर्तुरनिष्टाप्तिहेतुत्वेन; अनागमं पापहेतोरपि पापभावात्।

(पं०) एवं व्यतिरेकमाह 'अतः'=उक्तरूपाद् 'यो यं याथात्म्येन पश्यती'त्यादिकात् प्रकारात्, 'अन्यथा'=प्रकारान्तरेण चेष्टायां, 'तदनिष्टत्वसिद्धिः'-'तस्याः'=चेष्टायाः–अनिष्टत्वम्=असुखकारित्वं, तस्य सिद्धिः=निष्पत्तिः। कथमित्याह 'तत्कर्तुः'=प्रकारान्तरेण चेष्टाकर्तुः, 'अनिष्टाप्तिहेतुत्वेन' अनिष्टं चेहाशुभं कर्म, तस्य आप्तिः=बन्धः, तस्या हेतुत्वेन प्रकारान्तरचेष्टायाः। अयमभिप्रायो, विपर्यस्तबोधो विपरीतप्रज्ञापनादिना चेतनेष्वचेतनेषु वाननु (वानु०....प्र०) रूपं चेष्टामानोऽननुरूपचेष्टनेऽपि भाविनमपायमपरिहरन्नियमतोऽशुभकर्म्मणा बध्यते। परेषु त्वनिष्टाप्तिहेतुः स स्यान्नवेत्यनेकान्तः; अचेतनेषु न स्याच्चेतनेषु स्यादपीति भावः।

नष्ट प्राय हुआ हो, ऐसे पुरुष के लिए जिह्वेन्द्रिय को रुचिकर स्वादिष्ट पथ्य अन्न वर्तमान काल में तो सुखकारी लगता ही है, परन्तु उत्तरोत्तर भी पुष्टिवर्धक बनता जाता है। 'पथ्य' का अर्थ है पथ में योग्य। पथ का अर्थ सतत प्रसार करने योग्य ऐसा भावी काल होता है; तो जो भावी काल के लिये योग्य है वह पथ्य है। जिसे रोग नया याने अभी अभी शुरू हुआ हो, ऐसे मनुष्य के लिए, 'अहितं पथ्यमप्यातुरे' इस वचन से पुष्टिकारक पदार्थ भी अहितकर बनता है। अतः उसको पथ्य के लिए अधिकार ही नहीं है। (यहाँ ललितविस्तरा में "अतिरोगिणः" पाठ के बदले "इतिरोगिणः" पाठ भी मिलता है, वहाँ अर्थ होगा कि तथाप्रकार के रोग वाले को अर्थात् जो रोग स्वादिष्ट पथ्य अन्न ही के लिए योग्य है, ऐसे रोग वाले को ऐसा पथ्य हित रूप बनता है।) इस में पथ्य को स्वादिष्ट लेने का तात्पर्य यह है कि वह तत्काल में भी सुखकारी होगा। यदि पथ्य स्वादिष्ट न हो तो वह वर्तमान में सुख का कारण न बनने से एकान्त रूप से इष्ट नहीं कहा जा सकता। यहाँ इतना ध्यान रखा जाय कि यह स्वादिष्ट पथ्य अन्न को जो इष्ट कहा, वह उपचार से इष्ट समझना; क्यों कि सचमुच इष्ट तो इससे जो उपकार होता है, वही है। कहा गया है कि, :—

कज्जं इच्छंतेणं अणंतरं कारणं पि इट्ठंति। जह आहारजतित्तिं इच्छंतेणेह आहारो ॥

अर्थात् कार्य की इच्छा वाले को उसके पूर्व का कारण भी इष्ट होता है। जैसे कि यहाँ आहार से होनेवाली तृप्ति की जिसे इच्छा है उसे आहार भी इष्ट होता है। इस प्रकार कल्याणप्रवृत्ति स्वरूप यह क्रिया भी इष्ट का कारण होने से इष्ट स्वरूप सिद्ध होती है। इसीलिए ऐसी क्रिया को भी इष्ट कहा जाता है।

विपरीत दर्शनसे अहित कैसे ?:—

प्रस्तुत में–पहले जो कहा गया कि वस्तु को जो यथार्थ स्वरूप में देखता है, और उसके अनुरूप वर्ताव करता है वह उस वस्तु के प्रति हितरूप है; इसीको निषेध रूपसे ऐसा कहा जा सकता है कि इस प्रकार को छोड़कर अन्य रीति से दर्शन और वर्ताव करने से अनिष्टता, असुख-

ननु परेष्वहितयोगस्यानैकान्तिकत्वे कथं तत्कर्त्तुरनिष्टाप्तिहेतुत्वमनैकान्तिकं प्रकारान्तरचेष्टनस्ये-त्याशङ्क्याह **'अनागमम्'**=आगमादेशमन्तरेण, **'पापहेतोरपि'**=अयथावस्थितदर्शनादेरकुशलकर्मकारणात् **'पापभावाद्'**=अकुशलकर्मभावात् । पापहेतुकृतात् पुनः परेष्वपायात् पापभाव एवेति **'अपि'** शब्दार्थः । अयमभिप्रायः,—आगमादेशेन क्वचिदपवादे जीववधादिषु पापहेतुष्वपि प्रवृत्तस्य न पापभावः स्याद् ,अन्यथा तु प्रवृत्तौ परेषु प्रत्यपायाभावेऽपि स्वप्रमाददोषभावान्नियमतः पापभाव इति तत्कर्त्तुरनिष्टाप्तिहेतुत्वमैकान्तिकमिति ।

कारिता उत्पन्न होती है । क्यों कि यह अन्य प्रकार का दर्शन—बर्ताव उस के कर्ता को अशुभ कर्म का बंध कराने में कारणरूप बनता है । अभिप्राय यह है कि जो यथार्थ दर्शन न करते हुए विपरीत दर्शन करता है, वह बाद में उसके अनुसार विपरीत प्ररूपणा करते हुए चेतन या जड़ के प्रति अनुचित बर्ताव करता है अथवा एकाध बार उचित बर्ताव करता भी हो तो भी विपरीत दर्शन के कारण वह भावी अनर्थ को रोक सकता नहीं है । इससे वह स्वयं अशुभ कर्म से बन्धा जाता है; और विशेष में अन्य के प्रति अनिष्ट का कारण बननेका संभव है, शायद न भी बने, एकान्त नहीं है, सामनेवाला जड़ पदार्थ हो तो उसे कुछ भी अनिष्ट याने दुःख होने वाला नहीं है, परन्तु यदि चेतन हो तो अनिष्ट हो भी सकता है ।

प्र०—यथार्थ दर्शनादि से विरुद्ध बर्ताव करने में यदि अन्य को अनिष्ट का योग होने का निश्चित न हो तो उस विरुद्ध बर्ताव करने वाले को निश्चित अनिष्ट प्राप्त होगा, यह भी कैसे कहा जा सकता है ?

आगमविरुद्धाचरण ही मुख्य पापहेतु :—

उ०—कहने में कारण यह है कि आगमशास्त्र के आदेश को छोड कर पाप के हेतु में प्रवर्तने से पाप लगता ही है । विपरीत दर्शनादि करने पर अशुभ कर्मोपार्जन अवश्य होता है; अर्थात् अयथार्थ दर्शनादि करने वाले को तो अशुभ कर्म लग ही जाता है । फिर इससे प्रतिव्यक्ति को भी कुछ अनिष्ट होता हो तो इसकी बजह भी पाप लगता ही है । अभिप्राय यह है कि जहाँ आगम द्वारा किसी संयोग में अपवाद रूप से जीवहिंसादि विहित किया गया हो वहां उस में प्रवृत्त होने से, पापभाव नहीं होता है । उदाहरणार्थ, साधु शास्त्राज्ञानुसार नदी पार करे या श्रावक अभिषेकादि जिनपूजा करे तो उस में पाप नहीं लगता है । ऐसे तो हिंसा पाप का कारण है, फिर भी यहाँ शास्त्रविहित अपवाद होने से इससे अशुभकर्म का बंध नहीं होता है । इससे विपरीत शास्त्राज्ञा—विरुद्ध बर्ताव करे तो पाप जरूर लगता है; जैसे कि साधु नीचे देखे बिना चले और उसमें किसी जीव का अनिष्ट याने हिंसा शायद न भी हुइ हो, तो भी उसमें साधु की अपनी तो प्रमाद दशा ही होने से अपने लिए अशुभ कर्म का उपार्जन अवश्य होता ही है । अतः कहा जाता है कि यथार्थ दर्शना से विरुद्ध वर्तन करने वाला पुरुष अन्य के लिए अनिष्ट करता हो या न करता हो लेकिन अपने लिए तो अनिष्ट प्राप्ति में निमित्त बनता ही है ।

(ल०—इतरेतरापेक्षः कर्तृकर्म्मभकारः।)

(पं०)—ननु इदमपि कथं निश्चितं यदुत अनागमं पापहेतोरप्यवश्यं पापभाव इत्याशङ्क्याह 'इतरेतरापेक्षः'=परस्पराश्रितः, 'कर्तृकर्म्मभकारः'=कारकभेदलक्षणः। कर्ता कर्म्मपेक्ष्य व्यापारवान् कर्म्म च कर्त्तारमिति भावः। यथा प्रकाश्यं घटादिकमपेक्ष्य प्रकाशकः प्रदीपादिः, तस्मिश्च प्रकाशके सति प्रकाश्यमिति, तथा विपर्यस्तबोधादिपापहेतुमान् पापकर्त्ता पुमानवश्यं तथाविधकार्यरूपपापभाव एव स्यात्, पापभावोऽपि तस्मिन् पापकर्त्तरीष्यतः स्थितमेतद् यदुत प्रकारान्तरचेष्टनस्यानिष्टत्वसिद्धिः, हितयोगविपरीतत्वात्, विषयं प्रत्यहितयोगत्वं चेति।

कर्तृभाव-कर्मभाव परस्पर सापेक्ष हैः—

प्र०—यह निश्चित रूप से कैसे कहा जाय कि आगमबाह्य पापजनक बर्ताव करने से पापभाव ही होता है?

उ०—कर्तृ-कर्मभाव अर्थात् कर्तृत्व और कर्मत्व परस्पर आश्रित हैं। क्रिया का कोई भी कर्ता है तो उसकी अपेक्षा से कर्म है; और कर्म है तो कोई कर्ता भी है। दृष्टान्त के लिए, प्रकाश क्रिया का कर्म घट इत्यादि है तो उस कर्म घट आदि की अपेक्षा से कर्ता दीप प्रकाश देने की क्रिया करने वाला भी है। ऐसे प्रकाश करने वाले दीप की अपेक्षा से प्रकाश्य घट इत्यादि कर्म भी है। इसी प्रकार प्रस्तुत में भी शास्त्र से विपरीत बोध, विपरीत उपदेश, इत्यादि पापहेतु वाला पुरुष पापहेतुभूत पापक्रिया का कर्ता तभी कहा जा सकता है कि जब उस क्रिया के कर्म के रूप में तथाविध कार्यस्वरूप पाप है। तथा पाप भी क्रिया के कर्म के रूप में तभी गिना जा सकता है कि पापक्रिया का कर्ता यदि कोई है। सारांश कि आगम के आदेश को छोडकर की जाती दूसरे प्रकार की वस्तुदर्शनादि-प्रवृत्ति अयथार्थ होती हुई अवश्य पापजनक होने से अनिष्ट रूप है। क्यों कि वह यथार्थ दर्शनादि रूप स्वहित की प्रवृत्ति से विपरीत है। उतना ही नहीं परन्तु जिस विषय में विपरीत दर्शन आदि प्रवृत्ति की जाती है, उस विषय के प्रति भी वह कई बार अहितकारी बनती है। जैसे कि पृथ्वीकायादि स्थावरजीव का जीव के रूप में यथार्थ दर्शन न करे और जड के रूप में मिथ्यादर्शन, एवं मिथ्याभाषण करे, तो फलतः श्रोताओं में उन जीवों की हिंसा की प्रवृत्ति जो होती है, उससे उन जीवों को भी अहित-अनिष्ट पहुँचता है। तब यहाँ प्रश्न उठेगा किः—

प्र०—अयथार्थ दर्शनादि यदि किसी जड़ सम्बन्धी हो, तो उस में उस जड़ का क्या अहित होगा? क्यों कि जड़ वस्तु के लिए तो इष्ट-अनिष्ट का प्रश्न ही नहीं उठता है। अतः ऐसे मिथ्यादर्शनादि के बाद जो क्रिया प्रवर्तित होगी, उसके फलस्वरूप कोई अनिष्ट उस जड़ को तो स्पर्श करने वाला है नहीं। फिर यदि कहेंगे कि वहाँ अहित का योग औपचारिक रूप से कहते हैं, तो समान न्यायसे यथार्थ दर्शनादि करने वाले में भी हितका योग औपचारिक रूप से घटा होगा, लेकिन वह ठीक नहीं है। क्यों कि ऐसे औपचारिक गुण पर वास्तविक

(ल०—जडाहितयोगः नौपचारिकः–) नाचेतनाहितयोग उपचरितः, पुनरागमकर्म्मकत्वेन।

(पं०–)नन्वेवं कथमचेतनेष्वहितयोगः, तत्साध्यस्य क्रियाफलस्यापायस्य तेषु कदाचिदप्यभावात्। यदि परमुपचरितः; तस्य चोपचरितत्वे हितयोगोऽपि तेषु तादृश एव प्रसजति। न च स्तवे तादृशस्य प्रयोगः, सद्भूतार्थविषयत्वात् स्तवस्य। ततः कथं सर्वलोकहिता भगवन्त इत्याशङ्कयाह 'न'=नैव, 'अचेतनाहितयोगः'अचेतनेषु=धर्मास्तिकायादिषु, अहितयोगः=अपायहेतुर्व्यापारो मिथ्यादर्शनादिः, 'उपचरितः'=अध्यारोपितोऽग्निर्माणवक' इत्यादाविवाग्नित्वम्। अत्र हेतुमाह 'पुनरागमकर्म्मकत्वेन,' पुनरागमेन=प्रत्यावृत्य कर्त्तर्येव क्रियाफलभूतापायभाजनीकरणेन, कर्म्म यस्य स पुनरागमकर्म्मको अचेतनाहितयोगः, तस्य भावस्तत्वं, तेन। उपचरितोऽहितभावो न मुख्यभावकार्यकारी माणवकाग्निवत्। अचेतनाहितयोगस्तु प्रत्यावृत्य स्वकर्त्तर्येव क्रियाफलमपायमुपरचयन्, परवधाय दुःशिक्षितस्य शस्त्रव्यापार इव तमेव घ्नन्, कथमुपचरितः स्यात्?।

स्तुति प्रवृत्त हो सकती नहीं है। स्तुति का विषय तो वास्तविक होना चाहिए। फिर यहाँ तो औपचारिक हितयोग एवं औपचारिक लोकहितकारिता की आपत्ति आने से प्रश्न होगा कि अर्हत् परमात्मा वास्तविक सर्वलोकहितकारी कैसे ?

जड संबन्धी विपरीतदर्शनादि कर्तामें अहितमापक हैः–

उ०–प्रश्न ठीक है। परन्तु हम यहाँ हितयोग या अहितयोग की वस्तु को औपचारिक मानते नहीं हैं, धर्मास्तिकायादि जड़ पदार्थों के बारे में प्रवर्तित अ–यथार्थदर्शन, मिथ्या–प्ररूपणा इत्यादि की क्रिया जो अहितयोग कराने वाली क्रिया है वह उपचार से नहीं परन्तु मुख्यतः अर्थात् सचमुच अहित के योग कराने वाली क्रिया है। विशेष यह है कि जड़ सम्बन्धी ऐसी क्रिया से अलबत्त जड को अहित नहीं होता है फिर भी क्रिया का फलभूत अहित–परिणाम कर्म में जाने के बदले परावर्तित होकर कर्ता को अपना भाजन बनाता है, अर्थात् अहितयोग उस कर्मभूत जड में नहीं, किन्तु विपरीत उपदेशादि के कर्ता जीव में होता है। तो अचेतन के अहित योग की क्रिया कर्ता में आ कर फलदायी होने से अहितभाव औपचारिक नहीं परंतु मुख्य हुआ। यदि औपचारिक होता तो मुख्य रूप से कार्य नहीं कर सकता। दृष्टान्त से 'यह माणवक नामक आदमी तो अंगार है' इस कथन में औपचारिक ढंग से अंगारपन का प्रतिपादन है क्यों कि वह अग्नि के मुख्य कार्य को करता नहीं है। परंतु यहाँ तो मुख्य रूपसे अहित का कार्य होता है; अतः औपचारिक नहीं कहा जा सकता। विशेष इतना कि अहित कर्म को नहीं, कर्ता को होता है। जैसे कि शस्त्र चलाने वालेने यदि उलटी शिक्षा पायी हो तब वह शस्त्र–प्रयोग तो प्रतिव्यक्ति के वध के लिए करेगा, किन्तु असल में तो वह अपना ही वध कर बैठेगा; तब भी 'इस शस्त्र–प्रयोग को औपचारिक नहीं कहा जाता है किन्तु 'सचमुच अमुकने अमुक के प्रति शस्त्र चलाया'

(ल०—)सचेतनस्यापि एवंविधस्यैव नायमितिदर्शनार्थः ।

(पं०—)एवं तर्हि सचेतनेष्वप्यहितयोगः पुनरागमकर्मक एव प्राप्त इति परवचनावकाशमाशङ्क्याह 'सचेतनस्यापि'=जीवास्तिकायस्य इत्यर्थः, 'अहितयोग' इति गम्यते, अचेतनस्य त्वस्त्येवेति 'अपि' शब्दार्थः । 'एवंविधस्यैव'=अचेतनसमस्यैव क्रियाफलभूतेनापायेन रहितस्यैव इत्यर्थः, 'न'=नैव, 'अयं'=प्रकृतोऽचेतनाहितयोगः, 'इति'=एतस्य पूर्वोक्तस्यार्थस्य, 'दर्शनार्थः'=ख्यापक इति भावः, अहितयोगात् सचेतने कस्मिंश्चित् क्रियाफलस्यापायस्यापि भावात् ।

ऐसा ही कहा जाता है । वैसे यहाँ भी अचेतन संबन्धी अहित-योग परावर्तित हो कर जब कर्ता में सचमुच आता है तब यह अहितव्यापार औपचारिक कैसे कहा जाए ? यहां प्रश्न हो सकता है कि—

प्र०—यदि जड़ सम्बन्धी की गई मिथ्याबोधादि क्रिया उस के कर्मभूत जड़ के बदले कर्तृभूत जीव में अहित करने वाली हो तो, जीव सम्बन्धी भी की गई मिथ्याबोधादि क्रिया कर्म में नहीं, परन्तु कर्ता में ही मुख्यतः अहित योग करे ऐसी आपत्ति क्यों नहीं ?

उ०—ऐसा एकान्त नहीं है । बेशक जिस जीव संबन्धी, जैसे कि मोक्ष के जीव के सम्बन्धी, मिथ्याबोधादि की क्रिया की गई, अर्थात् किसीने ऐसा मिथ्या मान लिया कि मुक्त जीव अणु है, वगैरह, और वैसी प्ररुपणा भी की, तो वह क्रिया उस मुक्त जीव को साक्षात् अहित नहीं करती है, वहाँ वह जीव तो अहित योग रूपी फल पाने के लिए जड़ के समान ही होता है; अर्थात् मिथ्याबोधादि क्रिया का अहित-योग रूपी फल जैसे विषयभूत जड़ में नहीं, उसी तरह उस मुक्त जीव में भी नहीं । अतः ऐसे ही जीव को, अचेतन-अहितयोग की तरह, साक्षात् अहितयोग नहीं, फिर भी पूर्वोक्त जो वस्तु कि मिथ्यादर्शनादि क्रिया का अहित योग स्वरूप फल परावर्तन हो कर कर्ता में होता है, इसलिए यह सूचक है कि वह क्रिया औपचारिक नहीं है । फिर कहीं अहित योग के पात्र बन सकने वाले जीव के सम्बन्धी मिथ्याबोधादि प्रवृत्ति तो उस प्रवृत्ति के कर्ता के अलावा उस पात्र में भी अहित-योग करता है और वहाँ अहितयोग करने का मुख्य प्रयोग उस रीति से होता है ।

कर्मत्व क्या फलाधायकत्वको कि कर्तृव्यापार को सापेक्ष ? :—

प्र०—तो फिर क्रिया का फल अहित जब खुद जड़ में नहीं आता है, तो वह जड़ वस्तु क्रिया का कर्म कैसे बनती है ? कर्म तो उसे ही कहा जा सकता है कि जिस में क्रिया का फल बैठता है, जैसे कि बढ़ई हवा को छीलता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता; परन्तु लकड़ी को छीलता है इस प्रकार बोला जाता है । क्यों कि बढ़ई लकड़ी छीलता है, इस वाक्य में छीलना क्रिया का फल खरोंच लकड़ी में आता है; इसीलिए वाक्य में लकड़ी को कर्म कहा गया है । इस प्रकार प्रस्तुत में जड़ को विषय बनाकर इसके मिथ्याबोधादि क्रिया में प्रवर्तित होने से अहित योग रूप फल यदि जड़ में होता हो तो उसके हिसाब से जड़ में कर्मत्व आ सके न ?

(ल०—कङ्कुटुकदृष्टान्तेन प्रयोगः—)कर्तृव्यापारापेक्षमेव तत्र कर्मत्वं, न पुनः स्वविकारापेक्षं, कङ्कटुकपक्तावित्थमपि दर्शनादिति लोकहिताः ॥ १२ ॥

(पं—)ननु यद्यचेतनेषु क्रियाफलमपायो न समस्ति, कथं तदालम्बनप्रवृत्ताहितायोगाक्षिप्तं तेषां कर्म्मत्वमित्याह 'कर्तृव्यापारापेक्षमेव'=मिथ्यादर्शनादिक्रियाकृतमेव, 'तत्र'=अचेतनेषु, 'कर्म्मत्वम्', अवधारणफलमाह 'न पुनः स्वविकारापेक्षं'=न स्वगतापायापेक्षम्। ननु कथमित्थं कर्म्मभाव इत्याशङ्क्याह 'कङ्कटुकपक्तावित्थमपि दर्शनादिति,' कङ्कटुकानां=पाकानर्हाणां मुद्गादीनां, 'पक्तौ=पचने, इत्थमपि= स्वविकाराभावेऽपि, 'दर्शनात्'=कर्म्मत्वस्य, 'कङ्कटुकान् पचती'ति प्रयोगप्रामाण्यादिति। एवं चाचेतनेषु हितयोगोऽपि मुख्य एव कर्तृव्यापारापेक्षयेति न तत्कारणिकत्वेन स्तवविरोध इति।

उ०—नहीं, ऐसा कोई नियम नहीं है, अपने में फल न बैठता हो तो भी वह कर्तृक्रिया की अपेक्षासे ही, न कि अपने में कुछ विकार–परावर्तन की अपेक्षासे, कर्म के रूप में प्रयुक्त होता है। जैसे कि प्रसंग पर कहा जाता है कि वह अच्छे मूँग नहीं पकाता, कङ्कटुक पकाता है। यह सही प्रयोग है। उस में, पाक क्रिया से होनेवाली नरमी का विकार जो फल है, वह कङ्कटुक मूँग में बिलकुल आता नहीं है; क्यों कि कङ्कटुक पकता ही नहीं है। फिर भी केवल कर्ता की प्रवृत्ति को लेकर 'वह कङ्कटुक को पकाता है' ऐसा प्रामाणिक प्रयोग होता है, और कङ्कटुक क्रिया का कर्म बनता है। इसी प्रकार मिथ्याबोध, मिथ्याभाषण इत्यादि क्रिया से अहित योग रूपी फल जड़ में न होने पर भी, उस क्रिया के कर्ता की ऐसी प्रवृत्ति के हिसाब से जड़ पदार्थ क्रिया का कर्म हो सकता है।

ठीक, इसी प्रकार यथार्थ दर्शनादि क्रिया से हित–योग भा जड़ पदार्थ में न होने पर भी उस क्रिया के कर्ता की ऐसी प्रवृत्ति के हिसाब से ही हित–योग जड़ वस्तु में उपचार से नहीं परन्तु मुख्य रूप से कहा जा सकता है। अतः स्तुती की गई कि अर्हत् परमात्मा जड़ चेतन समस्त लोक के यथार्थदर्शनादि करते होने से, लोगों के हित स्वरूप है यह स्तुति वाक्य यथार्थदर्शनादि क्रियाके कर्ता का हित प्रवृत्ति के हिसाबसे औपचारिक नहीं परन्तु मुख्य रूप से है। अतः स्तुति में कोई विरोध नहीं है।



१३. लोगपईवाणं (लोकप्रदीपेभ्यः)

(ल०—लोकः=प्रकाशितज्ञेयभावो विशिष्टसंज्ञिलोकः)

तथा 'लोकप्रदीपेभ्यः'। अत्र लोकशब्देन विशिष्ट एव तद्देशनांशुभिर्मिथ्यात्वतमोऽपनयनेन यथार्हं प्रकाशितज्ञेयभावः संज्ञिलोकः परिगृह्यते; यस्तु नैवंभूतः तत्र तत्त्वतः प्रदीपत्वायोगाद् अन्धप्रदीपदृष्टान्तेन यथा ह्यन्धस्य प्रदीपस्तत्त्वतोऽप्रदीप एव, तं प्रति स्वकार्याकरणात् तत्कार्यकृत एव च प्रदीपत्वोपपत्तेः; अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्। अन्धकल्पश्च यथोदितलोकव्यतिरिक्तस्तदन्यलोकः, तद्देशनांशुभ्योऽपि तत्त्वोपलम्भाभावात्; समवसरणेऽपि सर्वेषां प्रबोधाश्रवणात्; इदानीमपि तद्वचनतः प्रबोधादर्शनात्।

---

१३. लोगपईवाणं (प्रकाश पानेवाले लोक के प्रति प्रदीपरूप भगवान को नमस्कार)

अब 'लोगपईवाणं' पद यहां 'लोग' शब्द से समस्त जीव लोग नहीं किन्तु ऐसे विशिष्ट संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव लोग ही ग्राह्य हैं कि जिन्हें अर्हन् परमात्मा के देशना (उपदेश) स्वरूप किरणों से मिथ्यात्व-अन्धकार नष्ट होकर ज्ञेय पदार्थों का यथायोग्य प्रकाश होता है। ऐसे लोगों के ही प्रति प्रभु प्रदीप रूप हैं; क्यों कि जो ऐसा नहीं है अर्थात् प्रकाश ग्रहण के लिए समर्थ नहीं है उस के प्रति अन्धप्रदीप के दृष्टान्त से वस्तुगत्या प्रदीपरूपता नहीं बन सकती। दृष्टान्त इस प्रकार है,-जैसे अंधे के प्रति दीवा वस्तुतः दीवा ही नहीं हैं; कारण, उस के प्रति वह वस्तु दर्शन कराने का अपना कार्य ही करता नहीं है। दीपकपन तो, अपना कार्य कर सके, उस में ही सङ्गत हो सकता है। अगर ऐसा न हो, तो अतिप्रसङ्ग दोष लगेगा; अर्थात् घड़ा, दीवार आदि भी वस्तु प्रकाश कराने का कार्य न करते हुए भी दीपक क्यों न कहा जाए? इस प्रकार पूर्वोक्त प्रकाश ग्रहण समर्थ विशिष्ट संज्ञी लोक से भिन्न लोक अंधे समान है; क्यों कि उन्हें अर्हत् परमात्मा के उपदेश-किरणों से तत्त्व का प्रकाश नहीं होता है। प्रभु की देशनाभूमि जो समवसरण, उस में आये हुए सभी को प्रतिबोध होता है ऐसा शास्त्र में कहीं सुना जाता नहीं है। एवं अब भी शास्त्र में संगृहीत किये प्रभुवचन से सभी को बोध होने का दिखाई पडता नहीं है। तो अर्हत् प्रभु ऐसे अंधे तुल्य लोक के प्रति प्रदीप रूप नहीं है।

व्यवहार नये प्रदीप अर्थात् सर्व प्रति प्रदीपः--

प्र०—भगवान प्रदीप जैसे हैं इस कथन से तो सहज यह माना जा सकता है कि वे सब के लिए प्रदीप जैसे हैं। ऐसी मान्यता रखने में कोई आपत्ति हो सकती है?

उ०—हाँ, भगवान को अंध व्यक्तियों के प्रति प्रदीप माननेवालों की तरह सर्व के प्रति प्रदीप माननेवालों को भी यह आपत्ति आती है कि फिर ऐसी स्तुति करने की प्रवृत्ति तत्त्व-समझ रहित सिद्ध होगी। क्यों कि स्तुति योग्य परमात्मा में उसके अनुसार सब के प्रति प्रदीप का

(ल०—) तदभ्युपगमवतामपि तथाविधलोकदृष्ट्यनुसारप्राधान्यादनपेक्षितगुरुलाघवं तत्त्वोपलम्भशून्यप्रवृत्तिसिद्धेरिति। तदेवंभूतं लोकं प्रति भगवन्तोऽपि अप्रदीपा एव, तत्कार्याकरणादित्युक्तमेतत्।

(पं०—) तदभ्युपगमेत्यादि। 'तदभ्युपगमवतामपि'=सर्वप्रदीपा भगवन्तो, न पुनर्विवक्षितसंज्ञिमात्रस्यैवेत्यङ्गीकारवतामपि। न केवलं प्रागुक्तान्धकल्पलोकस्येति 'अपि' शब्दार्थः। तत्त्वोपलम्भशून्यप्रवृत्तिसिद्धेरित्युत्तरेण योगः। कुत इत्याह 'तथाविधलोकदृष्ट्यनुसारप्राधान्यात्' 'तथाविधः'=परमार्थतोऽसत्येऽपि तथारूपे वस्तुनि बहुरूढव्यवहारप्रवृत्तः स चासौ लोकश्च तथाविधलोकः, तस्य दृष्टिः=अभिप्रायो व्यवहारनय इत्यर्थः, तस्य अनुसारः=अनुवृत्तिः; तस्य प्राधान्यात्। इदमुक्तं भवति—सर्वप्रदीपत्वाभ्युपगमे भगवतां लोकव्यवहार एव प्राधान्येनाभ्युपगतो भवति, न वस्तुतत्त्वमिति। लोकव्यवहारेण हि यथा प्रदीपः प्रदीप एव, नाप्रदीपोऽपि, कटकुड्यादीनामेवाप्रदीपत्वेन रूढत्वात्, तथा भगवन्तोऽपि सर्वप्रदीपा एव, न तु केषाञ्चिदनुपयोगादप्रदीपा अपि। ऋजुसूत्रादिनिश्चयनयमतेन तु यद् यत्र नोपयुज्यते तत् तदपेक्षया न किञ्चिदेव; यथाह मङ्गलमुद्दिश्य भाष्यकारः :—

कार्य करने का कार्य देखा नहीं है फिर भी सर्व के प्रदीप के रूप में स्तुति-प्रवृत्ति की गई ! ऐसी स्तुति करने में तो लोक-दृष्टि ही मुख्यतः रहेगी। लोक दृष्टि क्या है ? परमार्थ से असत् वस्तु के ज्ञापक ऐसे अतिरूढ व्यवहार में प्रवर्तक लोक का अभिप्राय। उसका अनुसरण करना यह मुख्य माना गया, परन्तु वस्तु-तत्त्व यानी वास्तविक वस्तुस्थिति को नहीं। वास्तविक वस्तुस्थिति तो यह है कि परमात्मा की वाणी का योग पा कर केवल विशिष्ट संज्ञी भव्य जीव ही बोध पाते हैं। अतः उसके लिए ही परमात्मा प्रदीप तुल्य हैं। तो उसके अनुसार ही स्तुति करनी चाहिए। लेकिन यहाँ इस चीज को स्वीकार न करने वाला और सर्वप्रदीप रूप में स्तुति करनेवाला मनुष्य लोकव्यवहार को ही मुख्य मानता है, ऐसा माना जायेगा। क्यों कि लोक-व्यवहार कहता है कि "भाई ! दीपक वह दीपक ही है, अदीपक नहीं है। अदीपक के रूप में तो घट, दीवार इत्यादि ही प्रचलित हैं। इसी तरह यदि भगवान प्रदीप है तो सर्व के लिए प्रदीप ही हैं, तब जिन्हें उनका उपयोग नहीं है, उनके लिए भी प्रदीप ही हैं अप्रदीप नहीं हैं।" यह व्यवहार नय की बात हुई।

निश्चयनये प्रदीप अर्थात् अंध के प्रति प्रदीप नहीं:—

परंतु ऋजुसूत्रादि निश्चनय मत के हिसाब से जिसका जहाँ कोइ उपयोग न हो वहाँ वह उसकी अपेक्षा से कोई वस्तु ही नहीं है। जैसे कि, मंगल को ले कर विशेषावश्यक भाष्य के रचयिता कहते हैं कि "ऋजुसूत्र नयमत से तो जो मंगल अपना है, और वह भी वर्तमान है, यानी सत् है, वही एक मंगल है, परन्तु परकीय मङ्गल या भूत-भविष्य का असत् मंगल वह मंगल नहीं है। जैसे कि गधे का शींग बिलकुल असत् है, अवर्तमान है, तो वह अपने लिए कोई चीज नहीं है; एवं परधन अपने लिए अनुपयोगी होने से अपनी दृष्टि से कोई चीज नहीं है, अर्थात् वह धन ही नहीं है, अ-धन है; इसी प्रकार भगवान भी प्रदीप के रूप में मर्यादित संख्या के

'उज्जुसूयस्स सयं संपयं च जं मंगलं तयं एक्कं। नाईयमणुप्पन्नं मंगलमिठं परकं वा॥
नाईयमणुप्पन्नं, परकीयं वा पओयणाभावा। दिठंतो, तो खरसिंगं, परधणमहवा जहा विहलं'॥ ति,

ततो भगवन्तोऽपि संज्ञिविशेषव्यतिरेकेणान्यत्रानुपयुज्यमाना अप्रदीपा एवेति। कथमित्याह '**अनपेक्षितगुरुलाघवं**'–(१) 'गुरुः' निश्चयनयः, तदितरो 'लघुः,' तयोर्भावो '**गुरुलाघवं**' सद्भूतार्थविषयः सम्यक्स्तवः; गुरुपक्षश्च तत्राश्रयितुं युक्तो, नेतरः, इति तत्त्वपक्षोपेक्षणात् अनपेक्षितं गुरुलाघवं यत्र तद्यथा भवतीति क्रियाविशेषणमेतत्। (२) यद्वा गुणदोषविषयं गुरुलाघवमपेक्ष्य प्रेक्षावतोऽपि क्वचिद् व्यवहारतस्तत्त्वोपलम्भशून्या प्रवृत्तिः स्यात्। न चासावत्र न्यायोऽस्तीत्यतस्तन्निषेधार्थमाह **अनपेक्षितगुरुलाघव**मिति। तत् किमित्याह '**तत्त्वोपलम्भशून्यप्रवृत्तिसिद्धेः**,' **तत्त्वोपलम्भशून्या**=व्यवहारमात्राश्रयत्वेन न स्तवनीयस्वभावसंवित्तिमती, **प्रवृत्तिः** प्रस्तुतस्तवलक्षणा, तस्याः **सिद्धेः**=निष्पत्तेः। तद्देशनांशुभ्योपि तत्त्वोपलम्भाभावादिति पूर्वेण सम्बन्ध इति।

अमुक संज्ञी जीवों के सिवा अन्य के उपयोग में न आने के कारण, अंध के समान अन्य लोगों के लिए वे अप्रदीप ही हैं। इस वस्तुस्थिति का अनुसरण करना चाहिए,–ऐसा निश्चयनय का मत है।

गुरु–लघु भाव का विचार:—

परन्तु इस वस्तु का अनुसरण न करें और भगवान् को सब के प्रति प्रदीप मानने वाले व्यवहार नय का अनुसरण कर के यदि स्तुति की जाय, तो इससे एसा फलित होगा कि निश्चय–व्यवहार के गुरु–लघु भाव का विचार न किया, किन्तु उपेक्षा की। गुरु–लघुभाव की उपेक्षा का तात्पर्य यह कि–उस में यह न देखा कि निश्चयनय का पक्ष गुरु है, उच्च कोटिका है, जब कि व्यवहार नय का पक्ष लघु है और यह नीची कोटि का है। निश्चय पक्ष यह गुरु पक्ष यानी गौरव वाला पक्ष इसलिए है कि उसे वास्तविक वस्तु को ही विषय बनाने वाली सम्यक् स्तुति मान्य है। ऐसे गुरु पक्ष का अवलम्बन करना युक्त है, लघु पक्ष का नहीं। फिर भी प्रभु को सर्वप्रदीप के रूप में स्तुति करने वाली प्रवृत्ति में तात्त्विक पक्ष की उपेक्षा होती है। इसीलिए ऐसी प्रवृत्ति तत्त्व–समझ रहित साबित होती है। गुरुलाघव को अन्य तरह से देखा जाय तो गुरु–लघु भाव का अर्थ है गुणदोषों का छोटा–बड़पन। अर्थात् किस कार्य में या किस वस्तु में लाभ अधिक और हानि कम है तथा उससे उलटा कहाँ हानि अधिक और लाभ कम है, उसका विचार करके अधिक लाभ वाले कार्य या वस्तु को ग्रहण किया जाय तो यह गुरु–लघु भाव की अपेक्षा रख कर किया गया, ऐसा कहा जायेगा। प्रेक्षावान अर्थात् विचारक पुरुष भी उस अपेक्षा को रख कर शायद अधिक लाभ के हिसाब से कहीं तात्त्विकता को न देखने पर भी व्यवहार से प्रवृत्ति करते हैं, ऐसा बनता है; परन्तु यह न्याय यहाँ गणधर महर्षि द्वारा की गई स्तुति–प्रवृत्ति में लागू नहीं हो सकता, क्यों कि उस स्तुति में भगवान् को सर्व–प्रदीप कहने से, अन्ध जैसे लोगों के प्रति भी प्रदीप जैसे कहने का आता है और इस में कोई ऐसा विशेष लाभ नहीं है कि जिससे कहा जा सके कि 'भाई! गुरु–लघु भाव की अपेक्षा से ऐसा कहने की आवश्यकता है'। फलतः सर्व–

(ल०–सामर्थ्यं वस्तुस्वभावानुलङ्घि–) न चैवमपि भगवतां भगवत्त्वायोगः वस्तुस्वभावविषयत्वादस्य; तदन्यथाकरणे तत्त्वायोगात्। स्वो भावः स्वभावः, आत्मीया सत्ता, स चान्यथा चेति व्याहतमेतत्। किं च, एवमचेतनानामपि चेतनाकरणे समानमेतदित्येवमेव भगवत्त्वायोगः, इतरेतरकरणेऽपि स्वात्मन्यपि तदन्यविधानात्, यत्किञ्चिदेतद्, इति यथोदितलोकापेक्षयैव लोकप्रदीपाः १३ ॥

(पं०–) 'तदन्यथाकरणे तत्त्वायोगादि'ति, तस्य=जीवादिवस्तुस्वभावस्य अन्यथाकरणे=अस्वभावीकरणे भगवद्भिः, तत्त्वायोगात्=तस्य वस्तुस्वभावस्य स्वभावत्वायोगात्। 'किं'चेत्यादि, किञ्चेत्यभ्युच्चये, 'एवम्'=अविषयेऽसामर्थ्येनाभगवत्त्वप्रसञ्जने, 'अचेतनानामपि'=धर्मास्तिकायादीनां, किं पुनः प्रागुक्तविपरीतलोकस्याप्रदीपत्वे इति 'अपि' शब्दार्थः, 'चेतनाऽकरणे'=चैतन्यवतामविधाने, 'समानं'=तुल्यं प्राक्प्रसञ्जनेन, 'एतद्'=अभगवत्त्वप्रसञ्जनम्, 'इति'=अस्माद्धेतोः, 'एवमेव'=अप्रदीपत्वप्रकारेणैव, 'भगवत्त्वायोग' उक्तरूपः। अभ्युपगम्यापि दूषयन्नाह 'इतरेतरकरणेऽपि' इतरस्य=जीवादेः, इतरकरणेऽपि=अजीवादिकरणे 'अपिः' अभ्युपगमार्थे, 'स्वात्मन्यपि'=स्वस्मिन्नपि, 'तदन्यस्य'=व्यतिरिक्तस्य महामिथ्यादृष्ट्यादेः, 'विधानात्'=करणात्। न चैतदस्त्यतः 'यत्किञ्चिद्' 'एतद्'=अभगवत्त्वप्रसञ्जनमिति।

प्रदीप के रूप में स्तुति करने में तो केवल व्यवहार मात्र का आश्रय लिया ऐसा हुआ; और इसीलिए तो प्रस्तुत स्तुति–प्रवृत्ति स्तुतिपात्र के वास्तविक स्वभाव की समझ रहित सिद्ध होगी। अतः मानना होगा कि भगवान लोक–प्रदीप अर्थात् विशिष्ट संज्ञी लोकों के प्रति ही प्रदीप हैं, अंध समान लोगों के प्रति प्रदीप नहीं है, क्यों कि ऐसे लोगों को प्रभु के देशनादि–किरणों से तत्त्वप्रकाश नहीं मिलता है।

सारांश कि ऐसे लोगों के प्रति अनंत ज्ञान और अनन्त प्रभावशाली परम पुरुष अर्हत् परमात्मा भी प्रदीप स्वरूप नहीं हैं, क्योंकि प्रदीप का कार्य प्रकाश करने का है, वह वे करते नहीं हैं। यह वस्तु कही गई है।

अनंत प्रभाव भी वस्तु स्वभाव को परिवर्तित नहीं कर सकता

प्र०—तो फिर, भगवान में अमुक जीवों के प्रति प्रकाश सामर्थ्य न होने से, क्या उनमें अनंत प्रभावशालिता का अभाव माना नहीं जायेगा?

उ०—नहीं, प्रभावशालिता का अभाव नहीं माना जायेगा। क्योंकि प्रभाव, यह वस्तु के स्वभाव को ही विषय बनाता है। वस्तु का जो स्वभाव होगा, उसे अन्यथा न करते हुए ही कर्ता अपने प्रभाव से कार्य कर सकेगा, स्वभावविरुद्ध नहीं। जैसे कि निपुण कुम्भार मिट्टी में से घड़ा बना सकता है, रेती या पानी में से नहीं। अन्यथा प्रभाव से, यदि उस उस जीवादि वस्तु का स्वभाव ही बदल कर कार्य करेंगे तो फिर वस्तु का वह स्वभाव ही नहीं रहेगा। वस्तु के स्वभाव

से विरुद्ध कार्य करने पर तो वस्तु का स्वभाव ही उड़ जाता है। क्यों कि स्वभाव का अर्थ है स्व का भाव; अर्थात् स्वकीय अस्तित्व याने अपनापन; अब उसे अगर बदला जाय तो ऐसा बनेगा, कि वस्तु अपनापन वाली भी है और विपरीतपन वाली भी है; जैसे कि माता भी है और वंध्या भी है। लेकिन यह कहना व्याहत है, वदतो-व्याघात है। इसलिए मानना चाहिए कि किसी समर्थ के द्वारा भी वस्तु का स्वभाव बदला जा सकता नहीं है। इसीलिए अर्हत् प्रभु का प्रभाव, एसे स्वभाव वाले संज्ञी लोगों को ही, ज्ञान-प्रकाश देने का है, सर्व जीवों को नहीं। फिर भी वहां अमुक जीवों को बोध न हो, इसमें परमात्मा के प्रभाव की कमी नहीं है, परन्तु उस उस जीव-वस्तु के स्वभाव की कमी है। सामर्थ्य या प्रभाव तो वस्तु-स्वभाव की अपेक्षा रख कर कार्यकर होता है; यानी योग्य विषय की अपेक्षा रखता है।

अनंत सामर्थ्य वाले क्या अचेतन को चेतन कर सकते हैं? :—

प्र०—तब तो प्रकाश के विषय न बनने वालों के प्रति तो प्रभु अप्रभावशाली यानी असमर्थ होंगे न?

उ०—नहीं, इस प्रकार यदि असमर्थ कहेंगे तो प्रभु में केवल अंध लोगों के प्रति प्रकाश करने की सामर्थ्य के अभाव की क्या बात,एसे तो उनमें धर्मास्तिकायादि जड चेतन द्रव्यों को चेतन करने की सामर्थ्य भी न होने से समान दोष खड़ा होगा। अर्थात् परमात्मा जिस प्रकार अंध लोगों के प्रति प्रदीप रूप बन सकते नहीं हैं वैसे अचेतन-जड़ को भी चेतन बना सकते नहीं है; तो वे क्या असमर्थ, अप्रभावशाली, अभगवान् कहे जायेंगे? एसा नहीं है। अतः कहिये कि जो कोई समर्थ है, वह योग्य विषय के प्रति ही समर्थ हो सकता है। इस दृष्टि से अर्हत् प्रभु विशिष्ट संज्ञी लोक के प्रति प्रदीप रूप हैं। और इसीलिए अन्य अयोग्य जीव के प्रति प्रदीपरूप न बन सकने के कारण अभगवान-असमर्थ नहीं कहा जा सकता। यदि अयोग्य के प्रति भी एसी सामर्थ्य मान लें तो तो इससे अचेतन को चेतन और चेतन को अचेतन करने वाली सामर्थ्य क्यों न मानी जाय? और यदि एसा हो तो अपने को भी महा मिथ्यादृष्टि इत्यादि स्वरूप अन्य कुछ भी करने की सामर्थ्य क्यों न मानें? परन्तु ऐसा नहीं है। इसलिए, प्रभु को अमुक संज्ञी जीवों के प्रति ही प्रदीपरूप कहने में असमर्थता की यानी अ-भगवानपन की आपत्ति देना यह गलत है। अतः सिद्ध है कि अर्हन् परमात्मा पूर्वोक्त विशिष्ट संज्ञी भव्य जीवों की अपेक्षा से ही लोकप्रदीप हैं।



१४. लोगपज्जोअगराणं (लोकप्रद्योतकरेभ्यः)

(ल०--लोकः=उत्कृष्टमतिश्रीगणधराः) तथा, 'लोकप्रद्योतकरेभ्यः'। इह यद्यपि लोक-शब्देन प्रक्रमाद् भव्यलोक उच्यते, "भव्यानामालोको वचनांशुभ्योऽपि दर्शनं यस्मात्। एतेषां भवति तथा, तद्भावे व्यर्थ आलोकः॥" इति वचनात्; तथाप्यत्र लोकध्वनिनोत्कृष्टमतिः भव्यसत्त्वलोक एव गृह्यते, तत्रैव तत्त्वतः प्रद्योतकरणशीलत्वोपपत्तेः।

(पं०--) 'प्रक्रमाद्' इति आलोकशब्दवाच्यप्रद्योतोपन्यासान्यथानुपपत्तेरिति, 'भव्यानाम्' इत्यादि, भव्यानां नाभव्यानामपि, 'आलोकः'=प्रकाशः सद्दर्शनहेतुः श्रुतावरणक्षयोपशमः। इदमेवान्वयव्यतिरेकाभ्यां भावयन्नाह 'वचनांशुभ्योऽपि'=प्रकाशप्रधानहेतुभ्यः, किं पुनस्तदन्यहेतुभ्य इति 'अपि'शब्दार्थः; 'दर्शनं'=प्रकाश्यावलोकनं, 'यस्मादि'ति हेतौ, 'एतेषां'=भव्यानां, 'भवति'=वर्त्तते, 'तथा' इति यथा दृश्यं वस्तु स्थितम्। ननु कथमित्थं नियमो, भव्यानामप्यालोकमात्रस्य वचनांशुभ्यो भावात्? इत्याह 'तदभावे'=तथादर्शनाभावे, 'व्यर्थः'=अकिञ्चित्करस्तेषाम् 'आलोकः'। स आलोक एव न भवति, स्वकार्यकारिण एव वस्तुत्वात्। 'इतिवचनात्'=एवंभूतश्रुतप्रामाण्यात्।

---

१४. लोगपज्जोअगराणं (गणधरजीवों को प्रद्योतकारी को)

अब 'लोगपज्जोअगराणं' (लोकप्रद्योतकरेभ्यः) पद में अलबत्त प्रकरण वश तो 'लोक' शब्द से भव्य लोक लिया जाता है, अभव्य नहीं, क्यों कि अन्यथा 'प्रद्योत' शब्द का उपन्यास सङ्गत हो सकता नहीं है। प्रद्योत कहो या आलोक कहो, इसका अर्थ विशिष्ट प्रकाश होता है; और ऐसा विशिष्ट ज्ञानप्रकाश तो भव्य जीवों को ही हो सकता है। शास्त्रप्रमाण भी ऐसा मिलता है कि

'भव्यानामालोको वचनांशुभ्योऽपि दर्शनं यस्मात्।
एतेषां भवति तथा, तदभावे व्यर्थ आलोकः॥'

आलोक अर्थात् प्रकाश, जो कि श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम स्वरूप है और समीचीन दर्शन का कारण है, वह भव्य जीवों को ही होता है, नहीं कि अभव्य जीवों को। क्यों कि इस बात को अन्वय और व्यतिरेक से अर्थात् विधि एवं निषेध-मुख से सोचते हुए कहते हैं कि, अन्य साधनों से तो क्या, लेकिन प्रकाश के मुख्य साधनभूत अर्हद्-वचन रूपी किरणों से भी प्रकाश द्वारा यथार्थ दर्शन भव्यों को ही हुआ देखते हैं; दृश्य वस्तु जिस रूप में अवस्थित है उस रूप में ही उन्हीं को दर्शन होता है।

प्र०--इस प्रकार का नियम कैसे कि भव्यों को भगवद्-वचन से आलोक द्वारा सद्-दर्शन होता ही है? क्यों कि भव्यों को भी जिनवचन रूपी किरणों द्वारा आलोक मात्र होना और दर्शन न होना संभवित है न?

(ल०-) तथाप्यत्र लोकध्वनिनोत्कृष्टमतिः भव्यसत्त्वलोक एव गृह्यते, तत्रैव तत्त्वतः प्रद्योतकरणशीलत्वोपपत्तेः ।

(पं०-) 'तथापि'=एवमपि, 'अत्र'=सूत्रे, 'लोकध्वनिना'=लोकशब्देन, 'उत्कृष्टमतिः'= औत्पत्तिक्यादिविशिष्टबुद्धिमान् गणधरपदप्रायोग्य इत्यर्थः। 'भव्यसत्त्वलोक एव' न पुनरन्यः। यो हि प्रथमसमवसरण एव भगवदुपन्यस्तमातृकापदत्रयश्रवणात् प्रद्योतप्रवृत्तौ दृष्टसमस्ताभिलाप्यरूपप्रद्योत्यजीवादिसप्ततत्त्वो रचितसकलश्रुतग्रन्थः सपदि सञ्जायते स इह गृह्यते इति। कुत एतदेवमित्याह 'तत्रैव'=उत्कृष्टमतावेव भव्यलोके, 'तत्त्वतो'=निश्चयवृत्त्या, 'प्रद्योतकरणशीलत्वोपपत्तेः'='(१) उप्पन्ने इ वा, (२) विगमे इ वा, (३) धुवे इ वा' इति पदत्रयोपन्यासेन प्रद्योतस्य प्रकृष्टप्रकाशरूपस्य तच्छीलतया विधानघटनात्। प्रद्योतकशक्तेस्तत्रैव भव्यलोके कार्त्स्न्येनोपयोग इतिकृत्वा ।

उ०—नहीं, आलोक हो, और सद्दर्शन न हो, वैसा बन सकता नहीं है। क्यों कि यदि उन्हें वैसा दर्शन न होता हो तो फिर उनका आलोक व्यर्थ जाएगा; वह आलोक ही न होगा। वस्तु वही है जो अपना कार्य करती है। आलोक का कार्य सद् दर्शन पैदा करना है। वह अगर आलोक से पैदा न होता हो, तो आलोक आलोक कैसे कहा जाए ? अतः भव्यों को आलोक होने पर दर्शन होता ही है।

सारांश कि, अलबत्त 'लोकप्रद्योतकर' पद में 'लोक' शब्द से भव्य को लेना है, फिर भी इस सूत्र में लोक शब्द से उत्कृष्ट मति वाला ही भव्य जीवलोक लेना है, किंतु अन्य नहीं। 'उत्कृष्ट मति वाला' से तात्पर्य है औत्पातिकी इत्यादि विशिष्ट बुद्धि वाले ऐसे गणधर-पद के योग्य को लेना।

चार प्रकार की बुद्धिः—इन्द्रिय और मन से होने वाले २८ भेदवाले मतिज्ञान के अलावा औत्पातिकी आदि चार प्रकार की प्रकट होने वाली बुद्धि भी मतिज्ञान में मानी जाती हैः-(१) औत्पातिकी बुद्धि अर्थात् बहुत विचारपरिश्रम के बिना सहज स्वभावतः तत्क्षण प्रकट होने वाली हाजिर-जवाबी योग्य बुद्धि। (२) वैनयिकी बुद्धि अर्थात् गुरु आदि के विनय से प्रकट हो वस्तुस्वरूप के मर्म को बराबर पकड़नेवाली बुद्धि। (३) कार्मिकी बुद्धि याने शिल्प इत्यादि कर्म के बार बार अभ्यास से प्रकट हुई हो और कुशाग्र हो, ऐसी बुद्धि। (४) परिणामिकी बुद्धि वह कही जाती है कि जो अन्तिम परिणाम पर दृष्टि डाल कर व्यवस्थित रूप से प्रकट होती है।

गणधर कौन ?:—(१)इन औत्पातिकी आदि विशिष्ट बुद्धि जिन्होंने आत्मसात् की है तथा (२) जिनकी आत्मा में अरिहंत प्रभु द्वारा प्रथम समवसरण में ही बताए गए तीन मातृका पद (मूलभूत तीन पद-त्रिपदी) को सुनकर प्रद्योत अर्थात् उत्कट प्रकाश प्रवर्तित होता है, और (३) इससे प्रद्योत के विषयभूत जीव, अजीव इत्यादि सात तत्त्वों में समाविष्ट होने वाले समस्त अभिलाप्य (शब्द से बताया जा सके ऐसे) पदार्थों का जिन्हें दर्शन हुआ है, विशिष्ट बोध हुआ है, तथा (४) इसी से जो तत्काल सकल श्रुतग्रंथ अर्थात् द्वादशांग आगम की रचना करनेवाले बनते हैं,

(ल०–१४ पूर्विषट्स्थान) अस्ति च चतुर्दशपूर्वविदामपि स्वस्थाने महान् दर्शनभेदः, तेषामपि परस्परं षट्स्थानश्रवणात् ।

(पं०–) अमुमेवार्थं समर्थयन्नाह 'अस्ति'=वर्तते, 'च'कारः पूर्वोक्तार्थभावनार्थः, 'चतुर्दशपूर्वविदामपि' आस्तां तदितरेषामिति 'अपि'शब्दार्थः 'स्वस्थाने'=चतुर्दशपूर्वलब्धिलक्षणे, 'महान्'=बृहत्, 'दर्शनभेदो'=दृश्यप्रतीतिविशेषः, कुत इत्याह . 'तेषामपि'=चतुर्दशपूर्वविदामपि, किं पुनरन्येषामसंक्लिष्टश्रुतग्रन्थानामिति 'अपि' शब्दार्थः, 'परस्परम्'=अन्योन्यं, 'षट्स्थानश्रवणात्'=षण्णां वृद्धिस्थानानां हानिस्थानानां चानन्तभागासंख्येयभागसंख्येयभागसंख्येयगुणासंख्येयगुणानन्तगुणलक्षणानां शास्त्र उपलम्भात् ।

वे गणधर कहे जाते हैं। उन्ही उत्कृष्ट मतिवाले भव्य जीव को यहाँ 'लोक' शब्द से लेना है।

प्रश्न होगा कि ऐसा क्यों ? उत्तर यह है कि तीर्थंकर देव द्वारा मात्र ऐसे उत्कृष्ट मतिवाले भव्य जीवों में ही त्रिपदी के दानपूर्वक वस्तुस्थिति से उत्कृष्ट प्रकाश उत्पन्न करने का होता है। यह त्रिपदी इन तीन पदों की बनी हुई है:—१. 'उप्पन्ने इ वा' अर्थात् सत् मात्र उत्पन्न होता है; २. 'विगमे इ वा' अर्थात् सत् मात्र का नाश होता है; ३. 'धुवे इ वा' सत् मात्र ध्रुव होता है। इस त्रिपदी का उपन्यास से मात्र गणधर जीवों में ही उत्कृष्ट श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम यानी उत्कृष्ट प्रकाश, जिसे प्रद्योत कहते हैं, वह निष्पन्न होता है। अर्हत् प्रभु केवल उन्हीं की अपेक्षा प्रद्योतकरण के स्वभाववाले होना सङ्गत हो सकता है; क्यों कि प्रभु की प्रद्योतक शक्ति का संपूर्णता से उपयोग वहां ही हो सकता है।

१४ पूर्वधर में षट्स्थानः—

प्र०—गणधर देवों की तरह और चौदह 'पूर्व' नाम के शास्त्रज्ञान की लब्धिवालों को भी उच्च कोटि का प्रकाश तो होता है, तो उनको भी यहां लोक शब्द से ले कर उनको भी प्रद्योत करनेवाले अर्हत् प्रभु हैं ऐसा कहा जा सकता है न ? प्रभु केवल गणधर जीवों के लिए ही प्रद्योतकर हैं, ऐसा क्यों ?

उ०—'लोक' शब्द से और तो क्या किन्तु अन्य चौद पूर्वधर भी नहीं लिए जा सकते। क्यों कि उनमें भी अपनी अपनी चौद पूर्वों की ज्ञानलब्धि में बडा दर्शनभेद होता है; अर्थात् चौद पूर्वियों के पूर्वो से वक्तव्य पदार्थों के ज्ञान में बहुत बड़ा अंतर होता है। कारण, ऐसे तो वे सभी समस्त १४ पूर्वोका सूत्र और अर्थसे ज्ञान रखने वाले होते हैं, परन्तु शास्त्रों से पता चलता है कि दूसरे अपूर्ण श्रुतज्ञान वालों की तो क्या बात, किंतु संपूर्ण चौदह पूर्वों के ज्ञानवाले भी परस्पर की अपेक्षा से षट्स्थान वाले होते हैं; वे 'षट्स्थान–पतित' अर्थात् वृद्धि और हानि विषयक षट्स्थान में रहे हुए कहलाते हैं। अर्थात् वे न्यून या अधिक ज्ञानपर्यायवाले होते है।

शास्त्रों में बोध आदि की वृद्धि और हानि, इन प्रत्येक के षट्स्थान इस प्रकार मिलते हैं:–१ अनंतभागवृद्ध, २ असंख्येयभागवृद्ध, ३ संख्येयभागवृद्ध, ४ संख्येयगुणवृद्ध, ५ असंख्येयगुणवृद्ध, ६ अनंतगुणवृद्ध; इस प्रकार १ अनंतभागहीन, २ असंख्येयभागहीन...यावत् ६ अनंतगुणहीन। इसका

(ल०—) न चायं सर्वथा प्रकाशाभेदे। अभिन्नो ह्येकान्तेनैकस्वभावः; तन्नास्य दर्शनभेद-हेतुतेति।

(पं०—) यद्येवं ततः किम् ? इत्याह 'न च', 'अयं'=महान् दर्शनभेदः, 'सर्वथा प्रकाशाभेदे'= एकाकार एव श्रुतावरणादिक्षयोपशमलक्षणे प्रकाशे इत्यर्थः। एतदेव भावयति 'अभिन्नो'=ऽनानारूपो, 'हिः'=यस्माद्, 'एकान्तेन'=नियमवृत्त्या, 'एकस्वभावः'=एकरूपः प्रकाश इति प्रकृतम्। एकान्तै-नैकस्वभावे हि प्रकाशे द्वितीयादिस्वभावाभाव इति भावः। प्रयोजनमाह 'तत्'=तस्मादेकस्वभावत्वात्, 'न', 'अस्य'=प्रकाशस्य, 'दर्शनभेदहेतुता'=दृश्यवस्तुप्रतीतिविशेषनिबन्धनता।

तात्पर्य यह है कि सभी चौदह पूर्वी महर्षियों को चौदह पूर्वों के सूत्र और अर्थों का ज्ञान होने पर भी उसके पदार्थों के ज्ञात पर्याय इन छः में से एक दूसरे से किसी प्रकार हीन या अधिक होते हैं। कोई एक चौदह पूर्वी के ज्ञात पर्याय दूसरे चौदह पूर्वी के ज्ञात पर्याय की अपेक्षा अनंतभाग अधिक या असंख्यभाग अधिक...इत्यादि हो सकते हैं। इस नाप को उदाहरणसे देखें। असत् कल्पना से मानों कि एक को कुल अरब पर्यायों का ज्ञान है, अब उसके अनंतवाँ भाग अर्थात् उदाहरण के तौर पर ५०० वाँ भाग, असंख्यातवाँ भाग अर्थात् ५० वाँ भाग, और संख्या-तवाँ भाग अर्थात् ५ वाँ भाग, इस प्रकार जो आयेगा इतना हीन या अधिक। तब संख्येयगुण इत्यादि की परिभाषा यह है कि संख्यातवाँ भाग, असंख्यातवां भाग और अनंतवाँ भाग लेना।

	अनंतभाग	असंख्येयभाग	संख्येयभाग	संख्येयगुण	असंख्येयगुण	अनंतगुण
हीन	५०० वा भागहीन =२० लक्षहीन =९९८० लक्ष	५० वा भागहीन =२ करोड़हीन =९८०० लक्ष	५ वा भागहीन =२० करोड़हीन =८० करोड़	२० करोड़	२ करोड़	२० लक्ष
वृद्ध	१ अरब २० लक्ष	१ अरब २ करोड़	१ अरब २० करोड़	५ अरब	५० अरब	५०० अरब

इस प्रकार परस्पर में महान ज्ञान-तारतम्य अर्थात् दर्शन-भेद होता है। उसके प्रति श्रुत-ज्ञानावरण कर्म का भिन्न भिन्न क्षयोपशम स्वरूप प्रकाश काम करता है। इससे, यदि सब को अभिन्न यानी एकरूप श्रुतावरण-क्षयोपशम माना जाय तो उसके कार्य रूप से यह महान दर्शन-भेद घटित नहीं हो सकता। अभिन्न प्रकाश में तो नियमा एक स्वभाववाला क्षयोपशम है, उसमें एक ही प्रकार का दर्शन (दृश्यवस्तु का बोध) कराने की ताकत हो सकती है। तात्पर्य कि एकान्त एक स्वभाववाले प्रकाश याने क्षयोपशम में दूसरा तीसरा स्वभाव हो सकता नहीं है। फलतः क्षयोपशम एक ही स्वभाववाला होने के कारण वह ज्ञेय वस्तु की एकरूप प्रतीति कराए, परन्तु भिन्न भिन्न प्रकार की प्रतीति नहीं करा सकता। कारण आगे बताते हैं,—

(ल०-) स हि येन स्वभावेनैकस्य सहकारी, तत्तुल्यमेव दर्शनमकुर्वन्, न तेनैवापरस्य, तत्तत्त्वविरोधादिति भावनीयम् । (पं०)-एतदेव भावयति 'स हि' = प्रकाशो(हि) 'येन स्वभावेन' आत्मगतेन 'एकस्य' द्रष्टुः, 'सहकारी' = सहायो दर्शनक्रियायां साध्यायां, 'तत्तुल्यमेव प्रथमद्रष्टृसममेव 'दर्शनं' वस्तुबोधम् 'अकुर्व्वन्' अविदधानो, न 'तेनैव' = प्रथमद्रष्टृसहकारिस्वभावेन (एव), अप-रस्य'=द्वितीयस्य द्रष्टुः सहकारीति गम्यते। कुत इत्याह 'तत्तत्त्वविरोधाद्', अतुल्यदर्शनकरण तस्य=एकस्वभावस्यापरद्रष्टृसहकारिणः, तत्त्वं=प्रथमद्रष्टृसहकारित्वं पराभ्युपगतं, तस्य, विरोधात्= अपरद्रष्टृसहकारित्वेनैव निराकृतेः। 'इति'=एतत्, 'भावनीयं'=अस्य भावना कार्या,-कारणभेदपूर्वको हि निश्चयतः कार्यभेदः। ततोऽविशिष्टादपि हेतोर्विशिष्टकार्योत्पत्त्यभ्युपगमे, जगत्प्रतीतं कारणवैचित्र्यं व्यर्थमेव स्यात्; कार्यकारणनियमो वाऽव्यवस्थितः स्यात्, तथाचोक्तम्

"नाकारणं भवेत्कार्यं, नान्यकारणकारणम्। अन्यथा न व्यवस्था स्यात् कार्यकारणयोः क्वचित् ॥"

स्वभावभेद क्यों ? :—

एक ही स्वभाव का क्षयोपशम भिन्न भिन्न प्रकार का बोध क्यों नहीं करा सकता है, इस में हेतु यह है कि कोई एक क्षयोपशम रूप प्रकाश अपने एक निश्चित स्वभाव से एक द्रष्टा को एक ही दर्शन-क्रिया में सहकारी कारण बनता है। अन्य द्रष्टा को अगर उसके समान दर्शन वह न कराता हो, तो कहना होगा कि वह क्षयोपशम दूसरे द्रष्टा को दर्शन कराने में उसी स्वभावसे सहकारी नहीं बन सकता। उसका भावार्थ यह है कि पहले कहे अनुसार१४ पूर्वियों के वस्तुबोध में तरतमता होती है। और उनको, उसका बोध होने में, सहकारी कारणभूत है श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम। अब यदि वह क्षयोपशम एक ही स्वभाव वाला हो तो वह सभी बोध करनेवाले चौदह पूर्वियों को एक समान ही बोध कराएगा। परन्तु बोध यदि समान नहीं है, किन्तु विभिन्न प्रकार का है, तो मान लेना चाहिए कि उसमें कारणभूत क्षयोपशम सब के लिए एक ही स्वभाववाला नहीं है, किन्तु विभिन्न स्वभाव वाला है। यदि वैसे विभिन्न प्रकार के स्वभावों का स्वीकार न किया जाय तो इस प्रकार उसके स्वरूप का विरोध खड़ा होता है :-जब भिन्न भिन्न द्रष्टा के दर्शन परस्पर समान नहीं हैं तब जैसे कि उन दो में से दूसरे द्रष्टा को दर्शन कराने में उपयोगी एक प्रकाश का जो स्वभाव है उसमें पहले द्रष्टा को उपयोगीपन मानना, वह व्याहत है, यानी दूसरे द्रष्टा के उपयोगीपन से ही निषेधित होता है। दोनों के दर्शन यदि अलग, तो दर्शन-उपयोगी प्रकाश-स्वभाव भी जुदा। इसीलिए स्वभावमें रहा हुआ एक के लिए उपयोगीपन, वह अपने में दूसरे के लिए उपयोगिपन होने का निषेध कर देता है। अर्थात् वह हो सकता ही नहीं है। ऐसे स्वभाव विभिन्न होने से उस उस स्वभाव वाले क्षयोपशम याने प्रकाश भी अलग अलग होते हैं। यह वस्तु विचारणीय है। कार्यों में जो भेद होता है, वह कारणभेद पूर्वक होता है। अर्थात् यदि कार्य अलग, तो उसका कारण अलग होना ही चाहिए। उसके बदले समान कारण मान कर

(ल०-) इतरेतरापेक्षो हि वस्तुस्वभावः, तदायत्ता च फलसिद्धिः। इति उत्कृष्टचतुर्दशपूर्वविल्लोकमेवाधिकृत्य प्रद्योतकरा इति लोकप्रद्योतकराः।

(पं०-) भावनिकां स्वयमप्याह 'इतरेतरापेक्षः,' 'हिः' यस्मादर्थे 'इतरः'=कारणवस्तुस्वभावः 'इतरं'=कार्यवस्तुस्वभावं, कार्यवस्तुस्वभावश्च कारणवस्तुस्वभावम्, 'अपेक्षते'=आश्रयते, इतरेतरापेक्षः 'वस्तुस्वभावः'=कार्यकारणरूपपदार्थस्वतत्त्वम्। ततः किम्? इत्याह 'तदायत्ता च'=कार्यापेक्षकारणस्वभावायत्ता च, 'फलसिद्धिः'= कार्यनिष्पत्तिः। यादृक् प्रकाशरूपः कारणस्वभाववस्तादृक् दर्शनरूपं कार्यमुत्पद्यते, इति भावः। 'इति'=अस्मात्प्रकाशभेदेन दर्शनभेदाद्धेतोः 'उत्कृष्टचतुर्दशपूर्वविल्लोकमेव' नान्यान् षट्स्थानहीनश्रुतलब्धीन् 'अधिकृत्य'=आश्रित्य 'प्रद्योतकरा इति'। एवं चेदमापन्नं यदुत भगवत्प्रज्ञापना-प्रद्योतप्रतिपन्ननिखिलाभिलाप्यभावकलापा गणधरा एवोत्कृष्टचतुर्दशपूर्वविदो भवन्ति गणधराणामेव भगवतः प्रज्ञापनाया एव उत्कृष्टप्रकाशलक्षणप्रद्योतसम्पादनसामर्थ्यात्। एवं तर्हि गणधरव्यतिरेकेणान्येषां भगवद्वचनादप्रकाशः प्राप्नोतीति चेत्? न, भगवद्वचनसाध्यप्रद्योतैकदेशस्यैतेषु भावाद्, दिग्दर्शकप्रकाशस्येव पृथक् पूर्वादिदिक्ष्विति।

इनसे भिन्न प्रकार का कार्य बनने का मान लें, तो जगत में यह उक्ति जो प्रसिद्ध है कि 'विभिन्न कार्यों के लिए कारण भिन्न भिन्न होते हैं,'-वह व्यर्थ जायेगी। तात्पर्य कि एक ही प्रकार के कारणों में से भिन्न भिन्न प्रकार के कार्य कैसे उत्पन्न हों? कहा है,

नाकारणं भवेत्कार्यं नान्यकारणकारणम्। अन्यथा न व्यवस्था स्यात् कार्यकारणयोः क्वचित्॥

कोइ भी कार्य कारण के बिना भी पैदा हो सके एसा नहीं है; और दूसरे प्रकार के कार्य के कारण से भी जन्म पा सकता नही है। अन्यथा कहीं भी ऐसी व्यवस्था नहीं बन सकेगी कि अमुक कार्य अमुक कारण से ही हो। अगर ऐसा व्यवस्था न हो, तो किसी भी कारण से कोई भी कार्य क्यों न हो जाए?

ग्रन्थकार स्वयं इसकी भावना बतलाते हुए कहते हैं कि कार्य-कारण स्वरूप वस्तु-स्वभाव यानी स्वतत्त्व परस्पर सापेक्ष होते हैं। कारण वस्तु का स्वभाव कार्य वस्तु के स्वभाव की अपेक्षा करता है; एवं कार्यवस्तु का स्वभाव कारण वस्तु के स्वभावकी अपेक्षा करता है; तात्पर्य, कार्य-सापेक्ष जो कारण है इस के स्वभाव के आधीन रहती है कार्यकी निष्पत्ति। अतः प्रस्तुत में देखें तो प्रकाश रूप कारण का जैसा स्वभाव होगा, वैसा दर्शन रूप कार्य उत्पन्न होगा। अब, जब चौद पूर्वियों को दर्शन भिन्न भिन्न रूपके होते हैं, तब उनके कारण रूप में भिन्न भिन्न प्रकाश-स्वभाव मानने होंगे। अन्य चतुर्दश पूर्वियों में इसी प्रकाश-भिन्नता से निष्पन्न दर्शन-भिन्नता का वजह कहा जाता है कि श्री अर्हत्परमात्मा उन षट्स्थानहीन श्रुतलब्धि वालों की अपेक्षा प्रद्योतकर अर्थात् उत्कृष्ट प्रकाशकर नहीं हैं, किन्तु चौदह पूर्वोके उत्कृष्ट ज्ञान से संपन्न गणधर लोगों की अपेक्षा प्रद्योतकर हैं। दूसरे ढंग से कहें तो यह प्राप्त होता है कि भगवान के उपदेश वश

(ल०–प्रद्योत्यविचारः–)प्रद्योत्यं तु सप्तप्रकारं जीवादितत्त्वम्। सामर्थ्यगम्यमेतत्, तथाशाब्दन्यायात्। अन्यथा अचेतनेषु प्रद्योतनायोगः, प्रद्योतनं प्रद्योत इति भावसाधनस्यासम्भवात्।

(पं०–) एवं प्रद्योतकरसिद्धौ प्रद्योतनीयनिर्द्धारणायाह 'प्रद्योत्यं तु'=प्रद्योतविषयः पुनः, 'सप्तप्रकारं'=सप्तभेदं, 'जीवादितत्त्वं'=जीवाजीवाश्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षलक्षणं वस्तु, 'सामर्थ्यगम्यमेतत्' सूत्रानुपात्तमपि, कुत इत्याह 'तथाशाब्दन्यायात्'=क्रियाकर्तृसिद्धौ। सकर्म्मेसु धातुषु नियमतस्तत्प्रकारकर्म्मभावात्। आह 'जीवादितत्त्वं प्रद्योतधर्म्मकमपि कस्मान्न भवति येन सम्पूर्णस्यैव लोकस्य भगवतां प्रद्योतकरत्वसिद्धिः स्याद्?' इत्याशङ्कच व्यतिरेकमाह 'अन्यथा'=प्रद्योत्यत्वं विमुच्य, 'अचेतनेषु'= धर्म्मास्तिकायादिषु 'प्रद्योतनायोगः'। कथमित्याह 'प्रद्योतनं प्रद्योत इति भावसाधनस्यासम्भवात्'। आप्तवचनसाध्यः श्रुतावरणक्षयोपशमो भावः, साधनं तु प्रद्योतः (प्र०....भावसाधनः; प्र०....भावप्रद्योतः) कथमिवासावचेतनेषु स्यात्?

जो प्रकाश यानी उत्कृष्ट श्रुतज्ञानावरण-क्षयोपशम होता है उस के स्वामी, एवं उस के द्वारा विश्व के समस्त अभिलाप्य (कथनीय) भावों के ज्ञाता श्री गणधर महर्षि होते हैं और वे ही उत्कृष्ट चौदपूर्वी हैं। कारण यह है कि मात्र गणधर महर्षियों को ही उत्कृष्ट प्रकाश स्वरूप प्रद्योत का संपादन कराने में भगवान अर्हिहंतदेव का उपदेश समर्थ है; और उनको प्रकाश कराने में मात्र वही समर्थ है।

प्र०—तब तो क्या यह फलित होता है कि गणधर देवों के अलावा और किन्हीं को भगवान के उपदेश से प्रकाश नहीं होता है?

उ०—नहीं, बिलकुल प्रकाश नहीं होता है ऐसा नहीं है; भगवान के उपदेश से साध्य प्रकाश का अमुक अंश तो उन अन्य जीवों में भी प्रादुर्भूत होता है; दृष्टान्त के लिए देखिये कि पूर्वादि दिशाओं में होनेवाले सूर्य के मुख्य प्रकाश के अतिरिक्त दिग्दर्शक प्रकाश भी व्यवहित भागो में होता है न?

प्रकाशयोग्य वस्तु कौन?

भगवान किन के प्रति प्रकाशकर हैं यह सिद्ध किया गया। अब प्रकाश का विषय क्या है यह निर्णीत किया जाता है। प्रकाश का विषय जीवादि तत्त्व है; और वे १ जीव, २ अजीव, ३ आश्रव, ४ बन्ध, ५ संवर, ६ निर्जरा, एवं ७ मोक्ष,—इन सात प्रकार के हैं। 'लोगपज्जोअगराणं' इस सूत्रमें यद्यपि शब्दतः यह प्रकाश्य विषय गृहीत नहीं किया है, फिर भी वह अर्थापत्ति से गम्य है। कारण, शाब्दन्याय ऐसा है कि जब क्रिया का कर्ता सिद्ध हुआ, तब वह क्रिया यदि सकर्मक क्रियावाची पद से गम्य हो तो उसका विशेषणीभूत कोई-न-कोई कर्म भी अवश्य सिद्ध होता है। इस लिए प्रकाश-क्रिया का कर्म जीवादितत्त्व सिद्ध है। अर्थात् भगवान द्वारा गणधरों में जीवादि तत्त्वों का प्रद्योत होता है।

(ल०-अचेतनविषयं कीदृक् प्रद्योतनम् ?) अतो ज्ञानयोग्यतैवेह प्रद्योतनमन्यापेक्षयेति। तदेवं स्तवेष्वपि एवमेव वाचकप्रवृत्तिरिति स्थितम्। एतेन 'स्तवेऽपुष्कलशब्दः प्रत्यवायाय' इति प्रत्युक्तं, तत्त्वेनेदृशस्यापुष्कलत्वायोगात्। इति लोकप्रद्योतकराः १४।

(पं०-) अत एवाह 'अतो'=भावसाधनप्रद्योतासम्भवादचेतनेषु धर्मास्तिकायादिषु, 'ज्ञानयोग्यतैव'=श्रुतज्ञानलक्षणज्ञातृव्यापाररूपं ज्ञानं प्रति विषयभावपरिणतिरेव, 'इह'=अचेतनेषु, 'प्रद्योतनं' =प्रकाशः, 'अन्यापेक्षया'=तत्स्वरूपप्रकाशकमाप्तवचनमपेक्ष्येति। यथा किल प्रदीपप्रभादिकं प्रकाशकमपेक्ष्य चक्षुष्मतो द्रष्टुर्घटादेर्दृश्यस्य दर्शनविषयभावपरिणतिरेव प्रकाशः, तथेहापि योग्यमिति, न तु श्रुतावरणक्षयोपशमलक्षण इति। 'एतेने'ति, एतेन=लोकोत्तमादिपदपञ्चकेन, 'अपुष्कलशब्द' इति=संपूर्णलोकरूढस्वार्थानभिधायकः, 'तत्त्वेने'त्यादि, तत्त्वेन=वास्तवीं स्तवनीय(प्र०....स्तवन)वृत्तिमाश्रित्य, ईदृशस्य= विभागेन प्रवृत्तस्य लोकशब्दस्य, संपूर्णस्वार्थानभिधानेऽपि, 'अपुष्कलत्वायोगात्'=न्यूनत्वाघटनात्। लोकरूढस्वार्थापेक्षया तु युज्येतास्यपुष्कलत्वमिति तत्त्वग्रहणम्।

प्रकाश धर्म सर्वतत्त्वों में क्यों नहीं ? मात्र जीव में ही क्यों ?—

प्र०—जीवादि सर्व तत्त्वों में ही प्रद्योत यानी प्रकाश धर्म होना मान ले तो क्या हानि है ? इससे तो भगवान भी सर्वतत्त्व यानी समस्त लोक के प्रति प्रकाशकर ठीक ही सिद्ध होंगे।

उ०—ऐसा मान तो लिया जाए, किन्तु तब यो प्रश्न उठेगा कि उन तत्त्वों के अन्तर्गत अचेतन तत्त्वों में होने वाले प्रकाश से प्रकाश्य क्या होगा ? क्यों कि प्रकाश्य विषय कोई न हो, और सिर्फ प्रकाश मात्र हो सके ऐसा असंभवित है। धर्मास्तिकाय आदि अचेतन वस्तु में प्रकाश जैसी चीज होना यह, किसी दूसरे प्रकाश्य विषय के सिवा, असङ्गत है।

प्र०—'किसी वस्तु का प्रकाश करना यह प्रद्योत'—ऐसा कर्मयुक्त प्रयोग नहीं, 'प्रकाश रूप होना यही प्रद्योत है'—ऐसे भाव में प्रयोग ले कर अचेतन तत्त्वों में क्या प्रकाशधर्म सङ्गत नहीं हो सकेगा ?

उ०—नहीं, क्यों कि ऐसा भाव में प्रयोग ही समुचित नहीं है। कारण यह है कि यहां प्रद्योत रूप भाव तो आप्तवचन द्वारा साध्य श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम है, उसी का साधन करना यह प्रद्योतन है। अब देखिये कि अचेतन तत्त्वों में ऐसा कोई ज्ञानावरण ही नहीं होता है, तो इसका क्षयोपशम भी कैसे हो सकेगा ? यदि वह नहीं, तो अचेतन तत्त्वों में प्रद्योतन की अकर्मक भी क्रिया नहीं हो सकती है।

अचेतन पदार्थों का प्रद्योतन कैसे ?—

प्र०—जब अचेतन धर्मास्तिकायादि में अकर्मक प्रद्योतन क्रिया संभवित नहीं है तब उनको विषय करनेवाला प्रद्योतन क्या है ?

उ०—अचेतन तत्त्वों का प्रद्योतन ज्ञानयोग्यता रूप है। ज्ञानयोग्यता का मतलब है ज्ञाता की श्रुतज्ञान स्वरूप क्रिया के प्रति विषयरूपेण परिणति होना। आत्मा में ज्ञान रूप क्रिया होती है, उस ज्ञान के विषय धर्मास्तिकायादि तत्त्व होते हैं; लेकिन अमुक अमुक ज्ञान के अमुक अमुक ही तत्त्व विषय होते हैं। इससे यह सूचित होता है कि ज्ञान के प्रति उस तत्त्व को विषय-रूप में परिणत होना पड़ता है, यानी उस तत्त्व में विषयभाव की परिणति होती है। ज्ञान के प्रति इसी विषयभाव की परिणति यह ज्ञानयोग्यता है और यही है प्रद्योतन। अचेतन तत्त्वों में जो यह ज्ञानयोग्यता प्राप्त होती है वह उनके स्वरूप के प्रकाशक आप्त पुरुषों के वचन की अपेक्षा से। परम आप्त पुरुष अर्हत्परमात्मा और गणधर भगवान उन अचेतन तत्त्वों का उपदेश करते हैं। उन वचनों का अवलम्बन कर के ही उन तत्त्वों का ज्ञान होता है; अतः उन वचनों के अनुसार वे तत्त्वज्ञान के विषय बनते हैं। जिस प्रकार किसी प्रदीप, प्रभा आदि प्रकाशक की अपेक्षा कर के ही चक्षु वाले द्रष्टा को जो दर्शन होता है उस के प्रति घड़ा आदि दृश्य पदार्थ में विषयभाव की परिणति होती है, इसी प्रकार वस्तु-स्वरूप के प्रकाशक आप्त पुरुष के वचन की अपेक्षा कर के ज्ञाता पुरुष को होने वाले बोध के प्रति ज्ञेय पदार्थ में विषयभाव की परिणति ही होती है, नहीं कि श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम। क्षयोपशम स्वरूप प्रकाश तो द्रष्टा का धर्म है, नहीं कि दृश्य वस्तु का। दृश्य वस्तु का धर्म तो दर्शन के विषयरूप में परिणत होना है; अर्थात् विषयभावकी अवस्था ही दृश्य वस्तु का धर्म है। इस लिए अचेतन धर्मास्तिकायादि द्रव्य तत्त्वों का धर्म प्रकाश नहीं हो सकता है। तो उनके प्रति अर्हत् परमात्मा प्रद्योतकर कैसे बन सके ? अतः लोक-प्रद्योतकर पद में लोक शब्द से समस्त लोक यानी तत्त्व गृहीत नहीं किये जा सकते। यहां तो 'लोक' शब्द से मात्र गणधर लोग ग्राह्य हैं।

पांचो पदों में एक ही लोक शब्द होने से न्यूनता क्यों नहीं ?:—

अब यहां यदि कोइ प्रश्न करे कि;

प्र०—लोगुत्तमाणं लोगनाहाणं इत्यादि पांच पदों से जो यहां स्तुति की गई इसमें पांच पदों में एक ही लोक शब्द का बार बार उपयोग करने से अथवा इस के समस्त लोक स्वरूप रूढ अर्थका वाचक नहीं मानने से शब्दों की न्यूनता रूप दोष प्रतीत होता है; कहा है कि 'स्तवेऽपुष्कल शब्दः प्रत्यवायाय' अर्थात् स्तुति में शब्दों की कमी या रूढ अर्थका त्याग दोषावह होता है। तो गणधर भगवानने ऐसी स्तुति क्यों बनाई ?

तो इस प्रश्न का उत्तर यह है कि,

उ०—स्तुति ठीक ही बनाई है। कारण कि बेशक 'लोक'शब्द पांचों पदों में एक ही प्रयुक्त हुआ है फिर भी वह उस उस उत्तमता, नाथता, आदि वास्तविक स्तवनीय (स्तुतियोग्य) स्वरूप की अपेक्षा से प्रयुक्त हुआ है, और वह उत्तमतादि समस्त लोक नहीं किन्तु भव्य जीव आदि लोक की अपेक्षासे ही हो सकता है, तो 'लोक'शब्द उस उस अंश में ही प्रवृत्त होवे न ? अर्थात् उस उस

(ल०-) एवं च लोकोत्तमतया लोकनाथभावतो लोकहितत्वसिद्धेर्लोकप्रदीपभावात् लोकप्रद्योतकरत्वेन परार्थकरणात्, स्तोतव्यसम्पद एव सामान्येनोपयोगसम्पदिति । ४ ।

अंश का ही प्रतिपादक होवे न? समस्त लोक का प्रतिपादक मानें, तो तो समस्त लोक की अपेक्षा से उत्तमता आदि गुणोंकी स्तुति योग्य हो जाए, लेकिन ऐसा स्तुतियोग्य उत्तमता आदि गुण परमात्मा में वास्तविक है ही नहीं; फिर ऐसी स्तुति गणधर भगवान कैसे कर सकते हैं। अतः यहां 'लोक'शब्द संपूर्ण लोक स्वरूप रूढ अर्थ का प्रतिपादक न होने पर भी न्यूनता का दोष नहीं है। हां, संपूर्ण लोक ग्रहण करना हो तो एक ही 'लोक'शब्द वारवार क्यों लिया गया, और यदि लिया तो न्यूनता दोष की आपत्ति क्यों नहीं,–यह कह सकते हैं। लेकिन यहां तो तात्त्विक यानी वास्तविक स्तुति करनी है, तो लोक शब्द से अंश ही लेना योग्य है; इसीलिए वास्तविकता का द्योतक 'तत्त्व' पद कहा गया। अर्थात् तत्त्व रूप से कोइ न्यूनता नहीं है।

चौथी सामान्योपयोग–सम्पत् का उपसंहारः—

इस प्रकार अरिहंत परमात्मा में लोकोत्तमता होने से लोकनाथता आती है; और इस से उनमें लोकहितरूपता सिद्ध होने के कारण लोकप्रदीपपन एवं लोकप्रद्योतकरता संपादित होती है, इस से परोपकार–कर्तृत्व सिद्ध होता है। इस लिए 'लोगुत्तमाणं' आदि पांच पदों की वनी हुई यह संपदा स्तोतव्य–संपदा की सामान्य रूपसे उपयोग–संपदा कही जाती है; क्यों कि अरिहंत प्रभु का सामान्य रूप से क्या उपयोग है, यह इस में बतलाया। अब विशेष रूप से उपयोगसंपदा दिखलाने के पूर्व सामान्योपयोग–संपदा के हेतु की संपदा जो पांच पदों से वनी हुई है, उसे कहते हैं।



१५. अभयदयाणं (अभयदेभ्यः)

(ल०-भगवद्बहुमानादेव अभयादिसिद्धि :-) साम्प्रतं भवनिर्वेदद्वारेणार्थतो भगवद्बहुमानादेव विशिष्टकर्मक्षयोपशमभावादभयादिधर्मसिद्धेः, तद्व्यतिरेकेण नैःश्रेयसधर्मासम्भवाद्, भगवन्त एव तथा तथा सत्त्व(प्र०....सर्व) कल्याणहेतवः इति प्रतिपादयन्नाह 'अभयदयाण'-मित्यादिसूत्रपञ्चकम् ।

(पं०-) 'भवनिर्वेदमि'त्यादि, भवनिर्वेदः=संसारोद्वेगो, यथा,

'कायः संनिहितापायः सम्पदः पदमापदाम् । समागमाः सापगमाः, सर्वमुत्पादिभङ्गुरम् ॥'

एवंचिन्तालक्षणः, स एव 'द्वारम्'=उपायस्तेन, भगवन्त एव तथा तथा सत्त्वकल्याणहेतव इत्युत्तरेण सम्बन्धः । कथमित्याह 'अर्थतः'=तत्त्ववृत्त्या, 'भगवद्बहुमानादेव'=अर्हत्पक्षपातादेव, भवनिर्वेदस्यैव भगवद्बहुमानत्वात्; ततः किमित्याह 'विशिष्टकर्मक्षयोपशमभावाद्'=विशिष्टस्य मिथ्यात्वमोहादेः कर्मणः क्षयोपशमः उत्कृष्टरूपस्तद्भावात् । ततोऽपि किमित्याह 'अभयादिधर्मसिद्धेः'=अभयचक्षुर्मार्गशरणादिधर्मभावात् । व्यतिरेकमाह 'तद्व्यतिरेकेण'=अभयादिधर्मसिद्ध्यभावेन, 'नैःश्रेयसधर्मासम्भवात्'=निःश्रेयसफलानां सम्यग्दर्शनादिधर्माणामघटनात् । 'भगवन्त एव' अर्हद्भगवन्तः, 'तथा तथा'=अभयदानादिप्रकारेण, 'सत्त्वकल्याणहेतव'=सम्यक्त्वादिकुशलपरंपराकारणमिति ।

---

१५. अभयदयाणं (अभयदाता को)

सामान्योपयोग-संपदा की हेतुसंपदा—

अब पूर्वोक्त सामान्य-उपयोग-संपदा की हेतुसंपदा के पांच पद चालू होते हैं; अर्थात् स्तोतव्य श्री अर्हत् परमात्मा के लोकोत्तमतादि प्रदर्शित करते हुए परोपकार-करण स्वरूप जो उपयोग बतलाया, इसमें हेतु क्या क्या हैं उन्हें बतलाने के लिए अब 'अभयदयाणं' आदि पांच पद दिये जाते हैं । इन पदोंसे अभय आदिके दाता को नमस्कार करने का विवक्षित है। यहां प्रश्न हो सकता है कि:—

प्र०—अर्हत् परमात्मा अभय आदि के दाता कैसे ?

उ०—समाधान यह है कि अभय-चक्षु-मार्ग-शरण, इत्यादि धर्म अर्हद् भगवान के प्रति बहुमान होने से ही सिद्ध होते हैं; इनकी प्राप्ति में भगवद्-बहुमान ही कारण है ।

प्र०—तब तो यह हुआ कि अभय आदि धर्म भगवद्-बहुमान से मिला; अर्हद् भगवान से कैसे ?

उ०—ठीक है । लेकिन इतना तो सोचिये कि बहुमान के पात्रभूत खुद अर्हद् भगवान का अस्तित्व ही न होता तो ऐसा बहुमान ही कैसे उपस्थित हो सकता ? यों तो बहुमान परमपुरुष को छोड कर भी दूसरे पर कितना ही किया जाता है लेकिन इससे अभयादि धर्म कहां

सिद्ध होते हैं ? अतः यए अवश्य मानना होगा कि अर्हद् भगवान ही ऐसे अनंत-प्रभावी हैं कि जो बहुमान द्वारा अभयादि धर्म के दाता बनते हैं, अन्य कोई नहीं।

भवनिर्वेद ही भगवद्-बहुमान कैसे ?:—

प्र०—क्या, आदमी कितना ही भवाभिनंदी याने संसाररसिक हो, फिर भी वह भगवद्-बहुमान से अभयादि प्राप्त कर सकता है ?

उ०—जो भवाभिनंदी है, अर्थात् जिसे भवनिर्वेद नहीं है, उन्हें न तो सच्चा भगवद्-बहुमान हो सकता है, न तो अभयादि प्राप्त हो सकता है। इसीलिए तो कहा है कि भवनिर्वेद ही वास्तविक भगवद्-बहुमान है। वास्तव में अर्हत्-पक्षपात भवनिर्वेद स्वरूप ही है। क्यों कि अर्हत् प्रभु भव से पर है, उनका पक्षपात भव-नाश का ही पक्षपात हुआ, और वह बिना भवनिर्वेद हो सकता नहीं है। भवनिर्वेद का अर्थ है संसार के प्रति उद्वेग, व्याकुलता, इत्यादि। जैसे कि जीव को जो संसार सुखरूप लगता है वह असल में क्या है ? शरीर, संपत्ति, इष्टजन-संयोग, इत्यादि न ? किंतु

कायः संनिहितापायः संपदः पदमापदाम्। समागमाः सापगमाः सर्वमुत्पादिभङ्गुरम्॥

रोग, जरा, मृत्यु आदि शरीर के निकट ही रहते हैं, (तो इससे चिरस्थायी निर्द्वन्द्व आनन्द कहांसे मिल सके ?) संपत्तियाँ कई बार आपत्तियों का कारण बनती हैं, (इससे तो जहाँ सुख की अपेक्षा दुःख आ गिरता है, वहाँ शुद्ध सुख की क्या आशा ?); इष्ट जन आदि के समागम वियोग में परावर्तित हो जाते हैं, (फलतः, इष्ट समागम के पूर्व जितना दुःख का अनुभव होता था, समागम नष्ट होने पर उल्टा अधिक क्लेश महसूस होता है, तो सच्चा सुख कहां रहा ?; संसार में जो कुछ सुखसाधन प्रतीत होते हैं, वे सभी अनादि नहीं किन्तु उत्पत्तिशील होते हैं और उत्पत्ति के पीछे नाश तो लगा ही रहता है। (अतः जब साधन ही। विनश्वर हैं तो फिर उनके अधीन रहनेवाला सुख कायम कैसे ?)

इस प्रकार की जो चिन्ता बनी रहती है, उसका नाम है भवनिर्वेद। यही कल्याण का उपाय है। इसके द्वारा भगवान ही उस-उस प्रकार से जीवों के कल्याण के हेतु बनते हैं।

प्रश्न—कल्याण हेतु तो भवनिर्वेद हुआ; भगवान कैसे ?

उत्तर—भवनिर्वेद ही तत्त्वरूप से भगवद्-बहुमान है, और इसी के द्वारा विशिष्ट कर्म याने मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म, जिस की वजह अभय, चक्षु आदि प्राप्त नहीं होते हैं एवं तत्त्व पर अरुचि और अतत्त्व पर रुचि होती है, उस कर्मका क्षयोपशम हो जाता है, अर्थात् विशिष्ट क्षय होता है। फलतः अभय, चक्षु, मार्ग, शरण आदि धर्म प्रगट होते हैं। और इन धर्मों को प्रगट करने की अत्यावश्यकता है, क्योंकि इनके बिना निःश्रेयस याने मोक्ष के साधक सम्यग्दर्शनादि धर्म सिद्ध नहीं हो सकते हैं। तात्पर्य, भवनिर्वेद स्वरूप भगवद्-बहुमान से कल्याण की

(ल०—अभयं=विशिष्टमात्मस्वास्थ्यम्–) इह भयं सप्तधा इहपरलोकाऽऽदानाकस्मादाजीवमरणाश्लाघाभेदेन। एतत्प्रतिपक्षतोऽभयमिति विशिष्टमात्मनः स्वास्थ्यम्, निःश्रेयसधर्म्मभूमिकानिबन्धनभूता धृतिरित्यर्थः।

(पं०)—'इह–परलोक–आदान–अकस्माद्–आजीव–मरण–अश्लाघाभेदेन', इहपरलोकादिभिः, 'भेदो'=विशेषः, तेन। तत्र मनुष्यादिकस्य सजातीयादेरन्यस्मान्मनुष्यादेरेव सकाशाद् यद्भयं तदिहलोकभयम्। इह्याधिकृतभीतिमतो भावलोक 'इहलोकः', ततो भयमिति व्युत्पत्तिः। तथा विजातीयात्तिर्यग्देवादेः सकाशान्मनुष्यादीनां यद्भयं, तत् परलोकभयम्। आदीयत इति आदानम्; तदर्थं चौरादिभ्यो यद्भयं तदादानभयम्। 'अकस्मादेव' बाह्यनिमित्तानपेक्षं गृहादिष्वेव स्थितस्य रात्र्यादौ भयमकस्माद्भयम्। 'आजीवो'=वर्त्तनोपायस्तस्मिन् अन्येनोपरुध्यमाने भयमाजीवभयम्। मरणभयं प्रतीतम्। 'अश्लाघाभयम्'=अकीर्तिभयम्; 'एवं हि क्रियमाणे महदयशो भवती'ति तद्भयान्न प्रवर्त्तते इति। 'एतत्प्रतिपक्षतः' एतस्य =उक्तभयस्य, प्रतिपक्षतः=परिहारेण, अभयं=भयाभावरूपम्, इति=इत्येवंलक्षणम्। पर्यायतोऽप्याह 'विशिष्टं' =वक्ष्यमाणगुणनिबन्धनत्वेन प्रतिनियतम्, 'आत्मनो' जीवस्य, 'स्वास्थ्यं'=स्वरूपावस्थानं; तात्पर्यतोऽप्याह 'निःश्रेयसधर्म्मभूमिकानिबन्धनभूता धृतिरित्यर्थ' इति, निःश्रेयसाय=मोक्षाय, धर्म्मो निःश्रेयसधर्म्मः सम्यग्दर्शनादिः, तस्य भूमिका=बीजभूतो मार्गबहुमानादिर्गुणः, तस्य निबन्धनभूता=कारणभूता, धृतिः=आत्मनः स्वरूपावधारणम्, 'इत्यर्थः,' इति=एषः, अर्थः=परमार्थः।

प्राप्ति होती है। अब देखिए कि जब भगवद्–बहुमान यह अभय आदि द्वारा कल्याण का हेतु है, तब मूल में अर्हद् भगवान ही कल्याण के हेतु रूप से सिद्ध होते हैं। क्यों कि अर्हन् परमात्मा की ऐसी विशेषता है, वे ही ऐसे प्रभावशालि पुरुष हैं कि जिनका बहुमान करने से अभयादि द्वारा कल्याण सिद्ध होते हैं; औरों के बहुमान से ऐसा कुछ सिद्ध हो सकता नहीं है। निष्कर्ष यह आया कि खुद अरहंत प्रभु अभयदान आदि के प्रकार से सम्यक्त्वादि कुशल परंपरा स्वरूप कल्याणों के कारण बनते हैं। इस वास्ते साधक को उनके ऐसे प्रभाव के प्रति ऐसी श्रद्धा रखनी अत्यन्त जरूरी है कि 'मुझे जो कुछ कल्याण और उसके हेतुभूत अभयादि प्राप्त होगा वह अर्हन् प्रभु के प्रभाव से ही हो सकेगा'।

सात प्रकारके भयः—

अब अभयदयाणं पद की व्याख्या करते हैं। 'अभय' शब्द में 'भय' शब्दका अर्थ है इहलोक आदि सात विषयों के कारण सात प्रकार के भय, इस लोक का भय, परलोक का भय, आदान–भय, अकस्माद् भय, आजीविका–भय, मृत्यु–भय, और अपकीर्ति–भय। यहां, (१) अन्य मनुष्यादि की ओर से इसके सजातीय मनुष्यादि को भय, यह इहलोक–भय कहलाता है। 'इहलोक' शब्द का व्युत्पत्ति अर्थ इस प्रकार हैः– प्रस्तुत भयभीत होने वाले जीव की अपेक्षा से जो

(ल०–धर्मः चित्तस्वास्थ्यहेतुकः—) नह्यस्मिन्नसति यथोदितधर्म्मसिद्धिः, सन्निहितोपद्रवैः प्रकामं चेतसोऽभिभवात्; चेतःस्वास्थ्यसाध्यश्चाधिकृतो धर्म्मः तत्स्वभावत्वात्। विरुद्धश्च भयपरिणामेन, तस्य तथाऽस्वास्थ्यकारित्वात्।

(पं० -) एतदेव भावयति 'न हीति' 'न'=नैव, 'हि' यस्माद् 'अस्मिन्'=स्वास्थ्ये, 'असति'=अविद्यमाने, 'यथोदितधर्म्मसिद्धिः'=निःश्रेयसधर्म्मनिष्पत्तिः। कुत इत्याह 'सन्निहितभयोपद्रवैः' सन्निहितैः=चेतसि वर्तमानैः भयान्येवोक्तरूपाणि उपद्रवाः भयोपद्रवाः=व्यसनानि तैः, 'प्रकामम्' अत्यर्थं, 'चेतसो'=मनसो, 'अभिभवात्' पीडनात्। प्रकामग्रहणं च भयोपद्रवाणामान्तरत्वेनात्यन्तिकाभिभवहेतुत्वख्यापनार्थमिति। यदि नामैवं, ततः किमित्याह 'चेतःस्वास्थ्यसाध्यश्चाधिकृतो धर्म्मः' चित्तसमा-

यहां भावलोक है अर्थात् सजातीय यानी समान जातिका जीव है, जैसे कि मनुष्य की अपेक्षा से मनुष्य, पशु की अपेक्षा से पशु, वह इहलोक है। इसकी तरफसे भय, वह हुआ इहलोक भय; उदाहरणार्थ, 'मुझे कोई मानव पीटेगा तो नहीं,' ऐसा मनुष्य से मनुष्य को भय। (२) 'परलोकभय' का अर्थ, परलोक से भय, 'पर' यानी विजातीय जो पशु–देवादि इन की ओर से मनुष्यादि को भय, यह परलोक भय है; दृष्टान्त के लिए मनुष्य को 'हमें कोई पशु आदि मारेगा तो नहीं,' इस प्रकारका भय। (३) 'आदानभय' का अर्थ है आदान के संबंध में भय; अर्थात् वस्तु उठा लेने के संबन्ध में चोर आदि से भय; जैसे कि, 'कोई चोर वगैरह हमारा धन आदि ले तो नहीं लेगा !' (४) 'अकस्माद् भय' का अर्थ है, अकस्माद् ही याने अन्य किसी बाह्य निमित्त के बिना ही घर आदि में बैठे बैठे यों ही लगने वाला भय। (५) आजीवभय वह है जो जीविका के साधन आदि अन्य के अवरोध वश हो, तो जो भय होता हो; जैसे कि, 'मेरी जीविका के साधन अमुक के द्वारा लुप्त तो नहीं किये जायेंगे !' (६) मृत्यु का भय तो प्रसिद्ध है। (७) 'अश्लाघा–भय' यह अपकीर्ति–अपयश का भय है, उदाहरणार्थ 'ऐसा ऐसा करने में महान अपयश होता है,' इस भय से आदमी उस में प्रवृत्त होता नहीं है।

अभयदाता=विशिष्ट स्वास्थ्यदाताः—

भगवान, जीव के इन सभी प्रकार के भय दूर करने द्वारा, अभय के दाता होते हैं। अर्थात् भगवत्–प्रभाव से जीव इन भयों से मुक्त होता है। रूपान्तर से कहें तो वे जीव को अभय यानी विशिष्ट प्रकारका आत्म–स्वास्थ्य देते हैं। यहां 'विशिष्ट' शब्द का अर्थ आगे कहे जाने वाले गुणों में कारणभूत हो एसे निश्चित प्रकारका आत्म–स्वास्थ्य यानी आत्मा की स्वरूप–अवस्था है। तात्पर्य, अर्हत्प्रभु के प्रभाव से आत्मा में इस प्रकारकी स्वस्थता खड़ी होती है कि जिस से अब कहे जानेवाले चक्षु, मार्ग आदि गुणों के बाधक भय दूर हो जाते हैं; एवं मोक्ष के अनुकूल सम्यग्दर्शनादि धर्मोंकी भूमिका तैयार करने में आवश्यक जो धृति, वह प्राप्त होती है। यह भूमिका बीजभूत मार्ग–बहुमानादि रूप होती है, यानी सम्यग्दर्शनादि मार्ग के बहुमान आदि गुण स्वरूप

धानहेतुश्चाधिकृतो धर्मः सम्यग्दर्शनादिः; कुत इत्याह 'तत्स्वभावत्वात्'-स्वभावो ह्यसौ धर्मस्य यच्चेतःस्वास्थ्यसाध्योऽसाविति। ननु भयपरिणामेऽप्यस्य सम्भवात् कथमभयहेतुकत्वमित्याह 'विरुद्धश्च'= निराकृतश्च भयपरिणामेन, कुत इत्याह 'तस्य'=भयपरिणामस्य 'तया'=धर्मसाधकेन चेतःस्वास्थ्येन विरुद्धस्य 'अस्वास्थ्यकारित्वात्' अस्वास्थ्यस्य विधायकत्वात्।

होती है; और उसके लिए धृति स्वरूप आत्म-स्वास्थ्य अपेक्षित है। यह अभय का रहस्य है। अभय से यानी स्वास्थ्य से मार्ग-बहुमानादि, इन से सम्यग्दर्शनादि मार्ग, और इन से मोक्ष होता है।

सम्यग्दर्शनादि धर्म स्वास्थ्य (धृति) पर निर्भर है:—

प्र०-क्या बिना स्वास्थ्य सम्यग्दर्शनादि धर्म सिद्ध नहीं हो सकते ?

उ०-नहीं, स्वास्थ्य न होने पर सम्यग्दर्शनादि धर्म निष्पन्न नहीं हो सकते हैं। कारण, उपर्युक्त स्वरूप वाले भय यानी उपद्रव यदि चित्त में विद्यमान रहते हैं, तो वे चित्तको अत्यन्त पीड़ा देते हैं। अत्यन्त पीड़न इसी लिए कहा, कि भय-उपद्रव ये अन्तरङ्ग भाव यानी मानसिक वृत्ति रूप होने की वजह मन के लिए अत्यन्त क्लेशकारी होते हैं। (बाहिरी उपद्रवों के सान्निध्य में तो यदि चित्त इतना अस्वस्थ न हो तब वे इतने क्लेशकारी नहीं होते हैं)। चित्तको क्लेश हो तो क्या ? ऐसा मत कहना; क्यों कि प्रस्तुत मोक्षोपयोगी सम्यग्दर्शनादि धर्म जो कि चित्त में उत्पन्न होने वाले हैं, वे चित्तसमाधान यानी चित्तस्वास्थ्य की अपेक्षा रखते हैं; कारण कि उन धर्मोंका ऐसा स्वभाव ही है कि वे चित्त के स्वास्थ्य से उत्पन्न हों।

प्र०—ठीक है, फिर भी इस में अभय की क्या अपेक्षा है ? भय होने पर भी क्या स्वास्थ्य का अस्तित्व संभवित नहीं है ?

उ०—नहीं, स्वास्थ्य यह भयपरिणाम से विरुद्ध है यानी प्रतिषेधित होता है; क्यों कि अन्तःकरण में रहा भय का परिणाम उसे अस्वस्थ कर देता है; और अस्वस्थता यह धर्म में साधनभूत स्वास्थ्य के विरुद्ध है; तब यदि भय का अभाव हो यानी अभय न हो तो स्वास्थ्य होगा ही कैसे ? तात्पर्य, सम्यग्दर्शनादि धर्मों में आवश्यक ऐसे चित्तस्वास्थ्य के लिए अभय यानी भयपरिणाम का अभाव जरूरी है।

अभयदाता भगवान की चार विशेषताएँ:—

जब मोक्षोपयोगी सम्यग्दर्शनादि धर्म की भूमिका की रचना करने में धृति यानी स्वास्थ्य अपेक्षित है और अभय स्वास्थ्य स्वरूप ही है, तब वह अर्हत् परमात्मा से ही प्राप्त हो सकता है। प्रश्न होगा यह कैसे ? उत्तर यह है कि वे भगवान गुणप्रकर्ष-अचिन्त्यशक्ति-अभयवत्ता-परार्थ-करण, इन चार विशेषताओं से संपन्न होने के कारण अभयदाता हो सकते हैं। ये चार कारण इस प्रकार परंपरा से यानी उत्तरोत्तर पूर्व पूर्व के फल रूप से उत्पन्न होते हैं,–

(ल०—भगवतामभयदत्वे हेतुचतुष्कम्)—अतोऽस्य गुणप्रकर्षरूपत्वादचिन्त्यशक्तियुक्तत्वात् तथाभावेनावस्थितेः सर्वथापरार्थकरणाद्, भगवद्भ्य एव सिद्धिरिति । तदित्थंभूतमभयं ददतीत्यभयदाः ॥ १५ ॥

(पं०—) 'अतो'=निःश्रेयसधर्मभूमिकानिबन्धनभूतधृतिरूपत्वाद्, 'अस्य'=अभयस्य, 'भगवद्भ्य एव सिद्धि'रित्युत्तरेण सम्बन्धः । 'गुणप्रकर्षरूपत्वादि' त्यादि; अत्र चत्वारः परम्पराफलभूता हेतवो गुणप्रकर्षरूपत्व-अचिन्त्यशक्तियुक्तत्व-तथाभावावस्थितत्व-सर्वथापरार्थकरणलक्षणाः; तथाहि—भगवतां गुणप्रकर्षपूर्वकमचिन्त्य-शक्तियुक्तत्वं, गुणप्रकर्षाभावेऽचिन्त्यशक्तियुक्तत्वाभावात् । अचिन्त्यशक्तियुक्तत्वे च 'तथाभावेन'=अभयभावेन अवस्थितिः, अचिन्त्यशक्तियुक्तत्वमन्तरेण तथाभावेनावस्थातुमशक्यत्वात् । तथाभावेनावस्थितौ च 'सर्वथा'= सर्वप्रकारैर्बीजाधानादिभिः 'परार्थकरणं'=परहितविधानं, स्वयं तथारूपगुणशून्येन परेषु गुणाधानस्याशक्य-त्वात् । 'भगवद्भ्य एव' न स्वतो, नाप्यन्येभ्यः । 'इति' एवकारार्थः ।

अर्हत् प्रभु गुणप्रकर्ष अर्थात् उत्कृष्ट गुणों के स्वामी होने से उनकी वजह प्रभु में अचिन्त्य शक्तियुक्तता आती है; क्यों कि उत्कृष्ट गुणों के अभाव में अचिन्त्य शक्तिमत्ता नहीं हो सकती है । अब, अचिन्त्य शक्तिमत्ता के कारण प्रभु की अभयभाव से अवस्थिति होती है; कारण, बिना ऐसी शक्ति, अभय रूप से रहना अशक्य है । एवं अभयभाव से स्थिति होने के कारण प्रभु के द्वारा दूसरों में बीजाधानादि सर्व प्रकारों से परहित का विधान होता है; क्यों कि स्वयं बिल्कुल अभयभाव से रहने के गुण बिना, परहित यानी दूसरों में गुणसंपादन करना अशक्य है । स्वयं अभययुक्त नहीं तो औरोंको अभय कैसे दे सकें?

इसी लिए सिद्ध होता है कि अभय अर्हद् भगवान के द्वारा ही सिद्ध होता है, नहीं कि अपने से, या अन्यों से ।

सारांश, अर्हत् परमात्मा में ज्ञानावरणीयादिकर्म-जन्य दोष नष्ट हो जाने से गुणों के उत्कर्ष की बहार महक उठती है । उत्कृष्ट गुणों के कारण अचिन्त्य प्रभाव चमक उठता है । इस सेवे स्वयं परम स्वास्थ्य पाने पूर्वक परोपकार करते हैं । अतएव भव्य जीवों को सम्यग्दर्शनादि धर्मों के कारणभूत अभय यानी चित्त-स्वास्थ्य इन्हीं से प्राप्त हो सकता है; इसलिए उनकी स्तुति की गई 'अभयदयाणं' ।



१६. चक्खुदयाणं (चक्षुर्देभ्यः)

(ल०-) तथा 'चक्खुदयाणं'। इह चक्षुः चक्षुरिन्द्रियं, तच्च द्विधा,-द्रव्यतो भावतश्च। द्रव्येन्द्रियं बाह्यनिर्वृत्तिसाधकतमकरणरूपं 'निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रिय'मिति वचनात्। भावेन्द्रियं तु क्षयोपशम उपयोगश्च, 'लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रिय'मिति वचनात्। (तत्त्वार्थमहाशास्त्रे अ० २-सूत्र १७, १८)

(पं०-) चक्षुः 'बाह्यनिर्वृत्ति-साधकतमकरणरूप'मिति, बाह्या=बहिर्वर्त्तिनी, उपलक्षणत्वाच्चास्या अभ्यन्तरा च, निर्वृत्तिः वक्ष्यमाणरूपा, साधकतमं करणं च उपकरणेन्द्रियं ततस्ते रूपं यस्य तत्तथा 'निर्वृत्त्युपकरणे'त्यादिसूत्रद्वयाभिप्रायोऽयम्,- इहेन्दनादिन्द्रो जीवः, सर्वविषयोपलब्धिभोगलक्षणपरमैश्वर्ययोगात्, तस्य लिङ्गमिन्द्रियं, श्रोत्रादि। तच्चतुर्विधं नामादिभेदात्, तत्र नामस्थापने सुज्ञाने, निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्, लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्। तत्र 'निर्वृत्तिराकारः' सा च बाह्या अभ्यन्तरा च। तत्र बाह्या अनेकप्रकारा, अभ्यन्तरा पुनः क्रमेण श्रोत्रादीनां कदम्बपुष्प-धान्यमसूर-अतिमुक्तकपुष्पचन्द्रिका-क्षुरप्र-नानाकारसंस्थाना। उपकरणेन्द्रियं विषयग्रहणे समर्थं. छेद्यच्छेदने खड्गस्येवधारा, यस्मिन्नुपहते निर्वृत्तिसद्भावेऽपि विषयं न गृह्णातीति। लब्धीन्द्रियं यस्तदावरणक्षयोपशमः, उपयोगेन्द्रियं यः स्वविषये ज्ञानव्यापार इति।

---

१६. चक्खुदयाणं (धर्मप्रशंसा रूप रुचि देनेवालों को)

द्रव्येन्द्रिय-भावेन्द्रियों के प्रकारः—

अब 'चक्खुदयाणं' पद से अर्हत् परमात्मा की चक्षुदाता के रूप में स्तुति की जाती है। चक्षु यह पांच इन्द्रियों में से एक इन्द्रिय है। लेकिन यहां विशिष्ट चक्षु विवक्षित है।

इन्द्रियों के प्रकार : निर्वृत्ति, उपकरण, लब्धि एवं उपयोगः—

इन्द्रियाँ दो प्रकारकी होती हैं:-१. द्रव्येन्द्रिय, और २. भावेन्द्रिय। द्रव्येन्द्रिय के भी दो प्रकार हैं,:- १ बाह्य निर्वृत्ति, और २ उपकरण। 'बाह्य' निर्वृत्ति नामकी इन्द्रिय बाहिरी आकार स्वरूप होती है। 'बाह्य' कहने से 'आभ्यन्तर' निर्वृत्ति भी समझ लेना; वह बाह्य के भीतर रहने वाली पौद्गलिक रचना विशेष है। उपकरण इन्द्रिय ज्ञान करने में साधनभूत शक्ति रूप है। भावेन्द्रिय के दो प्रकार हैं; १ क्षयोपशम, एवं २ उपयोग।

तत्त्वार्थ महाशास्त्र के द्वितीय अध्याय में १७ वां १८ वां सूत्र है 'निर्वृत्त्युपकरणेन्द्रियौ द्रव्येन्द्रियम्,' 'लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्'। दोनों सूत्रोंका यह अभिप्राय है:—यहां 'इन्द्रिय' शब्दका अर्थ है इन्द्रका चिह्न। 'इन्द्र'का अर्थ आत्मा होता है, क्यों कि जो इन्दन यानी सर्व विषयोंकी उपलब्धि और भोग रूप परम ऐश्वर्य का अनुभव करने की क्रिया वाला हो वह इन्द्र कहा जाता है।

ऐसे इन्द्र स्वरूप आत्माका जो चिह्न है, वह है इन्द्रिय; उदाहरणार्थ श्रोत्रेन्द्रिय आदि। हर एक वस्तुकी तरह इन्द्रिय के चार निक्षेप यानी विभाग होते हैं,-(१) नामेन्द्रिय, (२) स्थापना-इन्द्रिय, (३) द्रव्येन्द्रिय और (४) भावेन्द्रिय। नाम-स्थापना इन्द्रिय सुगम हैं; जिस पुरुषका नाम ही इन्द्रिय है वह नामेन्द्रिय है, (अर्थात् नाम मात्र से इन्द्रिय); और जिस में इन्द्रिय की स्थापना की गई है, जैसे कि किसी जीव के चित्र में, वह स्थापना-इन्द्रिय कहलाता है। नाम और स्थापना में यह फर्क है कि नामेन्द्रिय देखने से मन में इन्द्रिय का भाव पैदा नहीं होता है, जो स्थापना-इन्द्रिय देख कर होता है। इसीलिए तो स्थापना-अरिहंत अर्थात् अरिहंत प्रभुकी मूर्ति दर्शनकर्ता के मन में अरिहंत परमात्मा के भाव की उत्पादक होने से वह वंदनीय-पूजनीय मानी गई है। अस्तु। द्रव्येन्द्रिय निर्वृत्ति और उपकरण ऐसे दो प्रकार की होती है; और भावेन्द्रिय लब्धि और उपयोग, इन दो प्रकार की है।

निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रियः—यहां इन्द्रिय के आकार को निर्वृत्ति कहते हैं। वह बाह्य आकार और आभ्यन्तर आकार, इन दो प्रकार की होती है। बाह्य आकार अनेक प्रकार के होते हैं, दृष्टान्त के लिए मनुष्य के श्रोत्र का आकार शष्कुली समान है एवं चक्षुका आकार गोले के समान हैं...इत्यादि। लेकिन पशु, पंखी, कीट आदि के इन्द्रियों के बाह्य आकार भिन्न भिन्न तरह के होते हैं। आभ्यन्तर आकार पांच प्रकार के होते हैं:-श्रोत्र इन्द्रिय का आन्तरिक आकार कदम्बपुष्प के समान होता है; चक्षु का मसूर के धान्य के समान होता है; घ्राणेन्द्रिय का अतिमुक्तक पुष्प या चन्द्रिका के समान, रसनेन्द्रिय का अस्त्रे के समान, एवं स्पर्शनेन्द्रिय के तो अनेक प्रकार के आकार होते हैं।

उपकरण द्रव्येन्द्रियः—'उपकरण' अर्थात् उपकार करने वाली, यानी विषय के ग्रहण में समर्थ। जिस प्रकार वस्तु को काटने में खड्ग काम आता है, फिर भी उसकी धार ही विशेष समर्थ होती है, इस प्रकार बाह्य आकार में रहनेवाली 'उपकरण' नामकी आभ्यन्तर पौद्गलिक रचना ही अपने विषयको पकड़ने में शक्तिमान होती है, जिसका उपघात होने पर बाह्य निर्वृत्ति (आकार) रहने पर भी विषयग्रहण नहीं हो सकता। देखते हैं कि चक्षु ज्यों के त्यों रहने पर भी देखनेका ताक़त कम होती है; यह उपकरण का उपघात होने से होती है।

लब्धि भावेन्द्रियः—ज्ञान आत्मा का स्वभाव होने से और वह आवरणों से आवृत रहने के कारण, जब विषय का ज्ञान करता है, तब उसके लिये ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम या क्षय आवश्यक होता है। तो इन्द्रियों से जो ज्ञान किया जाता है और जो मतिज्ञान कहलाता है, उसमें क्षयोपशम भी जरूरी है। यही क्षयोपशम लब्धि-इन्द्रिय है। द्रव्येन्द्रिय की प्रवृत्ति इसीकी प्रेरक होता है।

उपयोग-भावेन्द्रियः—अपने अपने विषय में जो ज्ञान-प्रवृत्ति होती है वह है उपयोग। लब्धि और उपयोगमें इतना अन्तर है कि लब्धि आत्मा की ज्ञान-शक्तिरूप है, तो उपयोग ज्ञान का स्फुरण रूप है। यहां प्रश्न होगा, उपयोग तो इन्द्रिय का कार्य हुआ, इन्द्रिय कैसे ?

(ल०–अत्र चक्षुः किम्?:–) तदत्र चक्षुः विशिष्टमेवात्मधर्म्मरूपं तत्त्वावबोधनिबन्धनश्रद्धास्वभावं गृह्यते; श्रद्धाविहीनस्याचक्षुष्मत इव रूपमिव तत्त्वदर्शनायोगाद्। न चेयं मार्गानुसारिणी सुखमवाप्यते।

(पं०–) 'तद्' इत्यादि,–यत इन्द्रियत्वेन सामान्यत इत्थं चक्षुः, 'तत्'=तस्माद् 'अत्र=सूत्रे, 'चक्षुर्विशिष्टमेव' न सामान्यम्, 'आत्मधर्मरूपम्'=उपयोगविशेषतया जीवस्वभावभूतं, विशेष्यमेवाह 'तत्त्वावबोधनिबन्धनं'=जीवादिपदार्थप्रतीतिकारणं, या 'श्रद्धा'=रुचिः धर्म्मप्रशंसादिरूपा, सा 'स्वभावो'=लक्षणं, यस्य तत्तथा, 'गृह्यते'=अङ्गीक्रियते। ननु ज्ञानावरणादिक्षयोपशम एव चक्षुष्टया वक्तुं युक्तः, तस्यैव दर्शनहेतुत्वात्, न तु मिथ्यात्वमोहक्षयोपशमसाध्या तत्त्वरुचिरूपा श्रद्धेत्याशङ्क्याह 'श्रद्धाविहीनस्य'=तत्त्वरुचिरहितस्य, अचक्षुष्मत इव'=अन्धस्येव, 'रूपमिव'=नीलादिवर्ण इव, यत् 'तत्त्वं' जीवादि लक्षणं, तस्य 'दर्शनम्'=अवलोकनं, तस्य 'अयोगात्'=अनुपपत्तेः। भवत्वेवं, तथाप्यसावन्यहेतुसाध्या स्याद्, न भगवत्प्रसादसाध्येत्याह 'न च'=नैव, 'इयं'=तत्त्वरुचिरूपा श्रद्धा, 'मार्गो'= सम्यग्दर्शनादिकं मुक्तिपथम् अनुकूलतया, 'सरति'=गच्छतीत्येवंशीला, 'मार्गानुसारिणी' 'सुखम्'=अपरिक्लेशं यथाकथञ्चिदित्यर्थः 'अवाप्यते'।

प्र०—उपयोग तो खुद कार्यभूत ज्ञान रूप हुआ, तब इन्द्रिय कैसे? इन्द्रिय तो ज्ञानका साधन कही जाती है।

उ०—कार्य है विषयकी ज्ञप्ति, विषयका बोध; और उसके प्रति ज्ञानका स्फुरण रूप उपयोग साधन है, इसलिए वह इन्द्रिय है। अंतरात्मा में लब्धि यानी ज्ञानशक्ति कितनी भी हो, लेकिन जब तक उपयोग यानी ज्ञानस्फुरण नहीं होता है तब तक वस्तुबोध नहीं होता है; अतः उपयोग भी कार्यभूत बोध का एक अति आवश्यक साधन है; अतः वह भी इन्द्रिय है।

चक्षु=जीवादितत्त्वप्रतीति में हेतुभूत धर्मप्रशंसादिः—

इस प्रकार सामान्य रूप से यहां चक्षु एक इन्द्रिय है, किन्तु भगवान 'चक्षु'दाता है यहां चक्षु सामान्य नहीं, किन्तु विशिष्ट आत्मधर्म स्वरूप, अर्थात् जीव का स्वभावभूत विशिष्ट उपयोग समझना है। यह उपयोगविशेष क्या है? जीवादि तत्त्वों की प्रतीति होने में कारणभूत जो श्रद्धा याने रुचि है, यही उपयोग विशेष है। यह तत्त्वरुचि, धर्मप्रशंसा एवं तत्त्वप्रशंसा स्वरूप होती है, और यही तत्त्वरुचि चक्षु है।

प्र०—चक्षु कर के तो ज्ञानावरणादि कर्म का क्षयोपशम लेना चाहिए, क्यों कि वही दर्शन-क्रिया में कारणभूत है। इस के बदले तत्त्वरुचि क्यों लेते हैं? वह तो मिथ्यात्व–मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से साध्य होने से चक्षु कैसे कहलायेगी?

उ०—ठीक है, लेकिन जिस प्रकार चक्षुरहित अन्धे को नील–पीतादि वर्णका दर्शन हो सकता नहीं है, इसी प्रकार जीवादि तत्त्वरुचि से शून्य पुरुषको तत्त्वदर्शन हो सकता नहीं है। मात्र ज्ञानावरण कर्मों के क्षयोपशम से अगर तत्त्वज्ञान हो भी जाए तो भी वह प्रतिभास ज्ञान है, तत्त्व-

(ल०—) सत्यां चास्यां भवत्येतन्नियोगतः कल्याणचक्षुषीव सद्रूपदर्शनम्। न ह्यत्र प्रतिबन्धो नियमेन ऋते कालादिति निपुणसमयविदः। अयं चाप्रतिबन्ध एव, तथातद्भवनोपयोगित्वात्, तमन्तरेण तत्सिद्ध्यसिद्धेः, विशिष्टोपादानहेतोरेव तथापरिणतिस्वभावत्वात्।

(पं०—) भवतु भगवत्प्रसादसाध्येयं, परं स्वसाध्यं प्रति न नियतो हेतुभावोऽस्याः स्यादित्याह '**सत्यां च**'=विद्यमानायां च, '**अस्याम्**'=उक्तरूपश्रद्धायां, '**भवति**'=जायते, '**एतत्**'=तत्त्वदर्शनं, '**नियोगतः**'=अवश्यंभावेन। निदर्शनमाह '**कल्याणचक्षुषीव**'=निरूपहतायामिव दृष्टौ, **सद्रूपदर्शनं**, सतः=सद्भूतस्य, रूपस्य, **दर्शनम्**=अवलोकनं, न तु काचकामलाद्युपहत इव चक्षुषि अन्यथेति। एतदेव भावयति '**न हि**'=नैव, '**अत्र**'=मार्गानुसारिश्रद्धासाध्यदर्शने, '**प्रतिबन्धो**'=विष्कम्भो, '**नियमेन**'=अवश्यंभावेन, कुतश्चिदिति गम्यते। किं सर्वथा? नेत्याह, '**ऋते**'=विना, '**कालात्**,' काल एव ह्यत्र प्रतिबन्धक इति भावः। '**इति**'=एवं, '**निपुणसमयविदो**' निश्चयनयव्यवहारिणो ब्रुवते। ननु कालेऽपि प्रतिबन्धके कथमुच्यते 'न ह्यत्र प्रतिबन्धो नियमेने'त्याह '**अयं च**'=कालप्रतिबन्धः (च) '**अप्रतिबंध एव**'। कुत इत्याह '**तथेति**' दर्शनरूपतया तस्याः=श्रद्धायाः, भवनं=परिणमनं, तद्भवनं, तत्र '**उपयोगित्वात्**'=व्यापारवत्त्वात् कालस्य। व्यतिरेकमाह '**तम्**'=कालम्, '**अन्तरेण**'=विना, '**तत्सिद्ध्यसिद्धेः**=तस्य दर्शनस्य स्वभावलाभानिष्पत्तेः। कुत इत्याह '**विशिष्टस्य**'=विचित्रसहकारिकारणाहितस्वभावातिशयस्य, '**उपादानहेतोरेव**'=परिणामिकारणस्यैव, '**तथापरिणतिस्वभावत्वात्**' तथापरिणतिः=कार्याभिमुखपरिणतिः, सैव स्वभावो अस्य कालस्य तत्तथा, तद्भावस्तत्त्वं, तस्माद्द्रव्यपर्यायत्वात्कालस्य।

दर्शन नहीं। तत्त्वदर्शन तो परिणतिज्ञानरूप होता है, और उसके लिए मोहनीय कर्मका क्षयोपशम एवं तज्जन्य तत्त्वरुचि आवश्यक है। तत्त्वप्रशंसा, तत्त्व-अभिलाषा इत्यादि पहले प्रगट हो, बाद में तत्त्वश्रद्धान यानी तत्त्वपरिणति, तत्त्वदर्शन हो सकता है।

प्र०—फिर भी यह तत्त्वरुचि स्वरूप श्रद्धा किसी अन्य हेतु द्वारा साध्य हो, भगवत्प्रसाद द्वारा साध्य क्यों?

उ०—तत्त्वरुचि पैदा होने के लिए भगवत्प्रसाद इसीलिए कारण है कि यह तत्त्वरुचि, जो कि सम्यग्दर्शन रूप मोक्षमार्ग के प्रति अनुसरण करने के स्वभाव वाली है, वह बिना क्लेश यानी ज्यों कि त्यों प्राप्त नहीं हो सकती है। वह तो अर्हत् परमात्मा के प्रभाव से ही सिद्ध होती है। क्यों कि पहले कह चुके हैं कि अर्हद् भगवान के प्रति बहुमान बिना ऐसा कुछ सिद्ध हो सकता नहीं है।

प्र०—अच्छी बात है; तत्त्वरुचि भगवान के प्रसाद से लभ्य हो, लेकिन इस तत्त्वरुचि का अपने साध्य तत्त्वदर्शन के प्रति अगर अवश्य हेतुभाव न होगा तब क्या?

उ०—ऐसा नहीं है, पूर्वोक्त रुचिरूप श्रद्धा होने पर तत्त्वदर्शन अवश्य रूप से होता ही है। उदाहरणार्थ, जब चक्षु अनुपहत यानी किसी भी दोष से रहित है तो वस्तु का जैसा नील-पीतादि वर्ण है वैसा ही उसका दर्शन होता ही है; इसी प्रकार तत्त्वरुचि होने पर यथार्थ तत्त्वदर्शन होता ही है; नहीं कि दूसरे वर्ण के काच से या पीलिया-रोग से आक्रान्त चक्षु द्वारा होने वाला

(ल०—) तदेषाऽवन्ध्यवीजभूता धर्म्मकल्पद्रुमस्येति परिभावनीयम्। इयं चेह चक्षुरिन्द्रियं चोक्तवद् भगवद्भय इति चक्षुर्ददतीति चक्षुर्दाः ॥ १६ ॥

(पं०)—'उक्तवदि'ति=प्राक्सूत्राभिहिताभयधर्म्मवत् ।

विपरीत वर्णदर्शन की तरह विपरीत दर्शन होता है। इसीका समर्थन करते हुए ग्रन्थकार महर्षि कहते हैं कि निश्चयनय से व्यवहार करने वालों का यह मन्तव्य हैं, कि सम्यग्दर्शनादि-मोक्षमार्ग का अनुसरण करने वाली इस तत्त्वरुचि से तत्त्वदर्शन जो सिद्ध होता है, उस में किसीकी ओर से रुकावट निश्चित भाव से हो सकती ही नहीं है, सिवा काल, अर्थात् मात्र काल ही यहां प्रतिबन्धक है। शायद आप पूछेंगे कि

प्र०—जब एक काल भी प्रतिबन्धक है तब यह कैसे कह सकते हैं कि यहां निश्चयरूप से कोई रुकावट नहीं ?

उ०—समाधान यह है कि यहां काल से जो रुकावट होती है वह रुकावट ही नहीं है। इसका कारण यह है कि यहां श्रद्धा यानी रुचि स्वरूप बीज से जो दर्शन पैदा होता है, इस में रुचि ही दर्शन रूप में परिणत होती है, अर्थात् रुचि आगे जा कर दर्शन का आकार ग्रहण करती है, जैसे कि और बीज फल रूप में परिणत होते हैं। अब इस परिणति होने में काल उपयोगी है, काल माध्यम है; क्यों कि बिना काल वह सिद्ध नहीं हो सकती, अर्थात् दर्शन अपने स्वरूप का लाभ पा सकता नहीं है। इसका भी हेतु यह है कि विशिष्ट उपादान-कारण काल के द्वारा ही कार्य रूप में परिणत होने का स्वभाव वाला होता है। कारण दो प्रकार के होते हैं; १. निमित्त यानी सहकारी कारण, जैसे कि घड़ा बनाने में चक्र, कुम्भार वगैरह; २. उपादान यानी परिणामी कारण, उदाहरणार्थ घडे के प्रति मिट्टी; मिट्टी ही घडेका परिणाम (आकार) पाती है; तो वह परिणामी कारण हुई। प्रस्तुत में रुचि यह परिणामी कारण है और उस में अपना स्वभाव जब विविध सहकारी कारणों के संनिधान द्वारा उत्तेजित होता है, तब वह कार्यभूत दर्शन के रूप में परिणत होने के स्वभाववाली होती है। अब इन सहकारी कारणों के अन्तर्गत काल भी है; और वह कारण इस रीति से है, कि अमुक काल पसार न हो तब तक रुचि दर्शन रूप में परिणत नहीं होती है; अर्थात् तुर्त परिणत होने में काल प्रतिबन्धक है। लेकिन यहां काल सहकारी कारण होने से कहा कि काल की रुकावट असल में रुकावट ही नहीं है। काल तो द्रव्य का एक पर्याय(अवस्था) है; क्यों कि कारणद्रव्य अमुक काल से विशिष्ट होने पर कार्य के प्रति परिणत होता है।

इसलिए यह तत्त्वरुचि धर्म-कल्पवृक्ष का अवन्ध्य, अव्यभिचारी बीज रूप है। उसे बोने पर धर्मवृक्ष अवश्य विकसित होता है। यह तत्त्वरुचि जो कि पारमार्थिक चक्षु इन्द्रिय है, वह, पूर्व सूत्र में कहे गए अभयधर्म्म की तरह, अर्हत् परमात्मा के प्रभाव से प्राप्त होती है। इस प्रकार भगवान चक्षुको देते हैं, इस लिए कहा कि वे चक्षुदाता हैं ॥१६॥

(ल०-) सत्यां चास्यां भवत्येतन्नियोगतः कल्याणचक्षुषीव सद्रूपदर्शनम्। न ह्यत्र प्रतिबन्धो नियमेन ऋते कालादिति निपुणसमयविदः। अयं चाप्रतिबन्ध एव, तथातद्भवनोपयोगित्वात्, तमन्तरेण तत्सिद्ध्यसिद्धेः, विशिष्टोपादानहेतोरेव तथापरिणतिस्वभावत्वात्।

(पं०-) भवतु भगवत्प्रसादसाध्येयं, परं स्वसाध्यं प्रति न नियतो हेतुभावोऽस्याः स्यादित्याह 'सत्यां च' =विद्यमानायां च, 'अस्याम्'=उक्तरूपश्रद्धायां, 'भवति'=जायते, 'एतत्'=तत्त्वदर्शनं, 'नियोगतः'=अवश्यंभावेन। निदर्शनमाह 'कल्याणचक्षुषीव'=निरुपहतायामिव दृष्टौ, 'सद्रूपदर्शनं', सतः=सद्भूतस्य, रूपस्य, दर्शनम्= अवलोकनं, न तु काचकामलाद्युपहत इव चक्षुषि अन्यथेति। एतदेव भावयति 'न हि'=नैव, 'अत्र'=मार्गानुसारिश्रद्धासाध्यदर्शने, 'प्रतिबन्धो'=विष्कम्भो, 'नियमेन'=अवश्यंभावेन, कुतश्चिदिति गम्यते। किं सर्वथा ? नेत्याह, 'ऋते'=विना, 'कालात्,' काल एव ह्यत्र प्रतिबन्धक इति भावः। 'इति'=एवं, 'निपुणसमयविदो' निश्चयनयव्यवहारिणो ब्रुवते। ननु कालेऽपि प्रतिबन्धके कथमुच्यते 'न ह्यत्र प्रतिबन्धो नियमेने'त्याह 'अयं च' =कालप्रतिबन्धः (च) 'अप्रतिबंध एव'। कुत इत्याह 'तथेति' दर्शनरूपतया तस्याः=श्रद्धायाः, भवनं=परिणमनं, तद्भवनं, तत्र 'उपयोगित्वात्'=व्यापारवत्त्वात् कालस्य। व्यतिरेकमाह 'तम्'=कालम्, 'अन्तरेण'=विना, 'तत्सिद्ध्यसिद्धेः'=तस्य दर्शनस्य स्वभावलाभानिष्पत्तेः। कुत इत्याह 'विशिष्टस्य'=विचित्रसहकारिकरणाहितस्वभावातिशयस्य, 'उपादानहेतोरेव'=परिणामिकारणस्यैव, 'तथापरिणतिस्वभावत्वात्' तथापरिणतिः= कार्याभिमुखपरिणतिः, सैव स्वभावो अस्य कालस्य तत्तथा, तद्भावस्तत्त्वं, तस्माद्द्रव्यपर्यायत्वात्कालस्य।

दर्शन नहीं। तत्त्वदर्शन तो परिणतिज्ञानरूप होता है, और उसके लिए मोहनीय कर्मका क्षयोपशम एवं तज्जन्य तत्त्वरुचि आवश्यक है। तत्त्वप्रशंसा, तत्त्व-अभिलाषा इत्यादि पहले प्रगट हो, बाद में तत्त्वश्रद्धान यानी तत्त्वपरिणति, तत्त्वदर्शन हो सकता है।

प्र०—फिर भी यह तत्त्वरुचि स्वरूप श्रद्धा किसी अन्य हेतु द्वारा साध्य हो, भगवत्प्रसाद द्वारा साध्य क्यों ?

उ०—तत्त्वरुचि पैदा होने के लिए भगवत्प्रसाद इसीलिए कारण है कि यह तत्त्वरुचि, जो कि सम्यग्दर्शन रूप मोक्षमार्ग के प्रति अनुसरण करने के स्वभाव वाली है, वह बिना क्लेश यानी ज्यों कि त्यों प्राप्त नहीं हो सकती है। वह तो अर्हत् परमात्मा के प्रभाव से ही सिद्ध होती है। क्यों कि पहले कह चुके हैं कि अर्हद् भगवान के प्रति बहुमान बिना ऐसा कुछ सिद्ध हो सकता नहीं है।

प्र०—अच्छी बात है; तत्त्वरुचि भगवान के प्रसाद से लभ्य हो, लेकिन इस तत्त्वरुचि का अपने साध्य तत्त्वदर्शन के प्रति अगर अवश्य हेतुभाव न होगा तब क्या ?

उ०—ऐसा नहीं है, पूर्वोक्त रुचिरूप श्रद्धा होने पर तत्त्वदर्शन अवश्य रूप से होता ही है। उदाहरणार्थ, जब चक्षु अनुपहत यानी किसी भी दोष से रहित है तो वस्तु का जैसा नील-पीतादि वर्ण है वैसा ही उसका दर्शन होता ही है; इसी प्रकार तत्त्वरुचि होने पर यथार्थ तत्त्वदर्शन होता ही है; नहीं कि दूसरे वर्ण के काच से या पीलिया-रोग से आक्रान्त चक्षु द्वारा होने वाला

(ल०—) नास्मिन्नान्तरेऽसति यथोदितगुणस्थानावाप्तिः, मार्गविपमतया चेतःस्खलनेन प्रतिबन्धोपपत्तेः। सानुबन्धक्षयोपशमतो यथोदितगुणस्थानावाप्तिः, अन्यथा तदयोगात्।

(पं०) व्यतिरेकतो भावयन्नाह **'न'**=नैव, **'अस्मिन्'**=क्षयोपशमरूपे मार्गे, **'आन्तरे'**=अन्तरङ्गहेतौ, **'असति'**=अविद्यमाने, बहिरङ्गगुर्वादिसहकारिसद्भावेऽपि, **'यथोदितगुणस्थानावाप्तिः'**=सम्यग्दर्शनादिगुणलाभः। कुत इत्याह **'मार्गविपमतया'**=क्षयोपशमविसंस्थुलतया, **'चेतःस्खलनेन'**=मनोव्याघातेन, **'प्रतिबन्धोपपत्तेः'**=यथोदितगुणस्थानाप्तेर्विष्कम्भसम्भवात्। कुतः? यतः **'सानुबन्धक्षयोपशमात्'**=उत्तरोत्तरानुबन्धप्रधान (प्र०....प्रभूत) क्षयोपशमाद् **'गुणस्थानावाप्तिः'** पूर्वोक्ता जायत इति। व्यतिरेकमाह **'अन्यथा'** सानुबन्धक्षयोपशमाभावे, **'तदयोगात्'**=यथोदितगुणस्थानावाप्तेरभावात्।

फलितार्थ कहते हैं कि मार्ग कहो, विशिष्ट क्षयोपशम कहो, या चित्त का अवक्र गमन कहो, दरअसल वह (१)हेतु, (२)स्वरूप, और (३)फल की अपेक्षा से शुद्ध उपशम–सुख स्वरूप सुखासिका है। वह हेतुशुद्ध यानी पूर्वोक्त धृति और श्रद्धा इन दो कारणों की अपेक्षा से निर्दोष उपशम–सुख रूप होना चाहिए; तात्पर्य, वह मार्ग निर्भय आत्म–स्वास्थ्य और तत्त्वरुचि में से प्रगट होना जरूरी है। एवं वह स्वरूपशुद्ध अर्थात् अपने स्वरूपकी अपेक्षा से शुद्ध होना चाहिए; तात्पर्य, ऊपर कहे मुताबिक उपशम–सुख शुद्ध होना जरूरी है; शुद्ध याने आभासरूप, कृत्रिम अथवा दम्भपूर्ण नहीं, किन्तु राग–द्वेष–मोहादिका वास्तविक उपशमन। वास्तविक उपशम होगा तब उत्तरोत्तर गुण-विकास होता रहेगा। अतः ऊपर बताया वह मार्ग यानी उपशमसुख फलशुद्ध होना चाहिए; फलशुद्ध उसे कहते हैं कि जो तत्त्वरुचि के अनन्तर होने वाले तत्त्वजिज्ञासादि फल की अपेक्षा से निर्दोष हो। अर्थात् जिससे समुचित तत्त्वजिज्ञासादि अवश्य उत्पन्न होते हैं। यह 'मार्ग' का स्वरूप निश्चित हुआ।

अब निषेधमुख से विचार करते कहते हैं कि यह मिथ्यात्वादि–कर्मों के क्षयोपशम स्वरूप मार्ग, यह विशिष्ट गुणस्थान यानी सम्यग्दर्शनादि गुणोंकी प्राप्ति में अन्तरङ्ग हेतु है, और सद्गुरु आदि अन्य सामग्री बहिरङ्ग हेतु है। वहां अगर अन्तरङ्ग हेतुभूत मार्ग प्राप्त नहीं है तो बाह्य गुरुयोगादि सामग्री मौजूद होने पर भी सम्यग्दर्शनादि गुणोंकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इसका कारण यह है कि चित्त यदि मिथ्यात्वादि के क्षयोपशम स्वरूप मार्ग सिद्ध करने में विषम है अर्थात् उसके प्रति घबड़ाहट, पराङ्मुखता आदिका अनुभव करता है, तो सहज है कि चित्त मिथ्यात्वादि अशुभ कर्मों के उदय से परवश बनता है, और इससे चित्त को सम्यग्दर्शन की भूमिका रूप शुभ भाव में जाने के प्रति आघात पहुंचता है। फलतः पूर्वोक्त गुणस्थान की प्राप्ति की रुकावट होना संभवित है।

प्र०–अभय और चक्षु, यानि धृति और तत्त्वरुचि प्राप्त हुई, अब यदि मार्ग याने विशिष्ट गुणलाभ तक पहुंचे ऐसा क्षयोपशम नहीं भी मिला, तो क्या न्यूनता है?

१७. मग्गदयाणं (मार्गदेभ्यः)

(ल०मार्गस्वरूपम्)–तथा मग्गदयाणं। इह मार्गः चेतसोऽवक्रगमनं, भुजङ्गमगमननलिकायामतुल्यो विशिष्टगुणस्थानावाप्तिप्रगुणः स्वरसवाही क्षयोपशमविशेषः। हेतु-स्वरूप-फल-शुद्धा सुखेत्यर्थः।

(पं०)—'मग्गदयाणं,' 'मार्ग' इहेत्यादि, इह=सूत्रे, मार्गः=पन्थाः, स किंलक्षण इत्याह 'चेतसो=मनसो, 'अवक्रगमनं'=अकुटिला प्रवृत्तिः, कीदृशा इत्याह 'भुजङ्गमस्य'=सर्पस्य, 'गमननलिका' शुषिरवंशादिलक्षणा यथाऽसावन्तःप्रविष्टो गन्तुं शक्नोति, तस्य 'आयामो'=दैर्घ्यं, तेन तुल्यः क्षयोपशमविशेष इतियोगः। किंभूत इत्याह 'विशिष्टगुणस्थानावाप्तिप्रगुणः' इति=वक्ष्यमाणविशिष्टगुणलाभहेतुः 'स्वरसवाही' =निजाभिलाषप्रवृत्तः 'क्षयोपशमो'=दुःखहेतुदर्शनमोहादिक्षयविशेषः, तथाहि, यथा भुजङ्गमस्य नलिकान्तः–प्रविष्टस्य (प्र०....प्रवृत्तस्य) गमनेऽवक्र एव नलिकाऽऽयामः समीहितस्थानावाप्तिहेतुः, वक्रे तत्र गन्तुमशक्त(प्रत्य०....मशक्य)त्वाद्, एवमसावपि मिथ्यात्वमोहनीयादिक्षयोपशमश्चेतस इति। तात्पर्यमाह 'हेतु-स्वरूप-फलशुद्धा,' हेतुना=पूर्वोदितधृतिश्रद्धालक्षणेन, 'स्वरूपेण' स्वगतेनैव, फलेन=विविदिषादिना, शुद्धा, =निर्दोषा, सुखा=उपशम–सुखरूपा सुखासिकेत्यर्थः। एष मार्गस्वरूपनिश्चयः।

---

१७. मग्गदयाणं (मार्गः=विशिष्टगुणलाभयोग्य चित्तकी अकुटिल प्रवृत्ति यानी उपशमसुख)

'मार्ग' का स्पष्ट स्वरूपः—

अब 'मग्गदयाणं' पद। पहले 'अभय' से भयरहित धृति, और 'चक्खु'से तत्त्वरुचि यानी धर्मप्रशंसादि गृहीत किया, अब यहाँ 'मार्ग' कर के मन की अकुटिल प्रवृत्ति समझनी है। ऐसी मनःप्रवृत्ति, सर्पगमन के अनुकूल पोले बांस स्वरूप नलिका, जिससे अंदर दाखिल हुआ सर्प आगे जा सके,–इसकी लम्बाई के समान होती है; और वह क्षयोपशम-विशेष है।

प्र०—यह चित्तकी अकुटिल प्रवृत्ति यानी क्षयोपशम कैसा होता है?

उ०—यह चित्तप्रवृत्ति आगे कहे जाने वाले शरण एवं बोधि स्वरूप विशिष्ट गुणों के लाभ की हेतुभूत होती है, और यह अपनी अभिलाषा से प्रवृत्त होती है। एवं यह क्षयोपशम दुःखदायी मिथ्यात्व–मोहनीय कर्म के विशिष्ट क्षय स्वरूप होता है। तात्पर्य, जिस प्रकार सर्प को नलिका के भीतर प्रवेश करने के बाद इच्छित स्थान की प्राप्तिहेतु जाने में सरल ही लम्बाई अनुकूल होती है, क्यों कि वक्र में गमन करने के लिए वह असमर्थ होता है; इस प्रकार चित्त को तत्त्वरुचि के भीतर प्रवेश करने के बाद इष्ट फल की प्राप्ति के हेतु आगे बढने में मिथ्यात्व–मोहनीयादि कर्मों का ऐसा क्षयोपशम उपयुक्त होता है, जो उत्तरोत्तर शरणआदि द्वारा सम्यग्दर्शन प्रमुख विशिष्ट गुणों के लाभ कराने में समर्थ हो। चित्त की अवक्र प्रवृत्ति यही है कि वैसा क्षयोपशम हो, जिससे उत्तरोत्तर विशिष्ट गुणलाभ होना रहे; और यह है मार्ग।

(ल०–) नास्मिन्नान्तरेऽसति यथोदितगुणस्थानावाप्तिः, मार्गविषमतया चेतःस्खलनेन प्रतिबन्धोपपत्तेः। सानुबन्धक्षयोपशमतो यथोदितगुणस्थानावाप्तिः, अन्यथा तदयोगात्।

(पं०) व्यतिरेकतो भावयन्नाह 'न'=नैव, 'अस्मिन्'=क्षयोपशमरूपे मार्गे, 'आन्तरे'=अन्तरङ्गहेतौ, 'असति'=अविद्यमाने, बहिरङ्गगुर्वादिसहकारिसद्भावेऽपि, 'यथोदितगुणस्थानावाप्तिः'=सम्यग्दर्शनादिगुणलाभः। कुत इत्याह 'मार्गविषमतया'=क्षयोपशमविसंस्थुलतया, 'चेतःस्खलनेन'=मनोव्याघातेन, 'प्रतिबन्धोपपत्तेः'=यथोदितगुणस्थानाप्तेर्विष्कम्भसम्भवात्। कुतः ? यतः 'सानुबन्धक्षयोपशमात्'=उत्तरोत्तरानुबन्धप्रधान (प्र०....प्रभूत) क्षयोपशमात् 'गुणस्थानावाप्तिः' पूर्वोक्ता जायत इति। व्यतिरेकमाह 'अन्यथा' सानुबन्धक्षयोपशमाभावे, 'तदयोगात्'=यथोदितगुणस्थानावाप्तेरभावात्।

फलितार्थ कहते हैं कि मार्ग कहो, विशिष्ट क्षयोपशम कहो, या चित्त का अवक्र गमन कहो, दरअसल यह (१)हेतु, (२)स्वरूप, और (३)फल की अपेक्षा से शुद्ध उपशम-सुख स्वरूप सुखासिका है। यह हेतुशुद्ध यानी पूर्वोक्त धृति और श्रद्धा इन दो कारणों की अपेक्षा से निर्दोष उपशम-सुख रूप होना चाहिए; तात्पर्य, यह मार्ग निर्भय आत्म-स्वास्थ्य और तत्त्वरुचि में से प्रगट होना जरूरी है। एवं यह स्वरूपशुद्ध अर्थात् अपने स्वरूपकी अपेक्षा से शुद्ध होना चाहिए; तात्पर्य, ऊपर कहे मुताबिक उपशम-सुख शुद्ध होना जरूरी है; शुद्ध याने आभासरूप, कृत्रिम अथवा दम्भपूर्ण नहीं, किन्तु राग-द्वेष-मोहादिका वास्तविक उपशमन। वास्तविक उपशम होगा तब उत्तरोत्तर गुण-विकास होता रहेगा। अतः ऊपर बताया वह मार्ग यानी उपशमसुख फलशुद्ध होना चाहिए; फलशुद्ध उसे कहते हैं कि जो तत्त्वरुचि के अनन्तर होने वाले तत्त्वजिज्ञासादि फल की अपेक्षा से निर्दोष हो। अर्थात् जिससे समुचित तत्त्वजिज्ञासादि अवश्य उत्पन्न होते हैं। यह 'मार्ग' का स्वरूप निश्चित हुआ।

अब निषेधमुख से विचार करते कहते हैं कि यह मिथ्यात्वादि-कर्मों के क्षयोपशम स्वरूप मार्ग, यह विशिष्ट गुणस्थान यानी सम्यग्दर्शनादि गुणोंकी प्राप्ति में अन्तरङ्ग हेतु है, और सद्गुरु आदि अन्य सामग्री बहिरङ्ग हेतु है। यहां अगर अन्तरङ्ग हेतुभूत मार्ग प्राप्त नहीं है तो बाह्य गुरुयोगादि सामग्री मौजूद होने पर भी सम्यग्दर्शनादि गुणोंकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इसका कारण यह है कि चित्त यदि मिथ्यात्वादि के क्षयोपशम स्वरूप मार्ग सिद्ध करने में विषम है अर्थात् उसके प्रति घबड़ाहट, पराङ्मुखता आदिका अनुभव करता है, तो सहज है कि चित्त मिथ्यात्वादि अशुभ कर्मों के उदय में परवश बनता है, और इससे चित्त को सम्यग्दर्शन की भूमिका रूप शुभ भाव में जाने के प्रति आघात पहुंचता है। फलतः पूर्वोक्त [illegible] गन की प्राप्ति की रुकावट होना संभवित है।

प्र०–अभय और चक्षु, यानि धृति और तत्त्वरुचि प्राप्त हुई, [illegible] यदि [illegible] ने विशिष्ट गुणलाभ तक पहुंचे ऐसा क्षयोपशम नहीं भी [illegible] तो क्या [illegible]

(ल०–) क्लिष्टदुःखस्य तत्र तत्त्वतो बाधकत्वात् 'सानुबन्धं क्लिष्टमेतद्' इति तन्त्रगर्भ, तद्बाधितास्यास्य तथागमनाभावाद्, भूयस्तदनुभवोपपत्तेः।

(पं०–) कुत इत्याह **'क्लिष्टदुःखस्य'**–क्लिष्टं दुःखयतीति दुःखं कर्म्म, ततः क्लिष्टकर्म्मणः, **'तत्र'**= निरनुबन्धक्षयोपशमे, **'तत्त्वतः'**=अन्तरङ्गवृत्त्या, **'बाधकत्वात्'** प्रकृतगुणस्थानस्येति। क्लिष्टस्वरूपमेव व्याचष्टे **'सानुबन्धं'**=परम्परानुबन्धवत्, **क्लिष्टं'**=क्लेशकारि, **'एतत्'** कर्म्म, न पुनस्तत्कालमेव परमक्लेशकार्यपि स्कन्दकाचार्यशिष्यकर्म्मवद्, महावीरकर्म्मवद् वा; **'इति तन्त्रगर्भः'**=एष प्रवचनपरमार्थः. कुत एतदित्याह **'तद्बाधितस्य'**=क्लिष्टकर्म्माभिभूतस्य, **'अस्य'**=चेतस, **'तथागमनाभावात्'**=अवक्रतया विशिष्टगुणस्थान-गमनाभावात्। कुत इत्याह **'भूयः'**=पुनः, **'तदनुभवोपपत्तेः,'** **तस्य**=क्लिष्टदुःखस्य अनुभव एवोप-पत्तिस्तस्याः। अवश्यमनुभवनीये हि तत्र कथमवक्रं चित्तगमनं स्यादिति भावः।

उ०–न्यूनता की क्या बात, इस में विशिष्टगुणलाभ होगा ही नहीं। क्यों कि सानुबन्ध यानी उत्तरोत्तर प्रवाह की मुख्यता वाले क्षयोपशम के द्वारा ही पूर्वोक्त गुणस्थान की प्राप्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं। दर्शनमोहनीयादि कर्मों का कुछ क्षय एक बार होने से जीव विशिष्ट गुणस्थान तक पहुंच जाता है ऐसा नहीं है; क्यों कि बाद में उन कर्मों का उदय संभवित है। अतः क्षयोपशम सानुबन्ध होना चाहिए, यानी उत्तरोत्तर उसका प्रवाह बना रहना चाहिए, ताकि विशिष्ट गुणस्थान तक जीव पहुंच जाए। अन्यथा सानुबन्ध क्षयोपशम के अभाव मे विशिष्ट गुणस्थान प्राप्त नहीं होगा।

प्र०–सानुबन्ध क्षयोपशम के अभाव में विशिष्ट गुणलाभ क्यों नहीं होता है ?

उ०-कारण यह है कि निरनुबन्ध क्षयोपशम हुआ भी हो, फिर भी उस में क्लेशकारी दुःख देनेवाला क्लिष्ट कर्म उदित हो आन्तरिक रीतिसे प्रस्तुत गुणस्थान का बाधक होता है। प्रवचन यानी शास्त्र का यह रहस्य है कि **'सानुबन्धं क्लिष्टमेतद्'** अर्थात् **जो कर्म अनुबन्ध (परंपरा) वाला होता है, अर्थात् जिस कर्म के उदय में पुनः ऐसा ही कर्मबन्ध हुआ करता हो वह कर्म क्लिष्ट यानी क्लेशकारी कहा** जाता है। क्लिष्ट कर्म वह नहीं कि जो मात्र तत्काल परम क्लेशकारी हो, जैसे कि स्कन्दकाचार्य के शिष्यों का, या भगवान महावीर प्रभु का कर्म। स्कन्दकसूरि के शिष्यों को द्वेषी पालक मन्त्रीने यन्त्र में डाल डाल कर पीस दिया तो क्लेश यानी दुःख तो उत्कट हुआ; लेकिन वह आगे बार बार नहीं चला; क्यों कि वह कर्म निरनुबन्ध था; सानुबन्ध क्षयो-पशम से कर्म ऐसा निरनुबन्ध रहा। शुभ भावना और शुभ अध्यवसाय के बल पर उन्होंने ऐसा अन्तरङ्ग प्रवाहबद्ध क्षयोपशम जारी रखा कि क्लेशकारी कर्म सानुबन्ध न बन सका; और वहीं वे क्षायिक सम्यग्दर्शनादि से लेकर कैवल्य तक पहुंच कर मुक्त हो गए। श्री महावीर भगवान को भी सङ्गमदेव आदि के उपद्रव बरसने पर अत्यन्त दुःख सहना पड़ा, किन्तु सानुबन्ध क्षयोपशम से वह कर्म निरनुबन्ध रहा, क्लिष्ट नहीं रहा। क्लिष्ट कर्म वह बाधक होने का कारण यह है कि उससे

(ल०–) न चासौ तथातिसंक्लिष्टस्तत्प्राप्ताविति प्रवचनपरमगुह्यम् । न खलु भिन्नग्रन्थेर्भूयस्तद्बन्ध इति तन्त्रयुक्त्युपपत्तेः । एवमन्यनिवृत्तिगमनेन (पंजिका पाठः 'अनिवृत्तिगमनेन') अस्य भेदः ।

(पं०–) ननु सम्यग्दर्शनात्प्रागपि कस्यचिन्मिथ्यात्वगमनाद् कथमत्र क्लिष्टदुःखभाव इत्याह 'न च'=नैव, 'असौ'=प्रकृतजीवः, 'तथा'=प्रागिव, 'अतिसंक्लिष्टः'=अतीवसानुबन्धक्लेशवान्, 'तत्प्राप्तौ' मार्गप्राप्तौ, 'इति'=एतत् 'प्रवचनपरमगुह्यं'=शासनहृदयम् । अत्र हेतुः 'न खलु'=नैव, 'भिन्नग्रन्थेः'= सम्यक्त्ववतो,'भूयः'=पुनः'तद्बन्धो'=ग्रन्थिबन्धः,'इति'=एवं,'तन्त्रयुक्त्युपपत्तेः'=पुनस्तद्बन्धेन न व्यवलीयते कदाचिदि यादिशास्त्रीययुक्तियोगात् । ततः किं सिद्धमित्याह 'एवं'=सानुबन्धनया, 'अनिवृत्तिगमनेन' =अनिवृत्तिकरणप्राप्त्या, 'अस्य'=मार्गरूपक्षयोपशमस्य, 'भेदो'=विशेषः, शेषक्षयोपशमेभ्यः ।

अभिभूत हुआ चित्त विशिष्ट गुणस्थान के प्रति गमन नहीं कर सकता; क्यों कि वहां पुनः ऐसे क्लेशकारी दुःख का अनुभव अबाधित रहता है, कि जिसमें आत्मा की अशुभ चित्त–परिणति के कारण सम्यग्दर्शनादि–योग्य शुभ परिणति उत्थान ही नहीं पा सकती । तब यदि भविष्य में अवश्य भोग करने योग्य कर्म खड़े रहे तो वहां गुणस्थान के प्रति चित्त का ऋजुभावसे गमन कहां से हो सके ?

प्र०–सम्यग्दर्शन गुण प्राप्त होने पर भी किसी किसी को बाद में मिथ्यात्व पुनः प्राप्त होता है, तो वहां क्लिष्ट दुःख का अभाव कहां रहा ?

उ०–ठीक है, मिथ्यात्व प्राप्त होता भी हो, फिर भी ऐसा जीव पूर्व की तरह अतीव संक्लिष्ट याने सानुबन्ध क्लेशवाला होता ही नहीं है, यह प्रवचन अर्थात् शासनका परम रहस्य है, हृदय है । इसमें कारण यह है कि एक बार भी जिसने सम्यग्दर्शन प्राप्त किया, उसे अब कभी भी ग्रन्थिबन्ध होता नहीं है । 'ग्रन्थिबन्ध' कहते हैं ऐसे मिथ्यात्व कर्म के उपार्जन को, जिस का उपशम करने के लिए पुनः अपूर्वकरणादि का भारी प्रयत्न करना पड़े । शास्त्रीय युक्ति यही कहती है कि एक बार सम्यग्दर्शन का जिसने स्वाद पाया, वह बाद में कभी वहां से कदाचित् गिर भी जाए, तब भी वह मिथ्यात्व आदि कर्मों की उत्कृष्ट काल–स्थिति का उपार्जन नहीं करता । अतः मानना आवश्यक है कि प्रथम सम्यक्त्व तक पहुंचने में सानुबन्ध क्षयोपशम कार्य करता था । साथ में ऐसे अनिवृत्तिकरण यानी शुभ परिणति का प्रयत्नविशेष था, कि जहां से, अब विना सम्यग्दर्शन प्राप्त किये, आत्मा च्युत न हो । इसी से कर्मों का ऐसा सानुबन्ध क्षयोपशम अन्य निरनुबन्ध क्षयोपशमों से भिन्न पड़ता है ।

योगदर्शन में अभयादि के समान प्रवृत्ति आदि ५:—

जैनेतर शास्त्र से इस वस्तु की सिद्धि करते हुए कहते हैं कि सानुबन्ध क्षयोपशम वाले को जो ग्रन्थिभेदादि स्वरूप वस्तु पैदा होती है यह पतञ्जलि वगैरह योगाचार्यों के मत में प्रवृत्ति आदि दूसरे शब्द से यानी नामान्तर से कही हुई प्रसिद्ध है । वहां कहा गया है कि 'प्रवृत्ति–पराक्रम–

(ल०–योगदर्शने अभयादिसमाः प्रवृत्त्यादयः) सिद्धं चैतत्प्रवृत्त्यादिशब्दवाच्यतया योगाचार्याणां, 'प्रवृत्ति–पराक्रम-जया ऽऽनन्द-ऋतम्भरभेदः कर्मयोग' इत्यादिविचित्रवचनश्रवणादिति । न चेदं यथोदितमार्गाभावे; न चोक्तवद् भगवद्भ्यः, इति मार्गं ददतीति मार्गदाः ।१७।

(पं०–) परतन्त्रेणापीदं साधयन्नाह 'सिद्धं च'=प्रतीतं च, 'एतत्'=सानुबन्धक्षयोपशमवतो ग्रन्थिभेदादिलक्षणं वस्तु । 'प्रवृत्तिपराक्रमजयानन्दऋतम्भरभेदः कर्मयोगः', 'प्रवृत्तिः'=चरमयथाप्रवृत्तकरणशुद्धिलक्षणा, प्रकृतो मार्ग इत्यर्थः, पराक्रमेण=वीर्यविशेषवृद्ध्या अपूर्वकरणेनेत्यर्थः, 'जयो'=विघ्नकाभिभवो, विघ्नजयोऽनिवृत्तिकरणमित्यर्थः, 'आनन्दः'=सम्यग्दर्शनलाभरूपः, 'तमोग्रन्थिभेदादानन्दः' इतिवक्ष्यमाणवचनात्, 'ऋतम्भराः'=सम्यग्दर्शनपूर्वको देवतापूजनादिर्व्यापारः, ऋतस्य=सत्यस्य भरणात्; ततश्च ते प्रवृत्त्यादयो भेदा यस्य स तथा, 'कर्मयोगः'क्रियालक्षणः, कर्मग्रहणं इच्छालक्षणस्य प्रणिधानयोगस्य व्यवच्छेदार्थम् । सामान्येन ह्यन्यत्र योगः पञ्चधा; यदुक्तं 'प्रणिधि-प्रवृत्ति- विघ्नजय-सिद्धि-विनियोगभेदतः प्रायः । धर्म्मज्ञैराख्यातः शुभाशयः पञ्चधात्र विधौ ॥१॥' (षोडशके ३–६) शुभाशयश्च योगः, 'इत्यादि'इति, आदिशब्दादीच्छायोगादिवचनग्रहः ।

जया–ऽऽनन्द–ऋतम्भरभेदः कर्मयोगः' अर्थात् प्रवृत्ति, पराक्रम, जय, आनन्द, और ऋतम्भर,–इन पांच प्रकार के कर्मयोग होते हैं ।

(१) प्रवृत्तिः– इन में जो प्रवृत्ति कही गइ वह जैन मत से चरम यथाप्रवृत्त करण की आत्म–शुद्धि स्वरूप होती है । पहले कह आये हैं कि 'नदी–गोलपाषाण' न्याय से नदी में टकरा–टकरा कर गोल बनने वाले पाषाण की तरह जीव के कर्मों की स्थिति किसी विशिष्ट प्रयत्न बिना यथाप्रवृत्त यानी यों ही लघु हो जाती है । यह यथाप्रवृत्त–करण से हुआ; 'करण'का अर्थ बढता हुआ शुभ अध्यवसाय यानी आत्म–परिणाम है । यहां अब आत्मा के शुभ अध्यवसाय बढाने का विशिष्ट प्रयत्न कर अपूर्वकरण किया जाये तो निबिड़ रागद्वेष की ग्रन्थि का भेद हो सम्यग्दर्शन के प्रति प्रगति हो सके । लेकिन ऐसे कई यथाप्रवृत्त करण होते हैं कि जहां से आत्मा आगे बढने को जगह वापिस लौटती है और कर्मों की स्थिति बढा देती है । हां, अगर अपूर्व शुभ वीर्योल्लास से अपूर्वकरण प्राप्त होने वाला है, तो वहां यथाप्रवृत्त करण शुद्ध कहलाएगा । इसे योगदर्शन मत के अनुसार 'प्रवृत्ति' में अन्तर्भूत कर सकते हैं । यहां प्रवृत्ति, 'मग्गदयाणं' पद के विवेचन में 'मार्ग'का जो स्वरूप बतलाया, वही है ।

(२) पराक्रमः–प्रवृत्ति के बाद पराक्रम से कार्य करनेका है, अर्थात् शुभ वीर्योल्लास द्वारा अपूर्वकरण से आगे बढ़ना है । 'अपूर्वकरण' में अपूर्व याने पहले कभी नहीं किये ऐसे पांच कार्य होते हैं:–१ कर्मों की काल स्थिति का अपूर्व नाश, यह अपूर्व स्थितिघात है; २-कर्मों का अपूर्व रस–घात ३. नये शुभ कर्मों का अपूर्वस्थितिबन्ध; ४.गुणश्रेणि यानी नाश करने योग्य मिथ्यात्व मोहनीय कर्मों के दलिकों की असंख्यातगुण वृद्धि से वर्तमान उदयप्राप्त दलिकों में प्रक्षेप, ५. गुणसंक्रम अर्थात्

वर्तमान में उपार्जित होते हुए शुभ कर्मों के भीतर पूर्वोपार्जित अशुभ कर्मों का असंख्यात-गुण वृद्धि से संक्रमण.

(३) जयः—प्रतिबन्धक विघ्नों के पराभव को जय कहते हैं। वह अनिवृत्तिकरण स्वरूप है। यह करण प्राप्त करने के बाद अब सम्यग्दर्शन का आविर्भाव किए बिना निवृत्ति नहीं अर्थात् अनिवृत्ति होती है। इस करण के पिछले भाग में एक कार्य 'अंतरकरण' बनाने का होता है। वहां, आगे प्राप्त किये जाने वाले सम्यग्दर्शन के काल में सहज उदययोग्य जो मिथ्यात्वमोहनीय कर्म थे, उनको यहां पहले उदय में खींच लेता है, ता कि सम्यग्दर्शन का काल मिथ्यात्व के उदय से रहित हो जाने से, अब इसके आगे होने वाले दर्शनमोहनीय कर्मों के उदय तक अन्तर पड़ गया। वह 'अन्तरकरण' कहलाता है। वहां सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

(४) आनन्दः—सम्यग्दर्शन के लाभ स्वरूप आनन्द होता है; क्यों कि आगे कहनेवाले हैं कि 'तमोग्रन्थिभेदादानन्दः' अज्ञान-मिथ्याज्ञान की ग्रन्थि का भेद होने से आनन्द प्रगट होता है।

(५) ऋतम्भराः—ऋत का अर्थ है सत्य; इसका पोषण करे वह ऋतंभरा है; यह सम्यग्दर्शन पूर्वक देवाधिदेव की पूजा आदि प्रवृत्ति स्वरूप होती है।

इन प्रवृत्ति, पराक्रम आदि पांच प्रकार वाला कर्मयोग होता है। यह क्रिया स्वरूप है। यहां क्रिया रूप कर्मयोग का ग्रहण इसलिए किया कि प्रवृत्ति आदि को इच्छा स्वरूप प्रणिधान-योग न समझा जाए। दूसरे स्थल में सामान्य रूप से योग पांच प्रकार का गृहीत किया है; 'षोडशक तीसरे में ६वा श्लोक है:—

प्रणिधि-प्रवृत्ति-विघ्नजय-सिद्धिविनियोगभेदतः प्रायः।
धर्म्मज्ञैराख्यातः शुभाशयः पञ्चधात्र विधौ ॥ १ ॥

५ प्रणिधानादि शुभाशय (योग)—

पांच प्रकार के शुभाशय होते हैं। शुभाशयका अर्थ है योग। १. इन में पहली प्रणिधि याने प्रणिधान है। जो धर्म सिद्ध करना है, 'उसे मैं करूं' ऐसा निश्चल मन से कर्तव्यता का जो संकल्प किया जाता है वह प्रणिधान कहा जाता है। उस में साथ साथ परोपकार की वासना, और हीन गुण वालों पर द्वेष नहीं किन्तु दया रहती है; तभी वह शुद्ध प्रणिधान योग हो सकता है। २. प्रवृत्ति यह ऐसा उत्कट और निपुण प्रयत्न है कि जो प्रस्तुत धर्मकार्य सिद्ध करने के उद्देश से उसके उपायों में किया जाता है, और जहां क्रिया शीघ्र समाप्त कर देने की उत्सुकता नहीं रहती है। एवं इतिकर्तव्यता का भान जागरुक रहता है। ३. विघ्नजय यह धर्मसिद्धि में अन्तरायों की निवृत्ति करने वाला शुभ आत्म-परिणाम स्वरूप है। वह कण्टकविघ्नजय, ज्वरविघ्नजय, और मोहविघ्नजय,—इन तीन प्रकार का होता है। पहले में मार्ग के कांटे तुल्य शीतोष्णादि परीसह सहन

करने की तितिक्षा-भावना रहती है। दूसरे में प्रवास में विघ्नभूत ज्वर के समान शारीरिक रोग के प्रति 'ये मेरे आत्मस्वरूपको लेश मात्र भी बाधक नहीं हैं'-ऐसी भावना बनी रहती है, और रोगों के कारणभूत अहित-अमित आहारादि के सेवन से दूर रहना पड़ता है। तीसरे मोहविघ्न-जय में, प्रवास में दिशाका व्यामोह के सदृश मिथ्यात्वादि मोह से जनित मनोविभ्रम न हो पावे ऐसी गुरुपारतन्त्र्य पूर्वक प्रतिपक्ष शुभ भावनाएँ बनी रहती हैं। ४. सिद्धि यह प्रवृत्ति के उद्देशभूत अहिंसादि धर्मस्थान की प्राप्ति स्वरूप है। इस में साथ साथ अधिक गुणवाले गुर्वादिका विनय-सेवा-बहुमान, हीन गुण वालों के दुःखनिवारण-दान-दयाभाव, और मध्यम गुणवालों के प्रति उपकार-प्रवृत्ति बनी रहनी चाहिए। ५. विनियोग यह अपने को प्राप्त अहिंसादि धर्मस्थान का अन्य जीवों में संपादन कराना, इस स्वरूप है। इस से जन्मान्तरों में अधिकाधिक उच्च अहिंसादि प्राप्त होते हुए अन्त में जा कर सर्वोत्कृष्ट अहिंसादि प्राप्त होता है।

इच्छादि ४ योगः—

ये पांच प्रणिधानादि योग न गृहीत किये जाए, इसलिए यहां योगदर्शन में प्रवृत्ति-पराक्रमादि का कर्मयोग शब्द से उल्लेख किया। जैसे इतर दर्शन का यह वचन मिलता है वैसे इच्छा-योगादि के भी वचन प्राप्त होते हैं। इच्छायोगादि दो ढंगसे होते हैं;-१. इच्छायोग, शास्त्रयोग और सामर्थ्ययोग; जो पहले वर्णित हो चुके हैं। २. इच्छायोग, प्रवृत्तियोग, स्थिति (स्थैर्य) योग और सिद्धियोग। इनमें इच्छायोग उस उस धर्मस्थानकी कथा पर प्रीति स्वरुप होता है। प्रवृत्तियोग उपशमभाव से समन्वित यथाविहित धर्मपालन को कहते हैं। स्थितियोग यानी स्थैर्ययोग यह उस धर्म की बाधक चिन्ता से रहित होना है। इसमें धर्मअभ्यास की पटुता के कारण निरतिचार पालन होता है। सिद्धियोग यह दूसरों को स्वसदृश फलका संपादन है; यह यहां तक, कि उन में प्राथमिक योग-शुद्धि न हो तब भी सिद्धियोग के स्वामी के संनिधान में उनको फलप्राप्ति होती है; जैसे कि अहिंसायोग सिद्ध करने वाले के संनिधान में अन्य जीव अहिंसक बने रहते हैं; एवं सत्ययोग की सिद्धि वाले के निकट में और प्राणी असत्य नहीं बोल सकते।

'मग्गदयाणं' पदकी व्याख्या का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि यह ग्रन्थिभेदादि वस्तु पूर्वोक्त सानुबन्ध क्षयोपशम स्वरूप 'मार्ग' के अभाव मे नहीं हो सकती है, अतः मार्ग प्राप्तव्य है; और वह पहले बताए गए अभयादिके अनुसार, अरिहंत भगवान के पास से प्राप्त होता है। इसलिए जो मार्ग दें वे मार्गदाता कहलाते हैं; तो अर्हत्प्रभु मार्गदाता हैं॥ १७॥



१८ सरणदयाणं (शरणदेभ्यः)

(ल०– शरणं=तत्त्वचिन्ता, विविदिषा) तथा 'सरणदयाणं'। इह शरणं भयार्त्तत्राणं, तच्च संसारकान्तारगतानां अतिप्रबलरागादिपीडितानां दुःखपरम्परासंक्लेशविक्षोभतः समाश्वा(श्वा)-सनस्थानकल्पं, तत्त्वचिन्तारूपमध्यवसानं, विविदिषेत्यर्थः।

(पं०) 'दुःखपरम्पराक्लेशविक्षोभतः' इति, दुःखपरम्परायाः नरकादिभवरूपायाः, संक्लेशस्य च क्रोधादिलक्षणस्य, विक्षोभतः=स्वरूपह्रासलक्षणचलनादिति।

१८ सरणदयाणं (तत्त्वजिज्ञासारूप शरण देने वालों को)

'शरण' का अर्थ विविदिषाः—

अब 'सरणदयाणं' पद से भगवान की शरणदाता के रूप में स्तुति की जाती है। यहां 'शरण'का अर्थ भयपीड़ितों का रक्षण होता है।

प्र०—तब तो भगवान के द्वारा सबों की भयपीडा का आमूल निवारण क्यों नहीं होता?

उ०—रक्षण का यह अर्थ नहीं है। किन्तु जीव बेचारे जो संसार-अटवी में फँसे हुए हैं और अति प्रबल राग-द्वेष-अज्ञान-काम-क्रोध-लोभ आदि से पीड़ित हैं; भगवान उनके नरकादि भव स्वरूप दुःख एवं क्रोधादि रूप संक्लेश के स्वरूपका ह्रास करते हुए, आश्वासन के स्थान-तुल्य होते हैं; यह रक्षण का अर्थ है। अर्थात् भगवान् एक ऐसा आश्वासन-स्थान देते हैं कि जिससे नरकादि दुःख कर्मजन्य होने के कारण अल्प काल रहने पर भी, उस दुःख के चित्तोद्वेगकारी स्वरूप का ह्रास हो जाता है; एवं क्रोध-लोभादि के संक्लेश की उग्रता कम हो जाती है।

प्र०—ऐसे आश्वासनस्थान समान रक्षण यानी शरण क्या चीज है?

उ०—यह है तत्त्व की चिन्ता स्वरूप संकल्प, जिसे विविदिषा यानी तत्त्वजिज्ञासा कहते हैं। इसी-से ऐसा वास्तविक तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है कि जिस में दुःख और रागादि-संक्लेश नगण्य हो जाते हैं। अतः विविदिषा ही सच्चा शरण है-रक्षण है।

प्रज्ञा के आठ गुणः—

विविदिषा जो तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के संकल्प रूप है; उसके होने पर ही तत्त्व सम्बन्धी शुश्रूषादि आठ प्रज्ञा-गुण उत्पन्न होते हैं। वे हैं शुश्रूषा-श्रवण-ग्रहण-धारण-विज्ञान-ऊह-अपोह और तत्त्वाभिनिवेश। इन क्रमिक आठ गुणों के द्वारा ही तत्त्वज्ञान प्राप्त होता हैं; लेकिन इनका मूल है तत्त्वविविदिषा। अब यहां शुश्रूषादिका अर्थ दिखलाते हैं। (१) शुश्रूषा का अर्थ तत्त्व-श्रवण की अभिलाषा है। तत्त्वकी जिज्ञासा होने पर पहले तत्त्व सुनने की तत्परता होती है, वह है शुश्रूषा। बाद में (२) तत्त्ववेत्ता के समागम को प्राप्त कर उनके पास विनयादिपूर्वक शास्त्र का श्रवण किया जाता है, कहे जाते तत्त्व पर श्रोत्रेन्द्रिय का लक्ष केन्द्रित किया जाता है। (३) तीसरे

(ल०-८ प्रज्ञागुणाः-) सत्यां चास्यां तत्त्वगोचराः शुश्रूषा-श्रवण-ग्रहण-धारणा-विज्ञान-ऊहा-ऽपोह-तत्त्वाभिनिवेशाः प्रज्ञागुणाः ।

(पं०-) **'शुश्रूषे'**त्यादि,-**'शुश्रूषा,'**=श्रोतुमिच्छा, **'श्रवणं'**=श्रोत्रोपयोगः, **'ग्रहणं'**=शास्त्रार्थमात्रोपादानं, **'धारणम्'**=अविस्मरणं, मोहसन्देहविपर्ययव्युदासेन ज्ञानं=**'विज्ञानं,'** विज्ञातमर्थमवलम्ब्यान्येषु व्याप्त्या तथाविधवितर्कणम्=**'ऊहः,'** उक्तियुक्तिभ्यां विरुद्धादर्थात्प्रत्यपायसम्भावनया व्यावर्तनम्=**'अपोहः'** । अथवा सामान्य ज्ञानम् 'ऊहो,' विशेषज्ञानम् 'अपोहः' । विज्ञानोहापोहानुगमविशुद्धम् इदमित्थमेवेतिनिश्चयः=**'तत्त्वाभिनिवेशः'** । पश्चात्पदाष्टकस्य द्वन्द्वः समासः । **'प्रज्ञागुणाः'** बुद्धेरुपकारिण इत्यर्थः ।

गुण **'ग्रहण'** में सुने हुए तत्त्वशास्त्र के अर्थ मात्र गृहीत किये जाते हैं; भावार्थ आदि आगे चिन्तनीय हैं । क्यों कि यदि अब से भावार्थ तात्पर्यार्थ आदि में पड़े तो शास्त्र-वचनों का मूल अर्थ छूट जाए । (४) ग्रहण के अनन्तर **'धारणा'** गुण यानी अ-विस्मरण आवश्यक है । शास्त्रार्थ गृहीत तो किये, लेकिन यदि इनको मनमें दृढ न किया तो बाद में विस्मरण होगा । अतः अ-विस्मरण जरूरी है । इसके पश्चात् (५) **'विज्ञान'** गुण होना चाहिए; अर्थात् अवधारित किये गए शास्त्र के अर्थों के बारे में अब मोह यानी मूढता न हो, संदेह न हो, एवं विपरीत ज्ञान न हो, ऐसा श्रद्धापूर्वक निश्चित ज्ञान होना आवश्यक है । विज्ञान के बाद (६) **'ऊह'** गुण प्राप्त करना है । उसमें विज्ञात किये पदार्थ का अवलम्बन कर के कहां कहां अन्यों में इसका समन्वय होता है, यह विविध रीति से सोचा जाता है । इसके अनन्तर (७) **'अपोह'** भी किया जाता है; अर्थात् कहां कहां विरुद्ध वस्तु में से, अनर्थ होनेकी संभावना के कारण, विज्ञात किये पदार्थ की व्यावृत्ति होती है, यानी समन्वय नहीं हो सकता, यह शास्त्रवचन और युक्ति के द्वारा सोचा जाता है । दृष्टान्त के लिए, शास्त्र से विज्ञात किया कि 'जहां जहां स्वतन्त्र चेष्टा होती है वहां वहां आत्मा होती है ।' अब इसके पर 'ऊह' करने के लिए दूसरों में समन्वय सोचना चाहिए; तो जीते शरीरों में ऐसी चेष्टा देखने से आत्मा होने की प्रतीति होती है । एवं 'अपोह' करने के लिए यह सोचते हैं कि जिन जड पदार्थ एवं शवों में ऐसी चेष्टा नहीं दिखाई देती, वहां आत्मा नहीं है । यह अन्वय-व्यतिरेक ऊह-अपोह का एक अर्थ हुआ । दूसरा अर्थ है सामान्यज्ञान-विशेषज्ञान । विज्ञात किये अर्थ का सामान्य रूपसे ज्ञान यह 'ऊह' है, और विशेष रूपसे ज्ञान यह 'अपोह' है । अन्त में (८) **'तत्त्वाभिनिवेश'** गुण प्राप्त करना है । इसका अर्थ है, विज्ञान और ऊह-अपोह का ठीक उपयोग कर के 'यह तत्त्व ऐसा ही है' इस प्रकार का किया जाता निर्णय, यानी दृढ आग्रह, स्थिर मन्तव्य ।

इन आठ गुणों को प्रज्ञागुण याने बुद्धि के आठ गुण कहते हैं; क्यों कि वे बुद्धि के उपकारी है ।

(ल०—आभासतो बुद्धिगुणवैशिष्ट्यं–) **प्रतिगुणमनन्तपापपरमाण्वपगमेनैते इति समयवृद्धाः, तदन्येभ्यस्तत्त्वज्ञानायोगात्, तदाभासतयैतेषां भिन्नजातीयत्वात्, बाह्याकृतिसाम्येऽपि फलभेदोपपत्तेः ।**

(पं०–) किंविशिष्टा इत्याह **'प्रतिगुणम्'**=एकैकं शुश्रूषादिकं गुणमपेक्ष्योत्तरोत्तरतो **'अनन्तपापपरमाण्वपगमेन'** **'अनन्तानाम्'**=अतिबहूनां, **'पापपरमाणूनां'**=ज्ञानावरणादिक्लिष्टकर्मांशलक्षणानाम्, **'अपगमेन'**=प्रलयेन, **'एते'**=तत्त्वगोचरा शुश्रूषादयः, **'इति'** एतत्, **'समयवृद्धाः'**=बहुश्रुताः ब्रुवते । कुत इत्याह **'तदन्येभ्यः'**=उक्तविलक्षणहेतुप्रभवेभ्यः, **'तत्त्वज्ञानायोगाद्'**=भवनैर्गुण्यादिपरमार्थापरिज्ञानात् । एतदपि कुत इत्याह **'तदाभासतया'**=तत्त्वगोचरशुश्रूषादिसदृशतया, **'एतेषां'**=प्रतिगुणमनन्तपापपरमाण्वपगममन्तरेण जातानां, **'भिन्नजातीयत्वाद्'**=अन्यजातिस्वभावत्वात् (प्रत्य० ....जातिमत्वात्) । नन्वाकारसमतायामपि कुत एतदित्याह **'बाह्याकृतिसाम्येऽपि'**=तत्त्वगोचराणामितरेषां च शुश्रूषादिनां **'फलभेदोपपत्तेः,'** फलस्य=भवानुरागस्य तद्विरागस्य च यो भेदः=आत्यन्तिकं वैलक्षण्यं. स एव **उपपत्तिः**=युक्तिः, तस्याः । कथं नाम एकस्वभावेषु द्वयेष्वपि शुश्रूषादिषु बहिराकारसमतायामित्थं फलभेदो युज्यत इति भावः ।

सच्चे और झूठे बुद्धिगुणों का तारतम्य—

अब ये सच्चे प्रज्ञागुण कौनसी विशेषतावाले होते हैं यह बतलाते हैं । उन तत्त्वसम्बन्धी बुद्धिगुणों में-शुश्रूषादि प्रत्येक गुण की अपेक्षा उत्तरोत्तर श्रवणादि गुण अति बहु ज्ञानावरणादि क्लिष्ट कर्मों के अणु स्वरूप पाप परमाणुओं का नाश होने से होते हैं;-ऐसा बहुश्रुत यानी बहु शास्त्र जाननेवाले कहते हैं । तात्पर्य आठ गुणों में ऊपर ऊपर के प्रत्येक गुण के लिए अधिकाधिक क्लिष्ट कर्मों का क्षय आवश्यक है । कहिए क्यों ऐसा ? कारण यह है कि ऐसे कर्मक्षय द्वारा पैदा न हुए, और विलक्षण कारणों से उत्पन्न हुए असत् शुश्रूषा-श्रवणादि के द्वारा तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता है, संसारकी निर्गुणता-निरुपकारिता आदि का ज्ञान अर्थात्-'संसार निर्गुण है, आत्मा का उपकारी नहीं किन्तु अपकारी है; धन-परिवारादि संयोग विनश्वर हैं; इन्द्रियों के विषयभूतशब्दरूपादि विपाकदारुण होने से विषसमान हैं; मृत्यु अवश्यंभावी है; एकमात्र धर्म ही सारभूत है;'-इत्यादि पारमार्थिक तत्त्व का ज्ञान नहीं हो सकता । नाम से शुश्रूषादि गुण कहलाने पर भी इन से तत्त्वज्ञान नहीं हो सकने का कारण यह है कि प्रतिगुण अनन्तकर्मक्षय हुए बिना पैदा होने वाले ये शुश्रूषादि आभास रूप होते हैं । वे तत्त्वसम्बन्धी सच्चे शुश्रूषादि गुण के समान दिखाई देते हैं इतना ही; लेकिन हैं विलक्षण; क्यों कि वे अन्य जाति के स्वभाववाले होते हैं ।

प्र०—बाह्य आकार तो समान होता है, फिर भी भेद क्यों ?

उ०—तत्त्वसम्बन्धी शुश्रूषादि और आभासरूप शुश्रूषादि में, उनके फल में भेद होने से, भेद है । पापक्षय से नहीं हुए ऐसे शुश्रूषादि से फल रूप में संसारका अनुराग श्रद्धा प्रीति बढ़ती है । और सच्चे शुश्रूषादि से फल रूप में संसार के प्रति अनास्था, वैराग्य प्रगट होता है । ऐसी फलकी

(ल०—गुणाभासकारणानि) संभवन्ति तु वस्त्वन्तरोपायतया तद्विविदिषामन्तरेण, न पुनः स्वार्थसाधकत्वेन भावसाराः, अन्येषां प्रबोधविप्रकर्षेण प्रबलमोहनिद्रोपेतत्वात्।

उक्तं चैतदन्यैरप्यध्यात्मचिन्तकैः; यदाहावधूताचार्यः "नामत्ययान्नुग्रहमन्तरेण तत्त्वशुश्रूपादयः, उदकपयोमृतकल्पज्ञानाजनकत्वात्। लोकसिद्धास्तु सुप्तनृपाख्यानकगोचरा इवान्यार्था एवे"ति। विपयतृडपहार्येव हि ज्ञानं त्रिशिष्टकर्मक्षयोपशमजं, नान्यद्, अमक्ष्यास्पर्शनीयन्यायेनाज्ञानत्वात्। न चैवं यथोदितशरणाभावे। तच्च पूर्ववद् भगवद्भ्य इति 'शरणं दद' तीतिशरणदाः ॥१८॥

(पं०—) तर्हि न संभविष्यन्त्येव तत्त्वगोचरतामन्तरेण शुश्रूपादय इत्याशङ्क्याह 'संभवन्ति तु'=न न संभवन्ति, 'तुः' पूर्वेभ्य एषां विशेषणार्थः। तदेव दर्शयति 'वस्त्वन्तरोपायतया' वस्त्वन्तरं=तत्त्वविविदिषापेक्षया पूजाभिलाषादि, तद् उपायः=कारणं येषां ते तथा, तद्भावस्तत्ता, तया। अत एवाह 'तद्विविदिषामन्तरेण'=तत्त्वजिज्ञासां विना, व्यवच्छेदमाह 'न पुनः'=न तु, 'स्वार्थसाधकत्वेन' 'भावसाराः' =परमार्थरूपाः। ननु कथं न स्वार्थसाधका एते? इत्याह 'अन्येषां'=वस्त्वन्तरोपायतया प्रवृत्तानां 'प्रबोधविप्रकर्षेण'=तत्त्वपरिज्ञानदूरभावेन हेतुना, 'प्रबलमोहनिद्रोपेतत्वाद्'=बलिष्ठमिथ्यात्वमोहस्वापावष्टब्धत्वात्।

अत्यन्त विलक्षणता की युक्ति पर दोनों का भेद सिद्ध होता है। अन्यथा एक ही स्वभाव वाले दो प्रकार के शुश्रूपादिओं में बाह्य आकार समान होने पर फल का भेद क्यों होना चाहिए?

आभासरूप शुश्रूषादि का कारणः—

प्र०—तब तो भव-वैराग्यादि तत्त्व के उद्देश बिना शुश्रूषादि होना ही नहीं चाहिए?

उ०—ऐसा मत कहिए, जगत में अशुभ आशय से असली वस्तुकी नकल होती है। अतः आभास रूप विलक्षण शुश्रूषादि होते नहीं हैं वैसा नहीं, वरन् तत्त्वजिज्ञासा के बदले और भी ऐसी इच्छाएँ हो सकती हैं, जैसे कि लोगों में पूजा-सन्मान की अभिलाषा आदि, जिन के कारण भी शुश्रूषादि होना संभवित है। लेकिन इनमें विलक्षणता इतनी है कि वे शुश्रूषादि तत्त्वजिज्ञासा के बिना होने की वजह अपने कार्य के साधक न होने से परमार्थ स्वरूप यानी तात्त्विक नहीं है। ये स्वार्थ के साधक न होने का कारण यह है कि पूजाभिलाषादि अन्य वस्तु के हेतु से प्रवृत्त वे शुश्रूषादि अत्यन्त बलवान मिथ्यात्व-मोह स्वरूप निद्रा से आक्रान्त हैं; क्यों कि तत्त्वज्ञान से वे दूर हैं। ऐसी हालत में वे स्वार्थ यानी सच्चे तत्त्वज्ञान का साधक कहां से हो सके? एवं असली शुश्रूषादि भी कैसे कहा जाएँ?

अन्य दर्शन वालों की सम्मतिः—

इस बात का परमत से भी समर्थन करते हुए कहते हैं कि यह तत्त्वज्ञान के अभाव की वस्तु हमने तो क्या, लेकिन हमसे भिन्न जाति वाले आत्मतत्त्व के गवेषक अध्यात्मचिन्तकों ने भी कहा है; जैसे कि योगिमार्ग के प्रणेता अवधूताचार्यने कहा है कि,

(पं०—) परमतेनाप्येतत्समर्थयन्नाह,'उक्तं च'=निरूपितं च,'एतत्,'=तदन्येभ्यस्तत्त्वज्ञानाभावलक्षणं वस्तु, "अन्यैरपि'=अस्मदपेक्षया भिन्नजातीयैरपि, किं पुनरस्माभिः, कैरित्याह 'अध्यात्मचिन्तकैः'=आत्मतत्त्वगवेषकैः, कुत इत्याह 'यद्'=यस्मात्कारणाद् 'आह'=उक्तवान्, 'अवधूताचार्यो' योगिमार्गप्रणायकः, उक्तमेव दर्शयति 'न'=नैवं, 'अमत्ययानुग्रहं'=सदाशिवकृतोपकारम्, 'अन्तरेण'=विना, 'तत्त्वशुश्रूषादयः' उक्तरूपाः। कुत इत्याह 'उदकपयोमृतकल्पज्ञानाजनकत्वात्;' उदकं=जलं, पयः=क्षीरं, अमृतं=सुधा, तत्कल्पानि, विषयतृष्णापहारित्वेन श्रुतचिन्ताभावनारूपाणि ज्ञानानि तदजनकत्वात्। तत्त्वगोचरा एव हि शुश्रूषादयो मृदुमध्याधिकमात्रावस्था एवंरूपज्ञानजनका इति। स एव इतरानवजानन्नाह 'लोकसिद्धास्तु' =सामान्येन लोकप्रतिष्ठिताः, तुः=पुनः शुश्रूषादयः, 'सुप्तनृपाख्यानगोचरा इव' यथा सुप्तस्य=शय्यागतस्य नृपस्य=राज्ञो, निद्रालाभार्थम् 'आख्यानविषया' शुश्रूषादयोऽन्यार्था एव भवन्ति, न त्वाख्यानपरिज्ञानार्थाः। 'इति' अवधूताचार्योक्तिसमाप्त्यर्थः। सर्वतात्पर्यमाह 'विषयतृडपहार्येव हि ज्ञानम्'=विपाकारविषयाभिलापनिवर्त्तकमेव, 'हिः=यस्मात्कारणात्, ज्ञानं=तत्त्वबोधः, कीदृशमित्याह 'विशिष्टकर्मक्षयोपशमजं'= विशिष्टात् मिथ्यात्वमोहविषयात् क्षयोपशमाज्जातम्। अनभिमतप्रतिषेधमाह 'न'=नैव, 'अन्यद्'=विषयतृष्णानपहारि, ज्ञानमिति गम्यते। कुत इत्याह 'अभक्ष्यास्पर्शनीयन्यायेन' प्राग्व्याख्यातेन, 'अज्ञानत्वात्'= तत्त्वचिन्तायां ज्ञानाभावरूपत्वात्। यदि नामैवं ततः किमित्याह 'न च'=नैव, 'इदं'=ज्ञानं, 'यथोदितशरणाभावे'=प्रागुदितविविदिषाविरहलक्षणे। एवमपि किमित्याह 'तच्च'=शरणं, 'पूर्ववद्'=अभयादिधर्मवद्, 'भगवद्भ्य' इति ॥ १८ ॥

'नामत्ययानुग्रहमन्तरेण तत्त्वशुश्रूषादयः' अर्थात् सदाशिव द्वारा उपकार कराये विना उक्त असली तत्त्वशुश्रूषादि प्रज्ञागुण उत्पन्न नहीं हो सकते। नहीं होने का कारण यह आचार्य यह बतलाते हैं कि नकली तत्त्वशुश्रूषादि के गुण, ये पानीरूप श्रुतज्ञान, दूध रूप चिन्ताज्ञान, एवं अमृत रूप भावनाज्ञान को पैदा कर सकते नहीं हैं। तत्त्वजिज्ञासा से उत्पन्न ही शुश्रूषादि श्रुत-चिन्ता-भावना रूप ज्ञान को उत्पन्न कर सकते हैं। ये शुश्रूषादि मृदु मात्रा में होने पर श्रुतज्ञान का, मध्य मात्रा में होने पर चिन्ताज्ञान का, और अधिक मात्रा में होने पर भावना ज्ञान का जनक होते हैं। तत्त्वज्ञान की तीन कक्षाएँ होती हैं; पहले शास्त्रश्रवण होने पर पद और अर्थ का ज्ञान मात्र जो होता है वह है श्रुतज्ञान; यह मृदु कक्षा के शुश्रूषादि से लभ्य है। बाद में मध्यम कक्षा के शुश्रूषा आदि की वजह से उन्हीं शास्त्रार्थ पर तर्कपूर्ण चिन्तनात्मक ज्ञान होता है; यह चिन्ताज्ञान कहा जाता है। उसके अनन्तर उत्कृष्ट मात्रा के शुश्रूषादि से उन्हीं चिन्तित शास्त्रार्थ के आत्मपरिणति याने स्वसंवेदन रूप भावनाज्ञान होता है।

अतात्त्विक शुश्रूषादि पर सुप्तनृपाख्यान दृष्टान्तः—

वे ही अवधूत आचार्य इन असली तत्त्वशुश्रूषादि से अतिरिक्त अतात्त्विक शुश्रूषादि की अवगणना करते हुए कहते हैं कि लोक में सामान्य रूप से चलते हुए वैसे कृत्रिम शुश्रूषादि तो

शय्या में पड़े हुए राजाको नींद लाने के लिए कही जाती किसी कथा के सम्बन्ध में भी होते हैं। किन्तु वे शुश्रूषादि कथा के तत्त्व का ज्ञान करने के लिए उत्थित नहीं होते हैं। तब ऐसे तत्त्वशुश्रूषादि से क्या ?-अवधूताचार्य का यह कथन है।

विषयतृष्णा को दूर करे वही सच्चा ज्ञानः—

इस सभी का तात्पर्य यह है कि तत्त्वबोध यानी सच्चा तत्त्वज्ञान वही है जो विष के समान विषयतृष्णा को दूर करे। इसीलिए विशिष्ट कर्म यानी मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से जो विषयतृष्णा का निवारक तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है, वही सच्चा तत्त्वज्ञान है; नहीं कि विषयतृष्णा को न हटाए ऐसा अन्य ज्ञान। केवल ज्ञानावरणकर्म का क्षयोपशम होने से 'तत्त्वप्रतिभास' ज्ञान याने आभासरूप ज्ञान होता है। इसमें इन्द्रिय के विषयों की तृष्णा, आस्था, बहुमान आदि निवृत्त नहीं होता है। लेकिन जब मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म का भी क्षयोपशम होता है, तब 'तत्त्वपरिणति' ज्ञान होता है, जो इन्द्रियों के विषयो की तृष्णा के ताप को शान्त करता है; विषयों पर अनास्था, अबहुमान जगाता है। यही तात्त्विक शुश्रूषादि से जन्म पाने वाला ज्ञान सच्चा तत्त्वज्ञान है; बाकी तो अज्ञान ही है।

प्र०—पूजाभिलाषादि से भी प्रवृत्त शुश्रूषादि के द्वारा ज्ञान तो होता है, फिर अज्ञान कैसे ?

उ०—'अभक्ष्य-अस्पर्शनीय' न्याय से वह अज्ञान कहा जाता है। पहले कह आये हैं कि भक्षण कर सके ऐसे भी गोमांसादि पदार्थ अभक्ष्य कहलाते हैं; और जिसे स्पर्श कर सके ऐसे भी चाण्डालादि अस्पर्शनीय माने जाते हैं; इस प्रकार तत्त्व की अपेक्षा से देखने पर वह ज्ञान अज्ञानरूप ही है; क्यों कि यहां ज्ञान-प्रकाश का कार्य, जो विषयतृष्णा स्वरुप अन्धकार का नाश होना चाहिए, वह नहीं हुआ।

अतः कहते हैं कि विषयतृष्णा का निवारक ही वही तत्त्वज्ञान है; और यह जिन शुश्रूषादि से उत्पन्न होता है, वे पूर्वोक्त विविदिषा यानी तत्त्वजिज्ञासा के बिना नहीं हो सकते हैं। यह तत्त्वजिज्ञासा 'शरण' है; और अभयादि के समान यह शरण भी अरहंत परमात्मा के पास से ही सिद्ध हो सकता है। इसलिए स्तुति की गई सरणदयाणं ॥ १८॥



१९ बोहिदयाणं (बोधिदेभ्यः)

(ल०–) तथा 'बोहिदयाणं'। इह बोधिः=जिनप्रणीतधर्मप्राप्तिः। इयं पुनर्यथाप्रवृत्तापूर्वा-ऽनिवृत्तिकरणत्रयव्यापाराभिव्यङ्ग्यमभिन्नपूर्वग्रन्थिभेदतः पश्चानुपूर्व्या प्रशम–संवेग–निर्वेदा–ऽनुकम्पा–ऽऽस्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं; विज्ञप्तिरित्यर्थः। पञ्चकमप्येत-दपुनर्बन्धकस्य यथोदितस्य, अस्य पुनर्बन्धके स्वरूपेणाभावात्। इतरेतरफलमेतदिति नियमः, अनीदृशस्य तत्त्वायोगात्। न ह्यचक्षुष्फलमभयं, चक्षुर्वाऽमार्गफलम्,....इत्यादि।

(पं०–)बोहिदयाणं। 'पञ्चकमपि'=अभयचक्षुरादिरूपम् (अपि), आस्तां प्रस्तुता बोधिः, 'एतद्' अनन्तरोदितम् 'अपुनर्बन्धकस्य' उक्तलक्षणस्य, कुत इत्याह 'यथोदितस्य'=उक्तनिर्वचनस्य, 'अस्य'=पञ्च-कस्य, 'पुनर्बन्धके'=अपुनर्बन्धकविलक्षणे, 'स्वरूपेण'=स्वस्वभावेन, 'अभावात्'। अस्यैव हेतोः सिद्ध्यर्थ-माह 'इतरेतरफलं' इतरस्य=पूर्वपूर्वस्य, 'इतरद्'=उत्तरोत्तरं, 'फलं'=कार्यं, 'एतत्'=पञ्चकम्, 'इति'= एषः, 'नियमो'=व्यवस्था। कुत एतदित्याह 'अनीदृशस्य'=इतरेतराफलस्य पञ्चकस्य, 'तत्त्वायोगात्,' तत्त्वस्य=अभयादिभावस्य, 'अयोगाद्'=अघटनात्। एतदेव भावयति 'न हि'=नैव, 'अचक्षुष्फलं'=नास्ति चक्षुः फलमस्य तत्तथा, 'अभयं' 'चक्षुर्वा' उक्तरूपम्, 'अमार्गफलं'=मार्गलक्षणफलरहितमिति 'आदि' शब्दान्मार्गोऽशरणफलं, शरणं चाबोधिफलमिति।

१९. बोहिदयाणं (सम्यग्दर्शन देने वालों को)

अब 'बोहिदयाणं' पदकी व्याख्या करते है। 'बोधि' शब्द का अर्थ जिनप्रणीत यानी वीतराग सर्वज्ञ श्री अरिहंत परमात्मा के द्वारा उपदिष्ट धर्म की प्राप्ति होता है; उसका अर्थ है तत्त्वार्थ–श्रद्धा रूप सम्यग्दर्शन। (जिनोपदिष्ट धर्म है श्रुतधर्म और चारित्रधर्म; उसकी प्राप्ति यानी उसे प्राप्त होना, उसके समीप आना। समीप आने का जिनोक्ततत्त्वों की श्रद्धा से होता है, अतः धर्म–प्राप्ति हुई तत्त्वार्थश्रद्धा–सम्यग्दर्शन स्वरूप)। यह सम्यग्दर्शन–(१) यथाप्रवृत्तकरण अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीनों की प्रवृत्ति के द्वारा प्रगट होता है; (२) पहले कभी नहीं किया ऐसे ग्रन्थिभेद के द्वारा होता है; और (३) पश्चानुपूर्वी क्रमसे उत्पन्न होने वाले प्रशम–संवेग–निर्वेद–अनुकम्पा–आस्तिक्य,–इन पांचों की अभिव्यक्ति स्वरूप पांच लक्षण वाला होता है। उसे विज्ञप्ति कही जाती है।

मात्र प्रस्तुत बोधि ही क्या, किन्तु अभय, चक्षु, आदि पांच यानी अभय से बोधि तक की पूर्वोक्त पांच वस्तु अपुनर्बन्धक आत्मा को ही उत्पन्न होती है। अपुनर्बन्धक जीव का स्वरूप पहले कह आये हैं। वह तीव्रभाव से पाप नहीं करता है, घोर संसार के प्रति बहुमान नहीं रखता है, और सर्व उचित करता है। उसी को अभयादि पांच प्राप्त होते हैं; कारण, अपुनर्बन्धक

(ल०—आभासरूप-अभयादिः—) एवं चोत्कृष्टस्थितेराग्रन्थिप्राप्तिमेते भवन्तोऽप्यसकृन्न तद्रूपतामासादयन्ति, विवक्षितफलयोग्यतावैकल्यात् ।

(पं०—) यदि नामैवं ततः किम् ? इत्याह 'एवं च'=इतरेतरफलतायां च सत्याम् 'उत्कृष्टस्थितेः' मिथ्यात्वादिगतायाः, 'आ'=इति प्रारभ्य, 'ग्रन्थिप्राप्ति'=समयसिद्धग्रन्थिस्थानं यावद्, 'एते'=अभयादयो, 'भवन्तोऽपि'=जायमाना अपि, 'असकृद्'=अनेकशः, 'न'=नैव, 'तद्रूपतां'=भावरूपाभयादिरूपताम्, 'आसादयन्ति'=लभन्ते, कुत इत्याह 'विवक्षितफलयोग्यतावैकल्यात्,' विवक्षितं फलमभयस्य चक्षुः, चक्षुषो मार्ग., इत्यादिरूपं, तज्जननस्वभावाभावात् ।

(ल०—वास्तवाभयादियोग्यतास्वरूपम्—) योग्यता चाफलप्राप्तेस्तथाक्षयोपशमवृद्धिः, लोकोत्तर भावामृतास्वादरूपा, वैगुण्यकारिणी विषयविषाभिलाषस्य । न चेयमपुनर्बन्धकमन्तरेणेति भावनीयम् ।

जीव से विलक्षण ऐसे पुनर्बन्धक जीव में पूर्ववर्णित अभयादि-पंचक अपने ऐसे स्वभाव वश प्रगट नहीं हो सकता है । इसका कारण यह है कि एसा नियम है, व्यवस्था है, कि अभयादि पांच गुणों में पूर्व पूर्व के गुण से ही उत्तरोत्तर गुण, यानी अभयसे चक्षु, चक्षु से मार्ग, इत्यादि रूप से उत्पन्न हो सकता है । पूछिए, क्यों ऐसा ? उत्तर यह है कि अभयादि पांच यदि इस रीति से अर्थात् पहले से दूसरा गुण, दूसरे से तीसरा गुण, इत्यादि पद्धति से उत्पन्न न हुए हों, तो बाह्य वे दिखाव में अभय, चक्षु आदि स्वरुप हों, लेकिन उनमें वास्तविक अभयता, चक्षुता, वगेरेह घट सकते नहीं । यही स्पष्ट कर के कहे तो, जो अभय गुण चक्षु को उत्पन्न नहीं करता है, वह अभय सचा अभय ही नहीं है, सच्चा आत्मस्वास्थ्य यानी धृति ही नहीं है । एवं मार्ग को न उत्पन्न कर सकने वाली चक्षु में चक्षुकी पूर्वोक्त रुचिरूपता नहीं हो सकती है । इस प्रकार शरण को पैदा नहीं कर सकने वाले मार्ग में पूर्वोक्त मार्गरूपता ही नहीं, और बोधि को पैदा नहीं कर सकने वाले शरण में शरण-रूपता यानी विविदिषा(तत्त्वजिज्ञासा)रूपता ही नहीं हो सकती है ।

वास्तविक अभयादिकी विशेषताः—

प्र०—अभयादि पांच वैसे ही होने में क्या विशेषता ? क्रम विना भी हो, तो क्या हानि ?

उ०—क्रम विना भी आभासरूप अभय वगैरह पैदा हो तो सकते हैं, अर्थात् मिथ्यात्वादि कर्मों की उत्कृष्ट कालस्थिति से ले कर ह्रास होते होते शास्त्रप्रसिद्ध 'ग्रन्थिदेश' तक की कालस्थिति रहने पर भी ये अभयादि गुण क्रमनियम विना उत्पन्न नहीं होवे हैं वैसा नहीं, अनेक बार उत्पन्न होते हैं; लेकिन जब सच्चे अभयादिमें पूर्व पूर्व गुण उत्तरोत्तर गुण का उत्पादक होता है, तब क्रमशून्य वे आभासरूप अभयादि वास्तविक अभयादि का स्वरूप प्राप्त कर सकने नहीं हैं । इसका कारण यह है कि वैसे अभयादि में उस -उस विवक्षित फलकी योग्यता नहीं है; अर्थात् अभयका फल चक्षु, चक्षु का फल मार्ग,...इत्यादि फल पैदा करने का स्वभाव उनमें नहीं है ।

(पं०—) योग्यतामेवाह 'योग्यता च'=प्रागुपन्यस्ता अभयादीनाम् 'आफलप्राप्ते':=चक्षुरादिफलप्राप्ति यावत्, 'तथा'=फलानुकूला, 'क्षयोपशमवृद्धिः'=स्वावारककर्मक्षयविशेषवृद्धिः 'लोकोत्तरभावामृतास्वादरूपा' लोकोत्तरभावा विहितौदार्यदाक्षिण्यादयः, त एवं अमृतं=सुधा, तदास्वादरूपा; अत एव 'वैमुख्यकारिणी'=विमुखताहेतुः, 'विषयविषाभिलाषस्य'=विषाकारविषयवाञ्छारूपस्येति । ततः किमित्याह 'न च'=नैव, 'इयम्'=उक्तरूपा क्षयोपशमवृद्धिः, 'अपुनर्बन्धकं,' 'पापं न तीव्रभावात् करोती'-त्यादि लक्षणम्, 'अन्तरेण'=विना, अन्यस्य भवबहुमानित्वात्, ततः किमित्याह 'इति'=एतद्, 'भावनीयं' यदुत पञ्चकमप्येतदपुनर्बन्धकस्येति हेतुं, स्वरूपं, फलं चापेक्ष्य विचारणीयम् ।

अभयादि में योग्यता क्या है ?:—

प्र०—अभय से चक्षु, चक्षुसे मार्ग...इत्यादि अवश्य उत्पन्न करने वाले सच्चे अभयादि गुणों में जो योग्यता यानी स्वभाव होता है उसका स्वरूप क्या है ?

उ०—जहां तक उस–उस अभयादि का चक्षु आदि फल प्राप्त न हो, वहां तक फल के आवारक मोहनीय कर्म का क्षयोपशम बढ़ता रहे,यह सच्चे अभयादिका स्वरूप है। यह क्षयोपशम की वृद्धि वही योग्यता है, और फल के प्रति वह अनुकूल होती है; क्यों कि यह आगे जा कर फल में परिणत होती है ।

प्र०—ऐसी योग्यता क्या अनुभव में आ सकती है ?

उ०—हां, शास्त्रोक्त उदारता, दाक्षिण्य, पापभीरुता, निर्मल बोध, इत्यादि लोकोत्तर भाव जब अम्ल में आते हैं तब उनका अमृत की भांति जो आस्वाद होता है, योग्यता इसी आस्वाद स्वरूप होती है । तो उसका अनुभव शक्य है । अभयादि में रही हुई यह योग्यता औदार्यादि–अमृत के आस्वाद रूप होने से ही, विषसमान शब्दादिविषयों की वाञ्छा से जीव को पराङ्मुख कर ने में वह कारण होती है । विषयविष की तृष्णा तब तक रहती है कि जब तक तात्त्विक अभय, चक्षु, वगेरेह अमृत का अनुभव नहीं किया जाता। ऐसा अमृत–आस्वाद, आवारक कर्म के क्षयोपशम की वृद्धि होने पर होता है; और वह वृद्धि, ख्याल में रहे कि, अपुनर्बन्धक जीव को छोड़ कर अन्यों को नहीं हो सकती है; क्यों कि वैसे अन्य जीव संसार पर बहुमान रखने वाले होते हैं । जहां संसार पर बहुमान है, पक्षपात है, उस जीव में औदार्य, दाक्षिण्य, पापभय आदि नहीं हो सकते हैं, तो तात्त्विक अभयादि का अमृतस्वभाव कहां से अनुभव में आ सकेगा ? अपुनर्बन्धक जीव तो तीव्र भावसे पाप करता नहीं है, घोर संसार के प्रति बहुमान रखता नहीं है, और सर्वत्र औचित्य का पालन करता है; तो उसे अभयादि पाने पर चक्षु आदि फल प्राप्त करायें ऐसी क्षयोपशम की वृद्धि हो सकती है; इसलिए अभयादि पांच गुण अपुनर्बन्धक जीव को ही प्राप्त हो सकते हैं,—यह वस्तु, इस के कारण, स्वरूप और फल की अपेक्षा से चिन्तनीय है । तात्पर्य, अभयादि के कारण कौन बनते हैं, उनका स्वरूप क्या क्या होता है, और उनसे कैसा कैसा फल अपेक्षित है, यह सोचने से 'वे अपुनर्बन्धक जीव को ही प्राप्त हो सकते है,'—ऐसा समझ में आ जाएगा ।

(ल०-गोपेन्द्रपरिव्राजक-प्रमाणम्)-इष्यते चैतदपरैरपि मुमुक्षुभिः, यथोक्तं भगवद्गोपेन्द्रेण 'निवृत्ताधिकारायां प्रकृतौ धृतिः, श्रद्धा, सुखा, विविदिषा, विज्ञप्तिरिति तत्त्वधर्म्मयोनयः; नानिवृत्ताधिकारायां, भवन्तीनामपि तद्रूपतायोगाद्' इति। विज्ञप्तिश्च बोधिः प्रशमादिलक्षणाभेदात्। एतत्प्राप्तिश्च यथोक्तमपश्चतो भगवद्भ्य एवेति बोधिं ददतीति बोधिदाः ॥ १९ ॥

एवमभयदान-चक्षुर्दान-मार्गदान-शरणदान-बोधिदानेभ्य एव यथोदितोपयोगसिद्धेरुपयोगसम्पद एव हेतुसम्पदिति। (५. संपत्)

(पं०-) परमतसंवादेनाप्याह 'इष्यते च' 'एतद्'=अभयादिकम्, 'अपरैरपि'=जैनव्यतिरिक्तैः (अपि) 'मुमुक्षुभिः' कथमित्याह 'यथोक्तं'=यस्मादुक्तं, 'भगवद्गोपेन्द्रेण'=भगवता परिव्राजकेन गोपेन्द्रनाम्ना, उक्तमेव दर्शयति 'निवृत्ताधिकारायां'=व्यावृत्तपुरुषाभिभवलक्षणस्वव्यापारायां, 'प्रकृतौ' सत्त्वरजस्तमोलक्षणायां, ज्ञानावरणादिकर्म्मणीत्यर्थः, 'धृतिः-श्रद्धा-सुखा-विविदिषा-विज्ञप्तिरित्येता' यथाक्रमम-भयाद्यपरनामानः 'तत्त्वधर्म्मयोनयः'=पारमार्थिककुशलोत्पत्तिस्थानानि, भवन्तीति। व्यवच्छेद्यमाह 'नानिवृत्ताधिकारायां' प्रकृताविति गम्यते, कुत इत्याह 'भवन्तीनामपि' धृत्यादिधर्म्मयोनीनां, कुतोऽपि हेतोः प्रकृतेरनिवृत्ताधिकारत्वेन, 'तद्रूपताऽयोगात्'=तात्त्विकधृत्यादिस्वभावाभावाद्, 'इतिः' परोक्तसमाप्त्यर्थः। एवमपि किमित्याह 'विज्ञप्तिश्च' पञ्चमी धर्मयोनिः 'बोधिः'=जिनोक्तधर्म्मप्राप्तिः, कुत इत्याह-'प्रशमादिलक्षणाभेदात्'=प्रशमसंवेगादिभ्यो लक्षणेभ्योऽभेदाद् अव्यतिरेकाद्विज्ञप्तेः।

महात्मा गोपेन्द्र परिव्राजक का प्रमाणः—

अभयादि पंचक में अन्य दर्शन का भी प्रमाण मिलता है या नहीं, तो कहते हैं कि जैन के सिवा अन्य मुमुक्षुओं को भी अभयादि-पंचक इष्ट है; कारण, महात्मा गोपेन्द्र नाम के परिव्राजकने कहा है,- "निवृत्ताधिकारायां प्रकृतौ धृतिः-श्रद्धा-सुखा-विविदिषा-विज्ञप्तिरिति तत्त्वधर्म्मयोनयः, नानिवृत्ताधिकारायां, भवन्तीनामपि तद्रूपताऽयोगात्"। अर्थात् अनादि काल से सत्त्व-रजस्-तमस् स्वरूप त्रिगुणात्मक प्रकृति यानी ज्ञानावरणादि कर्म से चेतन पुरुष का अभिभव हुआ है, वशीकरण हुआ है। इससे, यों तो सर्वशुद्ध पुरुष और प्रकृति का भेद होने पर भी, यह भेद ज्ञात नहीं रहता। प्रकृति का पुरुष के ऊपर यह अधिकार यानी अभिभव-क्रिया जब निवृत्त होती है, तब धृति, श्रद्धा, सुखा, विविदिषा और विज्ञप्ति उत्पन्न होती हैं। ये क्रमशः अभय, चक्षु आदि के ही अपर नाम हैं; और ये 'तत्त्वधर्मयोनि' यानी पारमार्थिक कुशल के उत्पत्ति-स्थान कही गई हैं। यहां प्रकृति के अधिकार की निवृत्ति होने पर ही धृति आदि के उत्पन्न होने का विधान किया, इस में 'ही' कार से निषेध्य को स्पष्ट करते हैं कि प्रकृति का अधिकार निवृत्त न होने पर धृति वगैरह उत्पन्न नहीं हो सकते हैं। कारण यह है, कि यदि कदाचित् किसी कारणवश धृति वगैरह तत्त्वधर्मयोनि के नाम से उत्पन्न हो भी, तब भी प्रकृति का अधिकार निवृत्त न होने से ये तात्त्विक धृति आदि के स्वभाव वाली नहीं होती हैं।" इतना गोपेन्द्र का कथन है।

२० धम्मदयाणं (धर्मदेभ्यः)

(ल०–विशेषोपयोगसंपत्–) सद्देशनायोग्यताविधाय्यनुग्रहसम्पादनादिना तात्त्विकधर्म्मदातृत्वादिप्रकारेण परमशास्तृत्वसम्पत्समन्विता भगवन्त इति न्यायतः प्रतिपादयन्नाह 'धम्मदयाणं'मित्यादिसूत्रपञ्चकम् ।

(पं०–) सद्देशनेत्यादि,' इदमत्र हृदयम्–सद्देशनाया योग्यताया विधायिनो 'अनुग्रहस्य' स्वविषये बहुमानलक्षणस्य प्राक् सम्पादनेन, 'आदि' शब्दात् तदनु सद्देशनया, यत् तात्त्विकधर्म्मस्य दातृत्वम्, 'आदि'शब्दात् परिपालनं, तेन, परमया=भावरूपया, शास्तृत्वसम्पदा धर्म्मचक्रवर्त्तित्वरूपया, समन्विताः =सङ्गता युक्ता भगवन्त इति ।

यहां पांचवी धर्मयोनि विज्ञप्ति, यह बोधि वाली जिनोक्त धर्म-प्राप्ति स्वरूप है; क्यों कि वह बोधि के प्रशम, संवेग आदि लक्षणों से भिन्न नहीं होती है । अतः अभयादि में अन्य का भी प्रमाण बतलाया । बोधि की प्राप्ति भी अर्हद् भगवान के द्वारा ही होती है यह पूर्वोक्त विस्तार से समझ लेना । इस प्रकार भगवान बोधि को देते हैं अतः वे बोधिदाता हैं । यह सूचित करने के लिए स्तुति की 'बोहिदयाणं' ।

'अभयदयाणं' आदि पांच पदोंकी संपदा का उपसंहारः—

इस प्रकार अभयदान, चक्षुदान, मार्गदान, शरणदान, और बोधिदान,–इन पांच दानों से ही अरहंत परमात्मा में पूर्वोक्त लोकोत्तमता, लोकनाथता, लोकहितरूपता, लोकप्रदीपपन और लोकप्रद्योतकता स्वरूप उपयोग सिद्ध होता है । तो वे उपयोग के हेतु होने से, उनके दर्शक अभयदयाणं आदि पांच पदोंकी संपदा उपयोगसंपदा की हेतुसंपदा हुई ॥ यह ५वी संपदा हुई ॥

२०. धम्मदयाणं (चारित्रधर्म देशना की श्रवणयोग्यता के दाता को)

विशेषोपयोग-संपदाः—अब अर्हत् परमात्मा के विशेष उपयोगों के दर्शक पांच पदोंकी संपदा कही जाती है । भगवान सद् देशना की योग्यता प्रगट कराने वाले अनुग्रह का संपादन आदि कर के सात्त्विक धर्मदाता आदि हो अन्त में परम शासकता की संपत्ति वाले होते हैं,–यह न्याय से प्रतिपादन करते हुए, 'धम्मदयाणं' इत्यादि पांच सूत्र कहते हैं । यहां तात्पर्य यह हैः—

भगवान के द्वारा धर्मदेशना की योग्यताका अनुग्रहः–पहले प्रभु जीवों में सम्यग् उपदेश के श्रवण की योग्यता का संपादक अनुग्रह करते हैं । योग्यता के बिना श्रवण निरर्थक है ।

प्र०—अनुग्रह क्या चीज है ?

उ०—अनुग्रह यह अपने विषय के प्रति बहुमान स्वरूप होता है । प्रस्तुत में सम्यग्देशना की योग्यता का अनुग्रह करना है, तो वह अनुग्रह सम्यग्देशना के प्रति श्रोता जीव में प्रगट होने वाले बहुमान स्वरूप होगा । भगवान भव्य जीव में पहले ऐसे बहुमान स्वरूप अनुग्रह का संपादन

(ल०-धर्मो द्विविधचारित्रधर्मः-)इह धर्मश्चारित्रधर्म्मः परिगृह्यते; स च श्रावकसाधुधर्म्मभेदेन द्विधा। श्रावकधर्म्मोऽणुव्रताद्युपासकप्रतिमागतक्रियासाध्यः साधुधर्म्माभिलाषातिशयरूपः आत्मपरिणामः, साधुधर्म्मः पुनः सामायिकादिगतविशुद्धक्रियाभिव्यङ्ग्यः सकलसत्त्वहिताशयामृतलक्षणः स्वपरिणाम एव, क्षायोपशमिकादिभावस्वरूपत्वाद्धर्म्मस्य ।

करते हैं; और उसीसे उपदेशग्रहण की योग्यता आती है। बात भी सही है कि जो कुछ सदुपदेशग्रहण आदि आत्मसंपत्ति सिद्ध करनी है वह तभी सिद्ध हो सकेगी कि जब पहले उसके प्रति आदर बहुमान होगा। बिना बहुमान, कदाचित् सदुपदेश सुन भी ले, या धर्मक्रिया कर भी ले, तो भी आत्मा में वह उपदेश या धर्म असरकारक हो सकता नहीं है। यह बहुमान होना परमात्मा का अनुग्रह है, क्यों कि उनके अचिन्त्य प्रभाव से ही वह प्राप्त होता है।

भगवान ही धर्मोपदेश-धर्मदान-धर्मरक्षण के अनुग्रह करने द्वारा भावशासकः-

भगवान बहुमान का संपादन आदि करने द्वारा तात्त्विक धर्म के दानादि करते हैं। 'संपादन आदि' में 'आदि' पद से यह विवक्षित है कि सदुपदेश का बहुमान प्रगट कराने के बाद सदुपदेश भी देते हैं। एवं इसके द्वारा भगवान तात्त्विक धर्म के दान आदि करते हैं। यहां 'आदि' शब्द से जीव में धर्म का परिपालन भी विवक्षित है। इस प्रकार वे परम शासकपन की यानी द्रव्यशासकता नहीं किन्तु भावशासकता की संपत्ति से युक्त होते हैं। द्रव्यशासक पृथ्वी के चक्रवर्ती राजा को कहते हैं; जब कि, भगवान तो भावशासक अर्थात धर्मचक्रवर्ती हैं। यह सब दिखलाने के लिए यहां सूत्रकार 'धम्मदयाणं', -इत्यादि पांच सूत्र कहते हैं।

धर्मदाता=द्विविध चारित्र धर्म के दाताः—

'धम्मदयाणं' पद में 'धम्म' कर के, श्रुत धर्म (शास्त्रज्ञान) और चारित्र धर्म इन दो प्रकार के धर्मों में से चारित्र धर्म लिया जाता है। चारित्र धर्म,श्रावक-धर्म और साधु-धर्म इन दो भेदों से दो प्रकारका होता है। श्रावक धर्म को देशचारित्र (आंशिक चारित्र) कहते हैं, साधुधर्म को सर्वचारित्र कहते हैं। दोनों प्रकार का धर्म तत्त्वरूप से बाह्य व्रतक्रिया स्वरूप नहीं है, किन्तु उनसे साध्य आभ्यन्तर आत्म-परिणति स्वरूप है। आत्मा में एक ऐसा विशुद्ध परिणाम उत्पन्न होता है जिसे तात्त्विक धर्म, निश्चय-धर्म कहते हैं। व्यवहार-धर्म बाह्य व्रतादि क्रिया स्वरूप होता है। इसमें

श्रावकधर्मः—श्रावकधर्म एक ऐसा विशुद्ध आत्मपरिणाम है कि जो अणुव्रत, गुणव्रत, और शिक्षाव्रत से, एवं श्रावकप्रतिमा सम्बन्धी क्रिया से साध्य होता है; और वह साधुधर्म की अत्यन्त अभिलाषा स्वरूप होता है। जिसे साधुधर्म यानी संपूर्ण अहिंसादिमय निष्पाप जीवनकी इच्छा नहीं उसमें जैनत्व नहीं।

अणुव्रत अर्थात् छोटे व्रत; जिन में हिंसादि पापों का सूक्ष्मता से नहीं किन्तु स्थूलता से त्याग करने की प्रतिज्ञा होती है। ये अणुव्रत पांच प्रकार के होते हैं,-१. स्थूल प्राणातिपातविरमण-

व्रत (स्थूल हिंसा से निवृत्ति की प्रतिज्ञा), २. स्थूलमृषावाद (असत्य)-विरमणव्रत, ३. स्थूलअदत्तादान(चोरी)-विरमणव्रत, ४. स्थूलमैथुन-विरमणव्रत (स्वस्त्रीसंतोष-परस्त्रीत्याग की प्रतिज्ञा), और ५. स्थूलपरिग्रह-विरमणव्रत (परिग्रह का संकुचित परिमाण रखने की प्रतिज्ञा)।

गुणव्रत अर्थात् अणुव्रतों के गुणकारी याने उपकारक व्रत। वे तीन हैं,—

१. दिक्परिमाणव्रत, चारों दिशाओं और ऊंचे नीचे अधिक से अधिक कितनी मर्यादा तक ही गमनागमन करना उसका व्रत। २. भोगोपभोगपरिमाण व्रत,—खाने पीने की वस्तुओं का नियमन, अनंतकायादि २२ अभक्ष्य का त्याग, एवं अंगारकर्मादि १५ कर्मादान के व्यापार, कि जिनमें भारी आरंभ-समारंभ यानी हिंसा, या संक्लिष्ट मन होना संभवित है, उनका त्याग। ३. अनर्थदंड-विरमण-व्रत, *यानी जीवन जीने में निरुपयोगी एवं निरर्थक प्रचंड कर्मदंड देने वाले व्यवसायों के त्याग का व्रत;* जैसे कि शस्त्र अग्नि वगैरेह अधिकरण (पाप-उपकरण) का दान, पापोपदेश, मौजशौक आदि प्रमाद-आचरण, एवं दुर्ध्यान; इन से रुकना।

शिक्षाव्रत चार हैं, और, वे पुनः पुनः अभ्यास करने योग्य हैं। १. सामायिकव्रत= दो घड़ी के लिये प्रतिज्ञा पूर्वक पापप्रवृत्ति त्याग कर धर्मध्यान में बैठना। २. देशावकाशिकव्रत= दिनभर के लिए अन्य व्रतों में संयम बढाना और सामायिकों में रहना। ३.पौषधव्रत=दिन, रात्रि या अहोरात्रि के लिए सामायिक पूर्वक, आहार-शरीरसत्कार-मैथुन और व्यापार, इन चारों का त्याग कर धर्मध्यान में रहना। ४. अतिथिसंविभागव्रत=तप-संयमादि युक्त साधु-साध्वी को दान दिये बिना भोजन न करने का व्रत (आज दिनरात का पोषध और उपवास कर पारणा में ऐसा सुपात्रदान देने पूर्वक एकाशन तप किया जाता है।)

११ श्रावकप्रतिमाः—

श्रावक धर्म को विशेष रूपसे उज्ज्वलित करने के लिए देवादि के भी उपद्रवों से चलित हुए बिना जो ग्यारह विशिष्ट साधना की प्रतिज्ञाएँ पालित की जाती हैं वे प्रतिमा (पडिमा) कही जाती हैं। वे उत्तरोत्तर गुणस्थान की वृद्धि से होती हैं, और बाह्य क्रिया से ज्ञात होती है। उनमें कालमान क्रमशः एक-एक मास अधिक होता है; जैसे कि पहली प्रतिमा एक मास की, दूसरी दो मास की, तीसरी तीन मासकी...एवं ग्यारहवीं ग्यारह मासकी; और पूर्व पूर्व प्रतिमा की साधना आगे आगे प्रतिमाओं में चालू रहती है। क्रमशः ग्यारह प्रतिमाओं में:- १. दर्शन-प्रतिमा में शुश्रूषा यानी धर्मश्रवण की उत्कट इच्छा, उत्कट धर्मराग और देव-गुरु के वैयावृत्त्य (सेवा) का यथाशक्ति नियम,—इन से सम्यग्दर्शन की साधना की जाती है। २.व्रत-प्रतिमा में पांच अणुव्रतों का निरतिचार पालन और व्रतों पर दृढ ममत्व, जिनाज्ञानुसार और लेश मात्र क्षति बिना किया जाता है। ३. सामायिक-प्रतिमा में आत्मवीर्य उल्लसित कर रजत की शुद्धि और कान्ति के समान शुद्धि-कान्तिवाले अनेक सामायिक किये जाते हैं। ४. पोषध-प्रतिमा में पर्व दिवसों में उत्तरोत्तर विशुद्ध अधिक विशुद्ध और यतिपन के भाव के साधक

ऐसे निरतिचार पोषध किये जाते हैं। ५. प्रतिमा-प्रतिमा में उसी पर्वों में रात्रि के समय प्रतिमा-मुद्रा यानी खड़ी कायोत्सर्ग मुद्रा से ध्यान किया जाता है। उस दिन स्नान नहीं, दुग्धादि-विकृतिभोजन नहीं, रात्रिब्रह्मचर्य, इत्यादिका पालन रहता है। ६. अब्रह्म-प्रतिमा में उपरोक्त क्रियाओंसे युक्त रह कर दिवस-रात्रि अब्रह्म याने मैथुन का कम में कम ६ मास तक त्याग किया जाता है। ७. सचित्त-प्रतिमा में कम में कम ७ मास तक सचित्त याने सजीव जल आदि का त्याग किया जाता है। ८. आरम्भ-प्रतिमा में आठ मास तक स्वयं आरंभ-समारंभ का त्याग करते हैं; और कदाचित् आदमी से काम लें तो सावधानी से लेते हैं। ९. प्रेष्य-प्रतिमा में आदमी से भी आरंभसमारंभ कराने का परित्याग किया जाता है। १०. उद्दिष्ट-प्रतिमा में दस मास तक अपने लिए बनाये हुए आहार का भी त्याग किया जाता है, और पूर्वोक्त सभी साधनाओं के साथ स्वाध्याय-ध्यान में लीन रहना होता है। ११. श्रमणभूत प्रतिमा में ११ मास तक साधु समान हो साधु क्रिया का पालन किया जाता है; बाद में कोई तो साधुदीक्षा का स्वीकार ही कर लेते हैं अथवा कोई गृहस्थ बने रहते हैं।

ऐसे अणुव्रतादि एवं प्रतिमा सम्बन्धी क्रिया से सिद्ध होने वाली जो आन्तरिक शुद्ध आत्म-परिणति, यह है श्रावक धर्म। इन सभी क्रिया में मुख्य उद्देश तो शीघ्र साधुधर्म अङ्गीकार करने का रहता है, इस लिए श्रावकधर्म की आत्मपरिणति को साधुधर्म की तीव्र अभिलाषा स्वरूप कहा है।

साधुधर्मः—

दूसरे प्रकार का धर्म साधुधर्म है; और वह भी आन्तरिक आत्मपरिणति स्वरूप ही है; क्यों कि (१) धर्म यह असल में मोहनीयादि कर्मों के क्षायोपशमिक भाव, औपशमिक भाव अथवा क्षायिक भाव (अर्थात् क्षयोपशम, उपशम या क्षय) स्वरूप होता है; और यह क्षायोपशमिकादि भाव कर्म के क्षयोपशमादि से उत्पन्न होने वाली शुद्ध आत्मपरिणति है। (२) यह आत्मपरिणति यावज्जीव का सामायिक, पञ्च महाव्रत वगैरह सम्बन्धी ज्ञानादिपंचाचार की विशुद्ध क्रिया से अभिव्यक्त होनेवाली होती है, एवं (३) समस्त जीवों के कल्याण की वृत्ति रूप अमृत से भरी हुई होती है। यहां तीन बातें बताई,—

(१) धर्म क्षायोपशमिकादि भावरूप है; कारण धर्म चाहे साधुधर्म लिया जाए या श्रावक धर्म, लेकिन उसके मूल में सम्यग्दर्शन तो आवश्यक है ही; विना सम्यग्दर्शन न कोई साधु-धर्म या न कोइ श्रावक-धर्म प्राप्त हो सकता है। और वह सम्यग्दर्शन मिथ्यात्वमोहनीय-कर्म के क्षयोपशम, उपशम, या क्षय से उत्पन्न होता है। इस से यह साबित हुआ कि धर्म के मूल में कर्म का क्षयोपशम आवश्यक है। अब आगे देखिए कि धर्म कर के यदि साधुधर्म लें तो वह क्षमादि दश प्रकार का होता है, और वे क्रोधादि पैदा करनेवाले क्रोध-मोहनीयादि कर्म के क्षयोपशमादि से उत्पन्न होते हैं। एवं धर्म अगर श्रावक-व्रतादि रूप गृहीत किया जाए, तो वे व्रतादि भी दर्शनमोह के क्षयोपशम के साथ क्रोध-लोभादिमोहनीय कर्म के क्षयोपशम से जन्म पाते हैं।

(ल०—कथं भगवदनुग्रहः ?—) नायं भगवदनुग्रहमन्तरेण, विचित्रहेतुभवत्वेऽपि महानुभावतयाऽस्यैव प्राधान्यात्। भवत्येतदासन्नस्य भगवति बहुमानः, ततो हि सद्देशनायोग्यता,

---

सारांश, मिथ्यात्वादि–कर्मों के उदय होने से तो धर्म प्राप्त ही नहीं होता है; वह तो जब उनका क्षयोपशमादि किया जाए तब प्राप्त होता है। यह करने पर आत्मा में क्षायोपशमिकादि भाव (परिणाम) उत्पन्न होता है। इसलिए कहा कि धर्म क्षायोपशमिकादि भाव स्वरूप है। मिथ्यात्वादि कर्मआवरण के उदय से आत्मा में जो मलिन परिणति हुई थी, वह अब उसके क्षयोपशमादि से नष्ट हो कर शुद्ध परिणति उत्पन्न होती है; और वही है क्षायोपशमिक भाव। अतः धर्म आत्मा की विशुद्ध परिणति रूप हुआ। यहां प्रश्न होगा कि तब साधुक्रिया क्या उपयोगी है ? उत्तर में

(२) सामायिकादि सम्बन्धी साधुक्रिया यह साधुधर्म की अभिव्यञ्जक है, प्रेरक एवं द्योतक है। अर्थात् साधुधर्म के उद्देश से साधुक्रिया का प्रारम्भ करने पर भी यहां कदाचित् आत्मा में तथाविध आन्तरिक क्षायोपशमिकादि परिणति रूप साधुधर्म यदि उत्पन्न न हुआ हो, तो भी सामायिक, महाव्रत, पञ्चाचार आदि की प्रवृत्ति के अभ्यास से वह प्रेरित होता है,–उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार क्रिया प्रेरक हुई। एवं यदि अन्तरात्मा में साधुधर्म की परिणति हुई तो वह पुरुष सामायिकादि सम्बन्धी प्रवृत्ति के बिना रह नहीं सकता। इस नियम के अनुसार वैसी प्रवृत्ति देखने पर, आन्तरिक साधुधर्म की परिणति होने का ज्ञात होता है। इसलिए क्रिया उसकी द्योतक हुई। प्रेरकता–द्योतकता से सूचित होता है कि भावधर्म के अभिलाषी को क्रिया अत्यन्त अपेक्षित है और इसमें पुनः पुनः प्रवृत्त होना चाहिए; अलबत्त उद्देश भावधर्म की प्राप्ति का रहना चाहिए। और जिसे सचमुच भावधर्म प्राप्त है वह वीतराग होने पूर्व इस सत् क्रिया को छोड कर असत् क्रिया में प्रवृत्त नहीं ही होगा। वीतराग होने पर भी सामायिक, महाव्रतादि तो रहते ही हैं।

(३) साधुधर्म का आत्मपरिणाम सर्वजीवहित के अमृतसमान आशय स्वरूप होता है। धर्म के मूल में जैसे सम्यग्दर्शन आवश्यक है वैसे मैत्री आदि भावना भी आवश्यक होती हैं। 'परहितचिन्ता मैत्री',–इसका स्वरूप यह है, शिवमस्तु सर्व जगतः परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः। दोषाः प्रयान्तु नाशं, सर्वत्र सुखी भवतु लोकः ॥ जिसके दिलमें मैत्री भावना नहीं, वहां भावधर्म रह नहीं सकता। अपेक्षा से कहिए तो मैत्री भावना ज्यों ज्यों हिंसादि की निवृत्ति द्वारा अधिकाधिक सक्रिय होती है त्यों त्यों धर्म का गुणस्थान बढ़ता रहता है; यावत् स्थूल–सूक्ष्म समस्त जीवों की हिंसा से एवं सर्वथा असत्यादि से प्रतिज्ञापूर्वक निवृत्ति की जाए ऐसा मैत्री भाव सक्रिय होता है, तब साधुधर्म सिद्ध होता है। अतः कहा कि आन्तरिक साधुधर्म समस्त जीवों के हित के अमृत आशय रूप है। 'आशय को अमृत रूप इस लिए कहा कि जब अमैत्री यानी वैर–विरोध का आशय स्व–पर का घात करने से विषरूप है, तब उत्कृष्ट मैत्रीभाव का आशय किसी का घात नहीं किन्तु आत्मा को अमृत पद–मोक्षपद दिलाने से अमृत का कार्य करता है। साधुधर्म इस स्वरूप है।

ऐसे निरतिचार पोषध किये जाते हैं। ५. प्रतिमा–प्रतिमा में उसी पर्वो में रात्रि के समय प्रतिमा–मुद्रा यानी खडी कायोत्सर्ग मुद्रा से ध्यान किया जाता है। उस दिन स्नान नहीं, दुग्धादि-विकृतिभोजन नहीं, रात्रिब्रह्मचर्य, इत्यादिका पालन रहता है। ६. अब्रह्म–प्रतिमा में उपरोक्त क्रियाओंसे युक्त रह कर दिवस–रात्रि अब्रह्म यानी मैथुन का कम में कम ६ मास तक त्याग किया जाता है। ७. सचित्त–प्रतिमा में कम में कम ७ मास तक सचित्त यानी सजीव जल आदि का त्याग किया जाता है। ८. आरम्भ–प्रतिमा में आठ मास तक स्वयं आरंभ-समारंभ का त्याग करते हैं; और कदाचित् आदमी से काम लें तो सावधानी से लेते हैं। ९. प्रेष्य–प्रतिमा में आदमी से भी आरंभसमारंभ कराने का परित्याग किया जाता है। १०. उद्दिष्ट–प्रतिमा में दस मास तक अपने लिए बनाये हुए आहार का भी त्याग किया जाता है, और पूर्वोक्त सभी साधनाओं के साथ स्वाध्याय-ध्यान में लीन रहना होता है। ११. श्रमणभूत प्रतिमा में ११ मास तक साधु समान हो साधु क्रिया का पालन किया जाता है; बाद में कोई तो साधुदीक्षा का स्वीकार ही कर लेते हैं अथवा कोई गृहस्थ बने रहते हैं।

ऐसे अणुव्रतादि एवं प्रतिमा सम्बन्धी क्रिया से सिद्ध होने वाली जो आन्तरिक शुद्ध आत्म-परिणति, यह है श्रावक धर्म। इन सभी क्रिया में मुख्य उद्देश तो शीघ्र साधुधर्म अङ्गीकार करने का रहता है, इस लिए श्रावकधर्म की आत्मपरिणति को साधुधर्म की तीव्र अभिलाषा स्वरूप कहा है।

साधुधर्मः—

दूसरे प्रकार का धर्म साधुधर्म है; और वह भी आन्तरिक आत्मपरिणति स्वरूप ही है; क्यों कि (१) धर्म यह असल में मोहनीयादि कर्मों के क्षायोपशमिक भाव, औपशमिक भाव अथवा क्षायिक भाव (अर्थात् क्षयोपशम, उपशम या क्षय) स्वरूप होता है; और वह क्षायोपशमिकादि भाव कर्म के क्षयोपशमादि से उत्पन्न होने वाली शुद्ध आत्मपरिणति है। (२) यह आत्मपरिणति यावज्जीव का सामायिक, पञ्च महाव्रत वगैरह सम्बन्धी ज्ञानादि पंचाचार की विशुद्ध क्रिया से अभिव्यक्त होनेवाली होती है, एवं (३) समस्त जीवों के कल्याण की वृत्ति रूप अमृत से भरी हुई होती है। यहां तीन बातें बताई,—

(१) धर्म क्षायोपशमिकादि भावरूप है; कारण धर्म चाहे साधुधर्म लिया जाए या श्रावक धर्म, लेकिन उसके मूल में सम्यग्दर्शन तो आवश्यक है ही; विना सम्यग्दर्शन न कोई साधु–धर्म या न कोई श्रावक–धर्म प्राप्त हो सकता है। और वह सम्यग्दर्शन मिथ्यात्वमोहनीय–कर्म के क्षयोपशम, उपशम, या क्षय से उत्पन्न होता है। इस से यह साबित हुआ कि धर्म के मूल में कर्म का क्षयोपशम आवश्यक है। अब आगे देखिए कि धर्म कर के यदि साधुधर्म लें तो वह क्षमादि दश प्रकार का होता है, और वे क्रोधादि पैदा करनेवाले क्रोध–मोहनीयादि कर्म के क्षयोपशमादि से उत्पन्न होते हैं। एवं धर्म अगर श्रावक–व्रतादि रूप गृहीत किया जाए, तो वे व्रतादि भी दर्शनमोह के क्षयोपशम के साथ क्रोध–लोभादिमोहनीय कर्म के क्षयोपशम से जन्म पाते हैं।

(ल०—कथं भगवदनुग्रहः?—) नायं भगवदनुग्रहमन्तरेण, विचित्रहेतुभवत्वेऽपि महानुभावतयाऽस्यैव प्राधान्यात्। भवत्येतदासन्नस्य भगवति बहुमानः, ततो हि सद्देशनायोग्यता,

सारांश, मिथ्यात्वादि—कर्मो के उदय होने से तो धर्म प्राप्त ही नहीं होता है; वह तो जब उनका क्षयोपशमादि किया जाए तब प्राप्त होता है। यह करने पर आत्मा में क्षायोपशमिकादि भाव (परिणाम) उत्पन्न होता है। इसलिए कहा कि धर्म क्षायोपशमिकादि भाव स्वरूप है। मिथ्यात्वादि कर्मआवरण के उदय से आत्मा में जो मलिन परिणति हुई थी, वह अब उसके क्षयोपशमादि से नष्ट हो कर शुद्ध परिणति उत्पन्न होती है; और वही है क्षायोपशमिक भाव। अतः धर्म आत्मा की विशुद्ध परिणति रूप हुआ। यहां प्रश्न होगा कि तब साधुक्रिया क्या उपयोगी है? उत्तर में

(२) सामायिकादि सम्बन्धी साधुक्रिया यह साधुधर्म की अभिव्यञ्जक है, प्रेरक एवं द्योतक है। अर्थात् साधुधर्म के उद्देश से साधुक्रिया का प्रारम्भ करने पर भी वहां कदाचित् आत्मा में तथाविध आन्तरिक क्षायोपशमिकादि परिणति रूप साधुधर्म यदि उत्पन्न न हुआ हो, तो भी सामायिक, महाव्रत, पञ्चाचार आदि की प्रवृत्ति के अभ्यास से वह प्रेरित होता है,-उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार क्रिया प्रेरक हुई। एवं यदि अन्तरात्मा में साधुधर्म की परिणति हुई तो वह पुरुष सामायिकादि सम्बन्धी प्रवृत्ति के बिना रह नहीं सकता। इस नियम के अनुसार वैसी प्रवृत्ति देखने पर, आन्तरिक साधुधर्म की परिणति होने का ज्ञात होता है। इसलिए क्रिया उसकी द्योतक हुई। प्रेरकता—द्योतकता से सूचित होता है कि भावधर्म के अभिलाषी को क्रिया अत्यन्त अपेक्षित है और इसमें पुनः पुनः प्रवृत्त होना चाहिए; अलबत्त उद्देश भावधर्म की प्राप्ति का रहना चाहिए। और जिसे सचमुच भावधर्म प्राप्त है वह वीतराग होने पूर्व इस सत् क्रिया को छोड़ कर असत् क्रिया में प्रवृत्त नहीं ही होगा। वीतराग होने पर भी सामायिक, महाव्रतादि तो रहते ही हैं।

(३) साधुधर्म का आत्मपरिणाम सर्वजीवहित के अमृतसमान आशय स्वरूप होता है। धर्म के मूल में जैसे सम्यग्दर्शन आवश्यक है वैसे मैत्री आदि भावना भी आवश्यक होती है। 'परहितचिन्ता मैत्री',—इसका स्वरूप यह है, शिवमस्तु सर्व जगतः परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः। दोषाः प्रयान्तु नाशं, सर्वत्र सुखी भवतु लोकः॥ जिसके दिल में मैत्री भावना नहीं, वहां भावधर्म रह नहीं सकता। अपेक्षा से कहिए तो मैत्री भावना ज्यों ज्यों हिंसादि की निवृत्ति द्वारा अधिकाधिक सक्रिय होती है त्यों त्यों धर्म का गुणस्थान बढ़ता रहता है; यावत् स्थूल—सूक्ष्म समस्त जीवों की हिंसा से एवं सर्वथा असत्यादि से प्रतिज्ञापूर्वक निवृत्ति की जाए ऐसा मैत्री भाव सक्रिय होता है, तब साधुधर्म सिद्ध होता है। अतः कहा कि आन्तरिक साधुधर्म समस्त जीवों के हित के अमृत आशय रूप है। आशय को अमृत रूप इस लिए कहा कि जब अमैत्री यानी वैर-विरोध का आशय स्व-पर का घात करने से विषरूप है, तब उत्कृष्ट मैत्रीभाव का आशय किसी का घात नहीं किन्तु आत्मा को अमृत पद—मोक्षपद दिलाने से अमृत का कार्य करता है। साधुधर्म इस स्वरूप है।

ततः पुनरयं नियोगतः; इत्युभयतत्स्वभावतया तदाधिपत्यसिद्धेः। कारणे कार्योपचाराद् धर्मं ददतीति धर्मदाः ॥ २० ॥

(पं०–) यथाक्रमं सूत्रपञ्चकेन प्रतिपादयन्नाह **'नायमित्यादि'** न=नैव, **अयम्**=उक्तरूपो धर्मो **भगवदनुग्रहं** सहकारिणम्, **अन्तरेण**=विना। कुत इत्याह **'विचित्रहेतुप्रभवत्वेऽपि'** विचित्राः=स्वयोग्यतागुरुसंयोगादयो हेतवः, **प्रभवो**=जन्मस्थानं, यस्य तद्भावस्तत्त्वं, तस्मिन्नपि धर्मस्य, **'महानुभावतया'**=अचिन्त्यशक्तितया, **'अस्यैव'**=भगवदनुग्रहस्य (एव), हेतुषु **'प्राधान्यात्'**=ज्येष्ठतया। तदेव भावयति **'भवत्येव'**=न न भवति। **'एतदासन्नस्य'**=धर्मासन्नस्य, **'भगवति'**=परमगुरौ, **'बहुमानो'** भवनिर्वेदरूपः **'ततो'**=भगवद्बहुमानात्, **'हिः'**=स्फुटं, **'सद्देशनायोग्यता'** सद्देशनायाः वक्ष्यमाणरूपायाः, **योग्यता**=उचितात्वम्। **'ततः**=सद्देशनायोग्यतायाः', **'पुनर्'**, **'अयं'**=धर्मो, **'नियोगतः'**=अवश्यंतया। **'इति'**=एवं, परम्परया **'उभयतत्स्वभावतया'** उभयस्य भगवद्बहुमान–प्रकृतधर्मलक्षणस्य, तत्स्वभावतया=कार्यकारणस्वभावतया, **'तदाधिपत्यसिद्धेः'**=तस्य भगवद्बहुमानस्य महानुभावतयाऽधिकृतधर्महेतुषु प्रधानभावसिद्धेः, **'कारणे'**=सद्देशनायोग्यतायां, **'कार्यस्य'**=धर्मस्य, **'उपचाराद्'**=अध्यारोपाद् **'धर्मं ददतीति धर्मदाः'**।

अचिन्त्यप्रभावशाली भगवदनुग्रह प्रधान कारण है:—

अब अरिहंत भगवान जो धर्मदान आदि करते हैं उनका क्रमशः पांच सूत्रों से प्रतिपादन करते हुए ग्रन्थकार महर्षि कहते हैं कि पूर्वोक्त द्विविध चारित्रधर्म भगवद्–अनुग्रह रूप सहकारी कारण के बिना सिद्ध हो सकता नहीं है। कारण यह है कि बेशक जीव को धर्म जो सिद्ध होता है वह अपनी योग्यता, गुरुसंयोग, भगवदनुग्रह, वीर्योल्लास इत्यादि विविध कारण मिलने पर हो सकता है; लेकिन इन सभी कारणों में भगवान का अनुग्रह यह ज्येष्ठ कारण है; क्यों कि वह अचिन्त्य सामर्थ्यवाला है। इसलिए फलित होता है कि जो पुरुष धर्म को समीपवर्ती हुआ उसे, परमगुरु अर्हद् भगवान के प्रति बहुमान जो कि भवनिर्वेद यानी संसार–उद्वेग स्वरूप है, वह प्राप्त नहीं हुआ ऐसा नहीं, हुआ है। कारण स्पष्ट है कि सम्यग् उपदेश पाने की योग्यता भगवद्–बहुमान से ही प्राप्त होती है; और उसके बाद ऐसी योग्यता से धर्म अवश्य प्राप्त होता है। तब साक्षात् तो भगवद्-बहुमान एवं धर्मयोग्यता का कार्यकारणभाव हुआ, लेकिन परंपरा से भगवद्–बहुमान एवं प्रस्तुत धर्म का कार्य–कारणभाव हुआ; बहुमान कारण हुआ, और धर्म कार्य। इससे भगवद्बहुमान का आधिपत्य सिद्ध होता है, अर्थात् वह अचिन्त्य प्रभावशाली होने से प्रस्तुत धर्म–सिद्धि के निखिल कारणों में प्रधान कारण सिद्ध होता है।

अब यहां धर्म कार्य है, और सद्देशनाकी योग्यता कारण है, और 'घृतम् आयुः' आदि के दृष्टान्तों से यदि कारण में कार्य का अध्यारोप करें अर्थात् कारण कार्य के नाम से संबोधित किया जाए, तो सद्देशना की योग्यता को भी 'धर्म' कह सकते हैं। अर्हद् भगवान ऐसी योग्यतारूप धर्म को देते हैं अतः वे धर्मद कहलाते हैं ॥ २० ॥

२१. धम्मदेसयाणं (धर्मदेशकेभ्यः)

(ल०–धर्मोपदेशे संसारस्वरूपम्–) तथा 'धम्मदेसयाणं' तत्र 'धर्मः' प्रस्तुत एव, तं यथाभव्यमभिदधति; तद्यथा,–प्रदीप्तगृहोदरकल्पोऽयं भवो, निवासः शारीरादिदुःखानां, न युक्तः इह विदुषः प्रमादः, यतः अतिदुर्लभेयं मानुषावस्था, प्रधानं परलोकसाधनं, परिणामकटवो विषयाः, विप्रयोगान्तानि सत्सङ्गतानि, पातभयातुरमविज्ञातपातमायुः। तदेवं व्यवस्थिते विध्यापनेऽस्य यतितव्यं।

---

२१. धम्मदेसयाणं (धर्मोपदेश करने वालों को)

धर्मोपदेश में कथित संसारस्वरूपः—

अब 'धम्मदेसयाणं' पद की व्याख्याः—धर्म के उपदेशक अर्हत् प्रभु के प्रति मेरा नमस्कार हो। यहां 'धर्म' शब्द से प्रस्तुत चारित्र धर्म ही समझना। प्रभु उस धर्म का यथार्थ रूप में प्रतिपादन करते हैं। प्रतिपादन इस प्रकार,—

संसार प्रज्वलित गृह समान है—" यह संसार आग से जल उठने वाले घर के मध्य भाग समान है। जल उठे घर में बैठे हुए पुरुष को चारों ओर से ताप लगता है। संसार में ऐसा ही है; क्यों कि उसके भीतर चारों ओर से आधि–व्याधि–उपाधि, जन्म–जरा–मृत्यु, रोग–शोक–दारिद्र्य आदि, राग–द्वेष–मोह, इत्यादि का भारी संताप जीव को पीड़ा करता रहता है। संसार यह शारीरिक, मानसिक, इत्यादि अनेक दुःखों का घर है, निवासस्थान है। तो प्रश्न है कि क्या सुखों का निवास नहीं है? उत्तर, नहीं, नहीं है, क्यों कि वे भासमान सुख तो दुःख का एक प्रतिकार मात्र है, सचमुच सुख नहीं, उदाहरणार्थ, क्षुधा का दुःख यदि हो तो भोजन का सुख लगता है। वह भी सुख क्षणिक है, क्यों कि पुनः दुःख आ कर खड़ा होता ही है। कर्म, पदार्थों के संयोग, परिस्थिति, मन, इत्यादि पलट जाने पर उसी भोजनादि का सुख वाष्प की तरह अदृश्य हो जाता है. इसलिए भी वह सच्चा सुख ही नहीं है। तात्पर्य, संसार दुःखों का ही घर है, चाहे वह दुःख रोग रूप हो, दारिद्र्य रूप हो या पराधीनता–अपयश–अपमान–चिंता–स्वमानहानि–इष्टवियोग इत्यादि रूप हो।

दुर्लभ भवः दुःखद विषयादिः चञ्चल आयुष्यः— 'ऐसे संसार में सुज्ञ जनको प्रमाद करना योग्य नहीं। कारण यह है कि यह मनुष्य–अवस्था यानी मानवभव अति दुर्लभ है, बार बार नहीं मिलता; और मनुष्य–भव सिवा अन्यत्र ऐसी परलोकहितकारी धर्म–साधना भी शक्य नहीं, अतः इस भव में परलोकसाधना ही प्रधान है। यह भी इसलिए कि इस लोक की साधना यानी इन्द्रियों के इष्ट शब्दादि विषयों के अर्जन–संग्रह–भोग प्रशंसा इत्यादि प्रवृत्ति परिणामकटु होती है; क्यों कि विषय परिणामकटु होते हैं, दारुण विपाक को देने वाले होते हैं। एवं जीव जिन कुटुंबपरिवारादि–संयोगों में मोहमुग्ध हो कर परलोकसाधना को चूकता है, वे भी अन्त में अवश्य वियोग पाने वाले हैं। तो इस अल्प मानव–आयुष्य में इष्ट विषयों और परिवारादि–संयोगों में मुग्ध क्यों होना? 'नहीं,

(ल०-धर्मस्वरूपम्-) एतच्च सिद्धान्तवासनासारो धर्म्ममेघो यदि परं विध्यापयति। अतः स एवोर्कर्तव्यः सिद्धान्त:-सम्यक् सेवितव्यास्तदभिज्ञाः-भावनीयं 'मुण्डमालालुका'ज्ञातं-त्यक्तव्या स्वल्पमदपेक्षा-भवितव्यमाज्ञाप्रधानेन-उपादेयं प्रणिधानं-पोषणीयं साधुसेवया धर्म्मशरीरं-रक्षणीयं प्रवचनमालिन्यम् ।

(पं०-) 'मुण्डमालालुकाज्ञातम्' इति, मुण्डमाला=शिरःस्रग्, आलुका=मृण्मयी वार्धटिका, ते एव ज्ञातं=दृष्टान्तो,-यथा,

अनित्यताकृतबुद्धिर्म्लानमाल्यो न शोचते । नित्यताकृतबुद्धिस्तु भग्नभाण्डोऽपि शोचते ॥ १ ॥

अभी तो मैं मुग्ध हूँ, लेकिन बाद में परलोकसाधना करूंगा',-ऐसा भी ख्याल, आयुष्य के विश्वास में रह कर, करना उचित नहीं; क्यों कि आयुष्य भी बेचारा अकस्मात् पतन के यानी नाश के भय से पीड़ित है, एवं पता नहीं कब मृत्यु हो; तो इसके भरोसे पर क्यों रहना ?

आग बुझाओ —"ऐसी सब परिस्थिति वाला संसारप्रज्वलित हो उठे घर के उदर समान है; तो इसके अत्यन्त ताप से बचने के लिए संसार की आग बुझाने का प्रयत्न करना उचित है।

संसारकी आग बुझाने के उपायः—

धर्ममेघ : सिद्धान्तवासना : सिद्धान्तप्रसेवा:—"संसार की आग अगर कोई बुझा सकता हो तो वह सिद्धान्तवासना के बल वाला धर्ममेघ ही बुझा सकता है । देखते हैं कि धर्महीन जीव संसार के विविध ताप में तपे रहते हैं । धर्मयुक्त जीव ही उस ताप से बचते हैं । हां, इतना है कि धर्म सर्वज्ञोक्त सिद्धान्त की वासना याने परिणतिस्वरूप श्रद्धा से समर्थित होना चाहिए । कारण, सर्वज्ञ भगवान मूल आप्त पुरुष यानी विश्वसनीय जन हैं, अदंदवचन हैं, और वे ही त्रिकालाबाध्य अतीन्द्रिय तत्त्व-सिद्धान्त प्रत्यक्ष देख कर कह सकते हैं । अतः ऐसी सिद्धान्तवासना के लिए उनके सिद्धान्त स्वीकार करने योग्य है । स्वीकार हृदयस्पर्शी एवं ठीक परिणतिकारी होने के लिए सिद्धान्त के अच्छे ज्ञाता पुरुषों की सम्यग् रीति से उपासना करनी आवश्यक है । उसीसे पुनः पुनः सत्संग, श्रवण, सम्यग् आचार के दर्शन-प्रेरणा इत्यादि मिलने से सिद्धान्त का सत्कारमय श्रद्धा पूर्वक स्वीकार होता है ।

मालाघटदृष्टान्त अल्पपेक्षात्याग : जिनाज्ञा की आधीनता:—"ऐसी उपासना के साथ साथ 'मुण्डमालालुका' अर्थात् पुष्पमाला और घट का दृष्टान्त मननीय है । दृष्टान्त इस प्रकार है, गले में पहनी हुई पुष्पों की माला में अनित्य होने की प्रतीति होती है, तब वे पुष्प म्लान होने पर कोई शोक नहीं होता है, जब कि घड़े में अगर नित्यता की, शाश्वतता की बुद्धि हो, तो इसका एक पडमात्र भी खंडित होने पर उसे शोक होता है । संसार के पदार्थ एवं अनेक संयोग विनश्वर हैं सभी इन्द्र संयोग सभी उसे तो अनेक नाश या वियोग में शोक करने की कोई आवश्यकता नहीं । विनश्वरता के कारण ही अल्प वस्तु की अपेक्षा का, एवं अयथार्थविक अपेक्षा का त्याग

कर देना उचित है। अर्थात् उसकी एसी पराधीन आकांक्षा रखनी व्यर्थ है कि यह मेरा जीवन-आधार है, और यही मेरा सुख-साधन है। प्रश्न होगा कि तब जीवन में किसी-न-किसीकी अपेक्षा तो रहेगी, तो किसीकी अपेक्षा रखनी ? उत्तर यह है कि, जिन यानी वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकर-देव की आज्ञा की अपेक्षा रहनी चाहिए। अर्थात् अपना जीवन आज्ञाप्रधान बनाना जरूरी है। मन में हरघडी एसी अपेक्षा बनी रहे कि 'मेरा प्रत्येक विचार-वाणी-वर्तन जिनाज्ञाको सापेक्ष हो, जिनाज्ञा के विरुद्ध न हो।' जिनाज्ञा के प्रति एसी सार्वत्रिक परायीनता से युक्त रहा जीवन यह आज्ञा-प्रधान जीवन है।

प्रणिधान : साधुसेवा से धर्मशरीर का पोषण:—"जीवन में जिनाज्ञा को प्रधान रखना, इतना पर्याप्त नहीं हैं; किन्तु साथ साथ पणिधान का भी आदर करना चाहिए; अर्थात् प्रणिधान द्वारा धर्मयोग को कर्तव्यरूप से निर्णीत कर लेना एवं जो कुछ धर्मयोग का आचरण हो वह प्रणिधान-युक्त ही होना आवश्यक है। प्रणिधान क्या है ? 'षोडशक' ग्रन्थ में कहा है कि हीन गुण वालों के प्रति दयायुक्त मन और परोपकार की वासना से विशिष्ट, एवं स्वीकृत धर्मस्थान की मर्यादा में निश्चलता, से संपन्न, एसा जो धर्मक्रिया में कर्तव्यता का उपयोग (मनोलक्ष), यह प्रणिधान है। इससे अपने से नीचे गुणस्थानक में रहे जीवों के प्रति द्वेष, स्वार्थांधता, एवं चञ्चलता और कर्तव्य-विस्मरण त्याज्य होता है। गृहीत किया गया धर्मशरण एवं धर्मयोगरूप शरीर भी साधु यानी मुनिजनों की सेवा से पुष्ट करना जरूरी है। कारण, बिना साधुसेवा धर्मशरण का विकास, धर्मयोग-संबन्धी आज्ञा का ज्ञान, धर्मयोग में स्थिरता एवं वृद्धिगत आदर को जगानेवाली पुनः पुनः प्रेरणा धर्म-योग के उपकार के बदले में कृतज्ञता का सेवन, धर्मयोग में जरूरी मूलभूत विनय,...इत्यादि सब कहां से प्राप्त होगा ? और इन सबों के बिना धर्मदेह का पोषण भी कैसे हो सकेगा ? इसलिए साधुसेवा अति आवश्यक है; और साधुसेवा भी प्राप्त करके वह निष्फल न जाए और धर्मदेह दुर्बल न बने,-यह ध्यान में रख कर धर्मयोगों का विकास एवं चित्त में धर्मशरण की भावना पोषण करते रहना चाहिए। धर्मयोगों का सातत्य बना रहे, और इनमे प्रणिधान-प्रवृत्ति-स्थिरता बार बार अभ्यास, आदर, विधिपालन, इत्यादि बढते रहें—इन सब से धर्मपोषण होता है।

प्रवचनमालिन्य-रक्षण:—"जीवन मे जिनाज्ञा की अधीनता एवं धर्मशरण की वृत्ति और धर्म का पोषण करते रहने के साथ साथ प्रवचन यानी जिनशासन का मालिन्य से रक्षण करना चाहिए। मालिन्य यानी मलिनता यह-कि लोगों में जैन धर्मकी निन्दा हो. जैनसंघ की लघुता हो. जैन आचार अनुष्ठान के प्रति अरुचि-द्वेष-तिरस्कारादि प्रगट हो, इत्यादि। इस से रक्षा करनी अर्थात् अपनी धर्मप्रवृत्ति द्वारा भी ऐसी कुछ भी मलिनता न हो, और अन्यों के द्वारा प्रादुर्भूत ऐसी मलिनता का निवारण हो इस प्रकार की सावधानी एवं प्रयत्न अवश्य रखना चाहिए। प्रवचन-मालिन्यकी रक्षा का इतना बडा महत्त्व है कि इसके लिए कभी कभी जिनाज्ञा के विधि-निषेध के उत्सर्ग-मार्ग का भी त्याग कर अपवाद-मार्ग का आलंबन किया जाता है। अलबत्त यह भी जिनाज्ञा से बाह्य नहीं है; क्यों कि जिनाज्ञा ने ही प्रवचन-रक्षा पर बहुत जोर दिया है।

ल०–) एतच्च विधिप्रवृत्तः सम्पादयति, अतः सर्वत्र विधिना प्रवर्त्तितव्यं,–सूत्राद् ज्ञातव्य आत्मभावः–प्रवृत्तावपेक्षितव्यानि निमित्तानि, यतितव्यमसंपन्नयोगेषु,–लक्षयितव्या विस्रो (प्र...थो)तसिका,–प्रतिविधेयमनागतमस्याः भयशरणाद्युदाहरणेन ।

(पं–०) 'सूत्र' इत्यादि, सूत्राद्=रक्त(प्र० ...अरक्त)द्विष्टादिलक्षणनिरूपकादागमात् 'ज्ञातव्यो'= बोद्धव्यः, आत्मभावः=रागादिरूप आत्मपरिणामो, यथोक्तं, 'भावणसुयपाढो तित्थसवणमसइ (प्र०.... सेवणसमयं) तयत्थजाणंमि । तत्तो य आयपेहणमइनिउणं दोस (प्र०....निउणगुणदोस) विक्खाए' इति 'निमित्तानी'ति इष्टानिष्टसूचकानि शकुनादीनि सहकारिकारणानि वा । 'भयशरणाद्युदाहरणेने'ति 'सरणं भए उवाओ, रोगे किरिया, विसंमि (प्र०–वरसंमि) मंतोत्ति' इत्युदाहरणम् ।

विधिप्रवृत्ति–आत्मनिरीक्षणः— अरिहंत परमात्मा, आगे भी, इस प्रकार धर्मोपदेश करते हैं कि, "यह धर्मयोगों द्वारा धर्मपोषण एवं प्रवचनमालिन्य–रक्षण उसीसे किया जा सकता है जो धर्म की शास्त्रोक्त विधि से प्रवृत्त होता हैं। विधि का भङ्ग करने में धर्मयोग की सिद्धि और धर्मदेह का व्यवस्थित पोषण तो नहीं हो सकता, वरन् प्रवचन को मालिन्य लगने का अवकाश रहता है। अतः सर्वत्र बाह्य एवं आभ्यन्तर विधि से प्रवृत्ति करनी चाहिए। विधिपालन पूर्वक धर्मयोगों की सिद्धि एवं धर्मपोषण हो रहा है या नहीं, उसका निर्णय करने के लिये यह देखना चाहिए कि अपनी आत्मा में राग–द्वेषादि कम हो रहे हैं या नहीं। इसीलिए सूत्र में जहां रागी–द्वेषी आदि के लक्षण बतलाए गये हैं उसके आधार पर अपनी आत्मा की रागादि–परिणति की जांच करनी आवश्यक है। जैसे कि कहा है, 'पहले संसारनिस्तार रूप मोक्ष आदि की शुभ भावना से, सूत्रप्रणेता एवं सूत्र पर पूर्ण श्रद्धा से, तथा विनय बहुमानादि गुणों से हृदय को भावित करना; ततः सूत्रका पाठ लेना, बाद में उस अर्थ के ज्ञाता पुरुष के पास तीर्थ यानी प्रवचन बार बार श्रवण करना। तत्पश्चात् अपनी आत्मा का, दोष संबन्ध में ऐसा सूक्ष्म निरीक्षण करना कि मेरे में कितने राग–द्वेषादि दोष कम हुए, प्रत्येक कितना कम हुआ, और अब भी कौन कौन कितना अवशिष्ट है। तथा वे भी कैसे कैसे निर्मूल हों।'

निमित्तों की अपेक्षा:–"विधिपूर्वक जो धर्मप्रवृत्ति करने का कहा, उसेमें भी निमित्तों की अपेक्षा रखनी जरूरी है। 'निमित्त' कहते हैं, एक तो किसी कार्य करने में इष्ट सिद्ध होगा या अनिष्ट, उसके सूचक शुभाशुभ शब्द शुकन आदि को। दूसरे प्रकार के निमित्त हैं कार्य करने में आवश्यक सहकारी कारण। दोनों प्रकार के निमित्तों की कभी उपेक्षा नहीं किन्तु अपेक्षा रखनी। कहा है, 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' शुभ कार्य बहुत विघ्नभरे होते हैं; अब विघ्न तो अतीन्द्रिय होते हैं, लेकिन अशुभ शुकन आदि ऐसे विघ्नों एवं अनिष्टों का सूचन करते हैं तो पर उनके ध्यान देना, उसका निवारण करना, रुक जाना, इत्यादि आवश्यक हैं। एवं इष्ट–सिद्धि के सूचक शुभ शुकन आदि की प्रतीक्षा करना, शुकन मिलने पर शुभ कार्य में विलम्ब नहीं करना, यह भी

जरूरी है। इस प्रकार, धर्मप्रवृत्ति करने में अपेक्षित साधन-सामग्री स्वरूप निमित्तों पर भी ध्यान देना चाहिए, ता कि उनकी त्रुटि या अल्पता में प्रारम्भ की गई धर्मप्रवृत्ति स्खलित या खंडित हो न पावे, एवं धर्मप्रवृत्ति के पूर्व इसके सहकारी कारणों का पूर्ण रूप से अवश्य संपादन करने का ध्यान में रहे। यह भी निमित्तों की अपेक्षा है कि उनका गौरव बहुमानादि रखा जाए एवं कृतज्ञभाव बना रहे।

असंपन्न धर्मयोगों में प्रयत्नः— "आगे आगे आत्मविकास बढ़ाने के लिए मात्र चालू धर्मप्रवृत्ति से संतोष मान लेना उचित नहीं, किन्तु अप्राप्त अधिकाधिक धर्मयोगों के लिए प्रयत्न करना भी अत्यावश्यक है। धर्मयोगों में प्रवृत्ति यह तो मोक्ष की एक यात्रा है; अतः उसमें प्रगति एवं वेग बढ़ाना चाहिए। इसका एक यह भी कारण है कि धर्मयोगों से साधनाकाल से अतिरिक्त काल में पापप्रवृत्ति बनती तो रहेगी और इससे अशुभ कर्मबंधन भी बढ़ते रहेंगे, तो उनसे बचने के लिए भी धर्मयोगों में नया नया प्रयत्न करना चाहिए। ऐसे प्रयत्न का मतलब यह है कि चालू धर्मयोगों में भी अधिकाधिक एकाग्रता, भावोल्लास, संभ्रम, सूक्ष्यविधिपालन, इत्यादि करने के लिए भी एवं क्षमा-उपशम-अर्हद्भक्ति आदि बढ़ाने के हेतु भी प्रयत्न करना चाहिए।

उन्मार्गगमन आदि पर लक्षःसंभवित स्खलनादि के पूर्व प्रतिकारः भयशरणादि दृष्टान्तः- "धर्मयोगों की साधना में यह भी बहुत लक्ष में रहे कि साधना का रथ बीच में स्खलित या खंडित तो नहीं होता है, या मार्ग को छोड़कर उन्मार्ग पर तो नहीं चला जाता है; अर्थात् विस्रोतसिका तो नहीं होती है। हुई हो तो प्रतिपक्षीय धर्मभावना, गुरुशिक्षा, इत्यादि उपायों से उसे हटानी चाहिए। धर्मयोगों की साधना में मोह के उदयवश ऐसे कई प्रलोभन, शैथिल्य, अजागृति, कषायावेश, विषयाकर्षण, इत्यादि उपस्थित होते हैं, कि जो साधक को स्रोत यानी साधना के प्रवाह में से विस्रोत यानी विराधना (स्खलना) के उत्पथ में डाल देते हैं। इसलिए हर समय यह सावधानी रहे कि विस्रोतस् गमन न हो। इतना ही नहीं बल्कि भविष्य में भी कोई विस्रोतसिका न हो पावे इसलिए पहले से प्रतिकार रूप में प्रयत्न रखना आवश्यक है; जैसे कि ब्रह्मचर्य धर्म के पालन में भावी कोई बाधा न हो इसलिए स्त्रीपरिचय, स्त्रीकथा, विलासी वांचन इत्यादि से दूर रहने का यत्न और शुभ भावनाओं का प्रयत्न जरूरी है। विस्रोतसिका के प्रतिकार में भय-शरणादि उदाहरण दिया जाता है। कहा है. 'शरणं भए उवाओ, रोगे, किरिया, विसंमि मंतो त्ति'; -अर्थात् कोई भय उपस्थित हुआ हो, तो रक्षण के हेतु किसी शक्तिमान की शरण लेना यह उपाय है। कोई व्याधि पैदा हुई हो तो विशेषज्ञ वैद्य की चिकित्सा यह व्याधि मिटाने का उपाय है। एवं कोई विष-प्रयोग हुआ हो तो मन्त्र उसके निवारण का उपाय होता है। इस उदाहरण के अनुसार विस्रोतसिका से बचने हेतु योग्य प्रतिकार किये जाते हैं।

सोपक्रमकर्मनाश : निरुपक्रमकर्मानुबन्धनाश :—"इस क्रम से अन्तिम विस्रोतसिका के प्रतिकार तक की धर्म-साधना करने पर सोपक्रम कर्मोंका तो नाश ही हो जाता है, और निरुप-

(ल०–) भवत्येवं सोपक्रमकर्म्मनाशः, निरुपक्रमकर्म्मानुबन्धव्यवच्छित्तिः–इत्येवं धर्म्मं देशयन्तीति धर्म्मदेशकाः । २१

क्रम कर्मों की परंपरा रुक जाती है। सोपक्रम कर्म वे कहे जाते हैं कि जिन पर उपक्रम यानी प्रबल आघातक निमित्त लगने पर वे टूट जाते हैं। यहां शुद्ध धर्मसाधना रूप निमित्त ऐसा होने से सोपक्रम कर्मों का नाश हो जाता है। लेकिन निरुपक्रम कर्म वे हैं जिन्हें प्रायः कोई घातक उपक्रम नष्ट कर ही नहीं सकता; इसलिए वे अवश्य उदय मे आते हैं। फिर भी उपर्युक्त धर्मसाधना का यह प्रभाव है कि वह ऐसे निरुपक्रम कर्मों की अनुबन्ध शक्ति का नाश कर देता है। यदि धर्मसाधना न हो तो जिन कर्मों के उदय में आत्मा में ऐसा संक्लिष्ट भाव उत्पन्न होता है कि इससे पुनः नये कर्म उपार्जित होते हैं, और पुनः उनके उदय मे फिर अन्य कर्म उपार्जित होते हैं, इत्यादि, वे कर्म अनुबन्ध वाले कहे जाते हैं। धर्मसाधना से कर्मों की इस अनुबन्ध शक्ति का नाश हो जाने से आगे कर्मोपार्जन की परंपरा नहीं चल सकती है।" ।

इस प्रकार के धर्म का उपदेश अरिहंत परमात्मा करते हैं, इसलिए वे धर्मदेशक हैं। २१॥



२२. धम्मनायगाणं (धर्मनायकेभ्यः)

(ल०—) तथा 'धम्मनायगाणं'। इह धर्मः अधिकृत एव, तस्य स्वामिनः, तल्लक्षणयोगेन। तद्यथा, (१) तद्वशीकरणभावात् (२) तदुत्तमावाप्तेः, (३) तत्फलपरिभोगात् (४) तद्विघातानुपपत्तेः। तथाहि,—

(पं०—) धर्मस्य नायकत्वे भगवतां साध्ये तद्वशीकरणादयश्चत्वारो मूलहेतवः प्रत्येकस्वप्रतिनियतैः सभावनिकैश्चान्यैश्चतुर्भिरेव हेतुभिरनुगता व्याख्येयाः। तत्र तद्वशीकरणभावस्य मूलहेतोः (१) विधिसमासादनं, (२) निरतिचारपालनं, (३) यथोचितदानं, (४) तत्रापेक्षाभावश्च, एते सभावनिकाश्चत्वारः प्रतिहेतवः। द्वितीयस्य च तदुत्तमावाप्तिरूपस्य (१) प्रधानक्षायिकधर्मावाप्तिः, (२) परार्थसम्पादनं, (३) हीनेऽपि प्रवृत्तिः,(४) तथाभव्यत्वयोगश्चेत्येवंलक्षणाः। तृतीयस्य। पुनस्तत्फलपरिभोगलक्षणस्य (१) सकल(प्र० .... सफल) सौन्दर्यं (२) प्रातिहार्ययोग, (३) उदारर्द्ध्यनुभूतिः, (४) तदाधिपत्यभावश्चेत्येवंरूपाः। चतुर्थस्य तु तद्विघातानुपपत्तिरूपस्य (१) अवन्ध्यपुण्यबीजत्वं, (२) अधिकानुपपत्तिः, (३) पापक्षयभावो, (४) अहेतुकविघातासिद्धिश्चेत्येवंस्वभावाः सभावनिकाश्चत्वार एव प्रतिहेतवः। एते भावनाग्रन्थेनैव व्याख्याता इति न पुनः प्रयासः। परं,

---

२२. धम्मनायगाणं (धर्म के नायक को)

अब 'धम्मनायगाणं' पद की व्याख्या करते हैं। यहां धर्म कर के प्रस्तुत चारित्रधर्म ही समझना है। उसके स्वामी अर्हतपरमात्मा के प्रति मेरा नमस्कार हो,—ऐसा स्तुतिकार कहते हैं।

नायक यानी स्वामी के ४ लक्षणः—

अर्हत्प्रभु धर्म के नायक यानी स्वामी इस कारण से है, कि उनमें नायक का स्वरूप प्राप्त है। यह इसलिए कि उन्होंने (१) धर्म का वशीकरण किया है, (२) धर्म की उत्तम प्राप्ति की है, (३) वे धर्म के फल के परिभोक्ता बने हैं, और (४) उनमें धर्मका घात नहीं होता है भगवान में धर्मनेतृत्व सिद्ध करने वाले ये धर्मवशीकरणादि चार तो मूल हेतु हैं; और इन में से प्रत्येक हेतु सिद्ध करने वाले भी और ४-४ हेतु हैं। ये इस प्रकारः—

	मूलहेतु	प्रत्येक के ४-४ अवान्तर हेतु
१	धर्मवशीकरण	विधिसमासादन – निरतिचारपालन—यथोचितदान – अपेक्षाऽभाव
२	उत्तमधर्मप्राप्ति	क्षायिकधर्मप्राप्ति—परार्थसंपादन — हीनेऽपि प्रवृत्ति-तथाभव्यत्व·
३	धर्मफलयोग	सकलसौन्दर्य — प्रातिहार्ययोग — उदारऋद्ध्यनुभव-तदाधिपत्य
४	धर्मघाताभाव	अवन्ध्यपुण्यबीजत्व-अधिकानुपपत्ति-पापक्षयभाव-अहेतुकविघातासिद्धि

(ल०—धर्मवशीकरणहेतवः—) एतद्वशिनो भगवन्तः (१) विधिसमासादनेन, विधिनाऽयमाप्तो भगवद्भिः; तथा (२) निरतिचारपालनतया, पालितश्चातिचारविरहेण; एवं (३) यथोचितदानतः दत्तश्च यथाभव्यं, तथा (४) तत्रापेक्षाऽभावेन, नामीषां दाने वचनापेक्षा । १ ।

(पं०—) 'एतद्वशिनः' इति, एषः=अधिकृतो धर्मो, वशीः=वश्यो, येषां ते एतद्वशिन इति । 'विधिसमासादनेने'ति, विधिसमासादितो ह्यर्थोऽव्यभिचारितया वश्यो भवति, न्यायोपात्तवित्तवद् । 'तत्रे'ति =दाने, 'वचनापेक्षे'ति, न हि भगवन्तो धर्मदाने अन्यमुनय इव पराज्ञामपेक्षन्ते, 'क्षमाश्रमणानां हस्तेन सम्यक्त्वसामायिकमारोपयामी'त्याद्यनुच्चारणात् ।

इसमें एकेक मूल हेतु के ४–४ अवान्तर हेतु बतलाए । इन अवान्तर हेतुओं कि स्पष्ट विचारणा आगे के ग्रन्थ से की जायेगी । अतः यहां इसका प्रयत्न नहीं किया जाता । किन्तु इस स्पष्टता के साथ उन हेतुओं को ले कर मूल हेतुओं का निरूपण करना जरूरी है । यह इस प्रकारः—

अर्हद् भगवान द्वारा धर्म का वशीकरण कैसेः—

अर्हत् परमात्मा प्रस्तुत चारित्र धर्म को वश करने वाले हुए हैं, यह चार कारणों सेः— (१) **विधिपूर्वक प्राप्तिसे** वशीकरण हुआ है । भगवान ने धर्म विधिपूर्वक प्राप्त किया है; और विधिपूर्वक प्राप्त किया पदार्थ अवश्य वश होता है, जैसे कि न्याय–नीति से उपार्जित किया धन अपना वश रहता है, अर्थात् राजकीय दण्ड–आक्रमणका कोई भय उस पर नहीं होता है । विधिपूर्वक प्राप्ति इसलिए कही जाती है कि उन्होंने चारित्रधर्म की सोलह गुणों की योग्यता पूर्वक सर्वपापव्यापार के त्याग की प्रतिज्ञा कर के वह धर्म प्राप्त किया है । तथा (२) **निरतिचार पालन करने से** वशीकरण हुआ है । भगवान ने चारित्रधर्म में कोई अतिचार यानी दोष न लगा कर उसका पालन किया है, और बिना अपराध पालन करने से ही वस्तु वश होती है । इस प्रकार (३) **यथोचित धर्मदान करने से** वशीकरण सिद्ध है । भगवान ने जीवों को योग्यतानुसार धर्मका दान किया है; यह भी धर्म वश करने का सूचक है । वस्तु वश में आये बिना उसका दान नहीं हो सकता । तथा (४) धर्मदान करने में **किसी की अपेक्षा न होने से** भी उन्हें धर्म का वशीकरण होने का सिद्ध होता है । भगवान को अन्य मुनियों की तरह धर्मदान करने में दूसरों की आज्ञा की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती है । इसलिए वे 'क्षमाश्रमणों (महामुनियों) के हाथों से' ऐसा नहीं बोलते हैं । उदाहरणार्थ, मुनियोंने किसी को सम्यक्त्व–व्रत का दान करता है, तो वे व्रत की क्रिया मे बोलेंगे 'खमासमणाणं हत्थेणं सम्मत्तं आरोवेमि,' अर्थात् 'महामुनियों के हाथ से मैं तेरे में सम्यक्त्व का आरोपण करता हूं,' तात्पर्य, 'मै सम्यक्त्वदान उनकी आज्ञा से करता हूं, मेरी स्वतन्त्रता से नहीं' । लेकिन अर्हद् भगवान जब सम्यक्त्वव्रतादिका प्रदान करते हैं तब उन्हें ऐसा बोलना नहीं पड़ता । इससे सूचित होता है कि उन्होंने धर्म को वश किया है । जो वस्तु वश हो उसका विनियोग करने मे अपना स्वातन्त्र्य रहता है । इस प्रकार धर्म को वश

(ल०-श्रेष्ठधर्मप्राप्तिहेतवः) एवं च तदुत्तमावाप्तयश्च भगवन्तः प्रधानक्षायिकधर्म्मावाप्त्या, (१) तीर्थंकरत्वात् प्रधानोऽयं भगवतां; तथा (२) परार्थसंपादनेन सत्त्वार्थकरणशीलतया; एवं (३) हीनेऽपि प्रवृत्तेः, अश्वबोधाय गमनाऽऽकर्णनात्; तथा (४) तथाभव्यत्वयोगात्, अत्युदारमेतदेतेषाम् । २ ।

करने से भगवान धर्मनायक बने हैं। इस से यह भी सूचित होता है कि कोई भी धर्म अगर वश करना है, सिद्ध करना है, तो इसका विधिपूर्वक स्वीकार, निर्दोष पालन, इत्यादि करना चाहिए।१।

अर्हद् भगवान द्वारा धर्मोत्तमप्राप्ति यानी प्रधान क्षायिक धर्मकी प्राप्ति कैसे ?:—

अर्हत् परमात्मा धर्म की उत्तम प्राप्ति वाले अर्थात् प्रधान क्षायिक धर्म प्राप्त करनेवाले हुए हैं। प्रधान क्षायिक धर्म इसलिए, कि सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र स्वरूप प्रधान धर्म यों तो आत्म-स्वभावभूत है, लेकिन वे दर्शनमोहनीय एवं चारित्रमोहनीय कर्मों से तिरोभूत यानी छीप गये हैं। जब उन कर्मो का अत्यन्त क्षय किया जाता है तब वे क्षायिक रूप से प्रगट होते हैं। क्षय करने के लिए जिन तत्त्वरुचि-सत्सङ्ग-सत्त्वश्रवण और शम-संवेगादि की एवं व्रतग्रहण-पंचाचारपालनादि की साधनाएँ की जाती हैं, वे भी धर्म तो कहलाते हैं लेकिन उपचार से, गौणरूप से, जब कि सम्यग्दर्शन-सम्यक्चारित्र आत्म-स्वभावभूत प्रधान धर्म हैं। तो भगवान प्रधान क्षायिक धर्म की प्राप्ति वाले हुए हैं, यह इन चार कारणो से सिद्ध है:-(१) भगवान तीर्थंकर होने से श्रेष्ठ धर्मप्राप्ति वाले होते हैं। तीर्थंकर भगवान का धर्म औरों की अपेक्षा प्रधान होता हैं। क्यों कि वे वरबोधि-सम्यग्दर्शनयुक्त एवं स्वयंबुद्ध हो, अप्रमत्त चारित्रधर्म वाले होते हैं। तथा (२) औरों के अर्थ (प्रयोजन) का संपादन करने से वे उत्तमधर्मप्राप्ति वाले कहे जाते हैं। केवल स्वार्थसिद्धि नहीं किन्तु अन्य भव्य जीवों को भी हित रूप धर्मप्रयोजन संपादित करने वाले वे होते हैं। यह स्वयं उत्तमधर्मप्राप्ति के सिवा नहीं हो सकता है। तथा (३) हीन प्राणी के प्रति भी धर्मोपकार मे प्रवृत्ति करने से सिद्ध होता है कि वे उत्तम धर्मप्राप्ति वाले हैं। उदाहरणार्थ, तीर्थंकर भगवान श्री मुनिसुव्रतस्वामी अश्व को प्रतिबोध करने के लिए गए,-ऐसा शास्त्र से सुना जाता है। (इसकी कथा आगे कहते हैं।) विना धर्मकी उत्तम प्राप्ति, यह कैसे हो सके ? तथा, (४) तथाभव्यत्व के योग से भगवान उत्तम धर्म की प्राप्ति वाले होते हैं। तीर्थंकर भगवान में अनादि काल से समस्त भव्य जीवों की अपेक्षा अत्यन्त श्रेष्ठ ऐसा विशिष्ट कोटि का भव्यत्व होता है, जिसकी वजह जात्य रत्न की भांति वे उत्तम वरबोधि-सम्यग्दर्शनादि धर्म से ले कर प्रधान क्षायिक धर्म प्राप्त करते हैं। इस प्रकार धर्मकी उत्तम प्राप्ति करने से भगवान धर्म के नायक बने हैं। इससे यह भी सूचित होता है की धर्म की उत्तम प्राप्ति करनी हो तो परार्थ-संपादन एवं हीन प्राणी के प्रति भी धर्मोपकार इत्यादि जरूरी है। अब अश्व-बोध की कथा :-

(पं०—) 'अश्वबोधाय गमनाऽऽकर्णनादि'ति, अश्वस्य=तुरङ्गमस्य, बोधाय=सम्बोधाय, भगवतः श्रीमतो मुनिसुव्रतस्वामिनो भृगुकच्छे गमनश्रवणात्। तथाहि,

(अश्वबोधकथाः—)

किल भगवान् भुवनजनानन्दनो द्विषद्दुःसहप्रतापपरिभूतसमस्तामित्रसुमित्राभिधान भूपालकुलकमलखण्डमण्डनाऽमलराजहंसो भुवनत्रयाभिनन्दितपद्मापदपद्मावतीदेवीदिव्योदरशुक्तिमुक्ताफलाकारः श्रीमुनिसुव्रततीर्थनाथो मगधमण्डलमण्डनराजगृहपुरपरिपालितप्राज्यराज्यः सारस्वतादिवृन्दारकवृन्दाभिनन्दितदीक्षावसरस्तत्कालमिलितसमस्तवासवविसरविरचितोदारपूजोपचारश्चारकाकारसंसारनिस्सरणसज्जां (प्र०....निःसारसज्यां) प्रव्रज्यां जग्राह, तदनु पवनवदप्रतिबद्धतया निजचरण(प्र०....चलन)कमलपांशुपातपूतं भूतलं कुर्वन् कियन्तमपि कालं छद्मस्थतया विहृत्य निशातशुक्लध्यानकुठारधाराव्यापारविच्छिन्नदुरन्तमोहतरुमूलजालः सकलकालभाविभावस्वभावावभासनपटिष्ठं केवलज्ञानमुत्पादयामास। समुत्पन्नज्ञानं च भगवन्तमासनचलनानन्तरं विज्ञाय

—: अश्वबोध–कथा :—

जगत के जीवों को आनन्द देने वाले तीर्थंकर भगवान **श्री मुनिसुव्रतस्वामी** शत्रुओंको दुःसह ऐसे प्रताप से समस्त शत्रुओं का पराभव करने वाले (पिता) सुमित्र नामक भूपति के पुत्र थे, और उनके कमलवन समान कुल में अलंकारभूत निर्मल राजहंस समान थे, एवं त्रिभुवन से अभिनन्दित और लक्ष्मी के स्थानभूत ऐसी (माता) **पद्मावती** रानी की दिव्य कुक्षी स्वरूप शुक्ति में मोती के समान उत्पन्न हुए थे। उन्हों ने मगध देश के भूषण समान राजगृह नगर में रह कर विशाल राज्य का पालन किया। बाद में सारस्वत आदि लोकान्तिक देवों के समूह ने स्वर्ग से आकर भगवान से दीक्षा–अवसर का अभिनन्दन किया। (तब से लेकर प्रभु के द्वारा वार्षिक दान दिया गया।) तत्पश्चात् तत्काल समस्त देव–पर्षद् वहां संमिलित हो कर उन्होंने भगवान का दीक्षा–अभिषेक एवं जुलूस के रूप में भारी पूजा–विधि की; और भगवानने कारागार समान संसार से निकालने वाली सत्पुरुषों से जन्म पाई हुई प्रव्रज्या यानी साधुदीक्षा गृहीत की। इसके बाद उन्होंने पवन की तरह अप्रतिबद्ध रूप से विहार कर, अपने चरणकमल की रज के स्पर्श से पृथ्वी को पवित्र करते करते कुछ काल छद्मस्थ यानी ज्ञानावरणादि कर्मों से आवृत रूप में पसार किया, तदनंतर उन्होंने शुक्लध्यान की तीक्ष्ण कुदालधार लगा कर दुःखद मोह–वृक्ष के मूलों के समूह का उच्छेद कर दिया, और (वीतराग हो ज्ञानावरणादि घाती कर्मों का नाश करके) समस्त काल में होने वाले पदार्थ एवं प्रसङ्गों के स्वरूपप्रकाशन में अत्यन्त निपुण ऐसा केवलज्ञान (सर्वज्ञपन) उत्पन्न कर लिया। तीर्थंकर भगवान के केवलज्ञानोत्पत्ति के प्रभाव से सर्व इन्द्रों के सिंहासन चलायमान हुए, इससे वे अपने अवधिज्ञान द्वारा प्रभु को ज्ञानोत्पत्ति हुई ऐसा जान कर अत्यन्त भक्तिवश आये; और उन्होंने देशना-भूमि के लिए रजत–सुवर्ण–रत्न के तीन किलोंके रूप मे समवसरण की रचना, इत्यादि रूप में भगवान का रमणीय पूजासत्कार किया। देवता वहां अपने स्तर के अनुसार योग्य स्थान में बैठ कर भगवान का उपासना करने लगे। भगवान भी जलपूर्ण मेघ

भक्तिभरनिर्भरा निखिलसुरपतयो विहितसमवसरणादिरमणीयसपर्याः पर्यायेण यथास्थानमुपविश्य भगवन्तं पर्युपासयामासुः, भगवांश्च सनीरनीरद इव भव्यजन्तुसन्तानशिखिमण्डलोल्लासनस्वभावो भासुराभिनवाञ्जनपुञ्जसङ्काशकायः कषायग्रीष्मसमयसंतप्तप्राणिसंतापापनोददक्षो विक्षिप्तान्धकारभामण्डलतडिल्लतालङ्कृतः स्फुरद्धर्म्मचक्रकान्तिकलापोत्पादितनभोभूषणाऽऽखण्डलकोदण्डाडम्बरः सौधर्म्मेशानसुरपतिपाणिपल्लवप्रेर्यमाणधवलचामरोत्पनिपातप्रासबलाकायङ्क्तिप्रभवशोभः सकलसत्त्वसाधारणाभिः सद्धर्म्मदेशनानीरधाराभिः स्वस्थीचकार निःशेषप्राणीहृदयभूप्रदेशानिति। ततः प्रवृत्ते तीर्थेऽन्यदा भानुमानिव भगवान् प्रबोधयन् भव्यपद्माकरान् दक्षिणापथमुखमण्डनं जगाम भृगुकच्छा (प्र०....भरुकच्छा)भिधाननगरमिति; समवससार च तत्र पूर्वोत्तरदिग्भागभाजि कोरिण्टकनामन्युद्याने। अत्रान्तरे निशम्य निजपरिजनाद् जिनागमनम्, आनन्दनिर्भरमानसः समारुह्य जात्यतुरङ्गममनुगम्यमानो मनुजव्रजेनाजगाम जगद्गुरुचरणारविन्दवन्दनाय तन्नगरनायको जितशत्रुनामा नरपतिः;प्रणि-

---

के समान हो सद्धर्म की देशना स्वरूप बारिस बरसाने लगे। मेघ के समान इसलिए, कि भगवान भव्य जीव की पङ्क्ति स्वरूप मयूरमंडल को उल्लसित करने के स्वभाव वाले हैं; भास्वर नूतन अञ्जन के पुञ्ज समान श्याम शरीर वाले हैं; कषाय स्वरूप ग्रीष्मसमय से संतप्त प्राणियों के संताप को दूर करने में कुशल हैं; अन्धकार को हटाने वाले भामण्डल रूप बिजली की रेखा से अलङ्कृत हैं; प्रभु के स्फुरायमान धर्मचक्र की कान्ति के पुञ्ज से आकाश में इन्द्रधनुष्य की शोभा पैदा होती है; सौधर्मेन्द्र और ईशानेन्द्र के पल्लवतुल्य हाथों से ढले जाते श्वेत चामर की हलनचलन से, सफेद बगुलें की पंक्ति के समान जो शोभा उठती है, वैसी शोभा मेघ की भांति प्रभु को प्राप्त होती है। ऐसे मुनिसुव्रत भगवानकी धर्मदेशना बारिस के समान सकल जीव-साधारण बरसती थी, और उसकी धारा समस्त प्राणियों के हृदय रूप भूमिभाग को स्वस्थ कर रही थी। उस देशना से वहां तीर्थकी-शासनकी स्थापना हुई, गणधर महर्षि आदि चतुर्विध संघ स्थापित हुआ। एक समय चलते हुए भगवान भव्य जीव स्वरूप कमलों को सूर्य की भांति प्रतिबोध करते करते दक्षिणापथ देश के मुखमंडन समान भृगुकच्छ नाम के नगर में पधारे; और वहां ईशान कोण में रहे हुए कोरिण्टक नामक उद्यान में स्थिरता की। उस वक्त नगर के स्वामी राजा जितशत्रु ने अपने परिजन से सुना कि जिनेन्द्र भगवान का आगमन हुआ है। ईससे उसका चित्त आनन्द में मग्न हो गया और जात्य अश्व पर आरूढ हो मानवगण से अनुसरण कराता हुआ, जगद्गुरु के चरणारविन्द को वन्दना करने के लिए आया। उसने बाह्य-आभ्यन्तर निखिल लक्ष्मी के निवास-भूत जिनपति पदकमल को नमस्कार कर के, हस्तांजलि जोड कर भगवान के चरण समीप अपना स्थान लिया, और कर्णों के लिए अमृत-सी जिनवाणी के सम्यक् श्रवण में मन लगाया। इसके पश्चात् गणधर महर्षिने स्वयं जानते हुए भी जनता के बोधार्थ परमगुरु परमात्मा से, प्रणाम कर विनयपूर्वक प्रश्न किया-

'हे भगवन्! मनुष्य, देव, और तिर्यञ्च पशुपक्षियों के समूह से व्याप्त इस पर्षदा के भीतर कितने भव्य जीवोंने बिलकुल नवीन सम्यग्दर्शन प्राप्त किया? संसारसागर सीमित कर दिया? और अपनी आत्मा मोक्षसुखों के पात्र बनाई?'

पत्य सकलकमलानिकेतनं जिनपतिपदकमलमुपविष्टो घटितकरकुड्मलो भगवच्चरणमूले; समाकर्णितवान् कर्णामृतभूतां भगवद्देशनाम्। तदनु जानन्नपि जनबोधनाय विनयपूर्वं प्रणम्य पप्रच्छ परमगुरुं गणधरो, यथा–'भगवन्नमुष्यां मनुष्यामरतिर्यक्कुलसङ्कुलायां (प्र०....विसंकुलायां) पर्षदि कियद्भिर्भव्यजन्तुभिरपूर्वैरभ्युपगतं सम्यक्त्वं, परीतः (प्र०....परीतः) कृतः संसारसागरः; पात्रीकृतो निर्वृतिसुखानामात्मेति?' ततः कुन्दकान्तदन्तदीप्तिभिरुद्योतयन्नभोऽङ्गणं जगाद जगन्नाथो, यथा–'सौम्य! समाकर्णय न केनचित् तुरङ्गरत्नमपहायापरेणेति।' ततः श्रुत्वा सर्वज्ञवचनमवोचज्जितशत्रुभूपतिः–'भगवन्! कौतुकाकुलित(प्र०....कलित)चित्तो जिज्ञासामि तुरगवृत्तान्तमहम्। अन्यच्च–भगवन्नहमस्मिन्नश्वरत्ने समारुह्य चलितस्ते चलननलिनमभिवन्दितुम्। विलोक्य त्रिलोकीतिलकतुल्यं समवसरणमवतीर्णस्तुरङ्गमात् प्रवृत्तः पद्भ्यामेवागन्तुम्, तावत्सकलजन्तुजातचित्तानन्ददायिनीं सजलजलदनादगम्भीरां गम्भीरभवपाथोधि(प्र....पयोधि)पोतोपमां समाकर्ण्य भगवद्देशनामानन्द-

---

तब, जगनाथ कुन्दपुष्प-सी मनोरम दन्तकिरणों से गगनाङ्गण को दीप्तिमान करते हुए बोले, 'हे सौम्य! सुन ले कि जात्य अश्वरत्न को छोड कर और किसीने नहीं।'

बाद में सर्वज्ञ भगवान के वचन का श्रवण कर जित्तशत्रु राजाने पूछा, 'हे भगवन्! मेरा चित्त आश्चर्य से व्याकुल हुआ है, और अश्व का वृत्तान्त जानने के लिए मेरी वाञ्छा है। और भी बात यह है कि हे प्रभो! मैं इस अश्वरत्न पर आरूढ हो श्रीमद् के चरणकमल मे वन्दना करने हेतु चला, बाद में त्रिभुवन के तिलक समान समवसरण दृष्टिपथ में आते ही अश्व के ऊपर से मैं उतर गया और पैदल ही यहां आने लगा। इतने में समस्त जीवराशि के मन को आनन्द देने वाली, सजल बादल के नाद-सी गम्भीर, और गहरे संसारसागर को तैर जाने के लिए नाव के तुल्य भगवत् की देशना सुनने पर इस अश्व के नेत्र-पात्र आनन्दाश्रु से प्रक्षालित और पवित्र होने लगे! इसके दो कर्ण स्थिर हो गए! रोमराजि उल्लसित हो उठी! वह क्षणभर आंख बन्द कर खडा रहा। इसके बाद हे विश्वतारक! यह अश्व फिर धर्मश्रवण पर अपने श्रोत्रों का लक्ष दे कर समवसरण के तोरण के पास आया, और वहां अपूर्व प्रमोदरस का आस्वाद करते हुए उसने अपने दो जानू भूमि पर स्थापित किये। ऐसा मालूम पडता था कि उसका निखिल क्लेश-मल गलित होता था, और अपने मानस की उज्ज्वल भावना मानों कह रहा था। इस अवस्था में शिर झुका कर आप से वन्दना करता हुआ वह यों ही बैठने लगा। अश्व की ऐसी चेष्टा देख कर मैं आश्चर्य-चकित हुआ! मेरा चित्त कभी न देखा हो, ऐसे विस्मय से भरने लगा, और ऐसे चित्त के साथ मैं यहां श्रीमद् की निश्रा में आया। अब जगद्दयालु से प्रार्थना है कि आप तो विश्व के मिथ्या ज्ञान को नष्ट करने वाले हैं। अतः आप बताने की कृपा करें कि ये सब क्या हैं?"

भगवान ने उत्तर देते हुए कहा, "हे सौम्य! सुन। पद्मिनीखेट नामक एक नगर है। वह सकल पृथ्वी की शोभा का स्थानभूत है। वहां 'जिनधर्म' नामका एक सेठ रहता था। उसे जैन धर्मका बहुत अभ्यास था और अच्छा धनसंचय आश्रित हुआ था। उसी नगर में एक दूसरा सागरदत्त नामक सेठ रहता था। वह अपार धन का एक निधि-सा था, जनसमाज में प्रधान

पयःप्लावितपवित्रनेत्रपात्रो निश्चलीकृतकर्णयुगलः समुल्लसितरोमकूपो मुकुलिताक्षः क्षणमात्रमत्रस्थितोऽसावश्वः। तदनु पुनर्द्धर्मश्रवणविश्रामितश्रवणोपयोगः समागतः समवसरणतोरणान्तिकं, तत्र चापूर्वप्रमोदरसमनुभवन् भूमिन्यस्तजानुयुगलो गलन्निखिलकलिमलः(प्र....कल्मलः) कथयन्निव निजमानसविशदवासनां शिरसाऽभिवन्द्य भगवन्तं तथास्थित एवासितुमारब्धवान्, ततस्तदेवंविधमश्वविलसितं विलोक्य विस्मितोऽहं कदाचिददृष्टपूर्वाश्चर्यपूर्यमाणमानसः समागतो भगवत्समीपमिति। ततः कथयतु मथितमिथ्यात्वो भगवान् किमेतदिति'। भगवता भणितं-'सौम्य! समाकर्णय-समस्ति समस्तमेदिनीपद्मामभूतं पद्मिनीखेटं नाम नगरं, तत्राभ्यस्तजिनधर्मो जिनधर्मनामधेयः श्रेष्ठश्री(प्र....श्रेष्ठःश्री)सञ्चयसमाश्रयः श्रेष्ठी वसति स्म, तथाऽपरः सागरदत्ताभिधानः प्रभूत धननिधानं निखिलजनप्रधानं जिनधर्मश्रावकपरममित्रं दीनानाथादिदयादानपरायणस्तस्मिन्नेव पुरे श्रेष्ठी तिष्ठति स्म; स च प्रतिदिनं जिनधर्मश्रावकसमेतो याति जिनालयं, पर्युपास्ते पञ्चप्रकाराचारधारिणः श्रमणान्। अन्यदा तच्चरणान्तिके धर्ममाकर्णयन्निमां गाथामाकर्णयाञ्चकार, यथा-"जो कारवेइ पडिमं, जिणाण जियरागदोसमोहाणं। सो पावइ अन्नभवे भवमहणं धम्मवररयणं ॥ १॥" अवगतश्चानेनास्या भावार्थो भवितव्यतानियोगतः, समारोपितश्चेतसि, गृहीतः परमार्थबुद्ध्या, निवेदितः स्वाभिप्रायः श्रावकाय, कृता तेनापि तदभिप्रायपुष्टिः। तदनु कारितवानसौ सकलकल्याणकारिणी कल्याणमयीं जिनपतिप्रतिमां, प्रतिष्ठापयामास ॥ महता विभवेन। तेन

पुरुष था, और 'जिनधर्म' श्रावक का परम मित्र था। दीन, अनाथ आदि के प्रति दया करना, दान करना, उस में वह तत्पर रहता था। हमेशा वह जिनधर्मश्रावक के साथ जिनमन्दिर में जाता था, और ज्ञानाचारादि पांच प्रकार के आचार वाले जैन श्रमणों की देशनाश्रवण आदि उपासना भी करता था। एक समय श्रमणों के चरणसमीप धर्म का श्रवण करते हुए यह गाथा सुनने में आई,—

'जो कारवेइ पडिमं जिणाण जियरागदोसमोहाणं।
सो पावेइ अन्नभवे भवमहणं धम्मवररयणं ॥'

—'अर्थात् जो पुरुष राग-द्वेष-मोह से विनिर्मुक्त तीर्थंकर भगवान की प्रतिमा कराए, वह दूसरे जन्म में उत्तम धर्मरत्न प्राप्त करता है, और इससे संसार भ्रमण का अन्त होता है।' (वीतराग परमात्मा की प्रतिमा कराने में रागद्वेषोच्छेदक धर्म के प्रति आकर्षणादि रूप धर्मबीज का वपन होता है, और उस के उगने से जन्मान्तर में धर्म प्राप्त होता है। इस रागद्वेषोच्छेदक धर्म के द्वारा संसार के बीजभूत रागद्वेष कट जाने से संसार का अन्त होना युक्तियुक्त है।) भवितव्यतावश सागरदत्त श्रेष्ठी ने इस गाथा का भावार्थ समझ लिया, चित्त में आरूढ कर दिया, और परमार्थ बुद्धि से गृहीत कर रखा। उसने अपना अभिप्राय श्रावक से निवेदित किया, और श्रावक ने उसकी पुष्टि की। इसके बाद समस्त कल्याणों को करने वाली कल्याणमय जिनेन्द्रप्रतिमा उसके द्वारा बनवाई गई, एवं बड़े वैभव से प्रतिष्ठापित की गई। पहले उस सागरदत्त सेठ ने नगर के बाहर शिव का एक मन्दिर बनवाया था। एक वक्त वहां घृतारोपण के दिन जटाधारी एवं शठ प्रकृतिवाले वैरागी लोग शिवलिङ्ग को घृत से भरने के लिए घी से भरे हुए घड़े मठों से बाहर

च सागरदत्तश्रेष्ठिना पूर्वमेव नगरबहिष्कारितं रुद्रायतनम्। अन्यदा तत्र पवित्रकारोपणदिने जटाधारिणः प्रव्रजिताः पशुपतिलिङ्गपूरणनिमित्तं शठप्रकृतयो मठेभ्यो घृतादिपूर्णकुम्भान्निष्कासयामासुः, तदधोभागे च भूयस्यो घृतपिपीलिकाः पिण्डीभूता भूतवत्यः; तेषु च निष्कास्यमानेषु भूतले ता निपेतुः; ते च ताः पथि पतिताः निर्दयतया मर्दयन्तः सञ्चरन्ति स्म। सोऽपि करुणार्द्रचेतास्तास्तच्चरणचूर्यमाणा वस्त्रप्रान्तेनोत्सारयाञ्चकार; तं चोत्सारयन्तं दृष्ट्वा एकेन जटाधारिणा धर्ममत्सरिणा घृतपिपीलिकापुञ्जं पादेनाक्रम्योपहसितः सागरदत्तः श्रेष्ठी–'अहो श्रेष्ठिन् श्वेताम्बर इव दया(प्र....जीवदया)परः संवृत्तोऽसि।' ततोऽसौ वणिक् विलक्षीभूतः किमयमेवमाहेत्यभिधाय तदाचार्यमुखमवालोकत। तेनापि तद्वचनमपाकर्णितम्। ततश्चिन्तितं चतुरचेतसा सागरदत्तेन–न खल्वमीषां मूर्खचक्रवर्त्तिनां मनसि जीवदया, न प्रशस्ता चेतोवृत्तिः, नापि सुन्दरं धर्मानुष्ठानमिति परिभाव्योपरोधविहिततत्कार्यो विशिष्टवीर्यविरहादनुपार्जितसम्यक्त्वरत्नः प्रवर्तितमहारम्भः समुपार्जितवित्तरक्षणाक्षणिको गृहपुत्रकलत्रादिकृतममत्वः प्रकृत्यैव दानरुचिः प्रचुरद्रविणवाञ्छया 'कदा व्रजति सार्थः? क्व किं क्रयाणकं क्रीणाति लोकः? कस्मिन्मण्डले कियती भूमिः? कः क्रयविक्रयकालः? किं वा वस्तु प्राचुर्येणोपयुज्यते?' इत्याद्यहर्निशं चिन्तयन्नुपार्जितनिर्यग्नियोग्यकर्म्मा मृत्वा समुत्पन्नस्तव तुरङ्गतया, स्थापित(च) स्ववाहनतया। अथ तु मदीयवचनमाकर्ण्य पूर्वजन्मनिर्म्मापिताहत्प्रतिमाप्रभावप्राधान्यबोधिबीजोद्भेदाद्वाप्तं सम्यक्त्वं, भाजनीकृतः स्वात्मा शिवसुखानामिति। एतत्सम्बोधनार्थं चाहमत्रागतवानिति च भगवानुवाचेति। ततःप्रभृति चाश्वावबोध इति नाम तीर्थं भृगु(प्र....भरु)कच्छं रूढमिति॥

निकालने लगे। लेकिन घड़ों के निचले भाग में बहुत-सी घीमेलों (घी की चिटियों) का पिण्ड लगा हुआ था; वे घड़ों के निकालने के समय जमीन पर गिरने लगी; और उन संन्यासियों ने रास्ते में गिरी हुई उन चीटियों को निर्दयता से कुचलते हुए आना-जाना चालू रखा। यह देख कर सागरदत्त का दिल करुणा से भर गया और वह उनके चरणों से कुचल जाती हुई चीटियों को वस्त्र के छोर से दूर करने लगा। इस प्रकार दूर करते हुए उसको देख कर एक जटाधारी धर्मद्वेषीने घृतचीटियां के पुञ्ज को पैर से कुचल कर सागरदत्त सेठ का इस प्रकार उपहास किया, कि 'अहो, सेठ! श्वेताम्बर जैन के समान दयातत्पर हो गये!' यह वणिक् लज्जित हो गया, और 'इस प्रकार क्या बोल रहा है' ऐसा कहकर उसने आचार्य के मुख तरफ दृष्टि डाली। किन्तु उसने इसके प्रश्न पर ध्यान दिया नहीं। इससे चतुर चित्त वाले सागरदत्त ने सोचा, 'सचमुच इन मूर्खचक्रवर्त्तियों के चित्त में जीवदया नहीं है, उनमें शुभ मनोवृत्ति नहीं है, एवं उनके पास सुन्दर धर्मानुष्ठान भी नहीं है।' ऐसा मन में तो आया, फिर भी उसने अनुरोध वश उनके कार्य किये और विशिष्ट आत्मवीर्योल्लास प्रगट न कर पाया, परिणामतः वह सम्यग्दर्शन स्वरूप रत्न का उपार्जन न कर सका। दूसरी ओर वह महान आरम्भ-समारम्भ के कार्यों में प्रवर्तित, और उपार्जित किये धन के रक्षण में व्यग्रचित्त, एवं घर-पुत्र-पत्नी आदि में ममतालु बना रहता था; दानरुचि की प्रकृति वाला था; और बहुत धन की वाञ्छा से 'सार्थ कब जाता है, कहां लोग क्या माल खरीदते हैं, किस

(ल०–धर्मफलपरिभोगे हेतुचतुष्टयम्–) एवं तत्फलपरिभोगयुक्ताः (१) सकलसौन्दर्येण निरुपमं रूपादि भगवतां; तथा (२) प्रातिहार्ययोगात् नान्येषामेतत्; एवं (३) उदारर्द्ध्यनुभूतेः; समग्रपुण्यसम्भारजेयं, तथा (४) तदाधिपत्यतो भावात्, न देवानां स्वातन्त्र्येण ।

(पं–)'तदाधिपत्यतो भावान्न देवानां स्वातन्त्र्येणे'ति, भगवत्स्वेवाधिपतिषु इयमुदारर्द्धिरुत्पद्यते, न देवेषु कर्तृष्वपि ।

देश में कितनी भूमि है, कौन समय क्रय का है कोन विक्रय का, कौनसी वस्तु ज्यादे उपयोग में आती है ?....' इत्यादि सोचता रहता था । ऐसी स्थिति में उसने तिर्यञ्च गति के योग्य कर्म का उपार्जन किया, और मरने के बाद, हे राजन् ! वह तेरे अश्वरूप में उत्पन्न हुआ । तूने उसे अपना वाहन कर रखा । आज तो मेरा उपदेश सुन कर, पूर्व जन्म में बनवाइ गई जिनप्रतिमा के प्रभाव से प्राप्त किया गया अवंध्य बोधिबीज उसमें उगने से उसने सम्यक्त्वरत्न प्राप्त किया और अपनी आत्मा मोक्षसुख के पात्र बनाई । मैं इसको प्रतिबोध करने के लिए ही यहां आया था ।' इस प्रकार भगवान ने कहा । तब से ले कर भृगुकच्छ नगर का 'अश्वावबोध' नाम रूढ हुआ ।

इस प्रकार अश्व जैसे हीन प्राणी को भी बोध कराने हेतु भगवान ने गमन किया ऐसा शास्त्र से सुना जाता है; और भगवान विशिष्ट तथाभव्यत्व नामक स्वभाव वाले भी होते हैं । इन चार हेतुओं से सिद्ध होता है कि उन्होंने धर्म की प्राप्ति अत्यन्त ऊंची की है । उसके बिना ये सब कहां से हो सके ? यह धर्मनायक होने में दूसरा कारण हुआ । अब,

(३) धर्मफल–परिभोग में चार हेतुः—

अरहंत भगवान धर्मनायक होने में जो तीसरा कारण है कि वे धर्मफल के परिभोग वाले होते हैं, अर्थात् उनको अत्यद्भुत धर्मफल का अनुभव है, उसके चार हेतु हैं; समस्त सौन्दर्य, आठ प्रातिहार्य, समवसरणादि भव्य समृद्धि, और उसका आधिपत्य । (जगत में देखते हैं कि राजा वगैरह नायक का, अपने आधिपत्य में रहने वाली प्रजा एवं सैन्यादि परिवार की अपेक्षा, अनुपम सुखसमृद्धि भोगने पर अधिकार रहता है । ऐसी सुखसमृद्धि आदि देखने पर अनुमान होता है कि यह नायक है । तो अर्हत्प्रभु में उक्त चारों वैशिष्ट्य दिखाई देते हैं । सभी प्रकार के सौन्दर्य तो उन–में ही, अशोक वृक्षादि अष्ट प्रातिहार्य और रजत–कनक–रत्नमय तीन किलों का समवसरण यानी देशनाभूमि, चलते समय पैरस्थापनार्थ सुवर्णकमल, इत्यादि तो अनुपम !) और ये सभी, नेतृत्व के कारण उनको ही हैं; अन्य किसी को नहीं, बनाने वाले देवताओं को भी नहीं । ग्रन्थकार कहते हैं कि अर्हत्प्रभु जो धर्मफल के परिभोग वाले होते हैं यह इस प्रकार चार हेतुओं सेः– •(१) सकल सौन्दर्य होने से,–क्योंकि भगवान मे अनुपम रूप, कान्ति, लावण्य, वगैरह होते हैं । तथा, •(२) अष्ट प्रातिहार्य की विभूति होने से,–क्योंकि ये अशोकवृक्षादि प्रातिहार्य अन्य किसी को नहीं होते हैं । एवं, •(३) समवसरणादि भव्य समृद्धि का अनुभव करने से,–क्योंकि यह समग्र पुण्य के राशिवश उत्पन्न होती है । तथा •(४) भगवान अधिपति होने के नाते ऐसी उदार समृद्धि होने से,–क्योंकि

(ल०–)धर्मविघातानुपपत्तिहेतुचतुष्टयम्–) एवं तद्विघातरहिताः (१) अवन्ध्यपुण्यबीजत्वात्, एतेषां स्वाश्रय (प्र०.. .स्वाशय) पुष्टमेतत्; तथा, (२) अधिकानुपपत्तेः नातोऽधिकं पुण्यं; एवं, (३) पापक्षयभावात्, निर्दग्धमेतत्; तथा (४) अहेतुकविघातासिद्धेः, सदासत्त्वादिभावेन। एवं धर्मस्य नायका धर्मनायका इति। २२

(पं०–)'अधिकानुपपत्ते'रिति,–अधिकपुण्यसम्भवे हीनतरद्विहन्यते (प्र०.:..हि इतरद्विहन्यते प्र० ....हि–इतरद्विहन्यते)। 'सदासत्त्वादिभावेने'ति,–'नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा हेतोरन्यानपेक्षणात्। अपेक्षातो हि भावानां कादाचित्कत्वसंभवः ॥१॥' इति। अत्र 'तथा' शब्दा 'एवं' शब्दाश्चानन्तरहेतुना उत्तरहेतोस्तुल्यसाध्यसूचनार्थाः।

इन उदार समृद्धि को रचने वाले देवताओं को भी खुद अपने लिए ऐसा समृद्धि का निर्माण नहीं है। इन चार हेतुओं से सिद्ध धर्मफल–परिभोग के कारण भगवान में धर्मनेतृत्व है। इसी प्रकार,

(४) धर्मविघात–रहितता में चार हेतुः–

अर्हत्प्रभु धर्मनायक हैं इसका चौथा हेतु यह है कि वे धर्मविघात से रहित होते हैं। वस्तु के सचमुच अधिपति को उसमें विघात नहीं होना चाहिए। यहां विघात नहीं होता है यह इस प्रकार चार कारणों सेः– •(१) पुण्य के अवन्ध्य (अवश्य सफल) बीज वाले होने से,–क्योंकि यह बीज भगवान स्वरूप अच्छे आश्रय को प्राप्त करने से भगवान के अच्छे आशय से पुष्ट हुआ है। इसी प्रकार, •(२) पुण्य भी सर्वोत्कृष्ट याने इसकी अपेक्षा कोई अधिक पुण्य न होने से,–क्योंकि कोई अधिक पुण्य हो तो इससे न्यून पुण्य का विघात होता है। इसी प्रकार, •(३) पापों का क्षय हो जाने से, क्यों कि पापमात्र जल कर नष्ट हुआ है। इसी प्रकार, •(४) विघात कारण बिना तो नहीं हो सकता है और यहां कारण नष्ट हो गये हैं इसलिए,–क्योंकि विघात अगर कारणके अधीन न हो तो वह सदा होना चाहिए, या तो कभी न होना चाहिए। दूसरे शब्दो में कहें तो जब किसी कारण की अपेक्षा नहीं है, तब तो उसका नित्य सत्त्व होगा, या तो सदा ही असत्त्व होगा। पदार्थों का अमुक ही काल में होना यह किसी की अपेक्षा रखने से ही संभवित है। यहां ग्रन्थ में दो 'तथा' शब्द और दो 'एवं' शब्द, पिछले हेतु के साथ उत्तर हेतु के साध्य की समानता सूचित करने के लिए दिये गये हैं।

'धर्म' शब्द असल तो 'चारित्र' अर्थ में है, लेकिन यहां,'धर्म' शब्दको इसके फलस्वरूप दो अर्थ में लिया (१) पुण्य, और (२) अज्ञान–रागद्वेषादि पापों का क्षय। न्यायदर्शन आदि आत्मा का धर्म–अधर्म गुण मान कर धर्म का अर्थ शुभ अदृष्ट (भाग्य) यानी पुण्य करते हैं। दूसरा अर्थ सुज्ञेय है क्यों कि चारित्र एवं सभी धर्मक्रियाएँ अज्ञान, राग, द्वेष वगैरह पापों यानी अधर्म का नाश करने के लिए ही विहित हैं। इन दो बातों का अविघात अर्थात् अप्रतिहत पुण्य और अप्रतिहत पापनाश अर्हत् परमात्मा में मिलता है। पुण्य अप्रतिहत होने का कारण यह है कि एक तो पुण्य यानी तीर्थंकर–नामकर्म के अवन्ध्य बीजभूत विशिष्ट तथाभव्यत्वादि भगवान में आश्रित हो विशिष्ट योगसाधना से पुष्ट हुए हैं; और दूसरा यह कि वह पुण्य इतना उत्कृष्ट है कि और किसी अन्य पुण्य से प्रतिघातयोग्य नहीं है।

२३- धम्मसारहीणं (धर्मसारथिभ्यः)

(ल०-धर्मसारथित्वहेतवः-) तथा, 'धम्मसारहीणं'। इहापि धर्मोऽधिकृत एव, तस्य स्वपरापेक्षया सम्यक्प्रवर्तन-पालन-दमनयोगतः सारथित्वम्।-

(पं०-) धर्म०४। 'इहापी'त्यादि=इहापि, न केवलं पूर्वसूत्रे। 'धर्मो,' अधिकृत एव'=चारित्रधर्म इत्यर्थः। 'तस्य,' रथस्येव, 'स्वपरापेक्षया'=स्वस्मिन्परस्मिश्चेत्यर्थः। 'प्रवर्तन-पालन-दमनयोगतः' हेतुत्रितयतया साधयिष्यमाणात्, 'सारथित्वं'=रथप्रवर्तकत्वम्।

ऐसे, अप्रतिहत पापनाश इस लिए है कि एक तो अब कोई अज्ञान, राग, द्वेष आदि का लेश भी नहीं रहा है, इतना सर्वोच्च और संपूर्ण केवलज्ञान, वीतरागता वगैरह गुण प्रगट हो चुके हैं; और दूसरा यह कि वे अब अविनाशी रूप में अनंत काल के लिए प्रगट हुए हैं, क्योंकि उनका घात करने वाला कोई अज्ञानादि का अंश एवं अज्ञानादि कराने वाले ज्ञानावरण आदि कर्मोंका कोई अंश भी नहीं बचा है। कारण न हो तो फिर कार्य कैसे हो ? इस प्रकार अरहंतप्रभु धर्म के नायक अर्थात् धर्मनायक हैं। २२

२३. धम्मसारहीणं (धर्म-सारथि के प्रति)

धर्मसारथिता के ३ हेतुः—

अब 'धम्मसारहीणं' पदकी व्याख्या,-धर्मसारथि के प्रति मेरा नमस्कार हो। मात्र पूर्व सूत्र में नहीं किन्तु इस सूत्र में भी धर्म कर के चारित्र-धर्म ही ग्राह्य है। रथ के समान उस चारित्र धर्मका स्व-पर में सम्यक् प्रवर्तन, पालन एवं दमन करने से भगवान में सारथिपन अर्थात् रथप्रवर्तकता है। तो यह सारथिपन प्रवर्तन, पालन एवं दमन, इन तीनों हेतुओं से सिद्ध किये जाने वाला है।

प्रथमहेतु 'सम्यग्प्रवर्तन' से सारथित्व कैसे ? :—

अरहंत परमात्मा में ऐसा धर्मसारथिपन किस कारण से है इसका अब विचार किया जाता है। धर्मसारथिपन सम्यक् प्रवर्तन के योग से होता है। धर्मका सम्यक् प्रवर्तन यही है कि परमात्माने अपनी आत्मा में धर्म के मूल प्रारम्भ की प्रवृत्ति ऐसी सफल की है, जिससे वह धर्म उत्तरोत्तर बढ़ रहा है; और अन्यों की आत्मा में भी परमात्मा के द्वारा प्रवर्तित किये गए अपुनर्बन्धकता के धर्म से उनका संसारअंत एक पुद्गलपरावर्त के भीतर, और सम्यक्त्व धर्म से भवसमाप्ति अर्ध पुद्गलपरावर्त के भीतर निश्चित हो चुकी है। ऐसा धर्मप्रवर्तन स्व-पर में कराने से उन में धर्म का सारथिपन है। धर्म का सम्यग्प्रवर्तन होने में कारण यह है कि धर्म को परिपाक यानी पराकाष्ठा पर्यन्त पहुंचाना, इसका साध्यरूप से यानी लक्ष्यरूप से आदर किया गया है। जिस प्रकार सवारी में यदि अश्व का फलरहित प्रवर्तन किया जाए इतना ही नहीं, किन्तु अंतिम लक्ष्य तक पहुंचाने का ध्यान रखा जाए तभी वह सम्यक् प्रवर्तन कहा जा सकता है, वैसे यहां भी अरहंत प्रभुने धर्म की

(ल०—धर्मप्रवर्तनेन कथं सारथित्वम्:—) तद्यथा,—सम्यक्प्रवर्त्तनयोगेन, परिपाकापेक्षणात्, प्रवर्त्तकज्ञानसिद्धेः, अपुनर्बन्धकत्वात्, प्रकृत्याभिमुख्योपपत्तेः ।

(पं०—) तदेव 'तद्यथा' इत्यादिना भावयति, तत् सारथित्वं यथा भवति तथा प्रतिपाद्यत इत्यर्थः । 'सम्यक्प्रवर्त्तनयोगेन'=अवन्ध्यमूलारम्भव्यापारेण, धर्मसारथित्वमिति संटङ्कः । एषोऽपि कुत इत्याह 'परिपाकापेक्षणात्,' परिपाकस्य=प्रकर्षपर्यन्तलक्षणस्य अपेक्षणात्=साध्यत्वेनाश्रयणात् । एतदपि कुत इत्याह 'प्रवर्त्तकज्ञानसिद्धेः'=अर्थि वगार्भप्रवृत्तिफलस्य ज्ञानस्य भावात्, प्रदर्शकाद्यन्यज्ञानेन प्रवृत्तेरयोगात् । सापि कथमित्याह 'अपुनर्बन्धकत्वात्'='पापं न तीव्रभावात्करोती'त्यादिलक्षणोऽपुनर्बन्धकस्तद्भावात् । तदपि कथमित्याह 'प्रकृत्याभिमुख्योपपत्तेः' प्रकृत्या=तथाभव्यत्वपरिपाकेन स्वभावभूतया, (आभिमुख्योपपत्तेः=) धर्मं प्रति प्रशंसादिनानुकूलभावघटनात् ।

(ल०—सम्यक्प्रवर्त्तनहेतवः—) तथा गाम्भीर्ययोगात्, साधुसहकारिप्राप्तेः, अनुबन्धप्रधानत्वाद्, अतीचारभीरुत्वोपपत्तेः ।

(पं०) 'तथा' शब्दः सम्यक्प्रवर्त्तनयोगस्यैव प्रथमहेतोः सिद्धये परस्परापेक्षवक्ष्यमाणहेत्वन्तरचतुष्टयसमुच्चयार्थः । ततो 'गाम्भीर्ययोगा'च्च सम्यक्प्रवर्त्तनयोगो, गाम्भीर्यं चास्याचिन्त्यत्रिभुवनातिशायिकल्याणहेतुशक्तिसंपन्नता । एतदपि कुत इत्याह 'साधुसहकारिप्राप्तेः'=फलाव्यभिचारिचारुगुर्वादिसहकारिलाभात् । इयमपि कथमित्याह—'अनुबन्धप्रधानत्वात्'=निरनुबन्धस्योक्तसहकारिप्राप्त्यभावात् । तदपि कथमित्याह—'अतिचारभीरुत्वोपपत्तेः' अतिचारोपहतस्यानुबन्धाभावात् ।

रूपरेखा मोक्षरूप या मोक्षदायी सर्वोत्कृष्ट धर्म स्वरूप अंतिम लक्ष्य तक की निश्चित की है । प्रारम्भ से ही ले कर उत्तरोत्तर कैसा कैसा विकास शक्य और संभवित है और कैसे एवं क्रमशः किस किस स्वरूप के धर्म का आलंबन कर पराकाष्ठा में वीतरागभाव के धर्म तक की सिद्धि हो, इन सब का यथार्थ विस्तार दिखलाया, एवं धर्मका वास्तविक पूर्ण परिपाक लक्ष्यभूत बनाया है । इस में कारण यह है कि उनके वहां धर्म के अर्थित्व से युक्त प्रवृत्ति करा सके ऐसा ठोस ज्ञान सिद्ध है । नियत रूप की प्रवृत्ति न दे सके ऐसे दूसरे केवल प्रदर्शक या आडंबरी ज्ञान आदि से क्या ? प्रदर्शकादि अन्य ज्ञान से प्रवृत्ति नहीं हो सकती । ऐसा ठोस ज्ञान सिद्ध होने में कारण यह है कि वहां अपुनर्बन्धकभाव का मजबूत पाया लगा है । 'तीव्र भाव से पाप न करे, घोर संसार के प्रति आदर न रखे,'...इत्यादि अपुनर्बन्धक के लक्षण कह आये हैं । पहले हृदय ऐसा अपुनर्बन्धक बना हो, तभी अंतिम लक्ष्य वाली प्रवृत्ति का कारक ज्ञान हो सकता है । अपुनर्बन्धक भाव भी इसलिए कि तथाभव्यत्व का परिपाक होने की वजह अब स्वाभाविक प्रकृति से धर्म के प्रति अभिमुख हुए हैं, अर्थात् धर्म-प्रशंसादि द्वारा धर्म के प्रति सहज रूप से अनुकूल भाव वाले हुए हैं । सारांश, अर्हत्प्रभु के तथाभव्यत्व के प्रभाव से सहज धर्माभिमुखता, इस से अपुनर्बन्धक-गुणदशा, इससे उत्कटेच्छापूर्वक धर्मप्रवृत्ति करानेवाला ठोस ज्ञान, इस वश धर्मपराकाष्ठा तक की तीव्र लिप्सा पूर्वक अमोघ धर्मप्रवृत्ति, अरहंत में सिद्ध है, अतः वे धर्मसारथि हैं ।

(ल०–पालनदमनयोः सिद्धिः–) एतेन पालनाऽयोगः प्रत्युक्तः सम्यक्प्रवर्त्तनस्य निर्वहणफलत्वात्। नान्यथा सम्यक्त्वमिति समयविदः। एवं दमनयोगेन। दान्तो ह्येवं धर्म्मः कर्म्मवशितया कृतोऽव्यभिचारी अनिवर्त्तकभावेन नियुक्तः स्वकार्ये स्वाङ्गोपचयकारितयानीतः स्वात्मीभावं, तत्प्रकर्षस्यात्मरूपत्वेन।

(पं०–) इत्थं प्रथमहेतुसिद्धिमभिधाय द्वितीयसिद्ध्यर्थमाह–'एतेन'=सम्यक्प्रवर्त्तनयोगसाधनेन, किमित्याह 'पालनाऽयोगः'=पालनस्यायोगः अघटनं, 'प्रत्युक्तो'=निराकृतः। कुत इत्याह 'सम्यक्प्रवर्त्त-

---

सम्यक्प्रवर्तन के परस्पर सापेक्ष ४ हेतु :—

यहां मूल ग्रन्थ में 'तथा' शब्द दिया है, वह सम्यक् प्रवर्तनयोग स्वरूप पहले हेतु की सिद्धि के लिए अब कहे जाने वाले चार और हेतुओं के संग्रहार्थ है। वे ४ हेतु भी परस्पर सापेक्ष है, अर्थात् प्रथम हेतु द्वितीय हेतु की अपेक्षा, और द्वितीय तृतीय की, एवं तृतीय हेतु चतुर्थ की अपेक्षा रखता है। इसलिए यह फलित हुआ कि प्रभु में सारथिपन सिद्ध करनेवाला सम्यक्-प्रवर्तनयोग गांभीर्य गुण से सिद्ध है; और गांभीर्य साधुसहकारि लाभ से सिद्ध,....इस प्रकार।

प्र०–'गांभीर्य', 'साधु सहकारी', 'अनुबन्ध', इत्यादि क्या हैं ?

उ०–'गांभीर्य' यह अचिन्त्य और तीन लोक में उच्चतम विशिष्ट ऐसी कल्याण करने की शक्ति स्वरूप है। दृष्टान्त से भगवान गणधरों को मात्र 'उप्पन्ने इ वा'....इत्यादि तीन पद दे कर उनमें समस्त द्वादशांगीश्रुत का ज्ञान प्रकट कर देते हैं। इस शक्ति का ख्याल हमें नहीं आ सकता, अतः यह अचिन्त्य शक्ति है; और जगत में अन्य किसी के पास ऐसी शक्ति न होने से कहा जा सकता है कि यह त्रिभुवन में उच्चतम है। ऐसी शक्तिसंपन्नता रूप गांभीर्य होने का कारण यह है कि फल को अवश्य उत्पन्न करे ऐसे सुन्दर गुरु आदि 'साधुसहकारी' यानी सहायक सामग्री की उन्हें प्राप्ति हुइ है। ऐसे विशिष्ट निमित्तों के सहयोग से गांभीर्य प्राप्त होना संभवित है। पूछिए, ऐसा सहयोग उन्हें कैसे मिला ? उत्तर यह है कि वहां 'अनुबन्ध,' यानी उत्तरोत्तर अधिक साधना–सामग्री मिलती ही रहे ऐसी ताकत मुख्य रूप से कार्य करती है। जिसे यह प्राप्त नहीं, उसे एकाद वक्त सामग्री मील भी जाए, लेकिन आगे उसकी धारा न चलने से उत्तरोत्तर सफल सुन्दर सामग्री एवं सर्वोच्च कल्याण शक्ति का लाभ नहीं हो सकता। शायद आप पूछेंगे कि, ऐसा प्रधान अनुबन्ध किस आधार पर उन्हें प्राप्त होता है। उत्तर में, 'अतिचार–भीरुता' के आधार पर यह समझना। धर्म साधना करते करते दोष का भय बना रहने से ही दोष छू न पावे ऐसी साधना की जाती है। तभी वह अनुबन्ध वाली होती है। धर्म साधना की सामग्री तो मिली, किन्तु साधना करते करते कोई दोष तो नहीं लग रहा है इसका पक्का भय होना जरूरी है जिस से दोष का सेवन न हो पावे। दोष लगाने से साधना-सामग्री अनुबन्धवाली नहीं हो सकती है; फलतः इससे फिर फिर बढ़ती साधना–सामग्री मिले और फलतः उच्चतम कल्याणशक्ति प्राप्त होने द्वारा धर्म का सम्यक्प्रवर्तन हो, वैसा नहीं होता है।

नस्य'=उक्तरूपस्य, 'निर्वहणफलत्वात्'=पालनफलत्वात्। अथ कथमयं नियमो यदुत पालनफलमेव सम्यक्प्रवर्त्तनमित्याह 'न'=नैव, 'अन्यथा'=पालनाऽभावे, 'सम्यक्त्वं'=सम्यग्भावः प्रवर्तनस्य, 'इति'=एवं, 'समयविदः'=प्रवचनवेदिनो वदन्ति। अथ तृतीयहेतुसिद्धिमाह 'एवमिति'=यथा सम्यक्प्रवर्त्तनपालनाख्यहेतुद्वयाद्धर्मसारथित्वं तथा दमनयोगेनापीत्यर्थो, 'दमनयोगेन'=सर्वथा स्वायत्तीकरणेन। अमुमेव साधयन्नाह '·दान्तो'=वशीकृतो 'हि'=स्फुटम्, 'एवं'=वक्ष्यमाणेन अव्यभिचारीकरण–स्वकार्यनियोग–स्वात्मीभावनयनरूपप्रकारत्रयेण, 'धर्म्मः', कयेत्याह 'कर्म्मवशितया', कर्म्म=चारित्रमोहादि, वशि=वश्यम् अबाधकत्वेन, येषां ते तथा, तद्भावस्तत्ता, तया। तदेव प्रकारत्रयमाह 'कृतो'=विहितः, 'अव्यभिचारी'=अविसंवादकः। कथमित्याह 'अनिवर्त्तकभावेन'=आफलप्राप्तेरनुपरमस्वभावेन, 'नियुक्तो'=व्यापारितः, 'स्वकार्ये' कृत्स्नकर्म्मक्षयलक्षणे, कयेत्याह 'स्वाङ्गोपचयकारितया' स्वाङ्गानां=मनुजत्वार्यदेशोत्पन्नत्वादीनामविकलधर्म्मलाभहेतूनाम्, उपचयः=प्रकर्षः, तत्कारितया, 'नीतः'=प्रापितः 'स्वात्मीभावं' निजस्वभावरूपं, कथमित्याह'तत्प्रकर्षस्य'=धर्म्मप्रकर्षस्य, यथाख्यातचारित्रतया, 'आत्मरूपत्वेन'=जीवस्वभावत्वेन, इति।

पालन की सिद्धि—

इस प्रकार सारथिपन के प्रथम हेतु सम्यक्प्रवर्तन की सिद्धि दिखला कर, अब द्वितीय हेतु पालन की सिद्धि करने के लिए कहते हैं कि, अर्हत्प्रभु में जब 'सम्यक्प्रवर्तन' का सम्बन्ध सिद्ध हुआ, तब 'पालन' के सम्बन्ध का अभाव तो सहज ही निषिद्ध होता जाता है। इसका कारण यह है कि पूर्वोक्त स्वरूप वाले सम्यक् प्रवर्तन का कार्य ही पालन रूप हो जाता है। शायद प्रश्न होगा कि यह नियम कैसे कि सम्यक्प्रवर्तन का कार्य ही पालन है? किन्तु उत्तर यह है कि *फलरूप में अगर पालन निष्पन्न न हो, तब प्रवर्तन में सम्यग्रूपता हो ही नहीं सकती।* तात्पर्य, धर्म प्रमुख किसी वस्तु का सम्यग् रूप से प्रवर्तन किया, तो उस धर्मादि का पालन फलित होना ही चाहिए,–इस प्रकार जिनप्रवचन यानी जैन आगम के ज्ञाता पुरुष कहते हैं।

दमन की सिद्धि के ३ हेतु—

अब सारथिपन का तीसरा हेतु दमन कैसे यह सिद्ध करते हैं। परमात्मा धर्म का दमन करने से ही अर्थात् धर्म को सर्वथा स्वाधीन करने से ही धर्मसारथि कहलाते हैं। यह इस प्रकार सिद्ध होता है,–१. धर्म को अविसंवादी बनाना, २. स्वीय अन्तिम कार्य पर्यन्त पहुंचे ऐसा करना, एवं ३. निज स्वभावरूप कर देना,–इन तीन प्रकार से धर्म का दमन यानी *वशीकरण* होता है। वशीकरण का मतलब यह है कि धर्म के बाधक चारित्रमोहनीयादि कर्मों को ऐसे वश्य यानी शान्त कर देना, शक्तिहीन कर देना, कि अब वे बिलकुल बाधा न कर सकें। यह करने के लिए (१) पहले धर्म को अव्यभिचारी यानी अविसंवादी करना पड़ता है, अविसंवादी अर्थात् अवश्य सफल। इसके लिए (२) धर्मसाधना फलप्राप्ति तक रुके ही नहीं ऐसी विशेषता वाली करनी होती है। एवं, (३) सर्व कर्म-क्षय स्वरूप कार्य के लिए जरूरी मानवभव, आर्य कुल इत्यादि धर्म-अङ्ग (धर्मप्राप्ति के साधन) उत्कृष्ट रूप से प्राप्त करा सके ऐसी धर्मसाधना करते करते धर्म को

(ल०—)भावधर्माप्तौ हि भवत्येवैतदेवं, तदाद्यस्थानस्याप्येवंप्रवृत्तेरवन्ध्यबीजत्वात् । सुसंवृतकाञ्चनरत्नकरण्डकप्राप्तितुल्या हि प्रथमधर्मस्थानप्राप्तिरित्यन्यैरप्यभ्युपगमात् । तदेवं धर्मस्य सारथयो धर्मसारथयः । २३ ।

(पं०—)आह—इत्थं धर्मसारथित्वभवने को हेतुरित्याह—'भावधर्माप्तौ'=क्षायोपशमिकादिधर्मलाभे, 'हिः'=स्फुटं, 'भवत्येव'=न न भवति, 'एतत्'=धर्मसारथित्वं, 'एवं'=सम्यक्प्रवर्तनयोगादिप्रकारेण । कुत इत्याह 'तदाद्यस्थानस्यापि'=धर्मप्रशंसादिकालभाविनो धर्मविशेषस्यापि, किं पुनर्वरबोधेः प्राप्तौ, 'एवं-प्रवृत्तेः' धर्मसारथी (प्र०. थित्व) करणेन भगवतां प्रवृत्तेः, कुत इत्याह 'अवन्ध्यबीजत्वात्'=अनुपहतशक्तिका-रणत्वाद्धर्मसारथित्वं प्रति । न हि सर्वथा कारणेऽसत्कार्यमुत्पद्यत इति वस्तुव्यवस्था । परमतेनापि समर्थयन्नाह, 'सुसंवृते'त्यादि, सुसंवृत्तः=सर्वथानुद्घाटितः काञ्चनस्य रत्नानां च यः 'करण्डको'=भाजनविशेषः, तत्प्राप्ति-तुल्या, 'हिः'=यस्मात् 'प्रथमधर्मस्थानप्राप्तिः'—धर्मप्रशंसादिरूपा । यथा हि कश्चित्कश्चिदनुद्घाटितं काञ्चनरत्नकरण्डकमवाप्नुवंस्तदन्तर्गतं काञ्चनादि वस्तु विशेषेणोऽनवबुध्यमानोऽपि लभते, एवं भगवन्तोऽपि प्रथमधर्मस्थानावाप्तौ मोक्षावसानां कल्याणसम्पदं तदनवबोधेऽपि लभन्त एव, तदवन्ध्यहेतुकत्वात् तस्याः । 'इति'=इत्येवम्, 'अन्यैरपि'=बौद्धैरभ्युपगमात् ।

निज स्वभाव रूप बना देना चाहिए। ऐसा उत्कृष्ट धर्म 'यथाख्यात चारित्र' धर्म है, अर्थात् वीतराग सयम धर्म है, और यह आत्मा का स्वभाव ही है।

प्रश्न—ऐसा धर्मसारथिपन होने में क्या हेतु है? इसका कहां से प्रारम्भ है?—

उत्तर—जब भावधर्म अर्थात् क्षायोपशमिक धर्म प्राप्त होता है तब सम्यक्प्रवर्तन-पालन-दमन रूप से धर्मसारथिपन निष्पन्न न होवे ऐसा नहीं, वह तो अवश्यमेव होता है। यहां धर्म क्षायोपशमिक कहने से औदयिक धर्म की निरर्थकता बतलाई। अहिंसादि एवं क्षमादि धर्म जब किसी पौद्गलिक लोभ या मानाकांक्षादि वश किये जाते हैं तब वे मोहनीय कर्म के उदय वश उत्पन्न होने के नाते औदयिक धर्म कहलाते हैं। एवं किसी के प्रति क्रोध-अभिमानादि वश, किये गए तपस्यादि धर्म भी औदयिक धर्म ही हैं। किन्तु जब इन सब लोभ, क्रोध वगैरह के वश हुए बिना उनका नियंत्रण कर के लोभ मोहनीयादि कर्मों का क्षयोपशम किया जाता है तब क्षायोपशमिक धर्म की प्राप्ति होती है। इस में धर्म का सम्यक् प्रवर्तन इत्यादि हो धर्मसारथिपन होने उसमें कोई आश्चर्य नहीं। वह होना ही चाहिए, और होता ही है।

भगवान में ऐसा होने का कारण यह है कि वरबोधि यानी विशिष्ट सम्यग्दर्शन की प्राप्ति पर तो क्या किन्तु धर्मप्रशंसादि आद्य अवस्था के काल में भी भगवान को शुभ प्रवृत्ति जो होती है वह धर्मसारथिपन के कारण ही होती है, क्यों कि भविष्य काल में होने वाला चारित्रधर्म का सारथिपन मूलतः इसी धर्मप्रशंसादि की परंपरा से उत्पन्न होता है। तो इस धर्मप्रशंसादि को उसके प्रति अबाधित सामर्थ्य वाला मानना ही चाहिए। मूल कारण में ऐसी कार्यशक्ति अगर न हो अर्थात् मूल

२४. धम्मवरचाउरन्तचक्कवट्टीणं (धर्मवरचातुरन्तचक्रवर्तिभ्यः)

(ल०-धर्मो वरचक्रं कथम् ?) तथा, 'धम्मवरचाउरन्तचक्कवट्टीणं'। धर्मोऽधिकृत एव। वरं प्रधानं, चतुरन्तहेतुत्वात् चतुरन्तं, चक्रमिव चक्रं, तेन वर्तितुं शीलं येषां ते तथाविधाः। इदमत्र हृदयम्,-यथोदितधर्म्म एव वरं=प्रधानं, चक्रवर्त्तिचक्रापेक्षया लोकद्वयोपकारित्वेन, कपिलादिप्रणीतधर्म्मचक्रापेक्षया वा त्रिकोटिपरिशुद्धतया।

(पं०-) 'त्रिकोटिपरिशुद्धतये'ति, तिसृभिरादिमध्यान्ताविम्वादिलक्षणाभिः कषच्छेदतापरूपाभिर्वा 'कोटिभिः'=विभागैः, 'परिशुद्धो'=निर्दोषो यः स तथा तद्भावस्तत्ता तया। कषादिलक्षणं चेदम्-

पाणवहाईयाणं पावट्ठाणाणं जो उ पडिसेहो। झाणज्झयणाईणं, जो उ विही एस धम्मकसो॥
बज्झाणुट्ठाणाणं जेण न बाहिज्जए तयं नियमा। संभवइ य परिशुद्धं सो पुण धम्मंमि छेओ त्ति॥
जीवाइभाववाओ, बंधाइपसाहगो इहं तावो। एएहिं सुपरिसुद्धो धम्मो धम्मत्तणमुवेइ॥३॥

कारण शक्तितः उस कार्य स्वरूप यदि न हो तो बाद में कार्य प्रगट हो ही सकता नहीं। वस्तु की ऐसी व्यवस्था है कि कारण मे असत् कार्य उत्पन्न हो सकता नहीं है। मिट्टी में अगर शक्तिरूपसे घड़ा सत् है तभी उससे घड़ा बनता है, और धूली में असत् होने से धूली से घड़ा नहीं बन सकता है।

इसमे बौद्ध मत की संमति भी मिलती है। वे भी मानते हैं कि आद्य धर्मस्थान की प्राप्ति यह बिलकुल पेक ढके हुए कांचन या रत्नों की पेटी तुल्य है। जिस प्रकार कोई ऐसी पेटी प्राप्त करे, तो वह इसमे छिपे हुए कांचन या रत्नों को उस रूप से न जानता हुआ भी उन्हें प्राप्त करता ही है; ठीक इसी प्रकार भगवान भी जब प्रथम धर्मस्थान की प्राप्ति करते हैं, उस समय मोक्ष पर्यन्त की कल्याणसंपत्ति उन्हें अज्ञात होती हुई भी प्राप्त होती ही है; क्यों कि वह प्रथम धर्मस्थान उस संपत्ति का अबाधित कारण है। अतः इस प्रकार भगवान धर्म के सारथि यानी धर्मसारथि हैं॥ २३॥

२४. धम्मवरचाउरन्तचक्कवट्टीणं (धर्म के श्रेष्ठ चतुरन्त चक्रवर्ती को)

धर्मचक्र श्रेष्ठ कैसे ?—

अब 'धम्मवरचाउरन्तचक्कवट्टीणं' पद की व्याख्या। यहां भी धर्म कर के चारित्रधर्म ही प्रस्तुत है। वही प्रधान चाउरन्त चक्र है, चतुरन्त इसलिए कि 'चतुः' यानी चार गतियोंका, अथवा दानादि चार से ससारका, अन्त करने मे कारण है। ऐसे धर्मचक्र से रहने का स्वभाव जिनका है वे धर्मवरचतुरन्तचक्रवर्ती कहलाते हैं। इसका तात्पर्य यह है,

(१) धर्म उभयलोकहितकारीः चक्र इस लोक में उपकारक :—पूर्वोक्त चारित्रधर्म ही इस लोक एवं परलोक दोनों मे उपकारक होने की वजह सम्राट चक्रवर्ती राजा के चक्र की अपेक्षा प्रधान चक्र है। चक्रवर्ती का चक्ररत्न नामक शस्त्र तो मात्र इस लोक में अन्य समस्त राजाओं

(ल०–धर्मचक्रं चतुरन्तं कथम् ?) चत्वारो गतिविशेषाः नारकतिर्यग्नरामरलक्षणाः। तदु-

का निग्रह कर चक्रवर्ती को सम्राट बनाने का उपकार करता है; जब कि चारित्र इस लोक में दुःख के मूल निमित्तभूत वासना–विकारो का उपशमन, एवं महासुख के परम साधनभूत निस्पृहता का उद्भावन कर यहां भी महान उपकारक होता है, और परलोक में भी स्वर्ग–मोक्ष का संपादन कर के अत्यन्त उपकारक होता है।

अर्हद्–धर्म त्रिकोटिपरिशुद्ध है, अन्य धर्म नहीं:—(२) और भी बात है। अर्हत्परमात्मा द्वारा उपदिष्ट धर्म कपिलादि दर्शनप्रणेताओं द्वारा उपदिष्ट धर्मचक्र की अपेक्षा प्रधान है, क्यों कि अर्हद्–धर्म त्रिकोटिपरिशुद्ध है। त्रिकोटिपरिशुद्ध के दो अर्थ है,–एक, त्रिकोटि में यानी तीन विभाग –आदि, मध्य और अन्त–के भाग में कहीं भी विसंवाद यानी परस्पर विरोध नहीं ऐसा त्रिकोटिपरिशुद्ध, तात्पर्य आमूलचूल और समी ग्रन्थो में बिलकुल संगत, परस्पर अबाधक एवं संगत पदार्थों व आचारों के निरूपणवाला धर्म। कपिलादि के धर्म ऐसा त्रिकोटिपरिशुद्ध नहीं है। 'त्रिकोटिपरिशुद्ध'का दूसरा अर्थ है, त्रिविध परीक्षा यानी कष, छेद और ताप की परीक्षा में उत्तीर्ण। कष आदिका स्वरूप यह है:—(१) जिस धर्म में जीवहिंसा, असत्य वगैरह पापस्थानकों का निषेध, और ध्यान–स्वाध्याय–तप आदिका विधान हो वह कष परीक्षा में उत्तीर्ण है। (२) जिस धर्मके बाह्य आचार–अनुष्ठान ऐसे हो कि जिनके द्वारा उन विधि–निषेधों का बाध न होता हो वह धर्म छेदपरीक्षा–शुद्ध है। और (३) जिस धर्म में पूर्वोक्त दो शुद्धि के साथ जीव आदि तत्त्व और सिद्धान्त इस प्रकार के कहे गए हों कि जो बंध–मोक्ष आदि अवस्था, गुण–गुणि अवस्था, कार्य–कारण व्यवस्था, इत्यादि को प्रतिकूल नहीं किन्तु अनुकूल हो, वह धर्म तापपरीक्षा में उत्तीर्ण है। इन तीनों ही परीक्षाओं में जो धर्म उत्तीर्ण है उसी में धर्मपन हो सकता है, अन्य में नहीं। उदाहरणार्थ, जिस धर्म में हिंसादि का निषेध एवं योग का विधान तो किया, लेकिन बाह्य अनुष्ठान ऐसा बताया कि 'अरण्य में जा कर पंचाग्नि तप तपना'; अब इस में काष्ठ, अग्नि वगैरह का परिग्रह करना होगा, एवं सूक्ष्म जीवों की हिंसा होगी, अतः वहां हिंसा, परिग्रह इत्यादि के निषेध के साथ बाध होगा, तो वह धर्म छेद–परीक्षाशुद्ध कहां हुआ ? इस प्रकार, जहां एकान्त धर्म वाली वस्तव्यवस्था है वहां बंध–मोक्ष अवस्था की संगति नहीं हो सकेगी, क्यों कि जीवतत्त्व अगर एकान्त नित्य है तो इसमें परिवर्तन न होने की वजह बद्ध या मुक्त कैसे बन सकेगा ? एवं एकान्त अनित्य मानें यानी क्षणिक मानें तो दूसरी क्षण में वह जीव सर्वथा नष्ट हो जाने से बन्ध–मोक्ष किसका ? यह तो नित्यानित्य वगैरह अनेकान्त सिद्धान्त वाली तत्त्व व्यवस्था एवं हिंसादि से मुक्त आचार–अनुष्ठान जिस धर्म में हो वही श्रेष्ठ धर्म होगा। जिनोक्तधर्म ऐसा है।

धर्मचक्र यह चतुरन्त (चाउरंत) एक प्रकार से :—

एवं जिनोक्त धर्म चतुरन्त है। 'चतुरन्त' के दो अर्थ होते हैं,–१. चार का अन्त करने से चतुरन्त के हेतु होने द्वारा चतुरन्त, २. चार से अन्त है जिसमें वह चतुरन्त। •(१) पहले अर्थ में 'चार' कर के संसार में परिभ्रमण की नारक, तिर्यग्, मनुष्य एवं देव स्वरूप चार

च्छेदेन तदन्तहेतुत्वाच्चतुरन्तम् चतुर्भिर्वाऽन्तो यस्मिंस्तच्चतुरन्तं, कैश्चतुर्भिः ? दान-शील-तपो-भावनाख्यैर्द्धर्मैः, अन्तः प्रक्रमाद् भवान्तोऽभिगृह्यते, चक्रमिव चक्रमतिरौद्रमहामिथ्यात्वादिलक्षण-भावशत्रुलवनात्। तथा च लूयन्त एवानेन भावशत्रवो मिथ्यात्वादय इति प्रतीतं, दानाद्यभ्या-सादाग्रहनिवृत्त्यादिसिद्धेः, महात्मनां स्वानुभवसिद्धमेतत् । (प्र०. महासत्त्वानामनुभवसिद्धमेतत्)

(पं०-) 'आग्रहनिवृत्त्यादिसिद्धे'रिति, आग्रहो मूर्च्छा, लुब्धिरिति पर्यायाः ; ततो विहितदानशील-तपोभावनाभ्यासपरायणस्य पुंसः,'आग्रहस्य'=मूर्च्छाया, 'निवृत्तिः'=उपरमः, 'आदि' शब्दाद् यथासम्भवं शेषदोषनिवृत्तिग्रहः, तस्याः सिद्धेः=भावात्।

गतिविशेष लेना। चारित्रधर्म उन चारों का उच्छेद करने द्वारा अन्त करने में कारण हुआ, इस-लिए यह 'चतुरन्त' कहलाता है। यहां प्रश्न होगा कि तब तो वह चतुरन्त का कारण कहलाएगा, चतुरन्त किस प्रकार ? किन्तु कारण में कार्यका उपचार होता है,-इस न्याय से 'चतुरन्त' कार्य का कारणभूत धर्म भी चतुरन्त कहलाया। नारक यानी नरकगति का भव, तिर्यंग् अर्थात् एकेन्द्रिय जीव से ले कर पंचेन्द्रिय पशु-पक्षी आदि के भव, एवं मनुष्य और देव का भव,-इन सबों में परि-भ्रमण कर्मबंधन से होता है। विविध भवों में जीव का परिभ्रमण अनंतानंत पुद्गलपरावर्त काल से चला आ रहा है, क्यों कि कारणभूत कर्मबंधन इतने काल से कई पापों से होते रहे हैं। सत् चारित्रधर्म-यही एक चीज है जिससे नये कर्मबंधन रुक जाते हैं और पुराणे कर्मबंधन तूट जाते हैं; क्यों कि उनके कारणभूत मिथ्यात्वयुक्त अचारित्र सच्चारित्र से निवारित होता है, और सच्चारित्र के अन्तर्गत बारह प्रकार के बाह्याभ्यन्तर तप में कर्मक्षय करने की प्रबल ताकत है। यहां अन्त में जा कर चारित्रधर्म ही सर्व कर्मों के क्षय करवा कर नारकादि चारों गति का पर्यव-सान ला देता है। अतः धर्म चतुर्गति का अन्त करनेवाला यानी चतुरन्त हुआ।

धर्मचक्र यह चतुरन्त दूसरे प्रकार से :—

'चतुरन्त'का दूसरा अर्थ है चारों से अन्त है जिसमें वह। 'चारों' कर के दान, शील, तप और भावना नामक धर्मोंका ग्रहण किया जाता है। इनसे अन्त यानी संसार की समाप्ति होती हैं जिसमें, ऐसा चारित्रधर्म चतुरन्त हुआ। यह भी सयुक्तिक है। संसार आहार-विषय परिग्रह-निद्रा नामकी चार संज्ञाओं से पुष्ट हो रहा है। वहां दानधर्म परिग्रहसंज्ञा का, शील-धर्म विषयसंज्ञा का, तपधर्म आहारसंज्ञा का, एवं भावनाधर्म निद्रासंज्ञा यानी भावनिद्रा का नाश कर सकता है। इस प्रकार दानादि धर्मों से संसारहेतुभूत आहारादि संज्ञाओ का नाश होने से संसार का अन्त हो जाता है। चारित्रधर्म में श्रेष्ठ दान अभयदानादि, श्रेष्ठ शील महाव्रत, श्रेष्ठ तप अनशनादि एवं प्रायश्चित्तादि; और श्रेष्ठ भावना कर के सम्यग्दर्शनादि और अनित्यादि की भावना, एवं सत्त्वतुलना, तपस्तुलना, एकत्वतुलना वगैरह पंचतुलनादि भावना की आराधना की जाती है; अतः चारित्रके चार दानादि धर्मों से संसार-अन्त होने की वजह वह चतुरन्त कहा गया।

(ल०—) एतेन च वर्त्तन्ते भगवन्तः, तथाभव्यत्वनियोगतो वरबोधिलाभादारभ्य तथा तथौचित्येन आसिद्धिप्राप्तेः एवमेव वर्त्तनादिति। तदेवमेतेन वर्त्तितुं शीला धर्म्मवरचतुरन्त-चक्रवर्तिनः ॥ २४ ॥ एवं धर्म्मदत्व-धर्म्मदेशकत्व-धर्म्मनायकत्व-धर्म्मसारथित्व-धर्म्मवरचतुर-न्तचक्रवर्तित्वैर्विशेषोपयोगसिद्धेः स्तोतव्यसम्पद एव विशेषेणोपयोगसम्पद् इति ॥ ६ ॥

धर्म यह चक्रशस्त्र कैसे ?

यहां धर्मको वर चतुरन्त चक्र कहा, इसमें 'चक्र' इसलिए कि चक्रवर्ती राजा के शत्रुनाशक चक्र नामक शस्त्र की तरह महामिथ्यात्वादि स्वरूप अति रौद्र भावशत्रुओं को यह काट देता है। प्रसिद्ध है कि जिस प्रकार षट् खण्ड पृथ्वी के विजेता चक्रवर्ती के चक्ररत्न से बाह्य शत्रुओं का उच्छेद हो जाता है, इस प्रकार चारित्र-अन्तर्गत दानादि धर्मों से मिथ्यात्व-राग-द्वेषादि आभ्यन्तर यानी भाव शत्रुओं का उच्छेद हो जाता है, इसलिए धर्म यह एक प्रकार का चक्रशस्त्र हुआ।

प्र०—दानादि धर्मों से मिथ्यात्वादि का नाश कैसे होगा ?

उ०—दानादि धर्मों के अभ्यास से आग्रह यानी मूर्च्छा एवं लोभ का नाश और दूसरे दोषों का नाश होने से मिथ्यात्व-राग-द्वेषादि नष्ट हो जाएँगे। जिन महासात्त्विक आत्माओं ने दान, शील, तप एवं भावना धर्मों के बहु अभ्यास किया है; उन्हें यह स्वानुभवसिद्ध है कि उस अभ्यास से मूर्च्छा आदि का ह्रास बन आता है। सहज है कि दानधर्म के पुनःपुनः सेवन से मूर्च्छा का नाश हो जाए, शीलधर्म के बार बार सेवन से-सम्यक्त्वव्रत एवं दर्शनाचार-जिनभक्ति-साधु-सेवा इत्यादि से मिथ्यात्व का नाश, अहिंसाव्रत से क्रोध-हिंसादि का नाश, सत्यव्रत से असत्य-वादिता-अभिमान-मायादि का नाश, अचौर्यव्रत से अनीति-कपटादि का नाश, ब्रह्मचर्य व्रत से विषया-सक्ति-दुराचार-कामवासनादि का विध्वंस, और धनपरिग्रहत्याग के व्रत से लोभ का ह्रास हो जाए, विविध तपधर्म के बार बार सेवन से इच्छानिरोध होने द्वारा मूर्च्छा, लोभ, राग, द्वेषादि का नाश हो जाए, और भावनाधर्म में अनित्यता, धर्मस्वाख्यात, आदि के अभ्यास से मिथ्यात्व और रागादि दोष नष्ट हो जाए। ये मिथ्यात्वादि आत्मा के भावशत्रु हैं, आभ्यन्तर शत्रु हैं; क्यों कि वे आत्मा को दुर्गतिपरंपरा में दुःसह्य दुःख देने वाले होते हैं। अज्ञान मूढ आत्मा बाह्य शत्रु को शत्रु समझ कर इसका तो निवारण करने में यत्नशील रहता है, लेकिन आभ्यन्तर शत्रुगणको न तो शत्रु समझता है, न उसके नाश में कोई यत्न करता; वरन् उसकी संगति में रह कर संसार में दीर्घ काल तक घूम रहता है। महात्मा लोग इन अति भयंकर भावशत्रुभूत मिथ्यात्वादि को दानादि धर्म के कड़े अभ्यास से नष्ट कर देते हैं।

भगवान इस धर्मचक्र से वर्तते हैं, क्यों कि भगवान की आत्मा अपने में विद्यमान विशिष्ट तथा-भव्यत्व के बल पर वरबोधिलाभ से ले कर उस उस प्रकार के औचित्य पूर्वक की जाती मोक्ष-प्राप्ति पर्यन्त इसी ढंग का वर्तन करती हैं। तात्पर्य अन्य जीवों की अपेक्षा तीर्थंकर होने वाले जीव

२५. अप्पडिहयवरनाणदंसणधराणं (अप्रतिहतवरज्ञानदर्शनधरेभ्यः)

(ल०—सर्वज्ञतानिषेधकमतनिरासः—) एते च कैश्चिदिष्टतत्त्वदर्शनवादिभिर्बौद्धभेदैरन्यत्र प्रतिहतवरज्ञानदर्शनधरा एवेष्यन्ते 'तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु' इति वचनाद्, एतन्निराचिकीर्षयाह- 'अप्रतिहतवरज्ञानदर्शनधरेभ्यः'। अप्रतिहते=सर्वत्राप्रतिस्खलिते क्षायिकत्वाद्, वरे=प्रधाने, 'ज्ञानदर्शने' विशेषसामान्यावबोधरूपे धारयन्तीति समासः; सर्वज्ञानदर्शनस्वभावत्वे निरावरणत्वेन, अन्यथा तत्त्वायोगात्।

(पं०—) 'तत्त्वमिष्टं तु पश्यत्वि'ति —'सर्वं (प्र०...दूरं) पश्यतु वा मा वा, तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु। प्रमाणं दूरदर्शी चेदेते गृध्रानुपास्महे ॥ १ ॥ इति सम्पूर्णश्लोकपाठः। 'सर्वज्ञाने'त्यादि=सर्वज्ञानदर्शनस्वभावत्वे नयान्तराभिप्रायेण सार्वदिके सर्वज्ञ–सर्वदर्शिस्वरूपे सति, 'निरावरणत्वेन'=घातिक्षयात, अप्रतिहतवरज्ञानदर्शनधरा भगवन्तः। व्यतिरेकमाह 'अन्यथा'=उक्तप्रकारव्यतिरेकेण, 'तत्त्वायोगात्'=अप्रतिहतवरज्ञानदर्शनधरत्वायोगात; यतो न निरावरणा अपि धर्मास्तिकायादय उक्तरूपविकलाः सन्तः, एकेन्द्रियादयो वा उक्तरूपयोगेऽप्यनिरावरणाः, प्रकृतसूत्रार्थभाज इति।

सर्वज्ञतानिषेधक मतके निरासार्थ :–

का भव्यत्व जो विशिष्ट कोटि का होता है, इसकी वजह से चतुरन्त श्रेष्ठ धर्मचक्र में प्रवर्तना होता है। हां, ऐसे प्रवर्तन में सम्यक्त्व सहकारी कारण है, इसलिए विशिष्ट कारण तथाभव्यत्व अनादि काल का होने पर भी वरबोधि सम्यक्त्व की प्राप्ति के बाद ही वैसा प्रवर्तन होता है। वह भी प्रवर्तन, मोक्ष पाने पर तथाभव्यत्व न रहने से और अन्य शरीरादि सहकारी सामग्री न होने से, मोक्षप्राप्ति पर्यन्त ही होता है, इसके बाद मोक्ष में नहीं। यह वर्तन भी उस अवस्था के योग्य औचित्य पूर्वक होता है। अतः इस प्रकार धर्म के वर चतुरन्त चक्र से वर्तन करने के स्वभाव वाले अर्हत् परमात्मा होते हैं, इसलिए वे धर्म-वर-चतुरन्त-चक्रवर्ती हैं। यह २४ वां पद हुआ।

६ ठी संपदा का उपसंहार :–धम्मदयाणं पद से ले कर इस पद तक स्तोतव्य संपदा की छठी विशेषोपयोग संपदा हुई, कारण, स्तोतव्य श्री अरहंत प्रभु का विशेष उपयोग धर्मदातापन, धर्मदेशकता, धर्मनायकता, धर्मसारथिपन और धर्मवरचतुरन्तचक्रवर्तिपन, इन पांच से सिद्ध है। ६

अब 'अप्पडिहयवरनाणदंसणधराणं' पद का अर्थ दिखला कर विवेचन करते हैं।

इस पद से अर्हत् परमात्मा में अप्रतिहत सर्वज्ञता का प्रतिपादन करना है। यह प्रतिपादन जो लोग किसी भी आत्मा में सर्वज्ञता नहीं मानते हैं, उनकी वह मान्यता गलत है इसका सूचन करने के लिए है। वे लोग कहते हैं—

'सर्वं पश्यतु वा मा वा, तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु। प्रमाणं दूरदर्शी चेद्, एते गृध्रानुपास्महे ॥'

अर्थात् मोक्ष पाने वाला जीव तीनों काल की समस्त वस्तुओं को देखे या न देखे, लेकिन उसे इष्ट तत्त्व को देखना चाहिए। अगर दूरदर्शी आत्मा प्रमाणभूत है तब तो हमें गीधोंकी

उपासना करनी चाहिए; क्यों कि अनंत देशकाल नहीं सही, फिर भी दूर देश तक देख सकने की तो इनमें ताकत है। लेकिन यह कुछ नहि, इष्ट तत्त्व का दर्शन जिसे हुआ हो वह पुरुष प्रमाण माना जाता है, उपासनीय है। सर्वज्ञता तो संभवित ही नहीं है, क्यों कि अतीत-अनागत-वर्तमान अनंत काल के समस्त पदार्थों के दर्शन पैदा होने के लिए कारणसामग्री ही बन सकती नहीं; न वे मोजूद हैं, न उनके साथ इन्द्रियसंनिकर्षादि हैं; तब उन सबों के प्रत्यक्ष दर्शन परमात्मा को भी कैसे हो सके?"-यह उन लोगों का अभिप्राय है।

अप्रतिहत कैसे :- इसका निषेध करने की इच्छा से 'अप्पडिहयवरनाणदंसणधराणं' पद दिया गया। परमात्मा जो अप्रतिहत वर ज्ञान दर्शन को धारण करते हैं उनके प्रति मेरा नमस्कार हो.-यह इसका तात्पर्य है। 'अप्रतिहत' का अर्थ है सर्वत्र यानी सकल देश और सर्व काल में अप्रतिस्खलित; अर्थात ऐसा ज्ञानदर्शन कि जो कहीं भी स्खलना न पावे, किसी भी देश एवं किसी भी काल के पदार्थ में पहुंच न सके ऐसा नहीं, सर्व देशकाल के वस्तु को जान सके ऐसा; क्यों कि वे ज्ञानदर्शन क्षायिक हैं, समस्त आवरण कर्मों के क्षय से उत्पन्न हुए हैं। ज्ञानदर्शन आत्मा के स्वभावभूत गुण हैं, न कि बाह्य सामग्री से उत्पन्न होने वाले आगन्तुक गुण! इसलिए वे ज्ञेयमात्र के अवगाहन करने वाले गुण हैं। उन पर आवरण लग जाने से ऐसा कार्य वे नहीं कर पाते हैं; लेकिन जब आवरणमात्र नष्ट किये जाये, तब सहज है कि वे सर्व वस्तुओं का प्रकाशन करने में अस्खलित गति हो।

'वर' कैसे ? :- ऐसे ज्ञान और दर्शन 'वर' हैं अर्थात संपूर्ण होने से समस्त अपूर्ण ज्ञानदर्शनों की अपेक्षा प्रधान हैं; और समस्त अन्य गुणों की अपेक्षा भी प्रधान है, क्यों कि वे अप्रस्थायी है और आत्मा का मुख्य स्वरूप हैं।

'ज्ञान दर्शन': सामान्य विशेष :- ज्ञान और दर्शन दोनों प्रकार के बोध, यहां कोई आवरण न होने से, इन्द्रिय प्रत्यक्ष या अनुमान अथवा आगमज्ञान स्वरूप नहीं, किन्तु आत्मसाक्षात्कार रूप होते हैं। इन में 'ज्ञान' विशेषबोधरूप और 'दर्शन' सामान्य बोधरूप है। पहले कह आये कि वस्तुमात्र के दो स्वरूप होते हैं, सामान्य और विशेष। सामान्यरूप अन्य वस्तुओं में भी अनुवृत्त यानी संलग्न होता है, और विशेषरूप वस्त्वन्तर से व्यावृत्त यानी अलग होता है, उदाहरण के लिए, घड़े में सामान्य रूप जो मिट्टीपन है वह शराव, कुंडी, मृत्पिंड वगैरह में भी अनुवृत्त है, और विशेष रूप जो घड़पन है वह उन सबों से व्यावृत्त है। घड़े में और भी कई सामान्य धर्म एवं कई विशेष धर्म रहते हैं। ऐसे वस्तु मात्र में अनन्त सामान्य-विशेष होते हैं। जब वस्तु का बोध किया जाए, तब इन दोनों में से एक मुख्य रहता है, दूसरा गौण। अतः वस्तु का बोध जब जब मुख्यतः सामान्य रूप से किया जाए तब तब वह 'दर्शन' कहलाता है, और जब मुख्यतः विशेष रूप से हो, तब वह 'ज्ञान' कहा जाता है। परमात्मा ऐसे सभी सामान्य विशेषों के अप्रतिहत प्रधान ज्ञान दर्शन को धारण करते हैं।

अर्हत् परमात्मा में अप्रतिहत प्रधान ज्ञानदर्शन होने का कारण यह है कि जब उन में

(ल०–सर्वज्ञानदर्शनसिद्धि'–) सर्वज्ञस्वभावत्वं च सामान्येन सर्वावबोधसिद्धेः, विशेषाणामपि ज्ञेयत्वेन ज्ञानगम्यत्वात्। न चैते साक्षात्कारमन्तरेण गम्यन्ते, सामान्यरूपानतिक्रमात्।

(पं०–)हेतुविशेषणसिद्ध्यर्थमाह 'सर्वज्ञस्वभावत्वं च'हेतुविशेषणतयोपन्यस्तं, 'सामान्येन' महासामान्यनाम्ना सत्तालक्षणेन, 'सर्वावबोधसिद्धेः', सर्वेषां=धर्मास्तिकायादीनाम्, अवबोधसिद्धेः=परिच्छेदसद्भावात्, एकस्मिन्नपि घटादौ सद्रूपे परिछिन्ने सद्रूपानतिक्रमात् शुद्धसङ्ग्रहनयाभिप्रायेण सर्व्वसतां परिच्छेदः

सर्व विषयों के ज्ञान एवं दर्शन का स्वभाव है अर्थात् सार्वदिक सर्वज्ञता–सर्वदर्शिता का स्वभाव है और उसके ऊपर अब कोई आवरण है नहीं, तो वे अप्रतिहत–प्रधान–ज्ञानदर्शनधर क्यों न हो? यहां सर्वज्ञता–सर्वदर्शिता सार्वदिक कही गई वह संसार–काल में भी निश्चय दृष्टि से समझना; क्यों कि व्यवहार दृष्टि से तो वहां अज्ञान प्रगट होने से यह नहीं है। अथवा मोक्ष में जो सार्वदिक सर्वज्ञता सर्वदर्शिता कही गई, उस पर शङ्का हो सकती है कि जिनागम में तो प्रथम समय सर्वज्ञता और दूसरे समय सर्वदर्शिता, फिर तीसरे समय सर्वज्ञता, चौथे समय सर्वदर्शिता,–इस प्रकार बतलाया गया है; तो एकेक समय का अंतर पड़ने से सार्वदिक यानी एकसाथ हमेश की कहां रही? इस शङ्का का समाधान यह है कि अन्य दृष्टि के अभिप्राय से सार्वदिक कहा गया है। दो समयों का स्थूल एक काल ले कर देखा जाय तो उस दृष्टि से वैसे हरएक काल में सर्वज्ञता–सर्वदर्शिता कह सकते हैं। अथवा, सर्वज्ञता के समय में समस्त सामान्य धर्म भी ज्ञात तो हैं ही, लेकिन गौण रूप से। तो गौण रूप से भी वे ज्ञात होने की दृष्टि से वहां सर्वदर्शिता समाविष्ट होती है ऐसा कह सकते हैं। वहां कोई घाती कर्म रूप आवरण भी न होने से अप्रतिहत–वर–ज्ञानदर्शन हैं।

सर्वज्ञतास्वभाव एवं निरावरणता दोनों की क्या जरूर? :–इस बात को निषेधमुख से देखे तो कहा जाए कि सर्वज्ञता–सर्वदर्शिता का स्वभाव एवं निरावरणता, इन दो में से एक के भी अभाव होने पर अप्रतिहत वर ज्ञानदर्शन के धारक नहीं हो सकती है। अन्यथा प्रश्न होगा कि धर्मास्तिकायादि जड द्रव्यों में निरावरणता तो है, यानी घाती कर्मों का अभाव तो है, फिर अप्रतिहतवरज्ञानदर्शन क्यों नहीं है? कहना होगा कि उसके लिए जरूरी जो दूसरा कारण सर्वज्ञ-सर्वदर्शिता का स्वभाव, यह उनमें न होने से वह नहीं है। इसी प्रकार एकेन्द्रियादि जीव में जीवत्व होने के नाते सर्वज्ञ–सर्वदर्शिता का स्वभाव तो है, किन्तु उनमें घाती कर्मों के आवरण लगे होने से उनसे प्राप्त निरावरणता होने के कारण वहां भी अप्रतिहत–वर–ज्ञानदर्शनधरता नहीं है।

सर्वज्ञता–स्वभाव का बीज है ज्ञानकी सहजता–अरहंत प्रभु में अप्रतिहत–ज्ञानदर्शन-धरता की सिद्धि करने के लिए जो हेतुरूप से 'सर्वज्ञतास्वभावयुक्त निरावरणता' का उल्लेख किया, उसमें विशेषण है 'सर्वज्ञतास्वभाव' और विशेष्य है 'निरावरणता'। अब देखिए कि ये दो पहले सिद्ध हो तो ये अप्रतिहत–वर–ज्ञानदर्शनयुक्तता सिद्ध कर सकते हैं। इसलिए अब उन दोनों की सिद्धि कैसे हो, यह बतलाते हैं। प्रभु में सर्वज्ञता का स्वभाव इसलिए सिद्ध है कि उनमें धर्मास्ति-

सिध्यति। आह 'सत्तामात्रपरिछेदेऽपि विशेषाणामनवबोधात् कथं सर्वावबोधसिद्धि'रित्याशङ्क्याह '**विशेषाणामपि**' न केवलं सामान्यस्य, '**ज्ञेयत्वेन**'=ज्ञानविषयत्वेन, '**ज्ञानगम्यत्वात्**'=ज्ञानेन अवबोधरूपेणाववोधनीयरूपत्वात्। यद्येवं ततः किमित्याह '**न च**'=नैव, '**एते**'=विशेषाः, '**साक्षात्कारं**'=दर्शनोपयोगम्, '**अन्तरेण**'=विना, तेनासाक्षात्कृता इत्यर्थः, '**गम्यन्ते**'=बुध्यन्ते। कथमित्याह '**सामान्यरूपानतिक्रमात्**', सामान्यरूपातिक्रमे ह्यसद्रूपतया खरविषाणादिवदसन्त एव विशेषाः स्युरिति। इदमुक्तं भवति,—दर्शनोपयोगेन सामान्यमात्रावबोधेऽपि तत्स्वरूपानतिक्रमात् सद्ग्रहनयाभिप्रायेण विशेषाणामपि ग्रहणाच्छद्मस्थोऽपि सर्वदा सर्वज्ञस्वभावः स्यात्; घातिकर्मक्षये तु सर्वनयसंमत्या निरुपचरितैव सर्वज्ञस्वभावता; ज्ञानक्रियायौगपद्यस्यैव मोक्षमार्गतेति। सर्वदर्शनस्वभावता तु सामान्यावबोधत एव सिद्धेति न तत्सिद्धये यत्नः कृत इति।

कायादि समस्त पदार्थों का सत्ता (सद्रूपता) नामक महासामान्य रूप से ज्ञान होता है। ज्ञान आत्मा का सहज स्वभाव है, किन्तु आगन्तुक गुण नहीं। अगर वैसा स्वभाव न हो तो आत्मा और जड में कोई फर्क नहीं रहता, क्यों कि जड भी वादृश स्वभाव से शून्य है। ज्ञान आत्म-गुण होने से फर्क तो पड सकता है लेकिन कारण मिलने पर आत्मा में ही ज्ञान दिखाई पडे और जड में नहीं इसका क्या कारण? कहना होगा कि ज्ञान आत्मा का ही स्वभाव होने से कारण सामग्री के सहकार वश आत्मा में ही दिखाई पडे यह युक्तियुक्त है। हां, इस स्वभाव पर आवरण लग गये हैं अतः आवरण ज्यों ज्यों नष्ट हो, त्यों त्यों ज्ञान प्रगट होता है। जब यह देखिए कि,

ज्ञान की प्रकाश सीमा कहां तक? दृष्टान्त देखिये,—एक घट का 'यह सत् है'—इस प्रकार सद्रूप से ज्ञान हुआ। अब विश्व के समस्त पदार्थों का एक रूप से सङ्ग्रह करने वाली अविभाजित दृष्टि से देखा जाए तो सारा विश्व एकमात्र सद्रूप है; सत् से कोई भी भिन्न नहीं है। इसलिए एक घट को सद्रूप से जानने पर समस्त विश्व को सद्रूप से जान लिया; अतःसद्रूप से ज्ञात होने में विश्वका कोई पदार्थ नहीं बचा। धर्मास्तिकायादि सकल ज्ञेय पदार्थ ज्ञात हो गए; क्यों कि वे सत् हैं। अगर कोई सत् नहीं, तो वह ज्ञेय नहीं, जैसे आकाशपुष्प, शशशृङ्गादि। जो सत् है वह सद्रूप से ज्ञात होता ही है। यह सद्रूपता यानी सत्ता महासामान्य है, क्यों कि इससे कोई भी पदार्थ अवेष्टित नहीं है।

संग्रह–व्यवहार को संमत सर्वज्ञता :—

प्र०–ठीक है समस्त ज्ञेयों को सद्रूप से तो जान लिया, किन्तु जहां तक उन प्रत्येक के निखिल विशेष धर्मों का ज्ञान न हुआ वहां तक सर्वबोध यानी सर्वज्ञता कहां सिद्ध हुई?

उ०–मात्र सामान्य ही नहीं, किन्तु विशेष भी ज्ञेय हैं, अर्थात् ज्ञानके विषय होने के कारण ज्ञान से ज्ञात हो सके वैसे हैं; और वे दर्शन के विना अर्थात् सामान्य धर्म के साक्षात्कार के बिना ज्ञात नहीं हो सकते हैं। कारण यह है कि विशेष धर्म सामान्य रूप का अतिक्रमण नहीं करते हैं, सामान्य बिना नहीं हो सकता हैं। उदाहरणार्थ, मनुष्यत्व यह विशेष धर्म है और जीवत्व यह

(ल०-निखिलावरणक्षयसिद्धिः—) निरावरणत्वं चावरणक्षयात्, क्षयश्च प्रतिपक्षसेवनया तत्तानवोपलब्धेः, तत्क्षये च सर्वज्ञानं, तत्स्वभावत्वेन। दृश्यते चावरणहानिसमुत्थो ज्ञानातिशयः ।

(पं०–)इत्थं विशेषणसिद्धिमभिधाय विशेष्यसिद्ध्यर्थमाह 'निरावरणत्वं च' प्राग् हेतुतयोपन्यस्तम् 'आवरणक्षयाद्', आवरणस्य=ज्ञानावरणादेः, क्षयात्=निर्मूलप्रलयात्। ननु जीवाविभागीभूतस्यावरणस्य क्षय एव दुरुपपादः, इत्याशङ्क्याह 'क्षयश्च' उक्तरूपः, 'प्रतिपक्षसेवनया' मिथ्यादर्शनादीनां सामान्य-

---

सामान्य धर्म, मनुष्यत्व जीवत्व को छोडकर नहीं रह सकता है, जीवत्व को आलिङ्गित हो कर ही रहता है। यों जीवत्व यह, सामान्य रूप जो पेड़पन इस के साथ जुडा हुआ ही रहता है। इस प्रकार सभी विशेष धर्म महासामान्य अर्थात् वस्तु मात्र में रहनेवाली सत्ता (सद्रूपता) से अन्तर्व्याप्त ही होते हैं। जहां सद्रूपता नहीं वहां कोई विशेष धर्म नहीं; अतः सद्रूपता से अलग कोई विशेष नहीं है। तो दर्शन-उपयोग से सामान्य मात्र का बोध होने पर भी विशेष सामान्य में अन्तःप्रविष्ट होने के कारण, सङ्ग्रहनय के अभिप्रायानुसार विशेषों का बोध सामान्य बोध में आ ही जाता है। इस दृष्टि से तो ज्ञानावरण कर्मों से आच्छादित आत्मा भी सत् सामान्य रूप से निखिल विश्व को जान लेता हुआ सदा सर्वज्ञ कहा जाए! किन्तु विशेषवादी नैगम या व्यवहार नय के मत से तो केवल सामान्य बोध में सभी विशेष ज्ञात नहीं होते हैं, क्यों कि वे नय विशेषों को सामान्य में अन्तर्भूत नहीं किन्तु सामान्य से भिन्न मानते हैं। इसलिए मात्र सामान्य जानने पर सर्वज्ञता नहीं बन सकती। यह तो समस्त ज्ञानावरणादि घाती कर्मों के क्षय होने पर जब सभी विशेष अलग रूप से ज्ञात हो, तभी संपन्न होती है। ऐसी सर्वज्ञता सर्वनयसमत मुख्य यानी प्रगट वास्तव सर्वज्ञस्वभाव है।

ज्ञान क्रिया दो मिल कर क्यों मोक्षमार्गः—तो समस्त सामान्य विशेषों के ज्ञानवाली सर्वज्ञता में जिन समस्त नयों की संमति है उनमे से कोई नय तो ज्ञान से मुक्ति मानता है, तो कोई क्रिया से मुक्ति मानता है। श्रद्धा, तप, वैराग्य, परमात्मभक्ति, वगैरह मुक्ति-साधन भी ज्ञान-क्रिया मे समाविष्ट हो जाते हैं। अतः सर्व नयों के साधक अभिप्राय संमिलित कर देखा जाए तो यह सिद्ध होता है कि ज्ञान और क्रिया दोनों के एक साथ मिलने पर ही मोक्षसाधना संपन्न हो सकती है।

तात्पर्य, इन दोनों के द्वारा जब समस्त ज्ञानावरण नष्ट होते हैं, और आत्मा का पूर्ण ज्ञान-स्वभाव प्रगट हो जाता है, तब यह ज्ञान विश्व के समस्त सामान्य एवं समस्त विशेषों का ग्रहण करे यह युक्तियुक्त है। युक्ति यह कि आत्मा के ज्ञानस्वभाव से जब सत्ता यानी वस्तुका सद्रूप तो गृहीत होता ही है और उसमे व्याप्त है सारा विश्व एवं इनके समस्त विशेष, तो वे निरावरण दशा में क्यों सबके सब गृहीत न हों। इससे सर्वज्ञान-स्वभावता सिद्ध होती है। सर्वदर्शन-स्वभावता तो सामान्य के बोध से नितान्त सिद्ध है, इसलिए इसकी सिद्धि के हेतु

बन्धहेतूनां ज्ञानप्रत्यनीकान्तरायोपघातादीनां, च विशेषहेतूनां, **प्रतिपक्षस्य=**विरोधिनः सम्यग्दर्शनादेर्यानबहुमानादेश्च **सेवनया**=अभ्यासेन। प्रयोगोऽत्र, यद् यस्य कारणेन सह विरुध्यते तत् तद्विरुध्यमानसेवने क्षीयते, यथा रोमोद्धुषणादिकारणेन शीतेन विरुध्यमानस्याग्नेरासेवने रोमोद्धूषणादिर्विकारः, विरुध्यते चावरणहेतुभिर्मिथ्यादर्शनादिभिः सह सम्यग्दर्शनादिगुणकलाप इति कारणविरुद्धोपलब्धिः। नन्वतीन्द्रियत्वादावरणक्षयस्य कथं तेन हेतोः प्रतिबन्धसिद्धिरित्याशङ्क्याह **'तत्तानवोपलब्धेः'**, **तस्य**=आवरणस्य, **तानवं**=तुच्छभावो देशक्षयलक्षणः प्रकृतस्यैव (प्र०....प्रत्ययेन) प्रतिपक्षसेवनया, तस्योपलब्धेः। स्वानुभवादिसिद्धज्ञानादिवृद्ध्यन्यथानुपपत्तेः प्रतिबन्धसिद्धिः। न च वक्तव्यं 'प्रतिपक्षसेवनया तानवमात्रोपलब्धेः कथं सर्वावरणक्षयनिश्चय इति?' यतो ये यतो देशतः क्षीयमाणा दृश्यन्ते ते तत. प्रकृष्टावस्थात् संभवत्सर्वक्षया अपि, चिकित्सासमीरणादिभ्य इव रोगजलधरादय इति। एवं च जीवाविभागीभूतस्यापि चिकित्सातो रोगस्येवावरणस्य प्रतिपक्षसेवनया क्षयोऽदुष्ट इति यत्किञ्चिदेतत् यदुतावरणक्षय एव दुरुपपाद इति। अथ प्रकृतसिद्धिमाह **'तत्क्षये च'**=आवरणक्षये च, **'सर्वज्ञानं'**=सर्वज्ञेयाववोधः। कुत इत्याह **'तत्स्वभावत्वेन'**, स्वभावो ह्यसौ जीवस्य यदावरणक्षये सर्वज्ञानम्। एतदेव भावयति **'दृश्यते च'**=प्रतीयते चानुभवानुमानादिभिः, **'आवरणहानिसमुत्थो'**=निद्राद्यावरणक्षयविशेषप्रभवो, **'ज्ञानातिशयो'**=ज्ञानप्रकर्षः।

कोशिश नहीं की जाती है। यहां तक सर्वज्ञता-सर्वदर्शिता स्वरूप विशेषण की सिद्धि हुई।

'निरावरणत्व' रूप विशेष्य की सिद्धिः—अब 'सर्वज्ञत्व सहित निरावरणत्व' रूप दिए गए हेतु में जो 'निरावरणत्व' रूप विशेष्य है उसकी सिद्धि की जाती है। निरावरणत्व, यानी समस्त ज्ञानावरणादि घाती कर्मों का अभाव, उन कर्मों का निर्मूल नाश होने से होता है।

प्र०– आवरण कर्म तो आत्मा के साथ एक रूप हो गये हैं तो उनका मूलतः नाश कैसे हो सके?

उ०–जिन कारणों से कर्मों का बन्ध अर्थात आत्मा के साथ एकरूप संबन्ध हो गया है, उनसे प्रतिकूल उपायों के अभ्यास से कर्मनाश होना युक्तियुक्त है। ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का संबन्ध सामान्य एवं विशेष दो प्रकार के कारणों से होता है। इनमें सामान्य कारण हैं मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय, योग, एवं प्रमाद। विशेष कारण हैं ज्ञानादिका प्रद्वेष-विरोध-अन्तराय-नाश इत्यादि; ज्ञानावरणादि प्रत्येक के व्यक्तिशः वे कारण इस प्रकार हैं:-(देखिए पृ. २१६)

कर्मबन्ध के हेतुओं के प्रतिपक्ष उपाय–इन मिथ्यात्वादि सामान्य हेतुओं के प्रतिपक्षी (विरोधी) हैं सम्यग्दर्शनादि उपाय। **मिथ्यात्व** यानी सर्वज्ञोक्त तत्त्व की अरुचि (अश्रद्धा) का प्रतिपक्षी है सम्यग्दर्शन अर्थात् तत्त्वरुचि, **अविरति** यानी हिंसादि-प्रतिबद्धता का विरोधी हैं चारित्र (विरति) अर्थात प्रतिज्ञापूर्वक हिंसादि-त्याग, **कषाय** का प्रतिपक्षी है सम्यग्ज्ञान-तप-युक्त उपशम-भाव; **योग** में आरम्भ-विषय-परिग्रहादि अप्रशस्त योगों के प्रतिपक्ष हैं ज्ञानाचारादि प्रशस्त योग, और प्रशस्त योगोंका प्रतिपक्ष है शैलेशीकरण एवं अयोग अवस्था, **प्रमाद** का प्रतिपक्षी

कर्म	कर्मबन्ध-हेतु
१ ज्ञानावरण	ज्ञान-ज्ञानी-ज्ञानसाधनों का प्रद्वेष, इनकार, विरोध, ईर्षा, अन्तराय, आशातना या नाश
२ दर्शनावरण	दर्शन-दर्शनी-दर्शनसाधनोंका प्रद्वेष, इनकार, विरोध, ईर्षा, अन्तराय, आशातना या नाश
३ अशाता वेदनीय	स्व-पर को पीडा शोक-संताप-रुदन-प्रहार-विलापादि करना-कराना
शाता वेदनीय	जीवदया अर्हत् साधु-श्रावक-भक्ति, दान, सराग संयम, व्रत, भोगनिरोध तप आदि कष्ट, क्षमा, शौचादि
४ मिथ्यात्व मोहनीय	सर्वज्ञ सर्वज्ञशास्त्र-चतुर्विध संघ-साधुश्रावक-धर्म-देवता-जिनोक्ततत्त्व की निंदादि और मिथ्यादेव-गुरु-धर्म-तत्त्वादि की रुचि उपासना प्रशंसादि
चारित्र मोह	तीव्र क्रोधादि कषायवश प्रादुर्भूत आत्मपरिणाम; एवं चारित्र और साधु की निन्दा-विघ्नादि
५ नरकायु	बहुजीवनाश के हेतुभूत संग्राम, कीटादिसंहारक उद्योग आदि महाआरम्भ, महापरिग्रह, रौद्रध्यान, मांसभक्षणादि
तिर्यगायु	गूढ हृदय, मायाप्रपंच, शल्य, सदाचारहीनता, अविरति आदि
मनुष्यायु	अल्पारम्भ-परिग्रह, निःस्वार्थ नम्रता-ऋजुतादिमध्यमगुण, दानरुचि आदि
देवायु......	सरागसंयम, व्रत, अशुभ प्रवृत्तिका निरोध, आहारादि निरोध, तप, कष्ट आदि
६ अशुभ नामकर्म...	मन-वचन-काया की वक्र प्रवृत्ति, विसंवादन (सच्चेको झूठा मनाना इत्यादि)
शुभ नामकर्म...	मन-वचन-काया की ऋजु प्रवृत्ति, संवादन
७ नीचगोत्र...	परनिन्दा, स्वप्रशंसा, मद, परगुण-स्वदोष का आच्छादन, स्वकीय असद्-गुणका कथन, धर्मपुरुष-धर्म-तत्त्वादि की जुगुप्सा-मजाक-इत्यादि
ऊंचगोत्र...	परगुण-प्रशंसा, स्वनिन्दा, स्वगुण एवं परदोष का आच्छादन, नम्रवृत्ति, निरभिमान
८ अन्तराय	औरों को दान-लाभ-भोगादि करने में विघ्न करना, जिनपूजा में अन्तराय करना, हिंसादिपरायणता, शक्य धर्मवीर्य कार्यान्वित न करना।

है अप्रमाद। तात्पर्य, सम्यग्दर्शन-दर्शन-चारित्र-तप, एवं अप्रमाद तथा अयोग, ये सब उपाय मिथ्यात्वादि सामान्य कर्मबन्ध-हेतुओं के प्रतिपक्षी हैं; और कर्मबन्धन के विशेषहेतुभूत ज्ञानादि-विरोध-अन्तराय वगैरह के प्रतिपक्षी हैं ज्ञानादि की भक्ति-उपासना-दान इत्यादि।

प्रतिपक्षसेवन से पूर्वरोगनाशः—यदि इन प्रतिपक्षी उपायों के आसेवन का अभ्यास किया जाए अर्थात् उनका बार बार आसेवन किया जाय तो सहज है कि मिथ्यात्वादि से उपार्जित कर्मबन्धन दूर हो जायेंगे। नियम है कि जो जिसके कारण का विरोधी है उस विरोधी

(ल०—) न चास्य कश्चिदविषय इति स्वार्थानतिलङ्घनमेव। इत्थं चैतद्, अन्यथा

के सेवन से वह क्षीण हो जाता है। उदाहरणार्थ, रोमाञ्च खड़े करने में कारणभूत है जाड़ा और उसके विरुद्ध है अग्नि; तो उस अग्नि के आसेवन से रोमाञ्चादि विकार नष्ट हो जाता है। ठीक इसी प्रकार, कर्मावरण में कारणभूत मिथ्यादर्शनादि के विरोधी है सम्यग्दर्शनादि गुणसमूह; तो उन सम्यग्दर्शनादि के आसेवन से कर्मावरण नष्ट होना युक्तियुक्त है। यहां, इस प्रकार कारण-विरुद्ध-उपलब्धि हुई; जिस प्रकार किसी प्रकाशादि वस्तु के विरुद्ध अंधकारादि पदार्थ उपलब्ध होता है तो वहां उस प्रकाशादि वस्तु का अभाव सिद्ध होता है, इस प्रकार उसके कारण के विरुद्ध पदार्थ उपलब्ध होने से भी उसका अभाव सिद्ध होता है। तो यहां कर्मकारण से विरुद्ध सम्य-ग्दर्शनादि की उपलब्धि से कर्मक्षय प्राप्त हो जाए इस में कोई संदेह नहीं।

प्र०—कर्मक्षय तो अतीन्द्रिय है, प्रत्यक्ष दिखाई पडता नहीं है। तो फिर सम्यग्दर्शनादि से वह अवश्य होता है इस प्रकार के नियम (व्याप्ति) का निर्णय कैसे हो सकता है?

उ०—प्रतिपक्षभूत सम्यग्दर्शनादि के सेवन से कर्मावरणों का अंशतः क्षय होता आता है यह ज्ञानादि में देख सकते हैं। ज्ञान की साधना करने के लिए पढाई का परिश्रम करते हैं तो क्रमशः ज्ञानवृद्धि का अनुभव होता है। यह ज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि क्या है? ज्ञानावरण कर्मों का बढता जाता क्षय। पहले आवरण ज्यादे थे, तो ज्ञान प्रगट नहीं था; अब कुछ ज्ञान प्रगट हुआ है तब समझना चाहिए कि आवरणों का कुछ ह्रास हुआ है। तो सिद्ध होता है कि सर्वोच्च प्रतिपक्ष-सेवन से कर्मावरण बिलकुल नष्ट हो सर्वज्ञता भी उत्पन्न हो सकती है।

प्र०—ठीक है, प्रतिपक्षसेवन से अंशतः आवरण क्षय हो, क्यों कि वैसा अनुभव में आता है, लेकिन समस्त आवरणों का नाश कैसे संभवित है? उसका निर्णय कहां से हो सकेगा?

उ०—ओहो! उसमें क्या दिक्कत है? देखते हैं कि जो जिसके द्वारा अंशतः क्षीण होते हैं वे उनकी उत्कृष्ट कक्षा प्राप्त होने पर सर्वथा भी क्षीण हो जाते हैं। इसमें कोई असंभव नहीं है। दृष्टान्त से थोड़ी चिकित्सा से रोग का कुछ क्षय; और उत्कृष्ट चिकित्सा से सर्वथा रोगनाश; एवं अल्प पवन से बादल का कुछ बिखरना, और अतिशय पवन से बादल का सर्वथा अभाव, होता है। ठीक इसी प्रकार, जीव से एकरस हुए भी कर्म-आवरण, चिकित्सा से रोग की तरह, प्रतिपक्षभूत सम्यग्दर्शनादि के सेवन से क्षीण हो ही जाएँ इसमें कोई रुकावट नहीं होती। इसलिए आवरणों का सर्वथा क्षय उत्पन्न नहीं हो सकता है यह बात गलत है, युक्ति-युक्त नहीं है।

अब प्रस्तुत में, जब समस्त आवरण का क्षय हुआ तब त्रिकालवर्ती सर्व ज्ञेय पदार्थों का पूर्ण बोध प्रगट होता है, क्यों कि जीव का ऐसा स्वभाव ही है कि आवरण आमूल नष्ट हो जाने पर स्वस्वभावभूत सर्वज्ञान प्रगट हो जाए। और स्वानुभव एवं अनुमान-तर्क आदि से भी यह प्रतीत होता है कि निद्रादि आवरण के क्षयविशेष से ज्ञान का प्रकर्ष हो उठता है।

कर्म	कर्मबन्ध-हेतु
१ ज्ञानावरण	ज्ञान-ज्ञानी-ज्ञानसाधनों का प्रद्वेष, इनकार, विरोध, ईर्षा, अन्तराय, आशातना या नाश
२ दर्शनावरण	दर्शन-दर्शनी-दर्शनसाधनोंका प्रद्वेष, इनकार, विरोध, ईर्षा, अन्तराय, आशातना या नाश
३ अशाता वेदनीय	स्व-पर को पीडा शोक-संताप-रुदन-प्रहार-विलापादि करना-कराना
शाता वेदनीय	जीवदया अर्हत् साधु-श्रावक-भक्ति, दान, सराग संयम, व्रत, भोगनिरोध तप आदि कष्ट, क्षमा, शौचादि
४ मिथ्यात्व मोहनीय	सर्वज्ञ सर्वज्ञशास्त्र-चतुर्विध संघ-साधुश्रावक-धर्म-देवता-जिनोक्ततत्त्व की निंदादि और मिथ्यादेव-गुरु-धर्म-तत्त्वादि की रुचि उपासना प्रशंसादि
चारित्र मोह	तीव्र क्रोधादि कषायवश प्रादुर्भूत आत्मपरिणाम; एवं चारित्र और साधु की निन्दा-विघ्नादि
५ नरकायु	बहुजीवनाश के हेतुभूत संग्राम, कीटादिसंहारक उद्योग आदि महाआरम्भ, महापरिग्रह, रौद्रध्यान, मांसभक्षणादि
तिर्यंचायु	गूढ हृदय, मायाप्रपंच, शल्य, सदाचारहीनता, अविरति आदि
मनुष्यायु	अल्पारम्भ-परिग्रह, निःस्वार्थ नम्रता-ऋजुतादिमध्यमगुण, दानरुचि आदि
देवायु......	सरागसंयम, व्रत, अशुभ प्रवृत्तिका निरोध, आहारादि निरोध, तप, कष्ट आदि
६ अशुभ नामकर्म...	मन-वचन-काया की वक्र प्रवृत्ति, विसंवादन (सच्चेको झूठा मनाना इत्यादि)
शुभ नामकर्म...	मन-वचन-काया की ऋजु प्रवृत्ति, संवादन
७ नीचगोत्र...	परनिन्दा, स्वप्रशंसा, मद, परगुण-स्वदोष का आच्छादन, स्वकीय असद्गुणका कथन, धर्मपुरुष-धर्म-तत्त्वादि की जुगुप्सा-मज़ाक-इत्यादि
ऊंचगोत्र...	परगुण-प्रशंसा, स्वनिन्दा, स्वगुण एवं परदोष का आच्छादन, नम्रवृत्ति, निरभिमान
८ अन्तराय	औरों को दान-लाभ-भोगादि करने में विघ्न करना, जिनपूजा में अन्तराय करना, हिंसादिपरायणता, शक्य धर्मवीर्य कार्यान्वित न करना।

है अप्रमाद। तात्पर्य, सम्यग्दर्शन-दर्शन-चारित्र-तप, एवं अप्रमाद तथा अयोग, ये सब उपाय मिथ्यात्वादि सामान्य कर्मबन्ध-हेतुओं के प्रतिपक्षी हैं; और कर्मबन्धन के विशेषहेतुभूत ज्ञानादि-विरोध-अन्तराय वगैरह के प्रतिपक्षी हैं ज्ञानादि की भक्ति-उपासना-दान इत्यादि।

प्रतिपक्षसेवन से पूर्वरोगनाशः-यदि इन प्रतिपक्षी उपायों के आसेवन का अभ्यास किया जाए अर्थात् उनका बार बार आसेवन किया जाय तो सहज है कि मिथ्यात्वादि से उपार्जित कर्मबन्धन दूर हो जायेंगे। नियम है कि जो जिसके कारण का विरोधी है उस विरोधी

(ल०—) न चास्य कश्चिदविषय इति स्वार्थानतिलङ्घनमेव। इत्थं चैतद्, अन्यथा

के सेवन से वह क्षीण हो जाता है। उदाहरणार्थ, रोमाञ्च खड़े करने में कारणभूत है जाड़ा और इसके विरुद्ध है अग्नि; तो उस अग्नि के आसेवन से रोमाञ्चादि विकार नष्ट हो जाता है। ठीक इसी प्रकार, कर्मावरण में कारणभूत मिथ्यादर्शनादि के विरोधी है सम्यग्दर्शनादि गुणसमूह; तो उन सम्यग्दर्शनादि के आसेवन से कर्मावरण नष्ट होना युक्तियुक्त है। यहां, इस प्रकार कारण-विरुद्ध-उपलब्धि हुई; जिस प्रकार किसी प्रकाशादि वस्तु के विरुद्ध अंधकारादि पदार्थ उपलब्ध होता है तो वहां उस प्रकाशादि वस्तु का अभाव सिद्ध होता है, इस प्रकार उसके कारण के विरुद्ध पदार्थ उपलब्ध होने से भी उसका अभाव सिद्ध होता है। तो यहां कर्मकारण से विरुद्ध सम्य-ग्दर्शनादि की उपलब्धि से कर्मक्षय प्राप्त हो जाए इस में कोई संदेह नहीं।

प्र०–कर्मक्षय तो अतीन्द्रिय है, प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता नहीं है। तो फिर सम्यग्दर्शनादि से वह अवश्य होता है इस प्रकार के नियम (व्याप्ति) का निर्णय कैसे हो सकता है ?

उ०–प्रतिपक्षभूत सम्यग्दर्शनादि के सेवन से कर्मावरणों का अंशतः क्षय होता आता है यह ज्ञानादि में देख सकते हैं। ज्ञान की साधना करने के लिए पढ़ाई का परिश्रम करते हैं तो क्रमशः ज्ञानवृद्धि का अनुभव होता है। यह ज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि क्या है ? ज्ञानावरण कर्मों का बढ़ता जाता क्षय। पहले आवरण ज्यादे थे, तो ज्ञान प्रगट नहीं था; अब कुछ ज्ञान प्रगट हुआ है तब समझना चाहिए कि आवरणों का कुछ ह्रास हुआ है। तो सिद्ध होता है कि सर्वोच्च प्रतिपक्ष-सेवन से कर्मावरण बिलकुल नष्ट हो सर्वज्ञता भी उत्पन्न हो सकती है।

प्र०—ठीक है, प्रतिपक्षसेवन से अंशतः आवरण क्षय हो, क्यों कि वैसा अनुभव में आता है, लेकिन समस्त आवरणों का नाश कैसे संभवित है ? उसका निर्णय कहां से हो सकेगा ?

उ०—ओहो ! उसमें क्या दिक्कत है ? देखते हैं कि जो जिसके द्वारा अंशतः क्षीण होते हैं वे उनकी उत्कृष्ट कक्षा प्राप्त होने पर सर्वथा भी क्षीण हो जाते हैं। इसमें कोई असंभव नहीं है। दृष्टान्त से थोड़ी चिकित्सा से रोग का कुछ क्षय; और उत्कृष्ट चिकित्सा से सर्वथा रोगनाश; एवं अल्प पवन से बादल का कुछ बिखरना, और अतिशय पवन से बादल का सर्वथा अभाव, होता है। ठीक इसी प्रकार, जीव से एकरस हुए भी कर्म-आवरण, चिकित्सा से रोग की तरह, प्रतिपक्षभूत सम्यग्दर्शनादि के सेवन से क्षीण हो ही जाएँ इसमें कोई रुकावट नहीं होती। इसलिए आवरणों का सर्वथा क्षय उत्पन्न नहीं हो सकता है यह बात गलत है, युक्ति-युक्त नहीं है।

अब प्रस्तुत में, जब समस्त आवरण का क्षय हुआ तब त्रिकालवर्ती सर्व ज्ञेय पदार्थों का पूर्ण बोध प्रगट होता है, क्यों कि जीव का ऐसा स्वभाव ही है कि आवरण आमूल नष्ट हो जाने पर स्वस्वभावभूत सर्वज्ञान प्रगट हो जाए। और स्वानुभव एवं अनुमान-तर्क आदि से भी यह प्रतीत होता है कि निद्रादि आवरण के क्षयविशेष से ज्ञान का प्रकर्ष हो उठता है।

अविकलपरार्थसंपादनासम्भवः, तदन्याशयाद्यपरिच्छेदादिति सूक्ष्मधिया भावनीयम् । ज्ञानग्रहणं चादौ सर्वा लब्धयः साकारोपयोगोपयुक्तस्येति ज्ञापनार्थमिति अप्रतिहतवरज्ञानदर्शनधराः ॥२५॥

(पं०—) ततः किम् ? इत्याह ' 'न च,' 'अस्य'=ज्ञानातिशयस्य प्रकृष्टरूपस्य, 'कश्चित्' ज्ञेयविशेषः, 'अविषयः'=अगोचरः, सर्वस्य सतो ज्ञेयस्वभावानतिक्रमात्, केवलस्य निरावरणत्वेनाप्रतिस्खलितत्वात्, 'इति'=एवमुक्तयुक्त्या. 'स्वार्थानतिलङ्घनमेव', स्वार्थः प्रकृतसूत्रस्याप्रतिहतवरज्ञानदर्शनधरत्वं, तस्य अनतिलङ्घनमेव=अनतिक्रमणमेव, प्रतिहतवरज्ञानदर्शनधरत्वे हि भगवतां वितथार्थतया सूत्रस्य स्वार्थातिलङ्घनं प्रसजतीति। 'इत्थं चैतद्,' इत्थमेव=अप्रतिहतवरज्ञानदर्शनप्रकारमेव, एतद्=अर्हल्लक्षणं वस्तु; विपक्षे बाधामाह'अन्यथा'=उक्तप्रकाराभावे,'अविकलपरार्थसंपादनाऽसंभवः'अविकलस्य=परिपूर्णस्य,परार्थस्य=परोपकारस्य भगवतां, (संपादनासंभवः=) घटनाऽयोगः, कुत इत्याह 'तदन्याशयाद्यपरिच्छेदात्', तदन्येषां=पुरुषार्थोपयोगीष्टतत्त्वविलक्षणानाम्, आशयादीनाम्=अभिप्रायद्रव्यक्षेत्रकालभावानाम्, अपरिच्छेदाद्=अनवबोधात्, सकलहेयपरिज्ञाने ह्यविकलमुपादेयमवबोद्धुं शक्यं, परस्परापेक्षात्मलाभत्वाद्धेयोपादेययो, ह्रस्वदीर्घयोरिव पितृपुत्रयोरिव वेति सर्वमनवबुध्यमानाः कथमिवाविकलं परार्थं संपादयेयुरिति।

प्र०—प्रकृष्ट ज्ञान हो, किन्तु इससे सभी ज्ञेय कैसे जाने जाएँ ?

उ०—उत्कृष्ट ज्ञान प्रगट हुआ तब तो कोई भी ज्ञेय इसका विषय न हो ऐसा तो बन ही नहीं सकता। क्यों कि निखिल सत्पदार्थ जब ज्ञेय हैं तो 'ज्ञेय' का अर्थ ही यह है कि वे ज्ञानग्राह्य हैं; और जब वैसे ज्ञानग्राह्यस्वरूप का वे उल्लंघन नहीं कर सकते हैं तब वे किसी–न–किसी ज्ञान के विषय अवश्य होने ही चाहिए। तो ज्ञान, उत्कृष्ट रूप का प्रगट हो जाने से वह निखिल ज्ञेयों का अवगाहन करेगा ही। निरावरण ज्ञान की मर्यादा नहीं बांध सकते हैं कि वह उतना ही जान सकता है ज्यादा नहीं। सर्वोत्कृष्ट ज्ञान जिसे केवलज्ञान कहते हैं वह सर्व आवरण नष्ट हो जाने पर उत्पन्न होता है तो यह निरावरण होने की वजह समस्त ज्ञेयों को पहुंचने में अस्खलितगतिक है। अतः प्रस्तुत 'अप्पडिहयवरनाणदंसणधराणं' सूत्र का अर्थ जो 'अस्खलित अप्रतिहत श्रेष्ठ ज्ञान–दर्शन का धारकत्व' है उसका यहां अतिक्रमण नहीं होता है। यदि भगवान के द्वारा समस्त आवरण का क्षय न किया जा सके, एवं वे प्रतिहत यानी अपूर्ण ज्ञानदर्शन वाले ही रह जाए, तभी यह सूत्र गलत अर्थवाला हो स्वार्थ के उल्लंघन का प्रसङ्ग आ सकता है।

फलित यह होता है कि अरहंत स्वरूप वस्तु अप्रतिहतवरज्ञानदर्शन प्रकार वाली ही है। अगर वे इस प्रकार न हो तो परिपूर्ण परोपकार का संपादन नहीं कर सकते हैं; कारण, सत्पुरुषार्थ में इष्टतत्त्व की तरह इस से विलक्षण अनिष्ट का बोध भी उपयुक्त है; किन्तु ऐसे विलक्षण यानी अनिष्ट तत्त्व, और त्याज्य अभिप्राय एवं द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव, उनका वहां पूरा बोध हो नहीं हुआ होगा।

प्र०— सभी त्याज्य तत्त्वों का बोध न हुआ हो इस से क्या ? 'इष्टं तत्त्वं तु पश्यतु'—वे इष्ट तत्त्व जानें, इससे इष्ट में प्रवृत्ति करा सकेंगे न ?

उ०—ऐसा नहीं है; क्यों कि इष्ट यानी उपादेय तत्त्व पूर्णरूप से तभी जाना जाता है कि जब समस्त त्याज्य यानी हेय तत्त्वों का पूर्ण ज्ञान हो। कारण, हेय का ज्ञान और उपादेय का ज्ञान, ये दोनों ह्रस्वता-दीर्घता या पितृत्व-पुत्रत्व की तरह परस्पर सापेक्ष हैं, एक के बिना दूसरा अस्तित्व ही पा सकता नहीं है। उदाहरणार्थ असत्य किस किस प्रकार का होता है उसका ज्ञान अगर न हो, तब सत्य का यथास्थित ज्ञान कैसे हो सकेगा ? असत्य को विस्तृत रूप से न जानने के कारण शायद किसी असत्य को ही सत्य मान बैठेगा ! और मैं सत्य कहता हूं ऐसा मान कर असत्य भाषण में ही प्रवृत्त होगा। इस प्रकार, हिंसा के क्या क्या विविध स्वरूप हैं, हिंसा के विषयभूत कितने कितने प्रकार के और किस किस स्वरूपवाले जीव होते हैं, हिंसा के कौन कौन शस्त्र होते हैं, इत्यादि हेय हिंसा के बारे में संपूर्ण ज्ञान न हो तब उपादेय अहिंसा का संपूर्ण ज्ञान और पालन कैसे हो सकेगा ? एवं इष्ट तत्त्व में 'ऐसा ऐसा शुभ आशय-अध्यवसाय, एवं शुभ भावना-ध्यान करना, अमुक अमुक प्रकार के द्रव्यों का, क्षेत्रका, कालका एवं शम-दमादि भावों का आलंबन करना,'—इतना ही आयेगा, किन्तु किस किस प्रकार के असत् आशय विचारणा-वासनादि का त्याग करना, एवं कौन कौन अयोग्य द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावों का आलंबन, संसर्ग न करना, इसका ज्ञान न रहने से संपूर्ण मोक्ष-साधना का पुरुषार्थ, कि जो प्रवृत्ति-निवृत्ति उभय-संबन्धी है वह, कहां से हो सकेगा ?

तात्पर्य, परमात्मा स्वयं सर्व ज्ञेयों के ज्ञान विना लोगों को हेय-उपादेयों का यथार्थ और परिपूर्ण बोध कहां से ही करा सकेंगे ? कहां से हेय से निवर्तन और उपादेय में प्रवर्तन के रूप में परोपकार कर सकेंगे ? यह वस्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचारणा के योग्य है।

यहां 'अप्पडिहयवरनाणदंसण'...इत्यादि में दर्शन नहीं किन्तु ज्ञान पहला लिया इसका कारण यह है कि आत्मा को कर्मनाश के फलरूप में जो जो लब्धि प्राप्त होती हैं वे सभी साकार उपयोग अर्थात् ज्ञानोपयोग में वर्तमान आत्मा को प्राप्त होती हैं किन्तु निराकार अर्थात् दर्शन के उपयोग मे रहे हुए को नहीं। दर्शन में वस्तु का बोध होता है लेकिन सामान्य रूप से, इसलिए वह आकार रहित है, निराकार है, और ज्ञान वस्तुको विशेष रूपसे ग्रहण करता है, इसलिए वह आकारयुक्त यानी साकार होता है। जब आत्मा साकार अवस्थामें होती है तभी लब्धियां उत्पन्न होती हैं; तो केवलज्ञान स्वरुप लब्धि भी साकार उपयोग में उत्पन्न होगी। इसलिए यहां सूत्र में ज्ञान पहला गृहीत किया गया। इस प्रकार 'अप्पडिहयवरनाणदंसणधराणं' सूत्रकी व्याख्या हुई। २५॥

*   *   *

२६. वियट्टछउमाणं.

(ल०–आजीविकमतनिरासे छद्म किं.–) एतेष्वाजीविकनयमतानुसारिभिर्गोशाल (प्र०–....गोशालक)शिष्यैस्तत्त्वतः खल्वव्यावृत्तच्छद्मान एवेष्यन्ते 'तीर्थनिकारदर्शनादागच्छन्ती' ति वचनात्। एतन्निवृत्त्यर्थमाह 'वियट्टच्छउमाणं'–व्यावृत्तछद्मभ्यः। छादयतीति छद्म घातिकर्म्माभिधीयते ज्ञानावरणादि, तद्बन्धयोग्यतालक्षणश्च भवाधिकार इति, असत्यस्मिन्कर्म्मयोगाभावात्। अत एवाहुरपरे 'असहजाऽविद्ये'ति (प्र०....सहजा विद्येति)। व्यावृत्तं छद्म येषां, ते तथाविधा इति विग्रहः।

(पं०–) 'तद्बन्धे'त्यादि, तस्य=ज्ञानावरणादिकर्म्मणो, बन्धयोग्यता=कषाययोगप्रवृत्तिरूपा, लक्षणं =स्वभावो, यस्य स तथा। चकारः समुच्चये भिन्नक्रमश्च। ततो भवाधिकारश्च छद्मकारणत्वाच्छद्मोच्यते। कुत इत्याह 'असती'त्यादि, सुगमं चैतद्। 'अत एव'=भवाधिकाराभावे कर्मयोगाभावादेव, 'आहुः'=ब्रुवते, 'अपरे'=नीर्थ्याः, 'असहजा'=जीवेनासहभाविनी, जीवस्वभावो न भवतीत्यर्थः, 'अविद्या'=कर्म्मकृतो बुद्धिविपर्यासः, कर्मव्यावृत्तौ तद्व्यावृत्तेः। 'इति'=एवं कार्यकारणरूपं, 'व्यावृत्तंछद्म येषामि'त्यादि सुगमं चैतत्। नवरं,

---

आजीविकमते परमात्मा में घाती कर्म रूप छद्म :–

अब 'वियट्टछउमाणं' पदकी व्याख्या। गोशालक के शिष्य जो 'आजीविक' नाम के नयमत के अनुसरण करने वाले हैं, वे मानते हैं कि 'परमात्मा परमार्थ से छद्म रहित नहीं होते हैं, क्यों कि वे धर्मतीर्थ का विप्लव देख कर यहां आते हैं, ऐसा शास्त्रवचन है। इससे सूचित होता है कि यहां आना, तीर्थरक्षार्थ देह धारण कर यत्न करना, यह बिना छद्म नहीं हो सकता है, तो परमात्मा सर्वथा छद्मशून्य नहीं होता है।'

छद्म दो प्रकार के : सूत्र का अर्थ :–

इस मत का निरसन करने के लिए कहा 'वियट्टछउमाणं', छद्म से सर्वथा रहित अरहंत परमात्मा को मेरा नमस्कार हो। छद्म का अर्थ है जो छादन करे; ऐसा है ज्ञानावरणादि घाती कर्म और भवाधिकार। (१) ज्ञानावरणादि कर्म छद्म इसलिए हैं कि वे आत्मा में ज्ञानादि गुणों का आच्छादन कर देते हैं। ज्ञानावरण कर्म ज्ञान का, दर्शनावरण कर्म दर्शन का, मोहनीय कर्म सम्यग्दृष्टि और वीतरागता का, एवं अन्तराय कर्म वीर्यादि लब्धियों का आच्छादन करते हैं, इसी लिए वे छद्म एवं घाती कर्म भी कहलाते हैं। (२) भवाधिकार यह छद्म इसलिए है कि वह है कर्मबन्धन की योग्यता स्वरूप। ऐसी योग्यता और कोई चीज नहीं, मात्र क्रोधादि कषायप्रवृत्ति और मन-वचन-कायादि योगों की प्रवृत्ति ही है। तो ये प्रवृत्तियाँ कर्म रूप छद्म के कारण होने के नाते छद्म हैं। तो ऐसी प्रवृत्ति स्वरूप योग्यता यानी भवाधिकार भी छद्म हुआ। कषाय-योग-प्रवृत्ति रूप भवाधिकार के बजाय कर्मों का आत्मा के साथ संबन्ध नहीं हो सकता है।

(ल०-मोक्षान्निवृत्त्यसंभवः भव्यानुच्छेदश्च-) नाक्षीणे संसारेऽपवर्गः। क्षीणे च जन्मपरिग्रह इत्यसत्, हेत्वभावेन सदा तदापत्तेः। न तीर्थनिकारो हेतुः, अविद्याऽभावेन तत्संभवाभावात्, तद्भावे च छद्मस्थास्ते, कुतस्तेषां केवलमपवर्गो वेति भावनीयमेतत्।•न चान्यथा भव्योच्छेदेन संसारशून्यतेत्यसदालम्बनं ग्राह्यम्, आनन्त्येन भव्योच्छेदासिद्धेः,अनन्तानन्तकस्यानुच्छेदरूपत्वाद् अन्यथा सकलमुक्तिभावेनेष्टसंसारिवदुपचरितसंसारभाज सर्वसंसारिण इति बलादापद्यते, अनिष्टं चैतदिति। व्यावृत्तच्छद्मान इति ।२६। एवमप्रतिहतवरज्ञानदर्शनधरत्वेन व्यावृत्तच्छद्मतया चैतद्रूपत्वात् स्तोतव्यसम्पद् एव सकारणा स्वरूपसम्पदिति। ७. संपत्।

(पं०-) 'न चान्यथे'ति, न च=नैव, अन्यथा=मोक्षात्पुनरिहागमनाभावे। 'इष्टसंसारिवदि'ति= मोक्षव्यावृत्तविवक्षितगोशालकादिसंसारिवत्।

इसीलिए अन्य दर्शन वाले भी कहते हैं कि 'सहजा विद्या' 'असहजा अविद्या,' अर्थात् तात्त्विक ज्ञान यह जीव का स्वभाव है, सहज स्वरूप है, और कर्मकृत बुद्धि-विपर्यास जीव का असली स्वभाव नहीं है, जीववस्तु के साथ ही रहने वाला धर्म नहीं है, क्यों कि कर्म की निवृत्ति होने पर उसकी निवृत्ति हो जाती है। यदि जीव का वह स्वभाव हो तो जीव रहते हुए उसकी निवृत्ति कैसे हो सके ? तात्पर्य, कर्म और अविद्या का कार्यकारण-भाव है; तो कर्मरूप छद्म अनिवार्य है। अतः निवृत्त हुआ है छद्म जिनका, वे व्यावृत्तछद्म-'वियट्टछउम' हुए। यह 'वियट्टछउम' यानी व्यावृत्तछद्म इस समासपद का विग्रह हुआ।

आजीविकमत का खंडनः कैवल्य-मोक्ष का असंभवः—

अब आजीविक जो मानते हैं कि परमात्मा से छद्म यानी घाती कर्मों का आत्यन्तिक उच्छेद नहीं हो सकता है, यह मत इस लिए यथार्थ नहीं है, कि-यदि परमात्मा का संसार क्षीण नहीं है तो उनका मोक्ष भी नहीं हो सकता है। लेकिन परमात्मा को मुक्त न मानना यह तो एक प्रकार का साहस होगा! तो शायद कहेंगे, 'हां, उनका संसार क्षीण हो गया है,' तब तो जन्म लेना यह बिलकुल असंगत हो जाता है, क्यों कि जन्म पाने के कोई कारण उनके पास रहते नहीं हैं। और अगर बिना कारणसामग्री भी जन्म की बात कहेंगे तो ऐसा निर्हेतुक जन्म सदा ही पाते रहेंगे!। नहीं, कहेंगे कि 'तीर्थ का पराभव यह जन्म में हेतु है, तीर्थपराभव हो सभी जन्म लेते हैं', तो यह भी ठीक नहीं, क्यों कि उनको अविद्या न होने से जन्मप्राप्ति असंभवित ही है। संसार में जन्म और अविद्या का निश्चित कार्यकारणभाव है, इससे कारण-भूत अविद्या के बिना कार्य जन्म कैसे हो ? अगर कहिये अविद्या उनमें विद्यमान है, तो वे छद्मस्थ सिद्ध होंगे! और ऐसी स्थिति में उन्हें केवलज्ञान या मोक्ष कहां से हो सकता है ? यह विचारणीय है।

प्र०-संसार से सभी भव्यों का उच्छेद क्यों नहीं यदि भव्यजीव छद्म का संपूर्ण नाश कर सकते हैं, और मोक्ष पा सकते हैं ? तो मोक्ष में से संसार में वापस लौटने वाले आजीविक-

मतमान्य गोशालक आदि की तरह वे भी वापस संसार में नहीं लौट सकेंगे। फिर संसार समस्त भव्यों से शून्य क्यों न हो?

उ०—ऐसा असत् आलम्बन मत ग्रहण करना, कारण कि संसार में भव्य जीव इतने अनन्तानन्त है कि समस्त भव्य जीवों का संसार से उच्छेद यानी निकल जाना यह असिद्ध है। ऐसे अन्तानन्त का मतलब ही यह है कि उच्छेद कभी न हो अर्थात् वह अनुच्छेद स्वरूप हो ऐसा अनन्तानन्त।

सर्वभव्योच्छेद मानने में आपत्ति :—सकल भव्यों का उच्छेद कभी नहीं होता है ऐसा अगर आप नहीं स्वीकार करते हैं तो आपसे यह प्रश्न है कि जैसे आप को अभिप्रेत परमात्मा पुनः संसार में आते हैं और वे औपचारिक संसारी बनते हैं; इस प्रकार आज के समस्त भव्य जीव भी संसार में पुनरागमन किये हुए औपचारिक संसारी है वैसा क्यों न माना जाए? आप शायद पूछेंगे कि 'सभी का मोक्ष कहां हुआ है कि पुनरागमन का प्रश्न ही उठे?' लेकिन देखिए, काल अनादि है अर्थात् इसका प्रारम्भ नहीं है, तो अनादि काल से मुक्तिगमन चालू है इतने विराट अनवधि काल में तो आप के मत से अनन्तानन्त यह उच्छेद्योग्य होने पर सबों का मोक्ष हुआ होना चाहिए। पीछे पुनरागमन और औपचारिक संसारी मानने की आपत्ति क्यों न उपस्थित हो? और ख्याल रखिए कि इष्टापत्ति नहीं कर सकते हैं क्यों कि वह अनिष्ट है; कारण यह है कि वीतराग नहीं ऐसे वर्तमान संसारी भव्य जीव तो अविद्या में फँसे हुए कई दुष्टता वाले और दुःखमस्त हैं, वे कैसे औपचारिक संसारी माने जाएँ। औपचारिक संसारी में तो केवल तीर्थनाश के प्रतिकार के अलावा विषयवासना, हिंसा-झूठ-बदमासी वगैरह कुछ भी न हो सके न? तो विद्यमान भव्य जीवों को वैसे नहीं किन्तु वास्तविक संसारी मानना होगा, और वे यदि अतीत अनन्त काल मे भी मोक्ष नहीं पाएँ तो फलतः यही प्राप्त होता है कि भव्य इतने अनन्तानन्त है कि उन समस्त का संसार से कभी उच्छेद न हो सके। आज तक व्यतीत हुए अपरिमीत अगण्य काल में अगर सर्व भव्यों की मुक्ति नहीं हुई है, तो अब से आगे जितना भी काल जाएगा वह तो परिमित, गिनती वाला ही होगा, उसमें सर्व भव्यों की मुक्ति कैसे संभवित हो सके? इस प्रकार २६वे 'वियट्टछउमाणं' पद की व्याख्या हुई।

इस रीति से अप्रतिहत श्रेष्ठ ज्ञान-दर्शन धरने वाले होने से और छद्मशून्य होने के कारण ये अर्हद् भगवान स्तोतव्य रूप है, इसलिए यह ७वीं स्तोतव्यसंपदा की ही कारणयुक्त स्वरूपसंपदा हुई।



२७. जिणाणं जावयाणं (जिनेभ्यः जापकेभ्यः)

(ल०—कल्पिताविद्याप्ररूपकतत्त्वान्तवादिमतखण्डनम्—) एतेऽपि कल्पिताविद्यावादिभिस्तत्त्वान्तवादिभिः परमार्थेनाजिनादय एवेष्यन्ते 'भ्रान्तिमात्रमसदविद्ये'ति वचनाद्, एतद्व्यपोहायाह 'जिणाणं जावयाणं'—जिनेभ्यः जापकेभ्यः ।

(पं०—) 'तत्त्वान्तवादिभि'रिति, तत्त्वान्तं तत्त्वनिष्ठारूपं निराकारं स्वच्छसंवेदनमेव वस्तुतया वदितुं शीलं येषां ते तथा तैः । एते च सुगतशिष्यचतुर्थप्रस्थानवर्त्तिनो माध्यमिका इति सम्भाव्यते; तेषामेव निराकारं स्वच्छसंवेदनमात्रमन्तरेण सर्वस्यान्तरगणा भ्रान्तिमात्रतया एकान्तत एवासत्त्वाभ्युपगमात् । तथा च सौगतप्रस्थानचतुष्टयलक्षणमिदं, यथा·

'अर्थो ज्ञानसमन्वितो मतिमता वैभाषिकेणोच्यते, प्रत्यक्षो न हि बाह्यवस्तुविसरः सूत्रान्तिकैराश्रितः।
योगाचारमतानुगैरभिहिता साकारबुद्धिः परा, मन्यन्ते बत मध्यमाः कृतधियःस्वच्छां परां संविदम्॥

इति । 'प्रत्यक्षो न हि बाह्यवस्तुविसर' इति, यतोऽसावालम्बनप्रत्ययत्वेन स्वजन्यप्रत्यक्षज्ञानकाले क्षणिकत्वेन व्यावृत्तत्वात् तज्ज्ञानगतनीलाद्याकारान्यथानुपपत्तिवशेन पश्चादनुमेय एव, प्रत्यक्षस्तु तज्ज्ञानस्य स्वांशैव, स्वसंवेदनरूपत्वादिति । तथा तैरपि बुद्धो जिनत्वेनाभ्युपगम्यते; तदुक्तम्—

शौद्धोदनिर्दशबलो बुद्धः शाक्यस्तथागतः सुगतः । मारजिदद्वयवादी समन्तभद्रो जिनश्च सिद्धार्थः ॥'

इति । (प्र० जिनश्च तुल्यार्थाः)

कल्पित अविद्या के प्ररूपक तत्त्वान्तवादी का मत :—

अब 'जिणाणं जावयाणं' पद की व्याख्या । ऐसे भी परमात्मा वस्तुगत्या अ–जिन आदि ही होने हैं–ऐसा कल्पित अविद्या को मानने वाले 'तत्त्वान्त'वादि को इष्ट है, क्यों कि उसके शास्त्र का वचन है कि 'भ्रान्तिमात्रम् असदविद्या' स्वच्छ निराकार संवेदन को छोड़कर और सभी संवेदन एक भ्रान्तिमात्र है, एकान्ततः असत अविद्या के रूपक हैं। इसलिए परमात्मा अब अजिन से जिन यानी रागद्वेष को जितने वाले एवं अतीर्ण से तीर्ण–तैरने वाले इत्यादि हुएँ, ऐसा नहीं बन सकता । जब तर्क के पथ पर एक स्वच्छ निराकार संवेदन मात्र ही सत सिद्ध होता है, वस्तुस्थिति से तत्त्व है, तब राग–द्वेषादि असत फलित होता है, भ्रान्ति मात्र है, तो उनका जय वगैरह भी अवस्तु सिद्ध होता है । इसी प्रकार परमात्मा कभी जिन इत्यादि सिद्ध नहीं होसकते हैं ।

'तत्त्वान्त' का अर्थ माध्यमिक का यह मत —तत्त्वान्त यह तत्त्व की निष्ठा यानी चरम सीमा रूप है; अर्थात अन्तिम तर्कशुद्ध वास्तव पदार्थ, किन्तु काल्पनिक नहीं । वह कौन ? निराकार स्वच्छ संवेदन । ' निराकार ' यानी किसी विषय के आकार से शून्य ज्ञान; क्यों कि वास्तव में कोई विषय है ही नहीं । 'स्वच्छ' यानी अत्यन्त निर्मल । ऐसा संवेदन यानी ज्ञान यही वास्तव में एक तत्त्व है,–इस प्रकार कहने वाले तत्त्वान्तवादी हैं । और ये बुद्ध–शिष्यों

के चतुर्थ प्रधानवर्ती–चौथी शाखा वाले माध्यमिक लोग होने की संभावना हैं; क्यों कि उन को स्वच्छ निराकार संवेदन के अलावा अन्य सभी संवेदन भ्रान्ति रूप, एवं इसी से असत अवास्तविक कर के अभिप्रेत हैं। बौद्ध मत की चार शाखाओं के लक्षण इस प्रकार कहे गए हैं :-

बौद्ध की ४ शाखाएँ :—(१) बुद्धिमान 'वैभाषिक' नाम की शाखा वाले कहते हैं कि जैसा आभ्यन्तर ज्ञान प्रतीत होता है इसके अनुसार बाह्य पदार्थ भी सत् है; क्यों कि बिना बाह्य पदार्थ शुद्ध ज्ञान मात्र से खान-पान, ग्रहण-त्याग, इत्यादि व्यवहार नहीं हो सकता है। (२) 'सौत्रान्तिक' शाखा वाले कहते हैं कि बाह्य पदार्थ है सो सही, किन्तु वे अतीन्द्रिय हैं, किन्तु वैभाषिक मानते हैं उस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय नहीं हैं; क्यों कि वे क्षणिक होने की वजह इन्द्रिय-संपर्क होते ही प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होने के पूर्व ही नष्ट हो जाते हैं तो प्रत्यक्ष ज्ञान जो विषय समकाल ही उत्पन्न होता है उससे कैसे जाने जाएँ? वे तो ज्ञान के संवेदन पर से कल्पनीय यानी अनुमेय होते हैं कि 'ऐसा आभ्यन्तर नीलादि आकार का संवेदन ऐसे नीलादि अर्थ के बिना हो नहीं सकता, इसलिए वैसे नीलादि अर्थ बाह्य सत् होने चाहिए।' इस मत में प्रत्यक्ष तो सिर्फ उस ज्ञान का स्वस्वरूप ही है। (३) 'योगाचार' नाम की तीसरी शाखा वालों का कथन यह है कि बाह्य अर्थ जैसी कोई चीज है ही नहीं; क्यों कि उपलब्धि के समकाल में ही वे दीखते है, बिना उपलब्धि कोई भी पदार्थ प्रतीत नहीं होता है; इसलिए विज्ञान मात्र ही सत् है और दीखता अर्थ तो उसका आकार मात्र है। योगाचार मत ज्ञान को साकार मानता है। (४) 'माध्यमिक' शाखा वाले बुद्धि का उपयोग कर मानते हैं कि एक मात्र शुद्ध स्वच्छ संवित्ति यानी निराकार ज्ञान ही सत है, और सभी दृश्यमान साकार ज्ञान एवं बाह्य पदार्थ असत् हैं, क्यों कि वे होने में कई विरोध, अनुपपत्ति वगैरह बाधक हैं।

चारों ही शाखा क्षणिकवादी तो है ही, लेकिन पहली दो शाखाएँ बाह्य अर्थ मानती हैं तो वे बौद्धमतप्रणेता बुद्ध को सत मानती हैं और बौद्ध के कई नाम बताती हैं, जैसे कि,—शौद्धोदनि, दशबल, बुद्ध, शाक्य, तथागत, सुगत, मारजित, अद्वयवादी, समन्तभद्र, जिन और सिद्धार्थ। अब इनमें 'जिन' शब्द भी उल्लिखित होने से वैभाषिक-सौत्रान्तिक को बुद्ध जिन है ऐसा स्वीकृत है। योगाचार-मत वालों को साकार ज्ञान मान्य है तो साकार जिन भी ज्ञान रूप से स्वीकार्य होना मालूम पड़ता है। साकार में पहले रागद्वेषादि के अशुद्ध आकार थे, अब उनका विजय कर वीतरागतादि शुद्ध आकार प्रगट हुए। लेकिन माध्यमिकमत वालों को शुद्ध निराकार ज्ञान मान्य होने से रागादि के आकार ही वस्तुरूप से मान्य नहीं हैं तो उनको जितना क्या? अतः 'जिन' 'तीर्ण' आदि भी मान्य नहीं है।"

यहां तत्त्वान्तरवादी के मत के खण्डन में अरहंत प्रभु को 'जिणाणं जावयाणं'...इत्यादि विशेषण दिये जाते हैं। 'जिणाणं जावयाणं' का अर्थ है जिन के प्रति और जापक यानी जिन बनाने वालों के प्रति मेरा नमस्कार हो।

(ल०-भ्रान्तिर्न निर्निमित्तकाः—) तत्र रागद्वेषकषायेन्द्रियपरीषहोपसर्गघातिकर्मजेतृत्वाज्जिनाः। न खल्वेषामसतां जयः, असत्त्वादेव हि सकलव्यवहारगोचरातीतत्वेन जयविषयताऽयोगात्। भ्रान्तिमात्रकल्पनाप्येषामसङ्गतैव, निमित्तमन्तरेण भ्रान्तेरयोगात्।

(पं०—) 'ने'त्यादि, न खलु=नैव, एषां=रागादीनाम्, 'असताम्'=अविद्यमानानां, 'जयो'=निग्रहः कुत इत्याह 'असत्त्वादेव'=अविद्यमानत्वादेव, 'हि'=स्फुटं, सकलव्यवहारगोचरातीतत्वेन=निग्रहानुग्रहादिनिखिललोकव्यवहारयोग्यतापेतत्वेन वान्ध्येयादिवत्, 'जयविषयताऽयोगात्'=जयक्रियां प्रति विषयभावायोगात्। अभ्युच्चयमाह 'भ्रान्तिमात्रकल्पनापि' भ्रान्तिमात्रमसदविद्यमानमितिवचनात्, न केवलं जय इति 'अपि' शब्दार्थः, 'एषां'=रागादीनाम्, 'असङ्गतैव'=अघटमाना (एव), कुत इत्याह 'निमित्तं' जीवापृथक्कर्मरूपम्, 'अन्तरेण'=विना, भ्रान्तेरयोगात्।

बिना निमित्त भ्रान्ति कैसे ? :—'जिणाणं' यानी जिन के प्रति, इस में 'जिन' जो होते हैं वे रागद्वेष, क्रोधादि कषाय,काम-हास्य, शोक-हर्ष-उद्वेग-भय-जुगुप्सा स्वरूप नोकषाय, इन्द्रिय, क्षुधादि परिसह, देवादि के उपसर्ग (उपद्रव), और ज्ञानावरणादि घाती कर्मों पर विजय प्राप्त कर के होते हैं। विजय प्राप्त करने का अर्थ यह है कि इनका निग्रह करना, रागादि को उठने न देना, हर्षादि को उठने न देना, इन्द्रियों को विषयाकृष्ट न होने देना, कैसे भी परिसह -उपसर्गों को प्रसन्नता से कर्मक्षयार्थ सहन कर लेना, तात्पर्य, इन रागादिको वश न होना, इनसे स्वात्मा को बिलकुल विकृत न होने देना, स्वात्मा की तत्त्वदृष्टि-विरक्तता-शुभाध्यवसाय-विरतिभाव-समता-समाधि-शुभध्यान इत्यादि को अविचलित रखना। अब जैसे तत्त्वान्तवादी कहते हैं इस प्रकार, यदि ये रागादि बिलकुल असत् ही होते, तो इनका निग्रह करने की बात ही क्या ? क्यों कि असत् अर्थात् अविद्यमान होने से ही इसके पर निग्रह-अनुग्रहादि कोई भी लोकव्यवहार होने की योग्यता ही नहीं है, जिस प्रकार वन्ध्यापुत्र है ही नहीं, तो इसका निग्रह-अनुग्रह क्या ? अमत् यह निग्रहानुग्रहादि को योग्य न होने से असत् रागादि तो, ये जय के विषय ही नहीं बन सकते है। लेकिन रागादि का निग्रह करना, यह तो आप भी कहते हैं। इसलिए सारांश यह है कि 'भ्रान्तिमात्रम् असत्' इस वचन से रागादि और इनके निग्रह को शुद्ध भ्रान्ति रूपता की कल्पना करना यह सरासर असङ्गत ही है। रागादि ये भ्रान्ति है यहभी आप कैसे कह सकते हैं ? क्यों कि भ्रान्ति होने में कोई निमित्त चाहिए। जीव से पृथक् कर्म स्वरूप कोई निमित्त अगर हो तभी उस कर्म वश भ्रान्ति बन सकती है। बिना किसी निमित्त यदि भ्रान्ति बनती रहे तो उसको शाश्वत होते रहने में कौन रोक सकता है ? फलतः कभी किसीका मोक्ष हो ही नहीं सकेगा।

असत् या चैतन्य को भ्रान्ति का निमित्त होने में बाधा :—

अगर आप कहें 'कोई असद् वस्तु ही प्रस्तुत भ्रान्ति का निमित्त है,' तो यह भी युक्तियुक्त नहीं, क्यों कि असद् वस्तु का अर्थ तो, कोई वस्तु ही नहीं,-ऐसा होगा, और इससे

(ल०–मृगतृष्णिकाजलानुभवोऽपि न सर्वथा अवस्तु–) न चासदेव निमित्तम्, अतिप्रसङ्गात्; चितिमात्रादेव तु तदभ्युपगमेऽनुपरम इत्यनिर्मोक्षप्रसङ्गः। तथापि तदसत्त्वेऽनुभवबाधा। न हि मृगतृष्णिकादावपि जलाद्यनुभवोऽनुभवात्मनाप्यसन्नेव।

(पं०–) पराशङ्कापरिहारायाह 'न च'=नैव, 'असदेव' न किञ्चिदेवेत्यर्थः 'निमित्तं'. प्रकृतभ्रान्तेः। हेतुमाह 'अतिप्रसङ्गात्'='नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वाऽहेतो'रिति प्राप्तेरिति। पुनरप्याशङ्कयाह 'चितिमात्रादेव'= चैतन्यमात्रादेव, 'तु'=पुनः, स्वव्यतिरिक्तकर्मलक्षणसहकारिरहितात्, 'तदभ्युपगमे'=भ्रान्तिमात्राभ्युपगमे, 'अनुपरमो'=भ्रान्तिमात्रस्यानुच्छेदो,अभ्रान्तज्ञानेष्वपि भ्रान्तिनिमित्ततया परिकल्पितस्य चितिमात्रस्य भावात्, ततः किमित्याह 'इति'=एवम्, 'अनिर्मोक्षप्रसङ्गः'=संसारानुच्छेदापत्तिः, चितिमात्रस्य मोक्षेऽपि भावात्। अभ्युपगम्यापि दूषणमाह 'तथापि'=चितिमात्रादेव भ्रान्तिमात्राभ्युपगमेऽपि, 'तदसत्त्वे'=भ्रान्तिमात्रासत्त्वे, 'अनुभवबाधा' तस्य स्वयं संवेदनं न प्राप्नोतीति, न ह्यसच्छशशृङ्गाद्यनुभूयत इति। एनामेव व्यतिरेकतः प्रतिवस्तूपन्यासेन भावयन्नाह 'न हि मृगतृष्णिकादावपि'=मरुमरीचिकाद्विचन्द्रादावपि मिथ्यारूपे विषये, आस्तां सत्यामिमते जलादौ, 'अनुभवः'=तज्ज्ञानवृत्तिः, 'अनुभवात्मनापि'=ज्ञानात्मनापि,'असन्नेव' सविषयतया तु स्यादप्यसन्निति 'अपि' शब्दार्थः।

इस प्रकार अतिप्रसङ्ग लगेगा कि कोई हेतु न होने से भ्रान्ति सदा बनी रहेगी या कभी भी नहीं होगी। फिर भी शङ्का हो सकती है कि 'शुद्ध चैतन्य मात्र से,–अर्थात् अतिरिक्त कर्म स्वरूप सहकारी कारण से रहित चैतन्य से,–सभी भ्रान्ति क्या न हो सके?' लेकिन ऐसा अगर स्वीकार किया जाए, तो भ्रान्ति के निमित्त रूप से स्वीकृत शुद्ध चैतन्य शाश्वत होने से भ्रान्तिमात्र का कभी उच्छेद ही नहीं होगा, वह भी सदा बनी रहेगी। इससे जीव के संसार का भी कभी उच्छेद नहीं होगा, तो कभी मोक्ष भी नहीं हो सकेगा। जिस अवस्था को आप मोक्ष कहने को जाएँगे वहा भी चैतन्य रूप निमित्त विद्यमान होने से भ्रान्ति रूप कार्य बना रहेगा; तो वह तो तात्त्विक मोक्ष ही नहीं।

मृगजल का अनुभव असत् नहीं :—अथवा मान भी ले कि चैतन्य के ही कारण भ्रान्तिमात्र होती है, तब भी प्रश्न होगा कि वह सत् है या असत्? सत मान सकते नहीं; और वह असत् नहीं हो सकती क्यों कि वह अनुभवगम्य है,–रागादिरूप इस भ्रान्ति का स्वयं संवेदन तो होता है अगर भ्रान्ति असत अलीक है, तो जिस प्रकार असत् शशशृङ्ग। (खरहे के सींग) आदि अनुभव में नहीं आते हैं इस प्रकार वह अनुभव में कैसे आए? इस भ्रान्ति–वस्तु को उलटे रूप से देखे तो प्रतिपक्ष दृष्टान्त मिलता है,–सत्य रूप से गृहीत जल के अनुभव की तो क्या बात, लेकिन असत् मृगजल का भी जो भ्रान्ति रूप दर्शन होता है वह अनुभव कुछ वस्तु नहीं ऐसा नहीं है, अर्थात् अनुभव रूप से असत् नहीं है। एवं मोतीबिन्दु वाले को सञ्जात मिथ्या द्विचन्द्रादि का ज्ञान ज्ञानरूप से असत् नहीं है। अलबत्ता ज्ञान का विषय तो मिथ्या, अलीक, असत् है, अर्थात् वह मृगजल–द्विचन्द्रादि तो कुछ वस्तु नहीं है· लेकिन उसका जो

(ल०-भ्रान्तिकारणान्यपि नावस्तु-)आविद्वदङ्गनादिसिद्धमेतत्। न चायं पुरुषमात्रनिमित्तः, सर्वत्र सदाऽभावानुपपत्तेः। नैवं चितिमात्रनिबन्धना रागादय इति भावनीयम्। एवं च तथाभव्यत्वादिसामग्रीसमुद्भूतचरणपरिणामतो रागादिजेतृत्वादिना तात्त्विकजिनादिसिद्धिः। २७।

(पं०-)'आविद्वदङ्गनादिसिद्धमेतत्' सर्वजनप्रतीतमित्यर्थः। अत्रैव विशेषमाह 'न च' 'अयं'=मृगतृष्णिकाद्यनुभवः, 'पुरुषमात्रनिमित्तः', पुरुषमात्रं=पुरुष एव तदनुभववान् स्वव्यतिरिक्तरविकरादिकारणनिरपेक्षो निमित्तं=हेतुर्यस्य स तथा। कुत इत्याह 'सर्वत्र' क्षेत्रे द्रष्टरि वा, 'सदा'=सर्वकालम्, 'भावानुपपत्तेः'=अनुपरमप्राप्तेः। प्रस्तुतयोजनमाह, 'न' नैव, 'एवं'=मृगतृष्णिकाद्यनुभववत्, 'चितिमात्रनिबन्धना रागादयः', किन्तु चैतन्यव्यतिरिक्तपौद्गलिककर्मसहकारिनिमित्ताः, 'इति भावनीयं'=प्रागवदस्य भावना कार्या।

ज्ञान हो रहा है वह कुछ वस्तु नहीं है, ऐसा नहीं, ज्ञानवस्तु तो ज्ञान रूप से विद्यमान है, सत् है, हां, अपने विषय के सहित वह क्या है, तो कि असत् है, भ्रान्तिरूप है।

मृगजलानुभव के कारण भी असत् नहीं :-मृगजलानुभव विद्वान से ले कर एक साधारण अबला तक को सिद्ध है अर्थात् सर्वजनप्रसिद्ध है। यह अनुभव के सद्भाव उपरान्त और भी यह विशेष है कि ऐसा नहीं कि-मृगजल का अनुभव उस अनुभव करने वाले पुरुष मात्र की वजह ही होता है, और पुरुष से अतिरिक्त रविकिरणादि कारणों की यहां कोई अपेक्षा नहीं,' क्यों कि तब तो ऐसा अनुभव सर्व क्षेत्र में या सर्व द्रष्टा पुरुष को सदा होता ही रहेगा, कभी वह उपरत ही नहीं होगा। किन्तु सदा और सर्वत्र ऐसा मृगजलानुभव होता रहता नहीं है। वह अनुभव तो जब और जहां रविकिरणादि निमित्त मिले, तब और वहीं होता है। इसलिए सिद्ध होता है कि रविकिरणादि सत् निमित्त की उसे अपेक्षा है। बस, इसी मृगजलानुभव की तरह रागादि भी चैतन्य मात्र की वजह ही उत्पन्न नहीं होते हैं, किन्तु उनको रविकिरणादितुल्य चैतन्यातिरिक्त पौद्गलिक कर्म स्वरूप सहकारी सत् निमित्तों की भी अपेक्षा रहती है, ऐसी पूर्ववत् आलोचना करनी चाहिए। तो चैतन्य की माफिक रागादि-अनुभव, कर्म, इत्यादि सत् सिद्ध होते हैं, असत् नहीं। फलतः उन पर विजय भी असत् नहीं।

इसलिए तथाभव्यत्व प्रमुख सामग्री वश उत्पन्न होने वाली चारित्र की यानी विरतिभाव की परिणति से रागादि का निग्रह कर देना, इत्यादि वस्तु भ्रान्तिरूप नहीं किन्तु वास्तविक है और इनके जरिए वास्तविक जिन, तीर्ण आदि सिद्ध होते हैं। तो परमात्मा में तात्त्विक जिनपन आदि की सिद्धि हुई ॥ २७ ॥

जिस प्रकार भगवानने अपने रागादि को पराजित कर दिया, वैसे औरों को रागादिनिग्रह कराते हैं।



२८. तिण्णाणं तारयाणं (तीर्णेभ्यस्तारकेभ्यः)

(ल०–कालाधीनावर्तवादिमतनिरासः–) एते चावर्त्तकालकारणवादिभिरनन्तशिष्यैर्भावतोऽतीर्णादय एवेष्यन्ते, 'काल एव कृत्स्नं जगदावर्त्तयती'तिवचनात् । एतन्निरासायाह 'तीर्णेभ्यस्तारकेभ्यः' । ज्ञानदर्शनचारित्रपोतेन भवार्णवं तीर्णवन्तस्तीर्णाः । नैतेषां जीवितावर्त्तवद् भवावर्त्तो, निबन्धनाभावात् ।

(पं०–) 'एते चावर्त्तकारणकालवादिभि'रिति, आवर्त्तस्य=नरनारकादिपर्यायपरिवर्त्तरूपस्य, काल एव, कारणं=निमित्तमिति, (वादिभिः=)वावदूकैः। 'तीर्णाः'। 'नैतेषामि'त्यादि. न=नैव, एतेषां=तीर्णानां, 'जीवितावर्त्तवत्,' जीवितस्य प्रागनुभूतस्य 'आवर्त्तवत्'=पुनर्भवनमिव. 'भवावर्त्तो' भवस्य कर्माष्टकोदयलक्षणस्य क्षीणस्य, आवर्त्तः प्रागुक्तरूप, कुत इत्याह 'निबन्धनाभावात्'. निबन्धनस्य=हेतोर्वक्ष्यमाणस्य अभावात् ।

अनन्तमत : संसारावर्त कालाधीन ही है ? :–

अब 'तिण्णाणं तारयाणं' पद की व्याख्या। 'अनन्त'नामक वादी के शिष्य मानते हैं कि परमात्मा वस्तुगत्या तीर्ण-तैरे हुए नही होते हैं, अतीर्ण ही रहते हैं;' क्यो कि वे 'काल एव कृत्स्नं जगदावर्त्तयति' ऐसे अपने शास्त्रवचन मे कहते हैं कि "सारे जगत का परिवर्तन काल ही करता रहता है। इसलिए जीव की नरत्व, नारकत्व, इत्यादि अवस्थाओं का परिवर्तन भी काल करता ही है। तो जीव का इन अवस्थाओं से बिल्कुल पार हो जाना कैसे शक्य है कि जहां यावत्काल ऋतुओ की तरह नरत्वादि पर्यायो का परिवर्तन रहेगा ही ?"

अनन्तमतखण्डन : मुक्त को निमित्त के अभाव से भव नहीं :—

इस मत के निरसन हेतु 'तिण्णाणं तारयाणं' यह विशेषण भगवान को दिया गया। इसका अर्थ है भवसागर को तैरने वालो और तैराने वालों के प्रति मेरा नमस्कार हो। यह तैराना सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र स्वरूप जहाजों के आलम्बन से हो सकता है, क्यों कि अज्ञान-मिथ्यात्व-कषायों से जन्य ऐसा संसार इनके प्रतिपक्ष से अन्त पा जाए, इसमें कोई विवाद नही। अर्हत् परमात्माने ज्ञानादि की उत्कृष्ट साधना की है, इससे वे संसारसमुद्र को पार कर गए हैं। अब तीर्ण हो गए उनको जिस प्रकार पहले भुक्त किये गए जीवित का आवर्त यानी पुनर्भवन नहीं होता है, इस प्रकार ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के उदय स्वरूप संसार क्षीण हो जाने से उनका भव में पुनर्भवन नहीं हो सकता है क्यो कि भवावर्त का, आगे कहेंगे वह, कारण भगवान के संनिधान मे है ही नहीं।

मुक्ति और भवाधिकार परस्पर विरुद्ध है। कारण यह है कि भव पार कर गए तीर्थंकर देव को अब जैसे संसार की नारकादि किसी गति का आयुष्य भोगने का अवशिष्ट नहीं है, वैसे ही क्षीण हो चुके संसाराधिकार से अतिरिक्त कोई संसाराधिकार भी है ही नहीं कि जिस

(ल०-न क्षीणसंसारस्य भवाधिकारः-) न ह्यस्यायुष्कान्तरवद् भवाधिकारान्तरं, तद्भावेऽत्यन्तमरणवन्मुक्त्यसिद्धेः, तत्सिद्धौ च तद्भावेन भवनाभावः, हेत्वभावात्। न हि मृतस्तद्भावेन भवति मरणभावविरोधात्।

(पं०-) इदमेव भावयति 'न'=नैव, 'हिः'=यस्माद्, 'अस्य'=तीर्णस्य (प्र०....तीर्थकरस्य), 'आयुष्कान्तरवत्'=नारकाद्यायुष्कविशेषवद्, 'भवाधिकारान्तरं'=क्षीणाद्भवाधिकाराद् अन्यो भवाधिकारो, येनासाविह पुनरावर्त्तेत। विपक्षे बाधामाह 'तद्भावे', तस्य=आयुष्यकान्तरस्य भवाधिकारान्तरस्य च, भावे=सत्तायाम्, 'अत्यन्तमरणवत्'=सर्व्वप्रकारजीवितक्षये (प्र. ..क्षयेण)मरणस्येव, 'मुक्त्यसिद्धेः', मुक्तेः=तीर्णतायाः, असिद्धेः=अयोगात्। व्यतिरेकमाह 'तत्सिद्धौ च', तस्य=अत्यन्तमरणस्य मुक्तेर्वा, सिद्धौ=अभ्युपगतायां, 'तद्भावेन'=आयुष्यकान्तरसाध्येन भवाधिकारान्तरसाध्येन च भावेन, 'भवनाभावः'=परिणतेरभावः; कुत इत्याह 'हेत्वभावात्,' हेतोः=आयुष्कान्तरस्य भवाधिकारान्तरस्य च अभावात्। पुनस्तदेव प्रतिवस्तूपमया भावयति 'न हि,' 'मृतः'=परासुः, 'तद्भावेन'=अतीतामृतभावेन 'भवति', कथमित्याह 'मरणभावविरोधात्'=मरणामरणयोरात्यन्तिको विरोध इतिकृत्वा।

कारण वश उनको संसार का पुनर्भवन हो। संसाराधिकार का मतलब है संसार की योग्यता। आज तक उनका जो संसार चलता था वह और उसकी योग्यता दोनों ही नष्ट हो गए, और अब किसी नये संसार की योग्यता उन्हें है नहीं; इस कारण पुनः संसार हो सकता नहीं है। ऐसा न मानने में यह आपत्ति है कि अगर दूसरा आयुष्य और भवाधिकार विद्यमान हो, तब तो सर्वप्रकार से जीवित का क्षय होने पर होने वाले मरण के मुताबिक मोक्ष यानी भवपार की प्राप्ति नहीं हो सकती है। और यदि आत्यन्तिक मृत्यु या मुक्ति आप स्वीकार करते हैं, तो यही फलित होता है, कि वह जीव जीवित एवं संसार के भाव से परिणत नहीं हो सकता है; क्यों कि अब पुराने आयुष्य एवं भवाधिकार तो क्षीण हो चुके, और नया जीवित एवं संसार हां अन्य आयुष्य और अन्य भवाधिकार से साध्य हो सकता है, लेकिन ऐसा कारणीभूत दूसरा कोई आयुष्य एवं भवाधिकार उसमें अब है नहीं।

यही बात प्रतिवस्तु की उपमा से सोच कर देखिए। जो गतप्राण हो गया है वह अब अतीत अ-मृत यानी सजीवन भाव से संपन्न नहीं हो सकता है। क्यों नहीं होता है ? इसीलिए कि आयुष्य का अधिकार नष्ट हो गया है। अगर पुनः अ-मृत (सजीवन) भाव वाला होता हो, तब तो मृत्यु कहां हुई ? मृत्यु और अ-मरण का परस्पर अत्यन्त विरोध है; मरा है तो जीता नहीं, और जीता है तो मरा नहीं। ऐसे ही, मुक्ति हुई है तो भवाधिकार नहीं, और भवाधिकार है तो मुक्ति नहीं। मोक्ष और भवाधिकार में अत्यन्त विरोध है।

ऋतुओं की तरह मुक्तों का पुनरागमन नहीं :....

प्र०-ऋतुओं के दृष्टान्त से, अर्थात् जिस प्रकार उन्हीं ऋतुओं की पुनरावृत्ति होती है, इस प्रकार मुक्त हुए जीवों को भवों की पुनरावृत्ति अर्थात् पुनर्भव क्यों न हो ?

(ल०-) एतेन ऋत्वावर्त्तनिदर्शनं प्रत्युक्तं, न्यायानुपपत्तेः, तदावृत्तौ तदवस्थाभावेन परिणामान्तरायोगात्, अन्यथा तस्यावृत्तिरित्ययुक्तं, तस्य तदवस्थानिबन्धनत्वात्, अन्यथा तदहेतुकत्वापत्तेः। एवं न मुक्तः पुनर्भवे भवति मुक्तत्वविरोधात्, सर्वथा भवाधिकारनिवृत्तिरेव मुक्तिरिति, तद्भावेन भावतस्तीर्णादिसिद्धिः ॥ २८ ॥

(पं०-) **'एतेन'**=मृतस्यामृतभावप्रतिषेधेन, **'ऋत्वावर्त्तनिदर्शनं'**, 'ऋतुर्व्यतीतः परिवर्त्तते पुनः' इति दृष्टान्त, **प्रत्युक्तं**=निराकृतं; कुत इत्याह **'न्यायानुपपत्तेः'**। तामेव दर्शयति **'तदावृत्तौ'**, तस्य=ऋतोर्वसन्तादेः, आवृत्तौ=पुनर्भवने, **'तदवस्थाभावेन'**, **तस्याः**=अतीतवसन्तादिऋतुहेतुकायाश्चूतादेरङ्कुरादिकायाः पुरुषस्य च बालकुमारादिकाया अवस्थाया **'भावेन'**=प्राप्त्या, परिणामान्तरभावात् स एव प्राक्परिणामः प्राप्नोति नापर इति भावः। विपक्षे बाधामाह **'अन्यथा'**=परिणामान्तरे, **'तदावृत्तिः'** तस्य=ऋतोः आवृत्ति=पुनर्भवनम्, **'इति'**=एतद्, **'अयुक्तम्'**=असाम्प्रतं, कुत इत्याह **'तस्य'**=ऋतोः, **'तदवस्थानिबन्धनत्वात्'**, **तस्याः**=चूतादेरङ्कुरिकायाः, **अवस्थाया निबन्धनत्वात्**। तदवस्थाजनन(प्र०....जनक) स्वभावो ह्यसौ ऋतुः; कथमिवासौ अवस्था तत्सन्निधौ न स्यात्? एतदेव व्यतिरेकत आह **'अन्यथा'**=तत्सन्निधानेऽप्यभवने, **'तदहेतुकत्वोपपत्तेः'**, **सः**=अतीतऋतुलक्षणो, अहेतुर्यस्याः सा तथा, तद्भावस्तत्त्वं, तदुपपत्तेः; तद्धेतुकासौ न प्राप्नोतीति भावः। २८।

उ०-मरे हुओं का अ-मृत भाव नही होता है इस कथन से मुक्त हुओं का अ-मुक्त भाव यानी पुनर्भव निषिद्ध हो ही जाता है। पुनर्भव होने में ऋतु का दृष्टान्त सङ्गत नहीं हो सकता; क्यों कि वसन्तादि ऋतुओं का तो जब पुनरागमन होता है तब भूतकालीन ऐसी ऋतुओं के वश आम्रादि वृक्षों को जैसी अङ्कुरादि की अवस्था प्राप्त होती थी वैसी ही प्राप्त होती है, अन्य ढंग की नही। इस प्रकार पुरुष को कालानुसार उसी बाल्यावस्था, कुमारावस्था इत्यादि प्राप्त होती है। प्रतिवर्ष यदि उसी प्रकार की अङ्कुरादिअवस्था प्राप्त न होती हो, और अन्य ढंग की ही अवस्था संप्राप्त होती हो, तो 'उसी ऋतु की आवृत्ति होती रही'-यह कहना अयुक्त है, क्यों कि उसी ऋतु तो पूर्व प्रकार की ही अङ्कुरादि अवस्था का कारण है। जब यह ऋतु तो उसी अवस्था को पैदा करने में कारण है, तब वह अवस्था उसके संनिधान में क्यों न उत्पन्न हो? इसको उलटे रूप से देखा जाए तो कह सकते हैं कि अगर उसके संनिधान मे भी वह न हो तो उस अवस्था में उस ऋतु की कारणाधीनता उत्पन्न नहीं हो सकती है, तात्पर्य उस अङ्कुरादि अवस्था का उस ऋतु से अवश्य जन्य होना प्राप्त नहीं होता है।

इससे यह फलित हुआ कि ऋतु की पुनरावृत्ति का दृष्टान्त यहां असङ्गत है तो इस के बल पर मुक्तात्मा का संसार मे पुनरावर्तन सिद्ध नहीं हो सकता है। और, पुनरावर्तन में कारणभूत आयुष्यादि कर्म न होने से मुक्त जीव फिर ससार मे नहीं आ सकता है, संसारी नहीं हो सकता है, क्यों कि मुक्तत्व के साथ संसारिता का विरोध है; संसाराधिकार की

२९. बुद्धाणं-बोहयाणं (बुद्धेभ्यो बोधकेभ्यः)

(ल०—ज्ञानाप्रत्यक्षत्वगोचरमीमांसकमतनिरसनम्—) एतेऽपि परोक्षज्ञानवादिभिर्मीमांसकभेदैर्नीत्या अबुद्धादय एवेष्यन्ते 'अप्रत्यक्षा च नो बुद्धिः, प्रत्यक्षोऽर्थः' इति वचनाद्; एतद्व्यवच्छेदार्थमाह 'बुद्धेभ्यः बोधकेभ्यः' । अज्ञाननिद्राप्रसुप्ते जगत्यपरोपदेशेन जीवाजीवादिरूपं तत्त्वं बुद्धवन्तो बुद्धाः, स्वसंविदितेन ज्ञानेन, अन्यथा बोधायोगात् ।

(पं०—) 'अन्यथा बोधे'त्यादि, अन्यथा=असंविदितत्वे बुद्धेः, बोधायोगात्=जीवादितत्त्वस्य संवेदनायोगात् ।

निवृत्ति यही तो मोक्ष है । तो अर्हत्परमात्मा ऐसे अविनाशी मुक्तभाव से संपन्न होने के कारण वे संसार से तीर्ण है, तैर गए हैं; और अन्यों के तारक हैं,-यह प्रमाण-सिद्ध हुआ । २८ ।

२९. बुद्धाणं बोहयाणं (बुद्ध और बोधक के प्रति)

ज्ञान अप्रत्यक्ष का मीमांसकमत :-ऐसे भी परमात्मा बुद्ध आदि नहीं है, इस प्रकार मीमांसकमत वालों के विभाग कहते हैं । मीमांसक दर्शन मानने वालों के कई प्रकार हैं । इनमें प्रभाकर के अनुयायी तो ज्ञान को स्वतः संवेद्य मानते हैं; किन्तु कुमारिल भट्ट के अनुयायी ज्ञान को परोक्ष कहते हैं । उनका शास्त्रवचन है कि 'अप्रत्यक्षा च नो बुध्दिः, प्रत्यक्षोऽर्थः,'-अर्थात् 'अपना ज्ञान खुद प्रत्यक्ष नहीं है, ज्ञान में भासमान घड़ा आदि पदार्थ प्रत्यक्ष है ।' वे कहते हैं कि "पदार्थ के साथ ज्ञान भी यदि प्रत्यक्ष हो तो पहला प्रत्यक्षानुभव 'यह घड़ा है' इतना नहीं किन्तु साथ साथ 'यह घड़ा का ज्ञान हैं,'-यह भी होना चाहिए । लेकिन ऐसा नहीं होता है, वरन् 'यह घड़ा हैं'-इस प्रत्यक्ष-अनुभव के बाद में 'मुझ से यह घड़ा ज्ञात हुआ' ऐसा अनुभव होता है, जो कि घड़े में रही हुई ज्ञातता का प्रत्यक्ष-अनुभव है । 'यह घड़ा ज्ञात है' इसका मतलब यही है कि 'यह घड़ा ज्ञातता वाला है;' इसमें ज्ञातता प्रत्यक्ष हुई, और इस ज्ञातता को देख कर 'आत्मा में ज्ञान हुआ है'-ऐसा ज्ञान का अनुमान यानी परोक्ष-अनुभव होता है । तो ज्ञान प्रत्यक्ष न होने से यह युक्तिप्राप्त है कि परमात्मा बुध्ध यानी प्रत्यक्षसंवेदन वाले और दूसरों को ऐसे बुध्ध बनाने वाले नहीं हो सकते हैं ।" यह मीमांसकमत हुआ ।

'बुद्ध' का अर्थ : मीमांसकमत से विरुद्ध :-

इस मत का खंडन करने के लिए यहां स्तुति की जाती है कि 'बुध्ध और बोधक अरहंत के प्रति मेरा नमस्कार हो ।' 'बुध्ध' का भाव यह है कि जब सारा जगत अज्ञान स्वरूप भाव निद्रा में अत्यन्त सोया हुआ है, तब अर्हद् भगवान किसी के उपदेश से नहीं किन्तु स्वीय जाग्रतिपुरुषार्थ से भावनिद्रा को त्याग कर जीव-अजीवादिरूप तत्त्व के शुध्ध ज्ञान वाले हुए हैं । जगत की, मन-वचन-काया से स्थूल-सूक्ष्म जीवों की जो हिंसा, असत्यादि पाप, एवं विषयकषायादि

(ल०–ज्ञाने स्वासंवेद्येऽन्यासंवेद्यत्वम्–) नास्वसंविदिताया बुद्धेरवगमे कश्चिदुपायः, अनुमानादिबुद्धेरविषयत्वात्। न ज्ञानव्यक्तिर्विषयः, तदा तदसत्त्वात्; न तत्सामान्यं, तदात्मकत्वात्। न च व्यक्त्यग्रहे तद्ग्रह इत्यपि चिन्त्यम्।

(पं०–) स्याद् वक्तव्यं 'बुद्ध्यन्तरेण बुद्धिसंवेदने प्रकृतसिद्धिर्भविष्यती'त्याशङ्क्याह 'नास्वसंविदिताया बुद्धेः' प्रत्यक्षादिरूपायाः, 'अवगमे कश्चिदुपाय' बुद्ध्यन्तरलक्षणः। कुत इत्याह 'अनुमानादिबुद्धेर' विषयत्वाद्=अनुमानागमादिबुद्ध्यन्तरस्य तत्राप्रवृत्तेः एतदेव भावयति 'न ज्ञानव्यक्तिः' प्रतिनियतबहिरर्थग्राहिका (प्र०....ग्राहका) प्रत्यक्षादिरूपा, अनुमानादिबुद्धेः 'विषयः'=ग्राह्यः; कुत इत्याह 'तदा'=अनुमानादिबुद्धिकाले 'तदसत्त्वात्'=तस्या ज्ञानव्यक्तेर्ग्राह्यरूपाया 'असत्त्वात्', यौगपद्येन ज्ञानद्वयस्यानभ्युपगमात्। तर्हि तत्सामान्यं विषयो भविष्यतीत्याह 'न तत्सामान्यं'=न प्रत्यक्षादिव्यक्ति(प्र०....वस्तु)सामान्यं, विषय इत्यनुवर्तते, कुत इत्याह 'तदात्मकत्वात्'=व्यक्तिरूपज्ञानस्वभावत्वात्, सामान्यस्य व्यक्त्यभावे तदभावात्। अभ्युच्चयमाह 'न च'=नैव, 'व्यक्त्यग्रहे'=व्यक्तौ तदाधारभूतायामपरिच्छिद्यमानायां, 'तद्ग्रहः' =सामान्यग्रहः, कथञ्चिद् व्यक्तिभ्यो भेदाभ्युपगमेऽपि। 'इत्यपि'=एतदपि, न केवलं व्यक्त्यभावे सामान्याभावः (प्र० अधिकपाठः....किन्तु व्यक्त्यग्रहे न च तद्ग्रहः) इति 'अपि' शब्दार्थः। 'चिन्त्यं'=परिभाव्यं, वृक्षादिविशेषप्रमेयेषु इत्थमेव दर्शनात्।

की जो पापप्रवृत्ति चल रही है यही उसकी अज्ञानदशा की अर्थात् जीव–अजीव, आश्रव–संवर, इत्यादि तत्त्वों के बिनजानकारी की सूचक है। अगर जानकारी होती, बुध्धता होती तो जीवों से हिंसादि पाप और जड के लिए क्रोधादि आश्रवों का सेवन क्यों किया जाता? भगवान इन पाप–आश्रवों से दूर हो गये हैं क्यों कि आप तत्त्वबोध से संपन्न हुए हैं। यह बुध्धता भी गुरुउपदेशवश नहीं किन्तु विशिष्ट तथाभव्यत्ववश स्वयं हुई है। और बुध्धता स्वयंप्रकाश ज्ञान से हुई है। अन्यथा अगर ज्ञान स्वतःप्रकाश न हो अर्थात् विषय के साथ साथ अपना भी संवेदन न करा सकता हो तो वह जीव, अजीव आदि विषयों का भी संवेदन नहीं करा सकता। काष्ठादि पदार्थ मे यह दिखाई पड़ता है कि वह स्वप्रकाश करने में असमर्थ होता हुआ दूसरों को भी प्रकाश नहीं दे सकता है। ज्ञान परप्रकाशक है तो स्वप्रकाशक भी है इससे ज्ञान भी यह स्वसंवेदनता होने पर ज्ञान को परोक्ष यानी परसंवेद्य मानने वालों का मत युक्तिबाह्य हो जाता है। यह किस प्रकार उसकी चर्चा अब करते है।

ज्ञान स्वसंवेद्य न होने पर इतरसंवेद्य नहीं हो सकताः–

शायद आप कह सकते हैं कि 'ज्ञान स्वतः प्रकाशमान न होते हुए भी अन्य अनुमानादि ज्ञान से ग्राह्य होने से प्रस्तुत सिद्ध हो सकता है अर्थात् पदार्थों का प्रकाशक हो सकता है;' किन्तु यह ध्यान मे रखिए कि प्रत्यक्ष आदि कोई भी ज्ञान पर–प्रकाशक होने के साथ साथ अगर स्वप्रकाशक न हो तो उसका प्रकाश (बोध) कराने मे और भी कोई ज्ञान उपायभूत नहीं

हो सकता है; कारण, और ज्ञानान्तर्गत अनुमान, आगमादि ज्ञान उसके ग्रहण में प्रवृत्त नहीं हो सकता। किस प्रकार हो सके ? क्यों कि जब अनुमानादि ज्ञान उत्पन्न होगा तब किसी बाह्यार्थ का ग्राहक वह मूल प्रत्यक्षादि ज्ञान व्यक्ति तो नष्ट हो जायगा, कारण कि दो ज्ञानों का एक आत्मा में यौगपद्य यानी एक काल में अवस्थान नहीं माना है। तो जब जिस अनुमानादि ज्ञान से आप प्रत्यक्षादि ज्ञान व्यक्ति ग्राह्य बनाना चाहते हैं, यानी उसका वह विषय बनाना चाहते हैं, उसके काल में तो वह ग्राह्य प्रत्यक्षादि है ही नहीं, तो वह उसका विषय कैसे बन सकेगा ? ध्यान रखिए वह ज्ञान नष्ट हो जाने से उसकी ज्ञातता जो आप घटादि विषय में उत्पन्न हुई मानते हैं वह भी साथ ही नष्ट हो गई, तो अब अनुमान करने के लिए दृश्य लिङ्ग यानी हेतु भी नहीं रहा। अनुमान के लिए तो कम में कम हेतुका ज्ञान तो चाहिए; जैसे कि कालिमा देखने से अतीत धूंआ के ज्ञान से अग्नि-अनुमान हो सकता है। यहां ज्ञातता भी नष्ट है तो उसके द्वारा अनुमान होने की क्या आशा ? तो ज्ञान अनुमान से ग्राह्य यानी अनुमान का विषय नहीं हो सकता है।

प्र०—ठीक है, ज्ञानव्यक्ति विषय मत हो, लेकिन उसका ज्ञानत्वादि सामान्य धर्म तो नित्य विद्यमान होने से विषय बन सकता है न ? बस, तब तो सामान्य रूप से ज्ञान गृहीत हुआ।

उ०–मुस्कराइए मत, ज्ञानत्वादि सामान्य धर्म कोई अलग चीज नहीं है; वह तो व्यक्त्यात्मक ज्ञानादि स्वरूप ही है। जब व्यक्ति का नाश हो गया तो वह भी अचूक नष्ट ही हो गया; तो उसका भी अनुमानादि से ग्रहण कहां से कर सकते हैं ?

व्यक्ति के ज्ञान के विना सामान्य ज्ञान नहीं :—

प्र०–आप तो अनेकान्तवादी होने से सामान्य को एकान्तेन व्यक्ति स्वरूप यानी व्यक्ति से एकान्तेन अभिन्न नहीं मान सकते हैं; भिन्न भी मानना होगा। जब भिन्न है, तब वह सामान्य तो अनुमानादि से ग्राह्य क्यों न हो सके ?।

उ०–ठीक है उस दृष्टि से आप सामान्य को ग्राह्य बनाना चाहें, किन्तु तब भी वह अशक्य है; क्यों कि नियम है कि सामान्य धर्म का ज्ञान उसका आश्रयव्यक्ति अज्ञात रहने पर नहीं हो सकता है। दृष्टान्त से, जो आदमी घड़े को ही नहीं जानता है, उसे घडेपन का क्या ख्याल होगा ? तो यहां पर भी ज्ञानव्यक्ति जब ज्ञात नहीं है तो उसका सामान्य भी कैसे गृहीत हो सकता है ?–यह भी बात सोचने योग्य है। तात्पर्य; व्यक्ति के अभाव में सामान्य का भी अभाव है। एवं व्यक्ति के अज्ञात रहने पर सामान्य किसी तरह ज्ञात भी नहीं हो सकता। पेड़ आदि प्रमेय व्यक्तियों में ऐसी ही वस्तुस्थिति दिखाई पड़ती है;–पेड़पन पेड के अभाव में नहीं रह सकता, एवं पेड व्यक्ति अज्ञात रहने पर पेड़पन गृहीत भी हो सकता नहीं है। जब जब हम पेडपन को लक्ष मे लेना चाहते हैं तब तब हमें किसी न किसी पेड़ का ख्याल पहले करना आवश्यक होता ही है।

(ल०–ज्ञानग्राहकानुमानार्थं लिङ्गाभावः–) नार्थप्रत्यक्षता लिङ्गं, यत् प्रत्यक्षपरिच्छिन्नोऽर्थ एवार्थप्रत्यक्षता, प्रत्यक्षकर्मरूपतामापन्नोऽर्थ एव। न चेयमस्य विशिष्टावस्था विशेषणाप्रतीतौ प्रतीयत इति परिभावनीयम् ॥

(पं०–) किं च साध्याविनाभाविनो लिङ्गान्निश्चितात् साध्यनिश्चायकमनुमानं, न चात्र तथाविधं लिङ्गमस्ति, तथा चाह 'न'=नैव, 'अर्थप्रत्यक्षता'=लिङ्गान्तरासम्भवेना(प्र०....संभवेऽपि)परैर्लिङ्गतया कल्पिता वक्ष्यमाणरूपार्थप्रत्यक्षता, 'लिङ्गं'=हेतुर्बुद्धिग्राहकानुमानस्य, कुत इत्याह 'यद्'=यस्मात्, 'प्रत्यक्षपरिच्छेद्योऽर्थ एव',न तु तत्परिच्छेद्योऽपि, 'अर्थप्रत्यक्षता' लिङ्गमभिमता। एतदेव स्पष्टयति 'प्रत्यक्षकर्मरूपतां', प्रत्यक्षस्य=इन्द्रियज्ञानस्य, कर्मरूपतां=विषयताम्, 'आपन्नोऽर्थ एव', न तु तद्व्यतिरिक्तं किञ्चित्। यदि नामैवं ततः किमित्याह 'न च', 'इयं'=प्रत्यक्षता, 'अस्य'=अर्थस्य, 'विशिष्टावस्था' प्रत्यक्षज्ञानविषयभावपरिणतिरूपा, 'विशेषणाप्रतीतौ', विशेषणस्य=प्रत्यक्षज्ञानस्य, अप्रतीतौ=अस्वेदने, 'प्रतीयते' =निश्चीयते, इति परिभावनीयम्। न हि प्रदीपादिप्रकाशाप्रतीतौ तत्प्रकाशितघटादिप्रतीतिरुपलभ्यते। न चान्वयव्यतिरेकाभ्यामनिश्चिताद्धेतोः साध्यप्रतीतिरिति।

विशेषण अज्ञात रहने पर विशिष्ट की अप्रतीति :—

और भी बात है;–आप ज्ञान को स्वतः संवेद्य (ग्राह्य) न मानते हुए अनुमान से संवेद्य मानते हैं, लेकिन प्रश्न होगा कि कौन हेतु इस अनुमान का साधक होगा? क्योंकि अनुमान में जो साध्य है इसके साथ ठीक व्याप्त साधक हेतु,–अर्थात् कभी साध्य को छोड़कर न रहने वाले साधक हेतु–का निर्णय अगर हुआ हो तभी अनुमान साध्य का निर्णय करा सकता है, यदि घरमें से धुआँ निकलता दिखाई पड़े तभी वहां भीतर आग जल रही है ऐसा आग का अनुमान हो सकता है। क्यों कि धुआँ आग के साथ बिलकुल व्याप्त है, तो बिना आग वह कैसे उठ सकता है? इसलिए धुंए रूप हेतु से आग स्वरूप साध्य का अनुमान हो सकता है। अब देखिए कि प्रस्तुत में धुंए जैसे कोई हेतु दृष्ट नहीं होता है, तो ज्ञान का अनुमान कैसे हो सकेगा? आप अगर कहें ज्ञान को ज्ञात कराने वाले अनुमान में और कोई हेतु मत हो, किन्तु 'अर्थप्रत्यक्षता' यह साधक हेतु हो सकता है, क्यों कि अर्थप्रत्यक्षता तो प्रत्यक्ष दिखाई पड़ती है, इससे अनुमान कर लेंगे कि भीतर ज्ञान उत्पन्न हुआ है।

अर्थप्रत्यक्षता रूप विशिष्ट का ज्ञान विशेषण ज्ञान के विना अशक्य :— लेकिन प्रश्न खड़ा होता है कि यह अर्थप्रत्यक्षता ज्ञात कैसे होगी? क्यों कि यहां तो दो चीजें हैं, एक भीतरी ज्ञान, और दूसरा बाह्य पदार्थ; इनमें से अर्थप्रत्यक्षता को ज्ञान स्वरूप तो कह सकते नहीं, क्यों कि वह ज्ञान तो साध्य है। तब अर्थप्रत्यक्षता को यहां प्रत्यक्षज्ञान से ज्ञान हो रहे हुए पदार्थ के स्वरूप ही कहना होगा। दूसरे शब्द में कहें तो भीतर उत्पन्न हुआ जो घड़े आदि विषय का प्रत्यक्षज्ञान, उसकी विषयता को प्राप्त बाह्य घड़े आदि पदार्थ ही तो अर्थप्रत्यक्षता

(ल०-इन्द्रियवद् ज्ञानं न स्वरूपसत् प्रकाशकम्) एवं चेन्द्रियवदज्ञातस्वरूपैवेयं स्वकार्यकारिणीत्यप्ययुक्तमेव, तत्कार्यप्रत्यक्षत्वेन वैधर्म्यात् । अतोऽर्थप्रत्यक्षताऽर्थपरिच्छेद एवेति नीत्या बुद्धादिसिद्धिः । २९

(पं०-) स्याद् वक्तव्यं 'यथेन्द्रियं स्वयमप्रतीतमपि ज्ञानं प्रत्यक्षं जनयति, तथा तद्वा बुद्धिरपि स्वयमप्रतीताप्यर्थप्रत्ययं करिष्यती'त्याशङ्क्य । परिहरन्नाह 'एवं च'=अनेन प्रकारेणानुमानादिविषयताऽघटने (प्र ...घटनेन) प्रत्यक्षबुद्धिः 'इन्द्रियवद्','अज्ञातस्वरूपैवेयं'=स्वयमप्रतीतैव प्रत्यक्षबुद्धिः,'स्वकार्यकारिणी', स्वकार्थं विषयस्य परिच्छेद्यत्वं, तत्कारिणी,'इत्यपि'=एतदपि, न केवलमस्यानुमानादिविषयत्वम्, 'अयुक्तमेव' ।

है । अब आप चाहे प्रत्यक्षविषयतापन्न पदार्थ को अर्थप्रत्यक्षता कहें या मात्र प्रत्यक्षविषयता को अर्थप्रत्यक्षता कहें, एक ही बात है; लेकिन इसको आंतरिक उत्पन्न प्रत्यक्षज्ञान की सिद्धि के लिए साधक हेतु रूप में प्रस्तुत नहीं कर सकते; कारण, अनुमान करने के लिए तो हेतु की सत्ता मात्र नहीं किन्तु हेतु का निर्णय रहना चाहिए; और यहां 'प्रत्यक्षविषयता' रूप हेतु का निर्णय नहीं कर सकते हैं क्यों कि यह एक विशिष्ट पदार्थ यानी विशेषणयुक्त विशेष्य रूप है, और इसमें विशेषणभूत 'प्रत्यक्ष' तो आपके मतानुसार ज्ञात नहीं है; जब कि नियम ऐसा है कि विशेषण के अज्ञात रहने पर समूचा विशिष्ट पदार्थ ज्ञात नहीं हो सकता है । पिता अज्ञात है तो 'यह लड़का अमुकपितृपुत्र है अर्थात् इसमें अमुक पिता का पुत्रत्व है,–ऐसा नहीं कह सकते हैं । ठीक इसी प्रकार यहां प्रत्यक्षज्ञान जहां तक अज्ञात है वहां तक बाह्य घड़े आदि पदार्थ में उस (प्रत्यक्ष) की विषयता कहां से निर्णीत हो सकती है ? इसलिए हम कहते हैं कि आप अर्थप्रत्यक्षता के द्वारा भीतरी प्रत्यक्षज्ञान का अनुमान नहीं कर सकते हैं ।

प्रदीपप्रकाश के दृष्टान्त से ज्ञान स्वतः प्रतीत है : अन्वय-व्यतिरेक :—

तो क्या ज्ञान अज्ञात ही रहता है ? नहीं, ज्ञानकी प्रतीति वस्तु की प्रतीति के साथ साथ ही स्वतः हो जाती है । देखते हैं कि प्रदीपादि प्रकाश की प्रतीति न रहने पर इससे प्रकाशित घड़े आदि पदार्थ की प्रतीति नहीं हो सकती । तो ज्ञान अगर अप्रतीत रहे तो ज्ञानविषयता से संपन्न पदार्थ भी कैसे प्रतीत होगा ? ज्ञान को स्वतः असंवेद्य मान कर आप किसी हेतु से ज्ञान का अनुमान प्रस्तुत करने को जाएँ तब भी ख्याल रहे कि अन्वय-व्यतिरेक से निश्चित नहीं किये गए हेतु से साध्य का निर्णय नहीं हो सकता । 'जहां जहां यह हेतु है वहां वहां यह साध्य है'–यह अन्वय, और 'जहां यह साध्य नहीं है वहां यह हेतु भी नहीं ही है'–यह व्यतिरेक कहलाता है । प्रस्तुत में पहले जब हेतु का ही निर्णय नहीं हो सकता तो तत्पश्चाद् अन्वय व्यतिरेक और बाद में साध्य का निश्चय तो कैसे ही हो सके ?

ज्ञान इन्द्रियवत् स्वरूपसत् ज्ञापक नहीं :—

प्र०-जिस प्रकार चक्षु आदि इन्द्रिय हमें खुद अज्ञात रहती हुई वे अपने विषय का ज्ञान कराती हैं, ठीक इस प्रकार 'ज्ञान भी अज्ञात रहता हुआ ही अपने विषय का प्रकाश करता

पुन इत्याह **'तत्कार्यमत्यक्षत्वेन'** तस्य=इन्द्रियस्य, कार्यं=विज्ञानं, तस्य प्रत्यक्षत्वं, तेन, **'वैधर्म्यात्'**= वैसदृश्यात् उद्रिक्तार्थप्रत्यक्षतायाः। अन्यादृशं हीन्द्रियप्रत्यक्षमन्यादृशं बुद्धेः। इदमेवाह **'अतः'**=इन्द्रियाद् **'अर्थप्रत्यक्षता अर्थपरिच्छेद एव'**=विषयप्रतीतिरेवोपलब्धव्यापाररूपा, बुद्धेस्तु विषयस्योपलभ्यमानतैवार्थ-प्रत्यक्षता; साधर्म्यसिद्धौ च दृष्टान्तसिद्धिरिति।

है',-ऐसा मान लें तो क्या बाधा ? चक्षु-इन्द्रिय से वस्तु देखने समय यह नहीं पता चलता कि मुझे चक्षु है, और इस रूप की है; सिर्फ उस इन्द्रिय का अस्तित्व होना चाहिए यानी वह स्वरूपसत् होनी चाहिए; वैसे ही ज्ञान स्वरूपसत् विद्यमान होना चाहिए, और वह स्वयं अज्ञात रहता हुआ वस्तुप्रकाश करे तो क्या हर्ज ?

उ०-जिस प्रकार पूर्वोक्त अनुसार ज्ञान का ग्रहण अनुमान से होना अयुक्त है, वैसे यह भी अयुक्त ही है कि ज्ञान इन्द्रियों की तरह अज्ञात रहता हुआ ही वस्तुज्ञापक हो, वस्तु में प्रकाश्यता स्वरूप अपना कार्य करे। पूछिए क्यों अयुक्त ? इसलिए कि इन्द्रिय का दृष्टान्त विषम है। दोनों का कार्य भिन्न भिन्न है। यह इस प्रकार,-

इन्द्रिय की अर्थप्रत्यक्षता और ज्ञान की अर्थप्रत्यक्षता समान नहीं है :—

इन्द्रिय का कार्य अर्थप्रत्यक्ष यानी एन्द्रियक विज्ञान है उसकी प्रत्यक्षता ज्ञान की अर्थ-प्रत्यक्षता के सदृश नहीं है; इन्द्रिय की अर्थप्रत्यक्षता तो इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष स्वरूप है, और ज्ञानजन्य अर्थप्रत्यक्षता पदार्थ में रहने से विषय स्वरूप होती है। तब यह आया कि-इन्द्रिय से जो आत्मा के भीतर अर्थप्रत्यक्ष स्वरूप कार्य हुआ, अर्थप्रत्यक्षता उसमें रहती है तो कहिए यहां अर्थप्रत्यक्षता उस प्रत्यक्ष यानी वस्तु प्रतीति रूप ही हुई, किन्तु पदार्थनिष्ठ प्रत्यक्षता रूप नहीं।

प्र०-क्या वस्तु में रही अर्थप्रत्यक्षता इन्द्रिय का कार्य नहीं है कि उसको ज्ञान की अर्थप्रत्यक्षता से अलग कर रहे हैं ?

उ०-हां, वह इन्द्रिय का कार्य नहीं है; वह अर्थप्रत्यक्षता तो भीतरी उत्पन्न हुए ज्ञानरूप अर्थप्रत्यक्ष का कार्य है। कारण, जब भीतर अर्थप्रत्यक्ष होता है तभी बाहर वस्तु में प्रत्यक्षता यानी प्रत्यक्षविषयता आती है। इन्द्रिय में ऐसा नहीं कि इन्द्रिय है तो बाहिर वस्तु में विषयता रहा करती है। यह तो, जब इन्द्रिय आत्मा के भीतर प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न करे, तभी संपादित होती है। तो इन्द्रिय के कार्यभूत अर्थप्रत्यक्षता तो भीतरी अर्थप्रत्यक्ष स्वरूप ही हुई, और वह अलग है; जब कि ज्ञान की बाहरी अर्थप्रत्यक्षता अलग है। ऐसे कार्यभेद होने से उनके कारणभूत इन्द्रिय और ज्ञान समस्वभाव नहीं हो सकते हैं। तब, इन्द्रिय के दृष्टान्त से ज्ञान अपनी सत्ता (विद्यमानता) मात्र से वस्तुज्ञापक कैसे कहा जा सके ? दोनों में समानता हो तो एक दूसरे के लिए दृष्टान्त बन सकता है। सारांश, इन्द्रिय स्वरूपसत् यानी अज्ञात रह कर वस्तुज्ञापक होती है, लेकिन ज्ञान तो ज्ञात होता हुआ ही वस्तुज्ञापक बनता है। यह भी स्वतः ज्ञात है, स्वसंवेद्य है, नहीं कि परतः ज्ञात।

३०. मुत्ताणं मोयगाणं (मुक्तेभ्यो मोचकेभ्यः)

(ल०—जगत्कर्तृलीनमुक्तमत—निरासः) एतेऽपि जगत्कर्तृलीनमुक्तवादिभिः सन्तपनशिष्यै-वैस्तत्त्वतोऽमुक्तादय एवेष्यन्ते 'ब्रह्मवद् ब्रह्मसङ्गतानां स्थिति'रितिवचनात्। एतन्निराचिकीर्षया-ऽऽह 'मुक्तेभ्यो मोचकेभ्यः।' चतुर्गतिविपाकचित्रकर्मबन्धमुक्तत्वान्मुक्ताः कृतकृत्या निष्ठितार्था इति योऽर्थः।

इस प्रकार अरहंत परमात्मा स्वसंवेद्य ज्ञान से बुद्ध हुए हैं, एवं वे और भव्यात्माओं को भी बुद्ध बनाते हैं, यानी बोधक हैं। तो स्तुति की गई बुद्धाणं बोहयाणं।

३०. मुत्ताणं मोयगाणं (स्वयं मुक्त और अन्यों को मुक्त करने वालों के प्रति)

जगत्कर्ता में मुक्तात्मा का लय मानने वालों का मत और उसका निषेधः—

अब 'मुत्ताणं मोयगाणं' पद की व्याख्या। यहां संतपन नामके वादी के शिष्य मानते हैं कि 'ऐसे भी बुद्ध परमात्मा वस्तुगत्या मुक्त-मोचक नहीं हो सकते हैं, अर्थात् मुक्त हो स्वतन्त्र सत्ता वाले नहीं हो सकते हैं', क्यों कि वे संतपनशिष्य जगत्कर्तृलीनमुक्तवादी हैं;—"जो कोई आत्मा संसार से मुक्त होती है वह जगत्कर्ता में लीन हो जाती है, अभेदभाव से मिल जाती है, उसका स्वतन्त्र व्यक्तित्व जैसा कुछ नहीं रहता; वह तो, जैसे समुद्र से अलग हुए पानी समुद्र में मिल जाने पर समुद्र रूप हो जाता है, वैसे जगत्कर्ता स्वरूप हो जाती है। अनन्त आत्मा मुक्त होने पर भी अब वे कोई अलग अलग व्यक्ति नहीं, किन्तु एक जगत्कर्तव्यक्ति, रूप में ही हैं। तात्पर्य, मुक्त जैसा कोई जीव ही नहीं है, सिर्फ एक ही जगत्कर्ता है, और अन्य संसारी जीव हैं।" ऐसा है संपतनशिष्यों का मत; इस में प्रमाण उनका शास्त्रवचन है 'ब्रह्मवद् ब्रह्म-संगतानां स्थितिः—जो मुक्त होते हैं वे ब्रह्म में जा मिलते हैं और एक मात्र ब्रह्म की तरह ही रहते हैं।'

इस मत के निषेधार्थ भगवान की स्तुति की जाती है 'मुत्ताणं मोयगाणं' मुक्तेभ्यो मोच-केभ्यः। इसका अर्थ यह है कि, जो स्वयं मुक्त हुए हैं और अन्य भव्यों को मुक्त कराते हैं उन अर्हन् परमात्मा के प्रति मेरा नमस्कार हो। 'मुक्त' वे कहे जाते हैं जो नरक-तिर्यञ्च-मनुष्य-देव इन चारों गतियों में उदय पाने वाले कर्मों के बन्ध से छुटकारा पाये हुए हैं, अर्थात् जो कृतकृत्य हुए यानी समस्त कर्तव्य कर चुके हैं, जो निष्ठितार्थ हुए हैं अर्थात् जिन के समस्त प्रयोजन सिद्ध हो गए हैं। जीव को कर्मों का सम्बन्ध होने से उनका विपाक नरकादि चतुर्गतिमय संसार में भोगना पडता है; लेकिन तप और संवर की उत्कृष्ट साधना से समस्त कर्मबन्धों का अन्त कर देने पर जीव संसार से अब शाश्वत काल के लिए मुक्त हो जाता है; अपने सहज अनंत ज्ञान-सुखादिमय प्रगट शुद्ध स्वरूप वाला हो जाता है। अब उसे काया, कर्म आदि का कोई भी संबन्ध न रहने से कुछ भी कार्य अवशिष्ट नहीं है। इसी शुद्ध-बुद्ध-मुक्त

(ल०—लयमते जगत्कर्तृत्वमते च दोषाः) न जगत्कर्तरि लये निष्ठितार्थत्वं, तत्करणेन कृतकृत्यत्वायोगात्; हीनादिकरणे चेच्छाद्वेषादिप्रसङ्गः, तद्व्यतिरेकेण तथाप्रवृत्त्यसिद्धेः। एवं सामान्यसंसारिणोऽविशिष्टतरं मुक्तत्वमिति चिन्तनीयम् ।

(पं०—) 'ने'त्यादि, न=नैव,'जगत्कर्त्तरि' ब्रह्मलक्षण आधारभूते, 'लये'=अभिन्नरूपावस्थाने, **'मुक्तानां निष्ठितार्थत्वं'** कुत इत्याह **'तत्करणेन'**, तस्य=जगतः, **'करणेन'**, ब्रह्मसाङ्गत्येन मुक्तानां कृतकृत्यत्वायोगात । अत्रैवाभ्युच्चयमाह **'हीनादिकरणे'**=हीनमध्यमोत्कृष्टजगत्करणे मुक्तानाम् **'इच्छाद्वेषादिप्रसङ्ग'** सङ्कल्पमत्सराभिष्वङ्गप्राप्तिः । कुत इत्याह **'तद्व्यतिरेकेण'** इच्छादीन (प्र०....ध)न्तरेण, **तथाप्रवृत्त्यसिद्धेः'**=वैचित्र्येण प्रवृत्त्ययोगात् । एवं जगत्करणे **'सामान्यसंसारिणो'**=मनुष्याद्यन्यतरस्माद्, **'अविशिष्टतरम्'**=अतिजघन्यं, **'मुक्तत्वम्'** **'चिन्तनीयम्'**= अस्य भावना कार्या, अन्यस्य जग कर्तुमशक्तत्वेन परिमितेच्छादिदोषत्वात् ।

अवस्था प्राप्त करने के लिए तो शुभ कार्यवाही करने की थी; यह ध्येय प्राप्त हो जाने से अब वह मुक्त आत्मा कृतकृत्य हो गई; प्रयोजन सिद्ध हो गया यानी वह निष्ठितार्थ हो गई ।

जीव अनादि-स्वातन्त्र्य वस्तु है, ब्रह्म से अलग हुई चीज़ नहीं :—

फिर भी मुक्त जीव का स्वातन्त्र्य यानी वैयक्तिक अलग अस्तित्व बना रहता है; किन्तु नहीं कि वह जगत्कर्ता में लय पा जा कर निष्ठितार्थ होता है। ऐसी तत्त्वव्यवस्था प्रमाणसिद्ध नहीं है कि जीव शुद्ध एक अद्वितीय ब्रह्म से जल में से बुद्बुद की तरह अलग हुआ था, और अन्त में वहां जा कर एकरूप बन निष्ठितार्थ हो जाता है, क्यों कि •(१) शुद्ध ब्रह्म अगर निरवयव है तो निरंशता के कारण जब कोई अंश जैसी चीज ही नहीं है तो अंश अलग होने का अवकाश ही कहां रहा ? •(२) ब्रह्म अगर अनादि सर्वशुद्ध है तो अशुध्ध होने का कोई कारण नहीं है; •(३) अगर अनादि काल से अलग कहें, तो ब्रह्म के अलावा और कोई भी ऐसा सत् पदार्थ अलग करने वाला सा न होने से यह कथन भी युक्तियुक्त नहीं है। कल्पित अविद्या जैसे पदार्थ स्वप्न के कल्पित पदार्थ की तरह कोई व्यवहारोपयोगी कार्य नहीं कर सकता है ।

मुक्ति में लय मानने पर चार दोषः जगत्कर्तृत्व असंगतः—

प्र०—ठीक है पहले से चाहे जीव और ब्रह्म अलग अलग ही हों लेकिन अन्त में जा कर जीव मुक्त हो ब्रह्म स्वरूप हो जाता है, अर्थात् जीव का ईश में यानीजगत्कर्ता में लय हो जाता है, अभिन्नभाव हो जाता है,–ऐसा मानने में क्या हानि है ?

उ०—हानि ? (१) एक तो हानि यह है कि तब तो निष्ठितार्थता यानी समाप्त-प्रयोजनता एवं कृतकृत्यता की उपपत्ति नहीं हो सकेगी; क्यों कि जीव ब्रह्ममय हो गया, और ब्रह्म को अब भी नई और मुक्त होने वाले जीवों को अपने में लीन करना है, यह प्रयोजन अपूर्ण

असमाप्त रहने से ब्रह्म स्वरूप मुक्त जीव की निष्ठितार्थता कहां रही ? कृतकृत्यता कहां हुई ? •(२) दूसरी हानि यह कि वह ब्रह्म, ईश, जगत्कर्ता जो कुछ कहो मुक्त जीवों को इस जगत्कर्ता स्वरूप हो स्वयं जगतत्कर्ता बनने का आप मानते हैं वे अत्र भी जगत को करते रहते हैं तो कृतकृत्य कहां हुए ? •(३) यह भी एक और बाधा खड़ी होती है कि जगत को हीन, मध्यम और उत्कृष्ट रूप में उत्पन्न करने में जगत्कर्ता को यानी जगत्कर्ता स्वरूप बने हुए मुक्त जीवों को इच्छा, संकल्प, द्वेष, मत्सर, इत्यादि होने की आपत्ति आ गिरेगी ! क्यों कि इच्छा संकल्प ही न हो तो जगत का सर्जन क्यों करे ? द्वेषादि न हो तो जगत में किसी को न्यून, किसी को मध्यम, किसी को उत्कृष्ट क्यों उत्पन्न करे ? बिना इच्छा और द्वेषादि ऐसी विचित्र सर्जन-प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। प्रश्न होगा कि

उपदेश एवं कल्याण करने वाले अर्हत्प्रभु में इच्छा-द्वेषादि की आपत्ति क्यों नहीं ?

यहां तत्त्व समझिए। •अर्हद् भगवान् वीतराग सर्वज्ञ हुए हैं फिर भी उन्हें तीर्थंकर नामकर्म नाम के पुण्यकर्म का बन्धन अब भी लगा है, इसके फलभोग के जरिए बिना, इच्छा किये भी, देशना प्रवृत्ति करनी होती है। लेकिन आप तो जगत्कर्ता को कर्म रहित, शुद्ध-बुद्ध मुक्त मानते हैं, तो जगत्सर्जन की प्रवृत्ति में उन्हें कर्म की प्रेरणा तो मान सकते नहीं, तब प्रवृत्ति के लिए उनकी इच्छा माननी होगी। •अब-'अर्हद्‌भगवान अमुक का कल्याण करते हैं अमुक का नहीं, तो वहां राग द्वेष सिद्ध होगा'-ऐसा भी नहीं है, क्योंकि देखिए अर्हत्प्रभु का अनुग्रह तो बिना पक्षपात सबों के प्रति है, लेकिन जो जीव उस अनुग्रह के सहयोग में अपनी योग्यता पुरुषार्थ इत्यादि जोड़ते हैं उनका कल्याण होता है, जो वैसा नहीं करते हैं उनका कल्याण नहीं हो सकता; तो इसमें भगवान को रागद्वेष की आपत्ति कहां आई ? सूर्य का प्रकाश-अनुग्रह भी बिना पक्षपात सर्वसामान्य है, फिर भी अन्ध पुरुष उसका लाभ न उठाए इसमें सूर्य थोडा ही द्वेष वाला कहा जा सकेगा ? अब आप तो जगत्कर्ता को खुद को केवल अनुग्रहशील नहीं किंतु संसार को विचित्र सर्जन-प्रवृत्ति करनेवाले मानते हैं, तो हीनादि सर्जन करने में उन्हें द्वेष, मात्सर्यादि अवश्य मानना होगा। •(४) फलतः और भी यह हानि है कि जो मुक्त हुए वे आपके मतानुसार जगत्कर्ता स्वरूप हो जाने से, मनुष्यादि किसी भी संसारी जीव के समान तो क्या किन्तु उसकी अपेक्षा अतिजघन्य सिद्ध होगा ! क्यों कि संसारी जीव तो विराट जगत्सर्जन की प्रवृत्ति में समर्थ नहीं है तो उसको इतनी भारी इच्छा, मात्सर्य आदि नहीं हैं की जितनी सारे जगत की घटनाओं जैसे कि, नारक जीवों के कुत्सित शरीर और भयङ्कर वेदनासामग्री, कीटादि तिर्यंच योनिवालों को वैसी वैसी दुःख देने वाली शस्त्रादिसामग्री, इत्यादि का निर्माण करने में आवश्यक है। संसारी जीव को तो परिमित इच्छादि है। तो जिस मुक्ति में जगत्कर्ता स्वरूप बन जाना हो और ऐसे अपरिमित इच्छादि दोषों से युक्त होना हो, ऐसी मुक्ति क्यों अतिजघन्य न कही जाए ? ।

(ल०—लयमते जगत्कर्तृत्वमते च दोषाः) न जगत्कर्तरि लये निष्ठितार्थत्वं, तत्करणेन कृतकृत्यत्वायोगात्; हीनादिकरणे चेच्छाद्वेषादिप्रसङ्गः, तद्व्यतिरेकेण तथाप्रवृत्त्यसिद्धेः। एवं सामान्यसंसारिणोऽविशिष्टतरं मुक्तत्वमिति चिन्तनीयम्।

(पं०—) 'ने'त्यादि, न=नैव,'जगत्कर्त्तरि' ब्रह्मलक्षण आधारभूते, 'लये'=अभिन्नरूपावस्थाने, 'मुक्तानां निष्ठितार्थत्वं' कुत इत्याह 'तत्करणेन', तस्य=जगतः, 'करणेन', ब्रह्मसाङ्गत्येन मुक्तानां कृतकृत्यत्वायोगात। अत्रैवाभ्युच्चयमाह 'हीनादिकरणे'=हीनमध्यमोत्कृष्टजगत्करणे मुक्तानाम् 'इच्छाद्वेषादिप्रसङ्ग' सङ्कल्पमत्सराभिष्वङ्गप्राप्तिः। कुत इत्याह 'तद्व्यतिरेकेण' इच्छादीन (प्र०....व)न्तरेण, तथाप्रवृत्त्यसिद्धेः'=वैचित्र्येण प्रवृत्त्ययोगात्। एवं जगत्करणे 'सामान्यसंसारिणो'=मनुष्याद्यन्यतरस्माद्, 'अविशिष्टतरम्'=अतिजघन्यं, 'मुक्तत्वम्' 'चिन्तनीयम्'= अस्य भावना कार्या, अन्यस्य जग कर्तुमशक्तत्वेन परिमितेच्छादिदोषत्वात्।

अवस्था प्राप्त करने के लिए तो शुभ कार्यवाही करने की थी; यह ध्येय प्राप्त हो जाने से अब वह मुक्त आत्मा कृतकृत्य हो गई; प्रयोजन सिद्ध हो गया यानी वह निष्ठितार्थ हो गई।

जीव अनादि—स्वातन्त्र वस्तु है, ब्रह्म से अलग हुई चीज नहीं :—

फिर भी मुक्त जीव का स्वातन्त्र्य यानी वैयक्तिक अलग अस्तित्व बना रहता है; किन्तु नहीं कि वह जगत्कर्ता में लय पा जा कर निष्ठितार्थ होता है। ऐसी तत्त्वव्यवस्था प्रमाणसिद्ध नहीं है कि जीव शुद्ध एक अद्वितीय ब्रह्म से जल में से बुद्‌बुद की तरह अलग हुआ था, और अन्त में वहां जा कर एकरूप बन निष्ठितार्थ हो जाता है, क्यों कि •(१) शुद्ध ब्रह्म अगर निरवयव है तो निरंशता के कारण जब कोई अंश जैसी चीज ही नहीं है तो अंश अलग होने का अवकाश ही कहां रहा? •(२) ब्रह्म अगर अनादि सर्वशुद्ध है तो अशुध्ध होने का कोई कारण नहीं है, •(३) अगर अनादि काल से अलग कहें, तो ब्रह्म के अलावा और कोई भी ऐसा सत् पदार्थ अलग करने वाला सा न होने से यह कथन भी युक्तियुक्त नहीं है। कल्पित अविद्या जैसे पदार्थ स्वप्न के कल्पित पदार्थ की तरह कोई व्यवहारोपयोगी कार्य नहीं कर सकता है।

मुक्ति में लय मानने पर चार दोषः जगत्कर्तृत्व असंगतः—

प्र०—ठीक है पहले से चाहे जीव और ब्रह्म अलग अलग ही हों लेकिन अन्त मे जा कर जीव मुक्त हो ब्रह्म स्वरूप हो जाता है, अर्थात् जीव का ईश में यानीजगत्कर्ता में लय हो जाता है, अभिन्नभाव हो जाता है,-ऐसा मानने में क्या हानि है?

उ०—हानि? (१) एक तो हानि यह है कि तब तो निष्ठितार्थता यानी समाप्त-प्रयोजनता एवं कृतकृत्यता की उपपत्ति नहीं हो सकेगी; क्यों कि जीव ब्रह्ममय हो गया, और ब्रह्म को अब भी कई और मुक्त होने वाले जीवों को अपने में लीन करना है, यह प्रयोजन अपूर्ण

(ल०—लयमते एकतरसत्तानाश—उपचययापत्तिः स्वमते निमित्तकर्तृत्वम्—) न च द्वयोरेकीभावः, अन्यतराभावप्रसङ्गात्। न सत्तायाः सत्तान्तरप्रवेशोऽनुपचयः, उपचये च 'सैव सा' इत्ययुक्तं, तदन्तरमापन्नः स इति नीतिः। नैवमन्यस्यअन्यत्र लय इति मोहविषमसरकटकबन्धः।

प्रकार,—भगवान की आत्मा आत्मा को, आत्मा के द्वारा, आत्मा के लिए, आत्मा में से, आत्मा में जानती है। यहां, (१) आत्मा जानती है, ऊपर ऊपर का मन नहीं, (२) आत्मा को जानती है शुद्ध आत्मा के प्रति दृष्टि रखती है, किसी अनुकूल प्रतिकूल उपसर्गादि के प्रति नहीं; (३) आत्मा के द्वारा देखती है, किसी गुण आदि के द्वारा नहीं; (४) आत्मा के लिए देखती है, किसी और उद्देश से नहीं, (५) आत्मा से जानती है, नहीं कि पुस्तकादि में से, (६) आत्मा में जानती है, किन्तु किसी स्थल या काल विशेष में नहीं। ऐसे ही, भगवान की आत्मा आत्मा को, आत्मा से, आत्मा के लिए, आत्मा में से, आत्मा में योजित करती है, चलाती है, मुक्त करती है....इत्यादि। यहां आत्मा काया को चलाती तो है, लेकिन भेदज्ञान जाग्रत रहने से लक्ष काया पर नहीं किन्तु आत्मा पर ही है, अतः कहा कि आत्मा को चलाती है। एवं आत्मा में मुक्त करती है, किसी जगत्कर्ता ब्रह्म में लीन नहीं करती है। तात्पर्य भगवानने सभी क्रियाओं में विषय, साधन वगैरह कारक रूप से आत्मा को ही गृहीत किया है।

कर्ता का स्वातन्त्र्य क्या :—

अब प्रस्तुत में, छःही कारकों में कर्ता रूप कारक स्वतन्त्र है, बाकी पांच परतन्त्र हैं। यह स्वतन्त्र कर्ता कारक के लिए शब्दशास्त्र कहता है कि 'फलार्थी यः स्वतन्त्रः सन् फलायारभते क्रियाम्। नियोक्ता परतन्त्राणां स कर्ता नाम कारकम्॥—जो क्रिया के फल की अपेक्षा रखने में स्वतन्त्र होता हुआ फल के लिए क्रिया का प्रारम्भ करता है और जो अन्य परतन्त्र कारकों का आयोजन करता है, वह कर्ता नाम का कारक है।' कर्मादि कारक तो फलेच्छाशून्य होते हैं, एवं प्रयत्न रहित होते हैं. और स्वयं अन्य कारकों के नियोक्ता नहीं होते हैं, जब कि कर्ता अन्य सभी साधनों का प्रवर्तक होता है, क्यों कि उसकी प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के अधीन वे चलते हैं; कर्ता अगर प्रवृत्ति करे तो वे कार्योत्पत्ति के प्रति प्रवर्तमान होते हैं, कर्ता यदि प्रवृत्ति न करके निवृत्तिशील होता है तो वे प्रवर्तमान नहीं होते है। कभी तो 'है', 'वर्तता है' इत्यादि क्रिया में बिना साधन भी कर्ता कारणभूत होता है। जब कि, चाहे कर्ता अविवक्षित रहे, फिर भी ऐसे भी कर्ता के बिना कोई साधन क्रियाजनक नहीं होता है। यहां जब जगत का वैचित्र्य कर्मकृत है, तो कर्मसंचय यह स्वतन्त्र कर्ता हुआ, किन्तु परम पुरुष कर्ता नहीं। जगत का सर्जन—विसर्जन परम पुरुष की प्रवृत्ति—निवृत्ति के अधीन नहीं है, एवं इसके अन्य साधनों का आयोजन उनकी इच्छानुसार नहीं होता है; सर्जन की प्रवृत्ति—निवृत्ति और साधनों का आयोजन तो जीवों के कर्मानुसार होते हैं। इसलिए सिद्ध होता है कि परमपुरुष मे, 'कर्ता स्वतन्त्र है'—इसके लक्षण संगत नहीं हो सकने। तो वे जगत्सर्जन में निमित्तमात्र रूप से भी कर्ता नहीं हो सकते।

(ल० – निमित्तकर्तृत्वमपि न) – निमित्तकर्तृत्वाभ्युपगमे तु तत्त्वतोऽकर्तृत्वं स्वातन्त्र्यासिद्धेः।

(पं० –) अथ कर्म्मादिकृतं जगद्वैचित्र्यं, पुरुषस्तु निमित्तमात्रत्वेन कर्त्तेत्यपि निरस्यन्नाह **'निमित्तमात्रकर्तृत्वाभ्युपगमे तु'**=निमित्तं सन्नसौ कर्ता, इच्छादिदोषपरिजिहीर्षयेत्येवमङ्गीकरणे पुनः, **'तत्त्वतो'**=निरुपचरिततया, **'अकर्तृत्वं'** पुरुषस्य। हेतुमाह **'स्वातन्त्र्यासिद्धेः'**=स्वतन्त्रः कर्त्तेतिकर्तृलक्षणानुपपत्तेः।

निमित्तकर्तृत्व का निरासः–

प्र०—ठीक है, इच्छादि दोष के निवारणार्थ, जगत्कर्ता पुरुष विचित्र जगत के सर्जन में कोई क्रिया करनेवाले कर्ता नहीं किन्तु निमित्तमात्र कर्ता अर्थात् सिर्फ निमित्त होने वाले के रूप में कर्ता है ऐसा मान ले तो क्या ? जगत का विचित्र सर्जन तो जीवों के कर्म आदि विचित्र कारणवश उपपन्न हो सकता है; ईश्वर को रचयिता मानने की कोई जरूर नहीं।

उ०—ऐसा अगर मान ले तो जगत्कर्ता तत्त्वरूप से यानी मुख्य वृत्ति से कर्ता ही नहीं है ऐसा फलित होगा। औपचारिक कर्तृत्व, यानी कर्तृत्व का आरोप मात्र करे यह एक अलग बात है। मुख्य कर्तृत्व न होने का कारण यह है कि कर्ता का तो लक्षण है कि 'स्वतन्त्रः कर्ता' कर्ता स्वतन्त्र होता है ऐसा शब्दशास्त्र में लक्षण है।

षट् कारकः–भाषाशास्त्री की दृष्टि से छः कारक होते हैं; कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरण। 'कारक' शब्द का अर्थ है 'करने वाला', अर्थात् क्रिया में कारणभूत। 'कारक' की छः विभक्तियां इस प्रकार होती हैं, कर्ता से लेकर 'अपादान' तक की पहली पांच कारक विभक्ति, और 'अधिकरण' की सातवी कारक विभक्ति। छट्ठी भक्ति 'सम्बन्ध' में होती है, (जैसे की धर्म की किताब, धर्म संबन्धी किताब); वह तो किताब आदि नाम के साथ लगी, क्रियापद के साथ नहीं, इसलिए वह 'कारक' विभक्ति नहीं कहलाती। कर्ता, कर्म, आदि की प्रथमा द्वितीया वगैरह विभक्ति क्रियापद के साथ सम्बन्ध रखती है। उदाहरणार्थ 'बालक अध्ययन के लिए घर से शाला मे हाथों से पुस्तक लेकर जाता है। यहां क्रिया है ले जाने की, इसके बालक आदि छः कारण है।

कौन ले जाता है ? बालक; वह **कर्ता** कारक
क्या ले जाता है ? किताब, वह **कर्म** कारक
किस साधन से ले जाता है ? हाथों से, वे **करण** कारक
किस हेतु से ले जाता है ? अध्ययन हेतु, वह **संप्रदान** कारक
कहां से ले जाता है ? घर से, वह **अपादान** कारक
कहां ले जाता है ? शाला में, वह **अधिकरण** कारक

बालक आदि छः ही ले जाने की क्रिया में कारणभूत होने से 'कारक' कहे जाते हैं। क्रियाव्यापार होने मे ये कर्ता आदि सबों की आवश्कता है। संप्रदान की भी क्रिया के उद्देश रूप से आवश्यकता है।

भगवान की आत्मा में छःकारकः–

प्रसंगवश यह देखिए कि अर्हत्प्रभु के आत्मतत्त्व में षट्कारक होते हैं। दृष्टान्तसे यह इस

तामस अणु वातावरण में फैल जाता है। तो मुक्त आत्मा का सर्वथा अभाव नहीं हो सकता है।

(२) उपचय नहीं इससे भी लय नहीं:-यदि आप को यह सिद्धान्त स्वीकार्य न हो तो लय मानने में और दूषण यह उपस्थित होता है कि एक सत्ता में दूसरी सत्ता का प्रवेश होने पर उपचय यानी वृद्धि नहीं होती है ऐसा नहीं। तो परमपुरुष स्वरूप सत्ता में मुक्तात्मा रूप सत्ता का प्रवेश होने पर परमपुरुष में कुछ भी वृद्धि न हो ऐसा नहीं, वृद्धि होनी ही चाहिए। एक पल प्रमाण घी में और पलमान घी का प्रवेश होता है तो अलबत्त दो अलग घी दिखाई नहीं पड़ते, फिर भी पूर्व घी में वृद्धि अवश्य होती है, एक का दो पल प्रमाण हो जाता है। अगर ऐसी परमपुरुष की सत्ता में वृद्धि होती है, फिर तो यही हुआ कि प्रवेश करने वाली मुक्तात्मा की सत्ता प्रवेश के बाद भी वैसी न वैसी कायम रही! किन्तु इसमें तो आप को असङ्गतता दिखाई देगी क्यों कि यह वृद्धि यानी उपचय तो परमपुरुष की मूल सत्ता की अपेक्षा अन्य सत्ता स्वरूप हुआ। दूसरी सत्ता ही उपचयरूप में प्राप्त हुई! असल में यही न्याय-प्राप्त है क्यों कि कई मुक्तात्मा एक आकाशावगाहना में रहते हुए भी प्रत्येक की सत्ता अलग अलग है।

मोह विष प्रसर कटकबन्धः-इस लिए जब लय में तो एकीभाव (अभेद) होने पर दोनों में से एक की सत्ता नष्ट ही हो जाती है, और (वृद्धि) होने पर मूल की अपेक्षा दूसरी सत्ता तदवस्थ रहने की आपत्ति आती है, तो मुक्त होने वाले आत्मादि का परमपुरुष, आकाश, आदि दूसरे पदार्थ में (दूसरे तत्त्व में) लय नही हो सकता है यह सिद्ध हुआ। यह लय का निषेध मोहविषप्रसर-कटकबन्ध रूप हुआ। तात्पर्य, जिस प्रकार सर्प आदि द्वारा दंश लगने पर तुरन्त विषप्राप्त देहभाग को रस्सी आदि से बांध देने से विष का प्रसरण नहीं होता है, इस प्रकार यहां लय का निषेध सिद्ध करने से मोह यानी मिथ्याबुद्धि आदि का प्रसरण नहीं हो सकता है।

भगवान में और प्रकार का निमित्तकर्तृत्व:-

प्र०-परम पुरुष में आप अगर निमित्तकर्तृत्व का निषेध करते हैं तो भगवान मोचक यानी दूसरें को मुक्त करने वाले भी कैसे हो सकेंगे? क्योंकि, यह भी एक प्रकार का निमित्तकर्तृत्व ही है न?

उ०-आप जगत्सर्जन के प्रति निमित्तकर्तृत्व का प्रतिपादन करते हैं वैसा तो नहीं किन्तु भव्य जीवों को विशुद्ध प्रणिधान-पूजन-ध्यानादि होने में भगवान आलम्बन रूपसे निमित्तकर्ता इष्ट हैं। मुक्त होने के लिए अति आवश्यक प्रणिधान-ध्यानादि का मुख्य रूप से तो कर्तृत्व यानी प्रयत्न भव्य जीवों का है, भगवान का नहीं; किन्तु वह प्रणिधान-पूजन-ध्यानादि वीतराग सर्वज्ञ श्री अरहंत भगवान का ही किया जाए तब मुक्ति हो सकती है। इस लिए वे भगवान जो असाधारण आलम्बनभूत हुए, इसे निमित्तकर्तृत्व कह सकते हैं। तो इस प्रकारका निमित्तकर्तृत्व और परमा-

तदेवं निमित्तकर्तुत्व–परभावनिवृत्तिभ्यां तत्त्वतो मुक्तादिसिद्धिः । ३० ।

(अष्टमसंपदुपसंहारः–) एवं जिनजापक–तीर्णतारक–बुद्धबोधक–मुक्तमोचकभावेन स्वपरहितसिद्धेः, आत्मतुल्यपरफलकर्तृत्वसंपदिति । ८ ।

(पं० –) तथाऽन्यस्यान्यत्र लयोऽप्यनुपपन्न इति दर्शयन्नाह **'न च,'** **'द्वयो'**:=मुक्तपरमपुरुषयो, **'एकीभावो'** लयलक्षणः, कुत इत्याह **'अन्यतराभावप्रसङ्गाद्'**, अन्यतरस्य=मुक्तस्य परमपुरुषस्य वा, **अभावप्रसङ्गात्**=असत्त्वप्राप्तेः, अन्यतरस्येतरस्वरूपपरिणतौ तत्र लीनत्वोपपत्तेः । एतदनभ्युपगमे (प्र०–....अत्रैव) दूषणान्तरमाह **'न'**, **'सत्तायाः'** परमपुरुषलक्षणायाः, **'सत्तान्तरप्रवेशे'**, **सत्तान्तरे**=मुक्तलक्षणे प्रविष्टे सतीत्यर्थः, **'अनुपचयः'** किन्तूपचय एव वृद्धिरूपः, घृतादिपलस्य पलान्तरप्रवेश इव । यद्येवं ततः किमित्याह **'उपचये च'** सत्तायाः, **'सैव'**प्राक्तनी पुरुषस्य मुक्तस्य वा, **'सा'** सत्ता, **'इति'**, **'अयुक्तम्'**=असङ्गतं, कुत ? यत. **'तदन्तरं'**=सत्तान्तरं पृथक् तत्सत्तापेक्षया, **'आपन्नः'** पाठान्तरे **'आसन्नः'** =प्राप्तः. **'स'** इत्युपचयः । क्वचिच्चासन्नमिति पाठस्तत्र तदन्तरमिति योज्यम् । **'इति नीतिः'**=एषा न्यायमुद्रा । अथ प्रकृतसिद्धिमाह **'न'**=नैव, **'एवं'**=द्वयोरेकीभावेऽन्यतराभावप्रसङ्गेन, उपचये तदन्तरापत्त्या वा, **'अन्यस्य'**=सामान्येन मुक्तादेः, **'अन्यत्र'**=पुरुषाकाशादौ, **'लय इति'**, एष लयनिषेधो **'मोहविषप्रसरकटकबन्धः'** एवं निषेधे हि कटकबन्ध इव विषं न मोहः प्रसरतीति । **'तत्'**=तस्माद्, **'एवम्'** =उक्तनीत्या, **'निमित्तकर्तुत्व–परभावनिवृत्तिभ्यां'**, निमित्तकर्तुत्वं च मुख्यकर्तृत्वायोगेन भव्यानां परिशुद्धप्रणिधानादिप्रवृत्त्यालम्बनतया, **परभावनिवृत्तिश्च** लयायोगलक्षणा, ताभ्यां **'तत्त्वतो'**=मुख्यवृत्त्या, **मुक्तादिसिद्धिः**=मुक्तमोचकसिद्धिः ।

---

(१) एक की सत्ता के नाश की आपत्तिवश लय अनुचित है:–

इच्छादिदूषण की आपत्तिवश तो मुक्त आत्मा का परम पुरुष (ब्रह्म) में लय मानना अनुचित है ही, लेकिन एक का दूसरे में लय हो भी नहीं सकता; क्योंकि लय है एकीभाव; अब उदाहरणार्थ प्रस्तुत में देखिए कि मुक्तात्मा और परम पुरुष दोनों का एकीभाव अगर होता हो तो फलतः मुक्तात्मा या परम पुरुष दोनों में से एक का अभाव हो जाएगा अर्थात् एक असत् हो जाएगा । लय यानी लीनता तभी उपपन्न हो सकती है कि जब एक दूसरे के स्वरूप में परिणत हो जाए, याने बिलकुल दूसरे के साथ अभिन्न रूप बन जाए । अर्थात् वहां जिसका मूल स्वरूप यथावत् कायम रहेगा वह लय का आधार होगा, और लय पाने वाले का स्वरूप नष्ट हो जाएगा । लेकिन अपना स्वरूप ही नष्ट हुआ, तो कहां से वह सत् रहेगा? असत् ही हो जाएगा । किन्तु ऐसा कभी हो नहीं सकता । कारण 'नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः'–असत् की उत्पत्ति यानी सद्भाव जैसे कि आकाशकुसुम का कभी सद्भाव नहीं होता है, और सत् का सर्वांश नाश कभी नहीं हो सकता । दीपक जल जाने पर भी श्याम

अत्राप्युक्तम्, 'विभक्तेदृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते। प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छे, यथा चन्द्रमसोऽम्भसि'। अस्य व्याख्या—विभक्ता चासौ आत्मन इदृक्परिणतिश्च प्रतिबिम्बोदयरूपेति विग्रहः। तस्यां सत्यां सैव भोग इत्यर्थः। क्व या परिणतिरित्याह 'बुद्धौ' अन्तःकरणलक्षणायां, भोगो' विषयग्रहणरूपः, 'अस्य'=आत्मनः, 'कथ्यते' आसुरिप्रभृतिभिः। किंवदित्याह 'प्रतिबिम्बोदयः'=प्रतिबिम्बपरिणामः, 'स्वच्छे'=निर्मले, 'यथा चन्द्रमसो' वास्तवस्य, 'अम्भसि'=उदके, तद्वदिति। अथ प्रकृतं व्याख्यायते 'बुद्ध्यध्यवसितं....' बुद्ध्या अनन्तरोक्तया, अध्यवसितं=प्रतिपन्नं, 'अर्थं'=शब्दादिविषयं, पुरुषः= आत्मा, चेतयते=जानाति, अर्थचेतने बुद्धेरन्तरङ्गकरणत्वात्।

समस्त जड़ सृष्टि का मूल 'प्रकृति' है, और वह त्रिगुणात्मक यानी सत्त्व, रजस् तमस्,- इन तीन गुणों की साम्यावस्था स्वरूप है, समान अंश वाले तीनों के एकरस समूहरूप है। उसी को 'प्रधान' तत्त्व भी कहते हैं। प्रकृति जब विषमावस्थापन्न गुणों वाली होती है तब वह महत् तत्त्व कहलाती है तो प्रकृति से महान उत्पन्न हुआ, यहि 'बुद्धि' का दूसरा नाम है। महत्तत्त्व कहो, बुद्धि कहो एक ही चीज है। बुध्धि से अहङ्कार उत्पन्न होता है। वह स्वयं आत्मा न होते हुए भी आत्माभिमान रूप है। इससे ५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय और १ मन (अन्तःकरण) उत्पन्न होते हैं। श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन,-ये पांचों ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। जिह्वा, हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ (स्त्री-पुरुष का लिङ्ग), ये पांचों कर्मेन्द्रियाँ हैं, बोलने आदि क्रिया में उपयुक्त इन्द्रिय हैं। ग्यारहवाँ मन सोचने आदि में उपयुक्त होता है। ये सब अहङ्कार तत्त्व से उत्पन्न हुए हैं। इसी अहंकार से पांच तन्मात्राएँ भी उत्पन्न होती हैं। वे गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द के सूक्ष्म स्वरूप हैं। इस प्रकार अहंकार से सोलह तत्त्व उत्पन्न होते हैं। पंच तन्मात्राओं से क्रमशः पृथ्वी-जल-तेज-वायु-आकाश, इन पांच भूतों की उत्पत्ति होती हैं। प्रकृति से ले कर पंचभूतों तक १+१+१+१६+५ सब मिलाकर २४ तत्त्व और २५ वां पुरुष(चेतन)तत्त्व सांख्य दर्शन को मान्य हैं।

ज्ञान चेतन का नहीं किन्तु बुद्धि का धर्म क्यों ?:—यहां बुद्धि यह प्रकृति का ही एक विकार है, विकृत स्वरूप है, अतः अचेतन है। किन्तु दर्पण के समान वह स्वच्छ होने से उसमें चैतन्य के सहज स्वभाव वाले पुरुष का प्रतिबिम्बसदृश संबन्ध होता है, इस लिए बुद्धि सचेतन जैसी भासती है। कहा गया है कि,

पुरुषोऽविकृतात्मैव स्वनिर्भासमचेतनम्। मनः करोति सान्निध्यादुपाधिः स्फटिकं यथा ॥१॥

इसकी व्याख्याः—पुरुष अर्थात आत्मा अविकृत स्वरूप ही है, कूटस्थ नित्य है, यानी परिणामान्तर रूप से भी परिवर्तनशील नहीं है, अपरिणामी नित्य है। वह अपने सान्निध्यसे जड अन्तःकरण को स्वनिर्भास बनाता है, यानी स्वाकार वाला चेतन-सा कर देता है; जैसे स्फटिक के पीछे लगी हुई पद्मराग आदि रत्न स्वरूप उपाधि अपने सान्निध्य से उज्ज्वल

३१. सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं (सर्वज्ञेभ्यः सर्वदर्शिभ्यः)

(ल०–बुद्धिधर्मभूतज्ञानवादि–सांख्यमतम्ः–) एतेऽपि बुद्धियोगज्ञानवादिभिः कापिलैरसर्वज्ञा असर्वदर्शिनश्चेष्यन्ते, 'बुद्ध्यध्यवसितमर्थंपुरुषश्चेतयते' इति वचनात्।

(पं०–) 'बुद्ध्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते' इति। अत्र हि सांख्यप्रक्रिया –सत्त्वरजस्तमोलक्षणास्त्रयो गुणाः, तत्साम्यावस्था प्रकृतिः, सैव च प्रधानमित्युच्यते। प्रकृतेर्महान्, महदिति (अ०....महानिति) बुद्धेराख्या। महतोऽहङ्कारः आत्माभिमानः। ततः पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि, वाक्पाणिपादपायूपस्थलक्षणानि पञ्चैव कर्मेन्द्रियाणि, एकादशरूपं (प्र०....दशमिच्छारूपं) मनः, तथा पञ्च तन्मात्राणि गन्धरसरूपस्पर्शशब्दस्वभावानि। तन्मात्रेभ्यश्च यथाक्रमं भूप्रभृतीनि पञ्च महाभूतानि प्रवर्त्तन्ते इति। अत्र च प्रकृतिविकारत्वेनाचेतनापि बुद्धिश्चैतन्यस्वरूपपुरुषोपरागात् (प्र०....षोपगमात्) सचेतनेवावभासते। तदुक्तं, **'पुरुषोऽविकृतात्मैव स्वनिर्भासमचेतनम्। मनः करोति सान्निध्यादुपाधिः स्फटिकं यथा'** अस्य व्याख्या,–'पुरुषः'=आत्मा, 'अविकृतात्मैव'=नित्य एव, 'स्वनिर्भासं'=स्वाकारम्, 'अचेतनं'= चैतन्यशून्यं सत् 'मन':=अन्तःकरणं, 'करोति'=विदधाति, 'सान्निध्यात्'=सांनिध्यमात्रेण, निदर्शनमाह 'उपाधिः'=पद्मरागादिः, 'स्फटिकं' उपलविशेषं, यथा स्वनिर्भासं करोति तत्परिणामान्तरापत्तेः, भोगोऽप्यस्य मनोद्वारक एव।

वनिवृत्ति, इन दोनों से संपन्न हो भगवान मुक्त और मोचक सिद्ध होते हैं। परभावनिवृत्ति का मतलब यह है कि 'पर' यानी किसी अनादि शुद्ध ब्रह्म रूप से, 'भाव' यानी भवन अर्थात लय, 'निवृत्त' है, यानी नहीं होता है। तब स्वतन्त्र यत्न से मुक्त होना, और आलम्बन स्वरूप निमित्तकर्तृत्व से औरों को मुक्त कराना,–इन दोनों वस्तुस्थितियों से भगवान मुक्त और मोचक हैं।३०।

स्वात्मतुल्यपरफलकर्तृत्वनाम की ८ वीं संपदा का उपसंहारः–

इस प्रकार अरिहंत परमात्मा स्वयं जिन, तीर्ण, बुद्ध, और मुक्त हुए हैं और अन्य भव्य जीवों को ऐसे बनाते हैं, अर्थात् वे जापक, तारक, बोधक एवं मोचक भी हैं; तो इन जिणाणं–आवयाणं से 'मुत्ताणं मोयगाणं' तक के चार पदों की 'स्वात्मतुल्य–परफलकर्तृत्व' नाम की संपदा हुई; क्योंकि जिन–जापक आदिरूप से वे स्व और पर दोनों का हित करते हैं, स्वात्मा के ठीक समान ही चरम फल मोक्ष दूसरों को भी पैदा करते हैं।८।

३१. सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं (सर्वज्ञ–सर्वदर्शी के प्रति)

बुद्धिनिष्ठज्ञानवादी कापिलों (सांख्यों) की प्रक्रिया–

अब 'सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं' पद की व्याख्या। ऐसे भी परमात्मा कपिलमतानुयायी सांख्यों को असर्वज्ञ–असर्वदर्शी रूप से स्वीकृत है; क्योंकि वे बुद्धियोगज्ञान–वादी हैं, अर्थात जड़ प्रकृति से उत्पन्न बुद्धि–तत्त्व में ज्ञानगुण का योग होता है ऐसा मानने वाले हैं। उनका शास्त्र कहता है 'बुद्ध्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते' पदार्थ तो बुद्धितत्त्व से गृहीत होता है किन्तु उसका, आत्मा में भास होता है। यह कैसे होता है इस बारे में सांख्यों की प्रक्रिया ज्ञातव्य है। वह इस प्रकार है,—

अत्राप्युक्तम्, 'विभक्तेदृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते । प्रतिविम्बोदयः स्वच्छे, यथा चन्द्रमसोऽम्भसि' । अस्य व्याख्या-विभक्ता चासौ आत्मन इदृक्परिणतिश्च प्रतिविम्बोदयरूपेति विग्रहः । तस्यां सत्यां सैव भोग इत्यर्थः । क्व या परिणतिरित्याह 'बुद्धौ' अन्तःकरणलक्षणायां, भोगो' विषयग्रहणरूपः, 'अस्य'=आत्मनः, 'कथ्यते' आसुरिप्रभृतिभिः । किंवदित्याह 'प्रतिविम्बोदयः'=प्रतिबिम्बपरिणामः, 'स्वच्छे'=निर्मले, 'यथा चन्द्रमसो' वास्तवस्य, 'अम्भसि'=उदके, तद्वदिति । अथ प्रकृतं व्याख्यायते 'बुद्धयध्यवसित....' बुद्ध्या अनन्तरोक्तया, अध्यवसितं=प्रतिपन्नं, 'अर्थं'=शब्दादिविषयं, पुरुषः= आत्मा, चेतयते=जानाति, अर्थचेतने बुद्धेरन्तरङ्गकरणत्वात् ।

समस्त जड़ सृष्टि का मूल 'प्रकृति' है, और वह त्रिगुणात्मक यानी सत्त्व, रजस् तमस्,-इन तीन गुणों की साम्यावस्था स्वरूप है, समान अंश वाले तीनों के एकरस समूहरूप है। उसी को 'प्रधान' तत्त्व भी कहते हैं। प्रकृति जब विषमावस्थापन्न गुणों वाली होती है तब वह महत् तत्त्व कहलाती है तो प्रकृति से महान उत्पन्न हुआ, यहि 'बुद्धि' का दूसरा नाम है। महत्तत्त्व कहो, बुद्धि कहो एक ही चीज है। बुध्धि से अहङ्कार उत्पन्न होता है। वह स्वयं आत्मा न होते हुए भी आत्माभिमान रूप है। इससे ५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय और १ मन (अन्तःकरण) उत्पन्न होते हैं। श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन,-ये पांचों ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। जिह्वा, हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ (स्त्री-पुरुष का लिङ्ग), ये पांचों कर्मेन्द्रियाँ हैं, बोलने आदि क्रिया में उपयुक्त इन्द्रिय हैं। ग्यारहवाँ मन सोचने आदि में उपयुक्त होता है। ये सब अहङ्कार तत्त्व से उत्पन्न हुए हैं। इसी अहंकार से पांच तन्मात्राएँ भी उत्पन्न होती हैं। वे गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द के सूक्ष्म स्वरूप हैं। इस प्रकार अहंकार से सोलह तत्त्व उत्पन्न होते हैं। पंच तन्मात्राओं से क्रमशः पृथ्वी-जल-तेज-वायु-आकाश, इन पांच भूतों की उत्पत्ति होती हैं। प्रकृति से ले कर पंचभूतों तक १+१+१+१६+५ सब मिलाकर २४ तत्त्व और २५ वां पुरुष(चेतन)तत्त्व सांख्य दर्शन को मान्य हैं।

ज्ञान चेतन का नहीं किन्तु बुद्धि का धर्म क्यों ?:-यहां बुद्धि यह प्रकृति का ही एक विकार है, विकृत स्वरूप है, अतः अचेतन है। किन्तु दर्पण के समान वह स्वच्छ होने से उसमें चैतन्य के सहज स्वभाव वाले पुरुष का प्रतिविम्बसदृश संबन्ध होता है, इस लिए बुद्धि सचेतन जैसी भासती है। कहा गया है कि,

पुरुषोऽविकृतात्मैव स्वनिर्भासमचेतनम् । मनः करोति सान्निध्यादुपाधिः स्फटिकं यथा ॥१॥

इसकी व्याख्याः—पुरुष अर्थात् आत्मा अविकृत स्वरूप ही है, कूटस्थ नित्य है, यानी परिणामान्तर रूप से भी परिवर्तनशील नहीं है, अपरिणामी नित्य है। वह अपने सान्निध्यसे जड अन्तःकरण को स्वनिर्भास बनाता है, यानी स्वाकार वाला चेतन-सा कर देता है; जैसे स्फटिक के पीछे लगी हुई पद्मराग आदि रत्न स्वरूप उपाधि अपने सान्निध्य से उज्ज्वल

(ल०–सांख्यमतनिरसनम्ः मत्तोऽन्ये मदर्थाश्च गुणाः–) एतन्निराकरणायाह 'सर्वज्ञेभ्यः सर्व्वदर्शिभ्यः' सर्व्वं जानन्तीति सर्वज्ञाः, सर्व्वं पश्यन्तीति सर्व्वदर्शिनः, तत्स्वभावत्वे सति निरा-

---

स्फटिक मणि को रक्त–सा कर देती हैं। स्फटिक के पृष्ठ भाग में पद्मराग रत्न रहा हो तो स्फटिक उज्ज्वल नहीं, किन्तु रक्त दिखाई पडता है; इस प्रकार पुरुष (आत्मा) के सन्निधानसे अचेतन भी अन्तःकरण (बुद्धि) में जडता नहीं किन्तु चैतन्य भासमान होता है, 'चेतनोऽहं करोमि' –'मैं चेतन करता हूँ, जानता हूँ....'इत्यादि भास होता है। शायद आप पूछेंगे

प्र०-यह भास बुद्धि नहीं किन्तु पुरुष ही करता है,–ऐसा मान ले तो क्या?

उ०–ऐसा अगर मान लेंगे तो 'मैं पुरुष करता हूँ' इस प्रतीति से कृति (प्रयत्न)–धर्म पुरुष में मानने की आपत्ति लगेगी।

प्र०–ऐसा क्यों? जिस प्रकार बुद्धि में चैतन्य न होते हुए भी उसका भ्रम मान लेने से काम चलता है, वहां बुधि में सचमुच चैतन्य की आपत्ति नहीं लगती है, इसी प्रकार पुरुष में कृति न होती हुई उसका भ्रम मान लेने से सचमुच कृति की आपत्ति नहीं है। तो 'मैं चेतन करता हूँ'–ऐसा भ्रम बुद्धि मे ही है, पुरुष में नहीं,–ऐसा क्यों?

उ०–पुरुष मे अगर भ्रम मानेंगे तो उसमें उतना भ्रम–ज्ञानरूप परिणाम उत्पन्न होने की दृष्टि से पुरुष में परिवर्तन मानना पडेगा। तब तो उसका कुटस्थ नित्यपन खण्डित हो जाने से चैतन्य ही निषिद्ध हो जाएगा। चैतन्य पदार्थ तो सदा सर्वत्र तदवस्थ ही रहता है। अतः चेतन पुरुष का दोष नहीं माना जा सकता। इसलिए शब्दादि विषयों का भोग–उपभोग अनुभव पुरुष मे उत्पन्न–सा दिखाई पड़ने पर भी वस्तुगत्या बुद्धितत्त्व में उत्पन्न हो पुरुष मे प्रतीत होता है। इसी पर भी कहा गया है कि-

विभक्तेदृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते। प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छे, यथा चन्द्रमसोऽम्भसि।१।

इसकी व्याख्या,–जब आत्मा से पृथक् प्रतिबिम्बपरिणति अन्तःकरण रूप बुद्धि में उत्पन्न होती है तभी वह भोग कही जाती है। भोग का मतलब है शब्दादि विषयों का ग्रहण। जिस प्रकार निर्मल जल में वास्तविक चन्द्र का प्रतिबिम्ब पड़ता है तब जल चन्द्र वाला प्रतीत होता है, इस प्रकार बुद्धि में वास्तविक चेतन का प्रतिबिम्बात्मक परिणाम होता है तभी वह विषयग्रहण वाला भासित होता है। यही भोग कहा जाता है,–ऐसा सांख्यमत के आदिपुरुष कपिल के शिष्य आसुरिप्रमुख मानते हैं। यह सांख्यप्रक्रिया दिखाई गई।

अब प्रस्तुत मे सांख्यसूत्र 'बुद्ध्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते', इसकी व्याख्या की जाती है। बुद्धि जो प्रकृतिविकार स्वरूप पूर्व कही गई, इससे गृहीत शब्दादि विषय रूप अर्थ को चेतन प्रतिबिम्बपरिणाम रूप मे जानता है, स्वकीय मूल रूप मे नहीं, क्यों कि विषय के स्फुरण में तो अन्तरङ्ग कारण बुद्धि है। पहले बुद्धितत्त्व विषयग्रहण का कार्य करे यानी विषयाकार परिणत हो बाद मे ही वहां प्रतिबिम्बित चेतन भास कर सकता है।

वरणत्वात् । मत्तोऽन्ये मदर्थाश्च गुणा इति अतस्तत्तत्स्वभावत्वसिद्धिः । उक्तं च, 'स्थितः शीतांशुवज्जीवः प्रकृत्या भावशुद्धया । चन्द्रिकावच्च विज्ञानं तदावरणमभ्रवद् ॥ १ ॥ इत्यादि ।

(पं०-) 'मत्तोऽन्ये मदर्थाश्चे'त्यादि; इह किलैकदा भगवानर्हन् द्रव्यान् पर्यायान् भिन्नानभिन्नांश्च स्वशिष्येभ्य आचिख्यासुरात्मानमेवातिसन्निहिततयोद्दिश्याह मत्तो=मत्सकाशाद्, अन्ये=पृथक्. गुणाः=ज्ञानदर्शनोपयोगादयः, *लक्षण–संख्या–प्रयोजन–संज्ञाभेदात्* । तथाहि,–'गुणपर्यायवद् द्रव्यमि'ति लक्षणोऽहं (तत्त्वार्थ० ५–३७) 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' इतिलक्षणाश्च गुणाः (तत्त्वार्थ० ५–४०) एकोऽहमनेके गुणाः, बन्धमोक्षादिक्रियाफलवानहं विषयावगमादिफलाश्च गुणाः । अर्हत्तीर्थकरपारगतादिशब्दवाच्योऽहं, धर्मपर्यायादिशब्दवाच्याश्च गुणाः । **मदर्थाश्चेति**, अहमर्थः साध्यं येषां ते तथा । न हि गुणवृत्तिविलक्षणा काचिदैकान्तिकी ममापि प्रवृत्तिरस्ति तथाप्रतिभासात् । 'इति' वाक्यपरिसमाप्तौ । 'अत' एतद्वाश्यात्, **'तत्तत्स्वभावत्वसिद्धिः'**, तेषां=गुणानां **तत्स्वभावत्वसिद्धिः** द्रव्यस्वभावत्वसिद्धिः ।

सांख्यमत का खण्डनः

अब सांख्यमत का खण्डन करने के लिए कहते हैं :'सर्वज्ञेभ्यः सर्वदर्शिभ्यः' 'सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं' । सर्वज्ञ वे कहे जाते हैं जो समस्त (द्रव्य–पर्यायों) को जानते हैं; और सर्वदर्शी वे हैं, जो समस्त को देखते हैं । समस्त को जानने व देख सकने का कारण यह है कि वे बिलकुल आवरणरहित हो गये हैं और ज्ञान–दर्शन के स्वभाववाले हैं । यह बात आगे ठीक समझाई गई है । ऐसे स्वभाव से यह सूचित होता है कि जीव न तो स्वयं ज्ञानदर्शनादिगुण हैं, या न तो ज्ञानादि गुणशून्य हैं । बौद्ध और अद्वैतवादी तो ब्रह्म को ज्ञानस्वरूप मानते हैं; सांख्य आत्मा को सर्वथा गुणशून्य कहते हैं । किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि ज्ञानादि गुण आत्मा के स्वभाव हैं, और आत्मा से कथंचित् भिन्न हैं । कहा गया है कि

'मत्तोऽन्ये मदर्थाश्च गुणाः' । इसका अर्थ यह है कि 'गुण मुझ से भिन्न हैं और मेरे लिये हैं ।' यह कौन कह रहे हैं इस जिज्ञासा का समाधान यह है कि यहां अरहंत भगवान के द्वारा एक समय अपने शिष्यों के प्रति द्रव्यों और पर्यायों को परस्पर भिन्न भी एवं अभिन्न भी प्रस्तुत करना है इसलिए स्वात्मा को ही उद्देश्य बना कर प्रथम पुरुष से प्रतिपादन किया जाता है; क्यों कि और द्रव्यों की अपेक्षा आत्मा अपने से अति निकट है, तो आत्मा को ही उद्देश्य में रख कर उसमें जिस बात का प्रतिपादन किया जाए वह स्वसंवेदन द्वारा सुज्ञेय हो सकती है । इस लिए भगवान शिष्यों को द्रव्य–पर्यायों की परस्पर में भिन्नता और अभिन्नता (भेद और अभेद) समझाने के लिए दृष्टान्त रूप से अपने आत्मद्रव्य और उसके गुण के सम्बन्ध में यह कथन करते हैं कि 'मेरी आत्मा से मेरे ज्ञान–दर्शनोपयोगादि गुण भिन्न हैं,' किन्तु खुद आत्मा वही गुण ऐसा नहीं ।

लक्षण-संख्या-प्रयोजन-नाम के भेद से द्रव्य-पर्याय में भेद :—

(१. लक्षणभेद) आत्मा से गुण भिन्न होने का कारण यह है कि किसी भी द्रव्य और पर्याय के लक्षण, संख्या, प्रयोजन एवं अभिधान भिन्न भिन्न होते हैं। यह इस प्रकार,—श्री तत्त्वार्थमहाशास्त्र में द्रव्य का लक्षण और गुण का लक्षण, ये अलग अलग दिखलाये गये हैं; वहां कहा है, 'गुणपर्यायवद् द्रव्यम्' (अ० ५. सू० ३७.) जो गुण-पर्याय वाला है वह द्रव्य है। 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' (अ० ५. सू० ४०) जो गुण हैं वे द्रव्य में रहते हैं, और स्वयं निर्गुण यानी गुणशून्य होते हैं; गुण में गुण नहीं रहता है। तो यहां द्रव्य और गुण में लक्षणभेद आया।

द्रव्य परिणामी आधार क्यों:—

यहां प्रसङ्गावश यह लक्ष में लेने योग्य है कि न्यायादि दर्शन भी द्रव्य को गुणवाले तो मानते हैं लेकिन वे गुणको सर्वथा पृथक् मानते हुए अतिरिक्त समवायसंबन्ध से द्रव्य में उनका संबन्ध मानते हैं; वहां,—'इसमें समवाय का कौनसा संबन्ध? समवाय आश्रयभेद एवं गुणभेद से भिन्न भिन्न या एक ही? गुण सर्वथा पृथक् होने पर द्रव्य का निजी स्वरूप क्या रहा? समान सामग्री रहने पर भी गुण अमुक ही द्रव्य में उत्पन्न हो सके अमुक में नहीं, इसका क्या कारण? जैसे विषय-इन्द्रिय-संयोग, इन्द्रिय-मन-संयोग के बाद मन-आत्मा के संयोग से प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है तो यह ज्ञान आत्मा में ही उत्पन्न हो मन में नहीं ऐसा क्यों?...इत्यादि कई आपत्तियां खड़ी होती है; जब कि जैन दर्शन द्रव्य को, गुण-पर्याय वाला जो मानता है वह गुण-पर्याय का परिणामी आधार मानता है। परिणामी आधार का मतलब यह है कि खुद द्रव्य का उस उस गुण मे परिणमन होता है उस उस गुण से तद्रूप होता है। देखते भी हैं कि गुड़ में माधुर्य है तो खुद गुड़ द्रव्य माधुर्य गुण मे परिणत हुआ है, माधुर्य के साथ तन्मय हुआ है। किसी अग्निताप आदि के संयोग से गुण पलट जाए तो वहां खुद वही द्रव्य पूर्व परिणमन को छोड कर नये गुण मे परिणत हुआ देखते हैं। यह तभी सङ्गत हो सकता है कि जब द्रव्य के साथ गुण भेदाभेद संबन्ध से संबद्ध हो, द्रव्य गुण का परिणामी आधार हो, अर्थात् द्रव्य अपने मूल वैयक्तिक स्वरूप मे अचल रह कर गुण-पर्याय रूप में परिणमनशील हो। यही अनेकान्तवाद की वास्तविकता है, यथार्थदर्शिता है, प्रमाणाबाध्यता है।

तो द्रव्य तो गुण-पर्याय का परिणामी आधार हुआ, आश्रय हुआ, और गुण-पर्याय आश्रित हुए। गुण अपना किसी मूल वैयक्तिक स्वरुप कायम रख कर अन्य गुण में परिणत होता हो ऐसा नहीं बनता है, अतः निर्गुण हैं। द्रव्य और गुणपर्याय में लक्षणभेद की तरह (२) संख्याभेद भी है। द्रव्य एक है और इसमें स्थित गुण अनेक होते हैं; जैसे कि गुड़ में वर्ण, रस, गंध, स्पर्श....इत्यादि कई गुण हैं, आत्मा में ज्ञान-दर्शन आदि अनेक गुणपर्याय रहते हैं। (३.) फलभेद भी हैं; द्रव्य का कार्य अलग, गुणों का अलग। उदाहरणार्थ आत्मद्रव्य बन्धक्रिया, मोक्षक्रिया,

वगैरह कार्य करता है, और उसके ज्ञानादि गुण विषयप्रकाशादि का कार्य करते हैं। (४) संज्ञाभेद यानी नामभेद भी है; एक 'द्रव्य' कहा जाता है दूसरा 'गुण'। भगवान कहते हैं कि मेरे नाम अर्हत्, तीर्थकर, पारगत, जिनेन्द्र इत्यादि हैं, जब कि मेरे ज्ञानादि के नाम हैं गुण, धर्म, पर्याय इत्यादि। इन चार भेदों से सूचित हुआ कि द्रव्य और गुण में भेद है, गुण पृथक् है।

यह 'मत्तो अन्ये गुणाः' की व्याख्या हुई। अब 'मदर्थाश्च गुणा': की व्याख्या। मैं हूं अर्थ यानी साध्य जिनका ऐसे गुण 'मदर्थ' हुए। उदाहरण के लिए यदि धर्मार्थ शरीरादि है, तब धर्म शरीरादि का साध्य हुआ; वहां शरीरादि की प्रवृत्ति धर्म-प्रवृत्ति ही होगी, धर्मप्रवृत्ति शरीरादि-प्रवृत्ति रूप ही होगी, और कुछ नहीं, वाग्-मन-काया का निग्रह भी एक प्रकार की निवृत्त्यात्मक प्रवृत्ति ही है। इस प्रकार आत्मार्थ गुण होने से गुणवर्तना को छोडकर आत्मा में और कोई ऐकान्तिक स्वतन्त्र प्रवृत्ति नहीं है। उसकी जो कोई प्रवृत्ति होती है वह किसी न किसी गुण-पर्याय के वर्तना रूप होती है। गुणों का वर्तन वही आत्मा का वर्तन; चूंकि वैसा दिखाई पडता है कि गुण-पर्याय की कुछ भी वृत्ति हम लक्ष में न लें, तो केवल आत्मा की कौनसी प्रवृत्ति हमें ज्ञात होती है? कोई नहीं। इससे यह सिन्ध होता है कि द्रव्य की ऐकान्तिक स्वतन्त्र वृत्ति जब कोई नहीं, किन्तु गुण पर्याय की वृत्ति ही द्रव्यप्रवृति है, तब गुण-पर्याय द्रव्यस्वभाव है; कारण द्रव्य एवं गुणपर्यायों की एक ही वृत्ति यानी वर्तन हुआ। यहाँ शायद शङ्का हो सकती है कि तब तो द्रव्य गुणपर्याय रूप ही होगा, अतिरिक्त द्रव्य मानने की क्या आवश्यकता? इसका समाधान यह है कि गुणपर्याय आधार के बिना कैसे ठहरेंगे, और किसमें उत्पन्न-विनष्ट होंगे? इसके लिए द्रव्य नामकी अतिरिक्त चीज माननी आवश्यक ही है।

चन्द्र-चन्द्रिका का दृष्टान्तः-

ऐसे आत्मद्रव्य के स्वभावभूत ज्ञानादि गुण, आवरण निर्मूल नष्ट होने पर, पूर्णरूप से अभिव्यक्त हो जाए यह सयुक्तिक है। कहा गया है कि जीव भावशुध्धि यानी मौलिक सहज शुध्धि की प्रकृति से निर्मल चन्द्र की तरह अवस्थित है; और उसका ज्ञानगुण, चन्द्रप्रकाश जिसे चन्द्रिका, ज्योत्स्ना आदि कहते हैं, उसके समान है; तथा ज्ञान का आवरण कर्मवादल के तुल्य है। बादल कोई न हो तो चन्द्र की ज्योत्स्ना पूर्ण रूपतया प्रकाशमान होती है।

सांख्य प्रश्न के उत्तरः-मोक्ष में विना साधन ज्ञान कैसे हो शके ?

प्र०-जब बुद्धिसंबद्ध पुरुष (आत्मा) में विषयचैतन्य का भास होने के लिए बुद्धितत्त्व करण यानी साधन है, और मुक्तावस्था में बुद्धि का संबन्ध तो छूट जाता है, क्यों कि उसके मूल उपादान प्रकृति का ही वियोग हो जाता है, तब वहां साधनभूत बुद्धि ही न रहने से कोई ज्ञान रूप कार्य नहीं होगा तो सर्व सर्वज्ञत्व-सर्वदर्शित्व तो कैसे ही उत्पन्न हो सके?

उ०-सांख्यों का यह कथन, अर्थात करण(साधन) के अभाव में कर्ता के द्वारा कोई कार्य न हो

(ल०-करणाभावे मोक्षे जीवः कथं ज्ञानकर्ता?-) 'न करणाभावे कर्ता तत्फलसाधकः' इत्यप्यनैकान्तिकम्, परिनिष्ठितप्लवकस्य तरकाण्डाभावे प्लवनसंदर्शनादिति। न, चौदयिकक्रियाभावरहितस्य ज्ञानमात्राद् दुःखादयः, तथानुभवतस्तत्स्वभावत्वोपपत्तेः।

(पं०-) अर्थचेतने पुरुषस्य किल बुद्धिः करणं, प्रकृतिवियोगे च मुक्तावस्थायां करणाभावान्न सर्वज्ञत्वं सर्वदर्शित्वं वा संभवतीतिपराकूत(प्र०... परोक्तं तत्)निराकरणायोवाच 'न च करणे'त्यादि। सुगमं चैतत्। ननु नीलपीतादय इव बहिरर्थधर्मा दुःखद्वेषशोकवैषयिकसुखादयः; ततो मुक्तावस्थायां सर्वज्ञत्वसर्वदर्शित्वाभ्युपगमे बहिरर्थवेदनवेलायां सर्वदुःखाद्यनुभवस्तस्य प्राप्नोतीत्याशङ्कापरिहारायाह 'न चौदयिके' त्यादि, न च=नैव, औदयिकक्रियाभावरहितस्य = असद्वेद्यादिकर्मविपाकप्रभवस्वपरिणामरहितस्य, 'ज्ञानमात्रात्' परिज्ञानादेव, 'दुःखादयो'=दुःखद्वेषादयः (प्र०....दुःखोदयो'=दुःखद्वेषोदयो), हेतुमाह 'तथानुभवतः'=ज्ञानमात्रादेव दुःखाद्यनुभवने भवतः (प्र०....दुःखाद्यनुभवात्) तत्स्वभावतत्त्वोपपत्तेः'= दुःखादीनामौदयिकक्रियाऽभावस्वभावत्वोपपत्तेरिति।

सकना इस नियम का प्रतिपादन, व्यभिचारी है, वास्तव नियमबद्ध नहीं है। कारण, देखते हैं कि जो बिलकुल निष्णात तैराक हो गया है वह तैरानेवाले किसी साधन की सहायता लिए बिना ही तैर जाता है। तो बिना साधन भी कार्य हुआ न? मोक्ष में भी सर्वज्ञानदर्शन रूप कार्य, आत्मा की निष्णातता यानी प्रगट सहज ज्ञानदर्शनस्वभाव के कारण, हो सकता है।

प्र०-जिस प्रकार नील, पीत आदि धर्म बाह्य पदार्थ के हैं तो बाह्य पदार्थका ज्ञान होने समय उन नीलादि धर्मों का संवेदन होता है, इस प्रकार, दुःख-द्वेष-शोक-वैषयिकसुख वगैरह भी बाह्य पदार्थ के धर्म हैं, तो मोक्ष में सर्वज्ञत्व अलग मानेंगे तो सर्व पदार्थों का ज्ञान होने समय दुःखादि का भी संवेदन होने की आपत्ति क्यों नहीं लगेगी?

उ०-यह गलत समझ है कि आप नीलादि धर्मों और दुःखादि धर्मों को समान मान रहे हैं। नीलादि धर्म तो बाह्य पदार्थों में अपनी सामग्रीवश उत्पन्न हो नाश पर्यन्त यों ही ठहरते हैं; जब कि दुःख-द्वेष-शोकादि धर्म तो बाह्य पदार्थ के निमित्तवश उत्पन्न होते हुए भी यदि आत्मा के कर्मों की औदयिक अवस्था हुई हो तभी उत्पन्न होते हैं, कहिये ये कर्मों के औदयिकभाव स्वरूप होते हैं। तो फलित यह हुआ कि पदार्थ वैसा न वैसा रहा हो, किन्तु कर्मों के औदयिकभाव की क्रिया का भाव न रहने पर,-अर्थात असातावेदनीयादि कर्मों के विपाक से जन्य स्वपरिणाम के शून्य काल में,-पदार्थज्ञान होने पर भी दुःखादि का संवेदन नहीं होता है। तात्पर्य, ज्ञानमात्र से दुःखद्वेषशोकादि का अनुभव नहीं होता है। देखते भी हैं कि योगी, संतपुरुष एवं विवेकी जन पदार्थज्ञान करते पर भी प्राकृत जन की तरह मनोदुःख, द्वेष, शोक इत्यादि में निमग्न नहीं रहते। ऐसा क्यों? इसीलिए कि वे अपने दुर्बल कर्मों को सफल नहीं होने देते हैं। बस, तो जहाँ मोक्षमें समस्त कर्मों का अभाव ही है, यानी किसी कर्म का

(ल०-ज्ञानदर्शनप्रत्येकस्य कथं सर्वार्थविषयत्वम् ?-) अन्यस्त्वाह, ज्ञानस्य विशेषविषयत्वाद् दर्शनस्य च सामान्यविषयत्वात् तयोः सर्वार्थविषयत्वमयुक्तं, तदुभयस्य सर्वार्थविषयत्वादिति। उच्यते, न हि सामान्यविशेषयोर्भेद एव, किन्तु त एव पदार्थाः समविषमतया संज्ञायमानाः सामान्यविशेषशब्दाभिधेयतां प्रतिपद्यन्ते; ततश्च त एव ज्ञायन्ते त एव दृश्यन्ते इति युक्तं ज्ञानदर्शनयोः सर्वार्थविषयत्वमिति।

उदयभाव नहीं, वहां सर्वपदार्थज्ञान होने पर भी दुःखादि का लेशमात्र स्पर्श न करे यह सहज है। दुःखादि का उदय ज्ञानस्वभाव नहीं किन्तु कर्मों की औदयिक क्रियास्वभाव ही होना युक्तियुक्त है- क्योंकि यदि आप के मत से दुःखादि का अनुभव ज्ञानमात्र से होता हो, और कर्मों की औदयिक क्रिया से नहीं, तभी वह दुःखानुभव कर्मों की औदयिक क्रिया के अभाव में भी संगत हो सकता है। जब ऐसा नहीं है, किन्तु दुःखादि कर्मों के औदयिक भाव स्वरूप है और मुक्तात्मा में कोई कर्म है ही नहीं, तब दुःखादि का अंश भी वहाँ आ सकता नहीं, तो दुःखादि के डर से मुक्तात्मा को ज्ञानरहित मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। सर्वज्ञानदर्शन से वे संपन्न होते हैं।

प्र०-ज्ञान और दर्शन प्रत्येक के विषय सर्वपदार्थ कैसे ? क्योंकि ज्ञान तो मात्र विशेष पदार्थों को विषय करता है, सामान्य को नहीं, और दर्शन तो सिर्फ सामान्य पदार्थों को देखता है, विशेषों को नहीं। हां, दोनों मिलकर समस्त सामान्य विशेषों को ज्ञात करते हैं वैसा कह सकते हैं। लेकिन अकेला केवलज्ञान सर्वज्ञान कैसे ?....

उ०-केवलज्ञान और केवलदर्शन, प्रत्येक सर्व पदार्थों को विषय करनेवाला इसीलिये है कि ज्ञान दर्शन के अपने अपने विषय, जो विशेष और सामान्य, है, वे परस्पर में एकान्ततः भिन्न नहीं हैं; किन्तु वे ही पदार्थ जब समानता की दृष्टि से ज्ञात किये जाएँ तब वे सामान्य, और विषमता यानी वैयक्तिकरूपता की दृष्टि से देखे जाएँ तब वे विशेष, ऐसे 'सामान्य' एवं 'विशेष' शब्द से अभिधेय होते हैं। उदाहरणार्थ मनुष्य को अन्य जीवों के साथ समान रूप से देखेंगे तो उसको जीव कहेंगे, और असमान रूप से देखेंगे तो उसको मनुष्य कहेंगे, इसी प्रकार उसको यदि अन्य मनुष्यों के साथ समानता की दृष्टि से देखेंगे तो उसको मनुष्य कहेंगे, और अलग रूप से ज्ञात करेंगे तो उसको भारतीय या आङ्ग्ल ऐसा कुछ कहेंगे। यहां पहले में 'जीव' शब्द सामान्यवाची हुआ, 'मनुष्य' शब्द विशेषवाची; दूसरे में 'मनुष्य' शब्द सामान्यवाची हुआ, 'भारतीय' आदि शब्द विशेषवाची हुआ। सामान्य रूप से जानना इसे दर्शन कहा जाता है, और विशेष रुप से जानना यह ज्ञान कहलाता है। अन्ततः दर्शन या ज्ञान उसी पदार्थ का हुआ, लेकिन एक समानता की दृष्टि से, दूसरा असमानता (विषमता) की दृष्टि से। इसलिए हम कहते हैं कि केवलज्ञान में वे समस्त पदार्थ ज्ञात होते हैं, और केवलदर्शन में भी समस्त पदार्थ दृष्ट होते हैं। इन ज्ञान में या दर्शन में कोई भी पदार्थ अज्ञात-अदृष्ट नहीं रहता। वह प्रत्येक सर्व पदार्थों को विषय करता है।

(ल०—समताधर्मविषमताधर्मयोरपि नैकान्तभेदः—) आह, एवमपि ज्ञानेन विषमताधर्म्मविशिष्टा एव गम्यन्ते, न समता(प्र०...सामान्यता)धर्म्मविशिष्टा अपि, तथा दर्शनेन च समताधर्म्मविशिष्टा एव गम्यन्ते, न विषमताधर्म्मविशिष्टा अपि। ततश्च ज्ञानेन समताख्यधर्म्माग्रहणाद् दर्शनेन विषमताख्यधर्म्माग्रहणाद्, दर्शनेन च समताख्यधर्म्माग्रहणाद्, धर्म्माणामपि चार्थत्वाद्, अयुक्तमेव तयोः सर्वार्थविषयत्वमिति। न, धर्म्मधर्म्मिणोः सर्वथा भेदानभ्युपगमात्। ततश्चाभ्यन्तरीकृतसमताख्यधर्म्माण एव विषमताधर्म्मविशिष्टा ज्ञानेन गम्यन्ते, तथा, अभ्यन्तरीकृतविषमताख्यधर्म्माण एव च समताधर्म्मविशिष्टा दर्शनेन गम्यन्ते इत्यतो न दोषः। एतदुक्तं भवति,—जीवस्वाभाव्यात् सामान्यप्रधानमुपसर्जनीकृतविशेषमर्थग्रहणं दर्शनमुच्यते, तथा विशेषप्रधानमुपसर्जनीकृतसामान्यं च ज्ञानमिति कृतं विस्तरेण।

प्र०—तब भी ज्ञान से विषमताधर्मयुक्त पदार्थ ज्ञात होंगे, समताधर्मयुक्त तो नहीं न ? एवं दर्शन से मात्र समताधर्मयुक्त, किन्तु विषमता-धर्मयुक्त तो नहीं न ? और देखिए ये सम विषम धर्म भी एक तरह से पदार्थ ही हैं, ज्ञेय ही हैं, तो ज्ञान से समता नामक धर्म और दर्शन से विषमता नामक धर्म अज्ञात रहने पर उन प्रत्येक के विषय सर्व पदार्थ कहां हुए ? तात्पर्य अकेले ज्ञान किंवा दर्शन को सर्वबोधात्मक कहना अयुक्त है।

उ०—अयुक्त नहीं है, चूंकि हम धर्म और धर्मी में सर्वथा भेद नहीं मानते हैं कि जिससे आप धर्मी ज्ञात होने पर धर्म को बिलकुल अलग मान कर अज्ञात रह जाने का प्रतिपादन कर सके। धर्म धर्मी से कथंचिद् भिन्न है, अर्थात् भिन्न भी है, अभिन्न भी है। इसलिए ज्ञान विषमताधर्म यानी विशेष धर्म से विशिष्ट जिन पदार्थों को ग्रहण करता है, उनमें समताधर्म अभेदरूपसे अन्तर्भावित हो कर ही वे गृहीत होते हैं। इसी प्रकार दर्शन भी समताधर्म से विशिष्ट पदार्थों को उनमें विषमता धर्म (विशेषधर्म) को अभेदरूपसे अन्तर्भूत करते हुए ही ज्ञात करता है। अतः असर्वज्ञता-असर्वदर्शिता जैसा कोई प्रसङ्ग दे नहीं सकते।

बात यह है कि जीव का ऐसा स्वभाव ही है कि वह सामान्यधर्म और विशेष-धर्म दोनों को मुख्यरूप से एक ही समय में नहीं जान सकता है; जब किसी पदार्थ को मुख्यतः सामान्य रूप से ज्ञात करेगा तब उस ज्ञान में विशेषरूप गौण रहेगा; अर्थात् उस पदार्थ को विशेषरूप से भी जानेगा सही किन्तु गौणभाव से जानेगा। इस प्रकार जब पदार्थ को मुख्यतः विशेष रूप से ज्ञात करेगा तब उस ज्ञान में सामान्यरूप गौण रहेगा, लेकिन ज्ञात रहेगा सही। ज्ञान-दर्शन के समस्त आवरण नष्ट हो जाने से अब कोई पदार्थ एवं उसका कोई भी धर्म एक समय भी अज्ञात नहीं रह सकता, लेकिन जीव के उपयोग यानी चैतन्यस्फुरण का वैसा स्वभाव ही है कि द्विविध पदार्थधर्म सामान्य-विशेषों में से सामान्य या विशेष ही एकेक समय में मुख्यतः ज्ञात रहेंगे; वहां सामान्य मुख्यतः भासित

(ल०–अमूर्तज्ञाने कथं साकारता ? :–) अपर आह,–'मुक्तात्मनोऽमूर्तत्वात् ज्ञानस्यापि तद्धर्मत्वेन तत्त्वाद् विषयाकारताऽयोगतस्तत्त्वतो ज्ञानाभावः। निस्तरङ्गमहोदधिकल्पो ह्यसौ, तत्तरङ्गतुल्याश्च महदादिपवनयोगतो वृत्तय इति तदभावात्तदभावः। एवं सर्वज्ञत्वानुपपत्तिरेवेति' –एतदप्यसत्, विषयग्रहणपरिणामस्याकारत्वात्, तस्य चामूर्त्तत्वेऽप्यविरोधात्, अनेकविषयस्यापि चास्य संभवात्, चित्रास्तरणादौ तथोपलब्धेरिति।

(पं०–) 'अपरे'त्यादि, अपरः=सांख्यः, आह=प्रेरयति, 'मुक्तात्मनः'=क्षीणकर्मणः, 'अमूर्त्तत्वात्'=रूपादिरहितत्वात्, किमित्याह 'ज्ञानस्यापि', न केवलं मुक्तात्मनः, 'तद्धर्मत्वेन' मुक्तात्मधर्मत्वेन 'तत्त्वाद्'=अमूर्तत्वात्, ततः किमित्याह 'विषयाकारताऽयोगतः', विषयस्यैव=गोचरस्यैव, आकारः= स्वभावो यस्य तत्तथा तद्भावस्तत्ता, तस्याः अयोगतः=अघटनात्, 'तत्त्वतो'=निरुक्तवृत्त्या ज्ञायतेऽनेनेति करणसाधनज्ञानाभाव एव। तदेव भावयति 'निस्तरङ्गमहोदधिकल्पो ह्यसौ' मुक्तात्मा, 'तत्तरङ्गतुल्याश्च महदादिपवनयोगतो वृत्तय' इति बुद्ध्यहङ्कारादिप्रकृतिविकारपवनसम्बन्धात् वृत्तयो=विषयज्ञानादिकाः प्रवृत्तयः। 'इति'=एवं, 'तदभावात्'=महदादिपवनयोगाभावात्, 'तदभावः'=तरङ्गतुल्यवृत्त्यभावः। ततः किमित्याह 'एवं'=वृत्त्यभावात्, 'सर्वज्ञत्वानुपपत्तिरेव' मुक्तावस्थायां; निराकारेण तु विज्ञानेन विषयग्रहणाभ्युपगमे विषयप्रतिनियमस्याघटनात्। इतिः परवक्तव्यतासमाप्तौ। 'एतदपि' साङ्ख्योक्तम्, 'असद्' =असुन्दरं, कुत इत्याह 'विषयग्रहणपरिणामस्य'=विषयग्राहकत्वेन जीवपरिणतेरेव 'आकारत्वात्', 'तस्य च'उक्तरूपस्याकारस्य, 'अमूर्तेऽपि'=मुक्तात्मन्यपि, न केवलं मूर्ते इति 'अपे'रर्थः, 'अविरोधात्' =केनाप्यबाध्यमानत्वात्। अभ्युच्चयमाह 'अनेकविषयस्यापि च'=युगपदनेकं विषयमाश्रित्य प्रवृत्तस्यापि च, किं पुनरेकविषयस्य, 'अस्य' =उक्तरूपाकारस्य, 'संभवात्'=घटनात्। एतदपि कुत इत्याह 'चित्रास्तरणादौ,' चित्रे प्रतीते, आस्तरणे च=वर्णकम्बले, 'आदि'शब्दादन्यबहुवर्णविषयग्रह', 'तथोपलब्धेः'=युगपद्बहुविषयाकारोपलब्धेः स्वसंवेदनेनैव।

होने पर दर्शन–उपयोग, और विशेष मुख्यतः ज्ञात रहने पर ज्ञान–उपयोग स्फुरित होगा। यह मुख्य–गौणभाव से ज्ञात रहे उसमें प्रमाण स्वानुभव है। यहां सांख्यमत का प्रश्न होता है,—

मोक्ष में ज्ञान का निषेधक सांख्यमतः–

प्र०–अमूर्त ज्ञान में साकारता कैसी ? जिसने कर्मक्षय कर दिया है ऐसी मुक्तात्मा तो अरूपी अमूर्त होती है, तो उसमें अगर ज्ञान भी हो तो वह ज्ञान भी उसके धर्मरूप होने से अमूर्त अर्थात् रूप–आकृति आदि से शून्य ही होगा। अर्थात् विषयाकारता से भी रहित ही होगा। और अमूर्त में कोई रूपादि तो है नहीं; तब विषयाकारता यानी विषय की समान स्वभावता भी कैसे संगत हो ? तो तत्त्वदृष्टि से यही आता है कि फलतः मुक्तात्मा में साकार ज्ञान कहने का अर्थ,–उसमें ज्ञान है ही नहीं,–यह होता है। कारण, 'जिससे अपने आकारवाला

विषय जाना जाए वह ज्ञान है,' ऐसी व्युत्पत्ति के अनुसार मोक्ष में अगर ज्ञान में कारणभूत आकार नहीं तो वह ज्ञान ही नहीं। तो मुक्तात्मा ज्ञानरहित है यह सिद्ध होता है। और यही बात ठीक है, चूं कि आत्मा तो बिलकुल तरङ्ग-शून्य महासागर सी है; तरङ्ग तो वृत्ति रूप होती हैं, विषयाकार ज्ञानादि की प्रवृत्तिरूप होती हैं, और वे वृत्तियां प्रकृति के विकारभूत बुद्धि-अहङ्कारादि रूप पवन के सम्बन्ध से हो सकती हैं। मुक्तात्मा को बुध्धि आदि पवन का सम्बन्ध ही न होने से तरङ्गतुल्य ज्ञान वृत्तियां उसमें आरोपित नहीं हो सकती हैं! इसलिए मुक्तावस्था मे कोई बुध्धितत्त्व की वृत्ति का योग न होने से सर्वज्ञता असङ्गत ही है। और यदि निराकार विज्ञानसे सर्वज्ञता आप मान ले तब भी इसका उपपादन नहीं किया जा सकता। क्यों कि निराकार विज्ञान से अगर विषयबोध होता तो उसमे कोई नियम नहीं रहेगा कि अमुक विषय का ज्ञान इस प्रकार का, और अमुक का दूसरे प्रकार का। ज्ञानमात्र निराकार होने से सब ज्ञान समान ही होगा, किन्तु साकारता की तरह अलग अलग विशेषता वाला नहीं। तो अमुक विज्ञान अमुक ही विषयका है, उसका पता कैसे चले? सारांश, निराकार विज्ञान कुछ उपयोग का नहीं, और साकार विज्ञान मोक्षावस्था में नहीं हो सकता, तब वहां सर्वज्ञता कैसे उपपन्न हो सके?

जैनमत से मोक्ष में ज्ञान का उपपादनः-

उ०-यह कथन युक्तियुक्त नहीं है; क्यों कि दरअसल आकार क्या चीज है उसकी समझ नहीं है। ज्ञान में आकार कोई मूर्तता, या रूप, या आकृति, या विषय का तुल्य स्वभाव नहीं! किन्तु आत्मा में उत्पन्न होने वाला, विषय का, तथाविध ग्रहण-परिणाम यही आकारवस्तु है। जीव मे भिन्न भिन्न विषय के ज्ञान भेदाभेद संबन्ध से (कथंचित् अभेदभावतः) उत्पन्न होते हैं; वहां वैसे वैसे ज्ञान में वह ज्ञाता परिणत होता है, और ज्ञान में यथाविषय वैसा वैसा ग्राहक परिणाम बन आता है। ज्ञेय विषय की भिन्नता के अनुसार जीवमें ग्राहक परिणाम भी तथाविध ही होगा, यह सहज है। इसी विषयग्राहकरूप से ज्ञान का जो परिणाम बनता है वह आकार है। ऐसा परिणाम तो मूर्त में ही क्या, अमूर्त मे भी उत्पन्न हो सकता है। ज्ञान जब ग्रहणस्वभाव ही है तब उस उस विषय के मुताबिक ग्रहणपरिणाम वाला होगा ही; इसमें कोई बाधक नही हो सकता। और अनेक विषयों को एकसाथ ले कर जब ज्ञान होता है, तब उस समुदाय के अनुसार विशिष्ट ग्रहण-परिणाम होना सम्भवित है। स्वानुभवसिध्ध है कि विविध वर्णवाली कंबल या अन्य वस्तु एक ही साथ अनेक वर्णमय ज्ञात होती है। तो क्या यहां ज्ञान अनेक विषयाकार नहीं हुआ? क्या ज्ञान मे ये विविध वर्णाकार बाह्य द्रव्य के वर्ण, रूप, गुण की भांति वर्ण, रूप, गुण, उत्पन्न हुए? नहीं, अगर ऐसा स्वीकार करेंगे तो ज्ञान भी उसी प्रकार रूपी द्रव्य स्वरूप हो जायगा! मोदकादिरस का ज्ञान भी, मधुर रसाकार होने से, रस वाला ही बनेगा, तो ज्ञान मात्र से रसास्वाद या तृप्ति होने लगेगी। लेकिन ऐसा कुछ नहीं है, इससे सूचित होता है कि आकार यह विषयस्वभाव नहीं किन्तु ग्रहण-परिणाम है।

(पं०—आकारस्य प्रतिबिम्बसंक्रमरूपत्वे दोषः—)ज्ञेयवस्तुप्रतिबिम्बसंक्रमस्य तु तदाकारत्वे ज्ञानस्याभ्युपगम्यमानेऽनेकदोषप्रसङ्गात्, व्याप्त्यनुपपत्तेः, धर्मास्तिकायादिष्वमूर्तत्वेनाकाराभावे प्रतिबिम्बायोगात्, तस्य मूर्तधर्मत्वात्, तथा त प्रतिबद्धवस्तुसंक्रमाभावेऽभावात्। न ह्यङ्गनावदनच्छायाणुसंक्रमातिरेकेणाऽऽदर्शे तत्प्रतिबिम्बसंभवोऽस्ति, अम्भसि वा निशाकरबिम्बस्येति, अन्यथातिप्रसङ्गात्। उक्तं च परममुनिभिः सामा तु दिया छाया अभासुरगया निसिं तु कालाभा। सच्चेव भासुरगया सदेहवण्णा मुणेयव्वा॥ १॥ जे आयरिसस्संतो देहावयवा हवंति संकंता। तेसिं तत्थुवलद्धी पगासजोगा न इयरेसिं॥ २॥ इत्यादि। चित्रास्तरणाद्यनेकवस्तुग्रहणावसरे चैकत्रानेकप्रतिबिम्बोदयासंभवात्, संभवे वा प्रतिबिम्बसाङ्कर्योपपत्तेस्तदनुसारेण परस्परसंकीर्णवस्तुप्रतिपत्तिप्रसङ्गादिति।

ज्ञान में प्रतिबिम्बसंक्रम रूप आकार मानने में आपत्तिः—

यहां पंजिकाकार सांख्यादि से पूछते हैं कि ज्ञान आकारवाला है तो आकार क्या वस्तु है? अगर आकार रूप से आपको ज्ञेयवस्तु के प्रतिबिम्ब का संक्रमण अभिप्रेत है, तो इसमें अनेक दोषों का प्रसङ्ग है, क्यों कि व्याप्ति नहीं बन सकती है: व्यापक रूप से साकारता अर्थात् सभी ज्ञेय का प्रतिबिम्ब होना असङ्गत है, कारण, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, जीव,—ये द्रव्य अमूर्त यानी रूपादि रहित होने से, उनमें कोई आकार ही नहीं है, फिर आकार का प्रतिबिम्ब पड़ने की बात ही कहां? आकार तो मूर्त द्रव्य का धर्म है। अमूर्त द्रव्य में जब आकार ही नहीं, तो आकार से संबद्ध छायापुद्गल जैसी कोई वस्तु भी नहीं कि जिसका संक्रमण ज्ञान में हो सके; और ऐसा संक्रमण न होने पर प्रतिबिम्ब हुआ ऐसा नहीं कह सकते हैं। प्रतिबिम्ब क्या वस्तु है? यही कि आकारयुक्त द्रव्य के छाया पुद्गल जो कि प्रतिसमय उसमें से बाहर फैलते रहते हैं उनका दूसरे में संक्रमण होना। देखते हैं कि दर्पण में स्त्री के मुख की छाया के अणु संक्रमित हुए बिना उसका प्रतिबिम्ब पड़ना शक्य नहीं है अथवा जल में चन्द्र के छायाणु अगर संक्रमण न करें तो उसका प्रतिबिम्ब सम्भवित नहीं होता है। छायाणुओं के संक्रमण के बिना प्रतिबिम्ब होने का मानने में तो यह अतिप्रसङ्ग होगा कि ढके हुए मुख का प्रतिबिम्ब क्यों न हो? वायु का प्रतिबिम्ब क्यों न पड़ सके? परममुनि श्री श्रुतकेवली भगवान ने कहा है कि दीवार, भूमि आदि अप्रकाशमान वस्तु पर मूर्त वस्तु की छाया दिन में श्याम जैसी पड़ती है और रात्रि में अत्यन्त काली-जैसी पड़ती है, लेकिन प्रकाशमान दर्पण आदि वस्तु पर छाया अपने देह के ठीक वर्ण समान प्रादुर्भूत हो उठती है। यह भी देखते हैं कि दर्पण में जिन देह-अवयव का संक्रमण होता है उन्ही को, वहां प्रकाश होने पर, उपलब्धि होती है औरों की नहीं। इससे यह सूचित होता है कि इसी तरह ज्ञान में सिर्फ मूर्त वस्तु का प्रतिबिम्ब पड़ना शक्य है अमूर्त का नहीं; क्योंकि प्रतिबिम्ब के लिए संक्रमण करने वाले आकाररूप छायाणुओं का अमूर्त में अभाव है। एवं जहां विविध वर्ण वाली कम्बलादि-अनेक वस्तु का एक साथ ज्ञान करते है वहां ज्ञान में एक ही वस्तु में अनेक प्रतिबिम्बों का उठना सम्भवित नहीं होगा, क्योंकि प्रतिबिम्बों का

(ल०–विशिष्टप्रतिबिम्बसिद्धान्तः–) एतेन विषयाकाराप्रतिसंक्रमादिना ज्ञानस्य प्रतिबिम्बाकारताप्रतिक्षेपः प्रत्युक्तः, विषयग्रहणपरिणामस्यैव प्रतिबिम्बत्वेनाभ्युपगमात्। एवं, साकारं ज्ञानमनाकारं च दर्शनमित्यपि सिद्धं भवति, ततश्च सर्वज्ञाः सर्वदर्शिनः। तेभ्यो नम इति क्रियायोगः ॥ ३१ ॥

(पं०–) अथ प्रसङ्गसिद्धिमाह 'एतेन'=विषयग्रहणपरिणामस्यैवाकारत्वेन, 'विषयाकाराप्रतिसंक्रमादिना', विषयाकारस्य=ग्राह्यसंनिवेशस्य, अप्रतिसंक्रमः=स्वग्राहिणि ज्ञानेऽप्रतिबिम्बनं, विषयाकाराप्रतिसंक्रमः। विषयाकारप्रतिसंक्रमे हि एकत्वं वा ज्ञानज्ञेययोरेकाकारीभूतत्वात्, विषयो वा निराकारः स्यात्, तदाकारस्य ज्ञाने प्रतिसंक्रान्तत्वाद्, यदाह धर्मसंग्रहणीकारः 'तदभिन्नाकारत्ते, दोण्हं एगत्तमो कहं न भवे? नाणे व तदाकारे, तस्साणागारभावोत्ति ॥ १ ॥ 'आदि' शब्दात् प्रतिनियतप्रतिपत्तिहेतोर्ज्ञेयेन तुल्याकारतया (प्र०....तायां....ताया) ज्ञानस्य, प्रतिषेधो दृश्यः; क्रमवृत्तिनोर्ज्ञेयज्ञानयोः क्षणिकयोः क्षणस्थायिना ज्ञानेन उभयाश्रितायास्तस्या एव प्रतिपत्तुमशक्यत्वात्। किं च तुल्यत्वं नाम सामान्यं, तच्चैकमनेकव्यक्त्याश्रितमिति कथं न तदाश्रितदोषप्रसंगः?। अत्राप्याह–सिय तत्तुल्लागारं जं तं भणिमो तयं तदागारं। अत्रोत्तरं–तग्गहणाभावे नणु तुल्लत्तं गम्मई कह णु? ॥ १ ॥ तुल्लत्तं सामन्नं एगमणेगासियं अजुत्ततरं। तम्हा घडादिकज्जं दीसइ मोहाभिहाणमिदं ॥ २ ॥ ततस्तेन विषयाकाराप्रतिसंक्रमादिना कारणेन, 'ज्ञानस्य'=विज्ञानस्य विषयग्राहिणः, 'प्रतिबिम्बाकारताप्रतिक्षेपो' ज्ञानवादिप्रतिज्ञातो 'विषयप्रतिबिम्बाकारं विज्ञानं न घटते, किन्तु अबाह्याकारमेव सत्त्वभावमात्रप्रतिभासीत्येवंरूपः 'प्रत्युक्तः'=निराकृतः। 'विषयग्रहणे'त्यादि, हेतुश्च प्रतीतः 'एवं'=मुक्तरूपपरिणामस्याऽऽकारत्वे, सामयिकविवक्षया 'साकारं'=विशेषग्रहणपरिणामवत्, 'ज्ञानम्'=उपयोगविशेषः, 'अनाकारं च'=सामान्यग्रहणपरिणामवत् (च), 'दर्शनम्'=उपयोगभेद एव, 'इत्यपि'=एतदपि, 'सिद्धं भवति'।

संमिश्रण हो जायगा, फलतः परस्पर में संमिलित वस्तु की उपलब्धि होने लगेगी। किन्तु ऐसा अनुभव नहीं होता है। प्रत्यक्ष अनुभव में तो प्रत्येक वस्तु अपने वर्णानुसार अलग अलग ही भासित होती है। सो सिध्ध होता है कि ज्ञान में आकार यह प्रतिबिम्ब के संक्रमण रूप नहीं बन सकता।

जैनमत के प्रति संक्रमणरूप प्रतिबिम्बाकार का आक्षेप अयुक्त है:–

अब श्री ललितविस्तराकार कहते हैं कि–प्रतिबिम्ब यह वस्तु के आकार के संक्रमण स्वरूप नहीं किन्तु आत्मा मे उत्पन्न होने वाले वस्तु के ग्रहणपरिणाम स्वरूप ही है,–ऐसा जो पहले प्रतिपादित किया गया, इसके प्रसङ्ग से सिद्ध होता है कि समस्त ही ज्ञेय विषयों में वर्णादि आकार एवं उनके ग्राहकज्ञान मे सर्वत्र संक्रमणादि होने की वस्तुस्थिति है ही नहीं; इसलिए विज्ञानवादी बौद्ध ज्ञान में जो प्रतिबिम्बसंक्रमण का खण्डन कर मोक्ष मे असर्वज्ञता चाहते हैं वह

वास्तविक नहीं है; क्यों कि ऐसा, वर्णादिआकार के संक्रमण स्वरूप प्रतिबिम्ब हमें मान्य ही नहीं है। हमें तो विषयग्रहणपरिणाम स्वरूप प्रतिबिम्बाकारता स्वीकृत है।

यहां विषयाकार प्रतिबिम्बका, विज्ञानवादी किस प्रकार, खण्डन करते हैं यह अब स्पष्ट किया जाता है।

विषयाकार के संक्रमण का विज्ञानवादी द्वारा खण्डनः—"यदि ज्ञान में विषय के आकार का संक्रमण होता हो, तब तो ज्ञेयविषय और ज्ञान का अभेद प्राप्त होगा, दोनों एक आकार-वाले हो जाने से एक व्यक्ति हो जाएँगे। अगर आप कहेंगे कि आकारमात्र संक्रमित हुआ, विषय तो यों ही अलग ठहरा है, तो यह आपत्ति उपस्थित होगी कि विषय आकारशून्य यानी निराकार हो जाएगा क्यों कि उसका आकार तो ज्ञान में चला गया।"

ग्रन्थकार अपने 'धर्मसंग्रहणी' शास्त्र में इसी वस्तु इस प्रकार कहते हैं,—"ज्ञान अगर विषयाकार से अभिन्नाकार हो, तो ज्ञान और विषय दोनों एक ही व्यक्तिरूप क्यों न हो जाए? क्यों कि उभय एक ही आकार से अभिन्न हुए; अथवा कहिए सिर्फ ज्ञान ही उस आकार वाला होता है, तब तो प्रश्न होगा कि वह आकार कहां से आया? यदि विना निमित्त उत्पन्न हो तो सभी ज्ञान एकाकार होने लगेंगे। यदि आकार विषय में से ज्ञान में संक्रमित होता हो तो विषय अपना आकार खो बेठने से निराकार यानी आकारशून्य हो जाएगा। और यह तो अनुभव नहीं है कि ज्ञान करने को जाए और ज्ञान एवं विषय एक व्यक्तिरूप हो जाएँ, या विषय निराकार हो जाए।

"अगर आप कहेंगे कि–'विषयगत आकार का, ज्ञान में समर्पण नहीं होता है किन्तु उस आकार के तुल्य आकार ज्ञान में उत्पन्न होता है, इस लिए ज्ञान विषयाकार कहा जाता है';–तो यह भी सिद्ध नहीं; क्योंकि तब तो प्रश्न होगा कि पहले जब तक विषय ही गृहीत नहीं हुआ, तब तक विषयाकार के साथ ज्ञानाकार में तुल्यता है यह ज्ञात कैसे हो सकेगा? किसी दोनों के बीच में रही हुई तुल्यता यानी सादृश्य तभी ज्ञात हो सकती है कि जब वे दोनों पहले गृहीत हुए हों। उदाहरणार्थ, मुख और चन्द्र दोनों के दर्शन होने के पश्चात् ही मुख में चन्द्रसादृश्य प्रतीत होता है। यहां ज्ञान एवं पदार्थ क्षणिक होने से क्षण में ही संविदित हो नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं तो ज्ञान विषय के समान आकार वाला है यह कौन ज्ञात करेगा?

"यदि कहें 'तुल्य आकार नीलादि ज्ञान के स्वसंवेदन से सिद्ध है। वैसा अनुभव होता ही है, इससे ज्ञात होता है कि विषय ज्ञानाकार तुल्य है। देखते हैं लोग कहते भी हैं कि मुझे नीलाकार ज्ञान उत्पन्न हुआ इसलिए बाहर भी नीलविषय होना चाहिए;–यह भी ठीक' नहीं क्योंकि ज्ञानका स्वसंवेदन यानी दर्शन क्या है? ज्ञानगत प्रकाशात्मक स्वरूपमात्र का अनुभव न? इसके आधार पर विषय का यदि नीलाकार होने का निश्चित करें तब तो पीताकार ही क्यों निश्चित न हो? प्रकाशस्वरूप तो सभी ज्ञान मे समान ही संविदित होगा। तात्पर्य, ज्ञान

के स्वसंवेदनमात्र से विषय के तुल्य आकार का निश्चय नहीं हो सकता।

"और भी यह अनुपपत्ति है कि तुल्यत्व यानी समानता कहिए या सामान्य कहिए वह एक ही व्यक्ति है, वह विषयाकार और ज्ञानाकार इन दोनों में कैसे ठहर सकता है ? आश्रय तो क्षणिक है वहां स्थिर एक सामान्य कैसे टिकेगा ? सो एक धर्म अनेक में आश्रित होने की बात अत्यन्त अयुक्त है। इसी लिए यह जो आप मानते हैं कि घड़ा आदि नया कार्य परमाणुओं में उत्पन्न होता है वह भी कथन मोहयुक्त कथन है; क्योंकि अनेक परमाणुओं में एक घड़ा आदि कार्य कैसे रह सके ? एक वस्तु अनेकाश्रित नहीं हो सकती। सभी सत् पदार्थ क्षणिक हैं, तो कार्य के माने गए उपादान आश्रय भी नष्ट हो गए; उनमें अब कार्य को रहने की बात ही कैसी ?"

क्षणिकता के कारण प्रतिबिम्ब का निषेधः—अबाह्याकार विज्ञानवादी कहते हैं, "जिस प्रकार विषयाकार को संक्रमण असंभवित होने की वजह ज्ञानमें विषयप्रतिबिम्ब की आकारता नहीं बन सकती है, प्रतिबिम्बाकारता निषिद्ध हो जाती है, इसी प्रकार क्षणिकता की वजह भी वह निषिद्ध हो जाती है, । अलबत्ता, उस ज्ञान से उसी ज्ञेय का बोध होता है, घटज्ञान से घट का, वस्त्रज्ञान से वस्त्र का, इस रीति से नियत विषय का ही बोध होता है; इसके लिए आभ्यन्तर ज्ञान में बाह्य विषय की तुल्य आकारता स्वरूप प्रतिबिम्बाकारता आप मानने को जायँ, लेकिन वह अनुपपन्न है। कारण यह है कि ऐसी उभयस्थ तुल्याकारता का निर्णय कौन करेगा ? चूंकि ज्ञान और ज्ञेयविषय अपनी उत्पत्तिक्षण के बाद ही नष्ट होने वाले अर्थात् क्षणिक हैं, एवं क्रमवर्ती भी हैं,—पहले ज्ञेय उत्पन्न होता है, दूसरी क्षणमें वह नष्ट हो उसका ज्ञान उत्पन्न होता है। यह ज्ञान 'उस विषयका और अपने आकारतुल्य है,'—यह कैसे जान सकेगा ? क्योंकि वह अभी तो उत्पन्न होता है तो अपना आकार भी अब उत्पन्न होगा, वह आकार और विषय का आकार तुल्य है यह इसी ज्ञान से कैसे जाना जाए ? अनन्तर ज्ञान से भी जानना अशक्य है, क्योंकि वह पूर्वोक्त विषय से उत्पन्न नहीं होने के कारण उसको ग्रहण नहीं कर सकता तो उसके आकार का ग्रहण कैसे कर सके ? नियम है 'नाकारणं विषय.'= जो अपना उत्पादक नहीं वह अपना विषय नहीं बन सकता है। सो इस प्रकार उभयस्थ तुल्याकारता का क्षणिक ज्ञान से ग्रहण नहीं हो सकने के कारण भी वह यानी प्रतिबिम्बकारता प्रमाणित नहीं हो सकती।"

जैनमत में विशिष्ट प्रतिबिम्बाकार विषयग्रहणपरिणामरूप में मान्य है —

विज्ञानवादी बौद्ध जो इस प्रकार विषयाकार का प्रतिसंक्रम आदि न हो सकने के कारण विषयग्राही ज्ञान में प्रतिबिम्बाकारता का असंभव स्थापित करते हैं, अर्थात् 'बाह्य विषयप्रतिबिम्बाकार ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता है किन्तु बाह्याकारशून्य ही वैसा वैसा सत्स्वभावमात्र रूप में ही प्रकाशक ज्ञान स्फुरित होता है,'—ऐसा जो वे कहते हैं, यह विज्ञानवादी का सभी उपपादन निरर्थक है, क्योंकि हम ज्ञान में इस प्रकार की प्रतिबिम्बाकारता मानते ही नहीं हैं।

हमें तो आत्मा में और इसके द्वारा ज्ञान में प्रतिबिम्बाकारता, विषयग्रहणपरिणाम स्वरूप स्वीकृत है। इससे विषय के आकार का ज्ञान में-संक्रमित हो विषय से चल जाने की आपत्ति भी नहीं है। विषयके आकार का संक्रमण हमें मान्य ही नहीं है फिर आपत्ति कैसी ? हमें तो, आत्मा में जो कुछ ज्ञानादि उत्पन्न होता है, यह परिणामी आत्मा के एक प्रकार के परिणाम रूप से उत्पन्न होना मान्य है, और यह ग्रहणपरिणाम भिन्न भिन्न विषय के अनुसंधान में भिन्न भिन्न होता है, तथा वही प्रतिपरिणाम विशिष्टता, यह प्रतिबिम्बाकारता है। मुक्तात्मा के भी सर्व विषयों को ज्ञान में ऐसा विशिष्ट परिणाम है; और वही ज्ञान का आकार है, किन्तु विषयाकार का संक्रमण यह आकार नहीं।

साकार एवं निराकार दोनों की सिद्धि जैन मत में हीः-

आत्मा में सुखदुःख परिणाम, कर्मबन्ध-उदयादि परिणाम, क्षय-क्षयोपशमादिपरिणाम, ग्रहणपरिणाम इत्यादि कई प्रकार के परिणाम उत्पन्न होते हैं। उनमें से ग्रहणपरिणाम यही ज्ञेय विषय का आकार है। तब चाहे ज्ञान 'सत्' इत्यादि सामान्य रूप से करें या 'जीव, पुद्गल' इत्यादि विशेष रूप से करें, किन्तु उन सामान्य या विशेषरूप के अनुसार ग्रहणपरिणाम उत्पन्न होगा। वहां विशेषग्रहणपरिणाम वाला बोध (चैतन्यस्फुरण) यह साकार उपयोग यानी 'ज्ञान' कहलाएगा, और सामान्यग्रहणपरिणाम वाला बोध यह निराकार उपयोग यानी 'दर्शन कहलाएगा सो जैनदर्शन ही साकार-निराकार का यह विवेक दिखला सकता है कि निराकार दर्शन भी आकारशून्य नहीं है, और साकार ज्ञान भी किसी विषयाकारप्रतिबिम्बसंक्रम वाला नहीं है; लेकिन् दर्शन विशेषग्रहणपरिणामशून्य होने से निराकार कहलाता है; और ज्ञान विषय के विशेषधर्म-ग्रहणानुकूल परिणाम वाला होने से साकार कहा जाता है। मुक्तात्मा में भी समय समय के अन्तर से विश्व के समस्त विशेष एवं समस्त सामान्य का ग्रहणपरिणाम उत्पन्न होता रहता है और उसे यथाक्रम केवलज्ञान तथा केवलदर्शन कहते हैं। इस प्रकार मोक्ष में सर्वज्ञता-सर्वदर्शिता सिद्ध होती है ॥ ३१ ॥



३२ सिव–मयल–मरुअ–मणंत–मक्खय–मव्वाबाह–मपुणराविक्तिसिद्धिगइनामधेयं ठाणं संपत्ताणं (शिवमचलमरुज–मनन्तमक्षयमव्याबाधमपुनरावृत्ति-सिद्धिगतिनामधेयं स्थानं संप्राप्तेभ्यः)

(ल०–'आत्मविभुत्व'मतखण्डनम्–) एते च सर्वेऽपि सर्वगतात्मवादिभिर्द्रव्यादिवादिभि स्तत्त्वेन सदा लोकान्तशिवादिस्थानस्था एवेष्यन्ते, 'विभुर्नित्य आत्मे'तिवचनात्। एतद्व्यपोहायाह'शिवमचलमरुजमनन्तमक्षयमव्याबाधमपुनरावृत्तिसिद्धिगतिनामधेयं स्थानं संप्राप्तेभ्यः'।

(पं०–)'द्रव्यादिवादिभिः' इति=द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायवादिभिः, वैशेषिकैरित्यर्थः। 'विभु'रिति=सर्व्वाकाशव्यापी।

---

३२ सिवमयलमरुअमणंतमक्खयमव्वाबाहमपुणराविक्तिसिद्धिगइनामधेयं ठाणं संपत्ताणं (शिव, अचल, अरोग, अनन्त, अक्षय, अव्याबाध, अपुनरावृत्ति, सिद्धिगति नामक स्थान को संप्राप्त के प्रति)

<u>आत्मा को सर्वव्यापी मानने वाला वैशेषिक दर्शनः–</u>

'ये सभी परमात्मा लोक के अन्त भाग स्वरूप जो शिव, अचल, इत्यादि स्थान है, उसमें हमेशा रहते ही हैं; अर्थात मोक्ष होने के पहले भी लोकान्त भाग में अवस्थित हैं,'–ऐसा वैशेषिक दर्शन वाले मानते हैं। वे आत्मद्रव्य को सर्वव्यापी मानते हैं। वे इन द्रव्यादि षट् पदार्थवादी है,–द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। इनमें द्रव्य नौ हैं,–पृथ्वी, जल तेज, वायु, मन, ये पांच मूर्त हैं; और आकाश, काल दिशा और आत्मा, ये चार अमूर्त हैं, विभु यानी सर्वव्यापी, सर्वगत है। इस दर्शन का वचन है 'विभुर्नित्य आत्मा' आत्मा विभु और नित्य है। विभु का अर्थ है परम महत् परिमाण वाला, अर्थात सर्वगत, सर्वत्र व्यापी। ऐसा मानने में वे यह हेतु बतलाते हैं कि यदि आत्मा मध्यम परिणाम वाली होती तो अवयवयुक्त होती और अमूर्त होने के नाते अवयव संभवित नहीं है। अगर वह अणु परिणाम वाली होती तो वह और उसके गुण अप्रत्यक्ष रहने से 'मै सुखी हूँ दुःखी हूँ' इत्यादि अनुभव नहीं हो सकता। अणु के गुण अतीन्द्रिय होते हैं, प्रत्यक्षयोग्य नहीं। एवं अणु या मध्यम परिणाम वाली होने में तो दूर देश में उसका संबन्ध न होने से उसके अदृष्ट (भाग्य) गुण का भी असंबन्ध रहने से, उसके द्वारा भोग मे आने वाले पदार्थों की वहां उत्पत्ति नहीं हो सकती। क्यों कि वस्तु मात्र की उत्पत्ति में आत्मा का अदृष्ट कारण है तो वह कारण वहां उत्पत्ति देश में संबद्ध होना चाहिए।

इस प्रकार जब आत्मा मूलतः विभु है, व्यापक है, तो मोक्ष होने के बाद लोकान्त

(ल०–सयुक्तिकं 'स्थान'–'शिवा'दिविवेचनम्:–)इह तिष्ठन्त्यस्मिन्निति स्थानं, व्यवहारतः सिद्धिक्षेत्रम् 'इह बोंदि चइत्ता णं तत्थ गंतूण सिज्झइ' त्तिवचनात्; निश्चयतस्तु तत्स्वरूपमेव, 'सर्वे भावा आत्मभावे तिष्ठन्ती'तिवचनात्। एतदेव विशेष्यते (शिवमित्यादिभिः) तत्र 'शिवम्' इति सर्वोपद्रवरहितत्वाच्छिवम्। तथा स्वाभाविक–प्रायोगिकचलनक्रियारहितत्वान्न चलमचलम्। तथा रुजाशब्देन व्याधिवेदनाभिधानं, ततश्चाविद्यमानरुजमरुजम् तन्निबन्धनयोः शरीर–मनसोरभावात्।

स्थान को प्राप्त करती है वैसा नहीं माना जा सकता। वह तो लोकान्तव्यापी पहले से है ही। एवं आत्मा सदा नित्य भी है।"

वैशेषिक–'आत्मा विभु'–मत के खण्डनार्थ:–

इस मत के निराकरणार्थ यहां सूत्रकार अर्हम् परमात्मा की एक और स्तुति करते हैं 'सिव–मयल .. ठाणं संपत्ताणं'। अर्थात् शिव, अचल, अरोग, अनन्त, अक्षय, अव्याबाध, अपुनरावृत्ति ऐसे सिद्धिगति नामक स्थान को संप्राप्त के प्रति मेरा नमस्कार हो।

विशेष्य 'स्थान,' एवं 'शिव–अचल–अरोग' विशेषणों के सयुक्तिक अर्थ:–

अब सिद्धिस्थान और शिव वगैरह विशेषणों का युक्तिपुरस्सर स्पष्टीकरण किया जाता है। अरहंत प्रभु सिद्धिस्थान को प्राप्त हुए हैं। यहां स्थान का अर्थ है जहां वे ठहरते है। ठहरना दो प्रकार से होता है, व्यवहार दृष्टि से और निश्चयदृष्टि से। मुक्त परमात्मा का व्यवहार-दृष्टि से स्थान लोकाकाश का अग्रभाग वर्ती सिद्धिक्षेत्र है, क्यों कि शास्त्र में कहा गया है कि 'इह बोंदि चइत्ता णं तत्थ गन्तूण सिज्झइ',–अर्थात् समस्त कर्मों के क्षय हो जाने से यहां शरीरमात्र का त्याग कर के वहां सिद्धशिला पर जा कर कृतकृत्य होते हैं, ठहरते हैं, शाश्वत अवस्थान करते हैं। निश्चयदृष्टि से तो ठहरने का स्थान दूसरा कोई नहीं, अपना स्वरूप ही है, क्यों कि शास्त्रवचन है कि 'सर्वे भावा आत्मभावे तिष्ठन्ति,'–अर्थात् सभी पदार्थ अपने स्वरूप में ठहरते हैं। इसलिए मुक्त परमात्मा निश्चयदृष्टि से यानी परमार्थतः अपने प्रगट शुद्ध आत्मस्वरूप में अवस्थान करते हैं।

प्र०–ठहरना परमार्थतः अपने स्वरूप में क्यों? दूसरे स्थान में क्यों नहीं?

उ०–यह उपपन्न नहीं हो सकता है इसलिए। अगर दूसरे स्थान में ठहरना है तब प्रश्न होगा कि वहां एक देश से ठहरता है या सर्व देश से? यदि एक देश से ठहरता है तो फिर प्रश्न होगा कि उस एक देश में भी एक देश से ठहरता है, या सर्व देश से? इस प्रकार अनवस्था उपस्थित होगी, और ठहरने का स्थान निश्चित नहीं हो सकेगा। यदि कहें सर्व देश से ठहरता है, तब तो यही आया कि अवस्थान के अलावा कोई देश नहीं बचा, फलतः सर्वात्मना अवस्थान होने से आधार आधेय दोनों एकरूप हो जाएँगे। किन्तु यह तो होता नहीं कि

३२ सिव–मयल–मरुअ–मणंत–मक्खय–मव्वाबाह–मपुणरावित्तिसिद्धिगइनामधेयं ठाणं संपत्ताणं (शिवमचलमरूज–मनन्तमक्षयमव्याबाधमपुनरावृत्ति-सिद्धिगतिनामधेयं स्थानं संप्राप्तेभ्यः)

(ल०–'आत्मविभुत्व'मतखण्डनम्–) एते च सर्वेऽपि सर्वगवात्मवादिभिर्द्रव्यादिवादिभिस्तत्त्वेन सदा लोकान्तशिवादिस्थानस्था एवेष्यन्ते, 'विभुर्नित्य आत्मे'तिवचनात्। एतद्व्यपोहायाह'शिवमचलमरुजमनन्तमक्षयमव्याबाधमपुनरावृत्तिसिद्धिगतिनामधेयं स्थानं संप्राप्तेभ्यः'।

(पं०–)'द्रव्यादिवादिभिः' इति=द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायवादिभिः, वैशेषिकैरित्यर्थः। 'विभु'रिति=सर्व्वाकाशव्यापी।

---

३२ सिवमयलमरुअमणंतमक्खयमव्वाबाहमपुणरावित्तिसिद्धिगइनामधेयं ठाणं संपत्ताणं (शिव, अचल, अरोग, अनन्त, अक्षय, अव्याबाध, अपुनरावृत्ति, सिद्धिगति नामक स्थान को संप्राप्त के प्रति)

आत्मा को सर्वव्यापी मानने वाला वैशेपिक दर्शनः–

'ये सभी परमात्मा लोक के अन्त भाग स्वरूप जो शिव, अचल, इत्यादि स्थान है, उसमें हमेशा रहते ही हैं; अर्थात् मोक्ष होने के पहले भी लोकान्त भाग में अवस्थित है,'–ऐसा वैशेपिक दर्शन वाले मानते हैं। वे आत्मद्रव्य को सर्वव्यापी मानते हैं। वे इन द्रव्यादि षट् पदार्थवादी हैं,–द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। इनमें द्रव्य नौ हैं,–पृथ्वी, जल तेज, वायु, मन, ये पांच मूर्त हैं; और आकाश, काल दिशा और आत्मा, ये चार अमूर्त हैं, विभु यानी सर्वव्यापी, सर्वगत है। इस दर्शन का वचन है 'विभुर्नित्य आत्मा' आत्मा विभु और नित्य है। विभु का अर्थ है परम महत् परिमाण वाला, अर्थात् सर्वगत, सर्वत्र व्यापी। ऐसा मानने में वे यह हेतु बतलाते हैं कि यदि आत्मा मध्यम परिणाम वाली होती तो अवयवयुक्त होती और अमूर्त होने के नाते अवयव संभवित नहीं हैं। अगर वह अणु परिणाम वाली होती तो वह और उसके गुण अप्रत्यक्ष रहने से 'मैं सुखी हूँ दुःखी हूँ' इत्यादि अनुभव नहीं हो सकता। अणु के गुण अतीन्द्रिय होते हैं, प्रत्यक्षयोग्य नहीं। एवं अणु या मध्यम परिणाम वाली होने में तो दूर देश में उसका संबन्ध न होने से उसके अदृष्ट (भाग्य) गुण का भी असंबन्ध रहने से, उसके द्वारा भोग में आने वाले पदार्थों की वहां उत्पत्ति नहीं हो सकती। क्यों कि वस्तु मात्र की उत्पत्ति में आत्मा का अदृष्ट कारण है तो वह कारण वहां उत्पत्ति देश में संबद्ध होना चाहिए।

इस प्रकार जब आत्मा मूलतः विभु है, व्यापक है, तो मोक्ष होने के बाद लोकान्त

(ल०–सयुक्तिकं 'स्थान'–'शिवा'दिविवेचनम्ः–)इह तिष्ठन्त्यस्मिन्निति स्थानं, व्यवहारतः सिद्धिक्षेत्रम् 'इह बोंदिं चइत्ता णं तत्थ गंतूण सिज्झइ' इतिवचनात्; निश्चयतस्तु तत्स्वरूपमेव, 'सर्वे भावा आत्मभावे तिष्ठन्ती'तिवचनात्। एतदेव विशेष्यते (शिवमित्यादिभिः) तत्र 'शिवम्' इति सर्वोपद्रवरहितत्वाच्छिवम्। तथा स्वाभाविक–प्रायोगिकचलनक्रियारहितत्वान्न चलमचलम्। तथा रुजाशब्देन व्याधिवेदनाभिधानं, ततश्चाविद्यमानरुजमरुजम् तन्निबन्धनयोः शरीर–मनसोरभावात्।

स्थान को प्राप्त करती है वैसा नहीं माना जा सकता। वह तो लोकान्तव्यापी पहले से है ही। एवं आत्मा सदा नित्य भी है।"

वैशेषिक–'आत्मा विभु'–मत के खण्डनार्थः–

इस मत के निराकरणार्थ यहां सूत्रकार अर्हत् परमात्मा की एक और स्तुति करते हैं 'सिव–मयल ...ठाणं संपत्ताणं'। अर्थात् शिव, अचल, अरोग, अनन्त, अक्षय, अव्याबाध, अपुनरावृत्ति ऐसे सिद्धिगति नामक स्थान को संप्राप्त के प्रति मेरा नमस्कार हो।

विशेष्य 'स्थान,' एवं 'शिव–अचल–अरोग' विशेषणों के सयुक्तिक अर्थः–

अब सिद्धिस्थान और शिव वगैरह विशेषणों का युक्तिपुरस्सर स्पष्टीकरण किया जाता है। अरहंत प्रभु सिद्धिस्थान को प्राप्त हुए हैं। यहां स्थान का अर्थ है जहां वे ठहरते हैं। ठहरना दो प्रकार से होता है, व्यवहार दृष्टि से और निश्चयदृष्टि से। मुक्त परमात्मा का व्यवहार-दृष्टि से स्थान लोकाकाश का अग्रभाग वर्ती सिद्धिक्षेत्र है, क्यों कि शास्त्र में कहा गया है कि 'इह बोंदिं चइत्ता णं तत्थ गन्तूण सिज्झइ',–अर्थात् समस्त कर्मों के क्षय हो जाने से यहां शरीरमात्र का त्याग कर के वहां सिद्धशिला पर जा कर कृतकृत्य होते हैं, ठहरते हैं, शाश्वत अवस्थान करते हैं। निश्चयदृष्टि से तो ठहरने का स्थान दूसरा कोई नहीं, अपना स्वरूप ही है, क्यों कि शास्त्रवचन है कि 'सर्वे भावा आत्मभावे तिष्ठन्ति,'–अर्थात् सभी पदार्थ अपने स्वरूप में ठहरते हैं। इसलिए मुक्त परमात्मा निश्चयदृष्टि से यानी परमार्थतः अपने प्रगट शुद्ध आत्मस्वरूप में अवस्थान करते हैं।

प्र०–ठहरना परमार्थतः अपने स्वरूप में क्यों? दूसरे स्थान में क्यों नहीं?

उ०–यह उपपन्न नहीं हो सकता है इसलिए। अगर दूसरे स्थान में ठहरता है तब प्रश्न होगा कि वहां एक देश से ठहरता है या सर्व देश से? यदि एक देश से ठहरता है तो फिर प्रश्न होगा कि उस एक देश में भी एक देश से ठहरता है, या सर्व देश से? इस प्रकार अनवस्था उपस्थित होगी, और ठहरने का स्थान निश्चित नहीं हो सकेगा। यदि कहें सर्व देश से ठहरता है, तब तो यही आया कि अवस्थान के अलावा कोई देश नहीं बचा, फलतः सर्वात्मना अवस्थान होने से आधार आधेय दोनों एकरूप हो जाएँगे। किन्तु यह तो होता नहीं कि

(ल०–अक्षय–अनन्त–अव्याबाध–अपुनरावृत्ति' पदार्थः) तथा नास्यान्तो विद्यत इत्यनन्तं, केवलात्मनोऽनन्तत्वात् । तथा नास्य क्षयो विद्यत इत्यक्षयं, विनाशकारणाभावात्, सततमनश्वरमित्यर्थः । तथा अविद्यमानव्याबाधम्, अमूर्त्तत्वात्, तत्स्वभावत्वादितिभावना । तथा न पुनरावृत्तिर्यस्मात्, तद् अपुनरावृत्ति । आवर्त्तनमावृत्तिः, भवार्णवे तथा तथाऽऽवर्त्तनमित्यर्थः ।

एक पदार्थ दूसरे पदार्थ में ठहरने को जाए और दोनों एकरूप (अभिन्न) हो जाएँ। इसलिए परमार्थ दृष्टि से अन्य किसी स्थान मे ठहरना संगत नहीं हो सकता। आत्मभाव यानी स्वस्वरूप में ठहरने का मान लें तो कोई ऐसी आपत्ति नहीं लग सकती।

प्र०–एक ही वस्तु में आधार–आधेयभाव कैसे ?

उ०–ओह ! व्यवहार में भी यह देखते हैं कि 'गङ्गा में बाढ़ आई' 'वन मे बहुत पेड़ हैं', 'मेरे मन में यह विचार आया', इत्यादि। यहां बाढ गङ्गा से, पेड़ वन से, और विचार मन से कोई अलग वस्तु नहीं है। तो निश्चयदृष्टि से मुक्त परमात्मा का स्थान जो सिद्धक्षेत्र है वह स्वस्वरूप ही है; उसीमें वे ठहरते हैं।

शिवः–अब सिद्धक्षेत्र स्थान के कई विशेषण दिखलाते हुए कहते हैं कि वह 'शिव' है, अर्थात् समस्त उपद्रवों से रहित होने से बिल्कुल निरुपद्रवी है। अकर्मा हो जाने से, यहां किसी प्रकार के भूतपिशाचादि का, लूंट–चोरी का, शत्रु–आक्रमण का, कलङ्क–अपकीर्ति का यावत् जन्म–जरा–मरण का उपद्रव नहीं है और कभी आने वाला नहीं है।

अचलः–तथा सिद्धक्षेत्र चलायमान नहीं, अचल है; क्यों कि स्वाभाविक या प्रायोगिक कोई चलन क्रिया उसमे होती नहीं है। अग्निज्वाला और वायु में स्वाभाविक उर्ध्व–तिरछी चलन क्रिया होती है और वायु के प्रयोग से पेड़ के पत्ते में प्रायोगिक हलनचलन क्रिया होती है। मुक्तात्मा में एसी कोई क्रिया नहीं है। सर्वकर्मक्षय होने पर पूर्व प्रयोग से वे यद्यपि ऊपर जाते हैं, लेकिन सिद्धिक्षेत्र से आगे चलने में धर्मास्तिकाय–द्रव्य का सहारा नहीं है, और वापस लोटने का न तो अपना कोई स्वभाव है, न किसी का प्रयोग है।

अरोगः–संस्कृत भाषा का 'रूज्' शब्द व्याधिवेदना का प्रतिपादक है। सिद्धिक्षेत्र अरुज है अर्थात् जिसमें कोई भी रोग यानी व्याधिवेदना नहीं है, कारण वहां मुक्तात्मा को शरीर और मन नहीं है। देखते हैं किसी–न–किसी रोग शारीरिक या मानसिक होता है। अर्हत् परमात्मा मुक्त होने पर शरीर और मन के बन्धन से सदा के लिए पर हो जाते है। तब फिर किसी प्रकार के रोग यानी व्याधिवेदना से आक्रान्त कैसे हो सकते है ?

अनन्तः–सिद्धिस्थान अनन्त है, अर्थात् इसका कभी अन्त नहीं होता। क्यों कि (१) शुद्ध आत्मा का अन्त (मरण) होने वाला है नहीं, (२) मुक्त आत्माएँ अनन्त हैं; (३) मुक्तात्मा का केवलज्ञान अनन्त विषय वाला होने से अनन्त है। इससे ज्ञात होता है कि मुक्तात्मा ज्ञानशून्य यानी अज्ञान नहीं होते हैं।

(ल०—'सिद्धिगतिनामधेयस्थानसंप्राप्त' शब्दार्थः) तथा सिध्यन्ति निष्ठितार्था भवन्त्यस्यां प्राणिन इति 'सिद्धिः' लोकान्तक्षेत्रलक्षणा। सैव च गम्यमानत्वाद् गतिः। सिद्धिगतिरेव 'नामधेयं' यस्य तत् तथाविधमिति। 'स्थानं' प्रागुक्तमेव। इह च स्थानस्थानिनोरभेदोपचारा-देवमाहेति। 'संप्राप्ताः' इति, सम्यग्=अशेषकर्मविच्युत्या स्वरूपगमनेन परिणामान्तरा-पत्त्या प्राप्ताः।

अक्षयः—सिद्धिक्षेत्र का एवं सिद्ध आत्मा का कभी क्षय न होने से वह अक्षय है। क्षय यानी विनाश न होने का कारण यह, कि कभी इसका विनाशक साधन नहीं मिलता है। इससे सिद्ध होता है कि निर्वाण यह आत्मनाश, चित्संतति(विज्ञानधारा) के नाश स्वरूप नहीं है, किन्तु अविनाशी शुद्ध आत्मस्वरूप के सतत अवस्थान रूप है। मुक्ति होने पर आत्मा सतत, अवि-नाशी रूप में रहती, है शुद्ध शाश्वतिक अस्तित्व वाली होती है।

अव्याबाधः—सिद्धिस्थान निराबाध होता है, किसी प्रकार की बाधा, पीड़ा, संघर्ष कुछ भी यहां होता नहीं है; क्यों कि आत्मा की सिद्ध अवस्था में अब शरीरादि किसी मूर्त (रूपी) पदार्थ का संबन्ध न रहने से अपना केवल अमूर्त स्वरूप प्रगट है; और केवल अमूर्त का ऐसा स्वभाव है कि किसी की भी अपने पर बाधा न पहुंच सके, जैसे कि आकाश पर। संसारी अवस्था में तो आत्मा सदेह होने के कारण अपेक्षा से मूर्तामूर्त होता है, इसलिए बाधा का विषय हो सकता है।

अपुनरावृत्तिः—सिद्धि-अवस्था में से कभी संसार-सागर में पुनः वापस लौटना नहीं होता है इसलिए वह अपुनरावृत्तिक है। आवृत्ति आवर्तन को कहते हैं; भवचक्र में देव-मनुष्यादि भिन्न भिन्न प्रकार की अवस्थाओं में जीव का परावर्तन होता रहता है; लेकिन मुक्त हो जाने पर अब इस आवर्तन का अन्त हो जाता है, क्यों कि न तो अब कोई मनुष्यादि भाव के अनुकूल गतिआयुष्यादि कर्म अवशिष्ट है, न कोई ऐसे कर्म के उत्पादक कारण रहा है।

सिद्धिगतिः—सिद्धिक्षेत्र का नाम सिद्धिगति है; इसमें 'सिद्धि' लोकाकाश के सर्वोपरी अन्तिम भाग स्वरूप है। यही गति है, क्यों कि यह मुक्त परमात्मा से गम्यमान है, प्राप्यमान है, उन्हें अन्त में यहां जाने का है। सिद्धिगति यही 'नामधेय' यानी नाम है जिसका ऐसा स्थान हुआ 'सिद्धिगतिनामधेयस्थान'। स्थानशब्द का अर्थ पहले कह आये हैं।

प्र०—शिव, अचल इत्यादि स्वरूप तो मुक्त परमात्मा के हैं, तब यहां उन्हें स्थान के विशेषण रूप में देने से क्या असमञ्जसता नहीं है?

उ०—नहीं, स्थान और स्थानी (स्थान वाले) के कथंचिद् अभेदोपचार की विवक्षा से यह प्रतिपादन किया गया है। व्यवहार में ऐसा प्रसिद्ध है, उदाहरणार्थ, नगर या देश में बहुत धनिक, सुखी, या उदार नीतिमान लोग होने पर कहा जाता है कि यह नगर या देश धनवान है, सुखी है, उदार है, नीतिमान है। इसी प्रकार सिद्धिक्षेत्र-वर्ती या सिद्धस्थान में

(आत्मसर्वगतत्वखण्डनम्-) न विभूनां नित्यानां चैवं प्राप्तिसंभवः, सर्वगतत्वे सति सदैकस्वभावत्वात् । विभूनां सदा सर्वत्रैव भावः, नित्यानां चैकरूपतयावस्थानं, तद्भावाव्ययस्य नित्यत्वात् । अतः क्षेत्रासर्वगतपरिणामिनामेवैवंप्राप्तिसंभव इति भावनीयम् । तत् तेभ्यो नम इति क्रियायोग इति ॥ ३२ ॥

अभेदोपचार कर यहां सिद्धिस्थान को शिव, अचल इत्यादि कहा । ऐसे स्थान को परमात्मा

संप्राप्त हैं, अर्थात् ' सम्यग् ' यानी समस्त कर्मों के क्षय पूर्वक अपने शुद्ध स्वरूप में प्रगट हो कर सांसारिक वैभाविक परिणति में से स्वाभाविक परिणति में आरूढ बन, 'प्राप्त' हैं। अनादि अनंत काल से आत्मा में कर्मोपाधिवश शुद्ध आत्म-स्वभाव दब कर देहधारित्वादि विभाव-परिणाम आत्मा में चला आता था । अब कर्मोपाधि का आमूलचूल नाश कर देने से विभाव-परिणाम छोड़ कर परमात्मा अनन्त ज्ञानादिमय निरञ्जन-निराकार शुध्ध स्वभाव-परिणाम में आरूढ हो सिद्धि स्थान को प्राप्त करते हैं ।

वैशेपिकमान्य आत्मविभुत्व-नित्यत्व का खण्डनः-इस पृथ्वी पर से जा कर सिध्धि-स्थान को प्राप्त करना, अर्थात् यहां से वहां पहुँच जाना यह, आत्मा अगर विभु एवं नित्य हो हो तो, शक्य नहीं है; कारण विभु होने से सर्वगत (सर्वव्यापी) और नित्य होने से सदा एक स्वभाव वाली है । विभुत्व से वैशेपिक लोग सर्वोत्कृष्ट परिमाण मानते हैं । आत्मा यदि मूलतः विभु है तो एसे परिणाम वाली होने से सर्वगत है, सर्वव्यापी है, इसका हमेशा, सर्वत्र सद्भाव है । तो सिध्धस्थान में भी इसका अनादि से सद्भाव है, तब मोक्ष होने पर प्राप्त होने का कहां रहा ? इस प्रकार आत्मा अगर नित्य है तो नित्य पदार्थों का तो सदा एक ही स्वरूप से अवस्थान होता है फिर संसारी परिणाम को छोड कर सिद्ध(मुक्त) परिणाम मे जाने की बात कहां रही ? 'नित्य' का लक्षण यही है कि 'तद्भावाव्ययं नित्यम्',-अर्थात् वस्तुस्वरूप का व्यय न होना, नाश न होना, यह नित्य । अगर नाश हो तो अनित्य कहलायेगा । आत्मद्रव्य यदि अनादि से संसारी स्वरूप वाला है तो एकान्त नित्य होने की वजह उस स्वरूप का नाश नहीं हो सकता, परिवर्तन नही हो सकता ।

प्र०-तो क्या आप आत्मा को नित्य मानते ही नहीं ?

उ०-मानते हैं लेकिन वैशेपिकादि एकान्तदर्शन की तरह सर्वथा नित्य नहीं किन्तु कथंचिद् नित्य, परिणामी नित्य मानते हैं, नित्यानित्य मानते हैं । आत्मा चेतन द्रव्य रूप से नित्य है, क्योंकि उस चेतन द्रव्यस्वरूप का कभी व्यय यानी नाश नहीं होता है; और मनुष्य, देव, एवं ज्ञानित्व, दर्शनित्व इत्यादि रूप से अनित्य है, क्योंकि उनका व्यय होता है । तात्पर्य, आत्मा द्रव्य स्वरूप से नित्य रहती हुई मनुष्यादि भावो में परिणत होती है, मनुष्यादि भावों का परिणाम पाती है; इसलिए यह परिणामी नित्य है, तो सिद्धत्व परिणाम भी पा सकती है । इसी प्रकार संसारी अवस्था में वह समग्र द्रव्य रूप से नित्य होती हुई स्व-स्व देहप्रमाण संकुचित -विकसित आत्मप्रदेश (प्रदेश द्रव्य का अति सूक्ष्म अंश) वाली होती है, अतः इसका यहां से

जा कर सिद्धिस्थान को प्राप्त करना युक्तियुक्त है। सारांश क्षेत्र-सर्वगत यानी समस्त आकाश-व्यापी नहीं किन्तु अमुक ही आकाशभाग प्रमाण एवं परिणामी नित्य यदि आत्मा हो तभी सिद्धिस्थान को संप्राप्त होना संभवित है, युक्तियुक्त है,-यह विचारणीय है, बुद्धिग्राह्य है।

विभुमत-समर्थक युक्तियों का खण्डन:-आत्मा अगर विभु हो सर्वव्यापी हो तो 'जीव मर के स्वर्ग में गया'-ऐसा कहना झूठा होगा। यदि कहें-'नहीं, इसका अर्थ यह है कि जीव इस शरीर से असंबद्ध हो स्वर्गीय शरीर से संबद्ध हुआ', तब यह कैसे? जीव सर्वव्यापी होने से यहाँ है ही और देह भी पड़ा है, तो वह इस देह से असंबद्ध कैसे? यदि कहें 'अवच्छे-द्यावच्छेदकता आदि किसी संबन्ध से असंबद्धता-संबद्धता विवक्षित है,' तो ऐसा संबन्ध प्रमाण-सिद्ध नहीं है; क्योंकि अन्योन्याश्रय दोष लगने से इसका ज्ञान ही नहीं हो सकता। यह अन्योन्याश्रय इस प्रकार-अवच्छेदकता संबन्ध का मतलब है कि उदाहरणार्थ आत्मा को सुख-दुःख के उपभोग होने का जो साधन है वह अवच्छेदक कहलाता है, उसमें रहा अवच्छेदकता धर्म यही संबन्ध है। शरीर अवच्छेदक याने उपभोग-साधन है, और आत्मा की अपेक्षा यह अवच्छेदक है, अत आत्मा अवच्छेद्य हुई। अब देखिए कि ऐसी अवच्छेदकता ज्ञात होती तभी शरीरत्व निर्णीत होगा, और अवच्छेदकता का भान शरीर के भान पर अवलम्बित है। जगत में शरीर तो कई होते हैं, लेकिन इस शरीर में उपभोग होगा ऐसा निर्णीत हो तब इसके साथ अवच्छेदकता संबन्ध होने का निश्चित होगा, और अवच्छेदकता संबन्ध का पहले निर्णय होने के बाद ही यह इस आत्मा का शरीर है वैसा निर्णीत हो सकेगा। यह अन्योन्या-श्रय दोष है। इसलिए आत्मा यदि व्यापक हो तो एक शरीर के साथ संबद्ध और दूसरे शरीर के साथ असंबद्ध, ऐसा युक्तिसिद्ध नहीं है। वह तो आत्मा मध्यम परिमाण वाली हो और देह के साथ अन्योन्य प्रदेशानुविद्धता रूप संबन्ध हो तभी इस देह से दूसरे देह में गया ऐसा व्यवहार हो सकता है, और अन्योन्याश्रय यानी परस्पराश्रय दोष नहीं लगता है।

वैशेषिकदर्शनने यह जो कहा था कि 'आत्मा को विभु मानेंगे तभी दूर देश में इसका संबन्ध रहने से उसके अदृष्ट(भाग्य)का भी वहीं अपने लिए किसी उत्पद्यमान वस्तु के निमित्तों के साथ संबन्ध हो सकेगा।'-यह भी ठीक नहीं, क्योंकि अदृष्ट यानी कर्म खुद लोहचमक की तरह ऐसा पदार्थ है कि वह दूर रहते रहते भी कार्य उत्पन्न कर सकता है। फिर आत्मा को विभु मानने की कोई आवश्यकता नहीं। मध्यम परिमाण होते हुए भी वायु की तरह छोटे बड़े शरीर में उसका संकोच विकास होने से नाश की भी आपत्ति नहीं है।

सो परमात्मा सर्वथा शरीरादि को छोड़कर सिद्धिगतिस्थान को प्राप्त करते हैं। ऐसे परमात्मा के प्रति मेरा नमस्कार हो,-इस प्रकार 'नमोऽत्थु' क्रिया योजित की जाएगी।

☆

नमो जिणाणं जियभयाणं (नमो जिनेभ्यः जितभयेभ्यः)

(ल०-प्रत्येक पदे कथं नमस्कारः ?) एवंभूता एव प्रेक्षावतां नमस्कारार्हाः आद्यन्तसङ्गतश्च नमस्कारो मध्यव्यापीति भावना। जितभया अप्येते एव, नान्ये, इति प्रतिपादयन्नाह 'नमो जिनेभ्यः जितभयेभ्यः'। नम इति पूर्ववत्, जिना इति च। जितभयाः भवप्रपञ्चनिवृत्तेः क्षपितभया इत्युक्तं भवति।

(मुक्तौ अद्वैतं मन्यमानस्य निरासः-) अनेनाद्वैतमुक्तव्यवच्छेदः। तत्र हि क्षेत्रज्ञाः परमब्रह्मस्फुलिङ्गकल्पाः, तेषां च ततः पृथग्भावे न ब्रह्मसत्तात एव कश्चिदपरो हेतुरिति सा तल्लयेऽपि तथाविधैव तद्वदेव भूयः पृथक्त्वापत्तिः।

(पं०—) 'अनेने'त्यादि, अनेन=भावतो जितभयत्वनिर्देशेन अद्वैते परमब्रह्मलक्षणे सति, मुक्ताः=क्षीणभवाः, तेषां व्यवच्छेदो=निरासः, कृत इति गम्यम्। कुत इत्याह 'तत्र'=अद्वैते, 'हि'=यस्मात् 'क्षेत्रज्ञाः'=संसारिणः, 'परमब्रह्मविस्फुलिङ्गकल्पाः' परमब्रह्मण=परमपुरुषस्य, (स्फुलिङ्गकल्पा=) अवयवा एवेति भाव.। यदि नामैवं ततः किम्? इत्याह 'तेषां च'=क्षेत्रज्ञानां, 'ततः'=परमब्रह्मणः, 'पृथग्भावे'=विघटने (प्र०....विघटने) 'न'=नैव, 'ब्रह्मसत्तात एव'=ब्रह्मसत्ताया एव सकाशात्, 'कश्चित्' कालादिः, 'अपर'=अन्यो, 'हेतुः'=निमित्तम्; 'इति'=एवं, 'सा'=ब्रह्मसत्ता, 'तल्लयेऽपि' तस्मिन्=ब्रह्मणि, मुक्तात्मनो लयेऽपि, 'तथाविधैव'=विघटनहेतुरेव, 'तद्वदेव'=एकवारमिव, 'भूय'=पुन, 'पृथक्त्वापत्तिः'=विघटनप्रसङ्ग इति।

नमो जिणाणं जियभयाणं(भयोंके विजेता जिननाथ के प्रति मैं नमस्कार करता हूं)

आदि-अन्त-संबद्ध 'नमो' पद मध्यव्यापीः-

अब, अन्तिम सूत्र की व्याख्या करने के लिए कहते हैं,-पहले सूत्र में अरहंतपन से लेकर बत्तीसवें सूत्र में सिद्धिगतिस्थानप्राप्ति पर्यन्त जिन जिन विशिष्ट स्वरूपों का निर्देश किया ऐसे समस्त स्वरूप वाले ही भगवान प्रेक्षावान (विचारक) लोगों के लिये नमस्कार-योग्य है यह सूचित करने के लिए कहते हैं 'नमो जिणाणं जियभयाणं'।

प्र०-यहां अन्त में फिरसे 'नमो' पद कहने में क्या पुनरुक्ति दोष नहीं है ?

उ०-नहीं, आदि और अन्त (नमोत्थुणं अरहंताणं, नमो जिणाणं) इन दोनों स्थानों में योजित किया गया 'नमो' पद मध्यव्यापी है अर्थात् मध्य के प्रत्येक पद के साथ योजित होता है, यह सूचित करने के लिए पुनः 'नमो' पद दिया गया है, अतः कोई दोष नहीं है। इसी लिए पहले ही कहा गया है कि प्रत्येक पद के अर्थके साथ 'नमस्कार' क्रिया का योग करना; जैसे कि नमो भगवंताणं, नमो आइगराणं....इत्यादि।

(ल०–) एवं हि भूयो भवभावेन न सर्वथा जितभयत्वं, सहजभवभावव्यवच्छित्तौ तु तत्तत्स्वभावतया भवत्युक्तवत् शक्तिरूपेणापि सर्वथा भयपरिक्षय इति निरुपचरितमेतत्।

(पं०–) ततः किम्? इत्याह 'एवं'=भूयः पृथक्त्वापत्त्या, 'हि:'=यस्माद्, 'भूयो भवभावेन' =पुनः संसारापत्त्या, 'न'=नैव, 'सर्वथा'शक्तिक्षयेणापि, 'जितभयत्वम्' उक्तरूपं, यथा स्यात्तदाह (प्र०....तथाह) 'सहजभवभावव्यवच्छित्तौ तु' सहजस्य=ब्रह्मविघटनादेः कुतोऽप्यप्रवृत्तस्य जीव–तुल्यकालभाविनो, भवभावस्य = संसारपर्यायस्य, व्यवच्छित्तौ = क्षये, पुनः किम्? इत्याह 'तत्तत्स्वभावतया', तस्याः = सहजभवभावव्यवच्छित्ते· (तत्स्वभावतया=) जितभयत्वस्वभावतया 'भयत्येतदि'त्युत्तरेण सह संबन्धः, कीदृगित्याह 'निरुपचरितं'=तात्त्विकं, कुत इत्याह 'उक्तवत्'=प्रागुक्तगिवाचलादिस्थानप्राप्तिन्यायेन, 'शक्तिरूपेणापि'=भययोग्यस्वभावेनापि, किं पुनः साक्षाद् भयभावेन, अत एवाह ' सर्वथा '=सर्वप्रकारैः, ' भयपरिक्षयो '=भयनिवृत्तिः, ' इति '=अस्माद्धेतोः, ' एतत् ' जितभयत्वमिति।

प्र०–ठीक है, तो 'नमो जिणाणं' कहिए, 'जियभयाणं' क्यों कहते हैं?

उ०–**संसारसंबन्ध से ही भयोत्थान:**–जिन्होंने भय को जीत लिया है वैसे भी ये 'जिन' ही होते हैं, अन्य कोई नहीं, यह दिखलाने के लिए 'जियभयाणं' कहा गया है। 'नमो' पद की व्याख्या पूर्व के अनुसार, एवं 'जिन' पद की व्याख्या भी पूर्वोक्त 'जिणाणं जावयाणं' पद की व्याख्या के मुताबिक समझना। 'जितभय' इसीलिए कहलाते हैं कि संसार के प्रपञ्च यानी विस्तार से बिलकुल मुक्ति पा लेने के कारण उन्होंने भयों को नष्ट कर दिया है। सभी प्रकार के भय संसारसंबन्ध से ही उपस्थित होते हैं; लेकिन जब हमेशा के लिए संसारसंबन्ध का ही क्षय किया जाए तो भय का कोई उत्थानकारण ही न रहने से भय भी क्षीण हो जाता है, यह स्पष्ट है, वास्तविक स्थिति है।

अद्वैत में भवक्षय अशक्य है:–वस्तुस्थिति रूप से जितभयत्व होने के इस निर्देश से अद्वैत में मुक्ति होने का असंभव सूचित होता है, अर्थात् यदि एक मात्र शुद्ध ब्रह्म ही सत् हो तब भगवान या कोई भी जीव मुक्त यानी भवक्षय वाला नहीं बन सकता। कारण यह है कि अद्वैत में तो सभी संसारी जीव शुद्ध ब्रह्म परमपुरुष के स्फुलिङ्ग यानी अवयव रूप ही हैं। अब उनको परम ब्रह्म से अलग होने या रहने में हेतु कौन है? और तो कोई काल आदि हेतु कह सकते नहीं क्योंकि ऐसा कोई सत् पदार्थ तो अद्वैतमतमें है नहीं। अन्ततो गत्वा ब्रह्म से जीवों के पृथग्भाव होने के प्रति ब्रह्मसत्ता को ही हेतु कहना होगा। अब इसका परिणाम देखिए कि आपके मतानुसार होने वाले मुक्तात्मा के लय के अवसर पर ब्रह्मसत्ता तो वैसी न वैसी ही खड़ी है अर्थात् मुक्तजीव के पृथग्भाव में हेतु होने के लिए तैयार ही है। फलतः जैसे एकबार पहले, वैसे मुक्तिके बाद भी फिर पृथग्भाव होने का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। और पृथग्भाववश पुनः संसार की आपत्ति लगेगी।

(ल०—पृथग्भाव शुद्ध ब्रह्म से या अशुद्ध ?:—)न 'सकृद्विचटनस्वभावत्वकल्पनयाऽद्वैतेऽप्येवमेवादोष' इति न्याय्यं वचः, अनेकदोषोपपत्तेः। तथाहि—तद्विचटनं शुद्धादशुद्धाद्वा ब्रह्मणः ? इति निरूपणीयमेतत्। शुद्धविचटने कुतस्तेषामिहाशुद्धिः ? अशुद्धविचटने तु तत्र लयोऽपार्थकः।

(पं०—) अत्रैव परमतमाशङ्क्य परिहरन्नाह 'न'=नैव, 'सकृद्विचटनस्वभावत्वकल्पनया' एकवारं परमब्रह्मणः सकाशाद्विमुक्तिभावस्वभावत्वकल्पनया, 'अद्वैतेऽपि' परमब्रह्मलक्षणे, किं पुनः द्वैते, 'एवमेव'=भवदभ्युपगमन्यायेनैव, 'अदोष'=उपचरितं जितभयत्वमेवंलक्षणदोषाभावः, 'इति'=एवंरूपं, 'न्याय्यं'=न्यायानुगतं, 'वचो'=वचनम्। कुत इत्याह 'अनेकदोषोपपत्तेः'। तामेव भावयति 'तथाही'ति पूर्वोक्तभावनार्थः। 'तत्'=सकृद्, 'विचटनं'=विभागो, ब्रह्मणः सकाशात् क्षेत्रविदामितिगम्यते, 'शुद्धात्'=सकलदोषरहिताद्, 'अशुद्धाद्'=इतररूपात्, 'वा'शब्दो विकल्पार्थः, 'ब्रह्मणः'=परमपुरुषाद्वैतरूपात् 'पुरुष एवेदमि'त्यादिवेदवाक्यनिरूपितात्, 'इति'=एवं, 'निरूपणीयं'=पर्यालोच्यम्, 'एतत्'=सकृद्विचटनं, प्रकारद्वयेऽपि दोषसम्भवात्। दोषमेव दर्शयति ('शुद्धविचटने'=) शुद्धाद् ब्रह्मणो विचटने, 'कुतः ?' न कुतश्चिदित्यर्थः 'तेषां'=क्षेत्रविदाम्, 'इह'=संसारे, 'अशुद्धिः', यत्क्षयार्थं यमनियमाभ्यासो योगिनामिति 'अशुद्धविचटने तु'=अशुद्धाद्विचटने पुनः, 'तत्र'=ब्रह्मणि, 'लय'उक्तरूपः 'अपार्थकः'=निरर्थकः, तदशुद्धिगम्यस्य क्लेशस्य तत्रापि मुक्तानां प्राप्तेः।

परमब्रह्म–लय के मत में भयशक्ति का क्षय नहीं:—जब पुनः पृथग्भाववश फिर से संसार की आपत्ति आई तब तो मोक्ष होने पर भी सर्वथा जितभयत्व अर्थात् भय–शक्तिक्षय तक का भय-विजय नहीं बना। तात्पर्य, अब तो कोई भय नहीं है लेकिन भविष्य काल में भी कोई भय उत्थान पा सके ऐसी भयशक्ति, भययोग्यता भी अब न रहे,–भयों का तो नाश कर दिया, भयशक्ति भययोग्यता का भी नाश कर दिया–ऐसी जितभयता परम ब्रह्म में मुक्त का लय मानने पर नहीं बन सकती। सर्वथा भय–क्षय तो तभी उपपन्न हो सके कि जीव का संसार–पर्याय परमब्रह्म से पृथग्भाव होने रूप नहीं किन्तु जब से जीव का अपना अस्तित्व है तबसे ले कर वह अपना स्वतन्त्र वास्तविक पर्याय हो, अर्थात् संसार किसी ब्रह्मपृथग्भाव आदि कारण से प्रवर्तमान रूप नहीं किन्तु जीव के साथ निजी वास्तव से अपने हेतुवश प्रवर्तमान हो। ऐसे सहज संसारपर्याय का सर्वथा क्षय हो तभी मुक्ति होने पर अब कोई भय तो क्या, परन्तु भययोग्यता भी नहीं ठहर सकती, मुक्ति सर्वथा जित–भयत्वस्वभाव रूप से बन सकती है। वही जितभयत्व अनोपचारिक है, क्योंकि पूर्वकथनानुसार शिव–अचल आदि स्थानप्राप्ति के न्याय से केवल साक्षात् भयभाव से ही नहीं किन्तु भययोग्य स्वभाव से भी, अर्थात् सर्व प्रकार से भय की,–निवृत्ति हो गई है।

जीव का पृथग्भाव शुद्ध ब्रह्ममें से या अशुद्ध ब्रह्ममें से ? दोनों ही असंगत:—

(ल०–ब्रह्मणो निरंशत्वेऽनुपपत्तिः सांशत्वे परमतस्वीकारः=)न चैवमेकमविभागं च तदिति । अनेकत्वे च परमताङ्गीकरणमेव, तद्विभागानामेव नीत्या आत्मत्वात् ।

(पं०–) तदभ्युपगमेनापि ब्रह्म दूषयन्नाह 'न च'=नैव, 'एवं'=परमब्रह्मणः क्षेत्रज्ञानां विघटने लये च, 'एकम्'=अद्वितीयं, 'अविभागं च'=निरवयवं (च), 'तत्'=परमब्रह्म 'इति', किन्तु विपर्यय इति । एवमपि किम् ? इत्याह 'अनेकत्वे च' क्षेत्रज्ञापेक्षया परमब्रह्मणः, 'परमताङ्गीकरणमेव'=अभ्युपगतं स्यात्; कुत इत्याह 'तद्विभागानामेव', तस्य=परमब्रह्मणः आत्मसामान्यरूपस्य, विभागानां=व्यक्तिरूपाणाम्, (एव) 'नीत्या'=युक्त्या, 'आत्मत्वात्'=क्षेत्रज्ञत्वात् ।

प्र०–अद्वैत मत में मोक्ष होने के बाद जीव का पुनः पृथग्भाव होने की आपत्ति आप देते हैं, लेकिन ऐसी आपत्ति को अवकाश नहीं मिलेगा; चूंकि हम परमब्रह्म में से एक ही बार जीव विभक्त होने का स्वभाव मान लेंगे। यह मोक्ष के पूर्व हो गया सो हो गया; अब तो जैसे आप के मत में मोक्ष होने के बाद औपचारिक जितभयत्व एवं पुनः संसार की आपत्ति नहीं, वैसे हमारे अद्वैतमत में भी औपचारिक जितभयत्व का एवं फिर से पृथग्भाव स्वरूप संसार होने का दोष कहां है ? क्योंकि ऐसा स्वभाव ही नहीं है, और 'स्वभावो दुरतिक्रमः'– स्वभाव का उल्लंघन नहीं हो सकता ।

उ०–आपका यह कथन युक्तियुक्त नहीं है; क्योंकि ऐसे स्वभाव की कल्पना करने में अनेक दोषों की आपत्ति है। यह इस प्रकार,–परमब्रह्म् में से जीवों का एकबार जो अलग पड़ने का आप मान लेते हैं, तो हम आपसे पूछते हैं कि यह अलग पड़ने का क्या सकल दोष रहित ऐसे शुद्धब्रह्म में से होता है या अशुध्ध ब्रह्म में से ? वेदशास्त्रने 'पुरुषेवेदं ग्निं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यं' ऐसे वाक्य से कहा है कि 'एक मात्र परम पुरुष ही सब कुछ है, जो कुछ है और जो कुछ होने वाला है यह कोई स्वतन्त्र सद्वस्तु नहीं किन्तु अद्वितीय परमपुरुष मात्र रूप ही है, तो ऐसा एकबार भी पृथग्भाव क्या शुद्ध परमपुरुष में से हुआ ? या अशुध्ध में से ? यह चिन्तनीय है। कारण यह है कि दोनों प्रकार में दोष है। यह इस प्रकारः–

अगर कहें, शुध्धब्रह्म में से जीवोंका पृथग्भाव हुआ, तब उनको संसार में अशुद्धि कहांसे हुई। अर्थात् अशुद्धि ही नहीं हो सकती है कि जिसके निवारणार्थ योगी लोग यम नियमों का अभ्यास करें। और यदि कहें, नहीं अशुद्ध ब्रह्म में से पृथग्भाव हुआ है, एवं यमनियमों का पालन उस अशुद्धि के निवारण में चरितार्थ है, तब तो यह हुआ कि इस प्रकार यम-नियमों से शुध्ध हुए जीवों का पुनः अशुद्ध ब्रह्म में जा कर लय होना निरर्थक है; क्योंकि मूल अशुद्ध ब्रह्म की अशुद्धि से जन्य क्लेश की वहां लीन हुए मुक्तात्माओं को आपत्ति होगी ! तात्पर्य, मुक्तजीव अशुद्ध ब्रह्म में लय पाने से फिर अशुद्ध हो जाएगा। इससे तो यही मानना उचित है कि मुक्ति होने पर लय नहीं होता है ता कि योगाभ्यास चरितार्थ हो और मुक्ति की शुद्धि स्थाई टिक सके।

ल०–अद्वैतमतशास्त्रोक्तयः–) एतेन यदाह,–'परमब्रह्मण एते क्षेत्रविदोंऽशा व्यवस्थिता वचनात् । वह्निस्फुलिङ्गकल्पाः समुद्रलवणोपमास्त्वन्ये ॥ १ ॥ सादिपृथक्त्वमपीषामनादि वाऽहेतुकादि वा चिन्त्यम् । युक्त्या ह्यतीन्द्रियत्वत् प्रयोजनाभावतश्चैव ॥ २ ॥ कूपे पतितोत्ता-रणकर्तुस्तदुपायमार्गणं न्याय्यम् । ननु पतितः कथमयमिति ? हन्त तथादर्शनादेव ॥ ३ ॥ भवकूपपतितसत्त्वोत्तारणकर्तुरपि युज्यते ह्येवम् । तदुपायमार्गणमलं वचनाच्छेपव्युदासेन ॥४॥ एवं चाद्वैते सति वर्णविलोपाद्यसङ्गतं नीत्या । ब्रह्मणि वर्णाभावात् क्षेत्रविदां द्वैतभावाच्च ॥ ५ ॥' इत्यादि ।

(पं०–) 'एतेन'=ब्रह्मनिरासेन, यदाह कश्चिदेतत्, तदपि प्रतिक्षिप्तमिति योगः । उक्तमेव दर्शयति 'परमब्रह्म ..' इत्यादिरार्याः 'परमब्रह्मणः' पुरुषाद्वैतलक्षणस्य, 'एते'=शास्त्रलोकसिद्धाः, 'क्षेत्रविदो'= जीवाः, 'अंशाः'=विभागाः, 'व्यवस्थिताः'=प्रतिष्ठिताः, कुतः प्रमाणादित्याह 'वचनाद्'=आगमात्, ते च द्विधा इत्याह 'वह्निस्फुलिङ्गकल्पाः' पृथगेव विघटनेन संसारिणः, 'समुद्रलवणोपमास्त्वन्ये', यथा समुद्रे लवणमपृथगेव लीनतया व्यवस्थितम्, एवं मुक्तात्मानः(प्र०....त्मनः) प्राग्विघटनात् संसारिणोऽपि च ब्रह्मणीति ।१। 'सादि.. ' इत्याद्यार्यात्रय सुगममेव, परं 'हन्त तथा दर्शनादेवे'ति,हन्तेति प्रत्यवधा-रणे प्रत्यवधारणीयं (प्र० ...०धारयत), तथादर्शनादेव=कूपपतनकारणविचारणमन्तरेणोत्तरणो(प्र.... त्तारणो)पायमार्गणस्यैव दर्शनात् । 'शेषव्युदासेने'ति वचनव्यतिरिक्तप्रमाणपरिहारेण साधनादिविघटन-विचारपरिहारेण वा । 'एवं च....' इत्यादिरार्या, 'एवमि'ति वचनप्रमाणत (प्र०... प्रामाण्यतः), 'चः' समुच्चये, अद्वैते=आत्मनामेकीभावे सति, 'वर्णविलोपादि', वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्रलक्षणास्तेषां, विलोपः=प्रतिनियतस्वाचारपरिहारेण परवर्णाचारकरणम्, 'आदि'ग्रहणात स्वाचारपराचारानुवृत्तिरूपसंकरः (प्र० रूपसंस्कार'), 'असङ्गतम्'=अयुक्तं, 'नीत्या'=न्यायेन; तामेवाह 'ब्रह्मणि' परमपुरुषलक्षणे, 'वर्णाभावात्'=ब्राह्मणादिवर्णविभागाभावात । मा भूद् ब्रह्मणि वर्णविभागः, तदंशभूतेष्वात्मसु भविष्यती-त्याशङ्क्याह 'क्षेत्रविदां द्वैतभावाच्च', क्षेत्रविदोऽपि मुक्तामुक्तभेदेन द्वैविध्यमेवाश्रिताः, अतस्तेष्वपि न वर्ण-विभागोऽतः कथमसत्यां वर्णव्यवस्थायां वर्णविलोपादि तात्त्विकमिति ॥ ५ ॥ 'इत्यादि'=एवमाद्यन्यदपि वचनं गृह्यते ।

ब्रह्म एक एवं निरवयव नहीं, सावयव मानने पर जैनमत–स्वीकृति:–

इस प्रकार अनुपपत्ति होने पर भी चाहे ब्रह्म शुद्ध या अशुद्ध मान भी लें, तब भी यह प्रश्न है कि परमब्रह्म एक अद्वितीय एवं निर्विभाग यानी निरवयव रूप है, या अनेक हैं, सविभाग है ? पहला विकल्प,–परमब्रह्म एक निर्विभाग नहीं हो सकता, क्योंकि अणु जैसे निर्विभाग ब्रह्म से जीवात्मा स्वरूप अंशो का अलग होना और लय पाना कैसे उपपन्न हो सके ? निर्वि-भाग निरवयव वस्तु के अंश ही नहीं होते हैं । इसलिए जीवों का अलग होना मानना है तो,

परमब्रह्म अविभाग नहीं किन्तु विपरीत अर्थात सविभाग, सावयव, सांश सिद्ध होता है। अगर कहें 'हां, ऐसा मानते हैं,' तब तो यह पर मत की ही स्वीकृति आपने कर ली। कारण, जितनी जीवात्मा परमब्रह्म से अलग अलग है उतना अंश परमब्रह्म में मानने होंगे। इसका अर्थ यह हुआ कि परमब्रह्म यह आत्मसामान्य रूप है, और इसके विभाग जीव अनेक जीव-व्यक्ति ये आत्मविशेष रूप हैं। अनेक जीवों में आत्मसामान्य एकरूप से अनुविद्ध है। यही जैनमत है और इसको ही आपको स्वीकृत करना पड़ा। आत्मसामान्य शुद्ध एक चैतन्यरूप है, और आत्मविशेष अलग अलग ज्ञानदर्शन उपयोग आदि गुणमय उस उस व्यक्ति स्वरूप है।

अद्वैत समर्थक वचनः चर्चा को छोडकर कार्य करने में कूपपतितका दृष्टान्तः—

उपर्युक्त विकल्पों द्वारा ब्रह्म का निरसन हो जाने से अब कोई यह जो कहता है उसका भी खण्डन हो जाता है। पहले उसका कथन 'परमब्रह्मण एते....' इत्यादि आर्या-छन्दोबद्ध पांच श्लोकोंसे बतलाते हैं। इनका अभिधेय यह है,—"(१) ये 'जीवात्मा' कर के शास्त्रसिद्ध एवं 'जीव जीव' कर के लोकसिद्ध संसार के समस्त जीव परमपुरुष स्वरूप परमब्रह्म के ही अंश रूप से व्यवस्थित हैं। इस में प्रमाण हैं आगमवचन। ये दो प्रकार के मिलते हैं;—एक कहता है कि जैसे अग्नि में से बिखरे हुए अग्निकण मूल अग्नि के ही अंश हैं; इस प्रकार परमब्रह्म से अलग पड़ गए संसारी जीव परमब्रह्म के ही अंश हैं। दूसरे आगम कहते हैं कि जैसे लूण समुद्र में अलग न दिखाई देते हुए अभिन्नभाव से समुद्र में लीन हो कर रहता है, सिर्फ लूण रूप से अलग निकाल लिया तब नहीं, बाकी निकालने पूर्व या पुनः भीतर डाल देने के बाद यह समुद्र में लीन होकर रहता है, इस प्रकार से मुक्त आत्माएँ, एवं संसारी जीव ब्रह्म से अलग पड़ने की पूर्व स्थिति में परमब्रह्म में लीन हो कर रहते हैं। (२) ब्रह्म से संसारी जीवोंका यह अलग होना क्या आदि है अर्थात किसी काल से आरब्ध हुआ है, या अनादि काल से पृथग्भाव चला आ रहा है, एवं अलग होना सहेतुक यानी किसी निमित्तवश है या अहेतुक है, यह बात अतीन्द्रिय होने से युक्ति-तर्क से सोचनीय है। अथवा कोई प्रयोजन न होने से सोचने योग्य ही नहीं है। ऐसा सोचने से क्या फल है? देखते हैं, (३) कूप में पड़े हुए आदमी को बाहर निकालने वाले दयालु पुरुष का यही कर्तव्य होता है कि वह उसे बाहर निकालने के उपाय का अन्वेषण करे। इसके बजाय 'अरे! इस कूप में कैसे गिर गया, कैसे गिर गया,' ऐसा सोचते रहने से क्या लाभ? गिरा हुआ है यह दिखाई देता है इससे ही अब गिरने के कारण सोचे बिना उद्धार का मार्ग अन्वेषणीय है ता कि वह फौरन उद्धार पाए। (४) ठीक इसी प्रकार संसारस्वरूप कूएँ में गिरे हुए जीवों का उद्धार करने में समर्थ पुरुष के लिए यही उचित है कि आगमप्रमाण से अतिरिक्त अन्य तर्क आदि प्रमाण का परामर्श अथवा जीव का पृथग्भाव सादि है या अनादि इसकी विचारणा छोड़ कर संसारकूप में पतित जीवों के उद्धार के उपाय की ही खोज की जाए। (५) अद्वैत पर यदि कोई प्रश्न करे कि

(ल०–अद्वैतवचननिरसनम्–) एतदपि प्रतिक्षिप्तं, श्रद्धामात्रगम्यत्वात्, दृष्टेष्टाविरुद्धस्य वचनस्य वचनत्वाद्, अन्यथा ततः प्रवृत्त्यसिद्धेः, वचनानां बहुत्वान्मिथो विरुद्धोपपत्तेः, विशेषस्य दुर्लक्षत्वात्, एकप्रवृत्तेरपरबाधितत्वात्, तत्त्यागादितरप्रवृत्तौ यदृच्छा, वचनस्याप्रयोजकत्वात्, तदन्तरनिराकरणादिति ।

(पं०–)'एतदपि'=अनन्तरोक्तं, किं पुनः परम्परोक्तं प्राच्यमिति 'अपि'शब्दार्थः । 'प्रतिक्षिप्तं' =निराकृतं, कुत इत्याह 'श्रद्धामात्रगम्यत्वात्'=रुचिमात्रविषयत्वात् । ननु वचनादित्युक्तं, तत्कथमित्थमुच्यत इति ? आह 'दृष्टेष्टे'त्यादि । 'दृष्टेष्टाविरुद्धस्य', दृष्टम्=अशेषप्रमाणोपलब्धम्, इष्टम्=वचनोक्तमेव, तयोरविरोधेन अविरुद्धस्य 'वचनस्य', 'वचनत्वात्'=आगमत्वात् । कुत इत्याह 'अन्यथा'=उक्तलक्षणविरहे, 'ततो'=वचनात्, 'प्रवृत्त्यसिद्धेः'=हेयोपादेययोर्हानोपादानासिद्धेः, कुत इत्याह 'वचनानां' शिवसुगत(प्र०....सुत)सुरगुरुप्रणीतानां, 'बहुत्वाद्' व्यक्तिभेदेन, एवमपि (प्र०....एव ततः) किम्? इत्याह 'मिथः'=परस्परं, 'विरुद्धोपपत्तेः'=नित्यानित्यादिविरुद्धार्थाभिधानात् । तर्हि विशिष्टादेव ततः प्रवर्त्तितव्यं (प्र०...प्रवृत्तिः) इति ? आह 'विशेषस्य' दृष्टेष्टाविरोधलक्षणस्य, विचारमन्तरेण 'दुर्लक्षत्वात्' । (ननु) सर्ववचनेभ्यो युगपत् प्रवृत्तिरसम्भविन्येवेति एकत एव ततः प्रवर्तितव्यमिति ? आह, तत्र च 'एकप्रवृत्तेः'=एकतो वचनात्, प्रवृत्तेः' उक्तलक्षणायाः, 'अपरबाधितत्वाद्'=अपरेण वचनेन निराकृतत्वात् ततः किम्? इत्याह 'तत्त्यागाद्'=बाधकवचनत्यागाद्, 'इतरप्रवृत्तौ'=बाध्यमानवचनप्रवृत्तौ, 'यदृच्छा'=स्वेच्छा । कथमित्याह 'वचनस्य' कस्यचिद् 'अप्रयोजकत्वाद्'=अप्रवर्त्तकत्वात् । एतदपि कुत इत्याह 'तदन्तरनिराकरणात्', तदन्तरेण=वचनान्तरेण, सर्ववचनानां निराकरणात् ।

'जब सभी आत्माएँ एक परमपुरुष रूप ही हैं तब तो ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शुद्रों के वर्णभेद का विलोपादि हो जाएगा, अर्थात् अपने नियत आचार छोडकर दूसरे वर्ण के आचार करने लगेंगे! एवं विलोप की आपत्ति की तरह दूसरी आपत्ति यह है कि स्वीय आचार और पर के आचार की जो पृथक २ परंपरा चली आती है इनका सांकर्य (परस्पर संमिश्रण) सिद्ध होगा, क्योंकि मूल में तो अद्वैत ही है अद्वितीय परमपुरुष ही है । फलतः वर्णों के अलग अलग निश्चित स्वतन्त्र आचार सिद्ध नहीं होंगे।'–ऐसा अगर कोई कहे, तो उत्तर यह है कि यह आपत्ति न्याय से अयुक्त है, क्योंकि परमब्रह्म में तो अद्वैत है अर्थात् परमपुरुष अद्वितीय एक ही है, तो उसमें ब्राह्मणादि वर्णविभाग है ही नहीं । हां, कह सकते हैं 'वहां वर्णविभाग मत हो, लेकिन उसके अंशभूत आत्माओं में तो होगा,' किन्तु यहां जीवात्माओं में दरअसल तात्त्विक रीति से देखा जाए तो मुक्त एवं अमुक्त ऐसे दो ही विभाग हैं, इसलिए यहां भी वर्णविभाग वस्तुस्थिति से है ही नहीं तो इनके वर्णव्यवस्था के विलोप आदि तात्त्विक (वास्तविक) नहीं हो सकता है।' इस प्रकार अद्वैतमत के अन्य वचन भी उसके समर्थन में लिए जाते हैं ।

अद्वैतमत–समर्थक वचनों का खण्डन : दृष्टेष्टाविरुद्ध ही आगम प्रमाण :–

अब पूर्वोक्त तो क्या, लेकिन अब कहे गए अद्वैतमत के समर्थक वचन भी कैसे प्रमाण–विरुद्ध हैं यानी तर्क से खण्डित हो जाते हैं इसका परामर्श किया जाता है। ये सब वचन पहले तो इसीलिए अमान्य हैं कि वे श्रद्धा मात्र से मानने पड़ते हैं, सिर्फ अपनी रुचि के तौर पर की जाती मान्यता के विषय हैं।

प्र०–आगम–प्रमाण से मान्य हैं ऐसा हमने कहा तो है फिर ऐसा क्यों कहते हैं ?

उ०–यह लक्ष्य में रखिए कि वचन वही आगमरूप से प्रमाण माना है कि जो दृष्ट और इष्ट का अविरोधी हो। 'दृष्ट' का अर्थ है और सभी प्रमाणों से उपलब्ध; 'इष्ट' का अर्थ है स्वीय अपर आगमवचनों से ही प्रतिपादित। इन दोनों के विरोध में न जाने वाला आगमवचन यही दृष्टेष्टाविरुद्ध कहा जाता है और वही प्रमाणभूत आगमरूप से मान्य है। प्रस्तुत वचनों का तो दृष्ट–इष्ट के साथ विरोध पड़ता है; कारण, प्रस्तुत वचन अद्वैत का स्थापन करते हैं, जब कि और प्रत्यक्ष प्रमाण एवं अनुमान, तथा अपर आगमवचन–'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति,' 'द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये,' इत्यादि द्वारा अद्वैत नहीं किन्तु अनेक आत्मा प्रमाणित होती हैं, एवं मोक्षमें लय नहीं बल्कि साम्यता, अ–लय सिद्ध होता है।

दृष्टेष्ट–विरुद्ध के स्वीकार में प्रवृत्ति–हानि आदि दोषः–यह विरोध नगण्य मान कर सिर्फ श्रद्धा के तौर पर यदि दृष्ट–इष्ट–विरुद्ध की मान्यता की जा सके, तब तो हेय–उपादेय में अनुरूप निवृत्ति–प्रवृत्ति अर्थात् हेय का त्याग एवं उपादेय का आचरण असिद्ध यानी अनुपपन्न हो जाएगा। तात्पर्य, अगर रुचिमात्र से कुछ भी मानना है, तब हिंसादि अमुक क्रिया हेय हैं और परमात्मध्यानादि उपादेय हैं ऐसा क्यों ? कोई अपनी रुचि से कि वा रुचिमात्र पर निर्भर शास्त्रवचन से हिंसादि की अनिवृत्ति प्रमाणित कर सकेगा। तब तो हिंसादि हेय के त्याग एवं परमात्मध्यानादि उपादेय के आदर में प्रवृत्ति ही नहीं होगी। इसका कारण यह है कि अपने अभिमत शास्त्र के प्रतिकूल दूसरे प्रमाण और दूसरे कई शास्त्र मिलते हैं तो क्या उनके आधार पर प्रवृत्ति करना, या इस शास्त्र के आधार पर पवर्तमान होना ? इस विचारसंघर्ष से प्रवृत्ति स्थगित हो जाएगी। शिव, सुगत (बुद्ध), बृहस्पति प्रमुख के कई शास्त्र, व्यक्तिभेद से भिन्न भिन्न रूप में मिलते हैं और वे परस्पर में विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करते हैं; जैसे कि आत्मा आदि को कोई नित्य कहता है, तो कोई अनित्य; कोई विशिष्ट अद्वैत कहता है तो कोई द्वैताद्वैत,....इत्यादि।

विरुद्ध वचनों में दृष्टेष्टाविरोध ही कसौटीः–अब आप अगर कहें कि 'जो उनमें विशिष्ट शास्त्र हो उसीके आधार पर प्रवृत्ति करनी,' तब प्रश्न है कि विशिष्ट किसको कहना ? कोई विशेष उपलब्ध हो तो उस विशेषवाला यह विशिष्ट कहा जाए, और दृष्टेष्ट–अविरोध के अलावा अन्य कोई विशेष उपलब्ध है नहीं तथा विचार किये बिना यह निर्णीत नहीं हो सकता। अतः विचार आवश्यक है कि कौन शास्त्र दृष्टेष्ट–अविरुद्ध है।

(ल०—कुग्रहविरहप्रधानमेतत्—) कुग्रहनिवृत्त्याग्रहणमपि उदाहरणमात्रं, न्यायानुपपत्तेः तद्दृष्टपूर्वादिष्वपि यथादर्शनाभावात् (प्र०...दर्शनभावात्), तत्र चोपायेन दोषसंभवात् तथा कर्तृत्वकल्पनात्, यथार्थत्वकल्पनात्।

(पं०—) तद्दृष्टेत्यादि। 'तद्दृष्टपूर्वादिष्वपि' तस्मिन्=कुग्रहे, दृष्टपूर्वा=ज्ञातादि, 'आदि'शब्दात् तद्दृष्टेष्वपि प्रवृत्तिकारणेषु गृहीतेषु, किम्? 'यथादर्शनाभावात्'=यथाज्ञानविपर्यस्तता-भावात्(प्र०...दर्शनाभावात्, ...), एवं च यथादर्शनाभिनिवेशः ... निर्देश। अथ तद्दृष्टपूर्वादिष्वपि ..., ततो न ... इत्याह 'तत्र च'=तद्दृष्टपूर्वादिषु उपाये, 'दोषसम्भवात्'=..., ... 'कर्तृत्व' ... तद्दृष्टादेः, 'कल्पनात्' हेतुना 'यथार्थत्वकल्पनात्', यथार्थस्य=..., ...त्वात्= ...।

आगम से अनुमान तक प्रवृत्ति की जाए, लेकिन इसलिए कि यहां भी 'अमुक आगमादि दुष्ट है या निर्दोष,' यह, बिना प्रमाण ज्ञान नहीं होगा, इस प्रकार यहां भी जिस आगम के अनुसार मानना, अनुमान एवं प्रवृत्ति करनी है उसकी निर्दोषता का निर्णय विचारणा किये बिना कैसे होगा? यह बात भी रहे, कि यदि विचारणापूर्वक आश्रय करना आपके लिए भी युक्तियुक्त ही हो तब युक्ति का अवलम्बन करना आपको स्वीकार है; लेकिन आप युक्ति का सहारा कैसे ले सकते हैं? क्यों कि आपको तो युक्ति प्रमाणभूत नहीं है, सिर्फ आगमप्रमाण ही आपके मत में मान्य है। इस प्रकार अन्धपरम्परा न्याय से यह शोचनीय है कि क्या जिस किसी आगम मात्र से प्रवृत्ति करनी उचित है?

(ल०–दुष्टेतरावगमो विचारसापेक्षः–) न ह्यदुष्टं ब्राह्मणं प्रव्रजितं वा अवमन्यमानो, दुष्टं वा मन्यमानः, तद्भक्त इत्युच्यते । न च दुष्टेतरावगमो विचारमन्तरेण; विचारश्च युक्तिगर्भ इत्यालोचनीयमेतत् ।

(पं०–) भवतु नाम वचनानां विरोधस्तथापि वचनबहुमानात्प्रवृत्तस्य यतः कुतोऽपि वचनादिष्टसिद्धिर्भविष्यतीत्याशङ्क्य व्यतिरेकतः प्रतिवस्तूपन्यासमाह 'न'=नैव, 'हि'=यस्मात्, 'अदुष्टम्'=अनपराधं, 'ब्राह्मणं'=द्विजं, 'प्रव्रजितं वा'=भागवतादिकं (वा), 'अवमन्यमानः'=अनाद्रियमाणो, 'दुष्टं वा'=सदोषं (वा), 'मन्यमानो', वचनकरणादिना, 'तद्भक्तो'=ब्राह्मणभक्तः प्रव्रजितभक्तो वा, 'इति'=एवम्, 'उच्यते' कुशलैः । अतोऽदुष्टभक्त एव ब्राह्मणादिभक्तः । एवमत्रापि योजना कार्या । एवं तर्हि दुष्टात्ततः प्रवर्तिष्यते इत्याशङ्क्याह 'न च', 'दुष्टेतरावगमो'=दुष्टादुष्टयोरवगमो विचारमन्तरेण, अतो विचार आश्रयणीयः, विचारश्च युक्तिगर्भो, न च युक्तिः प्रमाणं परमते वचनमात्रस्यैव प्रमाणत्वाभ्युपगमात् । 'इति'=एवं ब्राह्मणादिन्यायेन 'आलोचनीयम्', 'एतत्'=वचनमात्रात्प्रवर्तनमिति ।

प्र०–विचार से क्या ? समस्त वचनों से तो प्रवृत्ति करनी अशक्य है; इसलिए किसी एक वचन के आधार पर प्रवृत्ति कर सकते हैं न ?

उ०–नहीं, एक वचन कौन लिया जाएगा ? कारण कि एक से प्रतिपादित की गई जो हेयत्याग-उपादेयस्वीकार रूप प्रवृत्ति, वह तो अपर वचन से बाधित है, प्रतिषिद्ध है । फिर भी उस बाधकवचन की उपेक्षा कर ऐसी बाधित प्रवृत्ति की जाए, तब तो यह प्रवर्तन स्वेच्छा का ही विषय हुआ, श्रद्धामात्र से मान्य हुआ, किन्तु किसी प्रमाणभूत आगमवचन से समुद्भूत नहीं कहा जा सकता । अर्थात् यहां अपनी रुचि प्रवर्तक हुई, कोई वचन नहीं । यह भी इसलिए कि और वचन से पूर्वोक्त सभी वचन का खण्डन हो गया है ।

प्र०–आगमों में परस्पर विरोध हो, फिर भी आगम पर भक्ति बहुमान रख कर प्रवृत्ति करनेवाले को किसी भी आगम से उक्त इष्ट फल का लाभ हो जाए इसमें क्या हर्ज है ? आगम-बहुमान और प्रवृत्ति का ही महत्त्व है, विचार का नहीं ।

उ०–यहां पहले सचमुच भक्ति–बहुमान क्या चीज है यह प्रतिवस्तु से यानी अ-बहुमान (भक्तिशून्यता) के एक उदाहरण से देखिए; इससे पता चलेगा कि विचार का कितना महत्त्व है । दृष्टान्त यह कि कोई आदमी वचन या प्रवृत्ति के द्वारा निर्दोष ब्राह्मण या निर्दोष भागवत, संन्यासी आदि का अनादर करता हो, अथवा दुष्ट (दोषसंपन्न) का आदर–बहुमान करता हो, तो क्या वह ब्राह्मणभक्त या संन्यासी–भक्त कहलाएगा ? नहीं, वह तो व्यक्तिरागी हुआ । इसलिए ब्राह्मणादिभक्त तो वही कहा जाता है जो दुष्ट ब्राह्मणादि को न माने, और निर्दोष की मान्यता, भक्ति–बहुमानादि करे । इस प्रकार प्रस्तुत में भी आगमभक्त वही कहलाएगा जो निर्दोष ही आगम का स्वीकार एवं बहुमान करे, जिस किसी आगम का नहीं । कहिए, ठीक है, तब निर्दोष

(ल०—कूपपतितदृष्टान्तखण्डनम्:—) कूपपतितोदाहरणमपि उदाहरणमात्रं, न्यायानुपपत्तेः तदुद्भूतादेरपि तथादर्शनाभावात् (प्र०....दर्शनभावात्), तत्र चोत्तारणे दोषसंभवात् तथा कर्तुमशक्यत्वात्, प्रयासनैष्फल्यात्।

(पं०—) तदुद्भूतेत्यादि। 'तदुद्भूतादेरपि',तस्मिन्=कूपे, उद्भूतो=मत्स्यादि, 'आदि'शब्दात्तत्सद्भूतोऽपि प्रयोजनवशात्तत्रैव बद्धस्थितिः, तस्यापि, 'तथादर्शनाभावात्'=पतनकारणमविचार्यैवोत्तारणोपाय(प्र०....तारणाय) मार्गणस्यानवलोकनात्, एवं च तथादर्शनादितिहेतोः प्रागुक्तस्य प्रतिज्ञैकदेशासिद्धतेति। अथ तदुद्भूतादिरप्युत्तारयिष्यते, ततो न हेतोः प्रतिज्ञैकदेशासिद्धता, इत्याह 'तत्र च'=तदुद्भूतादेरपि उत्तारणे, 'दोषसम्भवात्'=मरणाद्यनर्थसम्भवात ,'तथे'ति हेत्वन्तरसमुच्चये, 'कर्तुम्' उत्तारणस्य तदुद्भूतादेः, 'अशक्यत्वात्' हेतुमाह 'प्रयासनैष्फल्यात्', प्रयासस्य=प्रयत्नस्य, नैष्फल्यात्= उत्तारणीयोत्तारलक्षणफलाभावात् ।

आगम से बहुमान रख प्रवृत्ति की जाए, लेकिन इसलिए जैसे वहां भी 'अमुक ब्राह्मणादि दुष्ट है-या निर्दोष,' यह बिना तलाश ज्ञात नहीं होगा, इस प्रकार यहां भी जिस आगम के अनुसार मान्यता, बहुमान एवं प्रवृत्ति करनी है उसकी निर्दोषता का निर्णय विचारणा किये बिना कैसे होगा ? यह लक्ष में रहे कि यदि विचारणाका आश्रय करना आपके लिए तो युक्तिघटित ही हो तब युक्ति का अवलम्बन करना आपको दुर्वार है; लेकिन आप युक्ति का सहारा कैसे ले सकते हैं ? क्यों कि आपको तो युक्ति प्रमाणभूत नहीं है, सिर्फ आगमप्रमाण ही आपके मत में मान्य है। इस प्रकार ब्राह्मणादि न्याय से यह सोचनीय है कि क्या जिस किसी आगम मात्र से प्रवृत्ति करनी उचित है ?

कूपपतित का दृष्टान्त भी दृष्टान्त मात्र है, किन्तु वह निर्विचार आगमस्वीकार के मत का समर्थक नहीं। कारण, उसमें युक्तियुक्तता उपपन्न नहीं हो सकती। यह इस प्रकार,—आप तो कहते हैं कि "बिना कुछ ऐसा सोच-विचार कि 'कैसे पड़ा, कब पड़ा.....,' कूए में गिरे हुए को बाहर निकालने की कोशिश की जाती है ऐसा देखते हैं," लेकिन कूए में उत्पन्न मत्स्यादि को एवं प्रयोजनवश उसमें बंधे हुए या वहां जा कर अवस्थान किये गए प्राणी को कूपपतित समझ कर निकालने की कोशिश की जाती हो ऐसा देखने में आता नहीं है। अब देखिए कि ऐसा कूए में चाहे गिरा हुआ या रहा हुआ हो दोनों ही समान है; अगर पतन का कारण सोचने का कुछ है ही नहीं तो गिरे हुए की तरह रहे हुए को भी बाहर निकालने का उपाय खोजने का क्यों न दिखाई पड़े ? लेकिन दिखता नहीं है, इस लिए पहले जो आपने 'तथादर्शनात् अर्थात् कूएं में पडा हुआ देखते हैं इस वास्ते बिना विचार बाहर निकालने का उपाय देखना' ऐसी प्रतिज्ञा की, इसमें एकदेश-असिद्धि का दूषण उपस्थित हुआ, अर्थात्

(ल०–विचारावश्यकता:–) न चोपायमार्गणमपि न विचाररूपं तदिहापि विचारोऽनाश्रयणीय एव, दैवायत्तं च तद्, अतीन्द्रियं च दैवमिति युक्तेरविषयः, शकुनाद्यागमयुक्तिविषयताया तु समान एव प्रसङ्ग इतरत्रापीति ।

(पं०–)अभ्युच्चयमाह 'न च'=नैव, 'उपायमार्गणमपि'=उत्तारणोपायगवेषणमपि परोपन्यस्ते 'न विचाररूपम्' किन्तु विचाररूपमेव । यदि नामैवं ततः किम् ? इत्याह 'तत्'=तस्माद्, 'इहापि'=उत्तारणोपाये, आस्तां तावत्प्रकृतवचनार्थे, 'विचारो'=विमर्शः, 'अनाश्रयणीय एव'=न विधेय एव परमते । अथातीन्द्रियत्वाद् युक्तेरविषयो वचनार्थः, इदं च कूपपतितोत्तारणं तथाविधं न भविष्यतीत्याशङ्क्याह 'दैवायत्तं च'=कर्माधीन (च), 'तद्'=उत्तारणं, ततः किम् ? इत्याह 'अतीन्द्रियं च'=इन्द्रियविषयातीतं च तदुत्तारणहेतुः, 'दैवं'=कर्म, 'इति=अस्माद्धेतोः, 'युक्तेः' विचारणस्य, 'अविषयो', भवन्मतेन वचनमात्रस्यैव विषयत्वात कथं तत्र सम्यगविज्ञाते तदायत्तायोत्तारणाय प्रवृत्तिरिति ?। पुनरप्यभिप्रायान्तरमाशङ्क्याह 'शकुनाद्यागमयुक्तिविषयतायां तु', शकुनाद्यागमाश्चादिशब्दाद् ज्योतिष्काद्यागमग्रहो; युक्तिश्च विचारः, तद्विषयतायां तु दैवस्यानुकूलेतररूपस्य 'समान एव प्रसङ्गः', 'इतरत्रापि' परमब्रह्मादावतीन्द्रिये वचनार्थे । तदपि युक्त्यागमाभ्यां विचारयितुं प्रयुज्यत इत्ययुक्तमुक्तं प्राक् 'सादिपृथक्त्वममीषामनादिच'.... इत्यादि । 'इति.' प्रक्रमसमाप्त्यर्थः ।

अमुक कूपपतितों में उद्धार की प्रतिज्ञा सङ्गत नहीं होती है। यह इस प्रकार कि कूएँ के भीतर होते हुए भी मत्स्यादि को निकाल देने के उपाय की जांच की जाय ऐसा देखने में आता नहीं है।

अगर कहें "कूएँ मे उत्पन्न या स्थितिबद्ध आदि का भी उद्धार किया जाएगा, फलतः 'तथादर्शनात' हेतु की प्रतिज्ञा के एक भाग मे असिद्धि नहीं होगी," लेकिन यह देखिए कि उन मत्स्यादि का उद्धार करने पर अर्थात् उनको बाहर निकालने पर तो उनकी मृत्यु आदि अनर्थ उपस्थित होंगे ! और भी असिद्धि-प्रयोजक हेतु यह है कि ऐसा उद्धरण करने का शक्य भी नहीं है । कारण, कूएं के भीतर रहे हुए सभी प्राणियों के उद्धरण का प्रयत्न करने पर भी उसके उद्धार स्वरूप फल नहीं आता है; प्रयत्न निष्फल होता है।

कूपपतन के दृष्टान्त की समीक्षा करने में यह फलित होता है कि मात्र पतनकारण के संबन्ध में ही नहीं किन्तु उद्धरण–उपायान्वेषण के विषय में भी विचार करना आवश्यक है, कहिए, उपायों का अन्वेषण जो करते हैं वही विचाररूप है। विचार किये बिना कहां कुछ हो सकता है ? इसलिए यदि जीवों को ब्रह्मरूपता एवं भवकूपपतनादि संबन्धी वचनों के विषय मे कुछ विचार नहीं करना है, तो यहां कूपपतित के उद्धार के उपाय खोजने संबन्ध मे भी कोई ऐसा परामर्श आपके मतानुसार नहीं करना चाहिए कि किस उपाय से उसे बाहर निकाला जाए।

(ल०–त्रिकोटिपरीक्षा : तत्त्वप्राप्तिसाधनम् आगमाऽनुमान–ध्यानाभ्यासरसत्रिकम्–)
तस्माद् यथाविषयं त्रिकोटिपरिशुद्धविचारशुद्धितः प्रवर्त्तितव्यमिति । उक्तं च,

'आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च । त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते तत्त्वमुत्तमम् ॥१॥

(पं०–)'तस्मात्'=वचनमात्रस्याप्रामाण्यात्, 'यथाविषयं'=कषादिसर्वविषयानतिक्रमेण, 'त्रिकोटि-परिशुद्धविचारशुद्धितः'=तिसृभिः कषच्छेदतापलक्षणाभिरादिमध्यावसानाविसंवादलक्षणाभिर्वा कोटिभिः, 'परिशुद्धो'=निर्दोषो यो विचारो=विमर्शः, तेन या शुद्धिः वचनस्य निर्दोषता, तस्याः सकाशात् 'प्रवर्त्तितव्यं' हेयोपादेययोः ।

अगर आप कहें कि 'वहां तो परमब्रह्म के आगमवचन का विषय अतीन्द्रिय होने से युक्ति–विचार का विषय नहीं है, इसलिए वहां विचार अकरणीय है,' तब यहां भी युक्ति समान ही है, क्योंकि कूपपतित का उद्धरण, प्रयत्न करने पर भी, होगा या नहीं यह तो दैव के अधीन है; और दैव तो अतीन्द्रिय है, अर्थात् वह किस प्रकार का है यह अपनी इन्द्रिय एवं बुद्धि का विषय नहीं; अतः वह भी विचार का विषय नहीं होगा; आपके मतानुसार तो वचनमात्र का ही विषय होगा । तब उद्धारणोपाय ठीक न जानने से उसके अधीन उद्धार की प्रवृत्ति क्यों होती है?

हां, इतना आप कह सकते हैं कि "उद्धरण हो सकेगा या नहीं यह तो शकुनशास्त्र, निमित्तशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र इत्यादि एवं परामर्श द्वारा दैव की अनुकूलता या प्रतिकूलता देख कर जान सकते हैं इसलिए वहां विचार एवं प्रवृत्ति करनी योग्य है; तो उद्धारोपाय यह विचार का विषय है;" तब तो यही बात आगमके परमब्रह्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थ में भी समान है, क्योंकि वहां भी युक्ति और आगम के द्वारा परामर्श करना युक्तियुक्त है । इसलिए पहले जो आपसे कहा गया कि 'जीवों का परमब्रह्म से पृथक् होना सादि है या अनादि, सहेतुक है या निर्हेतुक, वह अचिन्तनीय है, विचार करने योग्य नहीं,'–यह अयुक्त है । विचार करना आवश्यक है ।

<u>प्रवृत्तिनियामक त्रिकोटिपरिशुद्धविचारशुद्धिः–</u>

अब, केवल वचनमात्र जब प्रमाण नहीं है, किन्तु विचार भी आवश्यक है तब वचन-मात्र प्रवृत्ति का नियामक नहीं हो सकता है । प्रवृत्ति तो यथाविषय त्रिकोटिपरिशुद्ध विचार की निर्दोषता के आधार पर करनी चाहिए; यथाविषय का मतलब,–कष, छेद इत्यादि सर्व परीक्षाओं का उल्लंघन न कर विचारशुद्धि होनी जरूरी है । अर्थात् वचनपरीक्षा का पूरा प्रयोग अख्त्यार कर शुद्ध परामर्श करना, और इसमें देखना कि वह परामर्श त्रिकोटिपरिशुद्ध है न ?

'त्रिकोटि' दो प्रकारकी है, १. कष–छेद–ताप एवं २. आदि–मध्य–अन्त तीनों में अ–विसं-वाद इनमें परिशुद्ध, यानी निर्दोष । कषादि परीक्षाका विवेचन पहले कर आये हैं । आदि, मध्य और अन्त उसी शास्त्र का ग्रहण करना, जिसके पदार्थ पर परामर्श करना है । तब, यह देखना

(ल०–) आगमश्चोपपत्तिश्च संपूर्णं दृष्टिलक्षणम्। अतीन्द्रियाणामर्थानां सद्भावप्रतिपत्तये ॥२॥
आगमो ह्याप्तवचनमाप्तं दोषक्षयाद् विदुः। वीतरागोऽनृतं वाक्यं न ब्रूयाद्धेत्वसम्भवात् ॥३॥
तच्चैतदुपपत्त्यैव प्रायशो गम्यते बुधैः। वाक्यलिङ्गा हि वक्तारः सद्वाक्यं चोपपत्तिमत् ॥४॥
अन्यथातिप्रसङ्गः स्यात् तत्तया रहितं यदि। सर्वस्यैव हि तत्प्राप्तेरित्यनर्थो महानयम् ॥५॥
इत्यलं प्रसङ्गेन।

चाहिए कि जिस आगम के आधार पर प्रवृत्ति करने को तैय्यार होते हैं, (१) वहां योग्य विधि-निषेध, तदनुकूल चर्या, एवं उनके अबाधक सिद्धान्त, इन तीन स्वरूप कष-छेद-ताप शुद्धि है या नहीं; एवं, (२) उस आगम की आदि में, मध्य में एवं अन्तभाग में कहे हुए पदार्थों का परस्पर में विसंवाद (विरोध) तो नहीं खड़ा होता है न? विचार करने पर यह निश्चित हो जाए कि आगम कषादिपरीक्षा में पूर्ण रूपसे उत्तीर्ण है, एवं उसके आदि, मध्य और अन्तभागमें कोई परस्पर विसंवाद नहीं है, तब यह विचार त्रिकोटि-परिशुद्ध हुआ। ऐसे विचार की निर्दोषता वाला आगम प्रमाणभूत है। तो प्रवृत्ति भी मात्र आगम नहीं किन्तु आगमकी निर्दोषताके आधार पर करनी चाहिए; अर्थात् त्याज्य के त्याग और उपादेय के आदर की प्रवृत्ति विचारशुद्ध आगम के अनुसार होनी आवश्यक है। कहा गया है कि,

(१) 'आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च। त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते तत्त्वमुत्तमम् ॥'

(१)-आगम, अनुमान एवं ध्यानाभ्यासरस, इन तीनों साधनों द्वारा प्रज्ञा को संस्कारित करते करते उत्तम तत्त्व प्राप्त होता है। प्रज्ञा यह तत्त्वसन्मुख सरल मति है उसको उत्तम तत्त्व-प्राप्ति, तत्त्वसंवेदन यावत् परमात्मतत्त्व-साक्षात्कार कराने के लिए आगम पहला जरूरी साधन है। कारण यह है कि अतीन्द्रिय तत्त्वों में आगम और अनुमान प्रमाण होते हैं। आगम के द्वारा तत्त्व को जान तो लिया, किन्तु अनुमान यानी अन्वय-व्यतिरेकशुद्ध तर्क-युक्ति के द्वारा उसको निश्चित किये विना वह निःशंक निश्चय रूपसे प्रज्ञा में जमता नहीं है, एवं कदाचित् विरुद्ध तर्क आने पर संदेह-विपर्यास होने का संभव भी है। तर्क से निश्चित करने पर भी तत्त्व का प्रकाश मात्र हुआ, परिणमन नहीं, एवं ज्ञानमात्र हुआ, अविचलित स्थिर धारणा नहीं, जिससे कि कभी विस्मृत न हो। इसलिए उस तत्त्व का श्रद्धायुक्त ध्यानाभ्यास करना चाहिए। श्रध्धा से वह स्वप्रतीतिसिध्ध होता है। श्रध्धा न हो तो मात्र इतना ही निर्णय रहता है कि 'अमुकशास्त्र ऐसे एसे तत्त्व कहता है,' किन्तु स्वप्रतीति नहीं। तात्पर्य, तत्त्व तर्क से जमने पर श्रध्धा से हृदय में जचना जरूरी है। इससे मनमें मात्र प्रकाशित नहीं किन्तु परिणत होता है। अब उसके ध्यान का पुनः पुनः अभ्यास करना आवश्यक है। ध्यान से एकाग्र चिंतन होता है, और ध्यान के बारबार अभ्याससे तन्मयता होती है, यावत् साक्षात्कार होता है। प्रज्ञा को इस प्रकार तत्त्व के आगमबोध, तर्कशोधन, एवं श्रध्धासंपन्न ध्यानाभ्यास के द्वारा परिष्कृत करते करते उत्तम तत्त्वसंवेदन, तत्त्व साक्षात्कार होता है॥

(ल०- बहुनमस्कारेण फलातिशयः-) तदेवमर्हतां बहुत्वसिद्धिः; विषयबहुत्वेन च नमस्कर्तुः फलातिशयः, सदाशयस्फातिसिद्धेः। आह,एकया क्रियया अनेकविषयीकरणे कैवाशयस्फातिः ? नन्वियमेव, यदेकया अनेकविषयीकरणम्। विवेकफलमेतत्।

---

(२) यहां तत्त्वप्राप्ति में आगम और अनुमान का उपयुक्त क्यों कहा इसका स्पष्टीकरण करते हैं। अतीन्द्रिय पदार्थ एवं प्रत्यक्षसिद्ध भी यम-नियमादि के अतीन्द्रिय फल का यथार्थ बोध करने के लिए आगम और युक्ति ही समर्थ हैं। कारण बोध की संपूर्ण सामग्री आगम और युक्ति, इन दोनों से पूर्ण होती है; क्यों कि प्रत्यक्ष से तो मात्र दृश्यमान-ऐन्द्रियक पदार्थों का ही ज्ञान होता है।

(३) अब यहां प्रश्न हो सकता है कि 'जगत में आगम तो कई कहलाते हैं; तब इनमें से किसको मान्य करें?' इसका उत्तर यह है कि जो आगम आप्त पुरुष द्वारा कहा गया है वही सद् आगम है, वही मान्य है; और आप्त का निर्णय समस्त दोषों का क्षय ज्ञात करने द्वारा किया जाता हैं। अर्थात् जिन्होंने राग-द्वेष-मोहादि सकल दोषों का नाश कर वीतरागता प्राप्त की है वे ही परम आप्त पुरुष हैं; और उनके वचन प्रमाणभूत एवं उपादेय होते हैं। इसका कारण यह है कि वीतराग भगवान कभी असत्य वाक्य का उच्चारण न करें; क्यों कि असत्यभाषण का कोई कारण उनमें विद्यमान है ही नहीं। असत्य किसी पर रागवश, या द्वेषवश, या मोह-अज्ञानवश, अथवा हास्य भयादिवश बोला जाता है। ऐसे कोई दोष वीतराग में न होने से वे झूठ क्यों कहें ? कह सकते ही नहीं है, इसलिए वीतराग ही परम आप्त हैं और वीतराग के ही वचन मान्य करने योग्य हैं।

(४) ठीक है, लेकिन किसी के भी रागद्वेषादि तो अतीन्द्रिय है, तब आप्तपन-वीतरागपन का निर्णय किस प्रकार किया जाय? इसका उत्तर यह है कि बुद्धिमान लोग युक्तिउपपत्ति के द्वारा इसको प्रायः समझ लेते हैं। वाक्य के आधार पर वक्ता का माप निकलता है। सद्वाक्य हो तो वक्ता सत् है, असत् हो तो असत्। और सद्वाक्य युक्ति से घटमान दिखाई पड़ता है। वाक्य असत् हो असम्बद्ध हो, दृष्टेष्टविरुद्ध हो तो समझा जाए कि उसका वक्ता आप्त नहीं है। तो कई सद्वाक्यों के आधार पर आप्तता का निर्णय करने के बाद आप्त के सभी वचन स्वरूप आगम मान्य किये जाते हैं, जो कि संपूर्ण तत्त्वदर्शन का साधन बनते हैं।

(५) अन्यथा अतिप्रसङ्ग होगा; अतिप्रसङ्ग इस प्रकार कि अमुक वाक्य अगर युक्ति-उपपत्ति से रहित हो फिर भी वह सद्वाक्य करके मान्य हो, तो जगत में सभी के वचन सत ठहरेंगे, चाहे युक्तिसिद्ध हो या युक्तिविरुद्ध हो। तब तो सभी आप्त और सभी मान्य ! हिंसादिप्रेरक वचन भी मान्य ! किन्तु सावधान ! तब तो यह महान अनर्थ होगा; हिंसादि भी धर्म होने की एवं नास्तिकशास्त्र-कथित पंचभूतमात्र ही तत्त्व, और आत्मा-परलोक आदि का नास्तित्व होने की आपत्ति खडी होगी !-इतनी चर्चा यहां पर्याप्त है।

(ल०–) आगमश्चोपपत्तिश्च संपूर्णं दृष्टिलक्षणम्। अतीन्द्रियाणामर्थानां सद्भावप्रतिपत्तये ॥२॥
आगमो ह्याप्तवचनमाप्तं दोषक्षयाद् विदुः। वीतरागोऽनृतं वाक्यं न ब्रूयाद्धेत्वसम्भवात्॥३॥
तच्चैतदुपपत्त्यैव प्रायशो गम्यते बुधैः। वाक्यलिङ्गा हि वक्तारः सद्वाक्यं चोपपत्तिमत्॥४॥
अन्यथातिप्रसङ्गः स्यात् तत्तया रहितं यदि। सर्वस्यैव हि तत्प्राप्तेरित्यनर्थो महानयम् ॥५॥
इत्यलं प्रसङ्गेन।

चाहिए कि जिस आगम के आधार पर प्रवृत्ति करने को तैय्यार होते हैं, (१) वहां योग्य विधि-निषेध, तदनुकूल चर्या, एवं उनके अबाधक सिद्धान्त, इन तीन स्वरूप कष-छेद-ताप शुद्धि है या नहीं; एवं, (२) उस आगम की आदि मे, मध्य में एवं अन्तभाग में कहे हुए पदार्थों का परस्पर में विसंवाद (विरोध) तो नहीं खड़ा होता है न ? विचार करने पर यह निश्चित हो जाए कि आगम कषादिपरीक्षा में पूर्ण रूपसे उत्तीर्ण है, एवं उसके आदि, मध्य और अन्तभागमें कोई परस्पर विसंवाद नहीं है, तब यह विचार त्रिकोटि-परिशुद्ध हुआ। ऐसे विचार की निर्दोषता वाला आगम प्रमाणभूत है। तो प्रवृत्ति भी मात्र आगम नहीं किन्तु आगमकी निर्दोषताके आधार पर करनी चाहिए; अर्थात् त्याज्य के त्याग और उपादेय के आदर की प्रवृत्ति विचारशुद्ध आगम के अनुसार होनी आवश्यक है। कहा गया है कि,

(१) 'आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च। त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते तत्त्वमुत्तमम् ॥'

(१)–आगम, अनुमान एवं ध्यानाभ्यासरस, इन तीनों साधनों द्वारा प्रज्ञा को संस्कारित करते करते उत्तम तत्त्व प्राप्त होता है। प्रज्ञा यह तत्त्वसन्मुख सरल मति है उसको उत्तम तत्त्व-प्राप्ति, तत्त्वसंवेदन यावत् परमात्मतत्त्व-साक्षात्कार कराने के लिए आगम पहला जरूरी साधन है। कारण यह है कि अतीन्द्रिय तत्त्वों में आगम और अनुमान प्रमाण होते हैं। आगम के द्वारा तत्त्व को जान तो लिया, किन्तु अनुमान यानी अन्वय-व्यतिरेकशुद्ध तर्क-युक्ति के द्वारा उसको निश्चित किये बिना यह निःशंक निश्चय रूपसे प्रज्ञा में जमता नहीं है, एवं कदाचित विरुद्ध तर्क आने पर संदेह-विपर्यास होने का संभव भी है। तर्क से निश्चित करने पर भी तत्त्व का प्रकाश मात्र हुआ, परिणमन नहीं, एवं ज्ञानमात्र हुआ, अविचलित स्थिर धारणा नहीं, जिससे कि कभी विस्मृत न हो। इसलिए उस तत्त्व का श्रद्धायुक्त ध्यानाभ्यास करना चाहिए। श्रध्धा से वह स्वप्रतीतिसिध्ध होता है। श्रध्धा न हो तो मात्र इतना ही निर्णय रहता है कि 'अमुकशास्त्र ऐसे ऐसे तत्त्व कहता है,' किन्तु स्वप्रतीति नहीं। तात्पर्य, तत्त्व तर्क से जमने पर श्रध्धा से हृदय में जचना जरूरी है। इससे मनमें मात्र प्रकाशित नहीं किन्तु परिणत होता है। अब उसके ध्यान का पुनः पुनः अभ्यास करना आवश्यक है। ध्यान से एकाग्र चिंतन होता है, और ध्यान के वारवार अभ्याससे तन्मयता होती है, यावत् साक्षात्कार होता है। प्रज्ञा को इस प्रकार तत्त्व के आगमबोध, तर्कशोधन, एवं श्रध्धासंपन्न ध्यानाभ्यास के द्वारा परिष्कृत करते करते उत्तम तत्त्वसंवेदन, तत्त्व साक्षात्कार होता है॥

(लं०- बहुनमस्कारेण फलातिशयः-) तदेवमर्हतां बहुत्वसिद्धिः; विषयबहुत्वेन च नमस्कर्तुः फलातिशयः, सदाशयस्फातिसिद्धेः। आह,एकया क्रियया अनेकविषयीकरणे केवाशयस्फातिः? नन्वियमेव, यदेकया-अनेकविषयीकरणम्। विवेकफलमेतत्।

---

(२) यहां तत्त्वप्राप्ति में आगम और अनुमान का उपयुक्त क्यों कहा इसका स्पष्टीकरण करते हैं। अतीन्द्रिय पदार्थ एवं प्रत्यक्षसिद्ध भी यम-नियमादि के अतीन्द्रिय फल का यथार्थ बोध करने के लिए आगम और युक्ति ही समर्थ हैं। कारण बोध की संपूर्ण सामग्री आगम और युक्ति; इन दोनों से पूर्ण होती है; क्यों कि प्रत्यक्ष से तो मात्र दृश्यमान-ऐन्द्रियक पदार्थों का ही ज्ञान होता है।

(३) अब यहां प्रश्न हो सकता है कि 'जगत में आगम तो कई कहलाते हैं; तब इनमें से किसको मान्य करें?' इसका उत्तर यह है कि जो आगम आप्त पुरुष द्वारा कहा गया है वही सद् आगम है, वही मान्य है; और आप्त का निर्णय समस्त दोषों का क्षय ज्ञात करने द्वारा किया जाता है। अर्थात् जिन्होंने राग-द्वेष-मोहादि सकल दोषों का नाश कर वीतरागता प्राप्त की है वे ही परम आप्त पुरुष हैं; और उनके वचन प्रमाणभूत एवं उपादेय होते हैं। इसका कारण यह है कि वीतराग भगवान कभी असत्य वाक्य का उच्चारण न करें; क्यों कि असत्यभाषण का कोई कारण उनमें विद्यमान है ही नहीं। असत्य किसी पर रागवश, या द्वेषवश, या मोह-अज्ञानवश, अथवा हास्य भयादिवश बोला जाता है। ऐसे कोई दोष वीतराग में न होने से वे झूठ क्यों कहें? कह सकते ही नहीं है, इसलिए वीतराग ही परम आप्त हैं और वीतराग के ही वचन मान्य करने योग्य हैं।

(४) ठीक है, लेकिन किसी के भी रागद्वेषादि तो अतीन्द्रिय है, तब आप्तपन-वीतरागपन का निर्णय किस प्रकार किया जाय? इसका उत्तर यह है कि बुद्धिमान लोग युक्तिउपपत्ति के द्वारा इसको प्रायः समझ लेते हैं। वाक्य के आधार पर वक्ता का माप निकलता है। सद्वाक्य हो तो वक्ता सत् है, असत् हो तो असत। और सद्वाक्य युक्ति से घटमान दिखाई पड़ता है। वाक्य असत् हो असम्बद्ध हो, इष्टेष्टविरुद्ध हो तो समझा जाए कि उसका वक्ता आप्त नहीं है। तो कई सद्वाक्यों के आधार पर आप्तता का निर्णय करने के बाद आप्त के सभी वचन स्वरूप आगम मान्य किये जाते हैं, जो कि संपूर्ण तत्त्वदर्शन का साधन बनते हैं।

(५) अन्यथा अतिप्रसङ्ग होगा; अतिप्रसङ्ग इस प्रकार कि अमुक वाक्य अगर युक्ति-उपपत्ति से रहित हो फिर भी वह सद्वाक्य करके मान्य हो, तो जगत में सभी के वचन सत ठहरेंगे, चाहे युक्तिसिद्ध हो या युक्तिविरुद्ध हो। तब तो सभी आप्त और सभी मान्य! हिंसादिप्रेरक वचन भी मान्य! किन्तु सावधान! तब तो यह महान अनर्थ होगा; हिंसादि भी धर्म होने की एवं नास्तिकशास्त्र-कथित पंचभूतमात्र ही तत्त्व, और आत्मा-परलोक आदि का नास्तित्व होने की आपत्ति खड़ी होगी!-इतनी चर्चा यहां पर्याप्त है।

(ल०-अनेकब्राह्मणैकरूपकदान-रत्नावलीदर्शन-दृष्टान्तौ-) आह, एवं ह्येकक्रिययाने- कसन्माननं बहुब्राह्मणैकरूपकदानतुल्यं, तत्कथं नाल्पत्वम् ? उच्यते, क्रियाभेदभावात् । सा हि रत्नावलीदर्शनक्रियेव एकरत्नदर्शनक्रियातो भिद्यते, हेतुफलभेदात्,-सर्वार्हदालम्बनेयमिति हेतु- भेदः, प्रमोदातिशयजनिके(प्र.....जनके)ति च फलभेदः; (तत्) कथमित्थमल्पत्वम् ?

नमस्कार के विषय बहुत, तो फल अतिशयितः-

आत्माका अद्वैत, नित्य एक परमात्मा, निर्विचार आगमश्रद्धा, इत्यादि असत् सिद्ध होने के कारण, 'नमो जिणाणं जियभयाणं' सूत्र से विचारपूर्वक अर्हत् परमात्मा बहुत होने का सिद्ध होता है। उनके प्रति नमस्कार करने में नमस्कार के विषय में बहुत (अर्हत्) आने से ऐसे नमस्कार का फल एक के प्रति नमस्कार की अपेक्षा अतिशय होना सिद्ध होता है। कारण, ऐसे नमस्कार में शुभ आशय विस्तृतरूप में काम करता है।

प्र०-नमस्कार क्रिया तो एक ही बार हुई; तब एक ही क्रिया में शुभाशय का विस्तार कैसे ?

उ०-ओहो ! विस्तार इस प्रकार, कि एक ही क्रिया में अनेक को विषय कर लिया। ऐसा करना यह विवेक का फल है। विवेक यही कि जब नमस्कार करना ही है तो अनेक परमात्माओं का उद्देश रखकर नमस्कार क्यों न किया जाए ? क्रिया का श्रम वही है और फल में अनेक के प्रति नमस्कार में लाभ, मात्र एक परमात्मा का नहीं किन्तु अनेकों का बहुमान- सन्मान करने का रहता है। श्रम को शक्य अधिक लाभ से संपन्न बनाना यह विवेक है।

बहु ब्राह्मणों को एक रूपये का दान एवं रत्नावली का दर्शनः-

प्र०-ठीक है लेकिन एक ही नमस्कार-क्रिया के रूप में अनेकों को सन्मान का प्रदान करना यह तो एक ही रूपये का दान अनेक ब्राह्मणों को करने जैसा हुआ ! इसमें तो एक ही रुपये की तरह एक ही नमस्कार-सन्मान अनेकों में बांटा जाएगा तब तो प्रत्येक को अल्प ही मिलने का क्यों नहीं ?

उ०-दोनों क्रियाओं में फर्क है; यह इसलिए कि नमस्कार की क्रिया रत्नदर्शन की क्रिया के समान है। वहां एक रत्न के दर्शन की क्रिया की अपेक्षा रत्नमाला-अनेक रत्नों की बनी हुई रत्नमाला-के दर्शन की क्रिया भिन्न होती है; क्यों कि उन दोनों क्रियाओं के कारण और फल भिन्न होते हैं। यह इस प्रकार,-दर्शन में कारणभूत है विषय, और विषय भिन्न भिन्न है, एक में एक ही रत्न विषय है, जब कि दूसरी क्रिया में अनेक रत्न विषय हैं। एवं फल- भेद भी है, एक रत्न के दर्शन से जो आनन्द होता है उसकी अपेक्षा रत्नमाला के दर्शन से अधिक आनन्द होता है। ठीक इसी प्रकार नमस्कार-क्रिया में, कारणभेद यह है कि एक के प्रति नमस्कार में एक ही का आलम्बन किया, जब कि अनेक अरिहंत को नमस्कार करने में समस्त

(ल०–नमस्कारफलेऽर्हन्तः कथं कारणम् ?–) ब्राह्मणैकरूपकदानोदाहरणं त्वनुपन्यसनीयमेव, रूपकादिव नमस्कारात्, ब्राह्मणानामिवार्हतामुपकारायोगात्। कथं तर्हि तत्फलमिति? उच्यते, तदालम्बनचित्तवृत्तेः, तदाधिपत्यतः तत एव भावात्; चिन्तामणिरत्नादौ तथादर्शनादिति-वक्ष्यामः।

(पं०–)'तदालम्बनचित्तवृत्ते'रिति=भगवदालम्बनचित्तवृत्तेः, नमस्काररूपायाः तत्फलमिति सम्बध्यते। नन्वेवं तर्हि न भगवदन्य इत्याशङ्क्याह 'तदाधिपत्यतो'=भगवदाधिपत्यतः। भगवन्त एव तच्चित्तवृत्तेस्तज्जनकेषु हेतुषु प्रधानत्वेनाधिपतयः, ततः। 'तत एव'=भगवदन्य एव, 'तद्भावात्'=क्रियाफलभावात्। कथमित्याह 'चिन्तामणिरत्नादौ तथादर्शनात्'=चिन्तामण्यादि(प्र०....देः)प्रणिधानादेर्भवत् फलं चिन्तामणिरत्नादेर्भवतीति लोके प्रतीतिदर्शनात्।

अर्हत् का आलम्बन लिया गया। इस प्रकार फलभेद भी है;–एक अर्हत्परमात्मा के नमस्कार की अपेक्षा समस्त त्रिकालवर्ती निखिल अर्हत्परमात्मा के प्रति नमस्कार करने में फलस्वरूप अतिशय आनन्द उत्पन्न होता है। फिर अल्पता कैसे आई?

नमस्कार से अर्हत् को कुछ उपकार नहीं:–

अनेक ब्राह्मणों को एक रुपये के दान का उदाहरण तो यहां पर उपन्यास-योग्य ही नहीं है; क्यों कि रूपये से तो ब्राह्मणों को उपकार होता है, और इसीलिए तो वे आपस में बांट लेते हैं। किन्तु इस प्रकार अरहंत प्रभुओं को नमस्कर्ता के नमस्कार से कुछ भी उपकार नहीं होता है; वे तो अन्तिम कृतार्थता पर पहुंच चुके हैं, अतः उन्हें अब कुछ भी प्राप्तव्य अप्राप्त नहीं है, तो क्या उपकार लेना? इसलिए नमस्कार का सन्मान बांट लेने की और इससे प्रत्येक को अल्प मिलने की कोई वस्तु ही नहीं है।

चिन्तामणि के दृष्टान्त से नमस्कार के फल में भगवान कारण:–

प्र०–जब भगवान को नमस्कार से कोई उपकार नहीं, तब नमस्कार का फल भगवान से प्राप्त हुआ यह कैसे?

उ०–नमस्कार यह एक प्रकार की शुभ चित्तवृत्ति है, और वह भगवान को आलम्बन करती है, भगवद्विषयक है; इसलिए नमस्कार का फल भगवान से प्राप्त हुआ यह कह सकते हैं।

प्र०–ऐसा क्यों? फल तो नमस्कार स्वरूप चित्तवृत्ति से हुआ, भगवान से कैसे?

उ०–चित्तवृत्ति से हुआ तो सही लेकिन कैसी चित्तवृत्ति से? जिस-किसी नहीं किन्तु भगवान को आलम्बन रख कर की गई अर्थात् भगवद्विषयक चित्तवृत्ति से फल हुआ। इसलिए कहिए कि फल के प्रति तो अनेक कारण है; लेकिन इनमें अर्हद् भगवान ही के आलम्बन

(ल०-) कथमेकपूजया सर्व्वपूजाभिधानं, तथा चागमः 'एगम्मि पूइयंमी, सव्वे ते पूइया होंति'? अस्ति एतद्, विशेषविषयं तु तुल्यगुणत्वज्ञापनेनैषामनुदारचित्तप्रवर्त्तनार्थं, तदन्येषां सर्वसंपत्परिग्रहार्थं, सङ्घपूजादावाशयव्याप्तिप्रदर्शनार्थं च।

(पं०)'अनुदारे'त्यादि, 'अनुदारचित्तप्रवर्त्तनार्थम्'। अनुदारचित्तो हि कार्पण्यात् सर्व्वपूजां कर्तुमशक्नुवन्नेकमपि पूजयेद्, अतस्तत्प्रवर्त्तनार्थमुच्यते 'एगंमी'त्यादि। द्वितीयं कारणमाह 'तदन्येषां'=पूज्यमानादन्येषां भगवतां; 'सर्वसम्पत्परिग्रहार्थं च', सर्वाः=निरवशेषाः, सम्पदः=स्तोतव्यहेतुसम्पदादय उक्तरूपास्तासामवबोधनार्थं च; तेऽपि परिपूर्णसम्पद एवेति भावः। 'सङ्घपूजादौ'=सङ्घचैत्यसाधुपूजादौ, 'आशयव्याप्तिप्रदर्शनार्थं चे'ति तृतीयं कारणमिति।

वाली चित्तवृत्ति प्रधान कारण है इसलिए उन कारणों में भगवान अधिपति हुए; तब नमस्कार क्रिया का फल भगवान से ही हुआ यह कह सकते हैं। चिन्तामणि रत्न आदि में ऐसा देखा जाता है यह हम आगे कहने वाले हैं। चिन्तामणि आदि का प्रणिधान अर्थात् श्रद्धायुक्त एकाग्र चिन्तन करने से जो फल होता है यह चिन्तामणिरत्नादि से हुआ, ऐसी लोक में मान्यता देखते हैं। वहां ऐसा नहीं कहा जाता है कि फल प्रणिधान से हुआ, चिन्तामणि से नहीं। तो यहां कैसे कहा जाए कि फल नमस्कार से हुआ, शुभ चित्तवृत्ति से हुआ, भगवान से नहीं? जैसे वहां चिन्तामणि से लाभ हुआ, ऐसे यहां अर्हत्परमात्मा से फल आया। दोनों स्थानों में प्रणिधान एवं चित्तवृत्ति तो द्वार है, नीचे के कारण हैं; अधिपति कारण चिन्तामणि और भगवान् हैं।

एक की पूजा से सबों की पूजा कैसे?:-

प्र०-एक अर्हद् भगवान की पूजा करने से समस्त अर्हद् भगवान की पूजा हुई ऐसे निर्देश का क्या मतलब है? निर्देशक आगम इस प्रकार पाया जाता है,-'एगम्मि पूइयम्मि सव्वे ते पूइया होंति' एकको पूजा करने पर निखिल पूजित होते हैं।

उ०-बात सही है, ऐसा कथन सामान्य रूप से यानी, उत्सर्ग मार्ग के रूप में एक ही अर्हत्प्रभु की पूजा करने का विधान नहीं करता है किन्तु विशेष रूप से विधान करता है कि संयोगवश एक प्रभु की पूजा की जाए तब भी सब प्रभु की पूजा का लाभ मिलता है।

ऐसा विधान करने में तीन कारण है; ●(१) सभी अर्हद् भगवान तुल्य गुण वाले होते हैं ऐसा ज्ञापित करने द्वारा कृपण दिल वाले जीवों को एक भी भगवान की पूजा में प्रवृत्त कराने के लिए 'एगंमि पूइयंमि....' इत्यादि सूत्र है। भिन्न भिन्न भगवान कमी-ज्यादे गुण वाले हो तो इनमें से एक को पूजने से क्या लाभ?'-ऐसी शङ्का कृपण को हो सकती है, और वह सभी भगवान की पूजा, ज्यादे अर्थव्यय के भय से, करने को अशक्त हैं, ऐसी

(ल०-) एवंभूतश्चायमाशय इति तदाऽपरागतहर्षादिलिङ्गसिद्धेर्भावश्रावकस्य विज्ञेय इति। एवमात्मनि गुरुषु च बहुवचनमित्यपि सफलं वेदितव्यं, तत्तुल्यापरगुणसमावेशेन तत्तुल्यानां परमार्थेन तत्त्वात्, कुशलप्रवृत्तेश्च सूक्ष्माभोगपूर्वकत्वात्। अतिनिपुणबुद्धिगम्यमेतदिति पर्याप्तं प्रसङ्गेन। नमो जिनेभ्य जितभयेभ्य इति। सर्वज्ञसर्वदर्शिनामेव शिवाचलादिस्थानसंप्राप्तेर्जितभयत्वाभिधानेन प्रधानगुणापरिक्षय-प्रधानफलाप्ति-अभयसंपद् उक्तेति ॥९॥

(पं०-)'एवंभूतश्च'=व्यापकश्च, 'अयं'=सङ्घादिपूजाविषय आशयः, कुत इत्याह 'इति'=एवं यथा एकस्मिन् पूज्यमाने तथा, 'तदा'=एकपूजाकाले, 'अपरागतहर्षादिलिङ्गसिद्धेः', अपरेष्वपूज्यमानेषु सङ्घादिदेशेषु, आगतेषु=तत्कालमेव प्राप्तेषु तेषु वा विषये आगतस्य=आरूढस्य हर्षपूजाभिलाषादिलिङ्गस्य सिद्धेर्भावश्रावकस्य विज्ञेयो, नत्वन्यथा; तथाविधविवेकाभावेन पूज्यमानव्यतिरेकेणान्येषु हर्षादिलिङ्गाभावात्। 'कुशलप्रवृत्ते'रिति, कुशलानां=बुद्धिमतां प्रवृत्तेः='एगंमि पूइयंमी'त्यादिकायाः।

अवस्था में बिलकुल पूजा से वंचित न हो, किन्तु एक भी प्रभु की पूजा करे इस वास्ते यह सूत्र है। ●(२) जिनकी पूजा करते हैं इनके अलावा और सभी भगवान में भी इस प्रणिपात-दण्डक सूत्र में वर्णित स्तोतव्य-संपद्, हेतुसंपद् आदि समस्त संपद् होती है, यह सूचित करने के लिए भी यह सूत्र है। जिनशासन में भगवान की पूजा गुण की पूजा है, और सभी भगवान में तुल्य गुणसंपदा होने से अगर एक भी भगवान की पूजा की तो सभी के गुणसंपद् की पूजा हुई। ●(३) बहुवचन रखने में ही तीसरा कारण यह है कि इस के द्वारा सङ्घ, चैत्य, एवं साधु की पूजा आदि में आशय की व्यापकता प्रदर्शित करनी है। यह इस प्रकार,-

सङ्घपूजादि में आशय की व्यापकता इस प्रकारः-देखते हैं कि भावश्रावक जब सङ्घ में से किसी एक की या किसी एक चैत्य (जिनबिम्ब) अथवा गुरु की पूजा करता है तो वह द्रव्यश्रावक नहीं किन्तु भावश्रावक है; यह इसलिए कि जिनोक्त तत्त्व, धर्म एवं धर्मात्मा के प्रति हार्दिक श्रद्धा-बहुमानादि से संपन्न होने के कारण एक की पूजा करते समय भी पूजनीयता का आशय तो सभी के प्रति रहता है। यह आशय होने का इस प्रकार के चिह्न से सिद्ध है कि वहां अगर कोई दूसरे, श्रावक, जिनबिम्ब या गुरु आ जाएँ तो उनके प्रति भी उसे हर्ष, पूजाभिलाष होता है। यदि एक की पूजा करते समय भी औरों के प्रति पूज्य भाव का आशय न रहता हो तो क्यों हर्षित हो ? नये उपस्थित के प्रति पूजाभिलाष क्यों प्रगट हो ? हर्षादि होता है इसी से सिद्ध होता है कि इसके हृदय में एक की पूजा के काल में भी पूज्यत्वभाव व्यापक यानी औरों के प्रति विद्यमान ही है। भावश्रावक के ही ऐसे व्यापक आशय की यह बात है, किन्तु दूसरे की नहीं; क्यों कि दूसरे में तो उस प्रकार का विवेक न होने से जिसकी पूजा वह करता है उससे अतिरिक्त के प्रति हर्षादि चिह्न नहीं होते हैं। वह पूजा तो करता है लेकिन व्यक्तिमात्र की। वह विवेक शून्य है, समझता नहीं कि यह पूजा गुणों की भी है, और गुणवाले तो अन्य भी पूजा के विषय में आ जाते हैं।

(ल०–) कथमेकपूजया सर्व्वपूजाभिधानं, तथा चागमः 'एगम्मि पूइयंमी, सव्वे ते पूइया होंति'? अस्ति एतद्, विशेषविषयं तु तुल्यगुणत्वज्ञापनेनैषामनुदारचित्तप्रवर्त्तनार्थं, तदन्येषां सर्वसंपत्परिग्रहार्थं, सङ्घपूजादावाशयव्याप्तिप्रदर्शनार्थं च।

(पं०)'अनुदारे'त्यादि, 'अनुदारचित्तप्रवर्त्तनार्थम्'। अनुदारचित्तो हि कार्पण्यात् सर्व्वपूजां कर्तुमशक्नुवन्नेकमपि पूजयेद्, अतस्तत्प्रवर्त्तनार्थमुच्यते 'एगंमी'त्यादि। द्वितीयं कारणमाह 'तदन्येषां'=पूज्यमानादन्येषां भगवतां; 'सर्वसम्पत्परिग्रहार्थं च', सर्वाः=निरवशेषाः, सम्पदः=स्तोतव्यहेतुसम्पदादय उक्तरूपास्तासामवबोधनार्थं च; तेऽपि परिपूर्णसम्पद एवेति भावः। 'सङ्घपूजादौ'=सङ्घचैत्यसाधुपूजादौ, 'आशयव्याप्तिप्रदर्शनार्थं चे'ति तृतीयं कारणमिति।

वाली चित्तवृत्ति प्रधान कारण है इसलिए उन कारणों में भगवान अधिपति हुए; तब नमस्कार क्रिया का फल भगवान से ही हुआ यह कह सकते हैं। चिन्तामणि रत्न आदि में ऐसा देखा जाता है यह हम आगे कहने वाले हैं। चिन्तामणि आदि का प्रणिधान अर्थात् श्रद्धायुक्त एकाग्र चिन्तन करने से जो फल होता है यह चिन्तामणिरत्नादि से हुआ, ऐसी लोक में मान्यता देखते हैं। वहां ऐसा नहीं कहा जाता है कि फल प्रणिधान से हुआ, चिन्तामणि से नहीं। तो यहां कैसे कहा जाए कि फल नमस्कार से हुआ, शुभ चित्तवृत्ति से हुआ, भगवान से नहीं? जैसे वहां चिन्तामणि से लाभ हुआ, ऐसे यहां अर्हत्परमात्मा से फल आया। दोनों स्थानों में प्रणिधान एवं चित्तवृत्ति तो द्वार हैं, नीचे के कारण हैं; अधिपति कारण चिन्तामणि और भगवान् हैं।

एक की पूजा से सभी की पूजा कैसे ?:–

प्र०–एक अर्हद् भगवान की पूजा करने से समस्त अर्हद् भगवान की पूजा हुई ऐसे निर्देश का क्या मतलब है? निर्देशक आगम इस प्रकार पाया जाता है,–'एगम्मि पूइयम्मि सव्वे ते पूइया होंति' एकको पूजा करने पर निखिल पूजित होते हैं।

उ०–बात सही है, ऐसा कथन सामान्य रूप से यानी, उत्सर्ग मार्ग के रूप में, एक ही अर्हत्प्रभु की पूजा करने का विधान नहीं करता है किन्तु विशेष रूप से विधान करता है कि संयोगवश एक प्रभु की पूजा की जाए तब भी सब प्रभु की पूजा का लाभ मिलता है।

ऐसा विधान करने में तीन कारण है; ●(१) सभी अर्हद् भगवान तुल्य गुण वाले होते हैं ऐसा ज्ञापित करने द्वारा कृपण दिल वाले जीवों को एक भी भगवान की पूजा में प्रवृत्त कराने के लिए 'एगंमि पूइयंमि....' इत्यादि सूत्र है। भिन्न भिन्न भगवान कमी–ज्यादे गुण वाले हो तो इनमें से एक को पूजने से क्या लाभ?–ऐसी शङ्का कृपण को हो सकती है, और वह सभी भगवान की पूजा, ज्यादे अर्थव्यय के भय से, करने को अशक्त हैं, ऐसी

(ल०-) एवंभूतश्चायमाशय इति तदाऽपरागतहर्षादिलिङ्गसिद्धेर्भावश्रावकस्य विज्ञेय इति। एवमात्मनि गुरुषु च बहुवचनमित्यपि सफलं वेदितव्यं, तत्तुल्यापरगुणसमावेशेन तत्तुल्यानां परमार्थेन तत्त्वात्, कुशलप्रवृत्तेश्च सूक्ष्माभोगपूर्वकत्वात्। अतिनिपुणबुद्धिगम्यमेतदिति पर्याप्तं प्रसङ्गेन। नमो जिनेभ्य जितभयेभ्य इति। सर्वज्ञसर्वदर्शिनामेव शिवाचलादिस्थान संप्राप्तेर्जितभयत्वाभिधानेन प्रधानगुणापरिक्षय-प्रधानफलाप्ति-अभयसंपद् उक्तेति ॥९॥

(पं०-)'एवंभूतश्च'=व्यापकश्च, 'अयं'=सङ्घादिपूजाविषय आशयः, कुत इत्याह 'इति'=एवं यथा एकस्मिन् पूज्यमाने तथा, 'तदा'=एकपूजाकाले, 'अपरागतहर्षादिलिङ्गसिद्धेः', -अपरेष्वपूज्यमानेषु सङ्घादिदेशेषु, आगतेषु=तत्कालमेव प्राप्तेषु तेषु वा विषये आगतस्य=आरूढस्य हर्षपूजाभिलाषादिलिङ्गस्य सिद्धेर्भावश्रावकस्य विज्ञेयो, नत्वन्यथा; तथाविधविवेकाभावेन पूज्यमानव्यतिरेकेणान्येषु हर्षादिलिङ्गाभावात्। 'कुशलप्रवृत्ते'रिति, कुशलानां=बुद्धिमतां प्रवृत्तेः='एगंमि पूइयंमी'त्यादिकायाः।

अवस्था में बिलकुल पूजा से वंचित न हो, किन्तु एक भी प्रभु की पूजा करे इस वास्ते यह सूत्र है। ●(२) जिनकी पूजा करते हैं इनके अलावा और सभी भगवान में भी इस प्रणिपात-दण्डक सूत्र में वर्णित स्तोतव्य-संपद्, हेतुसंपद् आदि समस्त संपद् होती हैं, यह सूचित करने के लिए भी यह सूत्र है। जिनशासन में भगवान की पूजा गुण की पूजा है, और सभी भगवान में तुल्य गुणसंपदा होने से अगर एक भी भगवान की पूजा की तो सभी के गुणसंपद् की पूजा हुई। ●(३) बहुवचन रखने में ही तीसरा कारण यह है कि इस के द्वारा सङ्घ, चैत्य, एवं साधु की पूजा आदि में आशय की व्यापकता प्रदर्शित करनी है। वह इस प्रकार,-

सङ्घपूजादि में आशय की व्यापकता इस प्रकारः-देखते हैं कि भावश्रावक जब सङ्घ में से किसी एक की या किसी एक चैत्य (जिनबिम्ब) अथवा गुरु की पूजा करता है तो वह द्रव्यश्रावक नहीं किन्तु भावश्रावक है; यह इसलिए कि जिनोक्त तत्त्व, धर्म एवं धर्मात्मा के प्रति हार्दिक श्रद्धा-बहुमानादि से संपन्न होने के कारण एक की पूजा करते समय भी पूजनीयता का आशय तो सभी के प्रति रहता है। यह आशय होने का इस प्रकार के चिह्न से सिद्ध है कि वहां अगर कोई दूसरे, श्रावक, जिनबिम्ब या गुरु आ जाएँ तो उनके प्रति भी उसे हर्ष, पूजाभिलाष होता है। यदि एक की पूजा करते समय भी औरों के प्रति पूज्य भाव का आशय न रहता हो तो क्यों हर्षित हो? नये उपस्थित के प्रति पूजाभिलाष क्यों प्रगट हो? हर्षादि होता है इसी से सिद्ध होता है कि इसके हृदय में एक की पूजा के काल में भी पूज्यत्वभाव व्यापक यानी औरों के प्रति विद्यमान ही है। भावश्रावक के ही ऐसे व्यापक आशय की यह बात है, किन्तु दूसरे की नहीं; क्यों कि दूसरे में तो उस प्रकार का विवेक न होने से जिसकी पूजा वह करता है उससे अतिरिक्त के प्रति हर्षादि चिह्न नहीं होते हैं। वह पूजा तो करता है लेकिन व्यक्तिमात्र की। वह विवेक शून्य है, समझता नहीं कि यह पूजा गुणों की भी है, और गुणवाले तो अन्य भी पूजा के विषय में आ जाते हैं।

सारांश 'नमो जिणाणं' यहां बहुवचन का प्रयोग निरर्थक नहीं है। इसी प्रकार अपना जाति के लिये या एक गुण के लिए भी किया जाता बहुवचन-प्रयोग सार्थक सिद्ध होता है, निरर्थक नहीं। कारण यह है कि उस समय अपने या गुरू के समान औरों के गुण का समावेश कर लेने से उन समानता वाले औरों का वस्तुस्थिति से समावेश हो ही जाता है। दूसरी बात यह है कि बुद्धिमान पुरुषों की 'एगंमि पूइयंमि सव्वे ते पूइया होन्ति'-एक की पूजा करने में सभी पूजित होते हैं-यह प्रवृत्ति निर्विचार नहीं किन्तु सूक्ष्म विचार , यानी निपुण आलोचन पूर्वक होती है। इतनी प्रासङ्गिक चर्चा पर्याप्त है। इस प्रकार 'नमो जिणाणं जियभयाणं' की व्याख्या हुई।

९वीं संपदाका उपसंहारः—

'सव्वन्नूणं' से लेकर 'नमो जिणाणं जियभयाणं' पर्यन्त में प्रधानगुणापरिक्षय-प्रधानफलाप्ति-अभयसंपद् नाम की संपदा कही गई; क्यों कि तीन पदों से कथन यह किया गया कि अर्हद् भगवानने संसारावस्था में वीतराग होने के बाद जो केवलज्ञान-केवलदर्शन याने सर्वज्ञता-सर्वदर्शिता स्वरूप प्रधान आत्मगुण प्राप्त किये वे मोक्ष में भी अक्षय रहते हैं। ऐसे अक्षय प्रधान-गुण वालों को ही शिव-अचल-अरोग इत्यादि स्वरूपवाला मोक्षस्थान प्राप्त हुआ है। एवं इसीसे वे अब जितभय यानी समस्त भयों को पार कर जाने वाले बने हैं॥ ९

संपदां सोपपत्तिकत्व-सप्रभावत्वे

(ल०-संपदां सोपपत्तिकत्वम्)—(१) इह चादौ प्रेक्षापूर्वकारीणां प्रवृत्त्यङ्गत्वात्, अन्यथा तेषां प्रवृत्त्यसिद्धेः प्रेक्षापूर्वकारित्वविरोधात्, स्तोतव्यसम्पदुपन्यासः। (२) तदुपलब्धावस्या एव प्रधाना-साधारणासाधारणरूपां हेतुसम्पदं प्रति भवति विदुषां जिज्ञासा, तद्भाजनमेते इति तदुपन्यासः। (३) तदवगमेऽप्यस्या एवासाधारणरूपां हेतुसंपदं प्रति, परंपरया मूलशुद्ध्यन्वेषणपरा एते, इति तदुपन्यासः। (४) तत्परिज्ञानेऽपि तस्या एव सामान्येनोपयोगसंपदं प्रति फलप्रधानारम्भ प्रवृत्तिशीला एते, इति तदुपन्यासः। (५) एतत्परिच्छेदेऽपि उपयोगसंपद एव हेतुसंपदं प्रति, विशुद्धिनिपुणा-रम्भभाजः एते, इति तदुपन्यासः। (६) एतद्बोधेऽपि स्तोतव्यसंपद एव विशेषेणोपयोगसंपदं प्रति, सामान्यविशेषरूपफलदर्शिन एते, इति तदुपन्यासः। (७) एतद्विज्ञानेऽपि स्तोतव्यसंपद एव सकारणां स्वरूपसंपदं प्रति, विशेषनिश्चयप्रिया एते, इति तदुपन्यासः। (८) एतत्संवेदनेऽप्यात्मतुल्य-परफल-कर्तृत्वसंपदं प्रति, अतिगम्भीरोदारा एते, इति तदुपन्यासः। (९) एतत्प्रतीतावपि प्रधानगुणापरि-क्षयप्रधानफलाप्त्यभयसंपदं प्रति भवति विदुषां जिज्ञासा, दीर्घदर्शिन एते, इति तदुपन्यासः।

(पं०) 'तद्भाजनमेत' इति, तद्भाजनं=जिज्ञासाभाजनम्, एते=प्रेक्षापूर्वकारिणः।

---

६ संपदाओं की युक्तियुक्तता और प्रभाव

अब यहां नौ संपदाओं का इस प्रकार उपन्यास क्यों किया इसके हेतु बतलाते हैं। इसमें (१) पहली स्तोतव्य संपदा के उपन्यास का हेतु यह है कि प्रेक्षापूर्वकारी यानी विचार पूर्वक कार्य करने वाले पुरुषों की स्तुतिप्रवृत्ति स्तोतव्य का आलम्बन कर के होती है, तब स्तोतव्य यह उस प्रवृत्ति का अङ्ग हुआ, तो अङ्गभूत उसका निर्देश करना चाहिए, इसलिए स्तोतव्य संपदा का प्रथम उपन्यास किया गया। स्तोतव्य अगर स्तुति प्रवृत्ति का अङ्ग न हो तो उस स्तोतव्य का निर्देश क्यों किया जाय? स्तुति की प्रवृत्ति यों ही की जाएगी! लेकिन ऐसी स्तुति-प्रवृत्ति होती नहीं है; कारण, इस तरह, बिना स्तोतव्य-निर्देश, प्रवृत्ति करने लग जाय तो वहां प्रेक्षापूर्वकारित्व की क्षति है, वह उपपन्न नहीं हो सकता है। यों ही स्तुति करना यह विचारपूर्वक प्रवृत्ति नहीं कही जा सकती इसलिए स्तोतव्यसंपदा कही गई।

(२) दूसरी साधारणासाधारण हेतुसंपदा का उपन्यास इसलिए किया कि स्तोतव्य संपदा के निर्देश से स्तोतव्य कौन है यह जब अवगत हुआ, तब विद्वानों को यह जिज्ञासा होती है कि स्तोतव्य होने के लिए उसमें प्रधान साधारण-असाधारण निमित्त कौनसा विद्यमान है। प्रेक्षापूर्वकारी लोग ऐसी जिज्ञासा के पात्र होते हैं, अतः यह होना स्वाभाविक है। इस जिज्ञासा की तृप्ति के लिए इस दूसरी संपदा का उपन्यास आवश्यक है।

(३) दूसरी संपदा से जिज्ञासा तृप्त होने पर भी इसी स्तोतव्य के असाधारण हेतु की जिज्ञासा होती है, क्योंकि प्रेक्षापूर्वकारी लोग परंपरा से मूल शुद्धि के अन्वेषण में तत्पर होते हैं, तो प्रस्तुत विषय में खोजते हैं कि स्तोतव्य होने में परंपरा या मूल कारण क्या है। इस जिज्ञासा की तृप्ति के लिए यहां तीसरी असाधारण हेतुसंपदा रखी गई।

(४) इस तृतीय असाधारण हेतुसंपदा के उपन्यास से असाधारण हेतु का ज्ञान होने पर भी अब यह जिज्ञासित होता है कि उस स्तोतव्य का सामान्य उपयोग क्या है ? विचारक लोगों को इस तरह की जिज्ञासा होने में हेतु यह है कि वे फलप्रधान आरम्भ करने के स्वभाव वाले होते हैं इस लिए देखना चाहते हैं कि इस स्तोतव्य की स्तुति तो हम करें, किन्तु हमें स्तोतव्य का सामान्य उपयोग यानी फल क्या है ? ऐसी जिज्ञासा की तृप्ति के लिए चौथी सामान्योपयोग संपदा का उपन्यास किया गया।

(५) इस के द्वारा सामान्य उपयोग का ज्ञान होने पर भी उस उपयोग का हेतु क्या है ? इस विषय में प्रेक्षावान पुरुषों को जिज्ञासा होती है क्यों कि वे सामान्य प्रवृति नहीं बल्कि अन्वेषण में निपुण प्रवृति वाले होते हैं, दृष्टान्त में स्तुति प्रवृति करने के पहले खोज करेंगे कि स्तुति विषय (स्तोतव्य) का अमुक उपयोग किस हेतुवश संभावित है। इस जिज्ञासा के तृप्त्यर्थ पांचवी उपयोग के हेतुओं की संपदा रखी गई।

(६) इससे हेतुबोध होने पर, विचारकों को अरहंत प्रभु के सामान्योपयोग के बाद विशेषोपयोग जानने की इच्छा होती है, क्यों कि वे स्तोतव्य प्रभु की स्तुति आदि के किसी भी प्रयत्न के सामान्य स्वरूप एवं विशेष रूप फल के प्रति दृष्टि वाले होते हैं, ऐसे फल देखें तो प्रयत्न करे। इसलिए यहां जानना चाहते हैं कि स्तोतव्य का विशेष कार्य विशेषोपयोग क्या है ? स्तुतिकार महर्षि यह ज्ञात कराने के लिए छठवी संपदा में स्तोतव्य के ही विशेषोपयोग संपदा का उपन्यास करते है।

(७) अब इससे विशेष उपयोगों का ज्ञान होने पर भी प्रेक्षावान पुरुष विशेष निश्चयप्रिय होते हैं इसलिए जानना चाहते हैं कि स्तोतव्य प्रभु का विशेष स्वरूप यानी हेतुबद्ध स्वरूप क्या है।? इस जिज्ञासा के शमनार्थ सातवी स्तोतव्य के सकारण स्वरूपसंपदा का उल्लेख किया गया।

(८) इसका बोध होने पर भी प्रेक्षापूर्वकारी लोगों को यह जिज्ञासा होती है कि स्तोतव्य प्रभु क्या क्या स्वसमान फल दूसरों में पैदा करते हैं ? उन्हे ऐसी जिज्ञासा होने का बीज यह है कि वे स्वयं अति गंभीर एवं उदार होते हैं, तो अपने से कतई ऊंचे परम पुरुष भी क्या क्या स्वसमान फल का अन्यों में संपादन कराने की उदारता करते हैं यह गंभीरता से सोचते है। बस, इस जिज्ञासा की निवृत्त्यर्थ आठवी आत्मतुल्य परफलकर्तृत्व नाम की संपदा का उपन्यास किया गया।

(९) इससे स्वसमान फल का बोध तो हुआ, विचारक लोग दीर्घदर्शी होने के कारण देखना चाहते हैं कि स्तोतव्य प्रभु अंत में जाकर किस प्रधान अक्षय गुण, प्रधान अक्षय फल, एवं अभय के स्वामी होते हैं। उनकी ऐसी जिज्ञासा के निवारणार्थ यहां नौवी प्रधानगुणापरिक्षय-प्रधानफलाप्ति-अभय संपदा का उपन्यास किया गया।

अर्हत्संपद्गुणों के अचिन्त्य प्रभावः—

प्र०—स्तोतव्यादि संपदाओं का प्रणिपातदंडक सूत्र में उपन्यास इस क्रम से क्यों किया ?

उ०—विचार पूर्वक कार्य करने वाले लोगों को अपनी वैसी विशेषताओं के कारण उपर्युक्त क्रम से ही जिज्ञासा होती चलती है, अतः इनकी तृप्ति के लिए तदनुरूप क्रम से ही संपदाओं का उपन्यास करना समुचित है।

प्र०—परमात्मा को नमस्कार करने की प्रार्थना करनी है इसमें उनकी संपदाओं का उपन्यास क्यों किया ?

(ल०-अर्हत्संपद्गुणानां प्रभावाः)—अनेनैव क्रमेण प्रेक्षापूर्वकारीणां जिज्ञासाप्रवृत्तिरित्येवं संपदामुपन्यासः, एतावत्संपत्समन्विताश्च निःश्रेयसनिबन्धनमेते, एतद्गुणबहुमानसारं विशेषप्रणिधाननीतितस्तत्बीजाक्षेपसौविहित्येन सम्यगनुष्ठानमिति च ज्ञापनार्थम् ।

(पं०) 'एतद्गुणेत्यादि, एतद्गुणबहुमानसारम्, एतेषां=स्तोतव्यसंपदादीनां, गुणानां, बहुमानेन=प्रीत्या, सारं, स (एतद्गुणबहुमान) एव वा सारः यत्र, 'तत्सम्यगनुष्ठानं भवती'ति संबन्धः । कथमित्याह 'विशेषप्रणिधाननीतितः', विशेषेण=विभागेन, स्तोतव्यसम्पदादिषु गुणेषु प्रणिधानं=चित्तन्यासः, तदेव 'नीतिः'=प्रणिधीयमानगुणरूपस्वकार्यप्राप्तिहेतुः, तस्याः, 'तत्बीजाक्षेपसौविहित्येन', 'तस्य'=चित्ररूपस्य गुणस्यार्हत्त्वभगवत्त्वादेः, बीजं=हेतुः तत्तदावारककर्म्महासस्तदनुकूलशुभकर्म्मबन्धश्च, तस्य अक्षेपः=अव्यभिचारस्तेन, सौविहित्यं=सुविधानं, तेन 'सम्यग्'=भावरूपम्, 'अनुष्ठानमिति च ज्ञापनार्थम्' एतच्च ज्ञापितं भवतीति भावः ।

उ०—उपन्यास से,—(१) यह ज्ञापित करना है कि इतनी संपदाओं से संपन्न श्री अर्हत्परमात्मा मोक्षप्राप्ति में कारणभूत हैं, क्योंकि उन संपदा-गुणों की ऐसी महिमा है कि वे जीवों को मोक्षमार्ग की साधना में प्रेरक = उत्तेजक है। (२) दूसरा यह दिखलाना है कि प्रस्तुत संपदा-गुणों के प्रति प्रीति-बहुमान करने द्वारा ही सम्यग् अनुष्ठान हो सकता है, यदि अनुष्ठाता के द्वारा उन गुणों के उपर प्रधान रूप से प्रीति रखी जाए, तभी उसका कोई भी शुभानुष्ठान सम्यग् अनुष्ठान यानी भावानुष्ठान होता है। इसका कारण यह है कि अनुष्ठान को सम्यग् होने के लिए आवरणभूत कर्मों का ह्रास एवं शुभ कर्मों की वृद्धि आवश्यक है, और इनकी सुविधा सपदा-गुणों के प्रीति-युक्त विशिष्ट प्रणिधान द्वारा अवश्य संपादित होती है। इस 'विशिष्ट प्रणिधान' का अर्थ यह है कि अर्हत्त्व, भगवत्त्व प्रमुख स्तोतव्यादि संपदागुणों में सपदाओं के विभागानुसार चित्त को स्थापित करना; अर्थात् उन संपदागुणों का विभागशः एकाग्र चिन्तन रखना। ऐसे प्रणिधान से आवरणह्रास-शुभोपार्जन होने का कारण यह कि संपदागुणों का यह प्रणिधान इतना प्रबल है कि वह एकाग्रता से चिन्त्यमान उन गुणों को अपने में पैदा करने तक में समर्थ होता है, अर्थात् गुण स्वरूप स्वकार्य तक की प्राप्ति कराता है, तब फिर उससे अशुभह्रास-अशुभोपार्जन क्यों न हो ? यहां इतना निष्कर्ष निकलता है:—

(१) गुणसंपन्न परमात्मा मोक्षकारक है; परमात्मा के सपदाओं में, वर्णित अनन्यलभ्य गुण ऐसे हैं कि वे अवश्य मोक्ष हेतु बनें।

(२) अरहंत प्रभु के संपदा-गुणों पर बहुमान शुभानुष्ठान को भावानुष्ठान बनाता है।

(३) सम्यग् अनुष्ठान (भावानुष्ठान) के लिए अशुभ कर्म- ह्रास एवं शुभ-कर्मोपार्जन आवश्यक है।

(४) अर्हत-संपदा गुणों के प्रणिधान से अशुभकर्म-ह्रास एवं शुभकर्मोपार्जन होता है।

(५) सपदा गुणों का प्रीति-बहुमान युक्त प्रणिधान प्रणिधाता में उन गुणों को उत्पन्न करने में समर्थ है।

एकानेकस्वभाव-वस्तु-सिद्धिः

(ल०-चित्रसंपद्द्वाराऽनेकान्तसिद्धिः-) एकानेकस्वभाववस्तुप्रतिबद्धश्चायं प्रपञ्च इति सम्यगालोचनीयम्, अन्यथा कल्पनामात्रमेता इति फलाभावः ।

(पं०) इयं च चित्रा संपन्न स्याद्वादमन्तरेण संगतिमङ्गतीति तत्सिद्ध्यर्थमाह 'एकानेकस्वभाववस्तुप्रतिबद्धश्च'=द्रव्यपर्यायस्वभावार्हल्लक्षणवस्तुनान्तरीयकं पुनः, 'अयम्'=अनन्तरोक्तः, 'प्रपञ्चः' चित्रसंपदुपन्यासरूपः, 'इति'=एतत्, 'सम्यगालोचनीयम्'=अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यथेदं वस्तु सिध्यति तथा विमर्शनीयम्। विपक्षे बाधामाह 'अन्यथा'=एकानेकस्वभावाभावेऽर्हतां, 'कल्पनामात्रं'=कल्पना एव केवला निर्विषयबुद्धिप्रतिभासरूपा, 'एताः'=चित्राः सम्पदः, ततः किमत आह 'इति'=अतः कल्पनामात्रत्वात्, फलाभावः=मिथ्यात्वत्वेन सम्यक्त्वसाध्यार्थाभावः; न चैवं, सफलरम्मिमहापुरुषप्रणीतत्वादासाम् इत्येतदुपन्यासान्यथानुपपत्त्यैव चित्ररूपवस्तुसिद्धिरिति ।

एकानेकस्वभाव वस्तु की सिद्धि

विविध संपदाओं से अनेकान्तसिद्धिः—

हेतुसंपदा, उपयोगसपदा ... इत्यादि ये विविध संपदा स्याद्वाद, अपर नाम अनेकान्तवाद के स्वीकार विना सङ्गत नहीं हो सकती। एकान्तवाद में तो वस्तु एकस्वभाव ही होने से, प्रभु यदि स्तुतिपात्र हैं, तो स्तुतिपात्र ही हैं, वापिस हेतुरूप कैसे ? हेतुरूप है तो हेतुरूप ही है, उपयोग रूप कैसे ? लेकिन वस्तुस्थिति से प्रभु स्तुतिपात्र भी है, आदिकरादि हेतुस्वरूप भी है, और लोकोत्तमादि उपयोग स्वरूप भी है। इससे सूचित होता है कि वस्तु एकानेकस्वभाव है-द्रव्यरूप से एकस्वभाव और पर्यायरूप से अनेकस्वभाव है। दृष्टान्त के लिए अलंकार अपने उपादानद्रव्य सुवर्णरूप से एकस्वभाव है, और वही अपने पर्याय कङ्कण, पीला, भारी, मेंघा .. इत्यादि रूप से अनेकस्वभाव हैं।

वस्तुमात्र द्रव्यपर्याय उभयस्वरूप होने से एकानेकस्वभाव होना सहज है। भगवान अरिहंत भी एक वस्तु है तो वह एकानेकस्वभाव यानी द्रव्यस्वभाव, पर्यायस्वभाव, उभयरूप है, अतः एकानेकस्वभाव होने की वजह पूर्वोक्त विविध संपदाएं उसके साथ अवश्य संबद्ध हैं; विचित्र संपदाओं का उपन्यास एकानेकस्वभाव अर्हद्-वस्तु के सिवा नहीं हो सकता है।

वस्तु एकानेकस्वभाव के बिना उसमें विचित्र धर्म उत्पन्न नहीं हो सकने यह नियम सम्यग् रूप से आलोचनीय है, अर्थात् अन्वय-व्यतिरेक से जैसे सिद्ध होता है इस प्रकार विचारणीय है। अन्वयसिद्ध इस प्रकार कि उदाहरणार्थ, दीपक एक होता हुआ ही दाहकस्वभाव, प्रकाशकस्वभाव, इत्यादि अनेक स्वभाव है सभी उस अकेलेपन में ही दाहकत्व, प्रकाशकत्व वगैर अनेक धर्म संगत होते हैं। व्यतिरेकसिद्ध इस प्रकार कि जो एक व्यक्ति नहीं, जैसे कि रत्न और अग्नि आदि एक नहीं, वहां अकेले रत्न या अग्नि आदि में दाहकत्व, प्रकाशकत्वादि अनेक धर्म नहीं। अन्वय-व्यतिरेक से यह निश्चित होता है कि एक ही वस्तु एकानेकस्वभाव होती है।

इस सिद्धान्त का विपक्ष अगर लिया जाय अर्थात् अर्हन् प्रभु आदि वस्तु एकानेकस्वभाव यदि न माना जाए तो वस्तु में अनेक धर्मों का अस्तित्व एक कल्पना मात्र बन जाएगा; जैसे कि प्रस्तुत में

(ल०-चित्रवस्तुसिद्धौ प्रयोगदृष्टान्ताः-) एकानेकस्वभावत्वं तु वस्तुनो वस्त्वन्तरसम्बन्धाविर्भूतानेकसंबन्धिरूपत्वेन पितृपुत्रभ्रातृभागिनेयादिविशिष्टैकपुरुषवत्, पूर्वापर-अन्तरितानन्तरित-दूरासन्न-नवपुराण-समर्थासमर्थ-देवदत्तकृतचैत्रस्वामिक-लब्धक्रीत-हृ(प्र०...ह) तादिरूपघटवद्वा । सकललोकसिद्धश्चेह पित्रादिव्यवहारः, भिन्नश्चमिथः, तथाप्रतीतेः । तत्त्वनिबन्धनश्च अतएव हेतोः ।

(पं०-) पुनः सामान्येन चित्ररूपवस्तुप्रत्यायनाय प्रयोगमाह-'एकानेकस्वभावत्वं तु वस्तुनः' इति साध्यनिर्देशः, अत्र हेतुमाह 'वस्त्वन्तर' मिति, वस्त्वन्तरैः साध्यधर्मिव्यतिरिक्तैः, यः सम्बन्धः तत्स्वभावापेक्षालक्षणः, तेन आविर्भूतानि अनेकानि=नानारूपाणि, सम्बन्धीनि=सम्बन्धवन्ति रूपाणि स्वभावात् यस्य तत्तथातस्य भावस्तत्त्वं तेन । दृष्टान्तमाह पितृपुत्रभ्रातृभागिनेयैः, 'आदि' शब्दात् पितृव्यमातुलपितामहमातामहपौत्रदौहित्रादिभिर्जनप्रतीतैः, विशिष्टः=उपलब्धसंबन्धो यः, एको द्रव्यतया, पुरुषः=तथाविधपुमान्, तस्येव, अस्यैव दृढत्वसंपादनार्थं पुनर्दृष्टान्तान्तरमाह 'पूर्वे' त्यादि, तत्तदपेक्षया पूर्वापरादिपञ्चदशरूपः । 'आदि' शब्दादणुमहदुच्चनीचाद्यनेकरूपश्च यो घटस्तस्येव वा एकानेकस्वभावत्वमिति । हेतुसिद्ध्यर्थमाह 'सकललोकसिद्धश्च' अविगानेन प्रवृत्तेः, 'इह'=जगति, 'पित्रादिव्यवहारः' तथाविधाभिधानप्रत्ययप्रवृत्तिरूपः । 'भिन्नश्च'=पृथक् (च), 'मिथः'=परस्परम्, अन्यो हि पितृव्यवहारोऽन्यश्च पुत्रादीनाम् । कुत इत्याह 'तथा'=मिथो भिन्नतया, 'प्रतीतेः'=सर्वत्र सर्वदा सर्वैः प्रत्ययात् 'तत्तत्त्वनिबन्धनश्च', तस्य पित्रादितया व्यवहरणीयस्य, तत्त्वं पित्रादिरूपत्वं, निबन्धनं यस्य स तथा, चकार उक्तसमुच्चये । एतदपि कुत इत्याह 'अतएव'=तथाप्रतीतेरेव हेतोः । न च सम्यक्प्रतीतिरप्रमाणं सर्वत्रानाश्वासप्रसङ्गात् ।

अर्हत्परमात्मा की विविध संपदाएं केवल विषयशून्य बुद्धिप्रतिभास रूप बन जायेंगी । अर्थात् वे संपदाएं कोई सद्-वस्तु नहीं, वास्तविक गुण नहीं, किन्तु काल्पनिक ही यानी आभासमात्र सिद्ध हो जायेंगी । सिद्ध हो, इससे क्या ? यही, कि मात्र कल्पना रूप होने से, उन काल्पनिक संपदाओं को ले कर की गई स्तुति केवल मिथ्यास्तुति स्वरुप फलित होगी, और इससे यथार्थ स्तुति साध्य कोई प्रयोजन निष्पन्न होगा नहीं । 'ठीक है ऐसा हो, तो क्या हानि है ?'-वैसा नहीं कह सकते; कारण, यह स्तुति मिथ्या स्तुति या निष्फल स्तुति नहीं है; क्योंकि इन संपदाओं से घटित स्तुति सफल ही प्रयत्न करने वाले महापुरुष श्री गणधर भगवान द्वारा उपन्यस्त की गई होने से सफल है । सर्वत्र सफल ही यत्न करने वाले महापुरुष अर्हत स्तुति जैसे महान कार्य में निष्फल प्रयत्न कर सकते ही नहीं । इसलिए संपदाओं का उपन्यास अन्यथा अनुपपन्न होने से अर्थात् एक ही परमात्मा के विविध संपदा-गुणस्वरूप वास्तव में अनेक स्वभाव स्वीकृत किये बिना संगत न होने से, वस्तु विचित्रस्वरूप यानी अनेकस्वभाव सिद्ध होती है ।

विचित्र संपदाओं से वस्तु की विचित्र स्वरूपता सिद्ध की गई, अब सामान्य रूप से विचित्र वस्तु की प्रतीति कराने के लिए अनुमान प्रयोग दिखलाते हैं,-वस्तु अनेकस्वभाव होती है, क्यों कि इसमें अन्य वस्तुओं के संबंध से व्यक्त हुए अनेक संबन्धित रूप यानी संबंधवाले धर्म हैं । इस अनुमान प्रयोग में साध्य है 'वस्तु की अनेक स्वभावता', और इस साध्य को सिद्ध करने वाला हेतु है 'अन्य वस्तुओं के संबन्ध से आविर्भूत अनेक सम्बन्धितरूप । यहां 'अन्य वस्तु' कर के, साध्य-अनेक स्वभावता के धर्मी रूप जो वस्तु, इससे भिन्न वस्तुओं का ग्रहण होगा; उदाहरणार्थ पुरुष में अनेकस्वभावता सिद्ध करनी है यह

साध्य है, तो 'अन्य वस्तु' कर के पुत्रादि गृहीत होंगे। अब, 'संबन्ध' कर के तत्स्वभाव की अपेक्षा ग्राह्य है, जैसे कि पुत्रादि के पुत्रत्वादि-स्वभाव की अपेक्षा रूप संबन्ध पुरुष में है। तो उसमें पितापन आदि संबन्धित रूप आविर्भूत होते हैं। एक ही वस्तु में अन्यान्य वस्तुओं के संबन्ध होने की वजह भिन्न भिन्न संबन्धित धर्मों का आविर्भाव होता है। यह इसमें अनेकस्वभावता के बिना उपपन्न नहीं हो सकता, अर्थात् मात्र एकस्वभावता से संगत होना अशक्य है। अनेक संबन्धी धर्म अनेकस्वभावता होने पर ही हो सकता है। एक ही वस्तु यदि अनेकों के साथ भिन्न भिन्न संबन्ध से भिन्न भिन्न रूप में संबन्धित है तो स्वयं एकस्वभाव नहीं किन्तु अनेकस्वभाव होने का सिद्ध होता है।

दृष्टान्त के लिए देखिये कि कोई एक पुरुष पिता-पुत्रादि अन्य पुरुषों के साथ संबन्ध रखनेवाला दिखाई पड़ता है। वह उसी पिता का पुत्र है, या उसी पुत्र का पिता है, या भाई का भाई है, भानजा का मामा है, चाचा का भतीजा है, मामा का भानजा है, पितामह का पौत्र है, मातामह का दौहित्र (नाती) है, पौत्र का पितामह है, दौहित्र का मातामह है। ... इत्यादि एक ही पुरुष पुत्र, पिता, भाई वगैर हुआ। ये विविध संबन्ध उसमें पिता, पुत्रादि के साथ विविध संबन्धों से प्रगट हुए हैं। 'संबन्ध' वस्तु क्या? यही कि उदाहरणार्थ, पुरुष को अपने में 'पुत्र' नाम के लिए पिता के पितृत्वस्वभाव की जो अपेक्षा है वही 'संबन्ध' है। इस अपेक्षा से अपने में तत्संबन्ध वाला पुत्रत्व धर्म प्रगट हुआ है। ऐसे, अपने पुत्र के पुत्रत्वस्वभाव की अपेक्षा द्वारा उसके अनुरूप संबन्धी धर्म पितृत्व अपने में अभिव्यक्त हुआ है। इस प्रकार पुरुष में भ्रातृत्व, भानजापन, इत्यादि अनेक धर्म आविर्भूत होने से वह द्रव्यरूप से एक ही पुरुषवस्तु अनेकस्वभाव सिद्ध होती है। वही पुत्रस्वभाव है, पितास्वभाव है, बन्धुस्वभाव है.... इत्यादि। तो वस्तु एकानेकस्वभाव सिद्ध हुई। अनेक धर्म स्वरूप पर्यायों का आधार यानी द्रव्य एक ही हुआ। वही अनेक पर्यायों से कथंचिद् अभिन्न होने के कारण अनेकस्वभाव भी हुआ।

इसी 'एकानेकस्वभाव' के सिद्धान्त को दृढ करने के लिए दूसरा दृष्टान्त घड़े का दे सकते हैं। एक ही घड़ा किसी की अपेक्षा पूर्व है, और अन्य की अपेक्षा पश्चिमीय भी है। एवं वही किसी की अपेक्षा व्यवहित है और दूसरेकी अपेक्षा अव्यवहित भी है। वही घड़ा भिन्न भिन्न वस्तुकी अपेक्षा दूर भी है, निकट भी है, नया भी है, पुराणा भी है। इसी प्रकार, वह पानी लाने में समर्थ है और पाषाण लाने में असमर्थ भी है; देवदत्त निर्मित है, लेकिन चैत्र नामक मनुष्य का निजी का है। एवं यही घड़ा बाजार से प्राप्त है, द्रव्य से खरीदा हुआ है और हाथों से लाया गया है। यही घड़ा किसी की दृष्टि से छोटा है, दूसरे की दृष्टि से बड़ा है, एवं अन्य की दृष्टि से ऊंचा है, तो अपर की दृष्टि से नीचा है.... ...इत्यादि अनेक स्वरूपों वाला घड़ा है, तब वह एक होते हुए भी अनेकस्वभाव सिद्ध होता है। अर्थात् एकानेकस्वभाव है।

यहां जो अनुमान प्रयोग किया कि—'वस्तु एकानेकस्वभाव है, क्योंकि वह अन्य वस्तुओं के संबंध से अभिव्यक्त अनेक सम्बन्धी रूपवाली है'—इसमें दिया गया हेतु असिद्ध नहीं है; कारण अनेक सम्बन्धी रूप सकल लोक में सिद्ध हैं, एक ही वस्तु में अनेक सम्बन्धी रूपों का व्यवहार करने में लोगों की निर्विवाद प्रवृत्ति होनी है यह देखते हैं, जैसे कि इस जगत में पिता आदि व्यवहार अर्थात् 'पिता' ऐसा नाम, 'पिता' ऐसा बोध, 'पिता' रूप से प्रवृत्ति, एवं उसी पुरुष का 'पुत्र', 'भाई', 'चाचा' इत्यादि विविध व्यवहार प्रचलित हैं। तदुपरान्त ये व्यवहार परस्पर में पृथक् पृथक् है, 'पिता' ऐसा व्यवहार भिन्न है, 'पुत्र' ऐसा व्यवहार भिन्न है इत्यादि; इसमें प्रमाण यह है कि समस्त लोक में हमेशा सबों से ये विविध व्यवहार परस्पर भिन्न होने का प्रतीत किया जाता है। अगर ये विविध व्यवहार अलग अलग न हों तो सबों को सदा इस प्रकार प्रतीत क्यों हो सके? 'बिना ऐसी वस्तुस्थिति भ्रांतिवश ऐसा भास होता है' यह भी आप नहीं कह सकते, क्योंकि ये 'पिता' 'पुत्र' आदि व्यवहार, उसके विषयभूत पुरुष में रहे

(८०—व्यवहारो न वासनामूलकः—) 'वासनाभेदादेवायमि'त्ययुक्तं, तासामपि तन्निबन्धनत्वात् । 'नैकस्वभावादेव ततस्ता इति', रूपाद् रसादिवासनापत्तेः ।

(८०—) अत्रैव पराकूतं निरस्यन्नाह 'वासनाभेदादेव'=व्यवहर्तृवासनावैचित्र्यादेव, न पुनश्चित्रैकस्वभावत्वाद्वस्तुनः, 'अयं'=पितृपुत्रादिव्यवहारो दृष्टान्ततयोपन्यस्तः, 'इति'=एतत्सुगतशिष्यमतम्, 'अयुक्तम्'=असङ्गतम् । ते हि निरंशैकस्वभावं प्रतिक्षणभङ्गुरुचि वस्तु प्रतिपन्नाः, इति न तत्पुरुषवस्तुनोऽप्येकस्मिन्नपि स्थिरानेकस्वभावसमर्पकः पितृपुत्रादिव्यवहारः, किन्तु प्रतिनियतव्यवहारार्थिकुशलकल्पितसंकेताहितविचित्रवासनापरिपाकतः कल्पितकथाव्यवहारवद् असद्विषय एव प्रवर्तते इति । कुतोऽयुक्तत्वमित्याह 'तासामपि'=वासनानां, न केवलं व्यवहारस्य, 'तन्निबन्धनत्वाद्'=व्यवह्रियमाणवस्तुनिबन्धनत्वाद्, अतन्निबन्धनत्वे 'नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वे'त्यादिप्रसङ्गात् । एवमपि किमित्याह 'नैकस्वभावादेव'=नैकान्तैकरूपादेव, 'ततो'=व्यवहारविषयवस्तुनः, 'ताः'=पित्रादिवासना इति । विपर्यये बाधकमाह 'रूपात्'=कृष्णनीलादेर्वर्णात्, 'रसादिवासनापत्तेः'=रसस्पर्शादिविचित्रवासनापत्तेः, एकस्वभावादपि परै रेवानेकवासनाभ्युपगमात् ।

हुए पितृरूपता, पुत्ररूपता-पितृत्व, पुत्रत्व आदि को अधीन हैं। यह कैसे ?-इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वैसी प्रतीति होने की वजह। सर्वजन प्रतीत है कि पुरुष में सचमुच पितृरूपता, पुत्ररूपता वगैरह विद्यमान होते हैं। ऐसी सम्यक् प्रतीति को अप्रमाण नहीं कह सकते, अन्यथा सर्वत्र इसी ढंग से प्रतीति अप्रमाणभूत हो जाने से अविश्वास प्रसक्त होगा।

वासनामूलक विविध व्यवहार का बौद्धमतः—

अब यहां ही बौद्ध का अभिप्राय दिखला कर इसका खण्डन करते हैं। बुद्ध के शिष्यों का यह मत है कि वस्तु अनेकस्वभाव सिद्ध करने के लिए दृष्टान्त रूप से जो पिता-पुत्रादि व्यवहारों का उपन्यास किया, वहां ऐसा नहीं है कि ये व्यवहार वस्तु के चित्र-अनेकस्वभाववश होते हैं। अर्थात् वस्तु स्वयं एक ही उसके विविध स्वभावों के कारण विविध व्यवहार हो सकते हैं ऐसी वस्तुस्थिति नहीं है; वस्तुतः विविध व्यवहार तो व्यवहर्ता पुरुष की विविध वासनावश होते हैं। व्यवहार करने वाला पुरुष 'पिता' व्यवहार की वासना से 'पिता' रूप से व्यवहार करता है, 'पुत्र'व्यवहार की वासना से वैसा व्यवहार करता है। फलतः व्यवहार के कारण वस्तु में अनेक स्वभाव मानने की कोई आवश्यकता है नहीं। बौद्धों का यह मन्तव्य है कि वस्तु निरंश एकस्वभाव होती है और प्रतिक्षण विनाशशील होती है; इसलिए पिता-पुत्रादिव्यवहार एक निरंश क्षणिक पुरुषवस्तु को लेकर नहीं हो सकता है; क्योंकि अगर वस्तुस्वभाव के आधार पर विविध व्यवहार होना हो तब तो यह व्यवहार एक ही वस्तु में स्थिर (अक्षणिक) एवं अनेक स्वभावों का उपपादन करेगा। स्थिर इसलिए कि व्यवहर्ता पुरुष प्रथम क्षण में उन्हें देख कर द्वितीय क्षण में भी उन स्थिर स्वभाव के प्रति पिता-पुत्रादि व्यवहार कर सकेगा। लेकिन तर्क से सोचने पर वस्तु सांश अनेकस्वभाव और स्थिर सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि वस्तु में अनेकस्वभाव होने पर वस्तु में भेद आ पड़ेगा; एवं स्थिर मानने पर भी अपने क्रमिक कार्यों के विविध सामर्थ्य क्रमशः उत्पन्न होने का मानना पड़ेगा, फलतः वस्तु क्षणिक ही सिद्ध होगी। अतः वस्तु निरंश-एकस्वभाव एवं क्षणिक सिद्ध होती है। अब विविध व्यवहार कैसे हो सकेगा, इसका उत्तर यह है कि कोई कुशल व्यवहारार्थी पुरुष द्वारा विरचित 'पिता' आदि संकेत से व्यवहर्ता पुरुष को अपनी पूर्व वासना का परिपाक यानी उद्बोधन होता

(ल०—स्वभावमात्रमनुत्तरम्:–) 'जातिभेदतो नैतदि'त्यप्ययुक्तं, नीलात् पीतादिवासना-प्रसङ्गात् । 'तत्तत्स्वभावत्वान्नैतदि'त्यप्यसत्, वाङ्मात्रत्वेन युक्त्यनुपपत्तेः । न हि नीलवासनायाः पीतादिवत् पित्रादिवासनाया न भिन्नः पुत्रादिवासनेति निरूपणीयम् ।

(पं०)—परिहारान्तरमाशङ्क्याह 'जातिभेदतो'=रूपरसादिजातिविभागतो, 'नैतत्'=न रूपाद् रसादिवासनापत्तिः । अत्यन्तभिन्ने हि रूपजाते रसादिजातिः, कथमिव ततो रसादिवासनाप्रसङ्ग इति । तदप्ययुक्तं, कुत

है जिसकी वजह से यह 'पिता' आदि व्यवहार करता है। उदाहरणार्थ, माता पुत्र को दिखलाती है कि 'यह तेरा पिता है', यह व्यवहारार्थी माता का पुत्र प्रति संकेत हुआ। इसके द्वारा व्यवहर्ता पुत्र, अपनी पूर्ववासना उद्बुद्ध होने से पिता के प्रति 'पिता' शब्द का व्यवहार करता है। अतः इस व्यवहार एवं दूसरों के 'पुत्र' 'चाचा' इत्यादि के व्यवहार के कारण पिता में पितृत्व-पुत्रत्वादि अनेकस्वभाव मानने की कोई आवश्यकता नहीं है, अन्यान्य व्यवहर्ताओं की वासनावश विविध व्यवहार-प्रवर्तन उपपन्न हो जाएगा। यहां इतना ध्यान में रहे कि माता, पुत्र, पिता वगैरह क्षणिक होने पर भी, संकेतकारी मातृक्षण के सहकार-वश वासनायुक्त पुत्रक्षण से उद्बुद्ध वासनाविशिष्ट पुत्रक्षण की उत्पत्ति होती है, तदनन्तर व्यवहारकर्तृ पुत्रक्षण का जन्म होता है। यह 'पिता' ऐसा व्यवहार करता है, यह वासनामूलक हुआ, न कि किसी 'पितृत्व' नामक सत् स्वभावमूलक। मत कहना कि 'अगर पितृत्व ही असत् हो, तो असत् पर व्यवहार कैसे हो सके ?' क्योंकि कथा का विषय असत् होने पर भी कल्पित कथा का व्यवहार प्रवर्तमान दिखाई पड़ता है। सारांश, भिन्न भिन्न वासनावश विविध व्यवहार होता है।"

बौद्धमत-खण्डनः—

बौद्धों का यह कहना युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि व्यवहार वासनामूलक मानने पर भी यह स्वीकृत करना होगा कि वासनाओं का मूल व्यवहार के विषयभूत वस्तुएं हैं, इनः वस्तुओं से वासना उत्पन्न होती है। अगर वस्तुनिरपेक्ष वासना पैदा होती हो तो वह या तो नित्य सत् होगी, अथवा आकाश पुष्पवत् बिल्कुल असत् होगी, क्योंकि उसका उत्पादक कोई कारण ही नहीं रहा। नियम है **'नित्यसत्त्वमसत्त्वं वा हेतोरन्यानपेक्षणात् ।'** अन्यनिरपेक्षता रूप हेतु से नित्य सत्त्व या असत्त्व सिद्ध होता है। जिसको किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं, अर्थात् जो किसी अन्य से उत्पन्न नहीं है वह नित्य सत् या असत् होता है। जगत में एक नित्य आकाशादि सत्पदार्थ और दूसरा आकाशपुष्पादि असत् ही ऐसे हैं कि जो उत्पन्न ही नहीं तो अन्योत्पन्न भी नहीं हैं। बाकी अनित्य सत्पदार्थ तो कारणसापेक्ष ही उत्पन्न होता है। वासना वैसी होने से व्यवहार के विषयभूत वस्तु से ही जन्म पाती है, और विविध पिता-पुत्रादिवासनाएं एकान्त एक ही स्वभाववाली वस्तु से पैदा नहीं हो सकतीं, वे तो वस्तु के पितृत्व, पुत्रत्वादि अनेक स्वभावों की अपेक्षा रखेंगी। फलतः वस्तु अनेकस्वभाव सिद्ध होती है।

प्र०—एकान्त एकस्वभाववाली वस्तु से विविध वासना पैदा होने में क्या बाधा है ?

उ०—बाधा यह, कि कृष्ण नीलादि वर्ण से रस-स्पर्शादि की विविध वासनाएं उत्पन्न होने लगेंगी जो कि अनुभव विरुद्ध है। अनुभव यह है कि रस का संस्कार वर्ण से नहीं, अपितु रस से ही पैदा होता है, स्पर्श का स्पर्श से ही इत्यादि। लेकिन जब आपने ही एक स्वभाव से पिता पुत्रादि अनेक वासनाओं का उत्पन्न होना मुनासीब माना है, तो एकस्वभाव वाले वर्ण से रसादि विविध वासनाएं क्यों उत्पन्न न हों ?

यहां बौद्ध प्रश्न करते हैं—

इत्याह 'नीलाद्'=रूपविशेषाद् रूपत्वेनाभिन्नजातीयात्, 'पीतादिवासनाप्रसङ्गाद्'=द्रष्टुः पीतरक्तादिजातीय-वासनाप्रसङ्गात् । परिहारान्तरापोहायाह 'तत्तत्स्वभावत्वात्', तस्य=नीलादेः, तत्स्वभावत्वात्=पीतादिवासनानां सजातीयानामप्यजननस्वभावत्वात् नीलादिवासनाया एव जननस्वभावत्वात् । न च स्वभावः पर्यनुयोगार्हः, 'अग्निर्दहति नाकाशं, कोऽत्रपर्यनुयुज्यते' इति । 'न'=नैव, 'एतत्'=नीलात्पीतादिवासनाजन्मप्रसञ्जनम् 'इति'=एतदपि, परिहारान्तरम्, 'असत्'=असुन्दरं, कुत इत्याह 'वाङ्मात्रत्वेन'=वाङ्मात्रमेवेदमिति, 'युक्त्यनुपपत्तेः' । तमेव भावयति 'न हि नीलवासनायाः' सकाशात्, 'पीतादिवत्'=पीतरक्तादिवासनावत् 'पित्रादिवासनायाः'= पित्रादिवासनामपेक्ष्य, 'न भिन्ना'=न पृथक्, पुत्रादिवासना, किन्तु भिन्नैवेति । 'इति'=एतद्, 'निरूपणीयं' सूक्ष्माभोगेन । यथा नीलादि दृष्टं सद् नीलादिस्ववासनामेव (प्र०....स्वभावामेव) करोति, न भिन्नां पीतादिवासनामपि, तथैकस्वभावं वस्तु पित्रादिवासनामेकामेव कुर्यात्, न तद्व्यतिरिक्तामन्यां पुत्रादिवासनामपीति ।

बौद्धों के स्वभाव मात्र समर्थन का खण्डन

यहां बौद्ध बचाव करता है, 'रूप-रसादि जातिओं के अलग अलग विभाग होने से रूप से रसादिवासना होने की आपत्ति नहीं है। रूपजाति से तो रसजाति, स्पर्शजाति वगैरह अत्यन्त भिन्न है, फिर रूप से रस-स्पर्शादि की वासना कैसे उत्पन्न हो सकती है ?'

किन्तु यह बचाव अयुक्त है, क्यों कि तब भी एक ही रूपजाति में द्रष्टा को नीलरूप से सजातीय पीत-रक्तादि रूप की वासना पैदा होना दुर्निवार है, क्यों कि वे अत्यन्त भिन्न नहीं किन्तु सजातीय है, और एकस्वभाव वस्तु से भी आप अनेकविध कार्य उत्पन्न होना मानते हैं; तब नील से पीत-रक्तादि-वासना क्यों न हो ?

बौद्ध इस आपत्ति के निवारणार्थ कहते हैं कि 'नीलादि वर्ण सजातीय भी पीतादिवर्णों की वासना को उत्पन्न करने में असमर्थ है, क्यों कि वह नीलादि तो नीलादि वासनाजनन के ही स्वभाववाला है; तब उससे पीतादिवासना कहां से उत्पन्न हो सके ? आप अगर पूछें कि ऐसा ही क्यों ? तब उत्तर यह है कि स्वभाव के बारे में प्रश्न नहीं हो सकता। अग्नि आकाश को क्यों नहीं जलाता है,—ऐसा प्रश्न कौन उठाता है ? अग्नि और आकाश का स्वभाव ही ऐसा है कि एक न जला सके, और दूसरा न जल सके । प्रस्तुत में भी नीलादि का ऐसा स्वभाव है कि इससे पीतादिवासना न हो सके ।'

बौद्धों का यह कथन वचनमात्र है, अर्थशून्य शब्दात्मक है; क्यों कि इसमें कोई युक्ति नहीं बन सकती। यह इस प्रकार—जैसे नीलादिवासना से पीत-रसादिवासना पृथक् नहीं है ऐसा नहीं, वैसे पिता आदि की वासना की अपेक्षा पुत्रादि की वासना भी पृथक् नहीं है ऐसा नहीं, किन्तु पृथक् ही है। इसके पर सूक्ष्म आलोचना करना आवश्यक है। जिस प्रकार नीलादि को देखने से उस एक स्वभाव वाले नीलादि से नीलादिवासना ही होती है, नहीं कि साथ में पीतादिवासना भी, इसी प्रकार एक ही स्वभाववाली वस्तु से एक ही 'पिता' आदि की वासना उत्पन्न हो सकेगी, किन्तु उससे भिन्न दूसरी पुत्रादिवासना भी नहीं। लेकिन अनुभव यह है कि एक पुरुष पिता है, पुत्र है, चाचा है, तो उसीसे पुत्र को पितृवासना, पिता को पुत्रवासना, भतीजे को चाचा की वासना होती है। अब ये वासनाएँ तो प्रत्येक भिन्न भिन्न हैं; वैसी अनेक वासनाएँ, यदि मूल पुरुष एक ही स्वभाव वाला हो, तो उस एकस्वभाव से कैसे उत्पन्न हो सकती है ?

(ल०–उपादानमात्रमनियामकम्:–) नोपादानभेदोऽप्यत्र परिहारः, एकस्यानेकनिमित्तत्वायोगात् ।

(पं०-) पुनराशङ्काशेषपरिहारायाह 'न'= नैव, 'उपादानभेदोऽपि'= न केवलं व्यवहरणीयपित्रादिनिमित्तो वासनाभेदः किन्तु व्यवहारकोपादानकारणविशेषोऽपि, वासनाभेदहेतुः,' अत्र'= एकस्वभावे वस्तुनि अनेकव्यवहारासाङ्गत्ये प्रेरिते, 'परिहारः'=उत्तरम् । परो हि पुत्रादेर्वासनाभेदनिमित्तत्वे प्रतिहते सति कदाचिदिदमुत्तरमभिदध्यात् यदुत "येयमेकस्मिन्नपि देवदत्तादावनेकेषां तं प्रति पितृपित्रादिरूपतया व्यवस्थितानां या पुत्रादिवासनाप्रवृत्तिः, सा तेषामेव स्वसन्तानगतमनस्कारलक्षणोपादानकारणभेदनिबन्धना, न व्यवह्रियमाणवस्तुस्वभावभेदनिमित्तेति"; एतदपि अनुत्तरमेव । कुत इत्याह 'एकस्य' देवदत्तादेः, 'अनेकनिमित्तत्वायोगात्'= अनेकेषां पितृ-पुत्रादिव्यवहर्तृणां सहकारिभावायोगात् । ते हि तमेकं सहकारिणमासाद्य उपादानभेदेऽपि तथावासनावन्तो भवन्ति, न च तस्य तदनुगुणतावत्स्वभावद्वरिद्रस्यानेकसहकारित्वं युक्तम् ।

'उपादानभेदवश व्यवहारभेद' की बौद्धयुक्तिः—

वस्तु एकस्वभाव होने पर इससे अनेक वासना एवं व्यवहार होने की अनुपपत्ति है। इस असङ्गति के परिहारार्थ बौद्धों का शेष उत्तर यह है कि, "अनेक वासनाओं के प्रति सिर्फ व्यवहार-विषयभूत पिता आदि एक स्वभाव वाला पुरुष ही निमित्त नहीं है, किन्तु 'पिता' आदि शब्द से व्यवहार करने वाले अनेक उपादानभूत पुरुष भी कारण है; और वे अनेक होने से, अनेक वासनाओं एवं अनेक व्यवहारों को जन्म दे सकते हैं।" तात्पर्य व्यवहार-योग्य मूल पुरुष एक ही स्वभाव वाला रहने पर वह अपने पुत्रादि की 'पिता', 'पुत्र', 'चाचा', इत्यादि अनेक वासनाओं में निमित्त नहीं बन सकता,– यह खण्डन होने पर भी बौद्ध कदाचित् यह उत्तर दे सकते हैं कि "किसी देवदत्तादि एक ही पुरुष के प्रति जो पिता, पुत्र, चाचा, आदि रूप से संबद्ध हैं, वे उसके प्रति 'यह मेरा पुत्र', 'मेरा पिता', 'मेरा भतीजा', इत्यादि ख्याल रखते आये हैं, अर्थात् उस देवदत्तादि के प्रति उनके दिल में व्यवहारोपयोगी ऐसी पुत्र-पिता भतीजा वगैरह की वासना प्रवृत्त होती है। यह अनेक वासनाओं की प्रवृत्ति अर्थात् उत्पत्ति व्यवहार विषय-भूत देवदत्तादि एक वस्तु के अनेक स्वभावों की अपेक्षा नहीं रखती है; किन्तु 'पुत्र'-'पिता' आदि व्यवहार करने वाले पिता-पुत्रादि की क्षणधारा में अन्तर्गत मनस्कार यानी 'पुत्र' अनुभव, 'पिता' अनुभव, आदि की अपेक्षा रखती है। यह इस प्रकार,–वस्तुमात्र क्षणिक होती है, लेकिन प्रतिक्षण समान वस्तु उत्पन्न होती रहने से स्थिर-सी मालूम पड़ती है। पूर्व पूर्व क्षण की वस्तु उत्तरोत्तर क्षण की वस्तु के प्रति उपादान कारण कही जाती है। अब यहां देवदत्त का जो पिता है वह भी प्रतिक्षण पिता रूप में उत्पन्न होता है; और जिस क्षण में उसे देवदत्त के प्रति 'पुत्र' शब्द से व्यवहार-कर्ता के रूप से उत्पन्न होना है, उसकी पूर्व क्षण में उसे पुत्रवासना के स्वरूप में जन्म पाना होगा; और इस वासना के लिए इसकी भी पूर्व क्षण में 'पुत्र'-उल्लेखी अनुभव-कर्ता के रूप में उसे उत्पन्न होना होगा। तब यह आया कि देवदत्त के पिता की जो क्षण धारा चलती है उसके अन्तर्गत पुत्रोल्लेखी अनुभवक्षण यानी मनस्कारक्षण स्वरूप उपादानकारण विशेष से पुत्रवासना-क्षण रूप कार्य की प्रवृत्ति (उत्पन्न) हुई। एवं देवदत्त के पुत्र की क्षण धारा में उपादान स्वरूप पितृ-उल्लेखी अनुभवक्षण से कार्य रूप पितृवासना प्रवृत्त हुई। इन भिन्न भिन्न उपादान भूत वासनावश ही 'पुत्र', 'पिता' आदि अनेक व्यवहार होते हैं, नहीं कि व्यवहार विषय भूत देवदत्त वस्तु के पुत्रत्व पितृत्वादि अनेक स्वभाव रूप निमित्तवश '

(ल०-अभ्युपगमविरोधः-) न दर्शनादेवाविरोधः इति, अभ्युपगमविचारोपपत्तेः । न च सोऽप्येवं न विरुध्यत एव, तदेकस्वभावत्वेन विरोधात् ।

(पं०-)अथ स्यात् 'न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम; दृश्यते हि एकस्मिन्नविभागवति सहकारिणि स्वोपादानभेदादनेकवासनाप्रवृत्तिः' एतत्परिहारायाह 'न'=नैव, 'दर्शनादेव' प्रत्यक्षज्ञानरूपात् केवलाद् 'अविरोधः' प्रस्तुतवासनाभेदस्य 'इति'; कुत इत्याह 'अभ्युपगमविचारोपपत्तेः', अभ्युपगमो हि विचारयितुमुपपन्नो, न दर्शनम् । यद्येवं ततः किमित्याह 'न च'=नैव, 'सोऽपि' अभ्युपगमः 'अपिशब्दाद् दर्शनं च, 'एवम्'=एकस्यानेकसहकारित्वाभ्युपगमे न विरुध्यत एव, किन्तु विरुध्यत एव । कथमित्याह 'तदेकस्वभावत्वेन'=व्यवह्रियमाणवस्तुनो निरंशैकस्वभावत्वेन, 'विरोधाद्'=निराकरणाद्, अनेकसहकारित्वाभ्युपगमस्य तस्यानेकस्वभावाक्षेपकत्वात् (प्र०....भावापेक्षित्वात्) ।

'निमित्तभेद के विना व्यवहार भेद अशक्य' का जैनमतः—

केवल उपादानों की विविधता से वासना-वैविध्य का बौद्धों का यह समर्थन युक्तियुक्त नहीं है; क्योंकि अनेक उपादानों के अपने अपने कार्य के प्रति एक ही स्वभाव वाली वस्तु सहकारी कारण नहीं बन सकती; जैसे कि उन 'पुत्र' 'पिता' आदि अनेक व्यवहार करने वालों के लिए एक ही स्वभाव वाला देवदत्त सहकारी कारण बन सकता नहीं है । आप तो मानते हैं कि 'वे देवदत्त के पिता पुत्रादि उपादान रूप से भिन्न भिन्न हैं इसलिए एक ही देवदत्त रूप सहकारी पाने पर भी वैसी वैसी वासना वाले बनते हैं', किन्तु स्थिति ऐसी है कि उन भिन्न भिन्न वासनाओं के लिए आवश्यक है वैसे वैसे अनेकस्वभाव, तो उन स्वभावों से रहित देवदत्तादि एक वस्तु उन अनेक वासनाओं के प्रति सहकारी कारण कैसे हो सकती है ? होना अनुपपन्न है ।

बौद्धों के स्वाभ्युपगम में विरोधः—

इस अनुपपत्ति पर बौद्ध अगर कहें कि "इसमें अनुपपत्ति क्या है ? प्रत्यक्ष-दृष्ट वस्तु में अनुपपन्न जैसा कुछ नहीं है । देखते हैं कि एक ही निरंश अखण्ड सहकारी कारण उपस्थित होने पर अनेक व्यवहर्ता पुरुष स्वरूप उपादानों से अनेक अपनी अपनी वासनाएँ उत्पन्न होती हैं । तब उत्पन्न होने में अनुपपत्ति यानी विरोध कहां रहा ?" तो इस बौद्ध कथन के निराकरणार्थ कहते हैं कि केवल प्रत्यक्ष के बल पर एक सहकारिप्रयुक्त इन वासनाओं का वैविध्य होने में अविरोध प्रस्तुत नहीं किया जा सकता कारण यह है कि यहां प्रत्यक्ष दर्शन कैसा होता है, कैसा नहीं, इसके परामर्श का प्रसङ्ग नहीं है, किन्तु अभ्युपगम (सिद्धान्त स्वीकार) किस प्रकार का सङ्गत हो सकता है यह उपक्रान्त है । कहिए 'हो इससे क्या ?,' उत्तर यह है कि दर्शन ही नहीं, बल्कि अभ्युपगम भी, एक ही वस्तु को अनेक कार्यों में सहकारी कारण मान लेने पर, सङ्गत नहीं हो सकता है, किन्तु विरुद्ध हो है; क्योंकि जिस देवदत्तादि वस्तु का 'पुत्र' 'पिता' इत्यादि रूप से व्यवहार करना चाहते हैं वह आपके मत से निरंश एकस्वभाव होने से ही इसमें अनेक व्यवहारों के प्रति सहकारीभाव प्रतिषिद्ध हो जाता है । कारण यह है कि अनेकों के प्रति सहकारीभाव का स्वीकार ही उसमें अनेक स्वभावों का अवश्यंभाव स्थापित करता है । एक ही वस्तु अलबत्ता अनेक कार्यों के प्रति सहकारी कारण हो सकती है, लेकिन जिस स्वभाव से एक कार्य के प्रति सहकारी कारण होगी, उसी स्वभाव से अन्य के प्रति नहीं, अन्यथा दोनों कार्य समान हो जायेंगे । फलतः

(ल०-अनेकान्तपक्षेऽदूषणम्-) न चैकानेकस्वभावेऽप्ययमिति, तथादर्शनोपपत्तेः । न हि पितृवासनानिमित्तस्वभावत्वमेव पुत्रवासनानिमित्तस्वभावत्वं, नीलपीतादावपि तद्भावापत्तेरिति परिभावनीयमेतत् ।

(पं०-) अथानेकान्तेऽप्येकान्तपक्षदूषणप्रसङ्गपरिहारायाह 'न च'=नैव 'एकानेकस्वभावेऽपि' अनेकान्तरूपे, एकान्तरूपे विरोध एवेति 'अपि' शब्दार्थः, 'अयमिति'=व्यवहारविरोध इति । कुत इत्याह 'तथादर्शनोपपत्तेः'=यथा वस्तु (प्र०....स्व)म्युपगतं तथादर्शनेन व्यवहारस्य 'उपपत्तेः'=घटनात् । तामेवाह 'न हि पितृवासनानिमित्तस्वभावत्वमेव', एकानेकस्वभावे वस्तुनि, 'पुत्रवासनानिमित्तस्वभावत्वं', स्वभाववैचित्र्यादारिद्र्यात् । विपक्षे बाधामाह 'नीलपीतादावपि' विषये, 'तद्भावापत्तेः'=नीलवासनानिमित्तस्वभावत्वमेव पीतादिवासनानिमित्तस्वभावत्वमित्यापत्तेः 'इति' । 'भावनीयं'=परिभावनीयम् 'एतत्', यदुत 'एकमेव' वस्तु विचित्रवासनावशेन (प्र०....वासनाधानेन) विचित्रव्यवहारप्रवृत्तिहेतुरिति ।' न भवतीत्यर्थः; अन्यथा तत एव सर्वव्यवहारसिद्धेः किं जगद्वैचित्र्याभ्युपगमेन ?

एक से अनेक कार्यों का निर्माण जो देख रहे हैं यह उसमें अनेक स्वभाव होने पर ही उपपन्न है, यह निर्विवाद स्वीकृत करना समुचित है ।

अनेकान्त पक्ष में दूषण नहीं:—

प्रश्न होगा कि क्या अनेकान्त पक्ष में एकान्त पक्ष की तरह दूषण प्रसक्त नहीं है ? उत्तर यह है कि अनेकान्त पक्ष में तो वस्तु *एकानेकस्वभाव मान्य है, वस्तु द्रव्य रूप से* एकस्वभाव, और अनेकधर्म रूप से अनेकस्वभाव होती है । तब एक ही वस्तु से अनेक स्वभाववश अनेक व्यवहार होने में किसी प्रकार का विरोध नहीं है; और यह वैसे दर्शन से सिद्ध है। वस्तु जैसी स्वीकृत है, दर्शन उसी प्रकार का होता है और इससे व्यवहार की सङ्गति हो जाती है । यह इस प्रकार,-वस्तु जब एकानेक स्वभाववाली है तब वस्तु में पितृवासना के प्रति निमित्त होने का जो स्वभाव है वही पुत्रवासना के प्रति निमित्त होने का स्वभाव नहीं किन्तु उससे भिन्न ही स्वभाव है । कारण स्पष्ट है कि स्वभाववैचित्र्य यानी अनेक स्वभावों का उस वस्तु में दारिद्र्य नहीं है, अभाव नहीं है । अभाव यदि होता, तब इसका तो अर्थ यह हुआ कि इसमें एक ही स्वभाव होता, और एक ही स्वभाव से अनेक वासना में निमित्त होने पर फिर नील पीतादि में वही आपत्ति ! अर्थात् नील अपने एक ही स्वभाव से नील वासना की तरह पीतादि वासना में निमित्त क्यों न हो ? नीलवासना का निमित्तभूत स्वभाव वही पीतवासना का भी निमित्तभूत स्वभाव होने की आपत्ति लगेगी । यह चिन्तनीय है; तात्पर्य, एक ही स्वभाव वाली वस्तु सिर्फ विचित्र वासनाओं के बल पर विचित्र व्यवहारों की प्रवृत्ति में कारण नहीं बन सकती है । अगर ऐसा हो तब तो विविध वासनाओं के बल पर ही समस्त व्यवहार होते हैं वैसा सिद्ध होगा ! फिर जगत् का वैचित्र्य क्यों माना जाय ? "समस्त जगत घड़ा, वस्त्र, मकान इत्यादि अनेक रूप नहीं किन्तु केवल एक किसी घड़े आदि स्वरूप है, और 'यह घड़ा है', 'यह वस्त्र है', 'यह मकान है', इत्यादि विविध अनुभव एवं व्यवहार तो विविध वासना वश होते हैं" ऐसा मान सकते हैं । अगर विविध व्यवहारों में निमित्त होने की वजह विचित्र जगत यानी जगद्-वैचित्र्य मानना है, तब तो उपादान के अलावा भिन्न भिन्न निमित्त भी कारणभूत होना सिद्ध होता है ।

(ल०–एकान्तपक्षे केषाञ्चित्कार्याणामहेतुकत्वापत्तिः–) एवम् उभयथापि उपादाननिमित्त-भेदेन न सर्वथैकस्वभावादेकतोऽनेकफलोदयः केषाञ्चिदहेतुकत्वापत्तेः, एकस्यैकत्रोपयोगेनापरत्राभावात्।

(पं०–) प्रकृतसिद्धिमाह 'एवम्'=उक्तनीत्या; 'उभयथापि'=प्रकारद्वयेनापि, तदेवाह 'उपादान-निमित्तभेदेन'=उपादानभेदेन, निमित्तभेदेन च, 'न'=नैव, 'सर्वथैकस्वभावतः'=एकान्तैकस्वभावात्, 'एकतः'=एकस्माद्धेतोः, 'अनेकफलोदयः', अनेकस्य ऐहिकामुष्मिकरूपस्य, फलस्य=कार्यस्य, (उदयः)=प्रसवः, यथा परैः परिकल्प्यते । तेषां हि किल,–"रूपालोकमनस्कारचक्षुर्लक्षणा रूपविज्ञानजननसामग्री; यथोक्तं 'रूपालोकमनस्कारचक्षुर्भ्यः संप्रवर्त्तते । विज्ञानं मणिसूर्यांशुगोस(प्र०...शु)कृद्भ्य(गोशकृद्भ्य)इवानलः'॥ इति । अत्र च रूपविज्ञानजनने प्राच्यज्ञानक्षणलक्षणो मनस्कार उपादानहेतुरिति; शेषाश्च रूपादित्रितयलक्षणा निमित्तहेतवः । एवं रूपालोकचक्षुषामपि स्वस्वप्राच्यक्षणाः स्वस्वकार्यजनने उपादानहेतवः, शेषत्रितयं च निमित्तहेतुरिति । एवमेकस्मादेकस्वभावादेव वस्तुनोऽन्येनान्येनोपादानहेतुना अन्यैश्चान्यैश्च निमित्तहेतुभिः सहायैरनेककार्योदयः सर्वसामग्रीषु योज्यत इति । एतन्निषेधानभ्युपगमे बाधकमाह 'केषामि'त्यादि । एकतोऽनेकफलोदये 'केषाञ्चित्' फलानाम्, 'अहेतुकत्वापत्तेः'=निर्हेतुकत्वापत्तेः । कथमित्याह 'एकस्य' हेतुस्वभावस्य, 'एकत्र' फले, 'उपयोगेन'=व्यापारेण, 'अपरत्र' फलान्तरे, 'अभावात्' उपयोगस्य ।

एकान्तपक्ष में कई कार्य निर्हेतुक होंगेः—

इससे प्रस्तुत में यह सिद्ध होता है कि उक्त रीति अनुसार दोनों प्रकार अर्थात् उपादान भी भिन्न भिन्न और निमित्त भी भिन्न भिन्न होने के कारण, एक ही निमित्त से यानी एकान्त एकस्वभाव वाले हेतु से ऐहिक पारलौकिक अनेक कार्यों का जन्म नहीं हो सकता है, जैसा कि बौद्ध मानते हैं। उनके मत में 'रूप, प्रकाश, मनस्कार और चक्षु—ये रूपविज्ञान पैदा करने की सामग्री है; क्योंकि कहा गया है कि जिस प्रकार सूर्यकान्तमणि, सूर्यकिरण और गोबर से आग उत्पन्न होती है, वैसे रूप, प्रकाश, मनस्कार एवं चक्षु से विज्ञान उत्पन्न होता है। यहां इस सामग्री के अन्तर्गत 'मनस्कार' नाम है पूर्व की ज्ञानक्षण का; और उत्तर विज्ञान में वह उपादान कारण है, तथा रूप आदि तीन निमित्त कारण हैं। इस रीति से उन रूप, प्रकाश और चक्षु की भी पूर्व पूर्व रूपक्षण, प्रकाशक्षण, एवं चक्षुक्षण अपने अपने उत्तर रूपादिक्षणात्मक कार्य के प्रति उपादान कारण है, और शेष तीन निमित्त कारण हैं। इस प्रकार एक ही स्वभाव वाली एकैक वस्तु से अन्यान्य उपादान कारणवश एवं अन्यान्य निमित्त कारणों की सहाय पाने पर अनेकविध कार्यों की उत्पत्ति सकल सामग्री के साथ संबद्ध होती है।'

बौद्धों की यह मान्यता अयुक्त होने का पूर्व में सिद्ध कर आये हैं। एक ही स्वभाव वाली वस्तु से अनेकविध कार्य, चाहे उपादान एवं निमित्त भिन्न भिन्न हों, पैदा नहीं हो सकते हैं। इस उत्पत्ति का निषेध अगर नहीं स्वीकार्य है, तब बाधक यह उपस्थित होता है कि एक से अनेक कार्यों की उत्पत्ति मानने में तो इनमें से कई कार्य निर्हेतुक ठहरेंगे। क्यों कि कारणभूत उस एक का एक उत्पादक-स्वभाव एक कार्य में उपयुक्त तो हो गया, फिर अन्य कार्य में अब उसका व्यापार नहीं चलेगा।

(ल०-) अनेककार्यकरणैकस्वभावत्वकल्पना तु शब्दान्तरेणैतदभ्युपगमानुपातिन्येव ।

(पं०-) आशङ्कान्तरपरिहारायाह 'अनेककार्यकारणैकस्वभावत्वकल्पना तु'=एकोऽपि वस्तु स्वभावोऽनेककार्यकरणस्वभावः, ततो न केषाञ्चिदहेतुकत्वमित्येषा पुनः कल्पना, 'शब्दान्तरेण'=अस्मदभ्युपगमाद् 'एकमनेकस्वभावमि'त्यस्माच्छब्दान्तरेण 'एकमनेककार्यकरणस्वभावमे'वं लक्षणेन, 'एतदभ्युपगमानुपातिन्येव'=एकमनेकस्वभावमित्यस्मन्मतानुसारिण्येव । न ह्येकस्मात् कथञ्चित्स्वभावभेदमन्तरेणानेकफलोदय इति प्राक् चर्चितमेव ।

(ल०-) निरूपितमेतदन्यत्र,—

(१) यतः स्वभावतो जातमेकं नान्यत्ततो भवेत् । कृत्स्नं प्रतीत्य तं भूतिभावत्वात् तत्स्वरूपवद् ॥

(२) अन्यच्चेवंविधं चेति यदि स्यात्किं विरुध्यते । तत्स्वभावस्य कात्स्न्येंन हेतुत्वं प्रथमं प्रति ॥

इत्यादिना ग्रन्थेनेति नेह प्रतन्यते ।

तदेवं निरुपचरितयथोदितसंपत्सिद्धौ सर्वसिद्धिरिति व्याख्यातं प्रणिपातदण्डकसूत्रम् ।

(पं०-) 'निरूपितम्', 'एतद्'=अनन्तरोक्तम्, 'अन्यत्र'=अनेकान्तजयपताकायाम् । यथा निरूपितं तथैवाह 'यत' इत्यादिश्लोकद्वयं, 'यतो'=यस्मात्, 'स्वभावतो' वस्तुगतरूपरसादिरूपादुपादानभूतात्, 'जातम्'=उत्पन्नम्, 'एकं' कार्यं वस्त्ररागादि, 'न' 'अन्यत्'=द्वितीयं स्वग्राहकप्रत्यक्षादिकं सहकारिभावेन, 'ततो' वस्तुस्वभावात्, 'भवेत्'=जायेत । हेतुमाह 'कृत्स्नं'=समस्तं, 'प्रतीत्य'=आश्रित्य, 'तं'=वस्तुस्वभावं, 'भूतिभावत्वाद्'=भवनस्वभावत्वात् । आद्यस्यैव कार्यस्य दृष्टान्तमाह 'तत्स्वरूपवद्'=यथा स्वभावस्य हेतुभूतस्याधिकृतैककार्यगतस्वभावस्य वा स्वरूपं स्वभावकात्स्न्याश्रयेणैव भवति, तथा प्रथममपि कार्यमिति । पराभिप्रायमाशङ्क्याह 'अन्यच्च'=द्वितीयं च, कार्यमिति गम्यते, 'एवंविधं च'=तद्धेतुजन्यं च, 'इति'=एतद्,

---

अनेककार्यकरण-एकस्वभाव मानने में दोषः—

अगर आप कहे कि 'वह एक भी वस्तु स्वभाव एक ही नहीं किन्तु अनेक कार्य करने की सामर्थ्य रखने वाला मान लेते हैं, फिर उसका व्यापार दूसरे कार्यों के प्रति भी अस्खलित रहने से वे अहेतुक होने की आपत्ति नहीं है,' तब इस मान्यता का अर्थ तो यही हुआ कि आप दूसरे शब्दों से हमारे मत का ही स्वीकार कर रहे हैं। हमारा मत यह है कि प्रत्येक वस्तु अनेक स्वभाव वाली होती है, जब आप मान रहे हैं कि एक वस्तु अनेक कार्यों को पैदा करने के स्वभाव वाली है, और यह मान्यता तो अनेक स्वभाव वाली एक वस्तु के हमारे मत का ही अनुसरण कर रही है। मत कहिये कि 'हम तो अनेक स्वभाव नहीं किन्तु एक ही स्वभाव अनेक कार्य सामर्थ्य वाला मान रहे हैं इतना फर्क है;' क्यों कि अनेक कार्य सामर्थ्य भिन्न भिन्न अनेक स्वभाव रूप ही हैं। ऐसा अगर न हो तब तो वैसे एक ही अनेक कार्य सामर्थ्य से कार्यसांकर्य की आपत्ति खड़ी होगी; अर्थात् उदाहरणार्थ 'पिता' व्यवहार के स्थान में 'पुत्र' व्यवहार भी क्यों न हो ? अनेक कार्य करने का सामर्थ्य तो वहां उपयुक्त हो रहा है। इसलिए मानना होगा कि सामर्थ्य यानी स्वभाव एक नहीं किन्तु भिन्न भिन्न है जो कि भिन्न भिन्न अनेक कार्यों को जन्म देते हैं। कथंचित् भिन्न भिन्न स्वभाव यानी स्वभावभेद के सिवा एक से अनेक कार्य उत्पन्न नहीं हो सकते हैं। इसकी चर्चा पहले कर चुके हैं।

'यदिस्यात्'=यदि भवेद्, किं विरुध्यते ? न किञ्चित्, तदपि भवत्विति भावः। अत्रोत्तरं 'तस्स्वभावस्य'= वस्तुगतरूपरसादिरूपस्य, 'कार्त्स्न्येन'=सर्वात्मना, 'हेतुत्वं'=निमित्तत्वं, 'प्रथमं प्रति'=आदिकार्यमाश्रित्य, न विरुध्यते। इदमुक्तं भवति–सर्वात्मनोपयुक्तत्वाद्यकार्य एव, कुतस्ततः कार्यान्तरसंभवः ? तत्संभवे च न प्रथमकार्ये तस्य कार्त्स्न्योपयोगः, इति बलादनेकरूपवस्तुसिद्धिरिति। 'आदि' शब्दादन्यकारिकाग्रन्थो दृश्यः।

स्तोत्र–तत्पठनस्वरूपम्

(ल०–स्तोत्रतत्पठनयोः स्वरूपम्–) तदेतदसौ साधुः श्रावको वा यथोदितं पठन् पञ्चाङ्ग-प्रणिपातं करोति, भूयश्च पादपुञ्छनादिनिषण्णो यथाभव्यं (प्र०...यथामात्रं) स्थानवर्णार्थालम्बन-गतचित्तः, सर्वसाराणि यथाभूतानि असाधारणगुणसङ्गतानि भगवतां दुष्टालङ्कारविरहेण प्रकृष्ट-शब्दानि, भावबृद्धये परयोगव्याघातवर्जनेन परिशुद्धामापादयन् योगवृद्धिम्, अन्येषां सद्विधानतः सर्वज्ञप्रणीतप्रवचनोन्नतिकराणि, भावसारं परिशुद्धगम्भीरेण ध्वनिना सुनिभृताङ्गः सम्यगनभिभवन्

अनेकान्तजयपताका के प्रस्तुत-साधक श्लोकः—

पूर्वोक्त वस्तु की अन्यत्र 'अनेकान्तजयपताका' ग्रन्थ में विचारण की गई है। किस प्रकार यह बतलाते है,—तन्तु प्रमुख वस्तु के रूपरसादि स्वरूप स्वभाव उपादानभूत है उससे उत्पन्न होने वाले वस्त्र के रूप आदि कार्य के प्रति; और उस वस्त्रवर्णादि कार्य की अपेक्षा दूसरा कोई कार्य है उस तन्तुरूप का ग्राहक प्रत्यक्ष; उसके प्रति यह तन्तु रूप सहकारी भाव से कारण है लेकिन उसी स्वभाव से कारण नहीं है। तात्पर्य, तन्तुवर्ण से वस्त्रवर्ण भी उत्पन्न होता है, एवं तन्तुवर्ण का प्रत्यक्ष भी उत्पन्न होता है; इन दोनों कार्य के प्रति तन्तुवर्ण उपादान-सहकारिभाव से कारण है लेकिन वह जिस स्वभाव से वस्त्रवर्ण के प्रति कारण है उसी स्वभाव से स्वप्रत्यक्ष के प्रति नहीं। कारण यह है कि उस एक वस्तुस्वभाव के कोई विभाग, कोई अंश नहीं है कि जिससे अमुक अंश को लेकर पहला कार्य हो और दूसरे अंश से दूसरा कार्य उत्पन्न हो; यह कारणवस्तु का स्वभाव एक अखण्ड है, और इस समस्त स्वभाव का आश्रय करके पहला कार्य उत्पन्न होता है; जैसे कि हेतुभूत स्वभाव का या कार्यवस्तुगत स्वभाव का स्वरूप उस समस्त स्वभाव को अवलम्बन कर पैदा होता है। यहां प्रश्न होगा,

प्र०—इस तन्तुवर्ण-प्रत्यक्षादि द्वितीय कार्य का स्वभाव ही ऐसा अगर मान ले कि यह उसी कारण-भूत तन्तुवर्णादिस्वभाव से जन्य है तब क्या विरोध है ? कोई बाधा दीखती नहीं है तो कारणगत एक ही स्वभाव से दूसरा भी कार्य हो।

उ०—लेकिन सोचनीय यह है कि तब तो तन्तुगत रूपरसादि के एक स्वभाव में रही हुई कारणता प्रथम कार्य वस्त्रगत रूपरसादि के हिसाब से सर्वात्मना कहां उपयुक्त हुई ? अर्थात् सर्वात्मना उपयुक्त होना बाधित है। तात्पर्य यह प्राप्त होता है कि कारण-स्वभाव प्रथम कार्य में ही सर्वात्मना सर्वांशतया उपयुक्त हो जाने से अब इससे दूसरा कार्य हो सकना सम्भवित नहीं; और अगर संभवित है तब कहना होगा कि प्रथम कार्य में उसका सर्वांशतः उपयोग नहीं हुआ। फलतः बलात् प्राप्त होगा कि यह तन्तुगत रूपादि अनेक कार्य-जनन स्वभाव वाला है, अर्थात् वस्तु अनेक रूप है, अनेक धर्मात्मक है।

इसी प्रकार 'अनेकान्तजयपताका' ग्रन्थ के अन्य श्लोक भी देखने योग्य हैं।

वस्तु अनेकरूप होने से यह सिद्ध होता है कि अरिहन्त परमात्मा में भी पूर्वोक्त अनेक गुणसंपन्न् अनौपचारिक है, वास्तविक है। इस सिद्धि से सर्व सिद्ध हुआ। यह प्रणिपातदण्डक-सूत्र का विवेचन हुआ।

गुरुध्वनिं तत्प्रवेशान् , अगणयन् दंशमशकादीन् देहे, योगमुद्रया रागादिविषपरममन्त्ररूपाणि महास्तोत्राणि पठति ।

(पं०–) 'यथे' त्यादि, 'यथाभव्यं' (पं०...यथाभावं)'=यथायोग्यं, 'स्थानवर्णार्थालम्बनगतचित्तः' स्थानं=योगमुद्रादि, 'वर्णाः'=चैत्यवन्दनसूत्रगताः अर्थः=तस्यैवाभिधेयम् (प्र०....०भिधेयः), आलम्बनं= जिनप्रतिमादि, तेषु, गतम्=आरूढं, चित्तं, यस्य स तथा ।.यो हि यत्स्थानवर्णार्थालम्बनेषु मध्ये मनसावलम्बितुं समर्थ. तद्गतचित्तः सन्नित्यर्थः ।

स्तोत्र कैसे हो और किस रीति से पढ़ने चाहिए ?:—

प्रणिपातदण्डक सूत्र की संपदाएँ अर्हद् भगवान् की निरुपचरित यानी अकाल्पनिक पारमार्थिक स्तुति का साधन हैं, इसलिए इस सूत्र को साधु या श्रावक पूर्वोक्त रीति से पढ़ता है और पढ़कर पंचाङ्ग नमस्कार करता है । इस तरह करने के बाद पुनः पादपुंछन नामक छोटे आसन आदि पर बैठ कर यथायोग्य स्थान–वर्ण–अर्थ–आलम्बन में चित्त रखकर योगमुद्रादि आसन, सूत्र-स्तोत्रों के अक्षर, उनसे कथित पदार्थ, एवं प्रतिमादि आलम्बनों में से जिनमें मन लगा सकता हो उनमें मन लगा कर महास्तोत्रों को बोलता है। ⓐवे स्तोत्र १ सर्वसार, २ यथाभूत, ३ असाधारणगुण–संयुत, ४ भगवान के प्रति अशोभनीय अलंकाररहित उत्कृष्ट शब्दवाले, ५ अन्यों को धर्मबीजादि प्राप्त कराने द्वारा जिनप्रवचनोन्नतिकारी, एवं ६ रागादिविष निवारक परममन्त्र रूप होने चाहियें ।

ⓑस्तोत्रपठन भी–१ भाववृद्धि के लिए अन्य योग के व्याघात का परिहार करते हुए योगवृद्धि का संपादन करने वाला चाहिए; २ भावप्रधान, ३ विशुद्ध एवं गम्भीर ध्वनियुक्त चाहिए और ४ यहां किसी की ऊंची ध्वनि के अन्तर्गत मिल जाने द्वारा उसका बिलकुल अभिभव न करता हुआ, होना चाहिए ।

ⓒ स्तोत्र पढ़ते हुए १ अङ्ग अत्यन्त स्वस्थ शान्त रहें, २ शरीर पर डांस-मच्छरादि लगने के प्रति ध्यान न दें, एवं ३ योगमुद्रा रखी जाए, यह आवश्यक है ।'

यहां तात्पर्य यह है कि, ⓐ'नमुत्थुणं' सूत्र को पूर्व कही गई विधि से पढ़ने के बाद पचाङ्ग प्रणिपात करना, और तदनन्तर आसन पर बैठ कर महास्तोत्रों को पढ़ना । 'बैठ कर' इसलिए कहा कि आगे स्तोत्रपठन 'सुनिभृत–अङ्ग' अर्थात् अङ्गोपाङ्ग अत्यन्त शान्त–स्वस्थ रखकर करना कहा है, वह अभ्यासी को ऐसी अभ्यस्त स्थिति में सुशक्य है । ⓑस्तोत्र पढ़ते समय चित्त कहां रखना ? यों तो स्थान (योगमुद्रा), वर्ण (स्तोत्राक्षर), अर्थ (स्तोत्र से कथित वस्तु), और मूर्ति आदि आलम्बन,–इन चारों में व्यवस्थित रहना है, किन्तु मन इन चारों का एक साथ अवलम्बन करने में असमर्थ है इसलिए कहा गया कि चित्त को यथायोग्य लगाना, मतलब, प्रधान रूप से अर्थ में याने स्तोत्र से वाच्य पदार्थ में उचित लेश्या के साथ तन्मय करना, और साथ साथ चित्त को इतना सावधान रखना कि योगमुद्रा का आसन बिल्कुल स्थिर रहे; वर्ण याने स्तोत्राक्षरों का उच्चारण अत्यन्त शुद्ध और स्पष्ट हो एवं समुचित न्यूनाधिक भार और विराम देकर उच्चारित हो, तथा दृष्टि आलम्बनभूत प्रतिमा या स्थापनाचार्यादि पर अत्यन्त स्थिर रहे । यहां संभव है किसी को स्तोत्र का अर्थ विज्ञात ही न हो, तब मन कहां लगावे ? इसलिए टीकाकार महर्षिने स्पष्ट किया कि जो जिस स्थान-वर्ण अर्थ-आलंबनों में से जिस पर मन को स्थिर रखने के लिए समर्थ है, वहां मन लगावे । इससे महास्तोत्र-पठन के फलस्वरूप योगवृद्धि और भाववृद्धि का लाभ होगा ।

(ल०—वन्दना शुभचित्तलाभार्था) एतानि च तुल्यान्येव प्रायशः, अन्यथा योगव्याघातः। तदङ्गस्य तद्परश्रवणम्, एवमेव शुभचित्तलाभः, तद् व्याघातोऽन्यथेति योगाचार्याः। योगसिद्धिरेव अत्र ज्ञापकम् द्विविधमुक्तं शब्दोक्तमर्थोक्तं च। तदेतदर्थोक्तम् वर्तते, शुभचित्तलाभार्थत्वाद् वन्दना या इति।

(पं०—) द्विविधमित्यादि, 'द्विविधं'=द्विप्रकारम्, 'उक्तं'=प्रवचनार्थादेशः। तदेव व्यनक्ति, 'शब्दोक्तं'=सूत्रादिष्टमेव, 'अर्थोक्तं'=सूत्रार्थयुक्तिसामर्थ्यगतम्। इति श्री मुनिचन्द्रसूरिभिः रचितललित-विस्तरापञ्जिकायां प्रणिपातदंडकः समाप्तः।

● महास्तोत्र कैसे होने चाहिए ? एतदर्थ कहा गया कि महास्तोत्र-(१)'सर्वसार' याने सभी स्तोत्रों में सारभूत,या सर्वथा सारभूत, तात्पर्य एकान्ततः सारभूत शब्द-अर्थवाले होने चाहिए जो कि प्रबल भाववृद्धि के प्रेरक हो; (२) 'यथाभूत'अर्थात् परमात्मा के काल्पनिक नहीं किन्तु यथावस्थित स्वरूप एवं गुणों के प्रतिपादक होने चाहिए, ताकि परमात्मपन की बाधक स्तुति न हो जाए; (३) 'अन्यासाधारणगुणसंगत'-अन्य जीव एवं कल्पित ईश्वरादि में प्राप्त न हो ऐसे असाधारण गुणों के प्रतिपादक हो एवं स्तोत्र रचना असाधारण गुण याने विशिष्ट काव्यालङ्कारों से सुशोभित हो; (४) 'उच्च उत्कृष्ट गम्भीर शब्दों से गुम्फित होने आवश्यक है, जिनमें भगवान को कोई अशोभनीय अलङ्कार-उपमादि न लगाया हो; (५) दूसरों को सुनकर भगवत्प्रशंसा-धर्मप्रशंसा रूप धर्मबीज आदि की प्राप्ति हो वैसे सर्वज्ञ श्रीजिनेन्द्रदेवप्रणीत शासन के प्रभावनाकारी; और (६) राग द्वेष स्वरूप आभ्यन्तर विष का नाश करने के लिए श्रेष्ठ मन्त्र समान महा-स्तोत्र होने चाहिए।

● ऐसे महास्तोत्रों को इस ढग से पढ़ना कि-(१) स्तोत्रोच्चारण रूप योग के अलावा अन्य कोई भी योग, जैसे कि इधर उधर देखना, कुछ भी प्रवृत्ति करना, इत्यादि से प्रस्तुत योग में बाधा न पहुँचे, वरन् इस अकेले योग में चित्तस्थापन अधिकतर दृढ होता रहने से अधिकाधिक विशुद्ध योगवृद्धि संपादित हो; यह भी भावोल्लास की उत्तरोत्तर वृद्धि करने के लिए आवश्यक है। अतः योगवृद्धि द्वारा शुभ भाव, शुभ अध्यवसाय, संवेगादि उत्तरोत्तर बढते रहने का पूरा लक्ष एवं प्रयत्न रहे; (२) स्तोत्रोच्चारण भी सिर्फ, शुष्क हृदय से, रट जाने के स्वरूप का नहीं किन्तु भावपूर्ण हो, अपूर्व अपूर्व हर्ष रूप संभ्रम, रोमा-ञ्चोत्थानादि से सपन्न हो, (३) आवाज भी शुद्ध, स्पष्ट, एवं गम्भीर यानी नाभि में से उठती हो, हृदय और कलेजे के कम्पन-संवेदन से युक्त हो; तथा (४) वहां के रहे हुए अन्य बोलने वाले पुरुषों की ऊंची आवाज का अभिभव न करे अर्थात् उसको दबा न दे, किन्तु उसके भीतर समा जाए, अन्त प्रविष्ट हो जाए, वैसी ध्वनि से स्तोत्रोच्चारण करना। यह इसलिए आवश्यक है कि उसकी उपेक्षा से या अन्यों के ध्वनि को दबा देने की वृत्ति से चित्त कलुषित होता है जो कि भावशुद्धि-भाववृद्धि में बाधक है।

● स्तोत्र पढ़ते समय कैसे रहना ? (१) अङ्ग बिलकुल शान्त स्वस्थ किया हुआ चाहिए, किन्तु आकुलव्याकुल नहीं, अन्यथा स्तोत्रपठन में एकाग्रता एवं भावोल्लास नहीं बढ़ेगा। (२) स्तोत्रपठन में इतनी तन्मयता होनी चाहिए कि डांस-मच्छर-मक्खी इत्यादि का दंश लक्ष में न आवे; इतनी शरीर के प्रति निरपेक्षता रहनी चाहिए। (३) एवं पूरा स्तोत्रपठन योगमुद्रा से यानी अन्योन्य अन्तरित अंगुली-अग्रभाग युक्त अंजली जोडकर, और पेट पर हाथों को लगा कर, करना चाहिए। इसमें परमात्मा के प्रति विनय-भाव, एकाग्रता, आसनसिद्धि, प्रार्थना-भाव, इत्यादि का पालन एवं वर्धन होता है।

(ल०—चैत्यवन्दनोपहासखण्डनम्–) एवं च सति तत्र किञ्चिद् यदुच्यते परैरुपहासबुद्धया प्रस्तुतस्यासारतापादनाय; तद्यथा—'अलमनेन क्षपणकवन्दनाकोलाहलकल्पेन अभाविताभिधानेन'; उक्तवदभाविताभिधानायोगात्, स्थानादिगर्भतया भावसारत्वात्, तदपरस्यागमबाह्यत्वात्, पुरुषप्रवृत्त्या तु तद्‌बाधायोगात्, अन्यथातिप्रसङ्गादिति न किञ्चिदेव ।

अनेक स्तोत्रों में अविरोधः—

प्र०—अन्यान्य अनेक स्तोत्र पढने में क्या वन्दना-योग में व्याघात नहीं होगा?

उ०—नहीं, ये सभी भिन्न भिन्न स्तोत्र प्रायः समान होते हैं; क्योंकि शब्दभेद होने पर भी वे सभी परमात्मा की गुण-स्तवना के एक ही भाव वाले होते हैं। अगर ऐसा न हो, तो योग का व्याघात होना संभवित है, क्योंकि भगवद्‌गुण-स्तवना से भिन्न प्रकार का भाव आ जाने से वंदनायोग में स्खलना होगी।

स्तोत्रश्रवण भी कार्यसाधक है:—

प्र०—जिसे स्तोत्र का बोध न हो, वह किस प्रकार वन्दना का लाभ उठा सकता है?

उ०—स्तोत्र से अनभिज्ञ पुरुष भी अन्य तज्ज्ञ पुरुष द्वारा पढे जा रहे स्तोत्रों का श्रवण करे। इसमें भी स्वयं स्तोत्रपठन के मुताबिक ही शुभ चित्त याने प्रशस्त भावोल्लास का लाभ होता है। जो कि वन्दना के फलरूप में इष्ट है। अगर श्रवण भी न किया जाए तो वन्दन-योग का व्याघात होगा ऐसा योगाचार्य कहते हैं। इसलिए स्तोत्रश्रवण से भी वन्दनयोग पूर्ण करना चाहिए। वह सफल होता है इसमें प्रमाण योगसिद्धि है। प्रमाण दो प्रकार के होते हैं शब्दोक्त याने प्रवचनादेश अर्थोक्त याने सामर्थ्यलभ्य; एक तो शब्दशः शास्त्र-सूत्र से ज्ञापित होता है और दूसरा अर्थतः निर्दिष्ट होता है, युक्ति-अर्थापत्ति से ज्ञापित किया जाता है। यहां स्तोत्रों का, पठन की तरह, श्रवण शब्दशः उल्लिखित नहीं है, किन्तु अर्थतः प्राप्त होता है अर्थात् अर्थतः योग सिद्धि से ज्ञापित होता है कि श्रवण भी वन्दनायोग का पूरक है। फल के द्वारा यह ज्ञात हो सकता है। वन्दनायोग का फल है शुभ चित्त का लाभ, और यह स्वयं पठन की तरह श्रवण से भी प्राप्त होता है। इससे सूचित होता है कि श्रवण द्वारा वन्दन योग अव्याहत बनता है।

चैत्यवन्दन का उपहास अनुचित है:—

शुभ चित्त का लाभ चैत्यवन्दन का फल होने से, जो इतरों के द्वारा उपहासबुद्धि से वन्दना के विधान की इस प्रकार असारता प्रतिपादित की जाती है कि 'श्रमणों द्वारा कराते हुए इस वन्दना के कोलाहल याने भावविहीन सूत्र स्तोत्र पठन से क्या? वह तो शुष्क नटगीत-सा अभावित भावविहीन रटन होने से निष्फल है', यह सोपहास प्रतिपादन गलत है। क्योंकि पहले कहा है इसके अनुसार यह स्तोत्र-पठन कोई भावरहित संभाषण नहीं है। वह तो स्थान, वर्ण, इत्यादि योगों से घटित होने को वजह से भावप्रधान है। जो भावप्रधान नहीं है अर्थात् जिसमें हार्दिक प्रशस्त भाव प्रधान रूप से संमिलित नहीं, वह तो जिनागमबाह्य है, जिनागम से विहित नहीं। इस प्रकार जब आगमविहित एवं भावप्रधान वन्दनादि-प्रवृत्ति से मोक्षोपयोगी शुभचित्त फलरूप से प्राप्त होता है तब उसे निष्फल कैसे कह सकते हैं? यदि कहें 'यह तो पुरुष मात्र की प्रवृत्ति अर्थात् ऐच्छिक प्रवृत्ति होने से शुभ भाव होना असंभवित है', तब यह भी ठीक नहीं, क्योंकि तब तो वन्दना ही क्यों, और किसी भी प्रवृत्ति में अतिप्रसंग होगा, वहां भी शुभ भाव बाधित असंभवित होने की आपत्ति खड़ी होगी। अतः ऐसे आक्षेप तुच्छ हैं, निर्युक्तिक हैं।

प्रणिपातदण्डक—'नमोत्थुणं' सूत्रव्याख्या समाप्त।

'अरिहंत-चेइयाणं०' (अर्हच्चैत्येभ्यः)

(ल०—सहृदयनटवद् भावपूर्णचेष्टा) एवंभूतैः स्तोत्रैर्वक्ष्यमाणप्रतिज्ञोचितचेतोभावमापाद्य पञ्चाङ्गप्रणिपातपूर्वकं प्रमोदवृद्धिजनकानभिवन्द्याचार्यादीनाऽऽगृहीतभावः सहृदयनटवद् अधिकृतभूमिका संपादनार्थं चेष्टते वन्दनासंपादनाय । स चोत्तिष्ठति जिनमुद्रया, पठति चैतत् सूत्रम् अरिहंत-चेइयाणं ति ।

(अरिहंतचेइयाणं करेमि काउस्सग्गं वंदणवत्तियाए-पूयणवत्तियाए-सक्कारवत्तियाए-सम्माणवत्तियाए-बोहिलाभवत्तियाए-निरुवसग्गवत्तियाए, सद्धाए-मेहाए-धिइए-धारणाए-अणुप्पेहाए वड्ढमाणीए ठामि काउस्सग्गं)

अनेन विधिनाराधयति स महात्मा वन्दनाभूमिकाम्, आराध्य चैनां परंपरया निर्वृत्तिमेति नियोगतः; इतरथा तु कूटनटनृत्तवद्भावितानुष्ठानप्रायं न विदुषामास्थानिबन्धनम् । अतो यतितव्यमत्रेति ।

अरिहंतचेइयाणं०

स्तोत्र-पठन के बाद वन्दनादि लाभ हेतु कायोत्सर्ग करना है, इसके लिए प्रतिज्ञा की जायगी। इस प्रतिज्ञा के लिए प्रबल और विशुद्ध मनोभाव आवश्यक है। अतः उस प्रतिज्ञा के उचित तथा विध मनोभाव पूर्वोक्त स्तोत्रों से जाग्रत् करके पंचाङ्ग प्रणिपात करना; तत्पश्चात् प्रमोद की वृद्धि पैदा करने वाले आचार्यादि को वन्दना करके हृदय को भावोल्लास से भर दें और वन्दना के सम्पादनार्थ सहृदय नट की तरह अपनी अधिकृत भूमिका यानी भावपूर्ण स्थिर कायोत्सर्ग की भूमिका निर्माण करने के लिए पुरुषार्थ करें। सहृदय नट अपनी भूमिका खेलने के लिए भावशून्य शुष्क हृदय से नहीं, किन्तु भावपूर्ण दृढ हृदय से प्रयत्न करता है।

अब वन्दना-कारक खड़ा हो कर 'जिनमुद्रा' से, अर्थात् खड़ा रह कर दो पैरों के बीच में आगे चार अंगुल का और पीछे इससे कुछ कम अंगुल का अन्तर रखना है। ऐसी शरीरावस्था में—'अरिहंत-चेइयाए ...' सूत्र पढ़ता है। पूरा सूत्र इस प्रकार है—

'अरिहंत-चेइयाणं करेमि काउस्सग्गं वंदणवत्तियाए-पूयणवत्तियाए-सक्कारवत्तियाए-सम्माणवत्तियाए-बोहिलाभवत्तियाए-निरुवसग्गवत्तियाए, सद्धाए-मेहाए-धिइए-धारणाए-अणुप्पेहाए वड्ढमाणीए ठामि काउस्सग्गं।'

सूत्र का अर्थ आगे बताया जाता है। इस विधि से वह महान भव्यजीव वन्दना की भूमिका का आराधन करता है और उसका आराधन करके भाववन्दना की परंपरा से मुक्ति तक अवश्य पहुँच जाता है। अगर इस प्रकार भावपूर्ण भूमिका न बनाई जाए तब वह अनुष्ठान दिलशून्य झूठे नट के नृत्य की तरह अभावित अर्थात् भावनाशून्य प्रदर्शनमात्र स्वरूप अनुष्ठान होगा और वह विद्वानों को आस्था करा सकेगा नहीं। विद्वान लोग अनुष्ठान को अभावित देख एक शुष्क नाचक्रिया-सा जान कर उसके प्रति आकर्षित नहीं होंगे। इसलिए प्रस्तुत अनुष्ठान भावितानुष्ठान हो, इसमें पूरा प्रयत्न रखना आवश्यक है।

(ल०–चैत्यवन्दनोपहासखण्डनम्–) एवं च सति तत्र किञ्चिद् यदुच्यते परैरुपहासबुद्धया प्रस्तुतस्यासारतापादनाय; तद्यथा—'अलमनेन क्षपणकवन्दनाकोलाहलकल्पेन अभावितामिधानेन'; उक्तवद्भावितामिधानायोगात्, स्थानादिगर्भतया भावसारत्वात्, तदपरस्यागमबाह्यत्वात्, पुरुषप्रवृत्त्या तु तद्बाधायोगात्, अन्यथातिप्रसङ्गादिति न किञ्चिदेतत्।

अनेक स्तोत्रों में अविरोधः—

प्र०—अन्यान्य अनेक स्तोत्र पढने में क्या वन्दना-योग में व्याघात नहीं होगा ?

उ०—नहीं, ये सभी भिन्न भिन्न स्तोत्र प्रायः समान होते हैं; क्योंकि शब्दभेद होने पर भी वे सभी परमात्मा की गुण-स्तवना के एक ही भाव वाले होते हैं। अगर ऐसा न हो, तो योग का व्याघात होना सम्भवित है, क्योंकि भगवद्गुण-स्तवना से भिन्न प्रकार का भाव आ जाने से वंदनायोग में स्खलना होगी।

स्तोत्रश्रवण भी कार्यसाधक है:—

प्र०—जिसे स्तोत्र का बोध न हो, वह किस प्रकार वन्दना का लाभ उठा सकता है ?

उ०—स्तोत्र से अनभिज्ञ पुरुष भी अन्य दक्ष पुरुष द्वारा पढे जा रहे स्तोत्रों का श्रवण करे। इसमें भी स्वय स्तोत्रपठन के मुताबिक ही शुभ चित्त याने प्रशस्त भावोल्लास का लाभ होता है। जो कि वन्दना के फलरूप में इष्ट है। अगर श्रवण भी न किया जाए तो वन्दन-योग का व्याघात होगा ऐसा योगाचार्य कहते हैं। इसलिए स्तोत्रश्रवण से भी वन्दनयोग पूर्ण करना चाहिए। यह सफल होता है इसमें प्रमाण योगसिद्धि है। प्रमाण दो प्रकार के होते हैं शब्दोक्त याने प्रवचनादेश अर्थोक्त याने सामर्थ्यलभ्य; एक तो शब्दश शास्त्र-सूत्र से ज्ञापित होता है और दूसरा अर्थत निर्दिष्ट होता है, युक्ति-अर्थापत्ति से ज्ञापित किया जाता है। यहां स्तोत्रों का, पठन की तरह, श्रवण शब्दश. उल्लिखित नहीं है, किन्तु अर्थतः प्राप्त होता है अर्थात् अर्थत. योग सिद्धि से ज्ञापित होता है कि श्रवण भी वन्दनायोग का पूरक है। फल के द्वारा यह ज्ञात हो सकता है। वन्दनायोग का फल है शुभ चित्त का लाभ, और यह स्वय पठन की तरह श्रवण से भी प्राप्त होता है। इससे सूचित होता है कि श्रवण द्वारा वन्दन योग अव्याहत बनता है।

चैत्यवन्दन का उपहास अनुचित है:—

शुभ चित्त का लाभ चैत्यवन्दन का फल होने से, जो इतरों के द्वारा उपहासबुद्धि से वन्दना के विधान की इस प्रकार असारता प्रतिपादित की जाती है कि 'श्रमणों द्वारा कराते हुए इस वन्दना के कोलाहल याने भावविहीन सूत्र-स्तोत्र पठन से क्या ? वह तो शुष्क नटगीत-सा अभावित भावविहीन रटन होने से निष्फल है', यह सोपहास प्रतिपादन गलत है। क्योंकि पहले कहा है इसके अनुसार यह स्तोत्र-पठन कोई भावरहित संभाषण नहीं है। वह तो स्थान, वर्ण, इत्यादि योगों से घटित होने की वजह से भावप्रधान है। जो भावप्रधान नहीं है अर्थात् जिसमें हार्दिक प्रशस्त भाव प्रधान रूप से संमिलित नहीं, वह तो जिनागमबाह्य है, जिनागम से विहित नहीं। इस प्रकार जब आगमविहित एवं भावप्रधान वन्दनादि-प्रवृत्ति से मोक्षोपयोगी शुभचित्त फलरूप मे प्राप्त होता है तब उसे निष्फल कैसे कह सकते हैं ? यदि कहें 'यह तो पुरुष मात्र की प्रवृत्ति अर्थात् ऐच्छिक प्रवृत्ति होने से शुभ भाव होना असंभवित है', तब यह भी ठीक नहीं, क्योंकि तब तो वन्दना ही क्यों, और किसी भी प्रवृत्ति में अतिप्रसंग होगा, वहां भी शुभ भाव बाधित असभवित होने की आपत्ति खड़ी होगी। अतः ऐसे आक्षेप तुच्छ हैं, निर्युक्तिक है।

प्रणिपातदण्डक—'नमोत्थुणं' सूत्रव्याख्या समाप्त।

मित्येवं सर्वत्र भावना कार्या । तथा 'पूअणवत्तियाए,–'पूजनप्रत्ययं'=पूजननिमित्तं, पूजनं गन्धमाल्यादिभिः समभ्यर्चनम् । तथा 'सक्कारवत्तियाए'-'सत्कारप्रत्ययं'=सत्कारनिमित्तं, प्रवरवस्त्राभरणादिभिरभ्यर्चनं सत्कारः ।

(पं०–) 'तत्फले'त्यादि, 'तत्फलं'=तस्य वन्दनस्य फलं कर्मक्षयादि, 'मे'=मम, 'कथं नाम'=केन (प्र०....केनापि) प्रकारेण कायोत्सर्गस्यैवावस्थाविशेषलक्षणेन, 'कायोत्सर्गादेव,' न त्वन्यतोऽपि व्यापाराद्, तदानीं तस्यैव भावात्, 'स्याद्'=भूयाद्, 'इति'=अनया आशंसया, 'अतोऽर्थम्'=वन्दनार्थमिति ।

(ल०–पूजादिकायोत्सर्गः साधुश्रावकार्थः–) आह–"क एवमाह, साधुः श्रावको वा ? तत्र साधोस्तावत् पूजनसत्कारावनुचितावेव, द्रव्यस्तवत्वात्, तस्य च प्रतिषेधात्, 'तो कसिणसंजमविऊ पुप्फाईयं न इच्छन्ति' इति वचनात् । श्रावकस्तु सम्पादयत्येवैतौ यथाविभवं, तस्य तत्प्रधानत्वात्, तत्र तत्त्वदर्शित्वात्, 'जिणपूयाविभवबुद्धि'त्ति वचनात् । तत्कोऽनयोर्विषयः ?" इति ।

(साधोः पूजाप्रमोदतोऽनुमतिः)—उच्यते, सामान्येन द्वावपि साधुश्रावकौ । साधोः स्वकरणमधिकृत्य द्रव्यस्तवप्रतिषेधः, न पुनः सामान्येन, तदनुमतिभावात्; भवति च भगवतां पूजासत्कारावुपलभ्य साधोः प्रमोदः,–'साधु शोभनमिदमेतावज्जन्मफलमविरतानाम्' इति वचनलिङ्गगम्यः । तदनुमतिरियम् ।

प्र०—'काया का उत्सर्ग कायोत्सर्ग'–इस प्रकार षष्ठी विभक्ति से समास किया, और 'अर्हत्-चैत्यों का' यह पहले कह आये हैं, तब 'अर्हत्-चैत्यों का कायोत्सर्ग करता हूँ' क्या ऐसा अन्वय अर्थात् अर्थ-संबन्ध है ?

उ०—नहीं, षष्ठी विभक्ति वाले निर्दिष्ट 'अरिहंत चेइयाणं' पद का अन्वय, अनन्तर के 'करेमि' 'काउस्सग्गं' इन दो पदों का उल्लङ्घन कर, मण्डूक-प्लुति यानी मेंढक के कूदने की रीति से 'वंदणवत्तियाए' इत्यादि पदों के साथ किया जाता है । तब यह प्राप्त होता है कि 'अरिहंत चेइयाणं वंदणवत्तियाए करेमि काउस्सग्गं'; ऐसा अन्वय समझना चाहिए ।

'वंदणवत्तियाए' आदि का अर्थः—

'वंदणवत्तियाए' यहां 'वदण' का अर्थ है अभिवादन, नमस्कार अर्थात् प्रशस्त मन-वचन-काया की प्रवृत्ति । 'वत्तियाए'=तत्प्रत्ययम् अर्थात् उसके निमित्त यानी उस प्रशस्त प्रवृत्ति स्वरूप वन्दन के लाभार्थ । तात्पर्य, यहां दूसरी कोई प्रवृत्ति नहीं है, अतः दूसरी किसी प्रवृत्ति से नहीं किन्तु 'कायोत्सर्ग की विशिष्ट अवस्था से ही कैसे मुझे वह फल प्राप्त हो जाए इसके लिए.... ...' ऐसी भावना से । यही आगे 'पूअणवत्तियाए... ....' इत्यादि पदों में करनी । 'पूअणवत्तियाए' का अर्थ है पूजन के निमित्त । 'पूजन' यह गन्ध, सुगन्धित चन्दन-कस्तूरी आदि का चूर्ण, पुष्पमाला, केशर, इत्यादि से अर्चन करने स्वरूप है । ऐसे पूजन के लाभ के लिए मैं कायोत्सर्ग करता हूँ ! 'सक्कारवत्तियाए' अर्थात् सत्कार के निमित्त । प्रवर वस्त्र, अलंकार आदि से पूजन यह 'सत्कार' है ।

(ल०-) सूत्रार्थस्त्वयम्—अशोकाद्यष्टमहाप्रातिहार्यादिरूपां पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तः तीर्थकराः, तेषां चैत्यानि प्रतिमालक्षणानि अर्हच्चैत्यानि। चित्तम्-अन्तःकरणं, तस्य भावः कर्म्म वा, वर्णदृढादिलक्षणे ष्यञि ('वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ्च' पा० ५-१-१२३) कृते 'चैत्यं' भवति। तत्रार्हतां प्रतिमाः प्रशस्त समाधिचित्तोत्पादकत्वादर्हच्चैत्यानि भण्यन्ते। तेषां, किम्? 'करोमि' इत्युत्तमपुरुषैकवचननिर्देशेनात्माभ्युपगमं दर्शयति। किम्? इत्याह ('कायोत्सर्गं') कायः शरीरं, तस्योत्सर्गः कृताकारस्य स्थानमौनध्यानक्रिया व्यतिरेकेण क्रियान्तराध्यासमधिकृत्य परित्याग इत्यर्थः, तं कायोत्सर्गम्।

(पं०-) 'कृताकारस्ये' ति विहितकायोत्सर्गार्हशरीरसंस्थानस्य उच्चारितकायोत्सर्गापवादसूत्रस्यवेति।

(ल०-) आह-"कायस्योत्सर्ग इति षष्ठ्या समासः (प्र०...षष्ठीसमासः) कृतः, अर्हच्चैत्यानामिति च प्रागावेदितं, तत्किम् 'अर्हच्चैत्यानां कायोत्सर्गं करोमीति?" नेत्युच्यते, षष्ठीनिर्दिष्टं तत्पदं पदद्वयमतिक्रम्य मण्डूकप्लुत्या वन्दनप्रत्ययमित्यादिभिरभिसंबध्यते। ततश्च 'अर्हच्चैत्यानां वन्दनप्रत्ययं करोमि कायोत्सर्गमि'ति द्रष्टव्यम्। तत्र 'वन्दनम्'=अभिवादनं प्रशस्तकायवाङ्मनःप्रवृत्तिरित्यर्थः। 'तत्प्रत्ययं'=तन्निमित्तं 'तत्फलं मे कथं नाम कायोत्सर्गादेव स्याद्' इत्यतोऽर्थ-

---

इस सूत्र का अर्थ यह है 'अरिहंत चेइयाणं' अर्थात् अर्हद् भगवान के चैत्य यानी प्रतिमाओं का अशोकवृक्ष, सुरपुष्पवृष्टि, दिव्यध्वनि, चामर, सिंहासन, भामण्डल, देवदुन्दुभि और छत्र, इन अष्टमहाप्रतिहार्य एवं स्वर्णकमल, समवसरण प्रमुख की पूजा के जो योग्य हैं, वे तीर्थंकर भगवान अर्हत् (अरिहंत) कहलाते हैं, उनके चैत्य अर्थात् प्रतिमा चित्त यानी अन्तःकरण का भाव या कर्म यह चैत्य है। चित्तशब्द को पाणिनि व्याकरण के सूत्र ५-१-१२३ 'वर्णदृढादिभ्य ष्यञ्' से वर्ण, दृढादि अर्थ में 'ष्यञ्' प्रत्यय लगाने से चैत्य शब्द बनता है। परमात्मा के प्रति चित्त में जो भक्तिभाव उल्लसित होता है, उससे भगवत् प्रतिमा का निर्माण किया जाता है इसलिए यह प्रतिमा चित्त के मूर्तिमंत भाव स्वरूप हुई, अथवा ऐसे भावपूर्ण चित्त का कर्म हुई, इसलिए भी प्रतिमा चैत्य कही जाती है।

प्रतिमा चित्त के प्रशस्त समाधि भाव को उत्पन्न करती है अतः यह कारण हुई और चित्तभाव इसका कार्य हुआ। 'घृतमायुः' की तरह कारण में कार्य का उपचार करने से प्रतिमा चित्तभाव यानी चैत्य कहलाती है। यह समाधि भाव को चित्त की क्रिया भी कही जा सकती है। इसलिए प्रतिमा चित्त-कर्म अर्थात् चैत्य शब्द से संबोधित हो सकती है। ऐसे अर्हद् चैत्यों का, इतना 'अरिहंत चेइयाणं', का अर्थ हुआ।

प्रश्न होता है, 'क्या?' उत्तर है 'करेमि'। यह पद व्याकरणशास्त्र की दृष्टि से उत्तमपुरुष एकवचन पद है अर्थात् स्वात्मा के ग्रहण का सूचक है इसलिए उसका अर्थ होता है कि 'मैं करता हूँ' क्या करता हूँ? 'काउस्सग्गं' अर्थात् कायोत्सर्ग, शरीर का परित्याग, लेकिन यह साकार शरीरत्याग करता हूँ। 'साकार' के दो अर्थ हैं,—(१) कायोत्सर्गयोग्य शरीराकृति बना कर, अर्थात् प्रलंबित बाहु वाला खड़ा शरीर रख कर इसके हलन चलन का त्याग। (२) उच्छ्वास निश्वास इत्यादि आकार यानी अपवाद रखते हुए काया का परित्याग। यह भी स्थान, मौन एवं ध्यान क्रिया के अतिरिक्त दूसरी कोई क्रिया न करना अर्थात् और किसी भी क्रिया से सम्बन्ध न करने की दृष्टि से काया का परित्याग करना; ऐसे कायोत्सर्ग को मैं करता हूँ इतना अर्थ हुआ।

(ल०—द्रव्यस्तवदृष्टान्तः—) नागभयसुतगर्ताकर्षणज्ञातेन भावनीयमेतत् । तदेवं साधुरित्थमेवैतत्संपादनाय कुर्वाणो नाविषयः, वचनप्रामाण्यात्, इत्थमेवेष्टसिद्धेः, अन्यथाऽयोगादिति ।

(पं०—) कथमित्याह 'नागे'त्यादि, नागभयेन=सर्पभीत्या, सुतस्य=पुत्रस्य, गर्तात्=श्वभ्राद्, आकर्षणम्=अपनयनम्, एतदेव ज्ञातं=दृष्टान्तः, तेन, 'भावनीयम्', 'एतत्'=साधोर्द्रव्यस्तवकारणं देशनाद्वारेण । तथाहि, किल काचित् स्त्री प्रियपुत्रं रमणीयरूपमुपरचय्य रमणाय बहिर्मन्दिरस्य विससर्ज । स चातिचपलतया अविवेकतया च इत इतः पर्यटन्नत्यायमतिविषमतटमेकं गर्तमाविवेश । मुहूर्तान्तरे च प्रत्यपायसम्भावनया चकितचेता माता तमानेतुं तं देशमाजगाम, ददर्श च गर्तान्तर्वर्तिनं तं निजसूनुं, तमनु च प्रचलितम् आकालिककोपप्रसरम(प्र०....अनाकलितककोपप्रशमा)ञ्जनपुञ्जकालकायमुद्घाटितातिविकटस्फुटाटोपं पन्नगम् ।

साधु के द्वारा द्रव्यस्तव कराने की भी उपपत्तिः—

'साधु को द्रव्यस्तव का अनुमोदन है इतना ही नहीं, किन्तु उसका उपदेश प्रदान करने द्वारा उसे कराने का भी प्राप्त होता है। भगवान के पूजा सत्कार के सम्बन्ध में यह सदुपदेश भी साधु देता है कि 'जिनपूजा करनी चाहिए; जिनसे बढ कर कोई शुभस्थान धन-विनियोग के लिए नहीं है,'....इत्यादि। ऐसे वचन-समूह के द्वारा सदुपदेश देना यह साधु के द्वारा जिनपूजा कराना हुआ ।

प्र०—जीवन भर के लिए सर्व पापव्यापारों को त्याग करने वाले साधु के लिए उपदेश द्वारा भी पुष्पहिंसादि पापप्रवृत्ति वाला सदोष द्रव्यस्तव कराना कैसे उचित हो सकता है ?

उ०—द्रव्यस्तव कराना सदोष नहीं है, क्योंकि द्रव्यस्तव में लगते हुए सूक्ष्म हिंसादिदोष की अपेक्षा अन्य इन्द्रियविषयों के निमित्त कृषि-व्यापार आदि बड़े आरम्भमय हिंसादि दोषयुक्त प्रवृत्ति से, द्रव्यस्तव काल में, निवृत्ति होती है या तादृश महादोष वाली प्रवृत्ति रुक जाती है, यह गुण है।

प्र०—तब भी हिंसादोषयुक्त द्रव्यस्तव समूचा निष्पाप तो नहीं है, और साधु उसे कराता है तो अक्सर अमुक दोष की निवृत्ति के साथ साथ अन्य दोष में प्रवृत्ति कराना तो हुआ न ?

उ०—नहीं, यहां उपदेश का दृष्टिबिन्दु समझिए,—द्रव्यस्तवकर्ता की क्रिया में दो अंश हैं, १. सांसारिक बड़े दोष वाली क्रिया से निवृत्ति और २. प्रभुपूजन की शुभ प्रवृत्ति के अन्तर्गत पुष्पादिक्लेश। अब देखिए कि द्रव्यस्तव का उपदेश करने में प्रयोजक अंश,-अन्य बड़े दोषों से निवृत्त कराना, यह है, अर्थात् गृहस्थ को पूजा द्वारा महादोष के निवृत्ति का लाभ मिले इतना ही उद्देश उपदेश का प्रवर्तक है, नहीं कि पुष्पादि को क्लेश का उद्देश। अलबत्ता गृहस्थ को वहां कुछ हिंसा की प्रवृत्ति रहती है लेकिन उसे महादोष से निवृत्ति का बड़ा लाभ मिलता है और ऐसी निवृत्ति हेतु गृहस्थ के लिए द्रव्यस्तव जैसा कोई अन्य उपाय नहीं है।

प्र०—क्यों नहीं ? सामायिक, भगवान का जाप, स्तोत्रपाठ, स्वाध्याय आदि निर्दोष उपाय में लगने से कृषि आदि बड़े दोष वाली क्रिया से निवृत्ति हो सकती है न ?

उ०—यों तो देखिए कि मूल बड़े दोष ममता तृष्णा और अहंत्व के हैं। गृहस्थ के सामायिकादि में ममता-तृष्णादि का इतना कटना मुश्किल है क्योंकि वहां कोई द्रव्यव्यय नहीं है, जब कि जिनपूजा-सत्कार में द्रव्यव्यय करना होता है इससे यह कटती आती है। एवं अरिहंत प्रभु की अभिषेकादि पूजा करने में नम्रता-सेवकभाव-समर्पण भी बढ़ता आता है इससे अहंत्व का ह्रास होता रहता है। इन्द्रियविषय एवं कृषि आदि में तो प्रवृत्ति ममतातृष्णा एवं अहंत्वमूलक हिंसादि बड़े दोष से युक्त होती है। इनसे बचने के लिए जिनपूजासत्कार का द्रव्यस्तव गृहस्थ के लिए अनन्य उपाय है।

(ल०—साधोरुपदेशद्वारा पूजाकारणमपि:—) उपदेशदानतः कारणापत्तेश्च। ददाति च भगवतां पूजासत्कारविषयं सदुपदेशम्,-'कर्त्तव्या जिनपूजा; न खलु वित्तस्यान्यच्छुभतरं स्थानम्'- इति वचनसंदर्भेण। तत्कारणमेतत्। अनवद्यं च तद्, दोषान्तरनिवृत्तिद्वारेण। अयमत्र प्रयोजकोंऽशः, तथाभावतः प्रवृत्तेः, उपायान्तराभावात्।

(पं०—) ननु यावज्जीवमुज्झितसर्वसावद्यस्य साधोः कथं सावद्यप्रवृत्तेर्द्रव्यस्तवस्योपदेशनेन (प्र०....०पदेशने,०पदेशेन) कारणं युज्यते? इत्याशङ्क्याह 'अनवद्यं च'=निर्दोषं च 'एतद्'=द्रव्यस्तवकारणं; हेतुमाह 'दोषान्तरनिवृत्तिद्वारेण', दोषान्तराद्=द्रव्यस्तवापेक्षयाऽन्यस्मादिन्द्रियार्थहेतोर्महतः कृष्याद्यारम्भविशेषात्, तस्य (दोषान्तरस्य) वा, निवृत्तिः=उपरमः, स एव द्वारम्=उपायः तेन। ननु कथमिदमनवद्यम्, अवद्यान्तरे प्रवर्त्तनात्? इत्याशङ्क्याह 'अयं' दोषान्तरान्महतो निवृत्तिरूपः, 'अत्र'=द्रव्यस्तवोपदेशने, 'प्रयोजकः'= प्रवर्त्तकः, अंशः=निवृत्तिप्रवृत्तिरूपाया द्रव्यस्तवकर्तृक्रियाया विभागः। कुत इत्याह 'तथाभावतो'=दोषान्तरनिवृत्तिभावात्, प्रवृत्तेः=चेष्टायाः, 'उपायान्तराभावात्'=उपायान्तरस्य उपायान्तरतो वाऽभावात्, द्रव्यस्तवपरिहारेण अन्यहेतोरभावात्।

साधु को द्रव्यस्तव की अनुमतिः—

प्र०—पूजन-सत्कार निमित्त कायोत्सर्ग कौन करता है? साधु या श्रावक? यहां साधु को तो यह अनुचित है, क्योंकि वे द्रव्यस्तवरूप है और साधु के लिए द्रव्यस्तव का निषेध है। कहा है 'तो कसिण-संजमविऊ पुप्फाईअं न इच्छन्ति' अर्थात् संपूर्ण संयम के उपयोग वाले साधु हिंसा के कारण पुष्पादि की भी इच्छा करते नहीं हैं। तब पुष्पादि-द्रव्यस्तव के निमित्त साधु कायोत्सर्ग क्यों करे? अब श्रावक तो पूजा-सत्कार अपने वैभव के अनुसार खर्च करके करता ही है, क्योंकि उसे गृहस्थ जीवन में यही मुख्य है और यह वैसे धनव्यय साध्य द्रव्यस्तव को अपना सच्चा वैभव मानता है; श्रावक के लिए कहा गया है कि 'जिनपूया विभव-बुद्धी'—अर्थात् श्रावक मिट्टी के धन में नहीं, किन्तु जिनपूजा में धनबुद्धि रखता है, जिनपूजा को ही धनरूप मानता है, कारण, इस पूजासत्कारादि पूजा से-१ महादोषों की निवृत्ति, २ प्रचुर कर्मबन्ध का प्रतिबन्ध, एवं ३ पुण्यानुबंधिपुण्य तथा ४ अनन्य उपकारी अरिहंत प्रभु के प्रति कृतज्ञभाव का लाभ होता है। तब महाफलप्रद पूजादि स्वयं करने वाले श्रावक को पूजा-सत्कारादि के निमित्त कायोत्सर्ग करने की कोई आवश्यकता नहीं है। तो प्रश्न है यह कायोत्सर्ग कौन करता है? अर्थात् यहां कथित कायोत्सर्गसाध्य पूजालाभ एवं सत्कारलाभ की उक्ति का विषय कौन है?

उ०—सामान्यरूप से साधु श्रावक दोनों ही इनके विषय हैं। अलबत्त साधु के लिए स्वयं पूजा-करण एवं सत्कारकरण की दृष्टि से द्रव्यस्तव करने का शास्त्रनिषेध है, लेकिन सामान्यतः द्रव्यस्तवमात्र का निषेध नहीं है। क्योंकि उसे द्रव्यस्तव की अनुमति होती है, देखते हैं कि भगवान के पूजा सत्कार को देख कर साधु को आनन्द होता है यह आनन्द उसके उद्‌गाररूप हेतु से ठीक ही निर्णीत किया जाता है; उद्‌गार इस प्रकार—"अहो यह पूजा ठीक हुई! सुन्दर हुई! इसमें अविरति यानी पापभरे गृहस्थवास में रहे हुए का इतना मानवजन्म कृतार्थ हुआ!" हृदय में बिना आनन्द के ऐसे वचन कहां से उत्थित हैं? और यह आनन्द पूजा सत्कार रूप द्रव्यस्तव की अनुमति याने अनुमोदन स्वरूप है।

(ल०—श्रावकत्वं जिनपूजालालसत्वम्:—) श्रावकस्तु सम्पादयन्नप्येतौ मात्रातिशयादधिक-सम्पादनार्थमाह। न तस्यैतयोः संतोषः, तद्धर्म्मस्य तथास्वभावत्वात्। जिनपूजासत्कारयोः करणलालसः खल्वाद्यो देशविरतिपरिणामः, औचित्यप्रवृत्तिसारत्वेन; उचितौ चारम्भिण एतौ, सदारम्भरूपत्वात्, औचित्याज्ञामृतयोगात्, असदारम्भनिवृत्तेः, अन्यथा तदयोगादतिप्रसङ्गादिति।

(पं०—) 'तद्धर्म्मे'त्यादि, तद्धर्म्मस्य=श्रावकधर्म्मस्य, 'तथास्वभावत्वात्'=जिनपूजासत्कारयोराका-ङ्क्षातिरेकात् असंतोषस्वभावत्वात्। एतदेव भावयति, 'जिनपूजासत्कारयोः' उक्तरूपयोः, 'करणलालस एव=' विधानलम्पट एव, 'खलु'शब्दस्यैवकारार्थत्वात्, 'आद्यः'=आरम्भ (प्र०....सचित्त, सचित्तारम्भ)वर्जाभिधा-नाष्टमप्रतिमाभ्यासात् प्राक्कालभावी, 'देशविरतिपरिणामः'=श्रावकाध्यवसायः। कुत इत्याह 'औचित्यप्रवृ-त्तिसारत्वेन'=निजावस्थाया आनुरूप्येण या प्रवृत्तिः चेष्टा तत्प्रधानत्वेन। औचित्यमेव भावयन्नाह 'उचितौ च'= योग्यौ च, 'आरम्भिणः'=तत एव पृथिव्याद्यारम्भवतः,' एतौ'=पूजासत्कारौ कुत इत्याह-'सदारम्भरूपत्वात्, सन्=सुन्दरो जिनविषयतया, आरम्भः=पृथिव्याद्युपमर्दः, तद्रूपत्वात्। आरम्भविशेषेऽपि कथमनयोः सदारम्भत्व-मित्याशङ्क्याह 'आज्ञामृतयोगात्, 'आज्ञैव' जिनभवनं जिनबिम्बमित्याद्याप्तोपदेशरूपा, 'अमृतम्' अजराम-रभावकारित्वात्, तेन योगात्। आज्ञापि किंनिबन्धनमित्थमित्याशङ्क्याह 'असदारम्भनिवृत्तेः,' असतः= इन्द्रियार्थविषयतया असुन्दरस्य, आरम्भस्य, ततो वा, जिनपूजादिकाले निवृत्तेः। ननु तन्निवृत्तिरन्यथापि भविष्यतीत्याशङ्क्याह 'अन्यथा'=आज्ञामृतयुक्तौ पूजासत्कारौ विमुच्य, 'तदयोगात्'=असुन्दरारम्भनिवृत्तेरयो-गात्। विपक्षे बाधामाह 'अतिप्रसङ्गात्'=प्रकारान्तरेणाप्यसदारम्भनिवृत्त्यभ्युपगमे द्यूतरमणान्दोलनादावपि तत्प्राप्त्यातिप्रसङ्गादिति। 'इतिः' वाक्यसमाप्तौ।

असंतोष-स्वभाववाला होता है; 'इतनी पूजा पर्याप्त है' ऐसा संतोषवाला नहीं। इसका कारण यह है कि पूर्वकालभावी देशविरतिपरिणाम,-अर्थात् 'आरम्भत्याग' नामक आठवीं श्रावक प्रतिमा (प्रतिमा= अभिग्रहविशेष), जिसमें सचित्त यानी जीवयुक्त काया की हिंसा त्याज्य होती है, वैसी अवस्था के पूर्व काल में रहे हुए श्रावक का अध्यवसाय,-निश्चित रूप से जिनपूजा-सत्कार करने की लालसा-लंपटता वाला होता है। कहा है 'जिनपूजासत्कारयोः करणलालसः खलु आद्यो देशविरतिपरिणामः'। ऐसी लालसा बनी रहने से वह कितना ही पूजासत्कार करे फिर भी उसमें उसे संतोष नहीं होता है। इससे यह सूचित होता है कि अगर जिनपूजा सत्कार की उत्कट लालसा न हो तो अंतर में श्रावकपन का स्पर्श कैसे हो सके? श्रावकपन की जिनपूजादि के साथ व्याप्ति है, क्योंकि श्रावकपन उचितप्रवृत्ति-प्रधान होता है, अर्थात् अपने धर्मस्थान के अनुरूप प्रवृत्ति की मुख्यता वाला होता है। यहां औचित्य यानी अनुरूप प्रवृत्ति यही, कि पृथ्वीकायादि स्थावर जीवों की हिंसा में बैठे हुए गृहस्थ के लिए अपने अनन्तोपकारक इष्टदेव की पूजा एवं सत्कार करना यह कृतज्ञता आदि की वजह से उचित कर्तव्य है। अलबत्त पूजासत्कार में पृथ्वी-कायादि जीवों का आरम्भ (उपमर्द) अवश्य है, लेकिन वे पूजा सत्कार जिनेन्द्रदेव के भक्ति-बहुमान संबंध में होने से श्रद्धा बढ़ाने वाले एवं महा अहिंसादि धर्म सन्मुख ले जाने वाले होते हैं, इसलिए वे सुन्दर आरंभ स्वरूप है।

प्र०—पूजा सत्कार में भी एक तरह का हिंसारम्भ तो है ही, वह भले विशिष्ट कोटि का हो, फिर भी ये पूजा सत्कार सुन्दर आरम्भ कैसे?

ततोऽसौ गुरुलाघवालोचनचतुरा 'नूनमतः पन्नगादस्य महानपायो भवितेति विचिन्त्य सत्वरं प्रसारितकरा गर्त्तात् पुत्रमाचकर्ष । यथासौ स्तोकोत्कीर्णशरीरत्वक्तया सपीडेऽपि तत्र न दोषवती, परिशुद्धभावत्वात् (प्र०....भावात्), तथा सर्वथा त्यक्तसर्वसावद्योऽपि साधुरुपायान्तरतो महतः सावद्यान्तरान्निवृत्तिमपश्यन् गृहिणां द्रव्यस्तवमादिशन्नपि न दोषवान् ।

द्रव्यस्तव की निर्दोषता में 'सर्पभय-पुत्राकर्षण' दृष्टान्तः—

सावद्य द्रव्यस्तव को भी उपदेश द्वारा कराना निर्दोष है इसमें 'नागभय-सुतगर्ताकर्षण' अर्थात् सर्प के भय से पुत्र को खड्डे में से घसिट लेने का दृष्टान्त है। इस दृष्टान्त से उपदेश द्वारा साधु का द्रव्यस्तव कराना युक्तियुक्त है –यह बात मनन करने योग्य है। दृष्टान्त इस प्रकार है—किसी एक स्त्री ने अपने पुत्र को कभी मनोहर रूप वाला बना कर क्रीडार्थ घर से बाहर भेज दिया। वह लडका अति चंचल एवं अविवेकी होने से इधर उधर भटकता हुआ किसी एक खड्डे में उतर गया। खड्डा एक कूप के समान गहरा था, और उसकी दीवारें विषम (खुरदरा, कर्कश) थी। दो घटिका के बाद माता को पुत्र वापस न लौटने से कुछ अनर्थ की आशङ्का हुई, और उत्सुक चित्त वाली होकर उसे लाने के लिए वह उस तरफ आ पहुँची। देखती है तो अपना प्यारा पुत्र खड्डे के भीतर है, और उसके पीछे अञ्जन के पुञ्ज सी श्याम काया वाला एक सर्प चला आ रहा है। सर्प में शाश्वत कोप की छाया फैली हुई है, उसके कोप की शान्ति हो ऐसा दिखाई पड़ता नहीं है, और उसने अपनी फरण का अति भयंकर आटोप स्पष्टतः खोल दिया है। स्त्री गौरव-लाघव के आलोचन में चतुर थी, यानी प्रसंग में छोटे-मोटे लाभ या हानि क्या है यह समझ सकती थी। इसने सोच लिया कि 'लड़के को फौरन घसीट लेने में होने वाली पीडा की अपेक्षा विलंब करने में इस सांप से महान अनर्थ होगा;' सोचते ही फौरन हाथ लंबा कर के उसने ऊपर से ही पुत्र को पकड़ कर खड्डे में से घसीट लिया। अब जिस प्रकार यहां ऐसा करने में बालक की चमड़ी कुछ छिल गई, फिर भी ऐसे पीडायुक्त पुत्र के प्रति माता अपराधिनी नहीं है क्योंकि उसका भाव विशुद्ध है, (अन्य उपाय न होने से प्रस्तुत उपाय द्वारा सांप से पुत्र रक्षण करने का मनोभाव निर्मल होने की वजह से वह दोषपात्र नहीं है,), इस प्रकार साधु स्वयं सर्वथा मन-वचन-काया से करण-कारण-अनुमोदन किसी भी रूप में पाप व्यापार करने के त्याग वाले होते हुए भी जब उसे यह दिखाई देता है कि गृहस्थ को बड़े पापों से निवृत्त कराना दूसरे किसी उपाय द्वारा शक्य नहीं सिवा द्रव्यस्तव के, तब वह उसका उपदेश करने पर भी दोषपात्र नहीं है।

इस लिए जब साधु को भगवन्-पूजा का उपदेश एवं प्रमोद रूप में कारण (कराना) और अनुमोदन है, तब अनुमोदन के संपादनार्थ कायोत्सर्ग करता हुआ साधु कायोत्सर्ग का विषय हुआ ही, विषय नहीं है ऐसा नहीं। इस संबन्ध में आगम ही प्रमाण है, अर्थात् गणधररचित 'अरिहंत चेइयाणं' सूत्र ही प्रमाण है; और भगवान की पूजा एवं सत्कार से निष्पन्न जो कर्मक्षय का लाभ रूप इष्टसिद्धि इसी कायोत्सर्ग-रीति से होती है; अन्यथा बिना कायोत्सर्ग वह नहीं हो सकती।

श्रावक कायोत्सर्ग में मात्रातिशय कारणः—

अब, श्रावक भी कायोत्सर्ग का विषय है इसका कारण यह है कि वह पूजा-सत्कार करता हुआ भी अपने हृदय में उछलते हुए अत्यन्त भावोल्लास के कारण अधिक लाभ लेने के लिए यह 'अरिहंत चेइयाणं'-इत्यादि कहता है और पूजा-सत्कार निमित्त कायोत्सर्ग करता है। उसको पूजा-सत्कार के बारे में संतोष नहीं है, इसका कारण यह है कि श्रावक का अध्यवसाय जिनपूजासत्कार में निःसीम आकांक्षा उसके

(पं०-)इह चैव साधनप्रयोगो, 'गुणकरम् अधिकारिणः किञ्चित्सदोषमपि पूजादि, विशिष्टशुभभाव-हेतुत्वात्, यद् यद् विशिष्टशुभभावहेतुभूतं तद् गुणकरं दृष्टं, यथा कूपखननं; विशिष्टशुभभावहेतुश्च यतनया पूजादि, ततो गुणकरमिति' । कूपखननपक्षे शुभभावः तृष्णादिव्युदासेनानन्दावाप्तिरिति । इदमुक्तं भवति, यथा कूपखननं श्रमतृष्णाकर्दमोपलेपादिदोषदुष्टमपि जलोत्पत्त्यनन्तरोक्तदोषानपोह्य स्वोपकाराय परोपकाराय वा यथाकालं (प्र०....चालं, प्र०....चाकाले) भवति, एवं पूजादिकमप्यारम्भदोषमपोह्य शुभाध्यवसायोत्पादनेना-शुभकर्मनिर्जरणपुण्यबन्धकारणं भवतीति ।

भावस्तव का कारण नहीं वह अप्रधान यानी अनादरणीय होता है । दूसरों में क्या मोक्ष के लिए अयोग्य ऐसी अभव्य आत्मा में भी अप्रधान द्रव्यस्तव होता है, लेकिन वह भावस्तव का कारण न होने से उससे कुछ भी अधिकृत सिद्धि होती नहीं है । इस प्रकार अन्य उपाय अप्रधान होने से आप्त पुरुषों के उपदेशा-नुसार की जाती असद् आरम्भ से निवृत्ति या असद् आरम्भों की निवृत्ति स्वरूप ही द्रव्यस्तव प्रधान द्रव्यस्तव है, शास्त्रविहित द्रव्यस्तव है, किन्तु अन्य बहुलोक-प्रसिद्ध द्रव्यस्तव नहीं ।

प्र०—जब शास्त्रविहित पूजासत्कार साधुधर्म की तरह औचित्य प्रवृत्तिरूप है श्रावकावस्था के योग्य प्रवृत्तिरूप है, एवं आत्मिक शुभपरिणाम वाले भी हैं, तब वे भावस्तव क्यों नहीं ?

उ०—औचित्य प्रवृत्तिरूप होने पर भी उनमें शुभपरिणाम अल्प प्रमाण में है, जो कि भावस्तव की कक्षा में उपयुक्त शुभ परिणाम की मात्रा वाला नहीं है । इसलिए यह भावस्तव नहीं माना जा सकता । ऐसा मत कहिए कि 'तब फिर अल्पभाव होने की वजह से वह गृहस्थ के लिए अकिञ्चित्कर होगा अर्थात् कुछ लाभप्रद नहीं ।' क्योंकि कूप के दृष्टान्त से यह द्रव्यस्तव अल्प भावशाली होने के बावजूद भी गृहस्थ के लिए उपकारी होता है ।

यहां अनुमान-प्रयोग इस प्रकार का होगा, 'पूजादि के अधिकारी को कुछ सदोष भी पूजादि उपकारक है, क्योंकि वह विशिष्ट शुभभाव का कारण है; व्याप्ति-जो जो विशिष्ट शुभभाव का हेतुभूत है, वह वह उपकारक दिखाई पड़ता है; उदाहरणार्थ जैसा कूप का खनन (खुदाई)।' जयणा (सावधानी) से किया गया पूजादिद्रव्यस्तव विशिष्ट शुभभाव का कारण होता है, इसलिए वह उपकारक है । यहां कूपखनन के पक्ष में शुभ भाव और कोई नहीं किन्तु पिपासा आदि का उपशम करने पूर्वक होने वाली आनन्दादि की प्राप्ति ही शुभ भाव रूप से ग्राह्य है ।

कूप का दृष्टान्त इस प्रकार है —किसी प्रवासी को रास्ते में बहुत प्यास लगी । वह एक सूखी हुई नदी के तट में छोटी सी कूई खोदता है । यद्यपि इससे प्रवास के श्रम, प्यास एवं धूलि-मलिनतादि दोष और भी बढ़ते हैं, फिर भी पानी मिल जाने पर उसके उपयोग से वे समूचे दोष दूर होते हैं । फलतः खुदा हुआ कूप हमेशा या कालानुसार स्वोपकार एवं परोपकार के लिए समर्थ होता है । इस प्रकार पूजा-सत्कार भी, आरम्भ दोष से दूषित होने पर भी, शुभ अध्यवसाय को उत्पन्न करने द्वारा पाप कर्मों के क्षय और पुण्य के उपार्जन में कारण बनते हैं । यहां देखिए कि श्रम, प्यास और मल को दूर करने में प्रवासी के लिये कूप खनन ही एक उपाय है । यह भी पहले तो श्रमादि में वृद्धि करता है, लेकिन बाद में वह प्राप्त जल के द्वारा सभी श्रम वगैरह को शान्त कर देता है । इसी प्रकार गृहस्थ के लिए भी कुछ आरम्भदोष से युक्त भी जिनपूजा-सत्कार ही मुख्य रूप से पापनाश एवं पुण्यवृद्धि का उपाय हैं, यावत् आगे जा कर सर्व हिंसारम्भ और मूर्च्छा के त्यागपूर्वक साधु जीवन प्राप्त कराने में समर्थ है ।

(ल०—द्रव्यस्तवो भावस्तवाङ्गम्:—) तथाहि,—द्रव्यस्तव एवैतौ, स च भावस्तवाङ्गमि तदन्यस्याप्रधानत्वात्, तस्याभव्येष्वपि भावात्। अतः आज्ञयाऽसदारम्भनिवृत्तिरूप एवायं स्या औचित्यप्रवृत्तिरूपत्वेऽप्यल्पभावत्वाद् द्रव्यस्तवः। गुणाय चायं कूपोदाहरणेन।

(पं०—)औचित्यमेव पुनर्विशेषतो भावयन्नाह, **'तथाहि, द्रव्यस्तवः'**, **'एतौ'**=पूजासत्कारौ, किमित्याह **'स च'**=द्रव्यस्तवः (च), **'भावस्तवाङ्ग'**=शुद्धसाधुभावनिबन्धनम्, **'इष्टः'**=अभिमतः। इत्याह **'तदन्यस्य'**=भावस्तवानङ्गस्य, **'अप्रधानत्वाद्'**=अनादरणीयत्वात्, कुत इत्याह **'तस्य'**=अप्रधान **'अभव्येष्वपि'** किं पुनरितरेषु, **'भावात्'**=सत्त्वात्। न च ततः काचित्प्रकृतसिद्धिः। **'अतः'**=अन्यस्या धान्याद्धेतोः, **'आज्ञया'**=आप्तोपदेशेन, **'असदारम्भनिवृत्तिरूप एव'**=असदारम्भाद्-उक्तरूपात् तस्य या निवृत्तिः=उपरमः, तद्रूप एव, न पुनरन्यो बहुलोकप्रसिद्धः, **'अयं'**=शास्त्रविहितो द्रव्यस्तवः, **'स्याद्'** भवेत्। आह, 'कथमसौ न भावस्तवः ? औचित्यप्रवृत्तिरूपत्वात् साधुधर्मवद्' इत्याशङ्क्याह **'औचित्यप्रवृत्तिरूपत्वेऽपि'**=श्रावकावस्थायोग्यव्यापारस्वभावतायामपि, किं पुनस्तदभावे **'अल्पभावत्वात्'**=तुच्छशुभपरिणामत्वात्, **'द्रव्यस्तवः'**=पूजासत्कारौ। एवं तर्हि अल्पभावत्वादेवाकिञ्चित्करोऽयं गृहिणामित्याशङ्क्या **'गुणाय च'**=उपकाराय च, **'अयं'**=द्रव्यस्तवः, कथमित्याह **'कूपोदाहरणेन'**=अवटज्ञातेन।

उ०—आज्ञारूप अमृत के योग से वे सद्-आरम्भ रूप हैं। आप्त पुरुषों का उपदेश है कि

"जिनभवनं जिनबिम्बं, जिनपूजां, जिनमतं च यः कुर्यात्। तस्य नरामरशिवसुखफलानि करपल्लवस्थानि।"

अर्थात् जिनमन्दिर, जिनमूर्ति, जिनपूजा और जिनाज्ञापालन जो करे, उसे मनुष्य, देव, और मोक्ष के सुख स्वरूप फल हस्तगत होते हैं, करपल्लव में आ बैठते हैं।

ऐसी उपदेशात्मक आज्ञा अजरामरता करने वाली होने से एक अमृत है, इसका विषय पूजा-सत्कार पड़ता है, जो कि आज्ञाविहित होने के कारण इसका आरम्भ सद्-आरम्भ रूप है। वैसी आज्ञा भी करने का कारण यह है कि जिनपूजादि-काल में असद्-आरम्भ बन्द हो जाते हैं; असद् इसलिए कि वे इन्द्रियों के वैषयिक सुख निमित्त किये जाते हैं। उनकी निवृत्ति या उनसे आत्मा की निवृत्ति जिनपूजा सत्कार के काल में ठीक मिल जाती है। शायद आप कहेंगे कि इस निवृत्ति का संपादन तो किसी दूसरे उपाय से भी हो सकता है, लेकिन यह ख्याल में रखिए कि आज्ञामृत से युक्त पूजासत्कार को छोड़कर असद् आरम्भ की निवृत्ति गृहस्थ के लिए और किसी से नहीं हो सकती है। यदि ऐसा न माना जाय तो अतिप्रसङ्ग होगा अर्थात् पूजासत्कार के सिवा और किसी प्रकार से असद् आरम्भ की निवृत्ति मानने पर जूआ खेलना, झूले झूलना, इत्यादि से भी आरम्भनिवृत्ति हुई मानी जाएगी। किन्तु ऐसा तो है नहीं, अतः मानना आवश्यक है कि जिनपूजासत्कार में प्रवृत्त रहने से उतने काल तक असद् आरम्भ से बचा जाता है।

पूजा-सत्कार में औचित्य किस प्रकार है, यह विशेष रूप से बतलाते हुए कहते हैं कि पूजा-सत्कार द्रव्यस्तव है और द्रव्यस्तव भावस्तव का कारण है। भावस्तव का मतलब शुद्ध साधुभाव है, क्योंकि भावरूप से परमात्मस्तव परमात्मा की आज्ञा का पालन ही है, और यह विशुद्ध साधुजीवन में ही सर्वथा अन्वण्डित रूप में किया जाता है। द्रव्यस्तव उसका कारण होने से ही कार्यरूप में इष्ट है। क्योंकि जो

(पं०–)इह चैव साधनप्रयोगो, 'गुणकरम् अधिकारिणः किञ्चित्सदोषमपि पूजादि, विशिष्टशुभभाव-हेतुत्वात्, यद् यद् विशिष्टशुभभावहेतुभूतं तद् गुणकरं दृष्टं, यथा कूपखननं; विशिष्टशुभभावहेतुश्च यतनया पूजादि, ततो गुणकरमिति'। कूपखननपक्षे शुभभावः तृष्णादिव्युदासेनानन्दावाप्तिरिति। इदमुक्तं भवति, यथा कूपखननं श्रमतृष्णाकर्दमोपलेपादिदोषदुष्टमपि जलोत्पत्त्यावनन्तरोक्तदोषानपोह्य स्वोपकाराय परोपकाराय वा यथाकालं (प्र०....चालं, प्र०....चाकालं) भवति, एवं पूजादिकमप्यारम्भदोषमपोह्य शुभाध्यवसायोत्पादनेना-शुभकर्मनिर्जरणपुण्यबन्धकारणं भवतीति।

भावस्तव का कारण नहीं वह अप्रधान यानी अनादरणीय होता है। दूसरों में क्या मोक्ष के लिए अयोग्य ऐसी अभव्य आत्मा में भी अप्रधान द्रव्यस्तव होता है, लेकिन वह भावस्तव का कारण न होने से उससे कुछ भी अधिकृत सिद्धि होती नहीं है। इस प्रकार अन्य उपाय अप्रधान होने से आप्त पुरुषों के उपदेशा-नुसार की जाती असद् आरम्भ से निवृत्ति या असद् आरम्भों की निवृत्ति स्वरूप ही द्रव्यस्तव प्रधान द्रव्यस्तव है, शास्त्रविहित द्रव्यस्तव है, किन्तु अन्य बहुलोक-प्रसिद्ध द्रव्यस्तव नहीं।

प्र०—जब शास्त्रविहित पूजासत्कार साधुधर्म की तरह औचित्य प्रवृत्तिरूप है श्रावकावस्था के योग्य प्रवृत्तिरूप है, एवं आत्मिक शुभपरिणाम वाले भी है, तब वे भावस्तव क्यों नहीं?

उ०—औचित्य प्रवृत्तिरूप होने पर भी उसमें शुभपरिणाम अल्प प्रमाण में है, जो कि भावस्तव की कक्षा में उपयुक्त शुभ परिणाम की मात्रा वाला नहीं है। इसलिए वह भावस्तव नहीं माना जा सकता। ऐसा मत कहिए कि 'तब फिर अल्पभाव होने की वजह से वह गृहस्थ के लिए अकिञ्चित्कर होगा अर्थात् कुछ लाभप्रद नहीं।' क्योंकि कूप के दृष्टान्त से यह द्रव्यस्तव अल्प भावशाली होने के बावजूद भी गृहस्थ के लिए उपकारी होता है।

यहां अनुमान-प्रयोग इस प्रकार का होगा, 'पूजादि के अधिकारी को कुछ सदोष भी पूजादि उपकारक है, क्योंकि वह विशिष्ट शुभभाव का कारण है; व्याप्ति-जो जो विशिष्ट शुभभाव का हेतुभूत है, वह वह उपकारक दिखाई पडता है; उदाहरणार्थ जैसा कूप का खनन (खुदाई)।' जतना (सावधानी) से किया गया पूजादिद्रव्यस्तव विशिष्ट शुभभाव का कारण होता है, इसलिए वह उपकारक है। यहां कूपखनन के पक्ष में शुभ भाव और कोई नहीं किन्तु पिपासा आदि का उपशम करने पूर्वक होने वाली आनन्दादि की प्राप्ति ही शुभ भाव रूप से ग्राह्य है।

कूप का दृष्टान्त इस प्रकार है —किसी प्रवासी को रास्ते में बहुत प्यास लगी। वह एक सूकी हुई नदी के तट में छोटी सी कूई खोदता है। यद्यपि इसमें प्रवास के श्रम, प्यास एवं धूलि-मलिनतादि दोष और भी बढते हैं, फिर भी पानी मिल जाने पर उसके उपयोग से वे समूचे दोष दूर होते हैं। फलतः खुदा हुआ कूप हमेशा या कालानुसार स्वोपकार एवं परोपकार के लिए समर्थ होता है। इस प्रकार पूजा-सत्कार भी, आरम्भ दोष से दूषित होने पर भी, शुभ अध्यवसाय को उत्पन्न करने द्वारा पाप कर्मों के क्षय और पुण्य के उपार्जन में कारण बनते हैं। यहां देखिए कि श्रम, प्यास और मल को दूर करने में प्रवासी के लिये कूप खनन ही एक उपाय है। यह भी पहले तो श्रमादि में वृद्धि करता है, लेकिन बाद में वह प्राप्त जल के द्वारा सभी श्रम वगैरह को शान्त कर देता है। इसी प्रकार गृहस्थ के लिए भी कुछ आरम्भदोष से युक्त भी जिनपूजा-सत्कार ही मुख्य रूप से पापनाश एवं पुण्यवृद्धि का उपाय है, यावत् आगे जा कर सर्व हिंसारम्भ और मूर्च्छा के त्यागपूर्वक साधु जीवन प्राप्त कराने में समर्थ है।

(ल०–आज्ञाशुद्धैः प्रवृत्तिः सफला) न चैतदप्यनीदृशमिष्टफलसिद्धये, किन्त्वाज्ञामृतयुक्तमेव, स्थाने विधिप्रवृत्तेरिति सम्यगालोचनीयमेतत् । तदेवमनयोः साधुश्रावकावेव विषय इत्यलं प्रसङ्गेन ।

(पं०–) दृष्टान्तशुद्ध्यर्थमाह 'न च'=नैव, 'एतदपि'=कूपोदाहरणमपि, 'अनीदृशम्'=उदाहरणीय-बहुगुणद्रव्यस्तवविसदृशं यथाकथञ्चित् (प्र०....यथाकिञ्चित्) खननप्रवृत्त्या, 'इष्टफलसिद्धये', इष्टफलम् आरम्भिणां द्रव्यस्तवस्य बहुगुणत्वज्ञापनं, तत्सिद्धये भवतीति, दार्ष्टान्तिकेन वैधर्म्यात् । यथा तु स्यात् तथाह 'किन्त्वाज्ञामृतयुक्तमेव', आज्ञैवामृतं परमस्वास्थ्यकारित्वादाज्ञामृतं, तद्युक्तमेव=तत्संबद्धमेव; तथाहि,–महत्यां पिपासाद्यापदि कूपखननात्सुखतरान्योपायेन विमलजलासंभवे निश्चितस्वादुशीतस्वच्छजलायां भूमौ (प्र०....इलायां) अन्योपायपरिहारेण (प्र०....विरहेण) कूपखननमुचितं, तस्यैव तदानीं बहुगुणत्वाद् ; इत्यमेव च खातशास्त्रकाराज्ञा । कुत एतदित्याह 'स्थाने'=द्रव्यस्तवादौ कूपखननादिके च उपकारिणि, 'विधिप्रवृत्तेः'=औचित्यप्रवृत्तेः, अन्यथा ततोऽप्यपायभावात् ।

(ल०–सम्माण० बोहिलाभ० निरुवसग्ग० पदार्थः–) तथा 'सम्माणवत्तियाए'त्ति सन्मान-प्रत्ययं सन्माननिमित्तम् । स्तुत्यादिगुणोन्नतिकरणं सन्मानः; तथा मानसः प्रीतिविशेष इत्यन्ये । अथ वन्दनपूजनसत्कारसन्माना एव किंनिमित्तमिति ? अत आह 'बोहिलाभवत्तियाए' बोधिलाभ-प्रत्ययं बोधिलाभनिमित्तम् । जिनप्रणीतधर्मप्राप्तिर्बोधिलाभोऽभिधीयते । अथ बोधिलाभ एव (प्र०...०भोऽपि) किंनिमित्तमिति ? अत आह 'निरुवसग्गवत्तियाए'–निरुपसर्गप्रत्ययं निरुपसर्ग-निमित्तम् । निरुपसर्गो मोक्षः, जन्माद्युपसर्गाभावेन ।

आज्ञायुक्त प्रवृत्ति ही सफलः—

यहां दृष्टान्त शुद्धि के लिए कहते हैं कि कूप का दृष्टान्त भी ज्यों त्यों खनन करने द्वारा इष्ट साधक नहीं है, अर्थात् दार्ष्टान्तिक बहुगुणसंपन्न द्रव्यस्तव से विलक्षण यानी ज्यों त्यों किया गया कूपखनन इष्ट फल देने में समर्थ नहीं हो सकता। यह इस प्रकार-श्रोता आरम्भी गृहस्थ को ऐसे दृष्टान्त देने द्वारा उसे द्रव्य-स्तव की बहुगुणता का ज्ञापन करना अभिप्रेत है, यह इष्ट फल सपन्न नहीं हो सकता अगर जैसे तैसे किया जाता कूपखनन का दृष्टान्त द्रव्यस्तव की बहुगुणता की पुष्टि में दिया जाए। क्यों कि वैसा दृष्टान्त तो आज्ञाशुद्ध किये जा रहे दार्ष्टान्तिक द्रव्यस्तव की अपेक्षा विलक्षण यानी आज्ञानिरपेक्ष हुआ। तब प्रश्न है कि किस प्रकार इष्टफल-साधक हो ? उत्तर यह है कि आज्ञारूप अमृत से संबद्ध ही।

शास्त्राज्ञा तो परम स्वास्थ्यकारी होने से एक प्रकार का अमृत है। यह इस प्रकार—कोई बड़ी प्यासादि आपत्ति खड़ी हुई हो और कूपखनन की अपेक्षा दूसरे अधिक सरल उपाय द्वारा निर्मल जल प्राप्त करना असंभवित हो तब यही उचित होगा कि अन्य उपाय को छोड़कर निश्चित स्वादिष्ट शीतल स्वच्छ जल वाली भूमि को खोदा जाय। क्यों कि उस समय खातशास्त्रानुसार वही खनन बहु गुणकारी होता है। खातशास्त्र के रचयिताओं की यही आज्ञा है। ऐसे शास्त्रानुसारी प्रयत्न से इष्ट फल होने में कारण यह है कि प्रयत्न उपकारक द्रव्यस्तव एवं कूपखननादि रूप योग्य स्थान में उचित रूप से हुआ है। अगर अनुचित प्रवृत्ति की होती तो अनर्थ होता।

इस प्रकार पूजा-सत्कार निमित्त कायोत्सर्ग के सूत्र के विषय साधु और श्रावक दोनों हैं। इतनी चर्चा यहां पर्याप्त है।

(ल०-प्राप्तबोधिलाभार्थं कथं कायोत्सर्गः ?-) आह,-'साधुश्रावकयोर्बोधिलाभोऽस्त्येव; कथं तत्प्रत्ययं; सिद्धस्यासाध्यत्वात् ? एवं तन्निमित्तो निरुपसर्गोऽपि तथाऽनभिलपणीय एव; इति किमर्थमनयोरुपन्यास इति ?' उच्यते क्लिष्टकर्मोदयवशेन बोधिलाभस्य प्रतिपातसम्भवाज्जन्मान्तरेऽपि तदर्थित्वसिद्धेः; निरुपसर्गस्यापि तदायत्तत्वात् । सम्भवत्येवं मात्रातिशयेन रक्षणमित्येतदर्थमनयोरुपन्यासः । न चाप्राप्तप्राप्तावेवेह प्रार्थना, प्राप्तभ्रष्टस्यापि प्रयत्नप्राप्यत्वात् क्षायिकसम्यग्दृष्ट्यपेक्षयाप्यक्षेपफलसाधकबोधिलाभापेक्षया एवमुपन्यासः ।

सम्माण० बोहिलाभ० निरुवसग्गवत्तियाए का अर्थः—

'सम्माणवत्तियाए' का अर्थ है सन्मान निमित्त; अर्थात् चैत्य के सन्मान से जो कर्मक्षय का लाभ होता है, उस लाभ के हेतु में कायोत्सर्ग करता हूँ। यहां सम्मान, वाचिक स्तुति आदि गुणों के उन्नतिकरण अर्थात् प्रशंसन को कहते हैं। अन्य आचार्यों के मत से सन्मान यह मानसिक प्रीतिविशेष स्वरूप है। अर्थात् भगवान के प्रति ऐसी उछलती प्रीति कि जो अप्राप्त धर्मलाभ को प्राप्त करा दे और प्राप्त को अधिकाधिक बढा दे, एवं निजात्मा को ऊपर ऊपर के गुणस्थानक में चढा दे। अब ये वन्दन-पूजन-सत्कार-सन्मान किसके लिए हैं ? तो कहते हैं कि 'बोहिलाभवत्तियाए' अर्थात् बोधिलाभ के निमित्त। जिन-प्रणीतधर्म-प्राप्ति को बोधिलाभ कहा जाता है। यह धर्मप्राप्ति, धर्म को आचरण रूप से प्राप्त करने में कदाचित् अशक्त होने पर भी, हृदय में स्पर्शना रूप जिनोक्तधर्म-प्राप्ति तो हो सकती है। अब बोधिलाभ ही किस लिए ? उत्तर है कि 'निरुवसग्गवत्तियाए' अर्थात् निरुपसर्ग हेतु। निरुपसर्ग नाम है मोक्ष का, क्योंकि वहां जन्म-मरण-रोग-शोकादि कोई उपद्रव (उपसर्ग) है ही नहीं।

प्राप्त बोधिलाभ हेतु भी कायोत्सर्ग क्यों ?:—

प्र०-साधु और श्रावक के पास बोधिलाभ तो है ही फिर इसके निमित्त वे कायोत्सर्ग क्यों करें ? कारण, सिद्ध वस्तु अब साधने योग्य नहीं होती है। सिद्ध बोधिलाभ को अब कायोत्सर्ग से क्या ? साधना एवं बोधिलाभ से ही अवश्य होने वाला मोक्ष (निरुपसर्ग) भी कोई नया अभिलपणीय नहीं है, तब फिर इसके लिए भी कायोत्सर्ग करना अनावश्यक है। अतः प्रश्न है कि बोहिलाभवत्तियाए निरुवसग्गवत्तियाए इन दो पदों का उपन्यास क्यों किया गया ?

उ०-क्लिष्ट कर्म मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय वश संभव है कि प्राप्त हुए भी बोधिलाभ का नाश हो जाए। तब तो यह बोधिलाभ भावी काल के लिए असिद्ध हुआ; एवं जन्मान्तर के लिए भी इसकी अभिलाषा रहती है इससे सूचित होता है कि वहां भी यह सिद्ध नहीं है। इसलिए कायोत्सर्ग द्वारा अत्यन्त भाव से, बोधिलाभ का रक्षण होना संभवित है। एवं निरुपसर्ग मोक्ष तो क्षायिक अविनाशी बोधिलाभ के अधीन होने से अब तक सिद्ध नहीं है, अत. ऐसे असिद्ध बोधिलाभ एवं निरुपसर्ग के निमित्त कायोत्सर्ग करने के लिए 'बोहिलाभवत्तियाए, निरुवसग्गवत्तियाए' इन दोनों का उपन्यास युक्तियुक्त है।

और भी यह बात है कि यहां प्रार्थना केवल अप्राप्त की नयी प्राप्ति के लिए ही की जाती है ऐसा नहीं, पुनः प्राप्ति के लिए भी यह कर्तव्य है; क्योंकि वस्तु प्राप्त होने के बाद कदाचित् भ्रष्ट हो जाए, तब ऐसे प्रार्थनादि प्रयत्न से वह पुनः साध्य होती है।

(ल०–'सद्धाए'...जलशोधकमणिदृष्टान्तः–) अयं च कायोत्सर्गः क्रियमाणोऽपि श्रद्धादिविकलस्य नाभिलषितार्थप्रसाधनायालमित्यत आह 'सद्धाए मेहाए धीइए धारणाए अणुप्पेहाए वड्ढमाणीए ठामि काउस्सग्गं'ति । श्रद्धया हेतुभूतया, न बलाभियोगादिना । श्रद्धा निजोऽभिलाषः मिथ्यात्वमोहनीयकर्म्मक्षयोपशमादिजन्यश्चेतसः प्रसाद इत्यर्थः । अयञ्च जीवादितत्त्वार्थानुसारी समारोपविघातकृत् कर्म्मफलसम्बन्धास्तित्वादिसंप्रत्ययाकारः चित्तकालुष्यापनायी धर्म्मः । यथोदकप्रसादको मणिः सरसि प्रक्षिप्तः पङ्कादिकालुष्यमपनीयाच्छतामापादयति, एवं श्रद्धामणिरपि चित्तसरस्युत्पन्नः (प्र०...पपन्नः) सर्व्वं चित्तकालुष्यमपनीय भगवदर्हत्प्रणीतमार्गं (प्र०...मार्गे) सम्यग्भावयतीति ।

(पं०–) 'श्रद्धा०' । 'समारोपे'त्यादि, 'समारोपविघातकृत्', समारोपो नामासतः स्वभावान्तरस्य मिथ्यात्वमोहोदयाध्ये वस्तुन्यध्यारोपणं काचकामलाद्युपघाताद् द्विचन्द्रादिविज्ञानेष्विवेति, तद्विघातकृत्=तद्विनाशकारी । 'कर्म्मफलसम्बन्धास्तित्वादिसंप्रत्ययाकार' इति, कर्म्म शुभाशुभलक्षणं, फलं च तत्कार्यं तथाविधमेव, तयोः संबन्धः आनन्तर्येण कार्यकारणभावलक्षणो वास्तवः संयोगो, न तु सुगतसुतपरिकल्पितसन्तानव्यवहाराश्रय इवोपचरितो, यथोक्तं तैः 'यस्मिन्नेव हि सन्ताने, आहिता कर्मवासना । फलं तत्रैव सन्धत्ते कार्प्पासे रक्तता यथा ।' तस्य अस्तित्वं=सद्भावः, 'आदि'शब्दाद् 'आत्मास्ति, स परिणामी, बद्धः सत्कर्म्मणा विचित्रेण । मुक्तश्च तद्वियोगाद्, हिंसाहिंसादि तद्धेतुः ॥' इत्यादिचित्रप्रावचनिकवस्तुग्रहः । तस्य सम्प्रत्ययः=सम्यक्श्रद्धानयुता प्रतीतिः स आकारः=स्वभावो यस्य स तथा ।

प्र०–क्षायिक सम्यग्दृष्टि कि जिसे मिथ्यात्वादि दर्शन मोहनीय निर्मूल क्षीण हो जाने से अविनाशी सम्यग्दर्शन यानी बोधिलाभ प्राप्त ही है, उसके लिए कायोत्सर्ग-निमित्त-सूत्र में 'बोहिलाभवत्तियाए' पदोपन्यास का क्या उपयोग ?

उ०–उपयोग यही कि क्षायिक-सम्यग्दृष्टि आत्मा को भी अब तक बिना विलम्ब फल को सिद्ध करने वाला बोधिलाभ प्राप्त नहीं है, उसे प्राप्त करने की अपेक्षा से 'बोहिलाभवत्तियाए' पद का उपन्यास है ।

'सद्धाए' का अर्थ : जलशोधक मणिका दृष्टान्तः—

'वंदणवत्तियाए'—इत्यादि छः पदों द्वारा कथित वन्दन-पूजनादि निमित्तों से भी किया जाता यह कायोत्सर्ग अगर श्रद्धादि से रहित हो तब अभिलषित वस्तु को सिद्ध करने में समर्थ नहीं होता है, इस लिए इसी सूत्र में अब कहते हैं 'सद्धाए मेहाए धीइए धारणाए अणुप्पेहाए वड्ढमाणीए ठामि काउस्सग्गं' अर्थात् बढ़ती हुई श्रद्धा, मेधा, धृति, धारणा एवं अनुप्रेक्षा द्वारा मैं कायोत्सर्ग करता हूँ । इसमें पहले कहना यह हुआ कि कायोत्सर्ग श्रद्धा वश किया जाता है किन्तु किसी बलाभियोगादि यानी बलात्कार, गतानुगतिकता, पौद्गलिक आशंसा, कपट, इत्यादि वश नहीं । यह श्रद्धा स्वीय अभिलाष रूप है । तात्पर्य कि मिथ्यात्वमोहनीयकर्म के क्षयोपशम एवं परमात्मा के प्रति प्रशस्त भक्तिरागादि से उत्पन्न होता हुआ चित्तप्रसाद यह श्रद्धा है । वह एक ऐसा चित्तधर्म है जो कि चित्त के कालुष्य को नष्ट कर देता है, क्यों

(ल०—'मेहाए'—आतुरौषधदृष्टान्तः—) एवं मेधया, न जडत्वेन। मेधा ग्रन्थग्रहणपटुः परिणामः, ज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशमजः चित्तधर्म्म इति भावः। अयमपीह सद्ग्रन्थप्रवृत्तिसारः पापश्रुतावज्ञाकारी गुरुविनयादिविधिवल्लभ्यो महांस्तदुपादेयपरिणामः; आतुरौषधाप्त्युपादेयतानिदर्शनेन;—यथा प्रेक्षावदातुरस्य तथा तथोत्तमौषधावाप्तौ विशिष्टफलभव्यत्वयेतरापोहेन तत्र महानुपादेयभावो ग्रहणादरश्च, एवं मेधाविनो मेधासामर्थ्यात् सद्ग्रन्थ एवोपादेयभावो ग्रहणादरश्च, नान्यत्र, अस्यैव भावौषधत्वादिति।

कि वह जीव अजीव आदि तत्त्वभूत पदार्थ का ही अनुसरण करता है अर्थात् उन जीवादि तत्त्व की ज्ञेय-हेय-उपादेयता के अनुरूप आत्मपरिणति से संपन्न होता है, और वह समारोप का नाश कर देता है। यह समारोप, जैसे मोतिया बिन्द एवं कामलरोगादि से जनित दृष्टि-उपघातवश एक ही चन्द्र में द्विचन्द्र का मिथ्याज्ञान एवं शुक्ल शङ्ख में पीतपन का भ्रान्तज्ञान, इत्यादि स्वरूप होता है इस तरह मिथ्यात्व-मोहोदय वश जीवादि वस्तु में असत् अन्यान्य स्वभाव के आरोपित ज्ञान स्वरूप होता है। ऐसा समारोप चित्तप्रसाद से नष्ट हो जाता है। यह चित्तप्रसाद कर्म, तत्फल, तत्संबन्ध का अस्तित्व इत्यादि की सम्यक् श्रद्धा स्वरूप होता है। यहां 'कर्म' से शुभाशुभ पुण्य-पाप, एवं 'तत्फल' से उनके विपाकाधीन शुभाशुभ कार्य, और 'तत्संबन्धास्तित्व' से कर्म और फल के बीच एवं उनका आत्मा के साथ वास्तविक साक्षात् कार्यकारणभाव-संबन्ध का सद्भाव विवक्षित है।

आत्मा, कर्म और फल का संबन्ध, यह वास्तविक संयोग है किन्तु औपचारिक नहीं,जैसा कि बुद्ध-शिष्यने माना हुआ क्षणसंतान के व्यवहार में औपचारिक संबन्ध। बौद्ध मत में कहा गया है कि जिस क्षणसंतान में जो कर्मवासना प्राप्त है उसी में, कपास में रक्तता की तरह, फल का अनुसन्धान वह करती है। कपास के जिस पौधे में रक्तता-संपादनार्थ चूर्णादियोग किया जाता है बाद में उसी पर उत्पन्न कपास में रक्तता होती है; इस प्रकार वस्तु प्रतिक्षण नष्टभ्रष्ट एवं नव्यजात होने पर भी एक वस्तु की वासना का कार्य दूसरी विलक्षण वस्तु में पैदा होने की आपत्ति नहीं है, क्योंकि कार्य तो, जिस वस्तु की क्षणसंतान में वैसी वासना होगी, वहां ही हो सकता है। उदाहरणार्थ, पटक्षण-संतान में घटक्षणवासना का अर्थात् मिट्टी या घट के वर्णादि संस्कार का कार्य नहीं होगा। बौद्ध ने यहां मिट्टी वगैरह बिलकुल क्षणनष्ट मानने पर भी उत्तरक्षणोत्पन्न घटादि के साथ इसका जो कार्यकारण संबन्ध माना है, वह कोइ मुख्य वस्तु नहीं किन्तु औपचारिक काल्पनिक है। उसी प्रकार आत्मा, कर्म और फल का भी औपचारिक संबन्ध हुआ। जैन मत में वैसा नहीं किन्तु वस्तु नित्यानित्य होने से वास्तविक संबन्ध है; क्योंकि पूर्वक्षण की वस्तु पर्याय रूप से नष्ट होने पर भी द्रव्य रूप से अवस्थित है।

संबन्धास्तित्व आदि, पद में 'आदि' शब्द से यह लेना, "आत्मास्ति, स परिणामी, बद्धः सत्कर्म्मणा विचित्रेण। मुक्तश्च तद्वियोगाद्धिंसाहिंसादि तद्धेतु." इत्यादि अनुसार आत्मा सद् है, परिणामी नित्य है, विविध वास्तव कर्म से बन्धा हुआ है, कर्म के वियोग से मुक्त होता है, उन कर्मसंयोग के प्रति हिंसादि और कर्मवियोग के प्रति अहिंसादि कारण हैं। इत्यादि जिनप्रवचनोक्त विविध तत्त्ववस्तु लेना।

इन कर्म, फल इत्यादि तत्त्वों की सम्यक् प्रतीति स्वरूप, और चित्तकलुषितता का निवारक चित्त-धर्म यहां 'श्रद्धा' करके विवक्षित है। वह एक मणि-सा है। जिस प्रकार पानी को स्वच्छ करनेवाला मणिरत्न तालाब में डाला जाए तो वह पङ्क आदि कलुषितताओं को हटाकर स्वच्छता का संपादन कर देता है, इस प्रकार श्रद्धामणि भी चित्त सरोवर में उत्पन्न होकर तत्त्वसम्बन्धी संशय, भ्रम, चाञ्चल्य,

(ल०–'सद्धाए'...जलशोधकमणिदृष्टान्तः–) अयं च कायोत्सर्गः क्रियमाणोऽपि श्रद्धादि-विकलस्य नाभिलषितार्थप्रसाधनायालमित्यत आह 'सद्धाए मेहाए धीइए धारणाए अणुप्पेहाए वड्ढमाणीए ठामि काउस्सग्गं'ति। श्रद्धया हेतुभूतया, न बलाभियोगादिना। श्रद्धा निजोऽभिलाषः मिथ्यात्वमोहनीयकर्मक्षयोपशमादिजन्यश्चेतसः प्रसाद इत्यर्थः। अयञ्च जीवादितत्त्वार्थानुसारी समारोपविघातकृत् कर्म्मफलसम्बन्धास्तित्वादिसंप्रत्ययाकारः चित्तकालुष्यापनायी धर्म्मः। यथोदक-प्रसादको मणिः सरसि प्रक्षिप्तः पङ्कादिकालुष्यमपनीयाच्छतामापादयति, एवं श्रद्धामणिरपि चित्तसर-स्युत्पन्नः (प्र०...पपन्नः) सर्व्वं चित्तकालुष्यमपनीय भगवदर्हत्प्रणीतमार्गं (प्र०...मार्गं) सम्यग्मा-पयतीति।

(पं०–) 'श्रद्धा०'। 'समारोपे'त्यादि, 'समारोपविघातकृत्', समारोपो नामासतः स्वभावान्तरस्य मिथ्यात्वमोहोदयात्तथ्ये वस्तुन्यध्यारोपणं काचकामलाद्युपघाताद् द्विचन्द्रादिविज्ञानेष्विवेति, तद्विघातकृत्=तद्वि-नाशकारी। 'कर्म्मफलसम्बन्धास्तित्वादिसंप्रत्ययाकार' इति, कर्म्म शुभाशुभलक्षणं, फलं च तत्कार्यं तथाविधमेव, तयोः संबन्धः आनन्तर्येण कार्यकारणभावलक्षणो वास्तवः संयोगो, न तु सुगतसुतपरिकल्पित-सन्तानव्यवहाराश्रय इवोपचरितो, यथोक्तं तैः 'यस्मिन्नेव हि सन्ताने, आहिता कर्म्मवासना। फलं तत्रैव सन्धत्ते कार्पासे रक्तता यथा।' तस्य अस्तित्वं=सद्भावः, 'आदि'शब्दाद् 'आत्मास्ति, स परिणामी, बद्धः सत्कर्म्मणा विचित्रेण। मुक्तश्च तद्वियोगाद्, हिंसाहिंसादि तद्धेतुः॥' इत्यादिविचित्रप्रावचनिकवस्तुग्रहः। तस्य सम्प्रत्ययः=सम्यक्श्रद्धानयुता प्रतीतिः स आकारः=स्वभावो यस्य स तथा।

प्र०–क्षायिक सम्यग्दृष्टि कि जिसे मिथ्यात्वादि दर्शन मोहनीय निर्मूल क्षीण हो जाने से अवि-नाशी सम्यग्दर्शन यानी बोधिलाभ प्राप्त ही है, उसके लिए कायोत्सर्ग-निमित्त-सूत्र में 'बोहिलाभवत्तियाए' पदोपन्यास का क्या उपयोग?

उ०–उपयोग यही कि क्षायिक-सम्यग्दृष्टि आत्मा को भी अब तक बिना विलम्ब फल को सिद्ध करने वाला बोधिलाभ प्राप्त नहीं है, उसे प्राप्त करने की अपेक्षा से 'बोहिलाभवत्तियाए' पद का उपन्यास है।

'सद्धाए' का अर्थ : जलशोधक मणिका दृष्टान्तः—

'वंदणवत्तियाए'—इत्यादि छः पदों द्वारा कथित वन्दन-पूजनादि निमित्तों से भी किया जाता यह कायोत्सर्ग अगर श्रद्धादि से रहित हो तब अभिलषित वस्तु को सिद्ध करने में समर्थ नहीं होता है, इस लिए इसी सूत्र में अब कहते हैं 'सद्धाए मेहाए धीइए धारणाए अणुप्पेहाए वड्ढमाणीए ठामि काउस्सग्गं' अर्थात् बढ़ती हुई श्रद्धा, मेधा, धृति, धारणा एवं अनुप्रेक्षा द्वारा मैं कायोत्सर्ग करता हूँ। इसमें पहले कहना यह हुआ कि कायोत्सर्ग श्रद्धा वश किया जाता है किन्तु किसी बलाभियोगादि यानी बलात्कार, गतानुग-तिकता, पौद्गलिक आशंसा, कपट, इत्यादि वश नहीं। यह श्रद्धा स्वीय अभिलाषा रूप है। तात्पर्य कि-मिथ्यात्वमोहनीयकर्म के क्षयोपशम एवं परमात्मा के प्रति प्रशस्त भक्तिरागादि से उत्पन्न होता हुआ चित्तप्रसाद यह श्रद्धा है। वह एक ऐसा चित्तधर्म है जो कि चित्त के कालुष्य को नष्ट कर देता है, क्यों

(ल०—'मेहाए'—आतुरौषधदृष्टान्तः—) एवं मेधया, न जडत्वेन । मेधा ग्रन्थग्रहणपटुः परिणामः, ज्ञानावरणीयकर्म्मक्षयोपशमजः चित्तधर्म्म इति भावः । अयमपीह सद्ग्रन्थप्रवृत्तिसारः पापश्रुतावज्ञाकारी गुरुविनयादिविधिवल्लभ्यो महांस्तदुपादेयपरिणामः; आतुरौषधाप्त्युपादेयतानिदर्शनेन;—यथा प्रेक्षावदातुरस्य तथा तथोत्तमौषधावाप्तौ विशिष्टफलमव्यतयेवरापोहेन तत्र महानुपादेयभावो ग्रहणादरश्च, एवं मेधाविनो मेधासामर्थ्यात् सद्ग्रन्थ एवोपादेयभावो ग्रहणादरश्च, नान्यत्र, अस्यैव भावौषधत्वादिति ।

कि यह जीव अजीव आदि तत्त्वभूत पदार्थ का ही अनुसरण करता है अर्थात् उन जीवादि तत्त्व की ज्ञेय-हेय-उपादेयता के अनुरूप आत्मपरिणति से संपन्न होता है, और वह समारोप का नाश कर देता है। यह समारोप, जैसे मोतिया बिन्द एवं कामलरोगादि से जनित दृष्टि-उपघातवश एक ही चन्द्र में द्विचन्द्र का मिथ्याज्ञान एवं शुक्ल शङ्ख में पीतपन का भ्रान्तज्ञान, इत्यादि स्वरूप होता है इस तरह मिथ्यात्व-मोहोदय वश जीवादि वस्तु में असत् अन्यान्य स्वभाव के आरोपित ज्ञान स्वरूप होता है। ऐसा समारोप चित्तप्रसाद से नष्ट हो जाता है। यह चित्तप्रसाद कर्म, तत्फल, तत्संबन्ध का अस्तित्व इत्यादि की सम्यक् श्रद्धा स्वरूप होता है। यहां 'कर्म' से शुभाशुभ पुण्य-पाप, एवं 'तत्फल' से उनके विपाकाधीन शुभाशुभ कार्य, और 'तत्संबन्धास्तित्व' से कर्म और फल के बीच एवं उनका आत्मा के साथ वास्तविक साक्षात् कार्यकारणभाव-संबन्ध का सद्भाव विवक्षित है।

आत्मा, कर्म और फल का संबन्ध, यह वास्तविक संयोग है किन्तु औपचारिक नहीं,जैसा कि बुद्ध-शिष्यने माना हुआ क्षणसंतान के व्यवहार में औपचारिक संबन्ध। बौद्ध मत में कहा गया है कि जिस क्षणसंतान में जो कर्मवासना प्राप्त है उसी में, कपास में रक्तता की तरह, फल का अनुसन्धान यह करती है। कपास के जिस पौधे में रक्तता-संपादनार्थ चूर्णादियोग किया जाता है बाद में उसी पर उत्पन्न कपास में रक्तता होती है; इस प्रकार वस्तु प्रतिक्षण नष्टभ्रष्ट एवं नव्यजात होने पर भी एक वस्तु की वासना का कार्य दूसरी विलक्षण वस्तु में पैदा होने की आपत्ति नहीं है, क्योंकि कार्य तो, जिस वस्तु की क्षणसंतान में वैसी वासना होगी वहां ही हो सकता है। उदाहरणार्थ, पटक्षण-संतान में घटक्षणवासना का अर्थात् मिट्टी या घट के वर्णादि संस्कार का कार्य नहीं होगा। बौद्ध ने यहां मिट्टी वगैरह बिलकुल क्षणनष्ट मानने पर भी उत्तरक्षणोत्पन्न घटादि के साथ इसका जो कार्यकारण संबन्ध माना है, वह कोइ मुख्य वस्तु नहीं किन्तु औपचारिक काल्पनिक है। उसी प्रकार आत्मा, कर्म और फल का भी औपचारिक संबन्ध हुआ। जैन मत में वैसा नहीं किन्तु वस्तु नित्यानित्य होने से वास्तविक संबन्ध है; क्योंकि पूर्वक्षण की वस्तु पर्याय रूप से नष्ट होने पर भी द्रव्य रूप से अवस्थित है।

संबन्धास्तित्व आदि, पद में 'आदि' शब्द से यह लेना, "आत्मास्ति, स परिणामी, बद्धः सत्कर्म्मणा विचित्रेण। मुक्तश्च तद्वियोगाद्धिंसाहिंसादि तद्धेतु." इत्यादि अनुसार आत्मा सद् है, परिणामी नित्य है, विविध वास्तव कर्म से बन्धा हुआ है, कर्म के वियोग से मुक्त होता है, उन कर्मसंयोग के प्रति हिंसादि और कर्मवियोग के प्रति अहिंसादि कारण हैं। इत्यादि जिनप्रवचनोक्त विविध तत्त्ववस्तु लेना।

इन कर्म, फल इत्यादि तत्त्वों की सम्यक् प्रतीति स्वरूप, और चित्तकलुषितता का निवारक चित्त-धर्म यहां 'श्रद्धा' करके विवक्षित है। यह एक मणि-सा है। जिस प्रकार पानी को स्वच्छ करनेवाला मणिरत्न तालाब में डाला जाए तो वह पङ्क आदि कलुषितताओं को हटाकर स्वच्छता का संपादन कर देता है, इस प्रकार श्रद्धामणि भी चित्त सरोवर में उत्पन्न होकर तत्त्वसम्बन्धी संशय, भ्रम, चाञ्चल्य,

(ल०–'धीइए' : चिन्तामणिप्राप्त्युपमाः–) एवं च धृत्या, न रागाद्याकुलतया। धृतिर्मनः-प्रणिधानं, विशिष्टा प्रीतिः। इयमप्यत्र मोहनीयकर्मक्षयोपशमादिसंभूता, रहिता दैन्यौत्सुक्याभ्यां, धीरगम्भीराशयरूपा, अवन्ध्यकल्याणनिबन्धनवस्त्वाप्त्युपमया;–यथा दौर्गत्योपहतस्य चिन्तामण्या-द्यवाप्तौ विज्ञाततद्गुणस्य 'गतमिदानीं दौर्गत्यमि'ति विदित (प्र०...विगत) तद्विघातमात्रं भवति धृतिः। एवं जिनधर्मचिन्तारत्नप्राप्तावपि विदिततन्माहात्म्यस्य 'क्व इदानीं संसार' इति तद्दुःख-चिन्तारहिता सञ्जायत एवेयम्, उत्तमालम्बनत्वादिति।

अतत्त्वश्रद्धा इत्यादि चित्त की समस्त कलुषितताओं को हटा करके भगवान अरिहंतदेव से उपदिष्ट तत्त्व-मार्ग को चित्त में भावित करता है, या ऐसे मार्ग में चित्त को सम्यग् रूपसे भावित (वासित) कर देता है; जैसे कि कस्तूरी डिब्बे में रहे हुए कपड़े को वासित करती है।

'मेहाए' का अर्थ : रोगी के उत्तम औषध के प्रति आदर का दृष्टान्तः—

इस प्रकार मेहा–मेधा से कायोत्सर्ग करता हूँ, किन्तु जडता–अज्ञानता से नहीं। 'मेधा' यह शास्त्र वचन ग्रहण करने में निपुण ऐसा चित्तधर्म याने बुद्धिधर्म है। यह ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से प्रगट होता है। कायोत्सर्ग में जो अनुप्रेक्षा करनी है उसमें पूर्वोक्त श्रद्धा के अलावा यह मेधा भी आवश्यक है। चित्त में तत्त्वश्रद्धा जागृत हुई, अब उन तत्त्वों के प्रतिपादक सत्शास्त्र के विषय में महान उपादेयभाव उत्पन्न होता है; यही शास्त्र मुझे आदेय है, ग्राह्य है, वैसा अत्यधिक आकर्षण होता है। यह भी उपादेयभाव शुष्क नहीं किन्तु सम्यक् शास्त्र में प्रवृत्ति करने की प्रधानता वाला होता है। इसीलिए यह पापश्रुत के यानी मिथ्याशास्त्र एवं उनके वचनों के प्रति अवज्ञा, अग्राह्यभाव कराता है। एवं इससे सत् शास्त्र में प्रवृत्ति के पूर्व गुरुविनय–बहुमान आदि शास्त्रग्रहण–विधि की प्रियता रहती है। सत्शास्त्राध्ययन सबन्धी इस प्रकार का निपुण उपादेय–परिणाम यह मेधा है। रोगी पुरुष को औषध प्राप्ति में होते हुए उपादेयभाव के दृष्टान्त से यह सुज्ञेय है। जिस प्रकार विचारक रोगी पुरुष को किसी उत्तम औषध की प्राप्ति होती है तब यह औषधि विशिष्ट फल प्राप्ति के लिए योग्य लगने से, अन्य निष्फल या अनर्थकारी औषधों को छोड कर इस उत्तम औषध में उसे महान उपादेयभाव यानी 'यही ग्राह्य है' ऐसा अत्यधिक आकर्षण वाला मनोनिर्धार, एवं उसके ग्रहण में प्रयत्न रहता है, ठीक इसी प्रकार मेधावान पुरुष को मेधागुण के सामर्थ्य से सम्यक् शास्त्र के प्रति ही अत्यन्त उपादेयभाव और उसी के अध्ययन में प्रयत्न रहता है, किन्तु अन्यत्र नहीं, क्यों कि वह समझता है कि सम्यक् शास्त्र ही भाव–औषध है, आत्मरोग निवारणार्थ सच्चा औषध है।

'धीइए' का अर्थ:-चिन्तामणि प्राप्ति का दृष्टान्तः—

इसी प्रकार कायोत्सर्ग 'धीइए' अर्थात् धृति से करना है किन्तु रागादिदोषों से व्याकुलित होकर नहीं। धृति यह प्रस्तुत में मन का प्रणिधान यानी प्रकृष्ट स्थापन है; यह एक ऐसी विशिष्ट प्रीति है जो कि मन को अन्यत्र आकृष्ट होने नहीं देती। यहां यह प्रीति भी मोहनीयकर्म के क्षयोपशम आदि से प्रादुर्भूत होती है, और दीनता तथा फल के प्रति उत्सुकता से रहित होती है। क्रिया में विशिष्ट प्रीति होने पर कोई उद्वेग खिन्नता लावे ऐसी दीनता, एवं 'क्रिया तुरन्त समाप्त कर फल पा लें' ऐसी उत्सुकता नहीं होती है। यह धृति धीर और गम्भीर आशय स्वरूप होती है। पूर्वोक्त जो श्रद्धा मेधा प्राप्त हुई इनसे जो एक दृढ एवं गहरा शुभाशय उत्पन्न होता है। यह धृति है, और वह अवश्य निश्चित सुख लाने वाले कल्याण में कारणीभूत चिंतामणि आदि वस्तु प्राप्ति के दृष्टान्त से समझी जा सकती है। जैसे कि,-किसी

(ल०–'धारणाए' : मुक्ताफलमालाप्रोतकोपमाः–) एवं धारणया, न चित्तशून्यत्वेन। 'धारणा' अविकृतवस्त्वविस्मृतिः। इयं चेह ज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशमसमुत्था अविच्युत्यादिभेदवती प्रस्तुत(प्र०...प्रज्ञात)वस्त्वानुपूर्वीगोचरा चित्तपरिणतिः, नात्यमुक्ताफलमालाप्रोतकदृष्टान्तेन तस्य तथातथोपयोगदाढर्यात् अविक्षिप्तस्य सतो यथार्हं विविक्तदेवत्प्रोतनेन गुणवती निष्पद्यते अधिकृतमाला; एवमेतद्बलात् स्थानादियोगप्रवृत्तस्य यथोक्तनीत्यैव निष्पद्यते योगगुणमालापुष्ट (प्र०... पुष्टि)निबन्धनत्वादिति।

(पं०–) 'अविच्युत्यादिभेदवती'=अविच्युतिस्मृतिवासनाभेदवती।

(ल०–'अणुप्पेहाए' : रत्नशोधकानलोपमा–) एवमनुप्रेक्षया, न प्रवृत्तिमात्रतया। अनुप्रेक्षा नाम तत्त्वार्थानुचिन्ता। इयमप्यत्र ज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशमसमुद्भवोऽनुभूतार्थाभ्यासभेदः(१)परमसंवेगहेतुः (२) तद्दार्ढ्यविधायी (३)उत्तरोत्तरविशेषसम्प्रत्ययाकारः (४)केवलालोकोन्मुखश्चित्तधर्म्मः। यथा रत्नशोधकोऽनलः रत्नमभिसंप्राप्तः रत्नमलं दग्ध्वा शुद्धिमापादयति, तथानुप्रेक्षानलोऽप्यात्मरत्नमुपसंप्राप्तः कर्ममलं दग्ध्वा कैवल्यमापादयति तथातत्स्वभावत्वात्(प्र०...तथास्वभावात्) इति।

दरिद्रता से पीडित पुरुष को कदाचित् कहीं से चिन्तामणि रत्न प्राप्त हो जाए, और उसकी महिमा उसे अवगत हो, तब उस चिन्तामणि से दरिद्रता का निमित्त नाश जानकर 'अब तो दरिद्रता गई।' ऐसी धृति उत्पन्न होती है। इस प्रकार जिनधर्म स्वरूप चिन्तामणि भी प्राप्त होने पर उसका महात्म्य खयाल में रहते हुए, 'अब दुःखरूप ससार कैसा ?' ऐसी संसारदुःख की चिन्ता से विनिर्मुक्त विशिष्ट धृती उत्पन्न होती ही है। क्योंकि वह तो लौकिक चिन्तामणि की अपेक्षा उत्तम आलम्बन प्राप्त हुआ है।

'धारणाए' का अर्थ मोतीमाला के पिरोने का दृष्टान्तः—

इसी प्रकार धारणा से कायोत्सर्ग करना है, नहीं कि चित्त शून्य रख कर। धारणा प्रस्तुत वस्तु की अ-विस्मृत्ति को कहते हैं; विस्मृति न हो जाए किन्तु स्मृति हो इस प्रकार वस्तु को पकड़ रखना यह धारणा ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम द्वारा निष्पन्न होती है। उसके अविच्युति, स्मृति, और वासना, यों तीन प्रकार हैं। अविच्युति = श्रवण-दर्शन आदि करते समय ऐसा अवधारण कि उसका विषय मन में से निकल न जाए, च्युत न हो जाए। स्मृति = अवधारित का स्मरण। वासना = आगे स्मरण हो सके वैसी संस्काररूप में रक्षा। इन तीनों प्रकार की धारणा प्रस्तुत वस्तु के क्रम को विषय करने वाली चित्त-परिणाम स्वरूप होती है, अर्थात् वस्तुक्रम को पकड़ रखने वाला, मन का, एक परिणाम यह धारणा है। इसमें दृष्टान्त है सच्चे मोतीयों की माला के पिरोने वाले का तदनुसार वहां उसे वैसी वैसी चित्तोपयोग की दृढ़ता वश ऐसी धारणात्मक चित्तपरिणति संपन्न होती है। जितनी जितनी उपयोग की दृढ़ता, उतनी उतनी सतेज धारणा मोती माला का पिरोने वाला चित्तविक्षेप छोड़कर अर्थात् चित्त को और कहीं भी न ले जाता हुआ प्रस्तुत पिरोने की क्रिया में लगाकर यथायोग्य विधिपूर्वक मोतीयों के पोने का काम करता है; इससे वह माला गुणवती निष्पन्न होती है। इस प्रकार इस धारणावश स्थान-वर्ण अर्थ-आलम्बनयोग में प्रवर्तमान साधक को यथोक्त रीति से अर्थात् विक्षेपत्याग एवं विधिपूर्वक क्रमशः वस्तु का दृढ ग्रहण करने से योग-गुणों की माला निष्पन्न होती है। गुणमाला की निष्पत्ति होने का कारण (१) यहां आलम्बन यानी विषय पुष्ट है; कायोत्सर्ग एवं उसका विषय यह सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र का पोषक है। (२) अथवा यह गुणमाला पुष्टि को यानी विशुद्ध पुण्य की एवं धर्मवृत्त की वृद्धि को पैदा करती है।

(ल०–श्रद्धादीनि महासमाधिबीजानिः–) एतानि श्रद्धादीनि अपूर्वकरणाख्यमहासमाधिबीजानि, तत्परिपाकातिशयतस्तत्सिद्धेः। परिपाचना त्वेषां कुतर्कप्रमत्तमिथ्याविकल्पव्यपोहतः श्रवण-पाठ-प्रतिप्रत्तीच्छा-प्रवृत्त्यादिरूपाः; अतिशयस्त्वस्याः तथास्थैर्यसिद्धिलक्षणः प्रधानसत्त्वार्थहेतुरपूर्वकरणावह इति परिभावनीयं स्वयमित्थम्। एतदुच्चारणं त्वेत्रमेवोपधाशुद्धं सदनुष्ठानं(प्र०...अनुष्ठानं) भवतीति। एतद्वानेव वास्याधिकारीति ज्ञापनार्थम्।

(पं०–) 'श्रवणपाठप्रतिपत्तीच्छाप्रवृत्त्यादिरूपा' इति श्रवणं=धर्मशास्त्राऽऽकर्णनं, पाठः=तत्प्रगतः, प्रतिपत्तिः=सम्यक् तदर्थप्रतीतिः, 'इच्छा'=शास्त्रोक्तानुष्ठानविषया चिन्ता, प्रवृत्तिः=तदनुष्ठानम्, 'आदि'शब्दाद्विघ्नजय-सिद्धि-विनियोगा दृश्याः; तत्र विघ्नजयः=जघन्यमध्यमोत्कृष्टप्रत्यूहाभिभवः, सिद्धिः=अनुष्ठेयार्थनिष्पत्तिः, विनियोगः=तस्या यथायोग्यं व्यापारणम्। ततस्ते रूपं यस्याः सा तथा।

'अणुप्पेहाए' का अर्थ : रत्नशोधक अग्नि का दृष्टान्तः—

कायोत्सर्ग अनुप्रेक्षा से करना है, नहीं कि केवल प्रवृत्ति रूप से। अनुप्रेक्षा का अर्थ है तत्त्वभूत पदार्थ का चिन्तन। यह भी यहां ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से समुद्भूत एक चित्त धर्म है, चित्त-परिणति स्वरूप है, जो कि अनुभूत पदार्थ का अभ्यासविशेष यानी पुन. पुनः विशिष्ट आवृत्ति करने स्वरूप है। वह (१) परम संवेग अर्थात् उत्कृष्ट धर्मरङ्ग का निष्पादक है, इतना ही नहीं बल्कि (२) परम संवेग की दृढता करने वाला है। (३) उत्तरोत्तर विशेष विशेषतर सम्यक् श्रद्धान स्वरूप होता रहता है, यावत् (४) केवलज्ञान की ओर ले जाने वाला यह अनुप्रेक्षात्मक यानी तत्त्वार्थ-चिन्तनात्मक चित्तधर्म है।

जिस प्रकार रत्न का संशोधक यानी रत्न शुद्ध करने वाला अग्नि रत्न को चारों ओर से व्याप्त कर लेने पर रत्न में लगी सभी मलिनता को जला करके उसमें बिलकुल निर्मलता का संपादन करता है, ठीक उसी प्रकार अनुप्रेक्षा रूप अग्नि आत्मा स्वरूप रत्न को सम्यक् प्राप्त होता हुआ उसके कर्ममल यानी समस्त घाती कर्मों को जला देता है और निर्मलता यानी केवलज्ञान-दर्शन का सपादन करता है क्यों कि केवलज्ञानादि यह आत्मा का मूलस्वभाव है। लेकिन वह कर्म से आवृत्त है किन्तु अनुप्रेक्षा-तत्त्वचिन्तन का ऐसा स्वभाव है कि अतत्त्वरमणता से लगे कर्ममल का नाश कर दे। तब सहज है कि केवलज्ञानादि रूप शुद्धता प्रगट हो जाए।

श्रद्धादि पांचों 'अपूर्वकरण' संज्ञक महासमाधि के बीजः—

ये श्रद्धा, मेधा, धृति, धारणा और अनुप्रेक्षा ये पांचों ही अपूर्वकरण नामक महासमाधि के बीज हैं। बीजों का पाक अपूर्वकरण है। वह महासमाधि है। समाधि अप्रमत्त भाव से की जाती रत्नत्रयी (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) में आत्मरमणता स्वरूप है, और महासमाधि अपूर्वकरण है, जो कि आठवें गुणस्थानक में प्रादुर्भूत होता है, और वह आत्मा की उपर्युक्त रत्नत्रयी-रमणतापूर्वक किये गए तत्त्वरमणता के परम विकास स्वरूप है। ऐसी महासमाधि स्वरूप पाक का सर्जन करने के लिए बीज आवश्यक है, और वे हैं श्रद्धा, मेधादि पांच। इन पांचों को बीज इसलिए कहते हैं कि उनका अतिशय परिपाक होने से वह अपूर्वकरण सिद्ध होता है। क्यों कि (१) जलशोधक रत्न के समान चित्तशोधक बलिष्ठ श्रद्धा, (२) रोगी के औषधग्रहणादर समान शास्त्रग्रहण की मेधा; (३) चिन्तामणि की प्राप्ति समान जिनधर्म प्राप्ति में धृति, एवं (४) माला परोने वाले की तरह स्थानादि योगगत धारणा – ये श्रद्धादि चार अत्यन्त बढ़ती

(ल०–'वड्ढमाणीए ठामि' : नि० व्य० नयौ :–) वर्द्धमानया वृद्धिं गच्छन्त्याः नावस्थितया। प्रतिपदोपस्थाप्येतत्,–श्रद्धया वर्द्धमानया, एवं मेधया०,...इत्यादि। लाभक्रमादुपन्यासः श्रद्धादीनां;–श्रद्धायां सत्यां मेधा, तद्भावे धृतिः, ततो धारणा, तदन्वनुप्रेक्षा। वृद्धिरप्यनेनैव क्रमेण। एवं तिष्ठामि कायोत्सर्गमित्यनेन प्रतिपत्तिं दर्शयति। प्राक् 'करोमि करिष्यामी'ति क्रियाभिमुख्यमुक्तं, सांप्रतं त्वासन्नतरत्वात् क्रियाकाल-निष्ठाकालयोः कथंचिदभेदात् 'तिष्ठाम्ये'वाह। अनेनाभ्युपगमपूर्वं श्रद्धादिसमन्वितं च सदनुष्ठानमिति दर्शयति।

(पं०–) 'प्रतिपत्ति' मिति, प्रतिपत्तिः कायोत्सर्गारम्भरूपा, तां, 'क्रियाकालनिष्ठाकालयोः कथंचिदभेदादि'ति कथंचिद्=निश्चयनयवृत्त्या। स हि क्रियमाणं=क्रियाकालप्राप्तं 'कृतमेव=निष्ठितमेव मन्यते; अन्यथा क्रियोपरमकाले क्रियानारम्भकाल इवानिष्ठितत्वप्रसङ्गात्, उभयत्र क्रियाऽभावाविशेषात्। कृतं पुनः क्रियमाणमुपरतक्रियं वा स्यादिति। यदुक्तं, 'तेणेह कज्जमाणं नियमेण कयं, कयं च भयणिज्जं। किंचिदिह कज्जमाणं उवरयकिरियं व होज्जाहि ॥१॥' व्यवहारनयस्तु 'अन्यत् क्रियमाणमन्यच्च कृतमि'ति मन्यते। यदाह,–'नारम्भे च्चिय दीसइ, न सिवादद्धाए दीसइ तयन्ते। जम्हा घडाइकज्जं न कज्जमाणं कयं तम्हा ॥१॥' ततोऽत्र निश्चयनयवृत्त्या व्युत्सष्टुमारब्धकायस्तद्देशापेक्षया व्युत्सृष्ट एव द्रष्टव्य इति।

रहने से फलतः (५) रत्नशोधक अग्नि के समान तत्त्वार्थचिन्तन रूप अनुप्रेक्षा अत्यन्त बढ़ती रहती है। यही अत्यन्त परिपक्व श्रद्धा–मेधा–धृति–धारणापूर्वक वृद्धिगत अनुप्रेक्षा का परिपाक अंत में जा कर अपूर्वकरण–महासमाधि की तत्त्वरमणता में पर्यवसित होता है। इसीलिए ये श्रद्धादि महासमाधि के बीज कहे जाते हैं।

श्रवण-पाठ-प्रतिपत्ति-इच्छा-प्रवृत्ति-विघ्नजय आदिः—

श्रद्धादि बीजों का परिपाक इस प्रकार होता है:–इन श्रद्धा–मेधादि की वृद्धि से कुतर्क–प्रेरित मिथ्या विकल्पों की निवृत्ति होती है और वे हट जाने से श्रवण-पाठ-प्रतिपत्ति-इच्छा-प्रवृत्ति-विघ्नजय आदि जो प्राप्त होते रहते हैं यही परिपाक क्रिया है। यह परिपाक-क्रिया अतिशय बढ जाने पर उच्च स्थैर्य एवं सिद्धि में परिणत होती है, जो कि प्रधान यानी सामर्थ्ययोग प्रेरक सत्त्व–पदार्थ का कारण होने से अपूर्वकरण को आकर्षित करता है, यह स्वयं उत्तवत् सोच लेने योग्य है।

यहां 'श्रवण' है धर्मशास्त्र को सुनना; 'पाठ' है उसके सूत्रों को पढ़ना, 'प्रतिपत्ति' यह सूत्र के अर्थ का प्रतीतियुक्त बोध रूप है; 'इच्छा' है शास्त्रोक्त आज्ञा के अनुष्ठान की अभिलाषा; 'प्रवृत्ति' है शास्त्राज्ञा का पालन; और 'प्रवृत्ति आदि' में 'आदि' शब्द से विघ्नजय, सिद्धि एवं विनियोग ग्राह्य है; वहां 'विघ्नजय' यह प्रवास में कण्टक–ज्वर–दिङ्मोह समान जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट विघ्नों पर विजय प्राप्त करने स्वरूप है; 'सिद्धि' है अनुष्ठान के विषयभूत अहिंसा पदार्थ को आत्मसात कर लेना; और 'विनियोग' है उस सिद्ध पदार्थ का यथायोग्य नियोजन; सिद्ध धर्म गुण का दूसरों में स्थापन करना।

श्रद्धा मेधादि रखते हुए यदि श्रवण, पाठ इत्यादि विनियोग तक किया जाए तभी वे श्रद्धादि परिपक्व हो अंत में महासमाधि को उत्पन्न कर सकेंगे, अन्यथा नहीं।

इतना ध्यान रखें कि प्रस्तुत में सद्धाए मेहाए इत्यादि पदों का उच्चारण उसी प्रकार कपट भाव और

पौद्गलिक आशंसा से भी रहित किया जाए तभी सम्यग् अनुष्ठान संपन्न होता है। ऐसा अनुष्ठान कर-सकने वाला ही पुरुष इस प्रकार के कायोत्सर्ग का अधिकारी है;—यह सूचित करने के लिए 'सद्धाए...' इत्यादि पाठ है।

'वड्ढमाणीए' का अर्थ : श्रद्धादि पांच की क्रमिक उत्पत्ति-वृद्धि:—

वड्ढमाणीए अर्थात् बढ़ती हुई किन्तु अवस्थित नहीं। यह पद सद्धाए इत्यादि प्रत्येक पद के साथ लगने वाला है; इसलिए अर्थ यह होता है कि वर्धमान श्रद्धा से, वर्धमान मेधा से, वर्धमान धृति से, वर्धमान धारणा से, एवं वर्धमान अनुप्रेक्षा से। तात्पर्य श्रद्धादि पांचों ही वैसे-के-वैसे रहने वाले नहीं किन्तु प्रतिसमय बढ़ते रहने चाहिए पहले 'सद्धाए' बाद 'मेहाए' तत्पश्चात् 'धीइए' इत्यादि क्रम से जो उपन्यास किया गया है यह उन श्रद्धा मेधादि के प्राप्ति के क्रमानुसार है। पहले श्रद्धा उत्पन्न हो, पीछे मेधा उत्पन्न होगी; मेधा के होने पर ही धृति होती है, तत्पश्चात् ही धारणा और बाद में ही अनुप्रेक्षा पैदा हो सकती है। मात्र उत्पत्ति नहीं किन्तु वृद्धि भी इसी क्रम से होती है; अर्थात् श्रद्धा बढ़ने पर ही मेधा बढ़ती है, मेधा बढ़ने पर ही धृति बढ़ती है, धृति बढ़ने पर ही धारणा, एवं धारणा बढ़ने पर ही अनुप्रेक्षा बढ़ सकती है।

'ठामि' का अर्थ : क्रियाकाल-निष्ठाकाल का ऐक्य :—

'ठामि काउस्सग्गं' अर्थात् कायोत्सर्ग में मैं रहता हूँ। इस कथन से प्रतिपत्ति यानी कायोत्सर्ग का प्रारम्भ दिखलाते हैं। अब मैं कायोत्सर्ग का प्रारम्भ करता हूँ। पहले 'करेमि काउस्सग्गं' अर्थात् कायोत्सर्ग करता हूँ, करूंगा; इस कथन से क्रिया की सन्मुखता व्यक्त की गई है। अब क्रिया का प्रारम्भ बहुत निकट है इसलिए 'ठामि' कहते हैं।

प्र०-'ठामि काउ०' का अर्थ कायोत्सर्ग में रहने का है और अभी तो 'अन्नत्थ ऊससिएणं' सूत्र पढ़ना है बाद में कायोत्सर्ग-प्रारम्भ होने वाला है, तब फिर 'कायोत्सर्ग में रहता हूँ यह वहां कहना उचित है, यहां क्यों कहा?

उ०-क्रियाकाल एवं निष्ठाकाल (समाप्तिकाल) दोनों में कथंचिद् अभेद होता है निश्चयनय की अपेक्षा से दोनों एक हैं, इसलिए यहां 'ठामि' कहना असङ्गत नहीं है। निश्चयनय मानता है कि जो क्रियाकाल को प्राप्त हुआ अर्थात् कराना शुरु हुआ वह वहां ही इतने अंश में कृत ही हुआ, निष्ठित (समाप्त) ही हुआ। ऐसा अगर न माना जाए किन्तु क्रिया हो जाने के बाद ही यानि हुआ माना जाए, तो क्रिया बंद होने के वख्त भी, क्रिया के अप्रारम्भकाल में जैसा निष्ठित नहीं है, उस प्रकार निष्ठित नहीं होगा। कारण, क्रिया-निवृत्ति एवं क्रिया-अनारम्भ दोनों वख्त क्रिया का अभाव तुल्य है। इसलिए मानना दुर्वार है कि क्रिया के निवृत्ति काल ही नहीं किन्तु क्रियाकाल में भी वह अवश्य निष्ठित यानि कृत होता है, अर्थात् जो क्रियमाण है वह वहां क्रियाकाल में ही इतने इतने अंश में कृत है। क्रियमाण अवश्य कृत है।

हां, जो कृत है वह क्रियमाण होने का नियम नहीं है; क्यों कि वह या तो क्रियमाण भी हो सकता है अथवा निवृत्त क्रिया वाला भी हो सकता है। कहा गया है कि 'इसलिए यहां क्रियमाण अवश्य कृत है, और कृत में विकल्प है, कुछ कृत क्रियमाण होता है अथवा कुछ शान्तक्रिय होता है। यह निश्चय-नय का मत है।

व्यवहारनय क्रियमाण और कृत को अर्थात् क्रियाकाल एवं कृतकाल (निष्ठाकाल) को अलग अलग मानता है; जब क्रियमाण अवस्था है तब कृत अवस्था नहीं, जब कृत अवस्था है तब क्रियमाण नहीं।

(ल०–श्रद्धादितारतम्यमादरादिसिद्धम्:–) आह 'श्रद्धादिविकलस्यैवमभिधानं मृषावादः'; को वा किमाहेति, सत्यम्, इत्थमेवैतदिति तन्त्रज्ञाः, किन्तु न श्रद्धादिविकलः प्रेक्षावानेवमभिधत्ते, तस्यालोचितकारित्वात्। मन्दतीव्रादिभेदाश्चैते तथादरादिलिङ्गा इति। नातद्वत आदरादीति। अतस्तदादरादिभावेनाभोगवतोऽप्येत इति।

(पं०–) ननु कदाचिच्छ्रद्धादिविकलः प्रेक्षावानप्येवमभिदधद् दृश्यत इत्याशङ्क्याह 'मन्दे' त्यादि; मन्दो=मृदुः, तीव्रः=प्रकृष्टः, आदिशब्दात् तदुभयमध्यवर्ती मध्यमः, त एव भेदाः=विशेषाः, येषां ते तथा। चः समुच्चये, एते=श्रद्धादयः किंविशिष्टा इत्याह 'तथा'=तेन प्रकारेण, ये 'आदरादयो' वक्ष्यमाणास्त एव 'लिङ्ग'=गमकं येषां ते तथा। 'इति': वाक्यसमाप्तौ। ननु कथमेषां लिङ्गत्वं सिद्धमित्याह 'न'=नैव, 'अतद्वतः'=अश्रद्धादिमतो, 'यत' इति गम्यते, 'आदरादि' वक्ष्यमाणमेव, 'इति' अतः श्रद्धादिकारणत्वाल्लिङ्गमिति। ततः किं सिद्धमित्याह 'अतः'=श्रद्धादिकारणत्वात्, 'तदादरादिभावे' तत्र=कायोत्सर्गे, आदरादेः लिङ्गस्य, भावे=सत्तायाम्, 'अनाभोगवतोऽपि'=चलचित्ततया प्रकृतस्थानवर्णाद्युपयोगविरहेऽपि, किं पुनराभोगे ? इति 'अपि' शब्दार्थः, 'एते'=श्रद्धादयः, कार्याविनाभावित्वात् कस्यचित् कारणस्य यथा प्रदीपस्य प्रकाशेन वृक्षस्य वा छायया, 'इतिः' वाक्यसमाप्तौ। अतो मन्दतया श्रद्धादीनामनुपलक्षणेऽपि, आदरादिभावे सूत्रमुच्चारयतोऽपि न प्रेक्षावत्ताक्षतिः।

कहा गया है कि जिस कारण घड़ा आदि कार्य उसकी उत्पादन क्रिया के प्रारम्भ में दिखाई नहीं देता, एवं शिवक-स्थास-कोश आदि बनने के काल में भी दृश्यमान नहीं किन्तु क्रिया के अन्त में आकर दिखाई पड़ता है, इसलिए क्रियमाण यह कृत नहीं है, अर्थात् जहां तक क्रियमाण है वहां तक निष्पन्न नहीं है।

अतः यहां 'ठामि काउस्सग्गं' कहने पर कायोत्सर्ग शुरु करने के लिए काया तय्यार होती है तो निश्चयनय की अपेक्षा से कायोत्सर्ग-क्रिया के अंश को ले कर कायोत्सर्ग किया हुई ऐसा समझना। इस लिए यहां 'ठामि काउस्सग्गं' कहना अनुचित नहीं है।

'करेमि काउस्सग्गं, ठामि काउस्सग्गं' कहने से कायोत्सर्ग का अभ्युपगम (स्वीकार) किया; और यह 'सद्धाए....' इत्यादि कहने द्वारा श्रद्धादि से संपन्न होने का सूचित किया। इससे प्रदर्शित किया गया कि सद् अनुष्ठान अभ्युपगम पूर्वक और श्रद्धा-मेधादि से समन्वित होना चाहिए। अभ्युपगम करने से प्रणिधान निष्पन्न होता है, और श्रद्धा-मेधादि से आगे कहे जाने वाले आदरादि लक्षण प्राप्त होते हैं।

प्र०–श्रद्धादि रहित पुरुष 'सद्धाए' इत्यादि बोले तो क्या मृषावाद न होगा ?

उ०–कौन इन्कार करता है ? सही बात है कि वैसा ही है, इस प्रकार शास्त्रज्ञ पुरुष फरमाते हैं। हां, प्रेक्षावान् (विचारक) पुरुष श्रद्धादिरहित हो वैसा बोलता है ऐसा नहीं बन सकता; क्योंकि वह तो आलोचित किये श्रद्धेय कार्य को ही करने वाला होता है।

प्र०–यह कैसे ? कदाचित् श्रद्धादिरहित भी प्रेक्षावान 'सद्धाए' .. इत्यादि बोलता हुआ दिखाई पड़ता है न ?

उ०–नहीं, वहां समझना चाहिए कि तब तो उसमें श्रद्धा आदि का बिलकुल अभाव नहीं है, क्योंकि ये श्रद्धा-मेधादि गुण जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट, ऐसे विविध मात्राओं के होते हैं, इसलिए जहां आप श्रद्धादि का सर्वथा अभाव समझ रहे हैं, वहां मन्द या मध्यम मात्रा के वे गुण हो सकते हैं। आप पूछेंगे

(ल०-चित्तधर्माणामिक्ष्वाद्युपमाः-) इक्षु-रस-गुड-खण्ड-शर्करोपमाश्चित्तधर्म्माः इत्यन्यैरप्यभिधानात् ; इक्षुकल्पं च तदादरादि भवति, अतः क्रमेणोपायवतः शर्कराादिप्रतिमं श्रद्धादीति ।

(पं०-) परमतेनापि श्रद्धादीनां मन्दतीव्रादित्वं साधयन्नाह 'इक्षु-रस-गुड-खण्ड-शर्करोपमाः' इत्यादिभिः पञ्चभिर्जनप्रतीतैः 'उपमा'=सादृश्यं येषां ते तथा, 'चित्तधर्म्माः'=मनःपरिणामाः, 'इति'= एतस्यार्थस्य, 'अन्यैरपि' तन्त्रान्तरीयैः किं पुनरस्माभिः, ? 'अभिधानात्'=भणनात् । प्रकृतयोरेवोपमानोपमेययोर्योजनामाह 'इक्षुकल्पं च'=इक्षुसदृशं च, 'तद् आदरादि', तस्मिन्=कायोत्सर्गे, आदरः=उपादेयभावः, 'आदि' शब्दात् करणे प्रीत्यादि । 'इति'=अस्मात्कारणाद्, 'भवति'=संपद्यते, 'अतः'=इक्षुकल्पादादरादेः 'क्रमेण'=प्रकर्षपरिपाट्या, 'उपायवतः'=तद्धेतुयुक्तस्य, 'शर्कराादिप्रतिमं', शर्करा=सिता, 'आदि' शब्दात् पश्चानुपूर्व्या खण्डादिग्रहः (तत्प्रतिमं=)तत्समं प्रत्येकं प्रकृतसूत्रोपात्तं (श्रद्धादि=)श्रद्धामेधादिगुणपञ्चकम् 'इति.' परिसमाप्तौ ।

कि उनका होना कैसे जाना जाए ? उत्तर यह है कि श्रद्धा आदि आन्तरिक गुण के ज्ञापक लिङ्ग हैं बाह्य आदर आदि । आदर, करण-प्रीति वगैरह आगे बतलाते हैं । ये आदर आदि को 'लिङ्ग' इसलिए कहा जाता है कि यह देखने में आता है कि जिसे श्रद्धादि नहीं होते हैं उसे आदरादि नहीं होते हैं, और श्रद्धादि होने पर ही आदरादि होते हैं । अतः आदरादि ये श्रद्धादि से जन्य होने की वजह से जैसे धुंआ आग का ज्ञापक है वैसे आदरादि श्रद्धादि के ज्ञापक लिङ्ग हैं। बस, श्रद्धादि के अधीन होने से ही जहां कायोत्सर्ग करते समय आदरादि रूप लिङ्ग विद्यमान है, वहां कायोत्सर्ग-कर्ता कदाचित् चलचित्तता के कारण प्रस्तुत स्थान-वर्ण-अर्थ-आलम्बन में दत्तचित्त न भी हो तो भी उन आदरादि के कारणभूत श्रद्धादि अवश्य हैं । दत्तचित्त को तो श्रद्धादि होने में पूछना ही क्या ? कार्य कारण का अविनाभाव है, अर्थात् बिना कारण नहीं हो सकने वाला होता है, अत. कार्य देखने से कारण का अवश्य अस्तित्व अवगत होता है, जैसे कि प्रकाश रूप कार्य से कारणभूत प्रदीपादि का, अथवा छाया से पेड़ का ज्ञान होता है । इसलिए जिस प्रेक्षावान पुरुष में कायोत्सर्ग के आदरादि से श्रद्धादि होने निश्चित हुए, उसमें वे श्रद्धादि मन्द होने से दृश्य नहीं है इतना ही, बाकी जब आदरादि से सूत्र का उच्चारण करता है तब फिर उसमें प्रेक्षावत्ता की हानि नहीं है । इससे यह सूचित होता है कि आन्तर गुणों की कई मात्राएँ होती हैं अत. उच्च मात्रा का गुण न दिखाई देने पर सहसा गुण का सर्वथा अभाव नहीं कह सकते ।

इक्षु-रस-गुड आदि के साथ श्रद्धादि की तुलना :—

अन्य मत से भी देखना चाहें तो श्रद्धादि गुणों में मन्दता तीव्रता आदि का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए इक्षु-रस-गुड-खांड-शक्कर इन पांच जनप्रसिद्ध वस्तुओं के समान चित्तधर्म यानी मन के परिणाम होते हैं, इस वस्तु का प्रतिपादन अन्य दर्शन शास्त्रों में भी मिलता है। यहां उपमान और उपमेय की योजना इस प्रकार है; कायोत्सर्ग में उपादेयभाव यानी कर्तव्यबुद्धि स्वरूप आदर, एवं उसे करने में होती हुई प्रीति आदि इक्षु समान है। इसलिए इन इक्षुसमान आदरादि की जैसे-जैसे उत्तरोत्तर वृद्धि होती है उस क्रम के अनुसार, श्रद्धादि के उपाय में प्रवर्तमान पुरुष के शक्करादि तक के समान श्रद्धा मेधादि पांच गुण जो कि प्रस्तुत प्रत्येक सूत्र से गृहीत हैं, उनकी भी उत्पत्ति हुई है यह मानना होगा। सारांश यह है कि अगर आन्तर श्रद्धादि हों, तभी बाह्य आदरादि होते हैं; और ये आदरादि एवं श्रद्धा आदि गुण इक्षु आदि के समान होते हैं। इक्षु की इक्षु (गन्ना) अवस्था, रस अवस्था, गुड अवस्था, खांड अवस्था, एवं

(ल०—कषायकटुकत्वं शममाधुर्यम्–) कषायादिकटुकत्वनिरोधतः शममाधुर्योपादानसाम्येन चेतस एवमुपन्यास इति । एतदनुष्ठानमेव चैवमिहोपायः तथा तथा सद्भावशोधनेनेति परिभावनीयम् । उक्तं च परैरपि—

'आदरः करणे प्रीतिरविघ्नः संपदागमः । जिज्ञासा तज्ज्ञसेवा च, सदनुष्ठानलक्षणम् ॥१॥
अतोऽभिलषितार्थाप्तिस्तत्सद्भावविशुद्धितः । यथेक्षोः शर्करान्तिः स्यात्क्रमात्तद्धेतुयोगतः ॥२॥
इत्यादि ।

(पं०–) आह किमिति दृष्टान्तान्तरव्युदासेनेक्ष्वाद्युपमोपन्यास इत्याशङ्क्याह 'कषायादिकटुकत्वनिरोधतः', कषायाः=क्रोधादयः, 'आदि' शब्दादिन्द्रियविकारादिग्रहः, त एव कटुकत्वं=कटुकभावः, तस्य निरोधादात्मनि, किमित्याह 'शममाधुर्योपादनसाम्येन', शमः=उपशमः, स एव माधुर्यं=मधुरभावः शुभ(प्र०....शुद्ध) भावप्रीणनहेतुत्वात्, तस्य आपादनं=विधानं, तेन तस्य वा साम्यं=सादृश्यं; तेन चेतसो=मनसः, 'एवम्'= इक्ष्वाद्युपमानोपमेयतयोपन्यास आदरादीनाम्, 'इतिः' परिसमाप्तौ । 'उपायवत्' इति प्रागुक्तम्, अत उपायमेव दर्शयति,-'एतदनुष्ठानमेव च'=प्रकृतकायोत्सर्गविधानमेव, न पुनरन्यत्, 'चः' समुच्चये, 'एवम्'=इति सामान्येनादरादियुक्तम्, 'इह'इति =शक्रादिप्रतिमश्रद्धादिभवने, 'उपायः'=हेतुः, कुत इत्याह 'तथा तथा'= तत्तत्प्रकारेण, 'सद्भावशोधनेन'=शुद्धपरिणामनिर्मलीकरणेन, 'इति'=एतत्, 'परिभावनीयम्'=अन्वयव्यतिरेकाभ्यामालोचनीयमेतद् । इदमपि परमतेन संवादयन्नाह 'उक्तं च', 'परैरपि' मुमुक्षुभिः । किमुक्तमित्याह 'आदरेत्यादिश्लोकद्वयं' सुगमम् । नवरम् 'अविघ्न' इति सदनुष्ठाननिहतक्लिष्टकर्म्म (प्र०....दुःकर्म्म)तया सर्वत्र कृत्ये विघ्नाभावः ।

शक्कर अवस्था, सभी मधुर तो हैं ही, लेकिन क्रमशः वृद्धिगत माधुर्य वाली होती है इसी प्रकार श्रद्धादि और आदरादि भी अति मन्द से लेकर अति तीव्र तक कई प्रकार के होते हैं । श्रद्धादि बढने से आदरादि बढते हैं; आदरादि की कक्षा देखकर श्रद्धादि की कक्षा का अनुमान होता है । अतएव प्रेक्षावान यदि कायोत्सर्ग में मन्द भी बाह्य आदरादि करता ही है, तो उसमें आन्तरिक मन्द भी श्रद्धादि है ही, अतः उसका 'सद्धाए'... इत्यादि सूत्र का उच्चारण श्रद्धारहित यानी मृषा नहीं है ।

कषायादिकटुता-निवारण पूर्वक शममाधुर्य-संपादनः—

यह प्रश्न हो सकता है कि दूसरा कोई दृष्टान्त न लेकर इक्षु आदि की उपमा का उपन्यास क्यों किया ? उत्तर यह है कि कटुता का निवारण करके मधुरता का संपादन करना, ऐसी विशेषता में इक्षु आदि के साथ सदृशता होने से इस उपमा का यहां उपन्यास किया गया है । चित्त में, आत्मा में, क्रोध-मान-माया-लोभ कषाय एवं इन्द्रिय विकारादि की कटुता है । श्रद्धादि एवं आदरादि से उसका निवारण हो कर उपशमभाव स्वरूप माधुर्य का संपादन होता है । अतः मुख में चिराते आदि की कटुता के निवारक और मधुरता के धारक इक्षु आदि के साथ श्रद्धादि एवं आदरादि का उपमान-उपमेय भाव युक्तियुक्त है, उचित है ।

(ल०–अप्रेक्षाकारियथेच्छप्रवर्तकस्य मृषावादः–) अप्रेक्षावतस्तु यदृच्छाप्रवृत्तेः नटादिकल्पस्य गुणद्वेषिणो मृषावाद एव, अनर्थयोगात्। तत्परितोषस्तु तदन्यजनाधःकारी मिथ्यात्वग्रहविकारः। यथोक्तमन्यैः,—

दण्डिखण्डनिवसनं भस्मादिविभूषितं सतां शोच्यम्। पश्यत्यात्मानमलं ग्रही नरेन्द्रादपि ह्यधिकम्॥१॥
मोहविकारसमेतः पश्यत्यात्मानमेवमकृतार्थम्। तद्व्यत्ययलिङ्गरतं कृतार्थमिति तद्ग्रहावेशात् ॥२॥
इत्यादि। तस्मात्प्रेक्षावन्तमङ्गीकृत्यैतत्सूत्रं सफलं प्रत्येतव्यमिति।

(पं०–) 'तत्परितोष'इत्यादि, तेन=मृषावादेन मिथ्याकायोत्सर्गरूपेण परितोषः कृतार्थतारूपः, 'तु' पुनरर्थे, 'तदन्यजनाधःकारी'=सम्यक्कायोत्सर्गकारिलोकनीचत्वविधायी, 'मिथ्यात्वग्रहविकारो,' मिथ्यात्वमेवोन्मादरूपतया, ग्रहो=दोषविशेषः, तस्य विकार इति। 'एवमि'ति ग्रहप्रकारेण। 'तद्व्यत्ययलिङ्गरतमि'ति, तस्य=कृतार्थस्य, व्यत्ययः=अकृतार्थः, तस्य लिङ्गानि उच्छृङ्खलप्रवृत्त्यादीनि, तेषु रतम्। 'तद्ग्रहावेशादि'ति, स एव ग्रहो मोहविकारः तद्ग्रहः, तस्य आवेशाद्=उद्रेकात्।

कायोत्सर्ग का महत्त्व :—

पहले श्रद्धादि के उपाय में प्रवर्तमान को ऐसा कह आये हैं, वहां 'उपाय' शब्द से प्रस्तुत कायोत्सर्ग का सद्‌अनुष्ठान ही ग्राह्य है, कोई दूसरा अनुष्ठान नहीं। वह भी सामान्यतः आदरादि-युक्त करना चाहिए। ऐसे कायोत्सर्ग का विधान शक्कर आदि तक के समान श्रद्धादि निष्पन्न होने में उपायभूत है, क्योंकि इसके द्वारा ऐसे ऐसे प्रकार से शुभ भाव या शुद्ध भाव की उत्पत्ति यानी भाव का शोधन होता है, अर्थात् कायोत्सर्ग से प्रारम्भिक-प्राथमिक चित्त-परिणाम का निर्मलीकरण होता जाता है, जो कि इक्षु रस-गुड़ आदि दृष्टान्त के क्रम से शक्कर तुल्य शुद्ध परिणाम स्वरूप उच्च श्रद्धादि में पर्यवसित होता है। आदरादि पूर्वक कायोत्सर्ग-विधान से ऐसा श्रद्धादि-शोधन क्यों, यह अन्वय व्यतिरेक से विचारणीय है। (उसके होने पर उसका होना, यह 'अन्वय' है, न होने पर न होना यह 'व्यतिरेक' है।) पर मत का भी संवाद इसमें मिलता है; जैसे कि अन्यों ने कहा है,—

आदरः करणे प्रीतिरविघ्नः संपदागमः। जिज्ञासा तज्ज्ञसेवा च सदनुष्ठान लक्षणम् ॥
अलोऽभिलषितार्थाप्तिस्तत्त्वज्ञानविशुद्धितः। यथेक्षोः शर्करासिः स्यात्क्रमात्सद्धेतुयोगतः ॥

अर्थात्—(१) अनुष्ठान में आदर यानी बहुमानयुक्त प्रयत्न, जिससे करने में प्रीति, रस हो, (२) विघ्न पर विजय-सदनुष्ठान के बल से क्लिष्ट कर्म नष्ट हो जाने से सर्वत्र कृत्य में विघ्न का अभाव; (३) संपत्ति का आगमन, अर्थात् नये नये शुभ की प्राप्ति; (४) नये नये तत्त्व और विधान की जिज्ञासा, एवं (५) तज्ज्ञ पुरुष की सेवा-शुश्रूषा—ये पांच सदनुष्ठान के लक्षण हैं। इनसे संपन्न सदनुष्ठान के द्वारा, उस उस प्रकार की विशुद्धि होते होते इष्ट अर्थ की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार इक्षु में से उस उस प्रकार के सम्यग् उपाय के व्यापार से शक्कर तक की प्राप्ति होती है।

अप्रेक्षावान् का मृषा उच्चारणः—

'सद्धाए . ठामि काउस्सग्गं' का उच्चारण सभी के द्वारा सत्य ही किया जाता है ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि जो अप्रेक्षावान्–अविचारक पुरुष है, वह श्रद्धा आदि से नहीं, किन्तु उच्छृङ्खलता से नट आदि

के मुताबिक सूत्रोच्चारण करता है; इस लिए ऐसा उच्चारण मृषावाद ही है। ऐसे पुरुष को महामोहवश गुण के प्रति अरुचि है, अत एव वर्तमान में तो नहीं किन्तु भविष्य में भी श्रद्धादि गुण प्राप्त हो, ऐसा कोई उद्देश्य भी यह सूत्र पढ कर किये जा रहे कायोत्सर्गानुष्ठान में नहीं है। इसलिए वह किसी रूप में सत्य भाषण नहीं कहा जा सकता। (अन्यथा श्रद्धादि गुण अगर वर्तमान में नहीं है, किन्तु गुण रुचिवश प्राप्त करने की अभिलाषा है और इसलिए इस सूत्रपाठ पूर्वक कायोत्सर्ग करता है, तो वहां सत्य उच्चारण पूर्वक कायोत्सर्ग के कारणीभूत कायोत्सर्गाभ्यास होने से मृषावाद नहीं कहा जाएगा।) गुण की अरुचि वाले का सूत्र-उच्चारण तो अभ्यास रूप भी कायोत्सर्ग नहीं बन सकता, वरन् अनर्थकारी होता है, इसलिए वह मृषा भाषण ही है; और उसका कायोत्सर्ग मिथ्या है।

ऐसे मिथ्या कायोत्सर्ग की चेष्टा रूप मृषावाद पर किया जाता परितोष,-यानी 'मैंने कायोत्सर्ग किया',-ऐसा कृतार्थता का अभिमान (भ्रान्त आत्मसंतोष),-सम्यक् कायोत्सर्गकारी लोगों को नीचे करने वाला होने से एक प्रकार का मिथ्यात्वग्रह-विकार है; अर्थात् जैसे उन्मादकारी पिशाचावेश में विलक्षण हास्य-गान आदि चेष्टा का होना एक विकार है वैसे यहां मिथ्यात्व रूप दोष विशेष का ही, यह कायोत्सर्ग चेष्टा, एक विकार है।

इसी ढंग से अन्य मतों में भी कहा है कि;-"जो दण्डधारी संन्यासी महाविप्र पुरुष की तरह उन्मत्त है, वह एक वस्त्र का टुकड़ा पहन कर और भस्म-तिलकादि से विभूषित होकर अपने आपको राजा से भी अधिक देखता है। वह मोह के विकार से पीड़ित होने की वजह से अकृतार्थ भी अपनी आत्मा को भूतावेश की रीति से कृतार्थ आत्मा के लक्षण से विपरीत उच्छृङ्खल प्रवृत्ति आदि लक्षण में रक्त होता हुआ भी कृतार्थ ही समझता है; कारण, उसे ग्रह रूप मोह-विकार का अत्यन्त आधिक्य है।"…. इत्यादि।

अप्रेक्षावान् का सूत्र पठन मिथ्यात्व विकारवश मृषा होने से उसको नहीं किन्तु प्रेक्षावान पुरुष को ही लेकर प्रस्तुत सूत्र सफल है, ऐसा विश्वास करने योग्य है।



'अन्नत्थ ऊससिएणं' सूत्र

(अन्यत्र उच्छ्वसितेन)

(ल०–कायोत्सर्गापवादाः–) किं सर्वथा तिष्ठति कायोत्सर्गमुत नेत्याह 'अन्नत्थ ऊससिएणमि'त्यादि ।

(अन्नत्थ ऊससिएणं नीससिएणं खासिएणं छीएणं जंभाइएणं उड्डुएणं वायनिसग्गेणं भमलीए पित्तमुच्छाए सुहुमेहिं अङ्गसंचालेहिं सुहुमेहिं खेलसंचालेहिं सुहुमेहिं दिट्ठिसंचालेहिं, एवमाइएहिं आगारेहिं अभग्गो अविराहिओ हुज्ज मे काउस्सग्गो, जाव अरिहंताणं भगवंताणं नमुक्कारेणं न पारेमि ताव कायं ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि)

अन्यत्रोच्छ्वसितेन–उच्छ्वसितं मुक्त्वा योऽन्यो व्यापारस्तेनाव्यापारवत इत्यर्थः । एवं सर्वत्र भावनीयम् । तत्रोर्द्ध्वं प्रबलं वा श्वसितमुच्छ्वसितं, तेन । 'नीससिएणं'ति–अधः श्वसितं निःश्वसितं, तेन । 'खासिएणं'ति–कासितेन कासितं प्रतीतं । 'छीएणं'ति–क्षुतेन, इदमपि प्रतीतमेव । 'जंभाइएणं'ति–जृम्भितेन, विवृतवदनस्य प्रबलपवननिर्गमो जृम्भितमुच्यते । 'उड्डुएणं'ति–उद्गारितं प्रतीतं, तेन । 'वायनिसग्गेणं'ति–अधिष्ठानेन पवननिर्गमो वातनिसर्गो भण्यते, । 'भमलीए'त्ति–भ्रमल्या, इयं चाकस्मिकी शरीरभ्रमिः प्रतीतैव । 'पित्तमुच्छाए'त्ति–पित्तमूर्च्छया, पित्तप्राबल्यान्मनाङ् मूर्च्छा भवति ।

'अन्नत्थ ऊससिएणं'....सूत्र

'अरिहंत चेइयाणं' सूत्र में अन्त में 'ठामि काउस्सग्गं' अर्थात् मैं कायोत्सर्ग में रहता हूँ, ऐसा कहा गया है । तो प्रश्न यह होता है कि कायोत्सर्ग में संपूर्ण रहना या नहीं ? अर्थात् क्या काय-प्रवृत्ति का सर्वथा त्याग किया जाता है ? उत्तर में कहते है 'अन्नत्थ ऊससिएणं'....उच्छ्वसित आदि से अन्यत्र; अर्थात् उसको छोडकर अन्य काय-प्रवृत्ति का मैं त्याग करता हूँ ,काया का उत्सर्ग करता हूँ । ऐसे 'नीससिएणं' इत्यादि सभी पदों में समझना । उच्छ्वसित का अर्थ है ऊंचा श्वास;या प्रबल श्वास;उससे अन्यत्र ।'नीससिएणं' निःश्वसित अर्थात् नीचा श्वास, उससे अन्यत्र । 'खासिएणं' = कासित से अन्यत्र; कासित खांसी अर्थ में प्रसिद्ध है । 'छीएणं' = क्षुत से अन्यत्र; यह भी छींक अर्थ में प्रसिद्ध है । 'जंभाइएणं' = जृम्भित से अन्यत्र; चौडे खुले मुख में से प्रबल वायु का निकलना यह 'जृम्भितं (जम्हाई) कहा जाता है । उड्डुएणं' = उद्गारित डकार अर्थ में प्रसिद्ध है, उससे अन्यत्र । 'वायनिसग्गेणं' = गुदा में से वायु का निकलना, इस वात निसर्ग कहा जाता है; इससे अन्यत्र । 'भमलीए' = भ्रमली से अन्यत्र शरीर में अकस्मात् होने वाले चक्कर को भ्रमली कहते हैं । 'पित्तमुच्छाए' = पित्तमूर्च्छा से अन्यत्र; पित्त के प्राबल्य से कुछ बेहोशी हो जाती है; इससे अन्यत्र यानी इसको छोडकर कायक्रिया का त्याग।

(ल०-) 'सुहुमेहिं अङ्गसञ्चालेहिं' ति-सूक्ष्मैः अङ्गसञ्चारैः लक्ष्यालक्ष्यैर्गात्रविचलनप्रकारै रोमोद्गमादिभिः । 'सुहुमेहिं खेलसञ्चालेहिं' ति-सूक्ष्मैः खेलसञ्चारैः, यस्माद्वीर्यसयोगिसद्द्रव्यतया ते खल्वन्तर्भवन्ति । 'सुहुमेहिं दिट्ठिसञ्चालेहिं' ति-सूक्ष्मैः दृष्टिसञ्चारैः निमेषादिभिः ।

(पं०-) 'वीर्यसयोगिसद्द्रव्यतये' ति, वीर्येण=वीर्यान्तरायकर्मक्षयक्षयोपशमप्रभवेणात्मशक्ति-विशेषेण, सयोगीनि=सचेष्टानि, सन्ति=विद्यमानानि, द्रव्याणि मनोवाक्कायतया परिणतपुद्गलस्कन्धलक्षणानि, यस्य स तथा (वीर्यसयोगिसद्द्रव्यः), तद्भावस्तत्ता, तया । अथवा, वीर्येण उक्तलक्षणेन, सयोगिनो=मनोवाक्कायव्यापारवतः, सतो=जीवस्य, द्रव्यता=खेलसञ्चारादीन् प्रति हेतुभावः, तयेति ।

(ल०-) <u>'एवमाइएहिं आगारेहिं अभग्गो अविराहिओ हुज्ज मे काउस्सग्गोत्ति'</u>-एवमादिभिरिति । 'आदिशब्दाद् यदा ज्योतिः स्पृशति तदा प्रावरणाय कल्पग्रहणं कुर्वतोऽपि न कायोत्सर्गभङ्गः ।

आह,-'नमस्कारमेवाभिधाय किमिति तद्ग्रहणं न करोति येन तद्भङ्गो न भवति ?' । उच्यते,-नात्र नमस्कारेण पारणमित्येतावदेव अविशिष्टं कायोत्सर्गमानं क्रियते, किन्तु यो यत्परिमाणो यत्र कायोत्सर्ग उक्तः, तत ऊर्ध्वं समाप्तेऽपि तस्मिन् नमस्कारमपठतो भङ्गः; अपरिसमाप्तेऽपि पठतो भङ्ग एव । स चात्र न भवतीति । न चैतत्स्वमनीषिकयैवोच्यते, यत उक्तमार्षे 'अगणी उ छिंदिज्ज व बोहियखोभाइ दीहडक्को वा । आगारेहिं अभग्गो उस्सग्गो एवमाइएहिं ॥१॥

(पं०-) 'अगणीओ छिंदेज्ज वे' त्यादि,-अग्निर्वा स्पृशेत् । स्वस्य कायोत्सर्गालम्बनस्य च गुर्वादेरन्तरालभुवं वा कश्चिद्यच्छिन्द्यात् । 'बोहिका' मानुषचौराः । 'क्षोभः' स्वराष्ट्रपरराष्ट्रकृतः । 'आदि' शब्दात् गृहप्रदीपनकग्रहः ।, 'दीर्घो'=दीर्घकायः सर्पादिः, 'दष्टो वा' तेनैव । ततस्तेषां प्रतिविधानेऽपि न कायोत्सर्गभङ्ग इति भावः ।

<u>'सुहुमेहिं अंगसञ्चालेहिं'</u>=इस प्रकार रोमाञ्च आदि गात्र-चलन स्वरूप सूक्ष्म अङ्गसञ्चार से अन्यत्र कायोत्सर्ग । <u>'सुहुमेहिं खेलसञ्चालेहिं'</u>=सूक्ष्म कफसञ्चार से अन्यत्र कायोत्सर्ग । कफ का सञ्चार वही कि जो खींच कर किया हुआ नहीं, किन्तु जो सहज और दुर्निवार है । क्यों कि आत्मा वीर्यसंयोगी सद्द्रव्य है अर्थात् वीर्यान्तराय कर्म के क्षय या क्षयोपशम वश प्रादुर्भूत विशिष्ट आत्मशक्ति से अपने मन-वचन-काय स्वरूप परिणत जो स्कन्धात्मक पुद्गल द्रव्य वे सयोगी यानी सक्रिय होते ही रहते हैं; तब कफ का सूक्ष्म संचार अनिवार्य है । अथवा, 'वीर्यसयोगी सद्द्रव्यता' का मतलब यह है कि वीर्यान्तराय कर्म के क्षय-क्षयोपशमवश जो सयोगी यानी मन-वचन-काय की प्रवृत्ति वाला जीव (सत्), उसकी द्रव्यता यानी योग्यता,—कफ सचार के प्रति कारणता—; इससे सूक्ष्म कफ संचार अनिवार्य है । इसलिए कायोत्सर्ग, इसको छोड कर, अन्य कायक्रिया के त्याग रूप किया जाता है । <u>'सुहुमेहिं दिट्ठिसंचालेहिं'</u> सहज नेत्रनिमेष-नेत्रोन्मेष स्वरूप सूक्ष्म दृष्टिसंचार को छोड कर अन्यत्र कायोत्सर्ग ।

<u>'एवमाइएहिं'</u>-(एवमादिभिः):—इन इत्यादि आगारों यानी अपवादों से । यहां इत्यादि शब्द से दीपक ज्योति प्रमुख आगार (अपवाद) भी कायोत्सर्ग करने में रखे जाते हैं । अर्थात् जब कायोत्सर्ग में

'अन्नत्थ ऊससिएणं' सूत्र

(अन्यत्र उच्छ्वसितेन)

(ल०–कायोत्सर्गापवादाः–) किं सर्वथा तिष्ठति कायोत्सर्गमुत नेत्याह 'अन्नत्थ ऊससिए-णमि'त्यादि ।

(अन्नत्थ ऊससिएणं नीससिएणं खासिएणं छीएणं जंभाइएणं उड्डुएणं वायनिसग्गेणं भमलीए पित्तमुच्छाए सुहुमेहिं अङ्गसंचालेहिं सुहुमेहिं खेलसंचालेहिं सुहुमेहिं दिट्ठिसंचालेहिं, एव-माइएहिं आगारेहिं अभग्गो अविराहिओ हुज्ज मे काउस्सग्गो, जाव अरिहंताणं भगवंताणं नमुक्कारेणं न पारेमि ताव कायं ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि)

अन्यत्रोच्छ्वसितेन–उच्छ्वसितं मुक्त्वा योऽन्यो व्यापारस्तेनाव्यापारवत इत्यर्थः । एवं सर्वत्र भावनीयम् । तत्रोर्द्धं प्रबलं वा श्वसितमुच्छ्वसितं, तेन । 'नीससिएणं'ति–अधः श्वसितं निःश्वसितं, तेन । 'खासिएणं'ति–कासितेन कासितं प्रतीतं । 'छीएणं'ति–क्षुतेन, इदमपि प्रतीतमेव । 'जंभाइएणं'ति–जृम्भितेन, विवृतवदनस्य प्रबलपवननिर्गमो जृम्भितमुच्यते । 'उड्डुएणं'ति–उद्गारितं प्रतीतं, तेन । 'वायनिसग्गेणं'ति–अधिष्ठानेन पवननिर्गमो वातनिसर्गो भण्यते, । 'भमलीए'त्ति–भ्रमल्या, इयं चाकस्मिकी शरीरभ्रमिः प्रतीतैव । 'पित्तमुच्छाए'ति–पित्तमूर्च्छया, पित्तप्राबल्यान्मनाङ् मूर्च्छा भवति ।

'अन्नत्थ ऊससिएणं'....सूत्र

'अरिहंत चेइयाणं' सूत्र में अन्त में 'ठामि काउस्सग्गं' अर्थात् मैं कायोत्सर्ग में रहता हूँ, ऐसा कहा गया है। तो प्रश्न यह होता है कि कायोत्सर्ग में संपूर्ण रहना या नहीं ? अर्थात् क्या काय-प्रवृत्ति का सर्वथा त्याग किया जाता है ? उत्तर में कहते हैं 'अन्नत्थ ऊससिएणं'....उच्छ्वसित आदि से अन्यत्र; अर्थात् उसको छोड़कर अन्य काय-प्रवृत्ति का मैं त्याग करता हूँ ,काया का उत्सर्ग करता हूँ। ऐसे 'नीससिएणं' इत्यादि सभी पदों में समझना। उच्छ्वसित का अर्थ है ऊंचा श्वास;या प्रबल श्वास;उससे अन्यत्र।'नीससिएणं' नि श्वसित अर्थात् नीचा श्वास, उससे अन्यत्र। 'खासिएणं' = कासित से अन्यत्र; कासित खांसी अर्थ में प्रसिद्ध है। 'छीएणं' = क्षुत से अन्यत्र; यह भी छींक अर्थ में प्रसिद्ध है। 'जंभाइएणं' = जृम्भित से अन्यत्र; चौडे खुले मुख में से प्रबल वायु का निकलना यह 'जृम्भितं (जम्हाई) कहा जाता है। 'उड्डुएणं' = उद्गारित डकार अर्थ में प्रसिद्ध है, उससे अन्यत्र। 'वायनिसग्गेणं' = गुदा में से वायु का निकलना, इसे वात निसर्ग कहा जाता है; इससे अन्यत्र। 'भमलीए' = भ्रमली से अन्यत्र शरीर में अकस्मात् होने वाले चक्कर को भ्रमली कहते हैं। 'पित्तमुच्छाए' = पित्तमूर्च्छा से अन्यत्र; पित्त के प्राबल्य से कुछ हो जाती है; इससे अन्यत्र यानी इसको छोडकर कायक्रिया का त्याग।

(ल०-) 'सुहुमेहिं अङ्गसञ्चालेहिं' ति-सूक्ष्मैः अङ्गसञ्चारैः लक्ष्यालक्ष्यैर्गात्रविचलनप्रकारैः रोमोद्गमादिभिः। 'सुहुमेहिं खेलसञ्चालेहिं' ति-सूक्ष्मैः खेलसञ्चारैः, यस्माद्वीर्यसयोगिसद्द्रव्यतया ते खल्वन्तर्भवन्ति। 'सुहुमेहिं दिट्ठिसञ्चालेहिं' ति-सूक्ष्मैः दृष्टिसञ्चारैः निमेषादिभिः।

(पं०-) 'वीर्यसयोगिसद्द्रव्यतये' ति, वीर्येण=वीर्यान्तरायकर्मक्षयक्षयोपशमसमुत्थेनात्मशक्तिविशेषेण, सयोगानि=सचेष्टानि, सन्ति=विद्यमानानि, द्रव्याणि मनोवाक्कायतया परिणतपुद्गलस्कन्धलक्षणानि, यस्य स तथा (वीर्यसयोगिसद्द्रव्यः), तद्भावस्तत्ता, तया। अथवा, वीर्येण उत्कर्षेण, सयोगिनो=मनोवाक्कायव्यापारवतः, सतो=जीवस्य, द्रव्यता=खेलसञ्चारादीन् प्रति हेतुभावः, तयेति।

(ल०-) 'एवमाइएहिं आगारेहिं अभग्गो अविराहिओ हुज्ज मे काउस्सग्गोत्ति'-एवमादिभिरिति। 'आदि'शब्दाद् यदा ज्योतिः स्पृशति तदा प्रावरणाय कल्पग्रहणं कुर्वतोऽपि न कायोत्सर्गभङ्गः।

आह,-'नमस्कारमेवाभिधाय किमिति तद्ग्रहणं न करोति येन तद्भङ्गो न भवति?'। उच्यते,-नात्र नमस्कारेण पारणमित्येतावदेव अविशिष्टं कायोत्सर्गमानं क्रियते, किन्तु यो यत्परिमाणो यत्र कायोत्सर्ग उक्तः, तत ऊर्ध्वं समाप्तेऽपि तस्मिन् नमस्कारमपठतो भङ्गः; अपरिसमाप्तेऽपि पठतो भङ्ग एव। स चात्र न भवतीति। न चैतत्स्वमनीषिकयैवोच्यते, यत उक्तमार्षे 'अगणी उ छिंदिज्ज व बोहियखोभाइ दीहडक्को वा। आगारेहिं अभग्गो उस्सग्गो एवमाइएहिं ॥१॥

(पं०-) 'अगणीओ छिंदेज्ज वे'त्यादि,-अग्निर्वा स्पृशेत्। स्वस्य कायोत्सर्गालम्बनस्य च गुर्वादेरन्तरालभुवं वा कश्चिदवच्छिन्द्यात्। 'बोहिका' मानुषचौराः। 'क्षोभः' स्वराष्ट्रपरराष्ट्रकृतः। 'आदि'शब्दात् गृहप्रदीपनकग्रहः।, 'दीर्घो'=दीर्घकायः सर्पादिः, 'दष्टो वा' तेनैव। ततस्तेषां प्रतिविधानेऽपि न कायोत्सर्गभङ्ग इति भावः।

'सुहुमेहिं अगसञ्चालेहिं' = ज्ञात अज्ञात रोमाञ्च आदि गात्र-चलन स्वरूप सूक्ष्म अङ्गसञ्चार से अन्यत्र कायोत्सर्ग। 'सुहुमेहिं खेलसञ्चालेहिं' = सूक्ष्म कफसञ्चार से अन्यत्र कायोत्सर्ग। कफ का सञ्चार वही कि जो खींच कर किया हुआ नहीं, किन्तु जो सहज और दुर्निवार है। क्यों कि आत्मा वीर्यसंयोगी सद्द्रव्य है अर्थात् वीर्यान्तराय कर्म के क्षय या क्षयोपशम वश प्रादुर्भूत विशिष्ट आत्मशक्ति से अपने मन-वचन-काय स्वरूप परिणत जो स्कन्धात्मक पुद्गल द्रव्य वे सयोगी यानी सक्रिय होते ही रहते हैं; तब कफ का सूक्ष्म संचार अनिवार्य है। अथवा, 'वीर्यसयोगी सद्द्रव्यता' का मतलब यह है कि वीर्यान्तराय कर्म के क्षय-क्षयोपशमवश जो सयोगी यानी मन-वचन-काय की प्रवृत्ति वाला जीव (सत्), उसकी द्रव्यता यानी योग्यता,—कफ सचार के प्रति कारणता—; इससे सूक्ष्म कफ संचार अनिवार्य है। इसलिए कायोत्सर्ग, इसको छोड कर, अन्य कायक्रिया के त्याग रूप किया जाता है। 'सुहुमेहिं दिट्ठिसंचालेहिं' सहज नेत्रनिमेष-नेत्रोन्मेष स्वरूप सूक्ष्म दृष्टिसंचार को छोड कर अन्यत्र कायोत्सर्ग।

'एवमाइएहिं'-(एवमादिभिः):—इन इत्यादि आगारों यानी अपवादों से। यहां इत्यादि शब्द से दीपक ज्योति प्रमुख आगार (अपवाद) भी कायोत्सर्ग करने में रखे जाते हैं। अर्थात् जब कायोत्सर्ग में

(ल०—आगारेहिं अभग्गो अविराहिओ हुज्ज मे काउस्सग्गो) आक्रियन्त इत्याकारा आगृह्यन्त इति भावना; सर्वथा कायोत्सर्गापवादप्रकारा इत्यर्थः। तैः आकारैर्विद्यमानैरपि, न भग्नोऽभग्नः, भग्नः=सर्वथा नाशितः। न विराधितोऽविराधितः, विराधितः देशभग्नोऽभिधीयते। भूयात् 'मे'=मम कायोत्सर्गः।

(अपवादप्रकाराः-) तत्रानेन सहजास्तथा अल्पेनरनिमित्ता आगन्तवो नियमभाविनश्चाल्पा बाह्यनिबन्धना बाह्याश्चातिचारजातय इत्युक्तं भवति,:— ● उच्छ्वासनिःश्वासग्रहणात् सहजाः, सचित्तदेहप्रतिबद्धत्वात्; ● कासितक्षुतजृम्भितग्रहणात् स्वल्पनिमित्ता आगन्तवः, स्वल्पपवनक्षोभादेस्तद्भावात्; ● उद्गारवातनिसर्गभ्रमिपित्तमूर्च्छाग्रहणात् पुनर्बहुनिमित्ता आगन्तव एव, महाजीर्णादेस्तदुपपत्तेः; ● सूक्ष्माङ्गखेलदृष्टिसंचारग्रहणाच्च नियमभाविनोऽल्पाः, पुरुषमात्रे सम्भवात्; ● एवमाद्युपलक्षितग्रहणाच्च बाह्यनिबन्धना बाह्याः, तद्द्वारेण प्रवृत्तेरिति।

कभी दीपक अग्नि या बिजली की ज्योति का स्पर्श लगता हो तब शरीर को ढकने के लिए ऊन का वस्त्र ग्रहण करने पर भी कायोत्सर्ग का भङ्ग नहीं है।

प्र०–ऐसे प्रसङ्ग में नमस्कार (नमो अरिहंताणं) पढ़ करके ही वस्त्र ग्रहण क्यों नहीं किया जाता है जिसमे कायोत्सर्ग का भङ्ग न हो ?

उ०–यहां इस सूत्र के अन्त में जो बोला जाता है कि 'जाव अरिहंताणं भगवंताणं नमुक्कारेणं न पारेमि ताव ' अर्थात् 'जब तक अर्हद् भगवान के नमस्कार से न पारुं' वहां तक कायोत्सर्ग,' (इसके द्वारा कायोत्सर्ग का, नमस्कार से न पारने तक का सामान्य प्रमाण विवक्षित नहीं है किन्तु 'झाणेणं' पद वश नियत अमुक प्रमाण के ध्यान का कायोत्सर्ग सूचित है। अब जिस क्रिया में जितने प्रमाण का कायोत्सर्ग, जैसे कि एक नवकार, या एक लोगस्स का) कायोत्सर्ग करना कहा गया है, वहां उतने प्रमाण के यानी विशिष्ट प्रमाण के कायोत्सर्ग की प्रतिज्ञा की जाती है। वह भी पूरा करके नमस्कार न पढ़े वहां तक के कायो० की प्रतिज्ञा है। इसलिए कायो० के लिये कहे गये विशिष्ट प्रमाण का चिंतन पूरा करने के बाद भी नमस्कार न पढ़ने वाले को कायोत्सर्ग भङ्ग का दोष लगता है; एवं प्रमाण पूरा न करने पर भी नमस्कार पढ़कर पारने वाले को भी भङ्ग का दोष है। और यह दोष प्रस्तुत में आगारयुक्त कायोत्सर्ग चालू रख कर आगार के आधार पर वस्त्र ग्रहण करने पर भी नहीं लगता। महर्षिप्रणीत शास्त्र मे कहा गया है कि;—

१ 'अगणी उ २ छिंदिज्ज व ३ बोहिय ४ खोभाइ ५ दीहडको वा। आगारेहिं अभग्गो उस्सग्गो एवमाईहिं॥'

अर्थात् (१) अग्नि का स्पर्श होता हो; (२) अपने एवं कायोत्सर्गार्थ आलम्बनभूत स्थापनाचार्यादि के बीच की भूमि का कोई उल्लंघन करने को तत्पर हो; (३) मनुष्यापहारी चोर का उपद्रव हो; (४) स्वराष्ट्र के आन्तरविग्रह या परराष्ट्र के आक्रमण का विक्षोभ हो; (५) 'आदि'शब्द से घर में आग लगी हो अथवा सर्पादि से दंश लगा हो–इत्यादि आगारों से अभग्न कायोत्सर्ग किया जाता है, 'अर्थात् यहां प्रतीकार करने पर भी कायोत्सर्ग का भङ्ग नहीं है।

(ल०–) उपाधिशुद्धं परलोकानुष्ठानं निःश्रेयसनिबन्धनमिति ज्ञापनार्थमर्मीषामिहोपन्यासः। उक्तं चागमे,—

'वयभङ्गे गुरुदोसो थेवस्सवि पालणा गुणकरी उ। गुरुलाघवं च णेयं, धम्मंमि अओ उ आगारा ॥१॥'

इति। एतेनार्हच्चैत्यवन्दनायोद्यतस्योच्छ्वासादिसापेक्षत्वमशोभनम्, अभक्तेः, न हि भक्तिनिर्भरस्य क्वचिदपेक्षा युज्यते, इत्येतदपि प्रत्युक्तम्, उक्तवदभक्त्ययोगात्। तथाहि,–का खल्वत्रापेक्षा? अभिष्वङ्गाभावाद्, आगमप्रामाण्यात्। उक्तं च,—

उस्सासं न निरुंभइ आभिग्गहिओ वि किमुय चेट्ठाए ?। सज्जमरणं निरोहे सुहुमुस्सासं तु जयणाए ॥

न च मरणमविधिना प्रशस्यत इति, अर्थहानेः, शुभभावनाद्ययोगात्, स्वप्राणातिपातप्रसङ्गात्, तस्य चाविधिना निषेधात्। उक्तं च,—

सव्वत्थ संजमं, संजमाओ अप्पाणमेव रक्खिज्जा। मुयइ अइवायाओ, पुणो विसोही न या विरई ॥

कृतं प्रसंगेन।

'आगारेहिं अभग्गो अविराहिओ हुज्ज मे काउस्सग्गो':—

आगार का अर्थ आकार है। आकार अर्थात् जो अपवाद की मर्यादा रूप से कराते हैं, यानी गृहीत होते हैं ऐसी भावना करनी;तात्पर्य,सर्वथा कायोत्सर्ग में अपवाद के प्रकार ये यहां आगार हैं। कायो०निरपवाद नहीं किन्तु अपवाद युक्त, आगारयुक्त किया जाता है। इन आगारों से अभग्न कायो०, मतलब ये उच्छ्वासादि आगार होते हुए भी, अर्थात् उच्छ्वासादि रूप से काया सचेष्ट होते हुए भी, अपवाद पहले से रखे जाते हैं इसलिए, सापवाद (सागार) कायोत्सर्ग अभग्न हो, अविराधित हो। 'अभग्न' अर्थात् भग्न नहीं, सर्वथा नष्ट नहीं किया गया; 'अविराधित' यानी विराधित नहीं अंश से भी खण्डित न किया गया। 'हुज्ज मे काउस्सग्गो'–मेरा कायोत्सर्ग हो। सारांश, इन आगारों की चेष्टा छोडकर और बातों में मेरी काया का उत्सर्ग यानी निश्चेष्ट स्थापन अभग्न-अविराधित हो। फलतः इन आगारों में दिये गये अपवादों की क्रियाएँ करने पर भी वह अभग्न गिना जाता है।

प्रस्तुत आगारों का विभागीकरणः—

इस सूत्र मे प्रतिपादित किये गए आगार कई प्रकारों में विभाजित होते हैं; जैसे कि,–१ सहज, २ आगन्तुक अल्पनिमित्तक, ३ आगन्तुक बहुनिमित्तक, ४ नियमभावी अल्प, और ५ बाह्यनिमित्तक बाह्य। ये अतिचार की जातियां हैं, जिनमें स्थिर निश्चेष्ट रखी गई काया का भी अतिचरण यानी सचेष्टता होती है। ● १. उच्छ्वास और निःश्वास के ग्रहण से सहज जाति के अतिचार कहे गए हैं, क्योंकि ये सचेतन देह से प्रतिबद्ध हैं। ● २. खांसी, छींक, और जम्हाई के ग्रहण से अल्प निमित्त वाले आगन्तुक अतिचार कहे गये हैं क्योंकि अत्यल्प वायुक्षोभादि के जरिए वे उठते हैं। ● ३. डकार, अधोवायुसंचार, चक्करी, एवं पित्तवश मूर्च्छा के ग्रहण से फिर बहुनिमित्त वाले आगन्तुक कहे गए हैं; क्योंकि महाअजीर्ण की वजह से उनका होना उपपन्न है। ● ४. सूक्ष्म अंग संचार-कफसंचार-दृष्टिसंचार के ग्रहण से नियमभावी (अवश्य होने वाले) अल्प अतिचरण कहे गए हैं; क्यों कि पुरुषमात्र में वे होते ही हैं। ● ५. 'एवमाइएहिं' पद से इत्यादि सूचित आगार के ग्रहण द्वारा बाह्य निमित्त वाले बाह्य आगार कहे गए, क्योंकि वे

(ल०—आगारेहिं अभग्गो अविराहिओ हुज्ज मे काउस्सग्गो) आक्रियन्त इत्याकारा आगृह्यन्त इति भावना; सर्वथा कायोत्सर्गापवादप्रकारा इत्यर्थः। तैः आकारैर्विद्यमानैरपि, न भग्नोऽभग्नः, भग्नः=सर्वथा नाशितः। न विराधितोऽविराधितः, विराधितः देशभग्नोऽभिधीयते। भूयात् 'मे'=मम कायोत्सर्गः।

(अपवादप्रकाराः-) तत्रानेन सहजास्तथा अल्पेतरनिमित्ता आगन्तवो नियमभाविनश्चाल्पा बाह्यनिबन्धना बाह्याश्चातिचारजातय इत्युक्तं भवति,:—● उच्छ्वासनिःश्वासग्रहणात् सहजाः, सचित्तदेहप्रतिबद्धत्वात्; ● कासितक्षुतजृम्भितग्रहणात् स्वल्पनिमित्ता आगन्तवः, स्वल्पपवनक्षोभादेस्तद्भावात्; ● उद्गारवातनिसर्गभ्रमिपित्तमूर्च्छाग्रहणात् पुनर्बहुनिमित्ता आगन्तव एव, महाजीर्णादेस्तदुपपत्तेः; ● सूक्ष्माङ्गखेलदृष्टिसंचारग्रहणाच्च नियमभाविनोऽल्पाः, पुरुषमात्रसम्भवात्; ● एवमाद्युपलक्षितग्रहणाच्च बाह्यनिबन्धना बाह्याः, तद्द्वारेण प्रवृत्तेरिति।

कभी दीपक अग्नि या बिजली की ज्योति का स्पर्श लगता हो तब शरीर को ढकने के लिए ऊन का वस्त्र ग्रहण करने पर भी कायोत्सर्ग का भङ्ग नहीं है।

प्र०—ऐसे प्रसङ्ग में नमस्कार (नमो अरिहंताणं) पढ़ करके ही वस्त्र ग्रहण क्यों नहीं किया जाता है जिससे कायोत्सर्ग का भङ्ग न हो ?

उ०—यहां इस सूत्र के अन्त में जो बोला जाता है कि 'जाव अरिहंताणं भगवंताणं नमुक्कारेणं न पारेमि ताव ' अर्थात् 'जब तक अर्हद् भगवान के नमस्कार से न पारु वहां तक कायोत्सर्ग,' (इसके द्वारा कायोत्सर्ग का, नमस्कार से न पारने तक का सामान्य प्रमाण विवक्षित नहीं है किन्तु 'झाणेणं' पद वश नियत अमुक प्रमाण के ध्यान का कायोत्सर्ग सूचित है। अतः जिस क्रिया में जितने प्रमाण का कायोत्सर्ग, जैसे कि एक नवकार, या एक लोगस्स का) कायोत्सर्ग करना कहा गया है, वहां उतने प्रमाण के यानी विशिष्ट प्रमाण के कायोत्सर्ग की प्रतिज्ञा की जाती है। वह भी पूरा करके नमस्कार न पढ़े वहां तक के कायो० की प्रतिज्ञा है। इसलिए कायो० के लिये कहे गये विशिष्ट प्रमाण का चिंतन पूरा करने के बाद भी नमस्कार न पढ़ने वाले को कायोत्सर्ग भङ्ग का दोष लगता है; एवं प्रमाण पूरा न करने पर भी नमस्कार पढ़कर पारने वाले को भी भङ्ग का दोष है। और यह दोष प्रस्तुत में आगारयुक्त कायोत्सर्ग चालू रख कर आगार के आधार पर वस्त्र ग्रहण करने पर भी नहीं लगता। महर्षिप्रणीत शास्त्र में कहा गया है कि;—

१ 'अगणी उ २ छिंदिज्ज व ३ बोहिय ४ खोभाइ ५ दीहडक्को वा। आगारेहिं अभग्गो उस्सग्गो एवमाईहिं॥'

अर्थात् (१) अग्नि का स्पर्श होता हो; (२) अपने एवं कायोत्सगार्थ आलम्बनभूत स्थापनाचार्यादि के बीच की भूमि का कोई उल्लंघन करने को तत्पर हो; (३) मनुष्यापहारी चोर का उपद्रव हो; (४) स्वराष्ट्र के आन्तरविग्रह या परराष्ट्र के आक्रमण का विक्षोभ हो; (५) 'आदि'शब्द से घर में आग लगी हो अथवा सर्पादि से दंश लगा हो–इत्यादि आगारों से अभग्न कायोत्सर्ग किया जाता है, 'अर्थात् वहां प्रतीकार करने पर भी कायोत्सर्ग का भङ्ग नहीं है।

(ल०-) उपाधिशुद्धं परलोकानुष्ठानं निःश्रेयसनिबन्धनमिति ज्ञापनार्थममीषामिहोपन्यासः। उक्तं चागमे,—

'वयभङ्गे गुरुदोसो थेवस्सवि पालणा गुणकरी उ। गुरुलाघवं च णेयं, धम्ममि अओ उ आगारा ॥१॥'

इति। एतेनार्हच्चैत्यवन्दनायोद्यतस्योच्छ्वासादिसापेक्षत्वमशोभनम्, अभक्तेः, न हि भक्तिनिर्भरस्य क्वचिदपेक्षा युज्यते, इत्येतदपि प्रत्युक्तम्, उक्तवदभक्त्ययोगात्। तथाहि,—का खल्वत्रापेक्षा? अभिष्वङ्गाभावाद्, आगमप्रामाण्यात्। उक्तं च,—

उस्सासं न निरुंभइ आभिग्गहिओ वि किमुय चेट्ठाए?। सज्जमरणं निरोहे सुहुमुस्सासं तु जयणाए॥

न च मरणमविधिना प्रशस्यत इति, अर्थहानेः, शुभभावनाद्ययोगात्, स्वप्राणातिपातप्रसङ्गात्, तस्य चाविधिना निषेधात्। उक्तं च,—

सव्वत्थ संजमं, संजमाओ अप्पाणमेव रक्खिज्जा। मुच्चइ अइवायाओ, पुणो विसोही न या विरई॥

कृतं प्रसंगेन।

'आगारेहिं अभग्गो अविराहिओ हुज्ज मे काउस्सग्गो':—

आगार का अर्थ आकार है। आकार अर्थात् जो अपवाद की मर्यादा रूप से कराते हैं, यानी गृहीत होते हैं ऐसी भावना करनी;तात्पर्य,सर्वथा कायोत्सर्ग में अपवाद के प्रकार ये यहां आगार हैं। कायो० निरपवाद नहीं किन्तु अपवाद युक्त, आगारयुक्त किया जाता है। इन आगारों से अभग्न कायो०, मतलब ये उच्छ्वासादि आगार होते हुए भी, अर्थात् उच्छ्वासादि रूप से काया सचेष्ट होते हुए भी, अपवाद पहले से रखे जाते हैं इसलिए, सापवाद (सागार) कायोत्सर्ग अभग्न हो, अविराधित हो। 'अभग्न' अर्थात् भग्न नहीं, सर्वथा नष्ट नहीं किया गया; 'अविराधित' यानी विराधित नहीं अंश से भी खण्डित न किया गया। 'हुज्ज मे काउस्सग्गो'-मेरा कायोत्सर्ग हो। सारांश, इन आगारों की चेष्टा छोड़कर और बातों में मेरी काया का उत्सर्ग यानी निश्चेष्ट स्थापन अभग्न-अविराधित हो। फलतः इन आगारों में दिये गये अपवादों की क्रियाएँ करने पर भी वह अभग्न गिना जाता है।

प्रस्तुत आगारों का विभागीकरणः—

इस सूत्र में प्रतिपादित किये गए आगार कई प्रकारों में विभाजित होते हैं; जैसे कि,–१ सहज, २ आगन्तुक अल्पनिमित्तक, ३ आगन्तुक बहुनिमित्तक, ४ नियमभावी अल्प, और ५ बाह्यनिमित्तक बाह्य। ये अतिचार की जातियां हैं, जिनमें स्थिर निश्चेष्ट रखी गई काया का भी अविचरण यानी सचेष्टता होती है। ● १. उच्छ्वास और निःश्वास के ग्रहण से सहज जाति के अतिचार कहे गए हैं, क्योंकि वे सचेतन देह से प्रतिबद्ध हैं। ● २. खांसी, छींक, और जम्हाई के ग्रहण से अल्प निमित्त वाले आगन्तुक अतिचार कहे गये हैं क्योंकि अत्यल्प वायुक्षोभादि के जरिए वे उठते हैं। ● ३. डकार, अधोवायुसंचार, चकरी, एवं पित्तवश मूर्च्छा के ग्रहण से फिर बहुनिमित्त वाले आगन्तुक कहे गए हैं. क्योंकि महाअजीर्ण की वजह से उनका होना उपपन्न हैं। ● ४. सूक्ष्म अंग संचार-कफसंचार-दृष्टिसंचार के ग्रहण से नियमभावी (अवश्य होने वाले) अल्प अतिचरण कहे गए हैं; क्यों कि पुरुषमात्र में वे होते ही हैं। ● ५. 'एवमाइएहिं' पद से इत्यादि सूचित आगार के ग्रहण द्वारा बाह्य निमित्त वाले बाह्य आगार कहे गए, क्योंकि वे

(ल०-) कियन्तं कालं यावत् तिष्ठामीत्यत्राह 'जाव अरिहंताणमि'त्यादि । यावदिति कालावधारणम्(णे) । अशोकाद्यष्टमहाप्रातिहार्यलक्षणां पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तः, तेषामर्हताम्, भगः समग्रैश्वर्यादिलक्षणः, स विद्यते येषां ते भगवन्तः, तेषां सम्बन्धिना नमस्कारेण 'नमो अरिहंताणं'ति अनेन । 'न पारयामि'-न पारं गच्छामि । तावत्किमित्याह 'ताव कायं ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि' । तावच्छब्देन कालनिर्देशमाह, 'कायं'-देहं, 'स्थानेन'-ऊर्ध्वस्थानेन हेतुभूतेन, तथा 'मौनेन' वागिनरोधलक्षणेन, तथा 'ध्यानेन'-धर्म्मध्यानादिना, 'अप्पाणं'-प्राकृतशैल्या आत्मीयम् । अन्ये न पठन्त्येवैनमालापकम् । 'वोसिरामि'-'व्युत्सृजामि'-परित्यजामि । इयमत्र भावना,-कायं स्थान-मौन-ध्यान-क्रियाव्यतिरेकेण क्रियान्तराध्यासमधिकृत्य व्युत्सृजामि । नमस्कारपाठं यावत् प्रलम्बभुजो निरुद्धवाक्प्रसरः प्रशस्तध्यानानुगतस्तिष्ठामीति । ततः कायोत्सर्गं करोतीति । जघन्यो(प्र०... जघन्यतो)ऽपि तावदष्टोच्छ्वासमानः ।

उनके द्वारा जन्म पाते हैं; उदाहरणार्थ बाह्य ज्योतिस्पर्श के कारण बाह्य कंबल से देहाच्छादन रूप काय-क्रिया करनी पड़ती है, अन्यथा उसमें तेजस्काय जीवों की विराधना होती है ।

भक्त को आगार की अपेक्षा क्यों ?:—

यहां जो आगारों का उपन्यास किया गया वह यह सूचित करने के लिए कि परलोकानुष्ठान वही मोक्ष साधक होता है जो उपाधिशुद्ध होता है, अर्थात् अपनी अनिवार्य और आवश्यक विशेषताओं से संपन्न होता है । आगम में ऐसा कहा गया है कि—'वयभङ्गे गुरुदोसो, थेवस्सवि पालणा गुणकरी उ । गुरुलाघवं च णेयं, धम्मंमि अओ उ आगारा ॥' अर्थात्-प्रतिज्ञा के खण्डन में महान दोष है, और अल्प भी पालन गुणकारी है । धर्म की साधना करने में गौरव-लाघव का विचार करना; बहुत गुण एवं अनिवार्य अल्प दोष का खयाल रखना, ताकि अल्प गुण के लोभवश महान दोष न लग जाए । इसीलिए आगार का विधान है । यदि बिना आगार रखे प्रतिज्ञा की जाए, तो प्रतिज्ञा का पालन अशक्य होने से उसके भङ्ग होने का या अविधिमरण का महादोष उपस्थित होता है । इससे इस अज्ञानमूलक प्रश्न का खण्डन हो जाता है,—

प्र०—अरिहंत प्रभु के चैत्यवन्दनार्थ उद्यत पुरुष को कायोत्सर्ग में उच्छ्वासादि की अपेक्षा रखनी शोभास्पद है या नहीं, क्यों कि ऐसी अपेक्षा रखने से भक्ति का अभाव सूचित होता है । भक्ति पर निर्भर आत्मा को भक्तिपात्र को छोड़ कर अन्यत्र कहीं भी अपेक्षा रखना उचित नहीं है ।

उ०—पहले कहे मुताबिक उच्छ्वासादि सचेतन देह से अवश्य संबद्ध है, अतः उन कारणों से उनके आगार रखने में आत्मा में भक्ति का कोई अभाव सिद्ध नहीं होता । आप जो अनिवार्य उच्छ्वासादि में अपेक्षा रखनी पड़ी कहते हैं तो यहां अपेक्षा क्या है ? क्यों कि इसमें कोई आसक्ति तो है ही नहीं । अगर आप कहें 'आसक्ति नहीं तब फिर उच्छ्वासादि क्यों लिया जाता है ?' उत्तर यह है कि इसमें इस प्रकार का आगम प्रमाण है,—'उस्सास न निरुंभइ, आभिग्गहिओ वि किमुय चिट्ठाए ? । मज्जमरणं निरोहे, सुहुमुस्सास तु जयणाए ॥'—अर्थात् 'किसी अभिग्रहविशेष वाला भी श्वास को न रोके, फिर और क्रिया में तो पूछना ही क्या ? क्यों कि श्वासनिरोध में तत्काल मृत्यु होती है । इसलिए यतनापूर्वक सूक्ष्म रूप से श्वास लेना चाहिए ।' अगर मरण हो जाए तो क्या हानि ?—ऐसा मत कहना, क्यों कि अविधि से

(ल०–अष्टोच्छ्वासकायोत्सर्गनिषेधकमतखण्डनम्:–)इह च प्रमादमदिरामदापह(प्र०...ह)त चेतसो यथावस्थितं भगवद्वचनमनालोच्य तथाविधजनासेवनमेव प्रमाणयन्तः पूर्वापरविरुद्धमित्यमभिदधति,–'उत्सूत्रमेतत्, साध्वादिलोकेनानाचरितत्वात्'। एतच्चायुक्तम्, अधिकृतकायोत्सर्गसूत्रस्यैवार्थान्तराभावात्, उक्तार्थतायां चोक्ताविरोधात्।

(पं०–) 'उक्तार्थे'त्यादि, उक्तो=व्याख्यातः कायोत्सर्गलक्षणो अर्थः=अभिधेयं, यस्य प्रकृतदण्डकस्य तद्भावस्तत्ता, तस्यां, 'च'=पुनरर्थे; 'उक्ताविरोधात्'=अष्टोच्छ्वासमानकायोत्सर्गाविरोधात्।

मरण प्रशंसनीय नहीं है, और यह विधिमरण नहीं है। विधिमरण तो किसी ब्रह्मचर्यादि पर आक्रमण के अनिवार्य समय पर या मरणान्त आपत्ति के प्रसङ्ग पर या जीवन के अन्तिम काल पर स्वीकार्य होता है; और वह भी अतिचार-मिथ्यादुष्कृत, पुन प्रतोच्चारण, चतुःशरणगमन इत्यादि विधिपूर्वक किया जाता है। यहां कायोत्सर्गादि में श्वासनिरोध करने से होने वाला मरण तो अविधिमरण है; वह अप्रशस्य है, क्योंकि उसमें इष्ट प्रयोजन की हानि है। कारण यह है कि वहां शुभ भावना, समाधि आदि नहीं टिक सकती, और स्वकीय प्राण का नाश होता है। ऐसे अविधि-प्राणनाश का शास्त्र में निषेध किया गया है। शास्त्र में कहा गया है कि 'सव्वत्थ संजमं, संजमाओ अप्पाणमेव रक्खिज्जा। मुच्चइ अइवायाओ, पुणो विसोही, न या विरई॥' अर्थात् सर्वत्र संयम की रक्षा करना; और संयम से भी अधिक स्वात्मा की रक्षा करना। कारण, बाद में प्रायश्चित द्वारा संयमनाश के पाप से छूटा जाता है, और पुनः संयमविशुद्धि हो सकती है। तदुपरांत अविधि-आत्मनाश से होने वाली अविरति से बचा जाता है। इतनी प्रासङ्गिक चर्चा काफी है।

'जाव अरिहंताणं...वोसिरामि':—

कायोत्सर्ग में कितने काल तक रहना है यह बतलाने के लिए कहते हैं 'जाव अरिहंताणं भगवंताणं नमुक्कारेणं न पारेमि' अर्थात् जहां तक अरिहंत भगवान के नमस्कार से न पारूं। यहां 'जाव' = यावत्, जहां तक, यह काल के निर्णय के अर्थ में है। 'अरिहंताणं' = अशोकवृक्षादि आठ महाप्रातिहार्य स्वरूप पूजा के जो योग्य है, अर्ह है, उनके। 'भगवंताणं' = सकल ऐश्वर्य आदि स्वरूप 'भग' है जिनको, वैसे भगवान के। अरिहंत भगवान के सम्बन्धी 'नमुक्कारेणं'='नमो अरिहंताणं' इस प्रकार उच्चारण से नमस्कार द्वारा। 'न पारेमि' = (कायोत्सर्ग) पूर्ण न करूं। तब तक क्या ?—यह कहते हैं 'ताव कायं ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि' अर्थात् वहां तक अपनी काया का स्थान से, मौन से एवं ध्यान से व्युत्सर्ग करता हूँ। 'ताव' = तावत्, वहां तक; इससे काल का निर्देश किया। 'कायं' = देह को। 'ठाणेणं' = कायोत्सर्ग में कारणभूत ऐसी ऊर्ध्व खड़े रहने की अवस्था से। 'मोणेणं' = वाणी के निरोध स्वरूप मौन से। 'झाणेणं' = धर्मध्यानादि से। 'अप्पाणं' = अपनी, प्राकृत भाषा की शैली से यह अर्थ है; दूसरे लोग यह शब्द बोलते ही नहीं हैं। 'वोसिरामि' = परित्याग करता हूँ। यहां यह भावना है कि काया को स्थान, मौन एवं ध्यान की क्रिया से अतिरिक्त दूसरी किसी भी क्रिया के सबन्ध की अपेक्षा से काया का त्याग कर देता हूँ। तब, नमस्कार-पाठ पढ़ने तक दोनों हाथ नीचे लम्बे लटकते रख कर, बोलना बंद कर, निर्धारित प्रशस्त ध्यान से युक्त हो मैं खड़ा रहता हूँ,–यह निश्चित किया जाता है। बाद में कायोत्सर्ग करते हैं, कायोत्सर्ग-अवस्था में रहते हैं।

(ल०—कायोत्सर्गमानेऽर्थापत्तिः—) अथ 'भवत्वयमर्थः कायोत्सर्गकरणे, न पुनरयं स' इति।

(पं०—) 'अथे'ति पराकूतसूचनार्थः। 'भवतु'=प्रवर्त्तताम्, 'अयं' नियतप्रमाणकायोत्सर्गलक्षणो, 'अर्थः' वन्दनाद्यर्थः'कायोत्सर्गकरणे' अभ्युपगम्यमाने, एवं तर्हि किमत्र क्षुण्णमिति ? आह 'न पुनः'=न तु, 'अयं' दण्डकार्थः, 'स'=कायोत्सर्गः। 'इतिः' परवक्तव्यतासमाप्त्यर्थः।

(ल०—कायोत्सर्गनियतप्रमाणसिद्धिः—) किमर्थमुच्चारणमिति वाच्यम्। वन्दनार्थमिति चेत्, न, अतदर्थत्वात्; अतदर्थोच्चारणे चातिप्रसङ्गात्। कायोत्सर्गयुक्तमेव वन्दनमिति चेत्, कर्तव्यस्तर्हि स इति। भुजप्रलम्बमात्रः क्रियत एवेति चेत्, न, तस्य प्रतिनियत(प्र०...नित्य)प्रमाणत्वात्; चेष्टाभिभवभेदेन द्विप्रकारत्वात्। उक्तं च,

'सो उस्सग्गो दुविहो, चेट्ठाए अभिभवे य णायव्वो।
भिक्खायरियाइ पढमो, उस्सग्गभिओ(प्र०...उं)जणे बीओ ॥'

अयमपि चानयोरन्यतरः स्यात्, अन्यथा कायोत्सर्गत्वायोगः। न चाभिभवकायोत्सर्ग एषः, तल्लक्षणायोगात्, एकरात्रिक्यादौ तद्भावात्; चेष्टाकायोत्सर्गस्य चाणीयसोऽप्युक्तमानत्वात्। उक्तं च,

'उद्देससमुद्देसे सत्तावीसं अणुण्णवणियाए। अट्ठेव य उस्सासा पट्ठवणपडिकमणमाई ॥'

कायोत्सर्ग का जघन्य प्रमाणः—

छोटे में छोटा कायोत्सर्ग भी आठ श्वासोच्छ्वास प्रमाण होता है। पहले कह आये हैं 'पायसमा ऊसासा' इस आगम-वचन से श्वासोच्छ्वास को पाद यानी श्लोक के चौथे हिस्से समान जानना।

आठ श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग न मानने वाले का मतः—

यहां अब प्रमादमदिरा के मद से उपहत चित्त वाले लोग भगवान के यथावस्थित वचन को न समझ कर वैसे ही अविचारक जन की आचरणा को प्रमाण मानते हुए इस प्रकार पूर्वापरविरुद्ध प्रतिपादन करते हैं कि 'आठ श्वासोच्छ्वास के जघन्य कायोत्सर्ग-प्रमाण का कथन उत्सूत्र है, क्यों कि साधु एवं गृहस्थ लोग से वैसा आचरित नहीं है।'

आठ श्वासोच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग का समर्थनः—

किन्तु यह उत्सूत्र का आक्षेप अयुक्त है, क्यों कि प्रस्तुत कायोत्सर्ग के सूत्र का ही वैसा अर्थ है, इतने जघन्य प्रमाण को छोड़ कर दूसरा अर्थ हो ही नहीं सकता। कारण यह है कि प्रस्तुत दण्डकसूत्र से, कायोत्सर्ग स्वरूप जिस अभिधेय की व्याख्या की गई उसका आठ श्वासोच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग के साथ कोई विरोध नहीं है।

कायोत्सर्ग में उच्छ्वास-मान का खण्डनः—

प्रमाणरहित कायोत्सर्ग मानने वाले दूसरे का अभिप्राय सूचित करते हैं कि "ठीक है, यह अष्ट श्वासोच्छ्वासादि नियत प्रमाण की कायोत्सर्ग-वस्तु तो जहां वन्दनादि हेतु कायोत्सर्गकरण स्वीकार्य हो, वहां हो, यहां नहीं। अगर कहें,-'इसमें प्रस्तुत में क्या बिगडता है,' उत्तर में यही कि प्रस्तुत कायोत्सर्ग तो दण्डकसूत्र का होने से वैसा नियत प्रमाण वाला वन्दनाद्यर्थ कायोत्सर्ग नहीं है।"

(ल०–आगमगाथायां वन्दनकायो० समावेशः–) 'अत्रायं न गृहीत इति' चेत्, न, 'आदि' शब्दावरुद्धत्वाद्, उपन्यस्तगाथासूत्रस्योपलक्षणत्वाद्, अन्यत्रापि चागमे एवंविवक्षयादनुक्तार्थसिद्धेः। उक्तं च,

'गोसमुहणंतगादी आलोइय देसिए य अइयारे। सव्वे समाणइत्ता हियए दोसे ठवेज्जाहि ॥'

अत्र मुखवस्त्रिकामात्रोक्तेः 'आदि'शब्दाच्छेषोपकरणादिपरिग्रहोऽवसीयते सुप्रसिद्धत्वात् प्रतिदिवसोपयोगाच्च न भेदेनोक्त इति। 'अनियतत्वाद् दिवसातिचारस्य युज्यत एवेहादिशब्देन सूचनं, नियतं च वन्दनं, तत्कथं तदसाक्षाद्ग्रह इति' चेत्, न, तत्रापि रजोहरणाद्युपधिप्रत्युपेक्षणस्य नियतत्वात्। 'समानजातीयोपादानादिह एतद्ग्रहणमस्त्येव। समानजातीयं च मुखवस्त्रिकायाः शेषोपकरणमिति' चेत्, तत्रापि तन्मानकायोत्सर्गलक्षणं समानजातीयत्वमस्त्येवेति मुच्यतामभिनिवेशः'।

कायोत्सर्ग में नियत उच्छ्वास प्रमाण का मंडनः—

अन्यों का यह अभिप्राय ठीक नहीं है; क्योंकि तब तो कहना होगा कि यह 'वंदणवत्तियाए....' इत्यादि उच्चारण क्यों किया जाता है? यदि कहें 'वन्दन के लिए', तो ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि उस पाठ का उच्चारण इसके लिए नहीं है; और अन्य हेतु से उच्चारण करेंगे तब अतिप्रसङ्ग होगा,— कोई भी सूत्र विवक्षित हेतु से भिन्न हेतु लक्ष में रख कर भी उच्चारित किया जाएगा। अगर कहें 'प्रस्तुत सूत्रोच्चारण का उद्देश कायोत्सर्गसहित वन्दन है, तब कायोत्सर्ग करना चाहिए। 'हां, हाथ को लटकते रखने मात्र का कायोत्सर्ग किया जाता है,'—ऐसा यदि कहा जाए, तो यह ठीक नहीं, क्यों कि ऐसा कायोत्सर्ग तो नियत यानी अमुक निश्चित प्रमाण का होता है। इसका कारण यह है;—

द्विविध कायोत्सर्गः चेष्टाकायो०, अभिभवकायो०:—

कायोत्सर्ग दो प्रकार का होता है, १. चेष्टा-कायोत्सर्ग, और २. अभिभव-कायोत्सर्ग। आगम में कहा गया है कि यह कायोत्सर्ग द्विविध जानना, १. चेष्टा और २. अभिभव के विषय में। भिक्षाचर्या में पहला चेष्टा कायोत्सर्ग होता है, और उपद्रव-प्रतिमा ध्यान में दूसरा अभिभव-कायोत्सर्ग होता है। यह वंदणवत्तियाए वाला प्रस्तुत कायोत्सर्ग चेष्टा और अभिभव दो में से किसी एक प्रकार का होना चाहिए, अन्यथा वह कायोत्सर्ग ही नहीं होगा; क्यों कि उक्तानुसार कायोत्सर्ग दो प्रकार का ही होता है। अब प्रस्तुत कायोत्सर्ग अभिभव-कायोत्सर्ग तो नहीं है, क्यों कि उसके लक्षण इसमें नहीं है; यह अभिभव कायोत्सर्ग एक रात्रिक आदि प्रतिमा यानी अभिग्रहयुक्त ध्यानावस्था या किसी मरणान्त उपद्रव विशेष में किया जाता है। यह वन्दन-प्रत्यय कायोत्सर्ग तो चेष्टा-कायोत्सर्ग है, और बहुत छोटा भी चेष्टा-कायोत्सर्ग उक्त आठ श्वासोच्छ्वास-प्रमाण होता है। आगम में कहा गया है कि—

उद्देससमुद्देसे सत्तावीसं अणुण्णवणियाए। अट्ठेव य उस्सासा पट्ठवण-पडिक्कमणमादी ॥

उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा-संपादन में सत्ताईस श्वासोच्छ्वास और प्रस्थापन-प्रतिक्रमणादि में आठ श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग करना। ('उद्देश' अर्थात् सूत्र पढ़ने की प्रवृत्ति; 'समुद्देश' अर्थात् पढ़े हुए सूत्र को स्थिर एवं स्वनामवत् परिचित करना; 'अनुज्ञासंपादन' अर्थात् सूत्र का सम्यग् धारण और अन्यों में विनियोग करने हेतु वाचनाचार्य की आशीर्वादयुक्त अनुज्ञा प्राप्त करना; 'प्रस्थापन' अर्थात्

(ल०–आचरणा–प्रमाणम्:–) न चेदं साध्वादिलोकेनानाचरितमेव, क्वचित्तदाचरणोपलब्धेः, आगमविदाचरणश्रवणाच्च । न चैवंभूतमाचरितमपि प्रमाणं, तल्लक्षणायोगात् । उक्तं च,

असढेण(प्र०हिं)समाइण्णं जं कत्थइ केणई असावज्जं । ण णिवारियमन्नेहिं य बहुमणुमयमेयमायरियं ॥

न चैतदसावद्यं सूत्रार्थविरोधात् (प्र०...न चैतत् सावद्यं, सूत्रार्थाविरोधात्), सूत्रार्थस्य प्रतिपादितत्वात्, तस्य चाधिकतरगुणान्तरमात्रमन्तरेण तथाकरण(प्र०...तथाऽकरण)विरोधात् । न चान्यैरनिवारितं, तदासेवनपरैरागमविद्भिर्निवारितत्वात् । अत एव न बहुमतमपीति भावनीयम् । अलं प्रसंगेन, यथोदितमान एवेह कायोत्सर्ग इति ।

स्वाध्याय-प्रारम्भ का एक अनुष्ठान विशेष; 'प्रतिक्रमण' अर्थात् स्वाध्याय-प्रतिक्रमण हेतु अनुष्ठान;) इत्यादि में आठ श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग करना ।

आगमगाथा में वन्दन कायोत्सर्ग का समावेशः—

प्र०—'उद्देस-समुद्देसे' इत्यादि गाथा में कायोत्सर्ग-विषय के अन्तर्गत उद्देश आदि की तरह वन्दन गृहीत तो नहीं है ?

उ०—ऐसा मत कहिए, 'आदि' शब्द से वह गृहीत ही है; क्योंकि उपन्यस्त गाथासूत्र तो उपलक्षण है, अर्थात् औरों के ग्रहण का सूचक है । दूसरे स्थल में भी आगम में इस प्रकार के सूत्र से अनुक्त पदार्थ सूचित होना सिद्ध है । जैसे कहा गया है कि –

'गोसमुहणंतगादी आलोइय देसिए य अइयारे । सव्वे समाणइत्ता, हियए दोसे ठवेज्जाहि ॥'

अर्थात्, 'सायंकाल के प्रतिक्रमण-आवश्यक में मुखवस्त्रिकादि का प्रत्युपेक्षण कर, दैवसिक अतिचार की आलोचना (प्रगटीकरण) का सूत्र पढ़ कर के (प्रतिक्रमणार्थ) हृदय के भीतर दोषों को ध्यान में लाकर स्मरण करना।' यहाँ मात्र मुखवस्त्रिका साक्षात् शब्दतः उल्लिखित है और 'आदि' शब्द से शेष उपकरणादि का ग्रहण किया गया अवगत होता है; क्यों कि वे सुप्रसिद्ध हैं और प्रतिदिन उनका उपयोग किया जाता है; इसलिए उनका शब्दतः अलग उल्लेख नहीं किया गया ।

प्र०—दिवस के अतिचार तो अनियत होने से वहाँ 'आदि' शब्द से मुखवस्त्रिका की तरह शेष उपकरण का ग्रहण यानी असाक्षाद् ग्रहण युक्तियुक्त है; लेकिन वन्दन तो नियत है, तब उसका असाक्षाद् ग्रहण कैसे किया जाय ?

उ०—नहीं, वहाँ भी रजोहरणादि उपधि(उपकरण) का प्रत्युपेक्षण नियत ही है ।

प्र०—भले हो, लेकिन समान जातीय के ग्रहण से वहाँ तो रजोहरणादि का ग्रहण किया हो गया है, और वे शेष उपकरण मुखवस्त्रिका के समानजातीय हैं । किन्तु वन्दन में कहां समानजातीयता है ?

उ०—यहाँ भी कह सकते हैं कि प्रस्थापन-प्रतिक्रमण के साथ वन्दन की आठ श्वासोच्छ्वास-प्रमाण कायोत्सर्ग स्वरूप समानजातीयता है ही । इसलिए वन्दन-कायोत्सर्ग के सूत्र से की जाने वाली प्रतिज्ञानुसार उक्तप्रमाण कायोत्सर्ग करना ही चाहिए । अतः सिर्फ इस-लम्बनमात्र का अभिनिवेश छोड़िए ।

(ल०–विशिष्टध्येयध्यानं विद्याजन्मबीजम्–) इहोच्छ्वासमानमित्थं, न पुनर्ध्येयनियमः। यथापरिणामेनैतत्स्थापनेशगुणतत्त्वानि वा ध्यानवर्णार्थालम्बनानि वा, आत्मीयदोषप्रतिपक्षो वा। एतद् विद्याजन्मबीजं, तत् पारमेश्वरम् , अतः इत्थमेवोपयोगशुद्धेः। शुद्धभावोपात्तं कर्म्म अवन्ध्यं, सुवर्णघटाद्युदाहरणात्। एतदुदयतो विद्याजन्म कारणानुरूपत्वेन।

(पं०–) 'एतद्विधे'त्यादि, एतत्=प्रतिविशिष्टध्येयध्यानं, विद्याजन्मबीजं=विवेकोत्पत्तिकारणं, 'तद्' इति शास्त्रसिद्धं, 'पारमेश्वरं'=परमेश्वरप्रणीतम्। हेतुमाह 'अतः'=प्रतिविशिष्टध्येयध्यानाद्, 'इत्थमेव'= विद्याजन्मानुरूपप्रकारेणैव, 'उपयोगशुद्धेः'=चैतन्यवृत्तेर्निर्मलीभावात्। एतदेव भावयति 'शुद्धभावोपात्तं' शुद्धः अधिकृतकायोत्सर्गध्यानादिरूपो भावः, तदुपात्तं 'कर्म्म' सद्वेद्यादि, 'अवन्ध्यम्'=अवश्यं शुद्धभावफलदायि। कथमित्याह 'सुवर्णघटाद्युदाहरणेन'=यथा सुवर्णघटो भङ्गेऽपि सुवर्णफल एव, 'आदि'शब्दाद् रूप्यघटादिपरिग्रहः, तथा प्रकृतकर्म्मापीति। यद्येवं ततः किम्? इत्याह, 'एतदुदयतः'=शुद्धभावोपात्तकर्म्मोदयतः, 'विद्याजन्म' विवेकोत्पत्तिलक्षणं, कुत इत्याह 'कारणानुरूपत्वेन'=कारणस्वरूपानुविधायी हि कार्यस्वभावः, ततः कथमिव शुद्धभावोपात्तं कर्म्म न शुद्धभावहेतुः स्यात्? (प्र०....कर्म्म अशुद्धभाव०)

प्रामाणिक आचरणा–प्रमाण के लक्षणः—

ऐसा मत कहो कि 'यह आठ श्वोच्छ्वासप्रमाण कायोत्सर्ग किसी साधु वगैरह लोगों के द्वारा आचरित ही नहीं है।' क्योंकि कहीं उसकी आचरणा देखने में आती है और आगमज्ञ पुरुष उसका आचरण करते थे, ऐसा सुना जाता है और यह भी लक्ष में रहे कि जैसी वैसी यथेच्छ आचरणा भी प्रमाणभूत नहीं होती है, कारण प्रामाणिक आचरणा के लक्षण उसमें नहीं मिलते हैं। प्रामाणिक आचरणा के संबन्ध में शास्त्र में कहा गया है कि,

'असढेण समाइण्णं जं कत्थइ केणई असावज्जं। ण णिवारियमण्णेहि य बहुमणुमयमेयमायरियं॥'

अर्थात्—जो (१) कहीं भी किसी अशठ यानी दम्भरहित सरल पुरुष से आचरित है, (२) निरवद्य (निष्पाप) है, (३) अन्य आचार्यों के द्वारा निषिद्ध (निवारित) नहीं किया गया है, और (४) बहु मान्य किया गया है, वह 'आचरित' याने आचरणा–प्रमाण कहा जाता है। प्रमाण दो प्रकार का होता है, आगम-प्रमाण और आचरणाप्रमाण। आगमप्रमाण अर्थात् स्पष्ट आगमपाठ।

अब जो श्वोच्छ्वासरहित केवल कायोत्सर्ग रूप यथेच्छ आचरणा है वह निर्दोष नहीं है, क्योंकि उसमें सूत्रोक्त वस्तु का विरोध आता है; सूत्रोक्त वस्तु पहले कह आये हैं। और यह भी बात है कि वैसा केवल कायोत्सर्ग करने में कोई अधिक लाभ न हो तब वैसा करना यह सूत्रोक्त से विरुद्ध है। अपरंच वैसे श्वोच्छ्वास शून्य कायोत्सर्ग का अन्य आचार्यों ने निषेध नहीं किया है ऐसा भी नहीं, श्वोच्छ्वासयुक्त कायो० का आचरण करने वाले अन्य आगमविद् पुरुषों ने उसका प्रतिषेध भी किया है। इसीलिए वैसा केवल कायोत्सर्ग बहुजन मान्य भी नहीं है।

अब श्वोच्छ्वास–प्रमाण कायोत्सर्ग की आचरणा में देखा जाए तो यह कायोत्सर्ग आचरित-प्रमाण से समर्थित है, क्यों कि इसमें 'आचरित' के लक्षण मिलते हैं; वे इस प्रकार,—यह कायोत्सर्ग सावद्य नहीं है, निरवद्य निर्दोष है, क्यों कि सूत्रार्थ के साथ इसका कोई विरोध नहीं है। प्रस्तुत सूत्र का अर्थ पहले कहा गया है, और जहाँ तक 'इच्छ मे काउस्सग्गो' का अन्यथा अर्थ करने में कोई विशेष गुण

(ल०–वर्चोगृहकृमिदृष्टान्तः–) युक्त्यागमसिद्धमेतत्, तल्लक्षणानुपाती च,

१. वर्चोगृहकृमेर्यद्वद् मानुष्यं प्राप्य सुन्दरम् । तत्प्राप्तावपि तत्रेच्छा न पुनः संप्रवर्तते ॥
२. विद्याजन्माप्तितस्तद्वद् विषयेषु महात्मनः । तत्त्वज्ञानसमेतस्य न मनोऽपि प्रवर्तते ॥
३. विषग्रस्तस्य मन्त्रेभ्यो निर्विषाङ्गोद्भवो यथा । विद्याजन्मन्यलं मोहविषत्यागस्तथैव हि ॥
४. शैवे मार्गेऽत एवासौ याति नित्यमखेदितः । न तु मोहविषग्रस्त इतरस्मिन्निवेतरः ॥
५. क्रियाज्ञानात्मके योगे सातत्येन प्रवर्तनम् । वीतस्पृहस्य सर्वत्र यानं चाहुः शिवाध्वनि ॥

इति वचनात् । अवसितमानुषङ्गिकम् । प्रकृतं प्रस्तुमः ।

(पं०–) अस्यैव हेतोः सिद्धयर्थमाह–'युक्त्यागमसिद्धं'; युक्तिः अन्वयव्यतिरेकविमर्शरूपा, आगमश्च 'जं जं समयं जीवो आविसइ जेण जेण भावेणे'त्यादिरूपः, ताभ्यां सिद्धं=प्रतिष्ठितम्, 'एतत्'=कारणानुरूपं कार्यस्य । सिद्धयतु नामेदमन्यकार्येषु, प्रकृते न सेत्स्यतीत्यत आह 'तल्लक्षणानुपाति च'=युक्त्यागमसिद्धकारणानुरूपकार्यलक्षणानुपाति च विद्याजन्म । कुत इत्याह 'इति वचनादि'ति वक्ष्यमाणेन संबन्धः । वचनमेव दर्शयति 'वर्चोगृहे'त्यादि श्लोकपञ्चकं, सुगमशब्दार्थं च । नवरम्, 'इतरस्मिन्निवेतरः' इति यथा इतरस्मिन्=संसारमार्गे, इतरो=मोहविषेण ग्रस्तो विवेकी, नित्यमखेदितो न याति; तथा शैवे मार्गे मोहविषग्रस्तो न याति; खेदितस्तु कोऽपि कथञ्चिद् दृश्यत उभयत्रापि यातीति भावः । अभिप्रायः पुनरयम्,– अनुरूपकारणप्रभवे हि विद्याजन्मनि विषयवैराग्यक्रियाज्ञानात्मके योगे सातत्यप्रवृत्तिलक्षणं च शिवमार्गगमनं तत्फलमुपपद्यते(प्र०...उत्पद्यते, उपयुज्यते) नान्यथेति ।

॥ इति श्री मुनिचंद्रसूरिकृतायां ललितविस्तरापञ्जिकायामर्हच्चैत्यदंडकः समाप्तः ॥

(लाभ) न हो, वहाँ तक अष्टोच्छ्वासमान कायो० ऐसा अर्थ करने में कोई विरोध नहीं है। कायोत्सर्ग का 'आठ श्वासोच्छ्वास प्रमाण ध्यान नहीं किन्तु मात्र हस्त लम्बा कर खडा रहना,'—ऐसा अर्थ करने में कोई विशेष गुण नहीं है। इसलिए आठ श्वासोच्छ्वासप्रमाण ध्यानयुक्त कायोत्सर्ग करना यह अविरुद्ध है। दूसरी बात यह है कि यह अन्य आचार्यों के द्वारा निषिद्ध भी नहीं किया गया है एवं बहुजनों ने मान्य भी किया है। इतनी प्रासङ्गिक चर्चा पर्याप्त है। कायोत्सर्ग यहां पूर्वोक्त प्रमाण का ही कर्तव्य है।

कायोत्सर्ग में ध्यान के अनेक विषयः—

यहाँ इतना सिद्ध है कि कायोत्सर्ग का नियतप्रमाण आठ श्वासोच्छ्वास का है, किन्तु कायोत्सर्ग में ध्यान का ध्येय क्या अर्थात् ध्यान किस विषय का करना यह नियत नहीं है। ध्येय तो आत्मा के परिणाम के अनुसार होता है; वह तीर्थस्थापक भगवान के गुण भी हो सकता है, अथवा उनसे कथित जीवाजीवादि तत्त्व, या स्थान-वर्ण-अर्थ-आलम्बन, अथवा अपने दोषों की प्रतिपक्षी भावनाएं, इत्यादि कोई भी विषय ध्यान का हो सकता है।

नियत ध्येय के ध्यान का प्रभावः—

ऐसा किसी नियत ध्येय का ध्यान यह विवेक की उत्पत्ति का कारण है। शास्त्र-सिद्ध इस प्रकार का ध्यान परमेश्वर अरिहंत प्रभु द्वारा प्रतिपादित किया गया है। कारण यह है कि ऐसे नियत ध्येय के ध्यान

से विवेकोत्पत्ति द्वारा उसके अनुरूप प्रकार से ही उपयोग-शुद्धि यानी चैतन्यवृत्ति का निर्मलीकरण होता है। जिस आत्मा का जितना ध्यानबल होगा, उसे उतनी विवेकशक्ति प्राप्त होगी और तदनुसार अपनी आन्तर परिणति शुद्ध होगी। इसी की भावना (विचारणा) इस प्रकार की जा सकती है कि शुद्ध भाव से उपार्जित कर्म अवन्ध्य होता है; यानी प्रस्तुत कायोत्सर्ग ध्यान आदि स्वरूप शुभ भाव के द्वारा उपार्जित किया गया शातावेदनीयादि पुण्य कर्म अपने विपाककाल में फिर शुद्ध भाव रूप फल को जन्म देता है। इसमें उदाहरण है सुवर्णघट आदिका। सुवर्ण घट अगर भग्न भी हुआ तब भी परिणाम में सुवर्ण ही देता है, वैसे चांदी आदि का घड़ा टूटने पर भी चांदी आदि अवशिष्ट रहती है। इसी प्रकार प्रस्तुत कर्म भी। तात्पर्य, शुद्ध भाव से उपार्जित पुण्यानुबन्धी पुण्य कर्म का विपाक होने पर शुद्ध भाव जाग्रत् रहता है, क्यों कि वैसे कर्म का उदय होने पर विद्या यानी विवेक की उत्पत्ति होती है। इसका कारण यह है कि कार्य कारणानुरूप होता है, कार्यस्वभाव कारण के स्वभाव का अनुकरण करता है; इसलिए शुद्ध भाव से उपार्जित कर्म के कार्य में शुद्ध भाव क्यों न हो?

कारण के अनुरूप कार्य होता है, यह बात युक्ति और आगम से सिद्ध है। युक्ति का अर्थ अन्वय व्यतिरेक;–वैसा कारण हो तभी वैसा कार्य बने यह अन्वय (तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम् अन्वयः); और वैसा कारण न हो तभी वैसा कार्य न बन सके यह व्यतिरेक, (तदसत्त्वे तदभावः व्यतिरेक)। आगमप्रमाण यह है—'जं जं समय जीवो आविसइ जेण जेण भावेण। सो तंमि तंमि समये सुहासुहं बन्धए कम्मं॥' (उपदेशमाला); अर्थात् जिस जिस समय में जीव जिस जिस शुभ या अशुभ भाव से प्रवेश करता है, उस उस समय में वह शुभ या अशुभ कर्म उपार्जित करता है; शुभ भाव से शुभ कर्म और अशुभ भाव से अशुभ कर्म।' यहां कार्य कारण के अनुरूप हुआ। यह नहीं कह सकते हैं कि 'अन्यत्र वैसा होगा, लेकिन प्रस्तुत में वैसा नहीं है'; क्यों कि प्रस्तुत में भी विद्या (विवेक) की उत्पत्ति रूप कार्य युक्ति–आगम से सिद्ध कारणानुरूप कार्य के लक्षण का अनुसरण करने वाला ही है। यह कैसे, सो ललितविस्तरा में 'वर्चोगृह-कृमेर्यद्वत्...' इन पांच श्लोकों से बतलाया गया है। श्लोकों का भाव यह है,—

● (१) जिस प्रकार शौचालय के कृमि में से सुन्दर मनुष्य भव पा कर जीव को अब शौचालय में शौच के लिए जाना भी पड़े तो भी, वहां वह कृमि के भव के समान वापस रुचि वाला नहीं होता है; ● (२) उसी प्रकार अविद्या (अविवेक) की अवस्था में से विद्या (विवेक) का जन्म पाने पर महात्मा बने हुए व्यक्ति का मन तत्त्वज्ञान–सपन्नता के कारण इन्द्रियों के शब्द–रूपादि विषयों में नहीं जाता है, उसे रुचि ही नहीं होती है। ● (३) जिस प्रकार मन्त्र के द्वारा, विषव्याप्त पुरुष का शरीर, निर्विष होता है, इसी प्रकार विद्या जन्म होने पर मोह–विष का त्याग अवश्य होता है। ● (४) विद्या का जन्म होने के कारण ही वह कल्याण के मार्ग पर सदा अ-खिन्न यानी उत्साहित हो कर चलता है; जब कि मोहविष से व्याप्त पुरुष वैसा नहीं कर सकता है। यह ऐसा है कि जिस प्रकार मोहविष से अव्याप्त विवेकी पुरुष संसार–मार्ग पर अखिन्न हो नहीं चल सकता इस प्रकार मोहग्रस्त पुरुष मोक्षमार्ग पर अखिन्न हो कर नहीं चल सकता; खिन्न होकर कोई कथंचित् द्रव्य से अर्थात् भावशून्य हृदय से दोनों मार्ग पर चले ऐसा हो सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि विवेक का उदय अगर अनुरूप कारण से ही हुआ हो तभी ऐसा होगा कि निस्पृहता यानी ● (५) विषय वैराग्य पूर्वक सम्यक् क्रिया एवं सम्यग् ज्ञानात्मक योग में सतत रूप से प्रवृत्ति होती है; और विरागी की यही ज्ञान-क्रिया योग की सतत प्रवृत्ति वह कल्याणमार्ग–मोक्षमार्ग पर गमन है, अन्यथा नहीं। ज्ञान–क्रिया में प्रवृत्ति करने का फल मोक्षमार्ग–गमन है किन्तु वह विषयों से वैराग्ययुक्त होने पर ही उपपन्न हो सकता है और विषयों से वैराग्य शुद्ध भाव स्वरूप अनुरूप कारण से ही उत्पन्न विवेक से जाग्रत् होता है। इन वचनों से कार्य का कारणानुरूप स्वरूप सिद्ध होता है।

प्रासङ्गिक वस्तु निर्णीत हो गई, अब प्रस्तुत की विचारणा करते हैं।

(ल०—कायोत्सर्गान्तेः–) स हि कायोत्सर्गान्ते यद्येक एव ततो 'नमो अरहंताणं'ति नमस्कारेणोत्सार्य्य स्तुतिं पठत्यन्यथा प्रतिज्ञाभङ्गः, 'जाव अरहंताणं'...इत्यादिनास्यैव प्रतिज्ञातत्वात्, नमस्कारत्वेनास्यैव रूढत्वाद्, अन्यथैतदर्थाभिधानेऽपि दोषसम्भवात्, तदन्यमन्त्रादौ तथादर्शनादिति। अथ बहवस्तत एक एव स्तुतिं पठति, अन्ये तु कायोत्सर्गेणैव तिष्ठन्ति यावत्स्तुतिपरिसमाप्तिः। अत्र चैवं वृद्धा वदन्ति,–यत्र किलाऽऽयतनादौ वन्दनं चिकीर्षितं तत्र यस्य भगवतः सन्निहितं स्थापनारूपं, तं पुरस्कृत्य प्रथमः कायोत्सर्गः स्तुतिश्च, तथाशोभनभावजनकत्वेन तस्यैवोपकारित्वात्। ततः सर्वेऽपि नमस्कारोच्चारणेन पारयन्तीति।

॥ व्याख्यातं वन्दनाकायोत्सर्गसूत्रम् ॥

कायोत्सर्ग पूरा करने के बादः—

कायोत्सर्ग में आठ उच्छ्वास–प्रमाण ध्यान समाप्त होने पर अगर वह अकेला साधक हो, तो वह 'नमो अरिहंताणं' उच्चारण पूर्वक अर्हद्–नमस्कार करके कायोत्सर्ग पारे और नीचे लम्बे किये हुए हाथ को उठा कर अञ्जलि जोड़ कर स्तुति पढ़े। ऐसा नमस्कार अगर न पढ़े तो प्रतिज्ञा का भङ्ग होगा; क्यों कि 'जाव अरहंताणं भगवंताणं नमुक्कारेणं न पारेमि ताव कायं ...वोसिरामि'—ऐसा पहले पढ़ कर इसी नमस्कार से पारने की प्रतिज्ञा की है। इसलिए पारते समय ऐसा नमस्कार अवश्य कहना चाहिए। यहां नमस्कार में बिना 'नमो अरिहंताणं' उच्चार के काम नहीं चल सकता, क्यों कि 'नमुक्कारेणं' 'नमस्कारेण' पाठ में 'नमस्कार' शब्द इसी में रूढ है; अन्यथा ऐसा उच्चार अगर न करे और इसके स्थान में इसी अर्थ वाला 'मैं अरिहंत को नमस्कार करता हूँ' वैसा कुछ पढ़े तो भी दोष लगने का संभव है। अन्य मन्त्रादि में वैसा देखा भी जाता है की मन्त्राक्षर के निजी शब्दों को छोड़ कर यदि उसके भावार्थ का उच्चारण करे, तो लाभ नहीं होता है, खुद मन्त्रादि अक्षरशः पढ़ना होता है। इसी प्रकार यहां भी 'नमो अरिहंताणं' पद का ही उच्चारण करना।

यह तो एक साधक की बात हुई। किन्तु कायोत्सर्ग करने वाले साधक यदि अनेक हों, तो उनमें से एक पुरुष ही स्तुति पढ़े और उस समय अन्य सब जहां तक स्तुति समाप्त न हो वहां तक बिना पारे कायोत्सर्ग में ही रहें। यहां वृद्ध पुरुषों का ऐसा कथन है कि जिस मन्दिर आदि में चैत्यवन्दन करना अभिप्रेत है, वहां जिस तीर्थङ्कर भगवान की स्थापना मूर्ति का सन्निधान है, उसीको उद्देश रख कर पहला कायोत्सर्ग और स्तुति की जाती है। इसका कारण यह है कि वही भगवान साधक में तथाविध प्रशस्त अध्यवसाय को उत्पन्न करने में हेतु होने से उपकारक हैं। एक के द्वारा स्तुति का उच्चारण होने के बाद अन्य सब 'नमो अरिहंताणं' का उच्चारण कर कायोत्सर्ग पारे। इस प्रकार वन्दना–कायोत्सर्ग सूत्र समाप्त हुआ।



चतुर्विंशति-स्तव ('लोगस्स उज्जोअगरे') सूत्र

(ल०–लोकशब्दार्थः–) पुनरत्रान्तरेऽस्मिन्नेवावसर्पिणीकाले ये भारते तीर्थकृतस्तेषामेवैक-क्षेत्रनिवासादिनाऽऽसन्नतरोपकारित्वेन कीर्त्तनाय चतुर्विंशतिस्तवं पठति पठन्ति वा । स चायम् ,–

'लोगस्स उज्जोअगरे धम्मतित्थयरे जिणे । अरिहंते कित्तइस्सं चउवीसंपि केवली ॥'

अस्य व्याख्या,–'लोकस्योद्योतकरानि'त्यत्र विज्ञानाद्वैतव्युदासेनोद्योत्योद्योतकयोर्भेदसंदर्शनार्थं भेदेनोपन्यासः । लोक्यत इति लोकः । लोक्यते=प्रमाणेन दृश्यत इति भावः । अयं चेह तावत्पञ्चास्तिकायात्मको गृह्यते । तस्य लोकस्य किम् ? उद्योतकरणशीला उद्योतकरास्तान् , केवलालोकेन तत्पूर्वकवचनदीपेन वा सर्वलोकप्रकाशकरणशीलानित्यर्थः ।

चतुर्विंशतिस्तव (लोगस्स उज्जोअगरे) सूत्र

पहली गाथा : 'लोक' शब्द का अर्थः—

कायोत्सर्ग एवं पहली स्तुति के बाद यहां अब एक या अनेक साधक चतुर्विंशति-स्तव (लोगस्स उज्जोअगरे०) सूत्र, इसी अवसर्पिणी काल में भरत क्षेत्र में जो २४ तीर्थङ्कर भगवान् हुए उनके कीर्तन के लिए, बोलते हैं; क्यों कि वे उन साधकों के एक ही क्षेत्र में निवास, उपदेशदान, इत्यादि द्वारा निकट के उपकारी हैं । सूत्र की १ली गाथा इस प्रकार है,—

'लोगस्स उज्जोअगरे धम्मतित्थयरे जिणे । अरिहंते कित्तइस्सं चउवीसं पि केवली ॥'

अर्थ—लोक का उद्योत करने वाले, धर्म तीर्थङ्कर, जिन, अरिहंत, ऐसे चोवीसों केवलज्ञानी(प्रभुओं) का मैं कीर्तन करूंगा ।

इसकी व्याख्याः—यहां लोक के 'उद्योतकर' कहा, इसमें उद्योत्य लोक है और उद्योतक भगवान का केवलज्ञान है; इन दोनों को एक रूप नहीं, किन्तु भिन्न कर के उपन्यास किया; यह विज्ञान का अद्वैत अर्थात् जगत् में कोई घट आदि पदार्थ नहीं किन्तु एकमात्र विज्ञान ही सत्पदार्थ है, इस मत का निषेध करने के लिए किया, एवं उद्योत्य उद्योतक की भिन्नता सूचित करने के लिए किया । सारांश सत्य वस्तु-स्थिति यह है कि उद्योतक विज्ञान के अलावा उद्योत्य लोक भी अलग सत्पदार्थ है । अब, 'लोक' शब्द जनसमाज या लोकाकाश अर्थ में रूढ है, किन्तु यह अर्थ लेने से प्रश्न होगा कि 'ऐसे लोक का प्रकाशक है तो क्या अन्य जड द्रव्यों अथवा अलोक का प्रकाशक नहीं है ?' उत्तर में 'है ही', इसलिए 'लोक' शब्द का यौगिक अर्थ (व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ) यहां लिया जाता है । जिसका लोकन-अवलोकन होता है, तात्पर्य प्रमाण ज्ञान से जिसका दर्शन होता है, वह 'लोक' । यहां यह 'लोक' कर के पंचास्तिकायात्मक लोक ग्राह्य है । इसमें धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय एवं जीवास्तिकाय स्वरूप सकल विश्व यानी समस्त पर्याययुक्त द्रव्य आ जाते हैं । भगवान इस लोक के उद्योतकर हैं, यानी उद्योतकरण के स्वभाव वाले हैं । केवलज्ञान से अपने को, अथवा केवलज्ञानपूर्वक वचनदीप से अन्यों को, समस्त पंचास्तिकाय लोक के प्रकाश करने के स्वभाव वाले हैं । उनका मैं कीर्तन करूंगा ।

(ल०–'धम्मतित्थयरे जिणे अरिहंते'–) तथा दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः। उक्तं च,

'दुर्गतिप्रसृतान्जीवान् यस्माद्धारयते ततः। धत्ते चैतान् शुभे स्थाने तस्माद्धर्म इति स्मृतः॥१॥'

इत्यादि। तथा तीर्यतेऽनेनेति तीर्थम्। धर्म एव धर्मप्रधानं वा तीर्थं धर्मतीर्थं, तत्करणशीला धर्मतीर्थकरास्तान्। तथा रागादिजेतारो जिनास्तान्। तथाऽशोकाद्यष्टमहाप्रातिहार्यादिरूपां पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तस्तानर्हतः।

(ल०–'कीत्तइस्सं चउवीसं पि केवली'–) 'कीर्तयिष्यामि' इति स्वनामभिः स्तोष्ये इत्यर्थः। 'चतुर्विंशतिमि' ति संख्या। 'अपि' शब्दो भावतस्तदन्यसमुच्चयार्थः। केवलज्ञानमेषां विद्यत इति केवलिनस्तान् केवलिनः।

(पं०–) 'भावतस्तदन्यसमुच्चयार्थ' इति, भावतः=नामस्थापनाद्रव्यार्हत्परिहारेण, शुभाध्यवसायतो वा, 'तदन्येषाम्'=ऋषभादिचतुर्विंशतिव्यतिरिक्तानाम् ऐरवतमहाविदेहजानामर्हतां, (समुच्चयार्थः=) सङ्ग्रहार्थः। तदुक्तम् अविसद्दग्गहणा पुण एरवयमहाविदेहे य।

'धम्मतित्थयरे जिणे अरिहंते' की व्याख्या:—

धर्म क्या है ? 'धर्म' दुर्गति में गिरते हुए जीव को धारण कर लेने वाला, बचा लेने वाला है। कहा गया है कि 'जिस कारण से दुर्गति के प्रति प्रयाण करने वाले जीवों को बचा लेता है, रोक देता है, इसीलिए वह 'धर्म' है; और जिससे जीवों को शुभ स्थान में स्थापित करता है; इसलिए यह 'धर्म' नाम से ख्यात है, .. इत्यादि। ● तथा 'तीर्थ' यह है जिससे तैरा जा सके। धर्म यही तीर्थ अथवा धर्मप्रधान तीर्थ यह धर्मतीर्थ है। संसार समुद्र से वह तारने वाला है। धर्मतीर्थ को करने के स्वभाव वाले जो हैं वे धर्म तीर्थकर कहे जाते हैं। ● 'जिन' शब्द का अर्थ है, राग-द्वेषादि को जीतने वाले। ● 'अरिहंत' शब्द का अर्थ है जो अशोकवृक्ष, सुरपुष्पवृष्टि इत्यादि आठ महाप्रातिहार्य स्वरूप पूजा के अर्ह हैं, योग्य हैं।

'कित्तइस्सं चउवीसं पि केवली' की व्याख्या:—

'कित्तइस्सं' अर्थात् मैं कीर्तन करूंगा, उन अरिहंतों की अपना अपना नाम लेकर स्तुति करूंगा। 'चउवीसं' अर्थात् चौबीस, यह अरिहंतों की संख्या है। 'पि' अर्थात् भी; यह शब्द भाव से तदितर के सङ्ग्रहार्थ है। 'भाव से' के दो अर्थ हैं, (१) नाम-अरिहंत, स्थापना-अरिहंत, और द्रव्य-अरिहंत को छोड़ कर भाव अरिहंत के निक्षेप से, अथवा (२) शुभ अध्यवसाय से। 'तदितर' का तात्पर्य है ऋषभदेवादि चौबीस तीर्थङ्करों के अतिरिक्त ऐरवत महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न अरिहंत। उनके सङ्ग्रहार्थ 'चौबीस भी' ऐसा कहा। कहा गया है कि 'अपि' शब्द के ग्रहण से ऐरवत और महाविदेह के अरिहंत भगवान लिये जाते हैं। वे केवली हैं अर्थात् केवलज्ञान जिन्हें विद्यमान है, वैसे हैं। उन केवलज्ञानी का भी मैं कीर्तन करूंगा।

(ल०—लोकोद्योतकरादिविशेषणसार्थक्यम्—) अत्राह,—'लोकस्योद्योतकरानित्येतावदेव साधु, धर्म्मतीर्थकरानिति न वाच्यं, गतार्थत्वात् । तथाहि, ये लोकस्योद्योतकराः, ते धर्म्मतीर्थकरा एवेति' । अत्रोच्यते,—इह लोकैकदेशेऽपि ग्रामैकदेशे ग्रामवल्लोकशब्दप्रवृत्तेः मा भूत्तदुद्योतकरेष्ववधिविभङ्गज्ञानिष्वर्कचन्द्रादिषु वा संप्रत्यय इत्यतस्तद्व्यवच्छेदार्थं धर्म्मतीर्थकरानिति । आह, 'यद्येवं, धर्म्मतीर्थकरानित्येतावदेवास्तु, लोकस्योद्योतकरानिति न वाच्यमिति' । अत्रोच्यते, इह लोके येऽपि नद्यादिविषमस्थानेषु मुधिकया धर्म्मार्थमवतरणतीर्थकरणशीलास्तेऽपि धर्म्मतीर्थकरा एवोच्यन्ते, तन्मा भूदतिमुग्धबुद्धीनां तेषु संप्रत्यय इत्यतस्तदपनोदाय लोकस्योद्योतकरानप्याहेति ।

(ल०—इतरतीर्थकर्तरि जिनत्वाभावः—) अपरस्त्वाह 'जिनानित्यतिरिच्यते; तथाहि,—यथोक्तप्रकारा जिना एव भवन्तीति ।' अत्रोच्यते, मा भूत्कुनयमतानुसारिपरिकल्पितेषु यथोक्तप्रकारेषु संप्रत्यय इत्यतस्तदपोहायाह 'जिनानि'ति । श्रूयते च कुनयदर्शने,—

'ज्ञानिनो धर्म्मतीर्थस्य कर्त्तारः परमं पदम् । गत्वाऽऽगच्छन्ति भूयोऽपि भवं तीर्थनिकारतः ॥'

इत्यादि । तन्नूनं ते न रागादिजेतार इति; अन्यथा कुतो निकारतः पुनरिह भवाङ्कुरप्रभवो, बीजाभावात् । तथा चान्यैरप्युक्तम्—

'अज्ञानपांशुपिहितं, पुरातनं कर्म्मबीजमविनाशि । तृष्णाजलाभिषिक्तं मुञ्चति जन्माङ्कुरं जन्तोः' ॥

तथा, 'दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः । कर्म्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः ॥'

इत्यादि ।

विशेषणों की सार्थकता का उपपादन 'धम्मतित्थयरे' क्यों दिया ?—

प्र०—'लोगस्स उज्जोअगरे' अर्थात् 'लोक के उद्योत करने वालों को'—इतना ही कहिए, 'धम्मतित्थयरे' विशेषण क्यों जोडते हैं ? कारण, इसका भाव उसमें आ जाता है । जो लोक के उद्योतकर हैं वे धर्मतीर्थ करने वाले भी हैं ही ।

उ०—गांव के एक भाग में भी 'यह गांव है'—ऐसा व्यवहार होता है, इस प्रकार लोक के एक भाग में 'लोक' शब्द का प्रयोग हो सकता है, और वैसे लोक के एक भाग यानी अमुक द्रव्यादि के प्रकाशक अवधिज्ञानी विभंगज्ञानी (मलिन अवधिज्ञानी) एवं चन्द्र-सूर्य भी हैं, उनको यहां 'लोक-उद्योतकर' कर के न समझा जाए, इसलिए उसके निषेधार्थ 'धर्म-तीर्थङ्कर' विशेषण साथ में लगाया गया है । अवधिज्ञानी आदि धर्मतीर्थ के प्रणेता नहीं हैं ।

'लोगस्स उज्जोअगरे' क्यों दिया ?—

प्र०—अगर ऐसा हो तो 'धम्मतित्थयरे' इतना ही पद हो, साथ में 'लोगस्स उज्जोअगरे' क्यों लगाते हैं ?

उ०—ठीक है, लेकिन लोक में नदी, सरोवर आदि में उतरने के लिए तीर्थ (घाट, आरा) बनाया जाता है; धर्महेतु मुफ्त में उसको बना देने वाले भी धर्म तीर्थङ्कर कहे जाते हैं; सो यहां अति मुग्ध बुद्धि वालों को 'धम्मतित्थयरे' कहने से वे न समझे जाएँ इसलिए उनके निषेधार्थ साथ में 'लोगस्स उज्जोअगरे' कहा गया ।

(ल०–त्रिविधा जिनाः–) आह 'यद्येवं जिनानित्येतावदेवास्तु, लोकस्योद्योतकरानित्याद्यतिरिच्यते' इति। अत्रोच्यते, इह प्रवचने सामान्यतो विशिष्टश्रुतधरादयोऽपि जिना एवोच्यन्ते; तद्यथा,–श्रुतजिनाः अवधिजिनाः मनःपर्यायजिनाः, छद्मस्थवीतरागाश्च, तन्मा भूत् तेष्वेवंसम्प्रत्यय इति तद्व्युदासार्थं लोकस्योद्योतकरानित्यप्यदुष्टमिति।

(ल०–'अरिहंते'पदं किमर्थम्–) अपरस्त्वाह 'अर्हत' इति न वाच्यं, न ह्यनन्तरोदितस्वरूपा अर्हद्व्यतिरिक्तापरे भवन्तीति'। अत्रोच्यते, अर्हतामेव विशेष्यत्वान्न दोष इति। आह,–'यद्येवं हन्त! तर्ह्यर्हत इत्येतावदेवास्तु लोकस्योद्योतकरानित्यादि पुनरपार्थकम्।' न, तस्य नामाद्यनेकभेदत्वात् भावार्हत्संग्रहार्थत्वादिति।

'जिणे' क्यों दिया गया? अवतारवाद का खण्डनः—

प्र०—ठीक है, ये दोनों पद भले रहें, लेकिन साथ में 'जिणे' पद कहा गया यह अधिक है, अनावश्यक है। लोक के उद्योतकर एवं धर्म तीर्थङ्कर तो जिन ही होते हैं; तब उन दो पदों के कथन में 'जिन' का भाव समाविष्ट ही है, तो 'जिणे' पद की क्या आवश्यकता है?

उ०—आवश्यकता यह है कि मिथ्यादर्शन के अनुयायी द्वारा कल्पित लोक-उद्योतकर एवं धर्म-तीर्थंकर यहां न लिये जाएं, अतः उनके निषेध के लिए 'जिणे' पद दिया गया है इससे वे यहां ग्राह्य नहीं होंगे। मिथ्यादर्शन में वे जिन याने वीतराग नहीं हैं यह इस प्रकार सुना जाता है कि—

'ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य कर्तारः परमं पदम्। गत्वाऽऽगच्छन्ति भूयोऽपि भवं तीर्थनिकारतः॥' इत्यादि।

अर्थात्—'ज्ञानी एवं धर्मतीर्थ के कर्ता मोक्ष में जा कर के धर्मतीर्थ का नाश देख कर वापस संसार में अवतार लेते हैं।' किन्तु ऐसा अगर बनता हो, तो सचमुच वे जिन यानी रागद्वेष के विजेता नहीं हैं; अन्यथा तीर्थनाश देख कर वे बिना रागद्वेष वाले यहां वापस क्यों लौटते? बिना कर्म के वे संसार में जन्म कैसे ले सकते हैं? क्यों कि जब मुक्त हुए, तब संसार का बीजभूत कर्म ही नहीं रहा। दूसरों ने भी कहा है कि—

'अज्ञानपांशुपिहितं पुरातनं कर्मबीजमविनाशि। तृष्णाजलाभिषिक्तं मुञ्चति जन्माङ्कुरं जन्तोः॥'

अर्थात्—पूर्वकालीन अविनाशी कर्मबीज तो अज्ञान स्वरूप धूल के नीचे दबा हुआ रहता है; और तृष्णा रूप जल से जब सींचा जाता है, तब वह जीव के जन्म स्वरूप अंकुर को प्रगट करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि परमात्मा को जन्म लेने के लिए पूर्वकालीन कर्मबीज है। तब तो वे सचमुच मुक्त ही नहीं। और भी कहा गया है कि,—

'दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः। कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः॥'

जिस प्रकार बीज अत्यन्त भुंज जाने पर उसमें से अंकुर नहीं उग सकता, उस प्रकार कर्म बीज दग्ध हो जाने पर संसार अंकुर उत्पन्न नहीं होता।

सारांश, अन्य कल्पित परमात्मा 'जिन' नहीं है, अतः यहां 'जिणे' पद उनका व्यवच्छेदक होने से सार्थक है।

(ल०—'केवली' पदं किमर्थम् ?—) अपरस्त्वाह,—"केवलिन इति न वाच्यं, यथोदितस्वरूपाणामर्हतां केवलित्वाव्यभिचारात्; सति च व्यभिचारसंभवे विशेषणोपादानसाफल्यात् तथा च संभवे व्यभिचारस्य विशेषणमर्थवद् भवति, यथा नीलोत्पलमिति । व्यभिचाराभावे तु तदुपादीयमानमपि यथा 'कृष्णो भ्रमरः, शुक्लो बलाक' इत्यादि ऋते प्रयासात् कमर्थं पुष्णातीति । तस्मात् केवलिन इत्यतिरिच्यते ।"

(ल०—विशेषणदानं त्रितयार्थम्—) न, अभिप्रायापरिज्ञानात् । इह केवलिन एव यथोक्तस्वरूपा अर्हन्तो नान्ये इति नियमार्थत्वेन स्वरूपज्ञापनार्थमेवेदं विशेषणमित्यनवद्यम् । न चैकान्ततो व्यभिचारसंभवे एव विशेषणोपादानसाफल्यम्, उभयपदव्यभिचारे, एकपदव्यभिचारे, स्वरूपज्ञापने च शिष्टोक्तिषु तत्प्रयोगदर्शनात् । तत्रोभयपदव्यभिचारे, यथा—नीलोत्पलमिति । तथैकपदव्यभिचारे, यथा—अद्द्रव्यं, पृथिवी द्रव्यमिति । तथा स्वरूपज्ञापने, यथा—परमाणुरप्रदेश इत्यादि । यतश्चैवमतः केवलिन इति न दुष्टम् ।

'जिन' के अनेक प्रकारः—

प्र०—अगर ऐसा हो तब 'जिणे' इतना ही पद रखा जाए, 'लोगस्स उज्जोअगरे'... इत्यादि की क्या आवश्यकता है ?

उ०—इस प्रवचन में विशिष्ट श्रुत(आगम)धर आदि भी सामान्य रूप से 'जिन' कहे जाते हैं। यह इस प्रकार,—दस पूर्व अथवा अधिक जानने वाले श्रुतजिन कहलाते हैं; अवधिज्ञान धरने वाले अवधि जिन, मनःपर्यायज्ञान वाले मनःपर्याय जिन, एवं ११ वे १२ वे गुणस्थानक में स्थित छद्मस्थ महात्मा वीतराग जिन कहे जाते है। वे यहां नहीं लेने हैं, अतः उनके व्यवच्छेदार्थ 'लोगस्स उज्जोअगरे'... इत्यादि पद दिये गए हैं।

प्र०—'अरिहंते' पद क्यों ? 'लोगस्स उज्जोअगरे', 'धम्मतित्थयरे', और 'जिणे', ये तीन पद पर्याप्त हैं, तो 'अरिहते' पद नहीं देना चाहिए।

उ०—ऐसा मत कहिए, क्यों कि 'अरिहते' पद विशेष्यवाची पद है और पूर्व तीन पद विशेषणवाची हैं, इसलिए उसके देने मे कोई दोष नहीं। विशेषण पदों को विशेष्यपद की आवश्यकता होती है।

प्र०—ऐसा है ? हां, तब तो सिर्फ 'अरिहंते' पद ही रखा जाए। 'लोगस्स उज्जोअगरे' इत्यादि पदों की क्या जरूरत ? वे निरर्थक हैं।

उ०—निरर्थक नहीं है; क्यों कि अरिहंत के तो नाम–अरिहंत, स्थापना–अरिहंत, इत्यादि अनेक प्रकार होते हैं; लेकिन यहाँ भाव–अरिहत का ही ग्रहण करना है; सब औरों के व्यवच्छेद (अग्रहण) के लिए दिए गए 'लोगस्स उज्जोअगरे ' इत्यादि पद निरर्थक नहीं हैं।

प्र०—'केवली' पद क्यों दिया गया ? नहीं देना चाहिए, क्यों कि पूर्वोक्त लोकोद्योतकर इत्यादि स्वरूप वाले अरिहंत केवली अर्थात् केवलज्ञानी होते ही हैं, इसमें कोई व्यभिचार नहीं कि वैसे अरिहंत केवली हो या न भी हो। इसलिए 'केवली' विशेषण देने की कोई आवश्यकता नहीं है। अगर व्यभिचार हो अर्थात् विशेष्य में उस धर्म एवं धर्माभाव दोनों का संभव हो तभी धर्माभाव के निवारणार्थ विशेषणपद दिया जाता है। विशेषणपद की सफलता व्यभिचारवारण में होती है; उदाहरणार्थ 'नील कमल', यहाँ

(ल०–) आह, यद्येवं 'केवलिन इत्येतावदेव सुन्दरं, शेषं तु लोकस्योद्योतकरानित्यादि किमर्थम्(प्र०...अपि न वाच्यम्) ? इत्यत्रोच्यते,—इह श्रुतकेवलिप्रभृतयोऽन्येऽपि विद्यन्त एव केवलिनः, तन्माभूत् तेष्वेव(वे)संप्रत्यय इति तत्प्रतिषेधार्थं लोकस्योद्योतकरानित्याद्यपि वाच्यमिति। एवं द्व्यादिसंयोगापेक्षयापि विचित्रनयमताभिज्ञेन स्वधिया(प्र०...सुधिया) विशेषणसाफल्यं वाच्यमित्यलं विस्तरेण । गमनिकामात्रमेतदिति ।

और भी रक्त कमल आदि जो होते हैं, उनका प्रस्तुत में ग्रहण न किया जाए इसलिए 'नील' विशेषण दिया गया है जो कि सार्थक है। लेकिन लोकोद्योतकर, धर्म तीर्थंकर, जिन और अरिहंत कहाँ केवली अकेवली दो प्रकार के होते हैं कि अकेवली के अग्रहण के लिए 'केवली' विशेषण दिया जाए ? हां, आप कह सकते हैं कि 'काला भ्रमर, सफेद बक' इत्यादि में व्यभिचार न होने पर भी काला एवं सफेद विशेषण दिये जाते हैं, तो विशेषण का ग्रहण व्यभिचार होने पर ही होता है यह नियम कहाँ रहा ?' लेकिन हम कहते हैं कि इन दृष्टान्तों में विशेषणपद की की गई योजना प्रयासमात्र के सिवा किस अर्थ की पुष्टि करती है ? कुछ नहीं, श्रममात्र है।

उ०—यह प्रश्न ठीक नहीं, क्यों कि आप अभिप्राय नहीं समझे। अभिप्राय यह है कि, 'केवली ही पूर्वोक्त स्वरूप वाले अरिहंत होते हैं, दूसरे नहीं'—ऐसा नियम प्रदर्शित करने के लिए ही यहाँ 'केवली' पद का उपन्यास होने से यह स्वरूप सूचित करने के लिए ही दिया गया है, अतः यह निर्दोष है। यह ध्यान में रखिए कि ऐसा कोई नियम नहीं है कि विशेषण का साफल्य मात्र व्यभिचार संभवित होने पर ही हो सकता है, क्यों कि विशेष्य, विशेषण उभयपद के व्यभिचार में, या दो में से एक पद के व्यभिचार में, या तो स्वरूप के सूचन में उसका प्रयोग होता हुआ शिष्टजनों की उक्तियों में दिखाई पड़ता है; उदाहरणार्थ, यहां उभय पद के व्यभिचार में 'नील कमल', एक पद के व्यभिचार में 'पानी द्रव्य, पृथ्वी द्रव्य ...' और स्वरूप-सूचन में 'परमाणु अ-प्रदेश होता है' इत्यादि। 'नील कमल' में विशेष्य, विशेषण उभयपद का व्यभिचार इस प्रकार है,—नील भी कमल होता है, एवं रक्त भी कमल होता है; एवं कमल भी नील होता है, एवं घड़ा आदि भी नील होता है। इसलिए स्थलविशेष में अमुक ही कमल के ग्रहणार्थ 'नील' पद दिया जाता है, स्थलविशेष में अमुक ही नील वस्तु के ग्रहणार्थ 'कमल' पद दिया जाता है। एक पद का व्यभिचार इस प्रकार,—द्रव्य तो पानी भी होता है, पृथ्वी भी होता है; लेकिन पानी यह द्रव्य भी होता है और कोई अद्रव्य भी होता है ऐसा नहीं। तब अमुक ही द्रव्य मंगवाने के लिए कहा जाता है कि 'पानी द्रव्य ही लाओ' या 'पृथ्वी द्रव्य ही लाओ' इत्यादि। इस प्रकार स्वरूप सूचित करने के लिए भी विशेषण दिया जाता है जैसे कि 'परमाणु अप्रदेश होता है', 'अप्रदेश परमाणु की अवगाहना एक ही आकाशप्रदेश होती है' इत्यादि। 'अ-प्रदेश' का मतलब है जिसके और अंश नहीं है, जो स्वयं सूक्ष्मतम अंश प्रमाण होता है।

इन तीनों स्थल में विशेषण सफल होने से प्रस्तुत में स्वरूप-सूचन के लिए 'केवली' विशेषण का प्रयोग इष्ट है, गलत नहीं।

प्र०—तब तो 'केवली' इतना ही कहना सुन्दर है, 'लोगस्स उज्जोअगरे' इत्यादि पद क्यों कहे जाय ?

उ०—व्यभिचार निवारणार्थ वे आवश्यक हैं; क्यों कि इस शासन में श्रुतकेवली आदि अन्य भी केवली होते हैं (श्रुतकेवली = समस्त द्वादशांगी प्रमुख श्रुत के पारगामी) लेकिन उनके विषय में यह

(ल०—गाथा २-३-४-) तत्र यदुक्तं 'कीर्तयिष्यामी'ति तत् कीर्त्तनं कुर्वन्नाह—
उसभमजिअं च वंदे संभवमभिणंदणं च सुमइं च । पउम्मपहं सुपासं जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥२॥
सुविहिं च पुप्फदंतं सीअल-सिज्जंस-वासुपुज्जं च । विमलमणंतं च जिणं धम्मं संतिं च वंदामि ॥३॥
कुंथुं अरं च मल्लिं वंदे मुणिसुव्वयं नमिजिणं च । वंदामि रिट्ठनेमिं पासं तह वद्धमाणं च ॥४॥
एता निगदसिद्धा एव । नामान्वर्थनिमित्तं त्वावश्यके 'उरूसु उसभलञ्छण उसभं सुमिणंमि तेण उसभजिणो ।' इत्यादिग्रन्थादवसेयमिति ।

प्रतीति न हो कि २४ तीर्थंकर ऐसे श्रुतकेवली आदि होते हैं, इसलिए उनका निषेध करने के लिए यहां 'लोगस्स उज्जोअगरे' इत्यादि पद दिये गए हैं।

इस प्रकार यानी एकैक पद की तरह दो-दो इत्यादि पदों के संयोग की अपेक्षा से भी विशेषणों का साफल्य क्या क्या है यह विचित्र नयमत के अभिज्ञ पुरुष से स्वबुद्धि अनुसार वक्तव्य है। इसलिए अब यहां विस्तार नहीं किया जाता है। इतना तो पद-समझौती मात्र है।

२-३-४ गाथाः—

अब यहां प्रथम गाथा में जो कहा गया कि 'कित्तइस्सं' अर्थात् मैं कीर्त्तन करूंगा, यह कीर्तन करते हुए कहते हैं—'उसभमजिअं ..', 'सुविहिं च ...', 'कुंथुं....' इत्यादि।

उसभमजिअं च वंदे संभवमभिणंदणं च सुमइं च । पउम्मपहं सुपासं जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥२॥
सुविहिं च पुप्फदंतं सीअल-सिज्जंस-वासुपुज्जं च । विमलमणंतं च जिणं धम्मं संतिं च वंदामि ॥३॥
कुंथुं अरं च मल्लिं वंदे मुणिसुव्वयं नमिजिणं च । वंदामि रिट्ठनेमिं पासं तह वद्धमाणं च ॥४॥

गाथाएँ उच्चारण से ही स्पष्ट हैं। इनका अर्थः—● (१) मैं ऋषभदेव और अजितनाथ को वन्दन करता हूँ; संभवनाथ और अभिनन्दनस्वामी एवं सुमतिनाथ, पद्मप्रभस्वामी, सुपार्श्वनाथ तथा चन्द्रप्रभजिन को मैं वन्दन करता हूँ। ● (२) मैं सुविधिनाथ अपर नाम पुष्पदन्तस्वामी, शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ और वासुपूज्यस्वामी, विमलनाथ और अनन्तनाथ जिन, धर्मनाथ एवं शान्तिनाथ को वन्दन करता हूँ। ● (४) कुंथुनाथ, अरनाथ एवं मल्लिनाथ को मैं वन्दन करता हूँ। मुनिसुव्रतस्वामी एवं नमिजिन को मैं वन्दन करता हूँ। अरिष्टनेमिनाथ, पार्श्वनाथ तथा वर्द्धमानस्वामी को मैं वन्दन करता हूँ। ● ये गाथाएँ स्पष्टार्थ होते हुए भी प्रत्येक अर्हद्-नाम का व्युत्पत्ति अर्थ 'उरूसु उसभलञ्छण उसभं सुमिणंमि, तेण उसभ जिणो ।'. इत्यादि 'आवश्यक निर्युक्ति' ग्रन्थ से समझ लेना। यह इस प्रकार,—ऋषभदेव प्रभु की जांघ में ऋषभ (वृषभ) का चिह्न था, एवं प्रभु की माता ने प्रभु गर्भ में आये तब ऋषभ को देखा था, इसलिए प्रभु का नाम 'ऋषभनाथ' रखा गया; ...इत्यादि।

यहां चौवीस प्रभु के नाम ऐसे हैं कि जो प्रत्येक प्रभु के गर्भकाल में कुछ न कुछ विशेषता बनने के कारण रखे गये थे, एवं जो व्याकरण शास्त्र की व्युत्पत्तिवशात् भी किसी भी अरिहंत को सङ्गत हो सकते हैं अर्थात अरिहंत के सर्व सामान्य नाम हो सकते हैं। यह इस प्रकारः—

(ल०-) आह, यद्येवं 'केवलिन इत्येतावदेव सुन्दरं, शेषं तु लोकस्योद्योतकरानित्यादि किमर्थम्(प्र०...अपि न वाच्यम्)? इत्यत्रोच्यते,—इह 'श्रुतकेवलिप्रभृतयोऽन्येऽपि विद्यन्त एव केवलिनः, तन्माभूत् तेष्वेव(वं)संप्रत्यय इति तत्प्रतिषेधार्थं लोकस्योद्योतकरानित्याद्यपि वाच्यमिति'। एवं द्वयादिसंयोगापेक्षयापि विचित्रनयमताभिज्ञेन स्वधिया(प्र०...सुधिया) विशेषणसाफल्यं वाच्य-मित्यलं विस्तरेण। गमनिकामात्रमेतदिति।

और भी रक्त कमल आदि जो होते हैं, उनका प्रस्तुत में ग्रहण न किया जाए इसलिए 'नील' विशेषण दिया गया है जो कि सार्थक है। लेकिन लोकोद्योतकर, धर्म तीर्थंकर, जिन और अरिहंत कहाँ केवली अकेवली दो प्रकार के होते हैं कि अकेवली के अग्रहण के लिए 'केवली' विशेषण दिया जाए? हां, आप कह सकते हैं कि 'काला भ्रमर, सफेद बक' इत्यादि में व्यभिचार न होने पर भी काला एवं सफेद विशेषण किये जाते हैं, तो विशेषण का ग्रहण व्यभिचार होने पर ही होता है यह नियम कहाँ रहा?' लेकिन हम कहते हैं कि इन दृष्टान्तों में विशेषणपद की की गई योजना प्रयासमात्र के सिवा किस अर्थ की पुष्टि करती है? कुछ नहीं, श्रममात्र है।

उ०—यह प्रश्न ठीक नहीं, क्यों कि आप अभिप्राय नहीं समझे। अभिप्राय यह है कि, 'केवली ही पूर्वोक्त स्वरूप वाले अरिहंत होते हैं, दूसरे नहीं'—ऐसा नियम प्रदर्शित करने के लिए ही यहाँ 'केवली' पद का उपन्यास होने से यह स्वरूप सूचित करने के लिए ही दिया गया है, अतः यह निर्दोष है। यह ध्यान में रखिए कि ऐसा कोई नियम नहीं है कि विशेषण का साफल्य मात्र व्यभिचार संभवित होने पर ही हो सकता है, क्यों कि विशेष्य, विशेषण उभयपद के व्यभिचार में, या दो में से एक पद के व्यभिचार में, या तो स्वरूप के सूचन में उसका प्रयोग होता हुआ शिष्टजनों की उक्तियों में दिखाई पड़ता है; उदा-हरणार्थ, यहां उभय पद के व्यभिचार में 'नील कमल', एक पद के व्यभिचार में 'पानी द्रव्य, पृथ्वी द्रव्य ...' और स्वरूप-सूचन में 'परमाणु अ-प्रदेश होता है' इत्यादि। 'नील कमल' में विशेष्य, विशेषण उभयपद का व्यभिचार इस प्रकार है,—नील भी कमल होता है, एवं रक्त भी कमल होता है; एवं कमल भी नील होता है, एवं घड़ा आदि भी नील होता है। इसलिए स्थलविशेष में अमुक ही कमल के ग्रहणार्थ 'नील' पद दिया जाता है, स्थलविशेष में अमुक ही नील वस्तु के ग्रहणार्थ 'कमल' पद दिया जाता है। एक पद का व्यभिचार इस प्रकार,—द्रव्य तो पानी भी होता है, पृथ्वी भी होता है; लेकिन पानी यह द्रव्य भी होता है और कोई अद्रव्य भी होता है ऐसा नहीं। तब अमुक ही द्रव्य मंगवाने के लिए कहा जाता है कि 'पानी द्रव्य ही लाओ' या 'पृथ्वी द्रव्य ही लाओ' इत्यादि। इस प्रकार स्वरूप सूचित करने के लिए भी विशेषण दिया जाता है जैसे कि 'परमाणु अप्रदेश होता है', 'अप्रदेश परमाणु की अवगाहना एक ही आकाशप्रदेश होती है' इत्यादि। 'अ-प्रदेश' का मतलब है जिसके और अंश नहीं है, जो स्वयं सूक्ष्मतम अंश प्रमाण होता है।

इन तीनों स्थल में विशेषण सफल होने से प्रस्तुत में स्वरूप-सूचन के लिए 'केवली' विशेषण का प्रयोग इष्ट है, गलत नहीं।

प्र०—तब तो 'केवली' इतना ही कहना सुन्दर है, 'लोगस्स उज्जोअगरे' इत्यादि पद क्यों कहे जाय?

उ०—व्यभिचार निवारणार्थ वे आवश्यक हैं; क्यों कि इस शासन में श्रुतकेवली आदि अन्य भी केवली होते हैं (श्रुतकेवली = समस्त द्वादशांगी प्रमुख श्रुत के पारगामी) लेकिन उनके विषय में यह

(ल०—गाथा २-३-४—) तत्र यदुक्तं 'कीर्त्तयिष्यामी'ति तत् कीर्त्तनं कुर्वन्नाह—
उसभमजिअं च वंदे संभवमभिणंदणं च सुमइं च । पउम्मपहं सुपासं जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥२॥
सुविहिं च पुप्फदंतं सीअल-सिज्जंस-वासुपुज्जं च । विमलमणंतं च जिणं धम्मं संतिं च वंदामि ॥३॥
कुंथुं अरं च मल्लिं वंदे मुणिसुव्वयं नमिजिणं च । वंदामि रिट्ठनेमिं पासं तह वद्धमाणं च ॥४॥
एता निगदसिद्धा एव । नामान्वर्थनिमित्तं त्वावश्यके 'उरूसु उसभलञ्छण उसभं सुमिणंमि तेण उसभजिणो ।' इत्यादिग्रन्थादवसेयमिति ।

प्रतीति न हो कि २४ तीर्थंकर ऐसे श्रुतकेवली आदि होते हैं, इसलिए उनका निषेध करने के लिए यहां 'लोगस्स उज्जोअगरे' इत्यादि पद दिये गए हैं।

इस प्रकार यानी एकैक पद की तरह दो-दो इत्यादि पदों के संयोग की अपेक्षा से भी विशेषणों का साफल्य क्या क्या है यह विचित्र नयमत के अभिज्ञ पुरुष से स्वबुद्धि अनुसार वक्तव्य है। इसलिए अब यहां विस्तार नहीं किया जाता है। इतना तो पद-समझौती मात्र है।

२-३-४ गाथाः—

अब यहां प्रथम गाथा में जो कहा गया कि 'कित्तइस्सं' अर्थात् मैं कीर्त्तन करूंगा, यह कीर्तन करते हुए कहते हैं—'उसभमजिअं ...', 'सुविहिं च ...', 'कुंथुं....' इत्यादि।

उसभमजिअं च वंदे संभवमभिणंदणं च सुमइं च । पउम्मपहं सुपासं जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥२॥
सुविहिं च पुप्फदंतं सीअल-सिज्जंस-वासुपुज्जं च । विमलमणंतं च जिणं धम्मं संतिं च वंदामि ॥३॥
कुंथुं अरं च मल्लिं वंदे मुणिसुव्वयं नमिजिणं च । वंदामि रिट्ठनेमिं पासं तह वद्धमाणं च ॥४॥

गाथाएँ उच्चारण से ही स्पष्ट हैं। इनका अर्थ —● (१) मैं ऋषभदेव और अजितनाथ को वन्दन करता हूँ; संभवनाथ और अभिनन्दनस्वामी एवं सुमतिनाथ, पद्मप्रभस्वामी, सुपार्श्वनाथ तथा चन्द्रप्रभजिन को मैं वन्दन करता हूं। ● (२) मैं सुविधिनाथ अपर नाम पुष्पदन्तस्वामी, शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ और वासुपूज्यस्वामी, विमलनाथ और अनन्तनाथ जिन, धर्मनाथ एवं शान्तिनाथ को वन्दन करता हूँ। ● (४) कुंथुनाथ, अरनाथ एवं मल्लिनाथ को मैं वन्दन करता हूँ। मुनिसुव्रतस्वामी एवं नमिजिन को मैं वन्दन करता हूँ। अरिष्टनेमिनाथ, पार्श्वनाथ तथा वर्द्धमानस्वामी को मैं वन्दन करता हूँ। ● ये गाथाएँ स्पष्टार्थ होते हुए भी प्रत्येक अर्हद्-नाम का व्युत्पत्ति अर्थ 'उरूसु उसभलञ्छण उसभं सुमिणंमि, तेण उसभ जिणो ।'. इत्यादि 'आवश्यक निर्युक्ति' ग्रन्थ में समझ लेना। यह इस प्रकार,—ऋषभदेव प्रभु की जांघ में ऋषभ (वृषभ) का चिह्न था, एवं प्रभु की माता ने प्रभु गर्भ में आये तब ऋषभ को देखा था, इसलिए प्रभु का नाम 'ऋषभनाथ' रखा गया; ...इत्यादि।

यहां चौवीस प्रभु के नाम ऐसे हैं कि जो प्रत्येक प्रभु के गर्भकाल में कुछ न कुछ विशेषता बनने के कारण रखे गये थे, एवं जो व्याकरण शास्त्र की व्युत्पत्तिवशात् भी किसी भी अरिहंत को सङ्गत हो सकते हैं अर्थात् अरिहंत के सर्व सामान्य नाम हो सकते हैं। यह इस प्रकार—

२४ अरिहंत	प्रत्येक के गर्भकाल में विशेषता	अरिहंत के सर्वसामान्य नाम
१. ऋषभदेव	जांघ पर वृषभ का चिह्न; माता को पहला स्वप्न वृषभ;	समग्र संयमभार के वहन से वृषभ
२. अजितनाथ	माता द्यूत में पिता से न जीती गई	परीषहादि से पराजित नहीं
३. संभवनाथ	अधिक धान्य की उत्पत्ति	जहां ३४ अतिशय का संभव है अथवा जिनकी स्तुति से सुख होता है
४. अभिनंदन०	इन्द्र द्वारा बारबार अभिनंदित	देवेन्द्रों से जिनका अभिनंदन किया गया
५. सुमतिनाथ	माता को किसी एक पुत्रार्थ झगड़ती दो माताओं को यथार्थ न्याय देने की मति हुई	सुशोभन मति है जिनकी
६. पद्मप्रभ	माता के पद्म शयन का दोहद इन्द्र ने पूर्ण किया	पद्मसम निष्कलंक प्रभा वाले
७. सुपार्श्वनाथ	माता अच्छे पार्श्व वाली हुई	सुशोभित पार्श्व वाले
८ चन्द्रप्रभ०	प्रभु की चन्द्रसम उज्ज्वल प्रभा	चन्द्रसम सौम्य प्रभा वाले
९. सुविधिनाथ	माता सर्वविधि में कुशल हुई	सर्वविधि में कुशल
१०. शीतलनाथ	माता के करस्पर्श से पिता के पित्तदाह का शमन	जीवों के समस्त संताप शांत करने वाले
११ श्रेयांसनाथ	माता द्वारा देवाधिष्ठित शय्या पर प्रथम आरोहण एवं श्रेयनिष्पत्ति	विश्व को श्रेयरूप, हितकर
१२. वासुपूज्य०	देवों ने बार बार राजकुल में रत्नवर्षा की	वसु नामक देवों से पूज्य
१३. विमलनाथ	माता की काया एवं मति विमल हुई	निर्मल ज्ञानादि वाले, मलरहित
१४. अनंतनाथ	माता को रत्नजड़ित महा हार का स्वप्न	अनन्त कर्माणु नाश से अनंत ज्ञानादि वाले
१५. धर्मनाथ	माता दानादि धर्म में तत्पर हुई	दुर्गति पतन से जीवों को धारण करने वाले
१६. शान्तिनाथ	पूर्वोत्पन्न अशिव की शान्ति हुई	शान्ति रूप, शान्तिकारक
१७ कुन्थुनाथ	माता ने रत्न शोभित कुन्थु याने स्तूप देखा	पृथ्वी पर रहे हुए
१८. अरनाथ	माता ने सर्वरत्नमय अर (चक्र के आरे) देखे	कुल वृद्धि हेतु अर स्वरूप
१९. मल्लिनाथ	माता का सर्व ऋतुओं के पुष्पों की मालाओं से निर्मित शय्या पर शयन का दोहद देव से पूरित किया गया	परीषहादि मल्ल के विजेता
२०. मुनिसुव्रत०	माता मुनि की तरह अच्छे व्रत वाली हुई	सुव्रत वाले मुनि
२१. नमिनाथ	नगररोधक शत्रु किले पर माता के दर्शन से नम गया	परीषहादि को नमाने वाले
२२. नेमिनाथ	रिष्टरत्नमय चक्रधारा माता ने देखी	रिष्ट, पाप के दूरीकरणार्थ चक्रधारा संपन्न
२३. पार्श्वनाथ	माता ने अंधेरी रात में भी सर्प को पास में देखा	सर्व भाव देखने वाले
२४. वर्धमानस्वामी	ज्ञातकुल में धन धान्यादि की वृद्धि हुई	जन्म से ज्ञानादि से बढ़ते हुए।

(ल०—गाथा-५—) कीर्त्तनं कृत्वा चेतःशुद्ध्यर्थं प्रणिधि(प्र०...प्रणिधान)माह—

'एवं मए अभिथुआ विहुयरयमला पहीणजरमरणा। चउवीसं पि जिणवरा तित्थयरा मे पसीयंतु ॥५॥'

व्याख्या—'एवं' अनन्तरोदितेन विधिना। 'मये'त्यात्मनिर्देशमाह। 'अभिष्टुता(प्र०...स्तुता)' इति आभिमुख्येन स्तुता अभिष्टुताः(प्र०...स्तुता), स्वनामभिः कीर्तिताः इत्यर्थः। किं विशिष्टास्ते 'विधूतरजोमलाः', तत्र रजश्च मलं च रजोमले 'विधूते' प्रकम्पिते, अनेकार्थत्वाद्धातूनाम् अपनीते रजोमले यैस्ते तथाविधाः। तत्र बध्यमानं कर्म्म रजोऽभिधीयते, पूर्वबद्धं तु मलमिति। अथवा बद्धं रजः, निकाचितं मलम्; अथवेर्यापथं रजः, सांपरायिकं मलमिति।

(ल०—) यतश्चैवंभूता अत एव 'प्रक्षीणजरामरणाः', कारणाभावादित्यर्थः। तत्र 'जरा' वयोहानिलक्षणा, 'मरणं' प्राणत्यागलक्षणं, प्रक्षीणे जरामरणे येषां ते तथाविधाः। 'चतुर्विंशतिरपि', 'अपि' शब्दादन्येऽपि। 'जिनवराः'=श्रुतादिजिनप्रधानाः। ते च सामान्यकेवलिनोऽपि भवन्ति, अत आह 'तीर्थकराः' इति। एतत् समानं पूर्वेण। 'मे'=मम, किं ? 'प्रसीदन्तु'=प्रसादपरा भवन्तु।

५वीं गाथा की व्याख्याः—

२४ भगवान का कीर्तन कर के अब चित्त की विशुद्धि के लिए प्रणिधान कहते हैं 'एवं मए....' इत्यादि।

'एवं मए अभिथुआ विहुयरयमला पहीणजरमरणा। चउवीसं पि जिणवरा तित्थयरा मे पसीयंतु ॥५'

व्याख्या इस प्रकार है,—'एवं' = पूर्वोक्त विधि से। 'मए' = मुझ से, यह पद स्तुति करने वाले की आत्मा का निर्देशक है। 'अभिथुआ' = सामने रह कर स्तुति के विषय किये हुए, अर्थात् अपने नाम द्वारा कीर्तित किए गए। वे कैसे ? 'विहुयरयमला' = रज एवं मल अत्यन्त कंपित किए गए हैं, धातु के अनेक अर्थ होते हैं, इसलिए 'विहुय' अर्थात् दूर किए गए हैं,—जिनके द्वारा ऐसे। यहां बंधाता हुआ कर्म 'रज', एवं पूर्वबद्ध कर्म 'मल' कहलाता है; अथवा बंधाया हुआ कर्म रज और निकाचित (अत्यन्त गाढ़बद्ध किया हुआ) कर्म मल कहलाता है। अथवा, ऐर्यापथ कर्म यानी वीतराग अवस्था में बद्ध कर्म 'रज' और सांपरायिक कर्म अर्थात् सकषाय अवस्था में बद्ध कर्म 'मल' कहा जाता है। उन रज-मल को जिन्होंने निर्मूल किया नष्ट किया है ऐसे तीर्थङ्कर 'विहुयरयमल' हुए।

गाथार्थः—जिन्होंने रज और मल का नाश कर दिया है एवं जिनकी जरा और मृत्यु दूर हो गई है वे चौबीस तथा अन्य तीर्थङ्कर मुझ पर प्रसाद करें। यह प्रसाद की याचना प्रार्थना रूप नहीं किन्तु प्रणिधान स्वरूप है, हृदय की शुद्ध आशंसा रूप है, यह आगे स्पष्ट करते हैं।

जिस कारण से 'विधूतरजमल' हैं, इसीलिए वे 'पहीणजरामरणा' प्रक्षीणजरामरण हैं, क्यों कि जरामरण का अब कोई कारण नहीं रहा। वहां 'जरा' वय(उमर) की हानि स्वरूप है, और 'मरण' प्राण-त्याग स्वरूप है। जरामरण जिसके अत्यन्त क्षीण-नष्ट हो गए हैं, वे हुए प्रक्षीणजरामरण। 'चउवीसं पि' = चौबीस भी, 'भी' शब्द से अन्य भी तीर्थंकर यहां ग्राह्य हैं। 'जिणवरा' = श्रुतजिन, अवधिजिन आदि जिनों में प्रधान। वे सामान्य केवलज्ञानी भी होते हैं इसलिए कहते हैं 'तित्थयरा' = तीर्थंकर। ये पूर्व म गाथा में कहे हुए 'धम्मतित्थयरे' पद के समान हैं। 'मे' = मुझे। 'पसीयंतु' = प्रसादकारी हों।

(ल०–प्रार्थनात्वखण्डनम्–) आह,–'किमेषा प्रार्थना, अथ न ?' इति । यदि प्रार्थना, न सुन्दरैषा, आशंसारूपत्वात् । अथ न, उपन्यासोऽस्याअप्रयोजन इतरो वा ? अप्रयोजनश्चेदचारु वन्दनसूत्रं, निरर्थकोपन्यासयुक्त(प्र०...रूप)त्वात् । अथ सप्रयोजनः, कथमयथार्थतया तत्सिद्धिरिति।

अत्रोच्यते,–न प्रार्थनैषा, तल्लक्षणानुपपत्तेः । तदप्रसादाक्षेपिकैषा, तथालोकप्रसिद्धत्वात्, अप्रसन्नं प्रति प्रसाद(प्रार्थना)दर्शनात्, अन्यथा तदयोगात्, भाव्यप्रसादविनिवृत्त्यर्थं वा, उक्तादेव हेतोः । इति उभयथापि तदवीतरागता ।

(ल०–अग्निचिन्तामणिदृष्टान्ताभ्यामर्हदुपासनाफलम्:–) अत एव स्तव(प्र०...सूत्र)धर्म्मव्यतिक्रमः, अर्थापत्त्याक्रोशात् अनिरूपिताभिधान(प्र०...अनिरूपितविधान)द्वारेण । न खल्वयं वचनविधिरार्याणां, तत्त्वबाधनात् । वचनकौशलोपेतगम्योऽयं मार्ग्गः । अप्रयोजन-सप्रयोजनचिन्तायां तु न्याय्य उपन्यासः, भगवत्स्तवरूपत्वात् । उक्तं च,—

क्षीणक्लेशा एते न हि प्रसीदन्ति न स्तवोऽपि वृथा । तत्स्तवभावविशुद्धेः प्रयोजनं कर्म्मविगम इति ।१।
स्तुत्या अपि भगवन्तः परमगुणोत्कर्षरूपतो ह्येते । दृष्टा ह्यचेतनादपि मन्त्रादिजपादितः सिद्धिः ।२।
यस्तु स्तुतः प्रसीदति रोषमवश्यं स याति निन्दायाम् । सर्वत्रासमचित्तः स्तुत्यो मुख्यः कथं भवति ।३।
शीतार्दितेषु हि यथा द्वेषं वह्निर्न याति रागं वा । नाह्वयति वा तथापि च तमाश्रिताः स्वेष्टमश्नुते ।४।
तद्वत्तीर्थकरान् ये त्रिभुवनभावप्रभावकान् भक्त्या । समुपाश्रिता जनास्ते भवशीतमपास्य यान्ति शिवम् ।५।

एतदुक्तं भवति,–यद्यपि ते रागादिभी रहितत्वान्न प्रसीदन्ति, तथापि तानुद्दिश्याचिन्त्यचिन्तामणिकल्पान् अन्तःकरणशुद्ध्याभीष्टं च कर्त्तॄणां तत्पूर्विकैवाभिलषितफलावाप्तिर्भवतीति गाथार्थः।५।

'पसीयंतु' पद से प्रार्थना नहीं है:—

प्र०—'प्रसादकारी हों' यह कथन क्या प्रार्थना है, या नहीं ? अगर प्रार्थना हो, तब तो यह ठीक नहीं, क्यों कि वह आशंसा स्वरूप हुई । और आशंसा वर्ज्य है; वन्दनादि धर्मसाधना निराशंस भाव से करनी चाहिए । यदि कहें कि 'यह प्रार्थना नहीं है', तब यह बतलाइए कि 'पसीयंतु' उक्ति का उपन्यास निष्प्रयोजन है या सप्रयोजन ? अगर कहें निष्प्रयोजन है, तब तो यह वन्दनसूत्र सुचारु नहीं रहा, क्यों कि निष्प्रयोजन उपन्यास से घटित हुआ । सप्रयोजनपदोपन्यास से युक्त ही सूत्र सुचारु होता है । यदि कहें 'उपन्यास सप्रयोजन है', तब तो प्रश्न यह है कि अयथार्थ होने से प्रयोजन की सिद्धि कैसे होगी ?

उ०—यहां हमारा कहना है कि यह प्रार्थना नहीं है । कारण, यहां प्रार्थना का लक्षण उपपन्न नहीं हो सकता । प्रसाद की प्रार्थना तो प्रार्थनीय पुरुष में अ-प्रसन्न होने की आक्षेपक है, सूचक है, क्यों कि लोक में ऐसा प्रसिद्ध है; कारण, देखा जाता है कि जो अप्रसन्न है, उसीके प्रति प्रसाद की प्रार्थना की जाती है, अप्रसन्न न हो, प्रसन्न ही हो, तब प्रसाद की प्रार्थना नहीं की जाती है । अथवा भावी अप्रसाद न हो, इसलिए भी प्रार्थना की जाती है । इसमें कारण पूर्वोक्त ही है; अर्थात् वह यह कि भविष्य में जो अप्रसन्न हो ऐसी संभावना है, उसके प्रति प्रसाद-रक्षार्थ प्रार्थना की जाती दिखाई पड़ती है, तब तो यहां अगर प्रार्थना हो, तो वह भावी अप्रसाद की आक्षेपक होगी ! चाहे पूर्व अप्रसाद हो या भावी अप्रसाद हो, उभयथा प्रभु में अवीतरागता की आपत्ति लगेगी । अतः प्रार्थना न होने पर भी 'पसीयंतु' का उपन्यास प्रणिधान के प्रयोजन वाला होने से निरर्थक नहीं है ।

वीतराग प्रार्थना में अनुचित अर्थापत्तिः—

तीर्थंकर भगवान के प्रति प्रसाद की प्रार्थना करने का, यदि इस स्तुति सूत्र का तात्पर्य हो, तब भगवान में अवीतरागता की आपत्ति उपस्थित होती है इसलिए फलत. यहां स्तुतिवचन के धर्म का अतिक्रमण होता है, अर्थात् स्तुतिधर्म तो दोषारोपण नहीं किन्तु गुणगान है. किन्तु यहां उसका उल्लंघन होता है। क्यों ? बिना सोचा हुआ अभिधान करने से अवीतरागता रूप दोष की अर्थापत्ति का आक्रमण सुलभ हो जाता है। अर्थापत्ति का अर्थ है 'अर्थात् प्राप्त होना' अर्थापत्ति यह,-कि जैसे कहा जाए कि 'तगड़ा देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता है', तब इस कथन से अर्थात् प्राप्त है कि रात्रि में अवश्य भोजन करता है; इसी प्रकार भगवान से अगर प्रार्थना वचन कहा कि 'प्रसन्न हों' तब इस कथन से अर्थात् प्राप्त होता है कि भगवान अप्रसन्न हैं एवं प्रसन्न होने का सम्भव है। यदि ऐसा न हो तो प्रसन्न होने की प्रार्थना क्यों की जाए ? और प्रसाद-अप्रसाद अवीतराग के ही धर्म हैं, तब यहां गए तो भगवान के प्रति स्तुति करने को, लेकिन फलतः उनमें अवीतरागता स्वरूप असद् दोष का आरोपण किया; ऐसा स्तुतिवचन सचमुच अस्तुतिवचन हुआ ! यह स्तुतिधर्म का अतिक्रमण हुआ।

आर्यवचन अनुचित अर्थापत्ति वाला नहीं:—

वास्तव में आर्यों की वचनपद्धति ऐसी अनुचित अर्थापत्ति वाली नहीं होती है, क्यों कि वैसी वचनपद्धति में तो वचन के स्वरूप का बाध होता है, जैसे कि यहां स्तुतिवचन से अनुचित अर्थापत्ति होने द्वारा औपचारिकता हो जाने से वास्तव स्तुतित्व का बाध आ जाएगा। वचनपद्धति तो परंपरा से भी किसी दोषारोपण से कलुषित न हो ऐसी होनी चाहिए। इसीलिए यथार्थ स्तुति करने का मार्ग तो, जो वचन कौशल्य से संपन्न हो, वही ठीक जानता है।

अग्नि-चिन्तामणि के दृष्टान्त से अर्हद्-उपासना सफल:—

तब 'तित्थयरा मे पसीयंतु'-यह वचन निष्प्रयोजन है या सप्रयोजन ? इसकी विचारणा पर हम कहते हैं कि इस वचन का उपन्यास युक्तियुक्त है, क्यों कि वह भगवान की स्तुतिरूप है और स्तुति सफल है। शास्त्र में कहा गया है कि—

● (१) इन तीर्थंकर भगवान के रागादि क्लेश नष्ट हो चुके हैं, इसलिए न तो वे प्रसन्न यानी प्रसाद स्वरूप राग से युक्त होते हैं, न उनकी स्तुति निष्फल होती है। पूछिए क्या फल है ? उत्तर यह है कि वीतराग की स्तुति में अध्यवसाय की विशुद्धि होने से कर्मनाश स्वरूप फल है।

● (२) इन वीतराग के श्रेष्ठ गुणों का उत्कर्ष करना, यानी उत्कृष्टता गाना, इस स्वरूप जो स्तुति, उसके द्वारा भी वे अनुपम प्रभाव वाले होते हैं। (यह मत कहिए कि 'वीतराग का प्रभाव कैसे ?') अचेतन शब्दात्मक मन्त्र या चिन्तामणि आदि के जप, उपासना द्वारा इष्ट सिद्धि होती दिखाई पड़ती है। (रागादि भावरहित अचेतन मन्त्रादि का भी अगर प्रभाव हो तब फिर सचेतन वीतराग प्रभु का प्रभाव होने में क्या आश्चर्य ?)

● (३) स्तुति से जो प्रसन्न यानी रागयुक्त होता है, सहज है कि वह अपनी निन्दा होने पर, रोष पाता ही है। तब ऐसा सर्वत्र असम चित्त यानी चाहे स्तुति या निन्दा में विषम चित्त करने वाला मुख्य रूप से स्तोतव्य कैसे हो सके ? ('मुख्य रूप से' का मतलब यह है कि वे सराग देवता वीतराग के भक्त होने के नाते स्तोतव्य हो सकते हैं।)

(ल०—गाथा–६:–) तथा,

कित्तियवन्दियमहिया जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा । आरुग्गबोहिलाभं समाहिवरमुत्तमं दिंतु ॥६॥

व्याख्या—कीर्तिताः=स्वनामभिः प्रोक्ताः, वन्दिताः=त्रिविधयोगेन सम्यक् स्तुताः, महिताः=पुष्पादिभिः पूजिताः, क एते इत्यत आह य एते लोकस्य=प्राणिलोकस्य मिथ्यात्वादिकर्म्ममलकलङ्काभावेन, उत्तमाः=प्रधानाः, ऊर्द्ध्वं वा तमस इत्युत्तमसः, 'उत् प्राबल्योर्ध्वगमनोच्छेदनेषु' इति वचनात् प्राकृतशैल्या पुनरुत्तमा उच्यन्ते; 'सिद्धाः' इति, सितं=बद्धम्, ध्मातमेषामिति सिद्धाः कृतकृत्या इत्यर्थः; अरोगस्य भावः 'आरोग्यं'=सिद्धत्वं, तदर्थं 'बोधिलाभः' आरोग्यबोधिलाभः, जिनप्रणीतधर्म्मप्राप्तिर्बोधिलाभोऽभिधीयते, तम् । स चानिदानो मोक्षायैव प्रशस्यत इति ।

● (४) अचेतन मन्त्रादि की क्या बात, अग्नि के संबन्ध में भी देखते हैं कि वह जाड़े से पीड़ितों के प्रति न तो द्वेष करता है, न राग, अथवा वह उन्हें बुलाता भी नहीं है, फिर भी उसको भजने वाले (सेवन करने वाले) पुरुष अपना इष्ट प्राप्त करता है।

● (५) इस प्रकार जो लोग समस्त विश्व के भावों को पर प्रभाव वाले राग-द्वेषमुक्त तीर्थङ्कर भगवान का भक्तिपूर्वक आलम्बन करते हैं वे संसार स्वरूप जाड़े को हटा कर मोक्ष पाते हैं। तात्पर्य यह है कि अलबत्त वे तीर्थंकर प्रभु रागादि से रहित होने के कारण प्रसन्न नहीं होते हैं, फिर भी अचिन्त्य प्रभावशाली चिन्तामणि के समान उन भगवान को उद्देश कर के चित्त विशुद्धि पूर्वक स्तुति करने वालों को इष्ट फल की प्राप्ति होती है; वह इष्ट प्राप्ति वीतराग प्रभु से ही हुई कहलाएगी। गाथा का यह भाव है।

फल के प्रति स्तुतिविषय का महत्त्वः—

प्र०—इष्ट प्राप्ति तो स्तुति से जन्य हुई, वीतराग से जन्य कैसे ? वीतराग तो कुछ देते-करते नहीं।

उ०—ठीक है, लेकिन इष्टप्राप्ति वीतराग की ही स्तुति करो तब होती है, औरों की नहीं। इससे सिद्ध होता है कि इष्टप्राप्ति वीतराग से जन्य है। स्तुति तो एक द्वारमात्र है, अन्वय व्यतिरेक मुख्य रूप से वीतराग और इष्टप्राप्ति के ही हैं। उदाहरणार्थ, मन्त्रादि की उपासना से होने वाला फल मुख्य रूप से मन्त्रादि से ही जन्य कहा जाता है, उपासना से नहीं। मन्त्रादि का ही ऐसा प्रभाव है कि उसकी उपासना-क्रिया द्वारा वह इष्टोत्पादक होता है। इस प्रकार यहाँ भी वीतराग तीर्थंकर भगवान ऐसे कुछ अचिन्त्य प्रभाव वाले हैं कि उनकी स्तुति करने वालों के इष्ट की सिद्धि में वे मुख्य हेतु होते हैं। इष्टप्राप्ति में स्तुति-क्रिया की अपेक्षा स्तुति के विषय का महत्त्व है।

गाथा ६ की व्याख्याः—

'कित्तियवंदियमहिया जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा । आरुग्गबोहिलाभं समाहिवरमुत्तमं दिंतु ॥'

'कित्तिय' = भगवान के अपने नाम से कीर्तन किये गए, 'वंदिय' = मन-वचन-काय त्रिविध योग से अच्छी रीति से स्तुति किये गये, 'महिया' = पूजित। ऐसे कौन ? इसके उत्तर में कहते हैं 'जे ए' = जो ये, 'उत्तमा' = प्रधान अथवा 'उत्' पद प्राबल्य, ऊर्ध्व गमन, उच्छेदनादि अर्थ में प्रयुक्त होता है—इस वचन के अनुसार यहां उत्+तम अर्थात् अन्धकार से पर, अन्धकार का उच्छेदन करने वाले-ऐसा भी अर्थ हो सकता है; यद्यपि इसमें संस्कृत 'तमस' शब्द आने से 'उत्तमसः' प्रयोग करना चाहिए ,

(ल०–) तदर्थमेव च तावत् किम् ? अत आह (समाहिवरम्), समाधानं समाधिः, स च द्रव्यभावभेदाद् द्विविधः। तत्र द्रव्यसमाधिः यदुपयोगात् स्वास्थ्यं भवति येषां वाऽविरोध इति। भावसमाधिस्तु ज्ञानादिसमाधानमेव, तदुपयोगादेव परमस्वास्थ्ययोगादिति। यतश्चायमित्थं द्विधा, अतो द्रव्यसमाधिव्यवच्छेदार्थमाह 'वरं'=प्रधानं भावसमाधिमित्यर्थः। असावपि तारतम्यभेदेनानेकधैव, अत आह 'उत्तमं'=सर्वोत्कृष्टं, 'ददतु'=प्रयच्छन्तु।

(ल०–निदानानिदानप्रश्नः–) आह–'किमिदं निदानमुत न ? इति। यदि निदानमलमनेन, सूत्रप्रतिषिद्धत्वात्। न चेत्, सार्थकमनर्थकं वा ? यद्याद्यः पक्षः, तेषां रागादिमत्त्वप्रसङ्गः, प्रार्थना प्रवणे(प्र०...प्रवीणे) प्राणिनि तथादानात्। अथ चरमः, तत आरोग्यादिप्रदानविकला एते इति जानानस्यापि प्रार्थनायां मृषावादप्रसङ्ग इति।'

प्राकृत शैली से व्यंजनान्त नाम नहीं होने के कारण 'तमस्' का अन्त्य 'स्' कार लुप्त हो जाता है, अतः शेष 'तम' शब्द लेकर 'उत्तमा' पद बनता है। 'सिद्धा' = सित यानी बँधे हुए कर्म धमित किये, नष्ट किये हैं जिन्होंने वैसे; तात्पर्य, सिद्ध अर्थात् कृतकृत्य हैं सर्व प्रयोजन जिनके सर्व कर्तव्य समाप्त हो गए हैं जिनके वे। 'आरुग्ग'=भाव रोग का अभाव यानी मोक्ष; इसके लिए 'बोहिलाभ' यह 'आरुग्गबोहिलाभ' कहलाता है। जिनेन्द्र देव से उपदिष्ट धर्म की प्राप्ति को बोधिलाभ कहते हैं; और यह बोधिलाभ पौद्गलिक आशंसा रूप निदान से रहित हो, केवल एक मोक्ष के उद्देश से हो, तभी प्रशंसनीय होता है। इसलिए यहाँ कहा गया है कि 'आरुग्गबोहिलाभं' = मोक्ष के लिए बोधिलाभ।

और भी आरोग्योपयोगी बोधिलाभ के लिए ही क्या चाहिए ? अतः कहते हैं 'समाहिवरं उत्तमं'। समाधि का अर्थ है समाधान यह द्रव्य और भाव भेद से दो प्रकार का होता है—१. द्रव्य समाधि, २. भाव समाधि। उसमें,

● द्रव्यसमाधि वह है, जिसके उपयोग से स्वस्थता होती है, अथवा विरोध का उपशमन होता है। (उदाहरणार्थ, औषध के उपयोग से स्वस्थता हुई, तब वह द्रव्यसमाधि कहलाएगी; एवं किसी समझौते से दो के बीच का विरोध निपट गया तब वह भी द्रव्यसमाधि कही जाएगी।)

● भावसमाधि ज्ञानादि-समाधान रूप है, क्यों कि उसके उपयोग से पारमार्थिक आत्म-स्वास्थ्य होता है। (उदाहरणार्थ-कर्मवैचित्र्य, भवितव्यताप्राबल्य, शुद्ध आत्मस्वरूप आदि का चिन्तन करने से, हर्ष-शोकादि व्याकुलता-अस्वस्थता शान्त हो कर उदासीनभाव रूप सच्चा आत्म-स्वास्थ्य प्राप्त होता है, तब वह भावसमाधि कहलाएगा।)

समाधि यों द्विविध है इसलिए यहां द्रव्यसमाधि छोड कर के भावसमाधि के ग्रहणार्थ 'समाहिवरं' कह कर 'वरं' पद दिया। 'वर' अर्थात् प्रधान। द्रव्यसमाधि गौण समाधि है, प्रधान समाधि भावसमाधि को कहते हैं। वह भी अनेकविध तारतम्य से अर्थात् कोई कम, कोई अधिक, कोई अधिकतर, भावसमाधि,-इस प्रकार अनेकविध होती है; इसलिए यहाँ उसका प्रकार कहा गया कि 'उत्तमं' अर्थात् सर्वोत्कृष्ट। 'दितु' का अर्थ है दीजिए।

'कित्तिय-वंदिय ' इत्यादि गाथा का समूचा अर्थ यह हुआ कि कीर्तन-स्तुति-पूजन किए गए, हे लोकोत्तम सिद्ध भगवान! मुझे मोक्षार्थ बोधिलाभ एवं सर्वोत्कृष्ट भावसमाधि दें।

(ल०–निदानलक्षणं धर्मकल्पतरुश्च) अत्रोच्यते,–न निदानमेतत्, तल्लक्षणायोगात्। द्वेषाभिष्वङ्गमोहगर्भं हि तत्, तथा तन्त्रप्रसिद्धत्वात्।

(पं०–) 'न निदाने'त्यादि, न=नैव, निदानं नितरां दायते-लूयते सम्यग्दर्शनप्रपञ्चबहलमूलजालो ज्ञानादिविषयविशुद्धविनयविधिसमुद्धुरस्कन्धबन्धो विहितावदातदानादिभेदप्रभेदशाखोपशाखाखचितो(प्र०....उपचितो) निरतिशयसुरनरभवप्रभवसुखसंपत्प्रसूनाकीर्णोऽनभ्यर्णीकृतनिखिलव्यसनव्याकुलशिवालयशर्मफलोल्बणो धर्मकल्पतरुरनेन सुरर्द्ध्याद्याशंसनपरिणामपरशुनेति निदानम्। 'एतद्'=आरोग्यबोधिलाभादिप्रार्थनम्। कुत इत्याह 'तल्लक्षणायोगात्'=निदानलक्षणाघटनात्। निदानलक्षणमेव भावयन्नाह 'द्वेषाभिष्वङ्गमोहगर्भं हि तत्', द्वेषो=मत्सरः, अभिष्वङ्गो=विषयानुरागो, मोहः=अज्ञानं, ततस्ते द्वेषाभिष्वङ्गमोहाः, गर्भाः=अन्तरङ्गकारणं यस्य तत् तथा, हिः=यस्मात्, तत्=निदानम्। कुत इत्याह 'तथा'=द्वेषादिगर्भतया, 'तन्त्रप्रसिद्धत्वात्'= निदानस्यागमे रूढत्वात्। रागद्वेषगर्भयोर्निदानयोः सम्भूत्यग्निशर्मादिषु प्रसिद्धत्वेन तल्लक्षणस्य सुबोधत्वात् निर्देशमनादृत्य मोहगर्भनिदानलक्षणमाह;—

प्रार्थना की अनुपपत्तिः–

प्र०–यह 'दें' कहते है, यह निदान (नियाणं) है क्या? या निदान नहीं है? अगर निदान है तब तो उसकी कोई आवश्यकता ही नहीं, क्यों कि आगम में निदान करने का निषेध किया है। अगर कहें निदान नहीं है, तब यह बतलाइए कि यह 'दिंतु' कथन सार्थक है या निरर्थक? यदि आद्य पक्ष ले कर इसको सार्थक कहें, तब सार्थक कथन का मतलब यह है कि ऐसे प्रार्थना–वचन में तत्पर प्राणी की प्रार्थना सफल होती है अर्थात् लोकोत्तम सिद्ध भगवान प्रार्थना कराने पर, प्रार्थित वस्तु का दान करते हैं। फलतः यह प्राप्त होता है कि वे भगवान प्रार्थनाकारक के प्रति रागवान् हुए। एवं निन्दाकारक के प्रति द्वेषवान् भी होंगे। ऐसी आपत्ति ठीक नहीं, अतः 'दिंतु' कथन को सार्थक नहीं कह सकते हैं। अगर अन्तिम पक्ष ले कर उसको निरर्थक कहें, अर्थात् यह प्रार्थना निष्फल हो यानी सिद्धों की ओर से आरोग्यबोधिलाभादि कोई फल आने वाला नहीं, तो वे सिद्ध आरोग्यबोधिलाभादि के दान से रहित हैं, ऐसा जानता हुआ भी पुरुष इसकी प्रार्थना करता है इसमें असत्य भाषण के दोष की आपत्ति है।

निदान का लक्षणः—

उ०—आपके पहले प्रश्न के संबंध में हमारा कहना यह है कि यह 'दिंतु' वचन निदान नहीं है; क्यों कि निदान का लक्षण इसमें सङ्गत नहीं होता है। लक्षण यह है कि धर्म–कल्पवृक्ष जिस दिव्य समृद्धि आदि के आशंसापरिणाम रूप कुठार से उच्छिन्न होता है, वह आशंसापरिणाम निदान कहा जाता है। धर्म एक कल्पवृक्ष है, वह सम्यग्दर्शन के विस्तार (यानी शम–संवेगादि ५ लक्षण, ४ सद्दहणा, ३ लिङ्ग, ५ भूषण, ५ दूषण-त्याग, ६ भावना, षट्स्थान इत्यादि) स्वरूप विस्तृत मूलसमूह पर सुदृढ रहता है; ज्ञान–ज्ञानी, दर्शन–दर्शनी, चारित्र–चारित्री आदि के विशुद्ध विनय–उपचार विधि स्वरूप ऊंचे स्कन्ध से बन्धा हुआ होता है; शास्त्रविहित पवित्र दान शील-तप-भावना के कई भेद प्रभेद स्वरूप शाखा-प्रशाखा से अत्यन्त फलाफूला रहता है; देव–मनुष्य भव में प्रादुर्भूत सर्वोत्कृष्ट सुखसंपत्ति रूप पुष्पों से पर्याप्त भरा हुआ होता है; और जहाँ से समस्त दुःखों का समूह दूर रहता है ऐसे मोक्ष–आवास के सुख स्वरूप फल से वह धर्म-

(ल०–निदानहेतुभूतमोहलक्षणम्:–) धर्म्माय हीनकुलादिप्रार्थनं मोहः, अतद्धेतुकत्वात् । ऋद्ध्यभिष्वङ्गतो धर्म्मप्रार्थनापि मोहः, अतद्धेतुकत्वादेव ।

(पं०–) 'धर्म्माय', धर्मनिमित्तमित्यर्थः; 'हीनकुलादिप्रार्थनं', हीनं=नीचं विभवधनादिभिः, यद् 'कुलम्'=अन्वयः, आदिशब्दात् कुरूपत्व-दुर्भगत्वा-ऽनादेयत्वादिग्रहः; भवान्तरे तेषां प्रार्थनम्=आशंसनम् । किमित्याह 'मोहः'=मोहगर्भं निदानम् । कुत इत्याह 'अतद्धेतुकत्वाद्'=अविद्यमानास्ते हीनकुलादयो हेतवो यस्य स तथा, तद्भावस्तत्त्वं, तस्मात् । अहीनकुलादिभावभाजो हि भगवन्त इव(एव)अविकलधर्म्मभाजनं भव्या भवितुमर्हन्ति नेतरे इति । उक्तं च,—

'हीनं कुलं बान्धववर्जितत्वम्, दरिद्रतां वा जिनधर्मसिद्धयै(प्र०....द्धौ) ।
प्रयाचमानस्य विशुद्धवृत्तेः संसारहेतुर्गदितं निदानम् ॥'

प्रकारान्तरेणापीदमाह 'ऋद्ध्यभिष्वङ्गतः'=पुरन्दरचक्रवर्त्यादिविभूत्यनुरागेण, 'धर्म्मप्रार्थनापि'= 'नूनं धर्म्माराधनमन्तरेणेयं विभूतिर्न भविष्यती'त्याशया(प्र०....आशंसया) धर्म्माशंसनमपि, किं पुनर्हीनकुलादिप्रार्थनेति 'अपि'शब्दार्थः । किमित्याह 'मोहः' उक्तरूपः । कुत इत्याह 'अतद्धेतुकत्वाद्', अविद्यमान उपसर्जनवृत्त्याशंसितो धर्मो हेतुर्यस्याः सा तथा, तद्भावस्तत्त्वं, तस्मादेव अनुपादेयतापरिणामेनैवोपहतत्वेन धर्म्मस्य ततोऽभिलषितऋद्ध्यसिद्धेः ।

कल्पतरु सगर्व रहता है। निदान रूप परशु तो ऐसे महान धर्म कल्पवृक्ष को भी काट देने वाला होता है। इसका कारण यह है कि निदान में पौद्गलिक सुख की प्रबल आशंसा होती है, और यह शुद्ध आत्महित की आशंसा को नष्ट कर शुद्ध धर्म की अपेक्षा का नाश कर देती है। इसलिए वहाँ धर्मकल्पवृक्ष मूलतः उच्छिन्न हो जाता है।

अब प्रस्तुत आरोग्यबोधिलाभादि की याचना में निदान का लक्षण नहीं घटता है। निदान का लक्षण क्या है ? यही कि द्वेष-अभिष्वङ्ग-मोह स्वरूप अन्तरङ्ग कारण से उत्पन्न हुई आशंसा, या तो किसी व्यक्ति पर मात्सर्य हुआ हो, या इन्द्रियविषयों की आसक्ति उत्थित हुई हो, अगर अज्ञान हो, तो तीव्र पौद्गलिक आशंसा स्वरूप निदान किया जाता है। शास्त्रों में तत्त्वनिरूपण एवं कथाप्रसङ्गों के भीतर यह प्रसिद्ध है। चित्त और संभूति दो मुनियों में से संभूति मुनि को चक्रवर्ती की पट्टराणी का सौन्दर्य देख कर विषयासक्ति जागृत हुई और ऐसी समृद्धि प्राप्त होने का उसने निदान किया। यह रागजन्य निदान हुआ। अग्निशर्मा को समरादित्यजीव गुणसेन के प्रति द्वेष हुआ और इसके कारण उसने निदान किया कि 'मैं गुणसेन को जन्म-जन्म मारुं।' यह द्वेषजन्य निदान हुआ। इन कथाओं में रागद्वेषजन्य निदान प्रसिद्ध होने से उनके लक्षण सुबोध हैं सुज्ञेय हैं, इसलिए उनका निर्देश छोड़ कर अब मोहगर्भ निदान का लक्षण बतलाते हैं—

मोहगर्भ निदान का स्वरूपः—

धर्म निमित्त नीच कुल यानी वैभव धन आदि से रहित कुल, एवं कुरूपता, दौर्भाग्य, अनादेयत्व (अपने वचन दूसरों से स्वीकार्य न हो, सहर्ष माह्य न हो, ऐसा पापोदय) इत्यादि भवान्तर में होने की प्रार्थना करनी, आशंसा रखनी, यह मोहगर्भ अर्थात् अज्ञानमूलक निदान है। इस प्रकार की प्रार्थना करनी

(ल०–तीर्थकरत्वनिदाननिषेधः–) तीर्थकरे(प्र०...तीर्थकरत्वे)ऽप्येतदेवमेव प्रतिषिद्धमिति ।

(पं०–) यत एवं ततः 'तीर्थकरेऽपि'=अष्टमहाप्रातिहार्यपूजोपचारभाजिप्राणिविशेषे, किं पुनरन्यत्र पुरन्दरादौ विषयभूते ? 'एतत्'=प्रार्थनम्, 'एवमेव'=ऋद्धयभिष्वङ्गेणैव,–'यथायं भुवनाद्भुतभूतविभूतिभाजनं (प्र०....भुवनाद्भुतभूतिभाजनं) भुवनैकप्रभुः प्रभूतभक्तिभरनिर्भरामरनिकरनिषेव्यमाणचरणो भगवांस्तीर्थकरो वर्तते तथाहमप्यमुतस्तपःप्रभृतितोऽनुष्ठानाद् भूयासमि'त्येवंरूपं, न पुनर्यथैवभिष्वङ्गचेतोवृत्तेर्'द्धं भदिशोऽनेकसत्त्वहितो निरुपमसुखसञ्जनकोऽचिन्त्यचिन्तामणिकल्पो भगवान्, अहमपि तथा स्यामि'त्येवंरूपं; 'प्रतिषिद्धं'=निवारितं दशाश्रुतस्कन्धादौ । तदुक्तं–

'एत्तो य दसाईसु' तित्थयरंमि वि नियाणपडिसेहो । जुत्तो भवपडिबद्ध'(प्र०....वन्धं)साभिस्संगं तयं जेणं ॥१॥
जं पुण निरभिस्संगं धम्माएसो अणेगसत्तहिओ । निरुवमसुहसंजणओ, अउव्वचिन्तामणिकप्पो ॥२॥
इत्यादि ।

याने ऐसी आशंसा रखनी कि 'मुझे भवांतर में हीन कुल आदि प्राप्त हो, जिससे मैं यहां धर्म कर सकूं', यह मोह गर्भ अर्थात् अज्ञानमूलक निदान है, क्यों कि धर्म हीनकुलादिहेतुक नहीं है, धर्म के प्रति हीन कुल आदि कारणभूत नहीं है। हीनकुल आदि पापोदय से रहित उत्तमकुल, सुरूपता वगैरह भावों से संपन्न ही भाग्यशाली भव्य लोग साङ्गोपाङ्ग धर्म के पात्र बन सकते हैं, दूसरे नहीं। देखते हैं कि नीचकुल, निर्धनता आदि वाले कई लोग कहां धर्म करते हैं ?

कहा गया है कि 'जैनधर्म की प्राप्ति के लिए हीनकुल, सगे संबन्धी का अभाव या दरिद्रता की याचना करने वाला पुरुष अगर विशुद्ध आशय वाला भी हो, तब भी उसकी यह आशंसा निदान स्वरूप है।'

दूसरे प्रकार से भी ऐसे निदान का स्वरूप कहते हैं,–इन्द्र, चक्रवर्ती आदि के वैभव के अनुराग से धर्म की भी आशंसा की जाए तब भी वह निदान है। वह समझता है कि 'सचमुच धर्म की आराधना के बिना ऐसा वैभव प्राप्त हो सकेगा नहीं,' इसलिए भावी वैभव की आशा से ऐसी प्रार्थना करता है कि 'मुझे भवांतर में धर्म प्राप्त हो ताकि उससे वैभव मिले।' तब पहले कही गई नीच कुल आदि की तो क्या किन्तु ऐसी धर्म की भी प्रार्थना निदान स्वरूप है। यह भी मोहगर्भ निदान है, क्यों कि जिस वैभव-समृद्धि के निमित्त ऐसी धर्म प्रार्थना की गई वह (वैभवादि) ऐसे गौण रूप से आशंसित धर्म के द्वारा प्राप्त नहीं होती है, फिर भी प्राप्त होना मान लेने की मूढता हुई। धर्म में दो स्वरूप है, एक मुख्य स्वरूप आत्महितकरत्व, दूसरा गौण स्वरूप पौद्गलिकसमृद्धि-कारित्व। अब देखिए कि इसने धर्म की जो आशंसा की वह गौण स्वरूप समृद्धिकारित्व रूप से की, मुख्य रूप से नहीं। अथवा कहिए इसके दिल में धर्म और समृद्धि दोनों की आशंसा है, लेकिन समृद्धि की मुख्य वृत्ति से,और धर्म की गौण वृत्ति से, ऋद्धि के मात्र एक साधन रूप से। इसके मन में समृद्धि ही उपादेय रही, धर्मसाध्य आत्महित नहीं। 'इस जगत में धर्म एवं शुद्ध आत्महित ही उपादेय है, ऋद्धि संपत्ति नहीं, वह तो हेय है'–ऐसा एक मात्र धर्म के प्रति शुद्ध उपादेय भाव नहीं रहा, वरन् समृद्धि उपादेय लगी। इससे तो धर्म का मुख्य स्वरूप ही नष्ट हो गया, तब फिर ऐसा उपहत धर्म इष्ट ऋद्धि को कहां से दे सके ?

(ल०–प्रकृतनिदाननिषेधयुक्तिः–) अत एवेष्टभाववाधकृदेतत्, तथेच्छाया एव तद्विघ्नभूतत्वात्, तत्प्रधानतयेतरत्रोपसर्जनबुद्धिभावात्(प्र०...द्धित्वात्)।

(पं०–) 'अत एव'=ऋद्ध्यभिष्वङ्गतो धर्मप्रार्थनाया मोहत्वादेव, 'इष्टभाववाधकृत्', इष्टो भावो= निर्वाणानुबन्धी कुशलः परिणामः, तस्य, बाधकृत्=व्यावृत्तिकारि 'एतत्'=प्रकृतनिदानं; कुत इत्याह 'तथेच्छाया एव'=धर्मोपसर्जनीकरणेन ऋद्ध्यभिलापस्यैव, 'तद्विघ्नभूतत्वात्' = इष्टभावविबन्धक(प्र०.... विबन्धन)भूतत्वात्, एतत्कुत इत्याह 'तत्प्रधानतया'=ऋद्धिप्राधान्येन, 'इतरत्र'=धर्मे, 'उपसर्जनबुद्धिभावात्'= कारणमात्रत्वेन गौणाध्यवसायभावात्।

तीर्थङ्करपन के निदान का भी निषेधः—

जिस कारण से ऋद्धि की आसक्ति वश धर्म की आशंसा करनी यह मोह है, इसलिए दूसरी इन्द्रादि–संबन्धी तो क्या किन्तु अष्टमहाप्रातिहार्य आदि पूजा–भक्ति पाने वाले तीर्थंकर होने के संबन्धी आशंसा भी ऋद्धि की ही आशंसा होने से मोह रूप है। वह निषिद्ध है। यह आशंसा इस प्रकार होती है,– 'जिस प्रकार यह तीर्थंकर भगवान सारे विश्व में अद्भुत और वास्तविक अष्टप्रातिहार्य–समवसरणादि विभूति के भाजन हो त्रिभुवन में एकमात्र सचमुच प्रभु होते हैं, और अतिशय भक्ति के आवेग से पूर्ण भरा हुआ देवसमूह निरंतर उनकी चरणसेवा करता है, इस प्रकार का तीर्थङ्कर मैं भी इस तप आदि अनुष्ठान के प्रभाव से होऊं'—ऐसी ऋद्धि की आसक्ति वश आशंसा करना शास्त्र से निषिद्ध है किन्तु निरासक्त चित्तवृत्ति पूर्वक ऐसी आशंसा की जाए कि 'जैसे भगवान एकमात्र शुद्ध धर्म–मार्ग के देशक होते हैं, अनेक जीवों के प्रति हितरूप होते हैं, एवं निरुपम मोक्षसुख के उत्पादक हो अचिन्त्य चिन्तामणि रत्न के समान होते हैं, वैसा मैं भी होऊं', तब यह निषिद्ध नहीं है। ऋद्धि की आसक्ति वश आशंसा करने का श्री दशाश्रुतस्कन्धादि शास्त्रों में निषेध किया गया है। इसके संबन्ध में यह कहा गया है कि 'दशा० आदि शास्त्रों में तीर्थंकर के भी विषय के निदान का निषेध है; और यह युक्तियुक्त भी है क्यों कि यह पौद्गलिक आसक्ति वाला होने से संसार के ममत्व वाला है, संसार में रुकाने वाला है। किन्तु जो किसी भी पौद्गलिक आसक्ति से रहित हो मार्गदेशक अनेक जीव हितकारी निरुपम सुखजनक और अपूर्व चिन्तामणि समान होने की आशंसा रूप है, वह निषिद्ध नहीं है।

ऐसे निदान के निषेध में युक्तिः—

ऋद्धि की आसक्ति वश की जाने वाली धर्म प्रार्थना एक प्रकार का मोह ही है; इसलिए प्रस्तुत निदान, परंपरया मोक्षदायी शुभ भाव का बाधक है। कारण यह है कि उसमें धर्म की प्रार्थना तो की, लेकिन वह ऋद्धि–समृद्धि के लिए की, अतः धर्म को गौण बना के होने वाली ऋद्धि की अभिलाषा इष्ट मोक्षदायी शुभ भाव के प्रति प्रतिबन्धक रूप हुई। क्यों कि वहां चित्त में ऋद्धि ही प्रधान होने से धर्म को तो एक उसका मात्र साधनभूत बना लेने से धर्म में गौणता की बुद्धि हुई।

इसका परिणाम यह होता है कि जिस प्रकार आरोग्य के लिए औषध सेवन किया तब आरोग्य प्राप्त हो जाने के बाद औषध का कोई ममत्व नहीं रहता है, वह छूट जाता है, इसी प्रकार ऋद्धि हेतु किये गए धर्म–सेवन से ऋद्धि मिल जाने पर धर्म का कोई ममत्व नहीं रहता है, धर्म छूट जाता है। बचता है ऋद्धि का ममत्व, वह कहां से मोक्षोपयोगी शुभ भाव को अवकाश दे सकेगा?

(ल०–निदानगर्हता:–) अतत्त्वदर्शनमेतत् , महदपायसाधनम् । अविशेषज्ञता हि गर्हिता ।

(पं०–) इदमेव विशेषतो भावयन्नाह 'अतत्त्वदर्शनमेतद्'=अपरमार्थावलोकनं, विपर्यास इत्यर्थः, एतत्=प्रकृतनिदानम् । कीदृगित्याह 'महदपायसाधनं'=नरकपाताद्यनर्थकारणम् । कुत इत्याह 'अविशेषज्ञता', सामान्येन गुणानां पुरुषार्थोपयोगिजीवाजीवधर्मलक्षणानां, दोषाणां तदितररूपाणां, तदुभयेषां च, विशेषो= विवरको विभाग इत्येकोऽर्थः, तस्य अनभिज्ञता विपरीतबोधरूपा, अर्थक्षयानर्थप्राप्तिहेतुतया हिंसानृतादिवद् 'हिः'=यस्मात् , 'गर्हिता'=दूषिता ।

(ल०–प्राकृतजनविवेकः–) पृथग्जनानामपि सिद्धमेतत् ।

(पं०–) ननु कथमिदं प्रत्येयमित्याशङ्क्याह 'पृथग्जनानामपि', पृथक्=तथाविधालौकिकसामयिकाचारविचारादेर्बहिःस्थिता बहुविधा बालादिप्रकाराः, जनाः=प्राकृतलोकाः, पृथग्जनाः, तेषामपि, किं पुनरन्येषां शास्त्राधीनधियां सुधियामिति 'अपि'शब्दार्थः; 'सिद्धं'=प्रतीतम् , 'एतद्'=अविशेषज्ञतागर्हणम् ।

'नार्घन्ति रत्नानि समुद्रजानि, परीक्षका यत्र न सन्ति देशे ।
आभीरघोषे किल चन्द्रकान्तं त्रिभिः वराटैर्विपणन्ति गोपाः ॥१॥
अस्यां सखे ! बधिरलोकनिवासभूमौ किं कूजितेन तव कोकिल ! कोमलेन ।
एते हि दैववशतस्तदभिन्नवर्णं त्वां काकमेव कलयन्ति कलानभिज्ञाः ॥२॥

इत्याद्यविशेषज्ञव्यवहाराणां तेषामपि गर्हणीयत्वेन प्रतीततरत्वात् ।

निदान की दूषितता:—

इसी वस्तु को विशेष रूप से सोचा जाय, तो कह सकते हैं कि पौद्गलिक आशसात्मक निदान अतत्त्वदर्शन है, एक भ्रम है। इसमें पारमार्थिक वस्तुतत्त्व का अज्ञान है; क्यों कि 'धर्म की प्रार्थना की जाने पर भी धर्म गौण बन जाने से शुभ भाव का घात एवं उसकी रुकावट होती है,'–यह नहीं समझना। वह निदान तो नरक में गिरना इत्यादि महान अपाय याने अनर्थों का कारण है। ऐसे अनर्थ करने वाला निदान तत्त्वदर्शनमूलक कैसे कहा जाय ? क्यों कि इसमें विशेषज्ञता नहीं है; अर्थात् सामान्य रूप से गुण–दोष का याने जीव एवं अजीव के पुरुषार्थोपयोगी धर्म और पुरुषार्थघातक धर्म,–इन दोनों का विशेष कहो, विवरण कहो या विभाग कहो एक ही बात है, उसकी अनभिज्ञता है; वह भी मात्र अनजानपन नहीं किन्तु विपरीत बोध स्वरूप है क्यों कि भ्रम से पुरुषार्थ याने इष्ट के साधक धर्मों को अनिष्ट साधक, एवं अनिष्ट साधक को इष्ट साधक मान लेता है। यह अविशेषज्ञता गर्हित है, निन्द्य है, दूषित है; क्यों कि वह इष्ट के क्षय एवं अनिष्ट की प्राप्ति में कारणभूत है, जैसे कि हिंसा, असत्य आदि।

यहां तात्पर्य यह है,–जीव में पुरुषार्थोपयोगी धर्म तो वैराग्य, अनासक्ति, उपशम, तत्त्वदृष्टि इत्यादि हैं, और आसक्ति, रागद्वेष, क्रोध–लोभ, जडदृष्टि वगैरह धर्म तो पुरुषार्थघातक है, त्यागधर्म आदि के सच्चे पुरुषार्थ के विरोधी है। एवं अजीव में भी पुरुषार्थोपयोगी धर्म,–विनश्वरता, परकीयता, इत्यादि हैं, वे वैराग्यादि के पुरुषार्थ के लिए उपयुक्त हैं; और अच्छे बुरे वर्ण-गंध रस-स्पर्श आदि धर्म रागद्वेष के प्रेरक होने से धर्मपुरुषार्थ के घातक होते हैं। पौद्गलिक आशंसा करने वाला पुरुष इस विभाग को न समझता हुआ इष्टप्राप्ति हेतु धर्म को माध्यम बना कर रागद्वेष की वृद्धि करने द्वारा स्वहित का घातक और

(ल०—) योगिबुद्धिगम्योऽयं व्यवहारः । सार्थकानर्थकचिन्तायां तु भाज्यमेतत् , चतुर्थभाषारूपत्वात् ।

(पं०—) स्यादेतद् ,—अभ्युदयफलत्वेन धर्मस्य लोके रूढत्वात् , तथैव च तत्प्रार्थनायां काऽविशेषज्ञता? इत्याशङ्क्याह—'योगिबुद्धिगम्योऽयं व्यवहारः'=मुमुक्षुबुद्धिपरिच्छेद्योऽयं ऋद्ध्यभिप्वङ्गतो धर्मप्रार्थनाया अविशेषज्ञतारूपो व्यवहारः, धर्मस्य प्रारम्भावसानसुन्दरपरिणामरूपत्वाद् , ऋद्धेश्च पदे पदे विपदां पदभूतत्वान्महान् विशेषः; अन्यस्य च भवाभिष्वङ्गत इत्थं बोद्धुमशक्यत्वात् । 'सार्थकानर्थकचिन्तायां तु भाज्यमेतत् चतुर्थभाषारूपत्वादि'ति । अयमभिप्रायः,—चतुर्थी हि एषा भाषा आशंसारूपा न कञ्चन सिद्धमर्थं विधातुं निषेद्धुं वा समर्था—इत्यनर्थिका, प्रकृष्टशुभाध्यवसायः पुनः फलमस्या भवति—इति सार्थिका; इत्येवं भाज्यतेति ।

॥ इति श्री मुनिचंद्रसूरिविरचित-ललितविस्तरावृत्तिपंजिकायां चतुर्विंशतिस्तवः समाप्तः ॥

नरकादि अहित का उत्पादक होता है। अगर यह समझता हो तो पुरुषार्थ घातक पौद्गलिक रूप-रंग के पीछे क्यों दौड़े ? महादुर्लभ और अनंतसुखदायी धर्म प्राप्त होने पर भी उसीका भीषण अनर्थ में गिराने वाला उपयोग क्यों करे ?

प्राकृत लोगों का भी विवेकः—

प्र०—यह अविशेषज्ञता दूषित है ऐसा कैसे श्रद्धास्पद हो सकता है ?

उ०—अहो ! यह तो पृथग् लोगों में भी ज्ञात है। जो लोग ऐसे शास्त्रसिद्ध लोकोत्तर आचार-विचारादि से बहिः स्थित हैं बाहर रहे हुए हैं, अर्थात् उनसे परिचित नहीं हैं, ऐसे अनेकविध बाल, मध्यम आदि प्राकृत जनों को भी अविशेषज्ञता कनिष्ठ है वैसा ज्ञात है; दूसरे शास्त्राधीन बुद्धि वाले पण्डित पुरुषों को प्रतीत होने का तो कहना ही क्या ? कहते हैं,—'नार्घन्ति रत्नानि ...' इत्यादि। अर्थात् जिस देश में रत्नपरीक्षक लोग नहीं मिलते हैं, वहां समुद्र में पैदा होने वाले रत्नों का मूल्यांकन नहीं होता है। ग्वालों के गांवड़े में वे लोग चन्द्रकान्त जैसे रत्न को भी तीन कौड़ी की कीमत में बेचते हैं।' 'हे मित्र कोयल ! इस बधिर लोगों की निवास भूमि में तेरा कोमल कलरव करना बेकार है; क्यों कि ये लोग कला की अनभिज्ञता के कारण दैववश कौए के समान तेरा श्याम वर्ण देख कर तुझे भी कौआ ही समझते हैं।' इत्यादि अविशेषज्ञों के व्यवहार को वे पृथग् जन भी निन्द्य समझते हैं।

प्र०—लोक में धर्म यह स्वर्गादि सुख देने वाले के रूप में रूढ है और उस हिसाब से तदर्थ धर्म की प्रार्थना की जाती है, इसमें अविशेषज्ञता क्या आई ?

उ०—सांसारिक समृद्धि की आसक्ति से की जाती धर्म-प्रार्थना में अविशेषज्ञता है यह व्यवहार मुमुक्षुजनों की बुद्धि से समझा जा सकता है। धर्म तो आरम्भ एवं अन्त दोनों काल में सुन्दर चित्त-परिणाम रूप है, और ऋद्धि पद पद पर आपत्ति के स्थान रूप है, इसलिए धर्म और ऋद्धि में यह महान अन्तर है। यह संसार से उद्विग्न मुमुक्षु जीव ही जान सकते हैं, दूसरे भवाभिनन्दी यानी संसाररसिक जीवों से समझा जाना अशक्य है। निष्कर्ष यह आया कि आरोग्य-बोधिलाभादि का आशंसा अप्रशस्त निदान रूप नहीं है।

प्र०—आरोग्यबोधिलाभादि की आशंसा में जो 'आरुग्गबोहिलाभं... दितु' कहा गया यह वचन सार्थक है या निरर्थक ?

(ल०–) चतुर्थभाषारूपप्रार्थनासमर्थकशास्त्रगाथाः–) तदुक्तं,–

भासा असच्चमोसा णवरं भत्तीए भासिया एसा । न हु खीणपेज्जदोसा देंति समाहिं च बोहिं च ॥१॥
तप्पत्थणाए तहवि य ण मुसावाओ एत्थ विण्णेओ । तप्पणिहाणाओ चिय तग्गुणओ हंदि फलभावा ॥२॥
चिन्तामणिरयणादिहिं जहा उ भव्वा समीहियं वत्थुं । पावंति तह जिणेहिं तेसिं रागादभावे वि ॥३॥
वत्थुसहावो एसो अउव्वचिन्तामणी महाभागो । थोऊणं तित्थयरे पाविज्जइ बोहिलाभो त्ति ॥४॥
भत्तीए जिणवराणं खिज्जन्ती पुव्वसंचिया कम्मा । गुणपगरिसबहुमाणो कम्मवणदवाणलो जेण ॥५॥

एतदुक्तं भवति,–यद्यपि ते भगवन्तो वीतरागत्वादारोग्यादि न प्रयच्छन्ति तथाप्येवंविधवाक्-(प्र०...वाक्य)प्रयोगतः प्रवचनाराधनतया सन्मार्गवर्त्तिनो महासत्त्वस्य तत्सत्तानिबन्धनमेव तदुपजायत इति गाथार्थः ॥६॥

उ०—इसमें भजना है, स्याद्वाद है, यह इस प्रकार, कि वह सार्थक भी है, निरर्थक भी है।

(१) निरर्थक इसलिए कि यह वचन चौथी व्यवहार-भाषा स्वरूप है। पहली सत्य भाषा हित फलदायी होती है, दूसरी असत्य भाषा अहित फलकारी है, और तीसरी सत्य-असत्य मिश्र भाषा इससे कम अहित फल वाली होती है। तात्पर्य, तीनों ही वचन सार्थक होते हैं, लेकिन चौथी व्यवहार भाषा न तो सत्य, न वा असत्य है। 'मुझे आरोग्यबोधिलाभादि दीजिए' इस वचन में क्या सत्य अथवा क्या असत्य है ? कुछ नहीं, यह तो व्यवहारमात्र है, आशंसा का व्यक्तीकरण है; न किसी सिद्ध पदार्थ का विधान करने वाला सत्य वचन है, न निषेध करने वाला असत्य वचन है। इस दृष्टि से जिनाज्ञासिद्ध के विधान किंवा निषेध से जन्य शुभाशुभ कर्म रूप फल यहां कुछ नहीं होता। अतः यह निरर्थक है।

(२) सार्थक इसलिए कि ऐसी आरोग्यबोधिलाभादि की आशंसा को व्यक्त करने वाले वचन से सत्प्रणिधान द्वारा अतिशय शुभ अध्यवसाय (चित्तपरिणाम) स्वरूप फल उत्पन्न होता है।

चतुर्थभाषारूपप्रार्थना के सार्थक्य का समर्थक शास्त्र प्रमाणः—

शास्त्र में कहा गया है कि,

(१) भक्तिपूर्वक उच्चारित यह 'आरुग्गबोहिलाभं....'इत्यादि भाषा अलबत्त असत्यामृषा यानी व्यवहार भाषा है। यहां रागद्वेष क्षीण कर चुके ऐसे वीतराग अर्हत्प्रभु वीतरागता की वजह से प्रार्थनाकारक के प्रति प्रसन्न नहीं होते हैं एवं समाधि और बोधि देते नहीं हैं।

(२) फिर भी उनकी प्रार्थना करने में यहां मृषावाद भी मत समझना; क्यों कि उनका प्रणिधान करने से उनके गुण स्वरूप फल की उत्पत्ति अवश्य होती है।

(३) जिस प्रकार चिन्तामणि रत्नादि से योग्य आत्माओं को इच्छित वस्तु की प्राप्ति होती है, इस प्रकार जिनेश्वर देवों में रागादि न होने पर भी, उनसे भव्यात्माओं को इष्ट की प्राप्ति होती है।

(४) अगर प्रश्न हो कि वीतराग प्रभु से प्राप्ति कैसे ? उत्तर यह है कि वस्तु का स्वभाव एक चीज़ ही ऐसी है कि इसके विषय में 'ऐसा स्वभाव क्यों' इस प्रकार प्रश्न करना फिजूल है। वीतराग तीर्थङ्कर भगवान अपूर्व चिन्तामणि हैं, इसलिए ऐसे महान प्रभाव वाले उनकी स्तुति करने से बोधिलाभ की प्राप्ति होती है।

(ल०–सप्तमगाथाव्याख्या—) चंदेसु० गाहा,—

(चंदेसु निम्मलयरा आइच्चेसु अहियं पयासयरा । सागरवरगंभीरा सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥७॥)

व्याख्या—इह प्राकृतशैल्या आर्षत्वाच्च पञ्चम्यर्थे सप्तमी द्रष्टव्येति 'चन्द्रेभ्यो निर्म्मलतराः', पाठान्तरं वा 'चंदेहिं निम्मलयर'त्ति । तत्र सकलकर्म्ममलापगमाच्चन्द्रेभ्यो निर्म्मलतरा इति । तथा, 'आदित्येभ्योऽधिकं प्रकाशकराः', केवलोद्योतेन विश्वप्रकाशनादिति; उक्तं च,—'चंदाइच्चगहाणं पहा पगासेइ परिमियं खेत्तं । केवलियणाणलंभो लोयालोयं पयासेइ ॥१॥' तथा, 'सागरवरगम्भीराः',—तत्र सागरवरः स्वयम्भूरमणोऽभिधीयते, तस्मादपि गम्भीराः, परीषहोपसर्गेभ्योऽ(प्र०...सर्गाद्य) क्षोभ्यत्वात्, इति भावना । सितं ध्मातमेषामिति सिद्धाः, कर्म्मविगमात्कृतकृत्या इत्यर्थः । सिद्धिं=परमपदप्राप्तिं मम दिशन्तु, अस्माकं प्रयच्छन्तु,—इति गाथार्थः ॥७॥

---

(५) तीर्थंकर भगवान की भक्ति से पूर्वसंचित कर्मों का क्षय हो जाता है; क्यों कि वे उत्कृष्ट गुणों वाले हैं और उत्कृष्ट गुणवालों की भक्ति उन गुणों का बहुमान है तथा उत्कृष्ट गुणों का बहुमान यह कर्म-वन को जला देने के लिए दावानल रूप है ।

इससे कहना यह है कि यद्यपि वे तीर्थंकर भगवान वीतराग होने से आरोग्यादि देते नहीं हैं, फिर भी इस प्रकार की, वीतराग के आगे, आशंसा व्यक्त करने वाली स्तुति के भाषा प्रयोग से प्रवचन की आराधना होती है । प्रवचन का आदेश है कि वीतराग अरिहंत प्रभु की स्तुति-भक्ति करना; उसके आदेश के पालन से उसकी आराधना है । यह आराधना करने वाला जीव सन्मार्गवर्ती एवं महात्मा है और उसे आशंसित फल पैदा होता है; लेकिन यह फल वीतराग तीर्थंकर भगवान की विशिष्टता के आधार पर ही होता है; अर्थात् अगर ऐसे वीतराग तीर्थंकर वास्तविक हो एवं स्तुति के विषय बनाये जाए तभी स्तुति का महा फल उत्पन्न होता है । स्तुति के प्राधान्य की अपेक्षा विषय का प्राधान्य रहा, 'स्तुति किसके प्रति करते हो ?' यह महत्त्व की वस्तु है । इसलिए फलोत्पत्ति के प्रति स्तुति का महत्त्व इतना नहीं किन्तु स्तुति के विषयभूत वीतराग प्रभु का महत्त्व है, फल के प्रति प्रधान कारण भगवान है । यह गाथाओं का तात्पर्य है ।

७वीं गाथा की व्याख्याः—

चंदेसु निम्मलयरा आइच्चेसु अहियं पयासयरा । सागरवरगंभीरा सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥७॥

इसकी व्याख्या इस प्रकार है;—'चंदेसु निम्मलयरा' यहां प्राकृत भाषा की शैली से और आर्ष (ऋषिप्रणीत) स्तव होने से 'चंदेसु' एवं 'आइच्चेसु' में सप्तमी विभक्ति को पंचमी विभक्ति के अर्थ में समझना । अथवा 'चंदेहिं निम्मलयरा' ऐसा पाठान्तर जानना । इसका अर्थ है चन्द्र की अपेक्षा भी अधिक निर्मल; क्यों कि समस्त कर्ममल दूर हो गया है । तथा 'आइच्चेसु अहियं पयासयरा' सूर्य की अपेक्षा भी अधिक प्रकाशकर; क्यों कि केवलज्ञान रूप प्रकाश से विश्व का प्रकाश करते हैं । कहा गया है कि चन्द्र, सूर्य और ग्रहों की प्रभा परिमित क्षेत्र को प्रकाशित करती है, किन्तु केवलज्ञानी की ज्ञान-प्राप्ति लोकालोक को प्रकाशित करती है । तथा, 'सागरवरगंभीरा'—यहां सागरवर यानी सबसे बड़ा समुद्र स्वयम्भूरमण कहा जाता है, उसकी अपेक्षा भी गंभीर; क्यों कि परीसह और उपसर्गों से क्षोभायमान नहीं होते हैं; ऐसी घटना करनी । 'सिद्धा'—सित अर्थात् बद्ध कर्म ध्मात हुये हैं अर्थात् जल गए हैं जिनके वे सिद्ध; तात्पर्य कर्मनाश के कारण कृतकृत्य हुए । 'सिद्धिं'—परमपद मोक्ष की प्राप्ति । 'मम दिसंतु'—हमें दें । ऐसा गाथार्थ हुआ ।

'सव्वलोए अरिहंत चेइयाणं'

(ल०–) एवं चतुर्विंशतिस्तवमुक्त्वा सर्व्वलोक एवार्हच्चैत्यानां कायोत्सर्गकरणायेदं पठति पठन्ति वा,–'सव्वलोए अरिहंतचेइयाणं करेमि काउस्सग्गमि'त्यादि...जाव 'वोसिरामि'। व्याख्या पूर्ववत्। नवरं 'सर्व्वलोके अर्हच्चैत्यानाम्' इत्यत्र लोक्यते = दृश्यते केवलज्ञानभास्वतेति 'लोकः' चतुर्दशरज्ज्वात्मकः परिगृह्यते। उक्तं च,–

'धर्म्मादीनां वृत्तिर्द्रव्याणां भवति यत्र तत् क्षेत्रम्। तैर्द्रव्यैः सह लोकस्तद्विपरीतं ह्यलोकाख्यम् ॥१॥'

सर्व्वः खल्वधस्तिर्यगूर्ध्वभेदभिन्नः। सर्व्वश्चासौ लोकश्च सर्व्वलोकः, तस्मिन् सर्व्वलोके त्रैलोक्य इत्यर्थः। तथाहि,–अधोलोके चमरादिभवनेषु(प्र०...भेदेषु), तिर्यग्लोके द्वीपाचलज्योतिष्कविमानादिषु, ऊर्ध्वलोके सौधर्म्मादिषु सन्त्येवार्हच्चैत्यानि। ततश्च मौलं चैत्यं समाधेः कारणमिति मूलप्रतिमायाः प्राक्, पश्चात्सर्वेऽर्हन्तस्तद्गुणा इति सर्वलोकग्रहः। कायोत्सर्गचर्चः पूर्ववत्; तथैव च स्तुतिः, नवरं सर्वतीर्थकराणाम्, अन्यथाऽन्यः कायोत्सर्गः अन्या स्तुतिरिति न सम्यक्। एवमप्येतदभ्युपगमेऽतिप्रसङ्गः,–स्यादेवमन्योद्देशेऽन्यपाठः, तथा च निरर्थका उद्देशादयः सूत्रे, इति यत्किञ्चिदेतत्।

व्याख्यातं लोकस्योद्योतकरानित्यादिसूत्रम्।

पूरा अर्थ इस प्रकार है,—चन्द्रों की अपेक्षा भी अधिक निर्मल, सूर्यों की अपेक्षा भी अधिक प्रकाश कर, एवं स्वयंभूरमण सागर की अपेक्षा भी अधिक गंभीर एवं सिद्ध (कर्म नाश कर के कृतकृत्य हो चुके ऐसे २४ तीर्थंकर) मुझे मोक्ष दें।

'सव्वलोए अरिहंत चेइयाणं'

इस प्रकार 'चतुर्विंशतिस्तव' सूत्र का उच्चारण करके समस्त लोक में रहे हुए अरिहंत प्रभु के चैत्य (प्रतिमा) निमित्त कायोत्सर्ग करने के लिए एक या अनेक साधक 'सव्वलोए अरिहंत चेइयाणं करेमि काउस्सग्गं' से ले कर 'अप्पाणं वोसिरामि' तक पढते हैं। इसकी व्याख्या पूर्व के 'अरिहंत चेइयाणं .. .... वोसिरामि' सूत्र के समान है; लेकिन 'सव्वलोए अरिहंत चेइयाणं' जो कहा गया, वहां 'लोक' शब्द का अर्थ है,–जिसका लोकन याने दर्शन केवलज्ञान रूप सूर्य से होता है वह लोक। वह यहां चौदह रज्जु प्रमाण १४ राजलोक स्वरूप ग्राह्य है। कहा है कि धर्मास्तिकायादि द्रव्यों का जहां अवस्थान है, वह क्षेत्र उन द्रव्यों सहित लोक कहा जाता है; उससे विपरीत याने धर्मास्तिकायादि द्रव्यों से शून्य क्षेत्र का नाम अलोक है। 'सर्व' शब्द का अर्थ है अधो, तिर्यग और ऊर्ध्व तीनों प्रकार के भेद वाला। सर्व ऐसा जो लोक वह सर्व लोक। ऐसे सर्वलोक में अर्थात् त्रैलोक्य में रहे हुए अरिहंत–चैत्य; वे इस प्रकार,–अधोलोक में चमरेन्द्र (पातालवासी असुरकुमार इन्द्र) आदि के भवनों में, तिर्यग्लोक मे द्वीप, पर्वत, ज्योतिष्कविमान, इत्यादि में, और ऊर्ध्वलोक मे सौधर्म आदि के विमानों में यावत् अन्तिम अनुत्तर विमान तक अरिहंत चैत्य होते ही हैं। इसलिए यहां सर्व लोक के अर्हत्–चैत्य गृहीत किये। मूल चैत्य समाधि का कारण है, इसलिए मूल प्रतिमा (निकटवर्ती जिन मन्दिर की प्रतिमा) के अरिहंत पहले कायोत्सर्ग में गृहीत किये; और बाद मे समस्त अरिहंत जो तद्गुण वाले यानी समाधिकारक होते हैं, इसलिए पहिले कायोत्सर्ग के बाद दूसरा कायोत्सर्ग सर्वलोक के अरिहंत के लिए किया जाता है।

कायोत्सर्ग की चर्चा पूर्व के समान जानना। इसी प्रकार कायोत्सर्ग के बाद कहने की स्तुति की चर्चा भी पूर्व के समान है। मात्र इतना विशेष है कि यहां स्तुति सर्व तीर्थंकर भगवान की पढ़नी चाहिए; अन्यथा ऐसा होगा कि कायोत्सर्ग दूसरों का किया और स्तुति दूसरे की पढ़ी गई! यह तो ठीक नहीं। ऐसा भी अगर स्वीकार लें तब तो अतिप्रसङ्ग होगा;—उदाहरणार्थ, सूत्रपठन में जो उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की जाती है, वहां भी उद्देश यदि इस प्रकार अन्य सूत्र का किया जाए और पाठ दूसरे सूत्र का करे, तो फलतः सूत्र में उद्देशादि निरर्थक होंगे। (उद्देश = योगोद्वहन पूर्वक अमुक सूत्र पढ़ने की गुर्वाज्ञा; समुद्देश = उसी सूत्र को स्थिर एवं परिचित करने की गुर्वाज्ञा; अनुज्ञा = उसीका सम्यग् धारण एवं दूसरों को पढ़ाने की गुर्वाज्ञा।) इसलिए जैसे जिस सूत्र का उद्देश किया गया, उसीको पढ़ना होता है, इस प्रकार यहां भी सर्व लोक के अरिहंत चैत्य का कायोत्सर्ग करके सर्व अरिहंत की स्तुति पढ़नी आवश्यक है; जिस किसी स्तुति का उच्चारण युक्तिविरुद्ध है।

यह 'लोगस्स उज्जोअगरे' इत्यादि सूत्र की व्याख्या हुई।



'पुक्खरवरदीवड्ढे०' (पुष्करवरद्वीपार्द्धे०)

(ल०–) पुनश्च प्रथमपदकृताभिख्यं 'पुष्करवरद्वीपार्द्ध' पठति (प्र०...त्रिविवत्पठति) पठन्ति वा। तस्येदानीमभिसम्बन्धो विवरणं चोन्नीयते;–

सर्वतीर्थकराणां स्तुतिरुक्ता, इदानीं तैरुपदिष्टस्याऽऽगमस्य, येन ते भगवन्तस्तदभिहिताश्च भावाः स्फुटमुपलभ्यन्ते। तत्प्रदीपस्थानीयं सम्यक्श्रुतमर्हति कीर्त्तनम् इतीद(प्र०...अत इद)मुच्यते,– "पुक्खरवर" इत्यादि—

'पुक्खरवरदीवड्ढे धायइसंडे य जंबुद्दीवे य। भरहेरवयविदेहे धम्माइगरे नमंसामि ॥१॥'

व्याख्या,–पुष्कराणि पद्मानि, तैर्वरः प्रधानः पुष्करवरः पुष्करवरश्चासौ द्वीपश्चेति समासः, तस्यार्द्धं मानुषोत्तराचलार्वाग्भागवर्ति, तस्मिन्।

'पुक्खरवरदीवड्ढे०' (पुष्करवरद्वीपार्द्धे०)

सर्वजिन–स्तुति के बाद 'पुक्खरवरदीवड्ढे' सूत्र एक साधक (अनेक साधक हों तो उनमें से एक) पढ़ता है। सूत्र का यह नाम सूत्र के पहले पद से किया गया है। अब इस सूत्र के उपन्यास का संबन्ध और इसीका विवेचन प्रदर्शित किया जाता है। संबन्ध यह, कि सर्व तीर्थंकर देवों की स्तुति पहले पढी गई; अब उनके द्वारा उपदिष्ट आगम की स्तुति की जाती है, जिस आगम द्वारा उन भगवान और उनसे कथित पदार्थों का स्पष्ट बोध होता है। इसलिए जिनागम यानी सम्यक् श्रुत जो कि प्रदीप समान है वह कीर्तन योग्य है। इसलिए यह पढ़ा जाता है,—

पुक्खरवरदीवड्ढे धायइसंडे य जंबुद्दीवे य। भरहेरवयविदेहे धम्माइगरे नमंसामि ॥१॥

पुष्करवरद्वीप, धातकी खण्ड एवं जंबूद्वीप में भरत, ऐरावत और महाविदेह क्षेत्र में धर्म के आदिकर अर्थात् तीर्थंकरों को मैं नमस्कार करता हूँ।

व्याख्या.—'पुक्खरवरदीवड्ढे',—पुष्कर अर्थात् पद्मों से वर याने श्रेष्ठ, ऐसा जो द्वीप वह पुष्करवरद्वीप। उसका अर्द्धभाग अर्थात् मानुषोत्तर नाम का पर्वत जो कि १६ लक्ष योजन प्रमाण चौड़े उस द्वीप के ठीक बीच में है, उसके इस ओर रहा हुआ अर्द्धभाग वह हुआ पुष्करवरद्वीपार्द्ध; उसमें।

(हम जिसमें रहते हैं, वह जम्बूद्वीप वर्तुलाकार १ लक्ष योजन का लम्बा चौड़ा है, इसके चारों ओर लवणसमुद्र २ लक्ष योजन चौड़ा चूड़ी-आकार का है; उसके चारों ओर धातकी खण्ड ४ लक्ष योजन चौड़ा चूड़ी-आकार का है; उसके चारों ओर कालोदधिसमुद्र ८ लक्ष योजन चौड़ा चूड़ी-आकार का है; उसके चारों ओर पुष्करवरद्वीप १६ लक्ष योजन चौड़ा चूड़ी–आकार का है; उसके बीच में चूड़ी–आकार का मानुषोत्तर पर्वत पड़ता है। इस पर्वत के इस तरफ याने मात्र ढाई द्वीप में मनुष्यों की बस्ती है। प्रत्येक द्वीप में कर्मभूमि एवं अकर्मभूमि है। अकर्मभूमि अर्थात् जहां कृषि व्यापार आदि कर्म एवं धर्म-कर्म नहीं होते हैं, सिर्फ कल्पवृक्ष से इष्ट प्राप्ति हो जाती है। कर्मभूमि १५ है.—५ भरत, ५ ऐरवत, ५ महाविदेह। यहां कृषि आदि कर्म भी होते हैं और तीर्थंकर आदि होने से धर्म कर्म भी चलता है।)

(ल०–धायइसंडे...धम्माइगरे–) तथा धातकीनां खण्डानि यस्मिन् स धातकीखण्डो द्वीपः, तस्मिंश्च । तथा जम्ब्वा उपलक्षितस्तत्प्रधानो वा द्वीपो जम्बूद्वीपः, तस्मिंश्च । एतेष्वर्द्धतृतीयेषु द्वीपेषु महत्तरक्षेत्रप्राधान्याङ्गीकरणात् पश्चानुपूर्व्योपन्यस्तेषु यानि भरतैरावतविदेहानि । प्राकृतशैल्या त्वेकवचननिर्देशः द्वन्द्वैकवद्भावाद् वा भरतैरावतविदेह इत्यपि भवति; तत्र । 'धर्म्मादिकरान् नमस्यामि'–दुर्गतिप्रसृतान् जीवान्...इत्यादिश्लोकोक्तनिरुक्तो धर्म्मः; स च द्विभेदः श्रुतधर्म्मश्चारित्रधर्म्मश्च । श्रुतधर्म्मेणेहाधिकारः तस्य च भरतादिषु आदौ करणशीलाः तीर्थकरा एव ।

(ल०–) आह, 'श्रुतज्ञानस्य स्तुतिः प्रस्तुता, कोऽवसरस्तीर्थकृतां ? येनोच्यते धर्म्मादिकरान् नमस्यामी'ति । उच्यते, श्रुतज्ञानस्य तत्प्रभवत्वात् अन्यथा तदयोगात् । पितृभूतत्वेनावसर एषामिति । एतेन सर्वथा अपौरुषेयवचननिरासः ।

(पं०–) 'एतेने'त्यादि । 'एतेन'=धर्म्मादिकरत्वज्ञापनेन, 'सर्वथा'=अर्थज्ञानशब्दरूपप्रकाशनप्रकारकात्स्न्येन, 'अपौरुषेयवचननिरासः'=न पुरुषकृतं वचनमित्येतन्निरासः । 'कृतः' इति गम्यते ।

'धायइसंडे...धम्माइगरे नमंसामि' पदों के अर्थः—

तथा धातकी खण्ड अर्थात् धातकी नामके वृक्षों के वन जिसमें हैं, वह धातकीखण्ड द्वीप, उसमें । एवं जम्बू वृक्ष से उपलक्षित, अथवा जम्बू वृक्ष प्रधान है जिसमें वह जम्बूद्वीप, उसमें 'भरहेरवयविदेहे'–इन ढाई द्वीपों में जो भरत, ऐरवत, विदेह (महाविदेह) नाम के क्षेत्र हैं उनमें । यहां यद्यपि विदेह बड़ा क्षेत्र होने से पूर्वानुपूर्वी क्रम से 'विदेहभरहेरवये'—ऐसा कहना चाहिए, लेकिन बड़े क्षेत्र की प्रधानता होती है इसलिए पश्चानुपूर्वी क्रम से 'भरहेरवयविदेहे' ऐसा उपन्यास किया गया । भरत आदि तीन होने से 'भरहेरवयविदेहेसु' यह बहुवचन प्रयोग न करके 'विदेहे' यह एकवचन-प्रयोग जो किया, वह प्राकृत भाषा की शैली के अनुसार किया, अथवा द्वन्द्व समास में अनेकों का एक समूह प्रदर्शित करने के लिए एकवद्भाव होता है, (उदाहरणार्थ 'गेहूं चावल का भाव तेज है'–यहां चावल एकवचन में है,) इसलिए किया ।

'धम्माइगरे नमंसामि'—धर्म के आदिकर को मैं नमस्कार करता हूं । यहां दुर्गतिप्रसृतान् जंतून् ' इत्यादि श्लोक में कहे 'धर्म' शब्द के व्युत्पत्ति-अर्थ के अनुसार धर्म वही है जो जीवों को दुर्गतिगमन से बचाता है और शुभ गति में स्थापित करता है । ऐसा धर्म दो प्रकार का होता है,–१. श्रुतधर्म, २. चारित्र धर्म । श्रुतधर्म है जिनागम का ज्ञान एवं उपासना । यहां इस सूत्र में इसका अधिकार है । ऐसे श्रुतधर्म के, भरतादि क्षेत्र में, प्रारम्भ करने के स्वभाव वाले जो हैं वे श्रुतधर्म के आदिकर; और वे तीर्थंकर भगवान ही हैं ।

प्र०—यहां प्रस्तुत तो श्रुतज्ञान की स्तुति है; फिर तीर्थंकर भगवान का यहां क्या प्रसंग है कि यहां 'धम्माइगरे नमंसामि' कहा जाता है ?

उ०—प्रसंग यही, कि श्रुतज्ञान तीर्थंकर भगवान से उत्पन्न होता है । अगर विश्व में तीर्थङ्कर भगवान ही न होते, तो श्रुतज्ञान का प्रादुर्भाव ही नहीं हो सकता । इसलिए श्रुतधर्म के वे पिता होने से उनका, यहां समुचित अवसर है; उनकी स्मृति करना यह अवसरप्राप्त है ।

(ल०-अपौरुषेयत्वनिरसनम्-) यथोक्तम्, 'असम्भव्यपौरुषेयं', 'वान्ध्येयखरविषाण-तुल्यमपुरुषकृतं वचनं विदुषाऽ(प्र०...विदुषाम)नुपन्यसनीयं विद्वत्समवाये, स्वरूपनिराकरणात् (प्र०...णत्वात्)। तथाहि,-'उक्तिर्वचनम्, उच्यते इति वे'ति पुरुषक्रियानुगतं रूपमस्य, एतत्क्रियाभावे कथं तद् भवितुमर्हति ?

(पं०-) वचनान्तरेणापि एनं समर्थयितुमाह 'यथोक्तं' धर्मसारप्रकरणे वचनपरीक्षायाम्, 'असम्भवि' न संभवतीत्यर्थः, 'अपौरुषेयम्'=अपुरुषकृतं, 'वचनमि'ति प्रक्रमाद् गम्यते। इदमेव वृत्तिकृद् व्याचष्टे 'वान्ध्येयखरविषाणतुल्यम्', असदित्यर्थः, अपुरुषकृतं वचनम्। ततः किमित्याह 'विदुषां'=बुधियाम् 'अनुपन्यसनीयं'=पक्षतयाऽव्यवहरणीयं, 'विद्वत्समवाये' सभ्यपरिषदि, कुत इत्याह 'स्वरूपनिराकरणात्'= अपौरुषेयत्वस्य साध्यस्य धर्म्मिस्वरूपेण वचनत्वेन प्रतिषेधात्। अस्यैव भावनामाह 'तथे'त्यादिना 'कथं तद्भवि-तुमर्हती'ति पर्यन्तेन; सुगमं चैतत्। प्रयोगः,-यदुपन्यस्यमानं स्ववचनेनापि बाध्यते, न तद्विदुषा विद्वत्सदसि उपन्यसनीयं, यथा 'माता मे वन्ध्या', 'पिता मे कुमारब्रह्मचारी'ति, तथा चापौरुषेयं वचनमिति।

'अपौरुषेय वचन' का खण्डनः—

श्रुतधर्म के आदिकर कहने से जो लोग वचन को सर्वथा अपौरुषेय अर्थात् 'वचन किसी भी पुरुष से उत्पन्न नहीं किन्तु सर्वथा नित्य है',-ऐसा मन्तव्य रखते हैं, उनके मत का खण्डन किया गया। 'किया गया'-यह अध्याहार है। सर्वथा अपौरुषेय का तात्पर्य यह है कि मात्र अर्थ रूप से नहीं किन्तु अर्थ, ज्ञान एवं शब्द सभी प्रकार से श्रुतधर्म यानी प्रवचन पुरुषोत्पन्न नहीं। अन्यथा जैनदर्शन श्रुतधर्म को याने प्रवचन को अर्थ रूप से तो अपौरुषेय यानी नित्य मानता ही है, क्यों कि प्रवचनोक्त पदार्थ यानी तत्त्व तो सभी तीर्थंकरों के प्रवचनों में वेही-के-वेही रहते हैं; नये नये तीर्थंकर कोई नये नये तत्त्व नहीं बनाते हैं। तत्त्व तो सदा के लिए जो हैं सो हैं; मात्र शब्द रूप से एवं ज्ञान रूप से उनका प्रचार प्रत्येक तीर्थंकर के द्वारा शुरू किया जाता है। इस अपेक्षा से प्रवचन पौरुषेय है। तो जैन मत यह पौरुषेय-अपौरुषेय होने का अनेकान्त हुआ। इससे एकान्ततः अपौरुषेयत्व कहना अप्रामाणिक है।

अपौरुषेयत्व असंभवितः—

इस दूसरे 'धर्मसार' प्रकरण के वचन से भी अपौरुषयत्व खण्डन का समर्थन किया जाता है; 'धर्मसार' प्रकरण में वचन की परीक्षा कही गई है;—'असंभवि अपौरुषेयम्' अर्थात् पुरुष से उच्चारित नहीं ऐसा वचन असंभवित है। 'श्री ललितविस्तरा' वृत्ति के रचयिता इसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि अपुरुषकृत वचन वंध्यापुत्र समान या गधे के सींग के तुल्य असत् होने से, विद्वान पुरुषों की सभा में विद्वान के द्वारा ऐसे अपौरुषेयत्व का उपन्यास नहीं किया जाना चाहिए, अर्थात् इसका पक्ष स्थापित करने में विद्वत्ता को कलंक लगता है। कारण यह है कि अभिप्रेत साध्य जो अपौरुषेय वचन, इसमें धर्म के स्वरूप की ही हानि है, अर्थात् उसमें वचनत्व ही नहीं उपपन्न हो सकता। यह इस प्रकार, वचन का अर्थ है 'जो बोला जाए' और 'बोलना' उच्चारण करना, यह पुरुष की क्रिया से संबद्ध है। अब अगर पुरुषक्रिया ही न हो, तब कहां से उच्चारण के स्वरूप वाला वचन अस्तित्व ही पा सकता है ? इस पर से अनुमान यह होगा कि—उपन्यास का जो विषय उपन्यास-कर्ता के वचन से ही बाधित होता है, वह विद्वान से

(ल०–अदृश्यवक्त्राशङ्का-)न चैतद् केवलं क्वचिद् ध्वनदुपलभ्यते । उपलब्धावप्यदृश्यवक्त्राशङ्कासम्भवात्, तन्निवृत्त्युपायाभावाद् ।

(पं०–) अभ्युच्चयमाह 'न च'=नैव, 'एतद्'=अपौरुषेयतयाभ्युपगतं वेदवचनं, 'केवलं'= पुरुषव्यापाररहितं, 'क्वचिद्'=आकाशादौ, 'ध्वनत्'=शब्दायमानम् 'उपलभ्यते'=श्रूयत इति । उपलभ्यत एव क्वचित्कदाचित्किञ्चिच्चेद्, इत्याह 'उपलब्धावपि'=श्रवणेऽपि क्वचिद्ध्वनच्छब्दस्य, 'अदृश्यवक्त्राशङ्कासम्भवाद्'=अदृश्यस्य पिशाचादेर्वक्तुराशङ्कासम्भवात् 'तेन भाषितं स्यादि'त्येवं संशयभावात् । 'असारमेतदि'ति संबध्यते, कुत इत्याह 'तन्निवृत्त्युपायाभावाद्'=अदृश्यवक्त्राशङ्कानिवृत्तेरुपायाभावात् । न हि कश्चिद्धेतुरस्ति येन साऽऽशङ्का निवर्तयितुं शक्यत इति ।

(ल०–) अतीन्द्रियार्थदर्शिसिद्धेः, अन्यथा तदयोगात्, पुनस्तत्कल्पनावैयर्थ्याद्, असारमेतदिति ।

(पं०–) एतदपि कुत इत्याह 'अतीन्द्रियार्थदर्शिसिद्धेः,' अतीन्द्रियं पिशाचादिकमर्थं द्रष्टुं शीलः पुरुष एव हि तन्निवृत्त्युपायः, तत एव पिशाचादिप्रभवमिदं, स्वत एव वा ध्वनदुपलभ्यते' इत्येवं निश्चयसद्भावात् । व्यतिरेकमाह 'अन्यथा'=अतीन्द्रियार्थदर्शिनमन्तरेण, 'तदयोगाद्'=अदृश्यवक्त्राशङ्कानिवृत्तेरयोगात् । यदि नामातीन्द्रियार्थदर्शी सिद्ध्यति ततः का क्षतिरित्याह 'पुनस्तत्कल्पनावैयर्थ्यात्', अतीन्द्रियार्थदर्शिनमभ्युपगम्य पुनः=भूय, तत्कल्पनावैयर्थ्याद्=अपौरुषेयकल्पनावैयर्थ्यात् । सा ह्यतीन्द्रियार्थदर्शिनमनभ्युपगच्छतामेव सफला; यथोक्तम्–'अतीन्द्रियाणामर्थानां, साक्षाद् द्रष्टा न विद्यते । वचनेन हि नित्येन यः पश्यति स पश्यति ॥ १ ॥' 'असारं'=परिफल्गु, 'एतद्' यदुतापौरुषेयं वचनमिति ।

विद्वत्पर्षद् में उपन्यास के योग्य नहीं है, उदाहरणार्थ ऐसा उपन्यास किया जाए कि 'मेरी माता वन्ध्या है' या 'मेरा पिता कुमार-ब्रह्मचारी है अर्थात् शादी रहित, बचपन से आज तक ब्रह्मचारी है' तो इसका विषय वन्ध्यापन, ब्रह्मचारिपन अपने मातृत्व पितृत्व के कथन से ही बाधित है । कथन यह है कि 'मेरी माता' अर्थात् पुत्रवती माता, अब वह वन्ध्या याने बिल्कुल पुत्र रहित कैसे ? वंध्यात्व बाधित है । इस प्रकार 'मेरा पिता'अर्थात् पुत्रजनक, वहां ब्रह्मचारीपन बाधित है । इसी प्रकार अपौरुषेय वचन को 'वचन' कहना इसका तात्पर्य यही है कि वह पुरुषकृत है, इससे अब अपौरुषेयत्व बाधित हो जाता है।

अदृश्य वक्ता की आशंका दुर्निवार है:—

सारांश यह है कि अपौरुषेय रूप से स्वीकृत वेदवचन कहीं भी आकाश आदि में विना पुरुष प्रयत्न के आवाज करता सुनाई नहीं पड़ता है । अगर कहें 'कहीं' भी कभी कुछ सुनाई पड़ता है । तब इसका उत्तर यह है कि तब तो श्रवण होने पर भी इसके कोई अदृश्य किसी पिशाचादि वक्ता होने की शङ्का क्यों न हो ? अर्थात् 'सम्भव है उसने बोला होगा' ऐसा सशय हो सकता है । इस लिए जब वक्ता से यह वचन कहा गया संभवित हुआ तब 'अपौरुषेय वचन है, कहीं भी कदाचित सुना जाता है' कहना असार है, तुच्छ है ।

(ल०—जैनमतेऽपौरुषेयवचनापत्तिः—) स्यादेतत्, -भवतोऽपि तत्त्वतोऽपौरुषेयमेव वचनं, सर्वस्य सर्वदर्शिनस्तत्पूर्वकत्वात्, 'तप्पुव्विया अरहया' इति वचनात्, तदनादित्वेऽपि तदनादित्वतस्तथात्वसिद्धेः अवचनपूर्वकत्वं चैकस्य, तदपि तन्त्रविरोधि, न्यायतोऽनादिशुद्धवादापत्तेरिति ।

(पं०—) 'स्यादेतत्' परस्य वक्तव्यं, 'भवतोऽपि' पौरुषेयवचनवादिनः, न केवलं मम, 'तत्त्वतः'= ऐदम्पर्यशुद्धया, 'अपौरुषेयमेव वचनं', न पौरुषेयमपि । अत्र हेतुमाह 'सर्वस्य' ऋषभादेः, 'सर्वदर्शिनः'= सर्वज्ञस्य, 'तत्पूर्वकत्वात्'=वचनपूर्वकत्वात् । एतदपि कुत इत्याह 'तप्पुव्विया'=वचनपूर्विका, 'अरहया'= अर्हत्ता, 'इति वचनात्' । अथ स्याद् अनादिरर्हत्सन्तानस्ततः कथं न पौरुषेयवचनमित्याशङ्कयाह 'तदनादित्वेऽपि', तेषाम्=अर्हताम्, अनादित्वेपि, 'तदनादित्वतः'=तस्य वचनस्य अनादिभावात्, 'तथात्वसिद्धेः'= अपौरुषेयत्वसिद्धेः । अस्यैव विपर्ययबाधकं पक्षान्तरमाह 'अवचनपूर्वकत्वं चैकस्य', यदि हि अपौरुषेयं वचनं नेष्यते तदाऽवचनपूर्वकः कश्चिदेक आदौ वचनप्रवर्तकोऽर्हन्नभ्युपगन्तव्य इति भावः । एवमपि तर्हि अस्तु इत्याशङ्क्य पर एव आह 'तदपि' अवचनपूर्वकत्वं, 'तन्त्रविरोधि'='सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इत्यागमविरोधि, कुत इत्याह 'न्यायतः'=सदकारणवन्नित्यमिति नित्यलक्षणन्यायात्, 'अनादिशुद्धवादापत्तेः'= अनादिशुद्धः परपरिकल्पितसदाशिवादिवत् कश्चिदर्हन्निति वादप्रसङ्गात् इति । 'इतिः' परवक्तव्यतासमाप्त्यर्थः ।

अगर आप कहें शंका की निवृत्ति हो जायगी, यह भी ठीक नहीं । क्यों कि अदृश्य वक्ता की जो शङ्का बनी रहती है, उसको हटाने के लिए कोई उपाय नहीं है । ऐसा कोई निमित्त नहीं मिलता, जिस द्वारा शंका निवृत्त की जा सके ।

अतीन्द्रियार्थदर्शी होने की आशङ्का मिटाने का उपाय न होने का कारण यह है कि उपाय तो यही है कि,—'ऐसा अतीन्द्रिय पिशाचादि वक्ता यहां कोई नहीं है' इस प्रकार उस अदृश्य पिशाचादि अर्थ को देख सकने के स्वभाव वाला कोई अतीन्द्रियद्रष्टा पुरुष मिल जाए, उसीसे यह निश्चय हो सके कि 'यह क्वचित् श्रवणगोचर होता हुआ शब्द पिशाचादि से उत्पन्न हुआ है, किंवा स्वतः आवाज करता सुनाई पड़ रहा है ।' अन्यथा ऐसे अतीन्द्रियद्रष्टा को छोड़कर दूसरा कोई सामान्य मनुष्य कैसे जान सकता है कि वहां कोई अदृश्य वक्ता नहीं हो है ? इससे अदृश्य वक्ता के अस्तित्व की शङ्का निवृत्त नहीं हो सकती । फलित यह हुआ कि शङ्का मिटाने वाला अगर न हो तो अदृश्य वक्ता सिद्ध होने से वचन अपौरुषेय सिद्ध नहीं होगा; और यदि मिटाने वाला है तब वह मिटाने वाला पुरुष अतीन्द्रियद्रष्टा सिद्ध होगा ।

कहिए'हां, अतीन्द्रियद्रष्टा सिद्ध हो,इससे क्या हानि है ?' तब उत्तर यह है कि''अतीन्द्रियद्रष्टा को स्वीकार लेने पर तो फिर अपौरुषेय वचन की कल्पना व्यर्थ है । क्यों कि वेद का कोई अतीन्द्रियद्रष्टा आप्त वक्ता पुरुष प्रमाणसिद्ध नहीं ही है इसी लिए तो आप अपौरुषेय वचन की कल्पना करते हैं तब फिर अतीन्द्रियवक्ता पुरुष है ऐसा कैसे कह सकते हैं ? अर्थात् अपौरुषेय वचन की कल्पना अतीन्द्रिय द्रष्टा न मानने वालों की ही सार्थक हो सकती है । उनके शास्त्र में कहा गया है कि 'अतीन्द्रिय पदार्थों' को साक्षात् देखने वाला कोई है ही नहीं । दरअसल तो जो नित्य वेदवचन से तत्त्व बोध करता है, वही प्रामाणिक ज्ञाता द्रष्टा है, वही मार्गदर्शन कर सकता है ।' इसलिए अदृश्य पिशाचादि वक्ता कोई नहीं है ऐसा निर्णय

(ल०—आपत्तिपरिहारः प्रवाहतोऽनादिता–) न, अनादित्वेऽपि पुरुषव्यापाराभावे वचनानुपपत्त्या तथात्वासिद्धेः। न चावचनपूर्वकत्वं कस्यचित्, तदादित्वेन तदनादित्वविरोधादिति। बीजाङ्कुरवदेतत् ततश्चानादित्वेऽपि प्रवाहतः सर्वज्ञाभूतभवनवद् वक्तृव्यापारपूर्वकत्वमेवाखिलवचनस्येति।

(पं०—)परपक्षमाशङ्क्योत्तरमाह 'न'=नैव, एतत् परोक्तम्। अत्र हेतुमाह 'अनादित्वेऽपि'=अविद्यमानाऽऽदिभावे, वचनस्य, 'पुरुषव्यापाराभावे'=वचनप्रवर्त्तकताल्वादिव्यापाराभावे, 'वचनानुपपत्त्या'=उक्तनिरुक्तवचनार्थायोगेन, 'तथात्वासिद्धेः'। पक्षान्तरमपि निरस्यन्नाह 'न च'=नैव, 'अवचनपूर्वकत्वं' परोपन्यस्तं, 'कस्यचिद्' भगवतः। कुत इत्याह 'तदादित्वेन'=वचनपूर्वकत्वेन, 'तदनादित्वविरोधात्' 'तस्य=भगवतो, अनादित्वस्य=अवचनपूर्वकत्वाक्षिप्तस्य, विरोधात्=निराकरणादिति। परमार्थमाह 'बीजाङ्कुरवदेतत्'=यथा बीजादङ्कुरोऽङ्कुराद् बीजं तथा वचनादर्हन्नर्हतश्च वचनं प्रवर्त्तत इति। प्रकृतसिद्धिमाह 'ततश्च'=बीजाङ्कुरदृष्टान्ताच्च, 'अनादित्वेऽपि' वचनस्य, 'प्रवाहतः=परंपरामपेक्ष्य, 'सर्वज्ञाभूतभवनवद्', सर्वज्ञस्य ऋषभादिव्यक्तिरूपस्य प्रागभूतस्य भवनमिव, 'वक्तृव्यापारपूर्वकत्वमेवाखिलवचनस्य' लौकिकादिभेदभिन्नस्येति।

कराने वाला आप्त अतीन्द्रियद्रष्टा अगर मानना ही है, तब फिर वचन अपौरुषेय है यह कहना फिजूल है, तुच्छ है। उस आप्त से ही अतीन्द्रिय पदार्थों का बोध मिल जाएगा।

जैनमत में अपौरुषेय वचन होने का आक्षेपः—

अब अपौरुषेय वेदवचन मानने वाला आक्षेप करता है कि "केवल मुझे क्या, पौरुषेयवचनवादी आप जैनमतानुयायी को भी, परमार्थ से याने शुद्ध तात्पर्य से देखा जाए तो, अपौरुषेय ही वचन मान्य है, न कि पौरुषेय। कारण, समस्त ऋषभदेवादि सर्वज्ञ तीर्थंकर वचनपूर्वक ही मान्य है, अर्थात् वचन की आराधना से वे तीर्थंकर होते हैं, ऐसा माना गया है। यह इसलिए कि जैन शास्त्र कहता है 'तप्पुव्विया अरहया,' अर्थात् अरिहंतपन वचनपूर्वक ही होता है,—जब कभी कोई अरिहंत होता है वह अरिहंतपन का उपार्जन पूर्व में विद्यमान प्रवचन की उपासना करके ही करता है। शायद आप कहें 'ठीक है फिर भी अरिहंत का प्रवाह अनादि काल से चला आता है, तब उनसे उक्त वचन पौरुषेय क्यों नहीं? अपौरुषेय कहां से हुआ?' लेकिन देखिये अरिहंत अनादि काल से होते हुए भी वचन भी तो 'अरहया तप्पुव्विया' के हिसाब से अनादि होना सिद्ध होता है, फलतः वह अपौरुषेय साबित होता है। इसे अगर निषेध करें तो बाधक खड़ा होता है, अर्थात् अगर वचन को अनादि अपौरुषेय न माना जाए, तब तो यह आया कि किसी एक अरिहंत को पहले पहल वचन के प्रवर्तक मानना पड़ेगा। हां, तब ऐसा भी हो यह नहीं कह सकते हैं, क्योंकि वह आद्यवचन के प्रवर्तक अरिहंत स्वयं वचनपूर्वक नहीं हुए; और यह अवचनपूर्वकता 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः' इत्यादि आगम से विरुद्ध है; क्यों कि अवचनपूर्वक अर्थात् नित्य; वह अगर सत् है तब न्याय से कारणपूर्वक नहीं, 'सद् अकारणवत् नित्यम्' यह न्याय है, और यहां आगम कहता है कि चाहे अरिहंत का या दूसरों का मोक्ष जीवन्मोक्ष-विदेहमोक्ष-सम्यग्दर्शनादि कारणपूर्वक ही होता है। आद्य वचन के प्रवर्तक अरिहंत को खुद के लिए पूर्ववचन मिला नहीं तब वचनश्रद्धा स्वरूप सम्यग्दर्शन इत्यादि भी नहीं हुआ, और जीवन्मोक्ष हुआ, यह तो अपने ही आगम से विरुद्ध हुआ। फलतः अनादिशुद्ध ईश्वरवाद की आपत्ति अर्थात् अन्य मत वालों से मान्य अनादिशुद्ध सदाशिव आदि की तरह कोई अनादिशुद्ध अरिहंत होने का मत मानने की आपत्ति खड़ी होगी। यह तो आप लोगों को स्वीकार्य नहीं, इसलिए अरिहंतमात्र को अनादि अपौरुषेय वचन पूर्वक मानना दुर्निवार

(ल०–)'नन्वेवं सर्वज्ञ एवास्य वक्ता सदा, नान्यः, (अन्यथा) तदसाधुत्वप्रसङ्गाद् इति सोऽवचनपूर्वक एव कश्चिन्नीतितः ?' ननु 'बीजाङ्कुरवत्'-इत्यनेन प्रत्युक्तः परिभावनीयं तु यत्नतः।

(पं०–) 'ननु' इति पराक्षमायाम्, 'एवमि'ति पौरुषेयत्वे, 'सर्वज्ञ एव', 'अस्य'=वचनस्य, 'वक्ता'। 'सदा'=सर्वकालं, 'न', 'अन्यः'=तद्व्यतिरिक्तः। कुत इत्याह (अन्यथा) तदसाधुत्वप्रसङ्गात्', तस्य=वचनस्य, असाधुत्वप्रसङ्गाद्=अप्रामाण्यप्राप्तेः, वक्तृप्रामाण्याद्धि वचनप्रामाण्यम्, 'इति'=अस्माद्धेतोः, 'सः' सर्वज्ञः, 'अवचनपूर्वक एव कश्चित्' चिरतरकालातीतो, 'नीतितः'=अन्यथाऽपौरुषेयं वचनं स्यादिति नीतिमाश्रित्य, 'अभ्युपगन्तव्य' इति गम्यते। अत्रोत्तरं, 'ननु'=गितर्क्य, 'बीजाङ्कुरवदेतदित्यनेन' ग्रन्थेन, 'प्रत्युक्तं'=निराकृतमेतत् 'परिभावनीयं तु यत्नतः'; तत्र सम्यक्परिभाविते पुनरित्थमुपन्यासायोगात्।

है।" यह जैनमत पर आक्षेप का कथन समाप्त होता है।

जैनों के द्वारा आक्षेप का परिहारः—

अब परपक्ष के आक्षेप का परिहार करने के लिए उत्तर दिया जाता है; दूसरों का यह कथन ठीक नहीं है क्यों कि वचन का आदि भाव न होने पर भी, वचन के प्रवर्तक तालु आदि की क्रिया अगर न हो, तब वचन बन ही नहीं सकता। वचन की व्युत्पत्ति यह है कि जो बोला जाए वह वचन,—यह पहले कह चुके हैं। फलतः वचन अनादि अपौरुषेय सिद्ध नहीं हो सकता। पूर्वपक्ष में किये गये दूसरे आरोप का भी निवारण यह है कि आरोपित किया गया अवचनपूर्वकत्व किसी अरिहंत भगवान में हम मानते ही नहीं हैं, क्यों कि जब हमारा सिद्धान्त है कि 'अरहया तव्वुत्थिया'–अरिहंतमात्र वचनपूर्वक ही होते हैं, तब यह प्राप्त होता है कि कोई भी अरिहंत अनादि से अरिहंत नहीं होते हैं,वचनपूर्वकत्व का अवचनपूर्वकत्व के साथ एवं अवचनपूर्वकत्व से फलित अनादित्व के साथ विरोध है। वचनपूर्वकत्व से उन दोनों का निषेध हो जाता है।

प्र०—ठीक है अरिहंतमात्र वचनपूर्वक हो, तब तो इसका अर्थ यह हुआ कि अरिहंत-प्रयोजक वचन अनादि से चला आता है फलतः वह अपौरुषेय क्यों नहीं सिद्ध हुआ ?

उ०—रहस्य समझिए,–बीजाङ्कुर न्याय से वचन और अरिहंत का कार्यकारण-भाव है; अर्थात् जिस प्रकार बीज से अङ्कुर, उस अङ्कुर से बीज, उस बीज से अङ्कुर ...... ऐसी कारण कार्य-धारा अनादि काल से चली आती है, इस प्रकार वचन से अरिहंत, उस अरिहंत से वचन की प्रवृत्ति, उस वचन से अरिहंत, ... यह धारा अनादि काल से चली आती है, यहां धारा बतलाने में पहले वचन लिया इसका यह मतलब नहीं कि वह वचन अनादि का था; क्यों वह भी उसके पूर्व किसी अरिहंत से प्रवर्तमान हुआ था, और वह अरिहंत भी किसी पूर्व वचन से हुए थे। मतलब ऐसा कोई काल नहीं था कि जब वचन नहीं था, अनादि काल से उसकी परंपरा चली आती है। इस प्रकार बीजाङ्कुर के दृष्टान्त से वचन प्रवाह याने परंपरा की अपेक्षा से अनादि सिद्ध होते हुए भी, जैसे सर्वज्ञ पहले नहीं ऐसा पुरुष ही सर्वज्ञ होता है अर्थात् नया सर्वज्ञ बनता है, वैसे समस्त लौकिक लोकोत्तर प्रकार वाले वचन वक्ता की तालु आदि की क्रिया के प्रयत्न से नये ही उत्पन्न होने वाले होते हैं। अतः सिद्ध होता है कि वचन पौरुषेय ही हो सकता है।

प्र०–अरे! आप वचन को पौरुषेय कहते हैं तब तो उसका वक्ता सदा सर्वज्ञ ही होगा, अन्य कोई असर्वज्ञ नहीं! क्यों कि अन्यथा असर्वज्ञ से कथित होने से वह वचन अप्रमाण हो जाएगा। वक्ता प्रमाण-

(ल०–आगमवचनमर्थज्ञानशब्दत्रिरूपम्:–) तथार्थ-ज्ञान-शब्दरूपत्वादधिकृतवचनस्य शब्द-वचनापेक्षया नावचनपूर्वकत्वेऽपि कस्यचिद् दोषः, मरुदेव्यादीनां तथाश्रवणात्, वचनार्थप्रतिपत्तित एव तेषामपि तथात्वसिद्धेः तत्त्वतस्तत्पूर्वकत्वमिति।

(पं०–) न च जैनानां क्वचिदेकान्त इत्यपि प्रतिपादयन्नाह 'तथे'ति पक्षान्तरसमुच्चये, 'अर्थज्ञान-शब्दरूपत्वात्', अर्थः=सामायिकपरिणामादिः, ज्ञानं=तद्गतैव प्रतीतिः, शब्दो=वाचकध्वनिः, तद्रूपत्वात्=तत्त्वभावत्वात्, 'अधिकृतवचनस्य'=प्रकृतागमस्य। ततः 'शब्दवचनापेक्षया'=शब्दरूपं वचनमपेक्ष्य, 'न'=नैव, 'अवचनपूर्वकत्वेऽपि', 'कस्यचित्' 'सर्वदर्शिनो, 'दोषः' अनादिशुद्धवादापत्तिलक्षणः। समर्थकमाह 'मरुदेव्यादीनां'=प्रथमजिनजननीप्रभृतीनां स्वयमेव पक्वभव्यत्वानां, 'तथाश्रवणात्'=शब्दरूप-वचनानपेक्षयैव सर्वदर्शित्वश्रवणात्। अथ 'तप्पुव्विया अरहये'तिवचनं समर्थयन्नाह 'वचनार्थप्रतिपत्तित एव', वचनसाध्यसामायिकाद्यर्थस्य ज्ञानानुष्ठानलक्षणस्य; प्रतिपत्तित एव=अङ्गीकरणादेव, नान्यथा, 'तेषामपि' मरुदेव्यादीनाम्, 'अपि'शब्दादप्रमादीनां च, तथात्वसिद्धेः'=सर्वदर्शित्वसिद्धेः, 'तत्त्वतो'=निश्चयवृत्त्या, न तु व्यवहारतोऽपि, 'तत्पूर्वकत्वं'=वचनपूर्वकत्वमिति।

भूत हो तभी वचन प्रमाणभूत हो सकता है। इस लिए अब वह कोई बहुत पूर्व भूतकालवर्ती वक्ता सर्वज्ञ वचनपूर्वक नहीं है यह न्यायमार्ग से स्वीकार करना होगा; न्याय यही कि उसको भी वचनपूर्वक मानने पर वचन अपौरुषेय होने की आपत्ति लगेगी।

उ०–ऐसा कहने के पूर्व जरा सोचिए कि बीजाङ्कुर-दृष्टान्त ले कर वचन-सर्वज्ञ की अनादि धारा पूर्व जो कही गई, इससे यह आपका सर्वज्ञ अवचनपूर्वक होने का आरोप खण्डित हो जाता है। इस पर ठीक परामर्श कीजिए। ठीक परामर्श करने पर फिर ऐसा उपन्यास नहीं किया जा सकता।

आगमवचनं त्रिरूप अर्थ-ज्ञान-शब्द रूपः–

अब जैनों को कहीं एकान्त स्वीकार्य नहीं है यह बतलाया जाता है। यह इस प्रकार, कि अगर अवचनपूर्वक सर्वज्ञ का भी पक्ष लें तब भी यह कह सकते हैं कि अर्थ, ज्ञान एवं शब्द, इन तीन स्वरूप प्रस्तुत वचन याने आगमवचनों में से, कोइ सर्वज्ञ,शब्दात्मक आगमवचन पूर्वक न हो,ऐसा भी बनता है। तब भी अनादिशुद्ध ईश्वर मान लिया ऐसी आपत्ति नहीं है। यहां देखिए, आगमवचन के तीन स्वरूप हैं, अर्थ-आगम, ज्ञान-आगम और शब्द-आगम। आगम सामायिक-परिणति आदि का अर्थात् पापत्याग की प्रतिज्ञा स्वरूप आत्मपरिणति आदि पदार्थों का उपदेश करता है, तो वे पदार्थ ही 'अर्थ-आगम' हैं। वैसे आगमोक्त पदार्थ का ज्ञान 'ज्ञान-आगम' है। एवं आगम के शब्द यानी उन अर्थों की वाचक ध्वनि 'शब्द-आगम' कहलाती है। इन तीन में से शब्द-वचन पूर्वक न होने की दृष्टि से अवचनपूर्वक भी कोई सर्वज्ञ होते हैं। इसके समर्थक दृष्टान्त है प्रथमजिनपति श्री ऋषभदेव प्रभु की माता मरुदेवी आदि, जिनका भव्यत्व स्वत. पक्व हो जाने से वे शब्दात्मक आगम न पाए हुए भी सर्वज्ञ बन गए ऐसा सुना जाता है।

प्र०–अगर वे अवचनपूर्वक सर्वज्ञ हुए, तब 'अरहया तप्पुव्विया' का अर्थात् सर्वज्ञ वचनपूर्वक ही होता है इस प्रकार का नियम कहां रहा?

उ०–नियम तो बना ही रहा। क्यों कि हम कह आये हैं कि आगमवचन से साध्य सामायिकादि पदार्थ अर्थात् ज्ञानयुक्त अनुष्ठान भी अर्थ-आगम हैं, शब्दात्मक आगम की तरह आगमवचन ही है;

(ल०-वचनं विना कथमर्थप्राप्तिः ?-) भवति च विशिष्टक्षयोपशमादितो मार्गानुसारिबुद्धेर्वचनमन्तरेणापि तदर्थप्रतिपत्तिः, क्वचित् तथादर्शनात्, संवादसिद्धेः। एवं च व्यक्त्यपेक्षया नाऽनादिशुद्धवादापत्तिः सर्वस्य तथा तत्पूर्वकत्वात्; प्रवाहतस्त्विष्यत एव; इति न ममापि तत्त्वतोऽपौरुषेयमेव वचनमिति प्रपञ्चितमेतदन्यत्रेति नेह प्रयासः।

(पं०-) एतदेव भावयति 'भवति च विशिष्टक्षयोपशमादितः'=विशिष्टाद्दर्शनमोहनीयादिगोचरात् क्षयक्षयोपशमोपशमात्, 'मार्गानुसारिबुद्धेः'=सम्यग्दर्शनादिमोक्षमार्गानुयायिप्रज्ञस्य, 'वचनम्'=उक्तलक्षणम्, 'अन्तरेणापि'=विनापि, 'तदर्थप्रतिपत्तिः'=वचनार्थप्रतिपत्तिः। कुत इत्याह 'क्वचित्' प्रज्ञापनीये, 'तथादर्शनात्'=वचनार्थप्रतिपत्तिदर्शनात्। कुत इदमित्याह 'संवादसिद्धेः'=यदिदं त्वयोक्तं तन्मया स्वत एव ज्ञातमनुष्ठितं वेत्येवं प्रकृतार्थाव्यभिचारसिद्धेः। 'एवं च' वचनपौरुषेयत्वे, 'व्यक्त्यपेक्षया'=एकैकं सर्वदर्शिनमपेक्ष्य, 'नाऽनादिशुद्धवादापत्तिः'=न कश्चिदेकोऽनादिशुद्धः सर्वदर्शी वक्ता आपन्नः। कुत इत्याह 'सर्वस्य' सर्वदर्शिनः, 'तथा'=पूर्वोक्तप्रकारेण, 'तत्पूर्वकत्वात्'=वचनपूर्वकत्वात्। 'प्रवाहतस्तु'=परंपरामपेक्ष्य (पुनः), 'इष्यत एवा'नादिशुद्धः, प्रवाहस्यानादित्वाद्, 'इति'=एवं, 'न ममापि तत्त्वतोऽपौरुषेयं वचनं' यत् त्वया प्राक् प्रसञ्जितम्, 'इति'। 'प्रपञ्चितमेतद्', 'अन्यत्र'=सर्वज्ञसिद्ध्यादौ, ('इति'=अतः) 'नेह' 'प्रयासः'=प्रयत्नः।

उसका स्वीकार कर लेने से जो मरुदेवी आदि में भी सर्वज्ञता सिद्ध हुई, वह वचनपूर्वक ही हुई, यह निश्शक कह सकते हैं। शब्द-वचन मिलने के बाद भी ऋषभदेवादि को जो सर्वज्ञता सिद्ध होती है, वह भी इस ज्ञानानुष्ठान से ही होती है। तब मरुदेवी प्रमुख की सर्वज्ञता भले व्यवहार से वचनपूर्वक नहीं हुई, क्यों कि व्यवहार तो शब्दवचन को वचन कहता है, किन्तु निश्चयदृष्टि से वह वचनपूर्वक ही है; कारण निश्चयनय वचनसाध्य अर्थ को भी अर्थात्मक वचन मानता है।

सहज अर्थप्राप्ति के हेतुः—

प्र०-शब्दवचन के विना भी अर्थप्राप्ति कैसे हो सकती है ?

उ०-कभी कहीं दर्शनमोहनीय, ज्ञानदर्शनावरण एवं अन्तराय कर्म के विशिष्ट क्षय, क्षयोपशम या उपशम स्वतः होने से सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्ग के अनुकूल प्रज्ञावाले पुरुष को शब्दात्मक वचन न मिलने पर भी तदुक्त सामायिकादि भाव की प्राप्ति हो जाती है, क्यों कि वैसा कहीं कहीं प्रज्ञापनीयता गुणवाले अर्थात् तत्त्वग्रहण के प्रति सरल भावुक हृदयवाले पुरुष में देखा जाता है। यह कैसे ? इस प्रकार, कि उसका संवाद मिलता है, अर्थात् 'जो आपने कहा, वह मैंने स्वतः जान लिया या आचरण कर दिया',-ऐसा प्रस्तुत पदार्थ का अव्यभिचार याने नियत संबन्ध सिद्ध होता है।

इस प्रकार वचन जब पौरुषेय सिद्ध हुआ, तब एकैक सर्वज्ञ को ले कर अनादिशुद्ध ईश्वरवाद सिद्ध नहीं हो सकता है, अर्थात् कोई एक अनादिशुद्ध सर्वज्ञ वक्ता प्राप्त नहीं है; कारण समस्त सर्वज्ञ पूर्वोक्त प्रकार से वचनपूर्वक ही होते हैं। हां, सर्वज्ञ की परंपरा को ले कर अनादिशुद्ध सर्वज्ञ मान्य है, क्यों कि वह परंपरा अनादि काल से चली आती है। भूत काल में कोई काल ऐसा नहीं था कि जब शुद्ध सर्वज्ञ नहीं थे;

(ल०—द्वितीयगाथाव्याख्या–) तदेवं श्रुतधर्म्मादिकराणां स्तुतिमभिधायाधुना श्रुतधर्म्म-स्याभिधित्सुराह,–'तमतिमिर' इत्यादि—

('तमतिमिरपडलविद्धंसणस्स,सुरगणनरिंदमहियस्स। सीमाधरस्स वंदे,पप्फोडियमोहजालस्स॥२॥')

अस्य व्याख्या,–**तमः**=अज्ञानं, तदेव **तिमिरं**, तमस्तिमिरम्। अथवा **तमः**=बद्धस्पृष्ट-निधत्तं ज्ञानावरणीयं, निकाचितं **तिमिरम्**। तस्य **पटलं**=वृन्दं, तमस्तिमिरपटलम्, तद् **विध्वं-सयति**=विनाशयतीति तमस्तिमिरपटलविध्वंसनः, तस्य। तथा चाज्ञाननिरासेनैवास्य प्रवृत्तिः। तथा, **सुरगणनरेन्द्रमहितस्य**; तथा ह्यागममहिमां(महिमानं)कुर्वन्त्येव सुरादयः। तथा, **सीमां**=मर्यादां धारयतीति **सीमाधरः**, तस्येति कर्म्मणि षष्ठी, तं वन्दे; तस्य वा यन्माहात्म्यं तद् वन्दे, अथवा तस्य वन्दे इति तद्वन्दनां करोमि; तथा ह्यागमवन्त एव मर्यादां धारयन्ति। किं-भूतस्य? **प्रकर्षेण स्फोटितं, मोहजालं**=मिथ्यात्वादि, येन स तथोच्यते, तस्य; तथा चास्मिन् सति विवेकिनो मोहजालं विलयमुपयात्येव।

अतः इस दृष्टि से अनादि शुद्ध सर्वज्ञ कह सकते हैं। इस प्रकार आप की(अन्य दर्शनियों की)तरह हमारे जैनों के यहां तत्त्व रूप से अपौरुषेय वचन नहीं है, जैसा कि आपके द्वारा हमारे प्रति आरोपित किया गया है। इस चर्चा का विस्तार 'सर्वज्ञसिद्धि' आदि ग्रन्थ में किया गया है। इसलिए अब यहां इसका प्रयत्न नहीं किया जाता है।

द्वितीयगाथा व्याख्याः–

श्रुतधर्म के आदिकर तीर्थंकर की स्तुति कर के ही श्रुतधर्म की स्तुति करनी चाहिए। इसलिए इस प्रकार उन तीर्थंकर की स्तुति कहने के बाद अब श्रुतधर्म की स्तुति कहने की इच्छा वाले स्तुतिकार यह द्वितीय गाथा कहते हैं,—

'तम-तिमिर-पडल-विद्धंसणस्स सुरगण-नरिंद-महियस्स।
सीमाधरस्स वंदे, पप्फोडियमोहजालस्स॥२॥'

अर्थात् अज्ञान स्वरूप अन्धकार के समूह का नाश करने वाले, देवसमूह एवं नरेन्द्रों से पूजित, तथा मोहजाल को जड़ से तोड देने वाले मर्यादायुक्त (श्रुतधर्म याने आगम) को मैं वन्दन करता हूँ। 'सीमाधर' का अर्थ 'मर्यादा में रखने वाला' भी होता है। श्रुत-आगम आत्मा को सचारित्र की मर्यादा में रखता है।

यहां 'तम' = अज्ञान, वही तत्त्व प्रकाश का आच्छादक होने से 'तिमिर' = अन्धकार रूप है। अथवा 'तम' = बद्ध, स्पृष्ट एवं निधत्त कर्म, और 'तिमिर' = निकाचित कर्म। (सूइयों का (१) रस्सी से समूह-बन्धन, (२) उनको कूट करके परस्पर संलग्न बन्धन, (३) तपा करके अन्योन्य चिपक जाय ऐसा मिलन, (४)पिघला करके समरस हो जाए ऐसा मिलन,—इन चार प्रकार के संबन्ध के दृष्टान्त से जीव के साथ कर्मों का बन्ध, स्पृष्टता, निधत्ति और निकाचना,—इन चार प्रकार का संबन्ध होता है। और यहां कर्म बद्ध, स्पृष्ट, निद्धत्त, एवं निकाचित कहे जाते हैं।) उन कर्म रूप तमतिमिर के 'पडल' = समूह के 'विद्धसणस्स' = विध्वंस करने वाले (श्रुतधर्म) को। इससे सूचित किया कि सीमाधर श्रुतधर्म की प्रकाशनप्रवृत्ति अज्ञान को हटा कर ही होती है। तथा 'सुरगणनरिंदमहियस्स' = देवसमूह एवं राजाओं

(ल०–तृतीयगाथाव्याख्या–) इत्थं श्रुतमभिवन्द्याधुना तस्यैव गुणोपदर्शनद्वारेणाप्रमादगोचरतां प्रतिपादयन्नाह,–'जाईजरामरण' इत्यादि—

'जाईजरामरणसोगपणासणस्स, कल्लाणपुक्खलविसालसुहावहस्स ।
को देवदाणवनरिंदगणच्चियस्स, धम्मस्स सारमुवलब्भ करे पमायं ॥३॥

अस्य व्याख्या,–जातिः=उत्पत्तिः, जरा वयोहानिलक्षणा, मरणं=प्राणनाशः, शोकः=मानसो दुःखविशेषः, जातिश्च जरा च मरणं च शोकश्चेति द्वन्द्वः । जातिजरामरणशोकान् प्रणाशयति=अपनयति जातिजरामरणशोकप्रणाशनः, तस्य । तथा च श्रुतधर्म्मोक्तानुष्ठानाज्जात्यादयः प्रणश्यन्त्येव; अनेन चास्यानर्थप्रतिघातित्वमाह । कल्यम्=आरोग्यं, कल्यमणतीति कल्याणं, कल्यं शब्दयतीत्यर्थः । पुष्कलं=संपूर्णम् । न च तदल्पं, किन्तु विशालं=विस्तीर्णं, सुखं प्रतीतं, कल्याणं पुष्कलं विशालं सुखम् आवहति=प्रापयति, कल्याणपुष्कलविशालसुखावहः, तस्य । तथा च श्रुतधर्म्मोक्तानुष्ठानादुक्तलक्षणमपवर्गसुखमवाप्यत एव । अनेन चास्य विशिष्टार्थप्रसाधकत्वमाह । कः प्राणी, देवदानवनरेन्द्रगणार्चितस्य श्रुतधर्म्मस्य, सारं=सामर्थ्यम् , उपलभ्य=दृष्ट्वा, विज्ञाय, कुर्यात् प्रमादं सेवेत ? सचेतसश्चारित्रधर्म्मे प्रमादः कर्तुं न युक्त इति हृदयम् ।

से पूजित (श्रुत) को । यह इस प्रकार कि आगम की महिमा देव आदि करते ही हैं । तथा,'सीमाधरस्स' = मर्यादा को जो धारण करता है उसको । यहां षष्ठी विभक्ति कर्म के अर्थ में दी गई है; इसलिए 'सीमाधरं वंदे'-प्रयोग के समान अर्थ होता है । 'वंदे' = मैं वन्दना करता हूँ । अथवा, सीमाधर का जो माहात्म्य, (माहात्म्य शब्द अध्याहार से लेना) उसको वन्दना करता हूँ । अथवा, 'सीमाधरस्स वंदे' = 'सीमाधरस्स वंदनं करेमि'—सीमाधर के प्रति वन्दना करता हूँ । यहां श्रुतधर्म को मर्यादाधर कहा, क्यों कि श्रुतधर्म याने आगमवान पुरुष ही मर्यादा को धारण करते हैं । ऐसे सीमाधर भी कैसे हैं ? तो कि, 'पप्फोडियमोहजाल' = अत्यन्त स्फोटित कर दिया जड़ से तोड़ दिया है मिथ्यात्वादि मोह के जाल को जिन्होंने, वैसे । मोहजाल का प्रध्वंस करने से वे 'पप्फोडियमोहजाल' कहे जाते हैं; और श्रुतधर्म होने पर विवेकी पुरुष का मोहजाल नष्ट हो ही जाता है ।

तृतीय गाथा की व्याख्या:—

इस प्रकार श्रुत को वन्दना कर अब उसी के गुणों के प्रदर्शन द्वारा 'उस श्रुत को प्रमाद का विषय बनाना उचित नहीं',—यह प्रतिपादन करने वाली तीसरी गाथा कही जाती है—

'जाई-जरा-मरण-सोग-पणासणस्स, कल्लाण-पुक्खलविसालसुहावहस्स ।
को देव-दाणव-नरिंद-गणच्चिअस्स धम्मस्स सारमुवलब्भ करे पमायं ॥३॥'

अर्थ—जन्म, जरा, मृत्यु और शोक के नाश करने वाले, कल्याण एवं बहुत विशाल सुख के उत्पादक, तथा देव, दानव और राजाओं के समूह से पूजित श्रुतधर्म की सामर्थ्य देख कर कौन (उसके सदुपयोग रूप सच्चारित्र में) प्रमाद करे ?

(ल०—) आह, "सुरगणनरेन्द्रमहितस्ये'त्युक्तं,पुनर्देवदानवनरेन्द्रगणार्चितस्येति किमर्थम् ?" उच्यते,—प्रस्तुतभावान्वयफलतन्निगमनत्वाददोषः, तस्यैवंगुणस्य धर्म्मस्य सारं सामर्थ्यमुपलभ्य कः सकर्णः प्रमादी भवेच्चारित्रधर्म्मे इति ।

(पं०—) 'प्रस्तुतभावान्वयफलतन्निगमनत्वादि' ति, प्रस्तुतभावस्य सुरगणनरेन्द्रमहितः श्रुतधर्म्मो भगवानित्येवंलक्षणस्य, अन्वयः=अनुवृत्तिः, स एव फलं=साध्यं यस्य तत्तथा, तस्य=प्रावचनस्य, निगमनं=समर्थनं पश्चात् कर्मधारयसमासे भावप्रत्यये च प्रस्तुतभावान्वयफलतन्निगमनत्वं देवदानवनरेन्द्रगणार्चितस्येति यत् तस्मादिति ।

इसकी व्याख्याः—

'जाई' = जन्म, 'जरा' = वय की हानि, 'मरण' = प्राण का नाश, 'सोग' = शोक, मानसिक दुःख-विशेष, 'पणासणस्स' = अत्यन्त नाश करने वाले (श्रुतधर्म का) जाइ, जरा, मरण और सोग शब्दों का द्वन्द्व समास होकर सामासिक शब्द बना 'जाइजरामरणसोग' उसका 'पणासण' = अत्यन्त नाश करने वाला। इस पर विशेष्य 'धम्मस्स' शब्द के अनुसार षष्ठी विभक्ति लगने से 'जाइ ......पणासणस्स' पद बना। श्रुतधर्म का यह विशेषण इसलिए दिया कि श्रुत से फरमाए हुए का पालन करने से जन्म-जरा-मृत्यु एवं शोक नष्ट हो जाते हैं। इससे श्रुत की अनर्थ-घातकता सूचित की जाती है।

'कल्लाण....'—'कल्ल' = कल्य, अर्थात् आरोग्य, उसको जो बुलाता है, वह है कल्लाण = कल्याण। 'पुक्खलविसालसुह' = संपूर्ण, वह भी अल्प नहीं किन्तु विशाल विस्तृत सुख। उसको जो चारों ओर से वहन करता है वह कल्लाणपुक्खलविसालसुहावह हुआ। ऐसे श्रुतधर्म का। श्रुतधर्म से कथित मार्ग का पालन करने से उक्त संपूर्ण विस्तृत मोक्षसुख प्राप्त होता ही है। इससे श्रुतधर्म में विशिष्ट इष्ट की साधकता है यह सूचित किया गया।

'को' = कौन जीव, ऐसे व 'देवदाणवनरिंदगणच्चिअस्स' = देव, दानव, एवं राजाओं के समूह से पूजित, 'धम्मस्स = श्रुतधर्म के, 'सारं'=सामर्थ्य को 'उवलब्भ' = देख कर याने जान कर 'करे पमायं' = प्रमाद का सेवन करे? तात्पर्य, समझदार पुरुष को श्रुतोक्त चारित्र धर्म में प्रमाद करना उचित नहीं।

प्र०—दूसरी गाथा में श्रुत का 'सुरगणनरिंदमहियस्स' ऐसा विशेषण तो दिया गया है, अब यहां उसी अर्थ का द्योतक 'देवदाणवनरिंदगणच्चिअस्स' ऐसा विशेषण पुनः क्यों दिया जाता है?

उ०—यह इसलिए देते हैं कि सूचित करना है कि 'सुरगणनरेन्द्र से भगवान श्रुतधर्म पूजित है' यह जो प्रस्तुत भाव, उसकी अनुवृत्ति याने पुनरावृत्ति स्वरूप साध्य वाला एवं पूर्वोक्त वचन का निगमन अर्थात् समर्थन वाला 'देवदाणवनरिंदगणच्चिय' यह विशेषण है। इस विशेषण से श्रुतधर्म में उसी देवादि की पूजितता का पुनरावर्तन सूचित होता है, साथ ही पूर्वोक्त 'सुरगण - इत्यादि वचन का समर्थन किया जाता है। तात्पर्य श्रुतधर्म देवादि से बार बार पूजित है इसका सूचन, और अनर्थ के नाशक एवं अर्थ (इष्ट) के साधक होने की वजह से श्रुतधर्म ठीक ही देवादि-पूजित है ऐसा समर्थन किया जाता है। इसलिये 'देवदाणव ...' विशेषण लगाने में कोई दोष नहीं है। ऐसे गुणसंपन्न श्रुतधर्म की सामर्थ्य जान कर कौन बुद्धिमान श्रुत के सदुपयोग यानि श्रुतकथित चारित्र धर्म में प्रमादी होगा?

चतुर्थ गाथा की व्याख्याः—

अब जिनमत की वन्दना कर श्रुतधर्म की प्रार्थना की जाती है,—

(ल०–तृतीयगाथाव्याख्या–) इत्थं श्रुतमभिवन्द्याधुना तस्यैव गुणोपदर्शनद्वारेणाप्रमादगोचरतां प्रतिपादयन्नाह,–'जाईजरामरण' इत्यादि—

'जाईजरामरणसोगपणासणस्स, कल्लाणपुक्खलविसालसुहावहस्स ।
को देवदाणवनरिंदगणच्चियस्स, धम्मस्स सारमुवलब्भ करे पमायं ॥३॥

अस्य व्याख्या,–जातिः=उत्पत्तिः, जरा वयोहानिलक्षणा, मरणं=प्राणनाशः, शोकः=मानसो दुःखविशेषः, जातिश्च जरा च मरणं च शोकश्चेति द्वन्द्वः । जातिजरामरणशोकान् प्रणाशयति=अपनयति जातिजरामरणशोकप्रणाशनः, तस्य । तथा च श्रुतधर्मोक्तानुष्ठानाज्जात्यादयः प्रणश्यन्त्येव; अनेन चास्यानर्थप्रतिघातित्वमाह । कल्यम्=आरोग्यं, कल्यमणतीति कल्याणं, कल्यं शब्दयतीत्यर्थः । पुष्कलं=संपूर्णम् । न च तदल्पं, किन्तु विशालं=विस्तीर्णं, सुखं प्रतीतं, कल्याणं पुष्कलं विशालं सुखम् आवहति=प्रापयति, कल्याणपुष्कलविशालसुखावहः, तस्य । तथा च श्रुतधर्मोक्तानुष्ठानादुक्तलक्षणमपवर्गसुखमवाप्यत एव । अनेन चास्य विशिष्टार्थप्रसाधकत्वमाह । कः प्राणी, देवदानवनरेन्द्रगणार्चितस्य श्रुतधर्मस्य, सारं=सामर्थ्यम् , उपलभ्य=दृष्ट्वा, विज्ञाय, कुर्यात् प्रमादं सेवेत ? सचेतसश्चारित्रधर्मे प्रमादः कर्तुं न युक्त इति हृदयम् ।

से पूजित (श्रुत) को । यह इस प्रकार कि आगम की महिमा देव आदि करते ही हैं। तथा,'सीमाधरस्स' = मर्यादा को जो धारण करता है उसको । यहां षष्ठी विभक्ति कर्म के अर्थ में दी गई है; इसलिए 'सीमाधरं वंदे'-प्रयोग के समान अर्थ होता है। 'वंदे' = मैं वन्दना करता हूँ। अथवा, सीमाधर का जो माहात्म्य, (माहात्म्य शब्द अध्याहार से लेना) उसको वन्दना करता हूँ। अथवा, 'सीमाधरस्स वंदे' = 'सीमाधरस्स वंदन करेमि'—सीमाधर के प्रति वन्दना करता हूँ। यहां श्रुतधर्म को मर्यादाधर कहा, क्यों कि श्रुतधर्म याने आगमप्रधान पुरुष ही मर्यादा को धारण करते हैं। ऐसे सीमाधर भी कैसे हैं ? तो कि, 'पप्फोडियमोहजाल' = अत्यन्त स्फोटित कर दिया जड़ से तोड़ दिया है मिथ्यात्वादि मोह के जाल को जिन्होंने, वैसे । मोहजाल का प्रध्वंस करने से वे 'पप्फोडियमोहजाल' कहे जाते हैं; और श्रुतधर्म होने पर विवेकी पुरुष का मोहजाल नष्ट हो ही जाता है।

तृतीय गाथा की व्याख्याः—

इस प्रकार श्रुत को वन्दना कर अब उसी के गुणों के प्रदर्शन द्वारा 'उस श्रुत को प्रमाद का विषय बनाना उचित नहीं',—यह प्रतिपादन करने वाली तीसरी गाथा कही जाती है—

'जाई-जरा-मरण-सोग-पणासणस्स, कल्लाण-पुक्खलविसालसुहावहस्स ।
को देव-दाणव-नरिंद-गणचिअस्स धम्मस्स सारमुवलब्भ करे पमायं ॥३॥'

अर्थ—जन्म, जरा, मृत्यु और शोक के नाश करने वाले, कल्याण एवं बहुत विशाल सुख के उत्पादक, तथा देव, दानव और राजाओं के समूह से पूजित श्रुतधर्म की सामर्थ्य देख कर कौन (उसके सदुपयोग रूप सच्चारित्र में) प्रमाद करे ?

(ल०—) आह, "सुरगणनरेन्द्रमहितस्ये'त्युक्तं,पुनर्देवदानवनरेन्द्रगणार्चितस्येति किमर्थम् ?" उच्यते,—प्रस्तुतभावान्वयफलतन्निगमनत्वाददोषः, तस्यैवंगुणस्य धर्म्मस्य सारं सामर्थ्यमुपलभ्य कः सकर्णः प्रमादी भवेच्चारित्रधर्म्म इति ।

(पं०—) 'प्रस्तुतभावान्वयफलतन्निगमनत्वादि' ति, प्रस्तुतभावस्य सुरगणनरेन्द्रमहितः श्रुतधर्म्मो भगवानित्येवंलक्षणस्य, अन्वयः=अनुवृत्तिः, स एव फलं=साध्यं यस्य तत्तथा, तस्य=प्रावचनस्य, निगमनं=समर्थनं पश्चात् कर्मधारयसमासे भावप्रत्यये च प्रस्तुतभावान्वयफलतन्निगमनत्वं देवदानवनरेन्द्रगणार्चितस्येति यत् तस्मादिति ।

इसकी व्याख्याः—

'जाई' = जन्म, 'जरा' = वय की हानि, 'मरण' = प्राण का नाश, 'सोग' = शोक, मानसिक दुःख-विशेष, 'पणासणस्स' = अत्यन्त नाश करने वाले (श्रुत-धर्म का) जाइ, जरा, मरण और सोग शब्दों का द्वन्द्व समास होकर सामासिक शब्द बना 'जाइजरामरणसोग'उसका'पणासण' = अत्यन्त नाश करने वाला। उस पर विशेष्य 'धम्मस्स' शब्द के अनुसार षष्ठी विभक्ति लगने से 'जाइ ......पणासणस्स' पद बना। श्रुतधर्म का यह विशेषण इसलिए दिया कि श्रुत से फरमाए हुए का पालन करने से जन्म-जरा-मृत्यु एवं शोक नष्ट हो जाते हैं। इससे श्रुत की अनर्थ-घातकता सूचित की जाती है।

'कल्लाण....'—'कल्ल' = कल्य, अर्थात् आरोग्य, उसको जो बुलाता है, वह है कल्लाण = कल्याण। 'पुक्खलविसालसुह' = संपूर्ण, वह भी अल्प नहीं किन्तु विशाल विस्तृत सुख। उसको जो चारों ओर से वहन करता है वह कल्लाणपुक्खलविसालसुहावह हुआ। ऐसे श्रुतधर्म का। श्रुतधर्म से कथित मार्ग का पालन करने से उक्त संपूर्ण विस्तृत मोक्षसुख प्राप्त होता ही है। इससे श्रुतधर्म में विशिष्ट इष्ट की साधकता है यह सूचित किया गया।

'को' = कौन जीव, ऐसे व 'देवदाणवनरिंदगणच्चिअस्स' = देव, दानव, एवं राजाओं के समूह से पूजित, 'धम्मस्स = श्रुतधर्म के, 'सारं'=सामर्थ्य को 'उवलब्भ' = देख कर याने जान कर 'करे पमायं' = प्रमाद का सेवन करे? तात्पर्य, समझदार पुरुष को श्रुतोक्त चारित्र धर्म में प्रमाद करना उचित नहीं।

प्र०—दूसरी गाथा में श्रुत का 'सुरगणनरिंदमहियस्स' ऐसा विशेषण तो दिया गया है, अब यहां उसी अर्थ का द्योतक 'देवदाणवनरिंदगणच्चिअस्स' ऐसा विशेषण पुनः क्यों दिया जाता है?

उ०—यह इसलिए देते हैं कि सूचित करना है कि 'सुरगणनरेन्द्र से भगवान श्रुतधर्म पूजित है यह जो प्रस्तुत भाव, उसकी अनुवृत्ति याने पुनरावृत्ति स्वरूप साध्य वाला एवं पूर्वोक्त वचन का निगमन अर्थात् समर्थन वाला 'देवदाणवनरिंदगणच्चिय' यह विशेषण है। इस विशेषण से श्रुतधर्म में उसी देवादि की पूजितता का पुनरावर्तन सूचित होता है, साथ ही पूर्वोक्त 'सुरगण ..इत्यादि वचन का समर्थन किया जाता है। तात्पर्य श्रुतधर्म देवादि से बार बार पूजित है इसका सूचन, और अनर्थ के नाशक एवं अर्थ (इष्ट) के साधक होने की वजह से श्रुतधर्म ठीक ही देवादि-पूजित है ऐसा समर्थन किया जाता है। इसलिये 'देवदाणव ...' विशेषण लगाने में कोई दोष नहीं है। ऐसे गुणसंपन्न श्रुतधर्म की सामर्थ्य जान कर कौन बुद्धिमान श्रुत के सदुपयोग यानि श्रुतकथित चारित्र धर्म में प्रमादी होगा?

चतुर्थ गाथा की व्याख्याः—

अब जिनमत को वन्दना कर श्रुतधर्म की प्रार्थना की जाती है,—

(ल०–चतुर्थगाथाव्याख्या–) यतश्चैवमत 'आह–'सिद्धे भो ! पय(ओ)' इत्यादि—

('सिद्धे भो ! पयओ नमो जिणमए नन्दी सया संजमे, देवंनागसुवण्णकिन्नरगणस्सब्भूअभावच्चिए । लोगो जत्थ पइट्ठिओ जगमिणं तेलो(प्र०-लु)क्कमच्चासुरं, धम्मोवड्ढउ सासओ विजयओ धम्मुत्तरं वड्ढउ।४)

अस्य व्याख्या,–सिद्धे=प्रतिष्ठिते,प्रख्याते । तत्र सिद्धः फलाव्यभिचारेण, प्रतिष्ठितः सकलनयव्याप्तेः, प्रख्यातस्त्रिकोटीपरिशुद्धत्वेन । भो इत्येतदतिशयिनामामन्त्रणं 'पश्यन्तु भवन्तः', प्रयतोऽहं, यथाशक्त्येतावन्तं कालं, प्रकर्षेण यतः । इत्थं परसाक्षिकं प्रयतो भूत्वा पुनर्नमस्करोति । नमो जिनमते, सुपां सुपो भवन्तीति चतुर्थ्यर्थे सप्तमी, नमो जिनमताय । तथा चास्मिन् सति जिनमते नन्दिः समृद्धिः, सदा=सर्वकालं, क्व ? संयमे=चारित्रे । तथा चोक्तं 'पढमं नाणं तओ दये'त्यादि । किंभूते संयमे ? देवनागसुवर्ण(प्र०...सुपर्ण)किन्नरगणैः सद्भूतभावेनार्चिते । तथा च संयमवन्तोऽर्च्यन्त एव देवादिभिः । किंभूते जिनमते ? लोकनं लोकः=ज्ञानमेव, स यत्र प्रतिष्ठितः, तथा जगदिदं ज्ञेयतया । केचिन्मनुष्यलोकमेव जगन्मन्यन्त । इत्यत आह त्रैलोक्यं मनुष्यासुरम् आधाराधेयरूपमित्यर्थः । अयमित्थंभूतः श्रुतधर्मो वर्धतां=वृद्धिमुपयातु,शाश्वतम् इति क्रियाविशेषणमेतद् शाश्वतं वर्द्धतामित्यप्रच्युत्येति भावना विजयतो (प्र०...विजयताम्) अनर्थप्रवृत्तपरप्रवादिविजयेनेति हृदयम् । तथा धर्मोत्तरं=चारित्रधर्मोत्तरं वर्द्धताम् ।

('सिद्धे भो ! पयओ नमो जिणमए नन्दी सया संजमे, देवंनागसुवण्णकिन्नरगणस्सब्भूअभावच्चिए । लोगो जत्थ पइट्ठिओ जगमिणं तेलो(प्र०-लु)क्कमच्चासुरं,धम्मोवड्ढउ सासओ विजयओ धम्मुत्तरं वड्ढउ।४)

अर्थः—हे (अतिशयज्ञानी ! देखिए) मैं प्रतिष्ठित जिनमत में अत्यन्त प्रयत्न वाला हो उसको नमस्कार करता हूँ । (जिनमत होने से) देव-नागदेवता-सुवर्ण(सुपर्ण)कुमार-किन्नर के समूह से सद्भाव से पूजित संयम में सदा समृद्धि होती है । जिनमत में ज्ञान प्रतिष्ठित है और यह जगत त्रैलोक्य मनुष्य असुर आदि (ज्ञेयरूप से) रहे हुँ, ऐसा (जिनमत यानी) श्रुतधर्म (अन्य वादी पर विजय (करने) द्वारा सतत वृद्धि प्राप्त करे, चारित्रधर्म के बाद (भी) बढ़े ।

जिनमत सिद्ध प्रतिष्ठित एवं प्रख्यात कैसे ?:–

व्याख्याः— 'सिद्ध' = प्रतिष्ठित, प्रख्यात जिनोक्त श्रुतधर्म में । यहां जो कहा कि जिनोक्त श्रुतधर्म याने जिनमत 'सिद्ध' है इसका कारण यह है कि उसका फल अवश्यंभावी है, जिनमत कथित या जिनमत साध्य फल अवश्य होता है । एव जिनमत 'प्रतिष्ठित' होने का कारण यह, कि यह समस्त नय अर्थात् द्रव्यार्थिकनय-पर्यायार्थिकनय, ज्ञाननय-क्रियानय-शब्दनय-अर्थनय, निश्चयनय-व्यवहारनय, इत्यादि सकल नयों से व्याप्त है, इसलिए उसको अप्रतिष्ठित, चलित, स्खलित, भ्रष्ट, प्रमाणबाधित होने का कोई सभव नहीं है । एव जिनमत 'प्रख्यात' होने का कारण यह, कि वह त्रिकोटी-परिशुद्ध है इसलिए तीनों लोक में विख्यात है ।

'भो' शब्द आमन्त्रणवाची-संबोधनवाची है, यहां अतिशयज्ञानी को संबोधित किया गया,– 'हे अतिशय ज्ञानी भगवंत ! मैं सिद्ध जिनमत में प्रयत हूँ'; 'प्रयत'=यथाशक्ति इतने काल तक अत्यन्त प्रयत्नशील ।

इस प्रकार अन्यों की साक्षी में प्रयत्न हो साधक पुनः जिनमत को नमस्कार करता है,—'नमो जिणमए' = मैं जिनमत को प्रणाम करता हूँ। यहां प्राकृत भाषा की 'सुपां सुपो भवन्ति'—एक विभक्ति के स्थान में दूसरी विभक्ति होती है' इस शैली से 'जिणमयस्स' के स्थान में 'जिणमए' ऐसा सप्तमी विभक्ति वाला पद दिया गया है; लेकिन अर्थ षष्ठी का है।

जगत में जब यह जिनमत है तभी 'नंदी सया संजमे' = समृद्धि, आबादी, उत्कर्ष, 'सया' = सर्व काल, हमेशा, कहां ? 'संयमे' = चारित्र में अहिंसादि व्रतों के पालन में होती है। कहा गया है कि 'पढमं नाणं तओ दया' दया और सयम ज्ञानपूर्वक ही हो सकता है; जिनमत से यथार्थ ज्ञान मिलता है इसलिये उससे संयम-समृद्धि होना युक्तियुक्त है।

किस प्रकार के संयम में ? तो कि 'देवंनाग....भावच्चिए'.—'देव'अर्थात् वैमानिक-ज्योतिष्क देव, 'नाग-सुवण्ण' अर्थात् नागकुमार, सुवर्णकुमार आदि भवनपति देव,'किन्नर' अर्थात् किन्नर गंधर्व आदि व्यंतर देव, उन चारों निकाय के देवों के गए से, समूह से 'सब्भूअभावच्चिए' = जूठे, मायावी एवं पौद्‌गलिक आशंसायुक्त भाव से नहीं किन्तु सद्भूत अर्थात् यथार्थ सच्चे शुद्ध भाव से'अच्चिए' = अर्चित, पूजित, ऐसा संयम है। संयम वाले पुरुष देवों से पूजित होते ही हैं, यह संयम ही पूजित हुआ।

अब जिनमत कैसा ? तो कि 'लोगो जत्थ पइट्ठिओ .. मच्चासुरं', 'लोगो' = लोकन, अवलोकन अर्थात् अज्ञान नहीं किन्तु ज्ञान ही जहां प्रतिष्ठित है, रहा हुआ है, तथा, 'जगमिणं'=यह सारा विश्व ज्ञेय विषय रूप से प्रतिष्ठित है, अर्थात् जिनमत से समस्त लोकालोक कथित हैं। कितनेक मत वाले मात्र मनुष्य लोक को ही जगत मानते हैं इस की असत्यता सूचित करने के लिए कहा 'तेलोक्क-मच्चासुरं' = तीनों लोक, मनुष्य लोक, असुर लोक इत्यादि अधो, मध्य एवं ऊर्ध्व लोक जिनमत में वर्णित हैं। मनुष्य लोक आकाश में निराधार नहीं रहा है किन्तु असुर यानी पाताललोक उसका आधार है और वह आधेय है, दोनों आधार-आधेय रूप हैं। अथवा कहिए,जिनमत में तीनों लोक प्रतिपादित हैं, तब जिनमत आधार हुआ, और मनुष्य असुर सहित त्रैलोक्य प्रतिपाद्य रूप से आधेय हुआ।

'धम्मो वड्ढउ'... इस प्रकार का यह श्रुतधर्म (जिनमत) वृद्धि को प्राप्त करे, अर्थात् मेरी आत्मा में बढ़ता रहे, या जगत में अधिकाधिक प्रसरता रहे। वह बढ़ना-प्रसरना भी कभी कभी नहीं किन्तु 'सासओ' = शाश्वत रूप से अर्थात् स्खलित-नष्ट हुए बिना। वह भी 'विजयओ' = विजय द्वारा; तात्पर्य, जगत में अनर्थ-प्रवृत्त याने लोगों का अहित करने में प्रवर्तमान परदर्शन वालों को पराजित कर-निरुत्तर कर, विजय प्राप्त करने द्वारा। यहां 'सासओ' शब्द 'वड्ढउ' के साथ क्रिया-विशेषण पद है, प्राकृत शैली से लिङ्ग-व्यत्यास होने के कारण 'सासयं' के स्थान में सासओ बना है। स्तुतिकार पुनः प्रणिधान व्यक्त करते हैं 'धम्मुत्तरं वड्ढउ' अर्थात् यह श्रुतधर्म चारित्रधर्म प्राप्त होने के बाद भी बढ़े। श्रुतधर्म से ही चारित्रधर्म प्राप्त होता है, लेकिन चारित्र लेने के अनन्तर भी श्रुतधर्म की वृद्धि आवश्यक है यह सूचित किया।

प्रतिदिन ज्ञानवृद्धि का कर्तव्यः—

यहां 'धम्मो वड्ढउ' कह कर पुनः 'धम्मुत्तरं वड्ढउ' पद कहा, इससे श्रुत धर्म की पुनः वृद्धि होने की आशंसा व्यक्त की इससे यह बतलाया है कि मोक्षाभिलाषी जीव को यह आवश्यक है कि वह प्रतिदिन सम्यग्ज्ञान की वृद्धि करे।

तीर्थंकर-नामकर्म नाम की पुण्य प्रकृति के उपार्जन में कारणभूत अर्हद्-वात्सल्यादि बीस उपायों के अन्तर्गत एक उपाय अपूर्वज्ञान-ग्रहण अर्थात् नित्य नवीन ज्ञान की प्राप्ति रूप फरमाया है। नित्य

(ल०—श्रुतवृद्धयाशंसा निराशंसभावहेतुः—) पुनर्वृद्धयभिधानं 'मोक्षार्थिना प्रत्यहं ज्ञानवृद्धिः कार्ये'ति प्रदर्शनार्थं ; तथा च तीर्थकरनामकर्महेतून् प्रतिपादयतोक्तम् 'अपुव्वनाणगहणे' इति । प्रणिधानमेतद् ,अनाशंसाभावबीजं,मोक्षप्रतिबन्धेन । अप्रतिबन्ध एष प्रतिबन्धः,असङ्गफलसंवेदनात् ।

(पं०—) 'प्रणिधाने'त्यादि, प्रणिधानम् = आशंसा; एतच्छ्रुतधर्मवृद्धयभिलषणं, कीदृगित्याह 'अनाशंसाभावबीजं', अनाशंसा=सर्व्वेच्छोपरमः, सैव भावः=पर्यायः, तस्य बीजं=कारणं, कथमित्याह 'मोक्षप्रतिबन्धेन' मोक्षप्रतिबद्धं हीदं प्रार्थनं, स चानिच्छारूपः । नन्वप्रतिबन्धसाध्यो मोक्षः, कथमित्थमपि तत्र प्रतिबन्धः श्रेयान् ? इत्याह 'अप्रतिबन्धः'=अप्रतिबन्धसदृशः, 'एषः'=मोक्षविषयप्रतिबन्धः प्रार्थनारूपः । कुत इत्याह 'असङ्गफलसंवेदनात्', असङ्गस्य=रागद्वेषमोहाद्यविषयीकृतस्य, फलस्य=आशंसनीयस्य; संवेदनात्=अनुभवात् । अनीदृशफलालम्बनं हि प्रणिधानं प्रतिबन्धः; परमपुरुषार्थलाभोपघातित्वात् ।

नये नये ज्ञान की वृद्धि द्वारा त्रैलोक्योपकारक तीर्थंकर नामकर्म प्राप्त होता है ।

यह आशंसा उपादेय क्यों ?

प्र०—यहां श्रुतधर्म वृद्धि की आशंसा क्यों व्यक्त की गई ? आशंसा तो मुमुक्षु के लिए वर्ज्य है ।

उ०—'धम्मो वड्ढउ' 'धम्मुत्तरं वड्ढउ'—इस कथन से प्रदर्शित श्रुतधर्मवृद्धि की अभिलाषा का करना यह प्रणिधान स्वरूप है और वह आशंसा रूप होता हुआ भी निराशंस-भाव का बीज है, यानी समस्त इच्छाओं से रहित होने का जो आत्मपर्याय, आत्मावस्था, उसको प्रगट करने में कारणभूत है। यह इसलिए कि यह श्रुतधर्मवृद्धि की प्रार्थना मोक्ष-प्रतिबद्ध है, मोक्ष के शुद्ध उद्देश से की जाती है। और मोक्ष क्या है ? समस्त रागादि-बन्धनों से मुक्ति, सर्व प्रकार के राग, आसक्ति, व अभिलाषाओं की निवृत्ति । इसके उद्देश से श्रुतधर्मवृद्धि की की जाने वाली प्रार्थना त्याज्य आशंसा रूप कैसे कही जा सकती ?

प्र०—ठीक है, लेकिन मोक्ष तो अप्रतिबन्ध यानी निराशंस भाव से साध्य है जब कि यहां तो मोक्ष की आशंसा हुई । यह कैसे श्रेयस्कर हो सकती है ?

उ०—मोक्ष की आशंसा सचमुच अनाशंसातुल्य है; इसका कारण यह है कि इसमें असंग यानी राग-द्वेष-मोहादि से पर ऐसी अभिलषणीय वस्तु का अनुभव होता है। इसलिए यह कोई दोष रूप आशंसा नहीं है। हां, जो सङ्गयुक्त है अर्थात् राग-द्वेष-मोहादि युक्त है, ऐसे इच्छित की आशंसा प्रतिबन्ध रूप है, अर्थात् दोषपूर्ण राग स्वरूप है क्यों कि वह परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति का घातक है। वह त्याज्य है। सांसारिक फल प्राप्त होने पर राग-द्वेष-मोहादि होता है, मोक्षफल प्राप्त होने पर कोई रागादि नहीं होता। इसलिए मोक्ष की आशंसा निराशंसभाव के समान है।

श्रुतधर्म वृद्धि से असङ्ग द्वारा मोक्षः—

प्र०—यहां किया गया प्रणिधान (श्रुतधर्म-प्रार्थना) निराशंसभाव का कारण ही है यह नियम कैसे ?

उ०—सर्वज्ञकथित श्रुतधर्म की उत्कृष्ट वृद्धि से निराशंसभाव स्वरूप मोक्ष निष्पन्न होता ही है, इसलिए वैसा नियम है। कारण पूछिए कि 'यहां भी इस प्रकार का फल होगा ही, ऐसा एकान्त नियम

(ल०—श्रुतवृद्धितोऽसङ्गेन मोक्षः—) यथोदितश्रुतधर्म्मवृद्धेर्मोक्षः, सिद्धत्वेन। नेह फले व्यभिचारः; असङ्गेन चैतत्फलं संवेद्यते। एवं च सद्भावारोपणात् तद्वृद्धिः।

(पं०—) ननु कथमयं नियमो यदुतेदं प्रणिधानमनाशंसाभावबीजम्? इत्याह 'यथोदितश्रुतधर्म्म-वृद्धेः'=सर्वज्ञोपज्ञश्रुतधर्म्मप्रकर्षात् 'मोक्षः' अनाशंसारूपो यतो भवतीति गम्यते। अत्रापि कथमेकान्तः? इत्याह 'सिद्धत्वेन'=श्रुतधर्मवृद्धेर्मोक्षं प्रत्यन्वयव्यतिरेकहेतुभावेन। इदमेव भावयति 'न'=नैव, 'इह'=मोक्षलक्षणे, 'फले' 'व्यभिचारो'=विसंवादः फलान्तरभावतो निष्फलतया वा श्रुतधर्मवृद्धेरिति। अस्यैवासङ्गत्वसिद्धयर्थ-माह 'असङ्गेन च'=रागद्वेषमोहलक्षणसङ्गाभावेन च, 'एतत्'=मोक्षफलं, 'संवेद्यते'=सर्वैरेव मुमुक्षुभिः प्रतीयत इति। इत्थं श्रुतधर्म्मवृद्धेः फलसिद्धिमभिधाय, अस्या एव हेतुसिद्धिमाह 'एवम्'=उक्त प्रकारेण, 'च:' पुनरर्थे भिन्नक्रमश्च, 'सद्भावारोपणात्'=श्रुतवृद्धिप्रार्थनारूपशुद्धपरिणामस्याङ्गीकरणात्, 'तद्वृद्धिः' च= श्रुतधर्म्मवृद्धिः पुनः, भवतीति गम्यते।

कैसे ?' कारण यह है कि श्रुतधर्म की वृद्धि मोक्ष के प्रति अवश्य कारण रूप से सिद्ध है। यह इसलिए, कि यहां मोक्ष स्वरूप फल होने में कोई विसंवाद नहीं है। विसंवाद या अनेकान्त तभी हो सकता है कि जब मोक्ष के स्थानमें कोई दूसरा फल होता अथवा बिल्कुल निष्फलता भी होती। लेकिन श्रुतधर्म की वृद्धि होने पर ऐसा नहीं होता है। इस मोक्षफल में असङ्गभाव होता है। इसमें प्रमाण यह है कि सभी मुमुक्षु -जीवों के द्वारा राग-द्वेष मोह रूप सङ्ग के अभावसे यानी असङ्गभाव से मोक्षफल का संवेदन किया जाता है।

श्रुतधर्म-वृद्धि का हेतु प्रार्थनाः—

इस प्रकार श्रुतधर्म-वृद्धि से होने वाली फलसिद्धि बतलाई गई; अब उसी श्रुतधर्म-वृद्धि की हेतु-सिद्धि कही जाती है, अर्थात् यह प्रदर्शित किया जाता है कि उसका क्या उपाय है ? ग्रन्थकार कहते हैं कि जैसे मोक्ष श्रुतधर्म की वृद्धि से होता है, वैसे श्रुतधर्म की वृद्धि उसकी प्रार्थना स्वरूप शुभ भाव के स्वीकार से होती है।

प्र०—प्रार्थना से इष्ट की वृद्धि कैसे ? इसमें शालिवृद्धि का दृष्टान्त क्या है ?

उ०—प्रार्थना में चित्त में प्रणिधान होता है, जैसे कि प्रस्तुत श्रुतस्तव पढने में श्रुतधर्मवृद्धि की आशंसा यानी प्रणिधान होता है; और यह एक अत्यन्त शुभ अध्यवसाय है। वह भी कैसा, कि जिस प्रकार छिलकायुक्त चावल याने शालि के बीज बोया जाने पर वह शालि को पैदा करता है, और बार बार बीजारोपण से फल की वृद्धि होती है; इसी प्रकार बार बार श्रुतस्तव पढ़ने से प्रादुर्भूत प्रार्थना का शुभ भाव इष्ट श्रुतधर्म की वृद्धि करता है। श्रुतधर्म वृद्धि की प्रार्थना के लिए दृष्टान्त रूप में देखा जाता है कि पुनः पुन. शालिबीज के आरोपण से, अर्थात् एक बार बीजारोपण किया, इससे शालि की फसल हुई, उसको पुनः बीजरूप से बोया गया, तो उसकी जो फसल हुई, उसको फिर से बोया गया, इस प्रकार बार बार करने से शालि की अच्छी वृद्धि होती है। इस तरह शालि वृद्धि की भांति यहां श्रुतस्तव में भी बार बार श्रुतधर्मवृद्धि की आशंसा प्रार्थना करते रहने से इष्ट श्रुतवृद्धि होती है।

(ल॰–बीजारोपणसमा प्रार्थना) शुभमेतदध्यवसानमत्यर्थं, शालिबीजारोपणवच्छालिहेतुः। दृष्टा ह्येवं पौनःपुन्येन तद्वृद्धिः एवमिहाप्यत इष्टवृद्धि(प्र॰....सिद्धि)रिति। एवं विवेकग्रहणमत्र जलम्।

(पं॰–) एतद्भावनायैवाह 'शुभं'=प्रशस्तम्, 'एतत्' पुनः पुनः श्रुतधर्मवृद्धयाशंसालक्षणम्, 'अध्यवसानं'=परिणामः, 'अत्यर्थम्'=अतीव, कीदृगित्याह– 'शालिबीजारोपणवत्'=शालिबीजस्य पुनः पुनः निक्षेपणमिव, 'शालिहेतुः'=शालिफलनिमित्तम्। एतदेव भावयति–'दृष्टा'=उपलब्धा, 'हि'=यस्माद्, 'एवं'=श्रुतधर्मवृद्धिप्रार्थनान्यायेन, 'पौनःपुन्येन' शालिबीजारोपणस्य वृद्धेः, तद्वृद्धिः'=शालिवृद्धिः। 'एवं'=शालिवृद्धिप्रकारेण, 'इहापि' श्रुतत्त्वे, 'अतः'=आशंसापौनःपुन्याद्, 'इष्टवृद्धिः'=श्रुतवृद्धिरिति। अथ शालिबीजारोपणदृष्टान्ताक्षिप्तं सहकारिकारणं जलमपि प्रतिपादयन्नाह–'अनन्तरोक्तप्रकारेण 'विवेकग्रहणं,' विवेकेन=सम्यगर्थविचारेण(प्र॰....र्थावधारणविचारेण), ग्रहणं=स्वीकारः श्रुतस्य, विवेकस्य वा ग्रहणं, तत्किमित्याह 'अत्र'=श्रुतशालिवृद्धौ, 'जलम्'=अम्भः।

(ल॰–विवेकमहत्त्वम्–) अतिगम्भीरोदार एष आशयः। अत एव संवेगामृतास्वादनम्। नाविज्ञातगुणे चिन्तामणौ यत्नः।

(पं॰–) अथ विवेकमेव स्तुवन्नाह–'अतिगम्भीरोदारः', अतिगम्भीरः=प्रभूतश्रुतावरणक्षयोपशमलभ्यत्वादल्पनुपानः, उदारश्च सकलसुखसाधकत्वाद्, 'एषः'=विवेकरूपः,'आशयः'=परिणामः। 'अत एव'=विवेकादेव, न तु सूत्रमात्रादपि,'संवेगामृतास्वादनं', संवेगो=धर्माद्यनुरागो, यदुक्तम्–"तथ्ये धर्मे ध्वस्तहिंसाप्रबन्धे, देवे रागद्वेषमोहादिमुक्ते। साधौ सर्वग्रन्थसन्दर्भहीने, संवेगोऽसौ निश्चलो योऽनुरागः॥" स एव अमृतं=सुधा, तस्य आस्वादनम्=अनुभवः। ननु क्रियैव फलदा, न तु ज्ञानं, यथोक्तम्–"क्रियैव फलदा पुंसां, न ज्ञानं फलदं मतम्। यतः स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञो न ज्ञानात् सुखितो भवेत्॥' इति किं विवेकग्रहणेन? इत्याशङ्क्य व्यतिरेकतोऽर्थान्तरोपन्यासेनाह–'न'=नैव 'अविज्ञातगुणे'=अनीर्णितज्वराद्युपशमस्वभावे, चिन्तामणौ'=चिन्तारत्ने, 'यत्नः' तदुचित पूजाद्यनुष्ठानलक्षणः। यथा हि चिन्तामणौ ज्ञातगुण एव यत्नस्तथा श्रुतेऽपीति ज्ञानपूर्विकैव फलवती क्रियेति।

प्रार्थना बीज के साथ जल क्या ?:—

यहां यह ध्यान रहे कि जिस प्रकार शालिबीजारोपण के दृष्टान्त में सहकारी कारण जल स्वीकृत ही है, इस प्रकार श्रुतवृद्धि की प्रार्थना से श्रुतवृद्धि होने के लिए जल के स्थानमें विवेक पूर्वक श्रुतस्वीकार प्राप्त ही है। विवेक यह श्रुत के सम्यग् अवधारण या चिंतन स्वरूप है। इससे पता चलता है कि सम्यग् अर्थविचार पूर्वक श्रुतग्रहण या श्रुत के सम्यग् अर्थविचार का स्वीकार, यह सहकारी कारण हुआ, और श्रुतवृद्धि की प्रार्थना बीज हुई। इससे श्रुतवृद्धि होती है। जल के बिना शालिवृद्धि नहीं होती है, इसका यह अर्थ नहीं कि शालिबीजारोपण कम महत्त्व का है। इसी प्रकार विवेक पूर्वक श्रुतग्रहण के बिना श्रुतवृद्धि नहीं होती है, इसका अर्थ यह नहीं कि श्रुतवृद्धि की प्रार्थना का कम महत्त्व है; प्रार्थना का तो विशिष्ट महत्त्व है; श्रुतस्वरूप शालि की वृद्धि में श्रुतवृद्धि प्रार्थना बीजारोपणतुल्य है, और विवेक पूर्वक श्रुतग्रहण यह जल के समान है।

(ल०–) न चान्यथाऽतोऽपि समीहितसिद्धिः । प्रकटमिदं प्रेक्षापूर्वकारिणाम्, एकान्ताविषयो गोयोनिवर्गस्य ।

(पं०–) ननु चिन्तामणिश्चिन्तामणित्वादेव समीहितफलः स्यात्, किं तत्रोक्तयत्नेन ? इत्याह–'न च'=नैव, 'अन्यथा'=अज्ञातगुणत्वेन यत्नाभावे, 'अतोऽपि'=चिन्तामणेरपि, आस्तां श्रुतज्ञानात् 'समीहितसिद्धिः'=प्रार्थितपरमैश्वर्यादिसिद्धिः । इदमेव भावयन्नाह-'प्रकटमिदं'=प्रत्यक्षमेतत्, 'प्रेक्षापूर्वकारिणाम्'=बुद्धिमतां प्रेक्षाचक्षुषो विषयत्वाद् यदुत, ज्ञानपूर्वः सर्वो यत्नः समीहितसिद्धिफलः । व्यतिरेकमाह 'एकान्ताविषयः'=सदाप्यसंवेद्यत्वात्, 'गोयोनिवर्गस्य'=बलीवर्दसमपृथग्जनस्य ।

विवेक का महत्त्व, चिन्तामणि का दृष्टान्तः–

यह विवेक यानी सम्यग् अर्थविचार अति गम्भीर एवं उदार एक आत्मपरिणाम है;– अतिगंभीर इसलिए कि यह श्रुतावरणकर्म के बहुत क्षयोपशम द्वारा लभ्य होने से गहरा है, अति उदार इसलिए कि यह सफल सुखलाभ का संपादक है । केवल सूत्रमात्र से नहीं, किन्तु इसके सम्यग् अर्थविचार से ही संवेगसुधा का अनुभव होता है । संवेग यह धर्म एवं देवाधिदेव और गुरु के प्रति अनुराग स्वरूप है, और यह मृत्यु से परे अमर पद देने की सामर्थ्य वाला होने से अमृत स्वरूप है । कहा गया है कि,–'हिंसा के प्रतिपादन से रहित ऐसा धर्म, राग-द्वेष मोह आदि से मुक्त ऐसे देव, एवं समस्त बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह के प्रबन्ध से रहित ऐसे निर्ग्रन्थ मुनि के प्रति जो निश्चल अनुराग है वह संवेग कहा जाता है । ऐसा संवेग सम्यग् अर्थज्ञान का फल है । सम्यग् अर्थज्ञान से संवेग होता है ।

प्र०–फलदायी तो क्रिया होती है, ज्ञान नहीं । कहा गया है कि—'क्रियैव फलदा पुंसां, न ज्ञानं फलदं मतम्' क्योंकि स्त्री, भोजन अन्य भोगों को सिर्फ जानता हुआ पुरुष इसके ज्ञान मात्र से सुख नहीं पाता है; आनन्द तो उसको भोगने की क्रिया करे तभी आता है· तब फिर यहां भी विवेक पूर्वक श्रुत-ग्रहण मात्र से ही क्या लाभ ?

उ०–ज्ञान के द्वारा ही क्रिया सम्यग् रूप से हो सकती है, और फल देती है । यह सत्य व्यतिरेक रूप से अर्थात् निषेधमुख से एक दूसरे पदार्थ के दृष्टान्त द्वारा देखिए;—जिसे चिन्तामणि के ज्वरादिउपशमन-स्वभाव का ज्ञान नहीं है, वह पुरुष उसकी उचित पूजा उपासनादि क्रिया में प्रवृत्त नहीं होता है । चिन्तामणि के गुण का ज्ञान होने पर ही उसमें पूजादि प्रयत्न होता है । इसी प्रकार श्रुत यानी सूत्र-शास्त्र के विषय में भी ज्ञान पूर्वक ही सम्यक् क्रिया लब्धावकाश एवं सफल होती है ।

चिन्तामणि भी स्वरूपतः फलदायी नहीं:—

अगर कहें 'चिन्तामणि चिन्तामणि है, इसीलिए उससे मनोवांछित की सिद्धि होती है, तो फिर वहां उक्त गुणपरिचय, पूजादियत्न करने की क्या आवश्यकता है ?' इसका उत्तर यह है कि चिन्तामणि के दृष्टान्त में भी उसका गुणपरिचय किये विना और पूजादिप्रयत्न न होने पर उससे भी इच्छित परम ऐश्वर्य आदि की सिद्धि नहीं होती है, तब फिर श्रुत की तो बात ही क्या ?

ज्ञानपूर्वक ही सभी प्रयत्न वाञ्छित फल का साधक हो सकता है,–यह तत्व बुद्धिमानों को

(ल०—इतरयोगशास्त्रप्रमाणानिः–) परमगर्भ एष योगशास्त्राणाम् । अभिहितमिदं तैस्तैश्चारुशब्दैः,—'मोक्षाध्वदुर्गग्रहणमि'ति कैश्चित् ; 'तमोग्रन्थिभेदानन्द' इति चान्यैः, 'गुहान्धकारालोककल्पम'परैः; 'भवोदधिद्वीपस्थान' चान्यैरिति ।

(पं०–) पुनः कीदृगित्याह 'परमगर्भः=परमरहस्यम्, 'एषः' विवेकः, 'योगशास्त्राणां' षष्टितन्त्रादीनाम् । कुतः ? यत. 'अभिहितम्', 'इदं' विवेकवस्तु; 'तैस्तैः'=वक्ष्यमाणैः, 'चारुशब्दैः'=सत्योदारार्थध्वनिभिः, 'मोक्षाध्वे'त्यादि । प्रतीतार्थं वचनचतुष्कमपि, नवरं'मोक्षाध्वदुर्गग्रहण'मिति–यथा हि कस्यचित् क्वचिन्मार्गे तस्कराद्युपद्रवे दुर्गग्रहणमेव परित्राणं, तथा मोक्षाध्वनि रागादिस्तेनोपद्रवे विवेकग्रहणमिति ।

प्रत्यक्ष है, क्यों कि वह बुद्धि स्वरूप चक्षु का विषय है, बुद्धिचक्षु से उसका साक्षात्कार होता है। उल्टे रूप से देखें तो बैल जैसे पामर लोगों को यह सदैव ही अप्रत्यक्ष है । उनकी वैसी बुद्धिशक्ति न होने से यह तत्त्व उनसे समझा जाना अशक्य है ।

विवेक में अन्य योगशास्त्रों के प्रमाणः—

जिस प्रकार पामरों से बुद्धिग्राह्य नहीं है, यह एक विशेषता है, वैसे ही यह विवेक और भी कैसा है ? यह षष्टितन्त्रादि योगशास्त्रों का परम रहस्य है। क्यों कि उन उन शास्त्रों के द्वारा सुचारु अर्थात् सत्य एवं उदार अर्थ वाले शब्दों से कहा गया है , जैसे कि कितनेक शास्त्र से कहा गया कि (१) 'मोक्षाध्वदुर्गग्रहणम्'-अर्थात् जिस प्रकार कहीं मार्ग में चोर आदि का उपद्रव आने पर किले का आश्रय लेना यही संरक्षण है, इस प्रकार मोक्षमार्ग में बीच में रागादि चोरों के उपद्रव आने पर विवेक-ग्रहण ही संरक्षण है। अन्य मतावलंबियो ने कहा है कि (२) 'तमोग्रन्थिभेदानन्द':—अर्थात् विवेक ग्रहण यह तमोग्रन्थि के याने अज्ञानस्वरूप निबिड अन्धकार के नाश से प्रादुर्भूत आनन्द रूप है । दूसरों ने कहा है कि (३) 'गुहान्धकारालोककल्पम्'–अर्थात् पर्वत की गुफा के अन्धकार को दूर करने वाले प्रकाश के समान विवेकग्रहण हृदय के अविवेक स्वरूप अन्धकार को हटाता है । और दार्शनिकों ने कहा है कि (४) 'भवोदधिद्वीपस्थानम्'—अर्थात् संसारसमुद्र में रागादि स्वरूप जलचर जन्तुओं से संरक्षण देने वाले द्वीप के समान विवेकग्रहण है । इसका अवलम्बन करने पर रागादि से बचा जाता है ।

महामिथ्यादृष्टि को श्रुत का अर्थज्ञान नहीं:—

प्र०—विवेकग्रहण तो श्रुतग्रहण के साथ संबद्ध ही है, तब फिर इसका श्रुत से अतिरिक्त विशेष रूप से ज्ञापन क्यों किया ?

उत्तर०—विवेकग्रहण का श्रुतग्रहण के साथ अवश्य संबन्ध का नियम कहां है ? क्यों कि महामिथ्यादृष्टि जीव याने एक पुद्गलपरावर्त काल से अधिक संसारकाल वाला जीव किसी प्रकार श्रुत (शास्त्र) का पाठ कर भी ले तब भी सम्यग् अर्थबोध के आवरण से पीडित होने की वजह श्रुत के यथार्थ अर्थबोध रूप विवेकग्रहण उसे नहीं होता। उदाहरणार्थ हम देखते हैं कि काव्यशास्त्र के शृंगार-हास्य-करुणा आदि रस एवं शब्दालङ्कार अर्थालङ्कार का अनभिज्ञ पुरुष रस-अलङ्कारगर्भित काव्य रट भी ले तब भी उसके भाव का बोध उसे नहीं होता है । इस प्रकार महामिथ्यादृष्टि को जब श्रुत के यथार्थ भाव का बोध नहीं अर्थात् विवेकग्रहण नहीं तब यह श्रुतग्रहण के साथ नियम कहां रहा ?

(ल०—महामिथ्यादृष्टेः श्रुतार्थाबोधः—) न चैतद् यथावदवबुध्यते महामिथ्यादृष्टिः, तद्भावाच्छादनात्, अहृदयवत्काव्यभावम्। तत्प्रवृत्त्याद्येव ह्यत्र सल्लिङ्गम्; तद्भाववृद्धिश्च काव्यभावज्ञवत्। अत एव हि महामिथ्यादृष्टेः प्राप्तिरप्यप्राप्तिः, तत्फलाभावात्, अभव्यचिन्तामणिप्राप्तिवत्।

(पं०—) आह 'श्रुतग्रहणनियतं विवेकग्रहणं,तत्किमस्मादस्य विशेषेण पृथग् ज्ञापनम्?'-इत्याशङ्क्याह 'न (न च)'=नैव,'एतत्'=श्रुतं,कथंचित्पाठेऽपि 'यथावद्'=यत्प्रकारार्थवद्,यादृशार्थमित्यर्थः,'अवबुध्यते'=जानीते, 'महामिथ्यादृष्टिः'=पुद्गलपरावर्ताधिकसंसारः, कथमित्याह 'तद्भावाच्छादनात्'=बोधभावावरणात्। दृष्टान्तमाह 'अहृदयवद्'=अव्युत्पन्न इव, 'काव्यभावमिति' = शृङ्गारादिरससूचकवचनरहस्यमिति। अतः कथं श्रुतमात्रनियतं विवेकग्रहणमिति? कुत इदमित्थमित्याह-'तत्प्रवृत्त्याद्येव', 'हिः'=यस्मात् तत्रावबुद्धे श्रुतार्थे प्रवृत्ति-विघ्नजय-सिद्धि-विनियोगा एव, न पुनः श्रुतार्थज्ञानमात्रम्, 'अत्र'=श्रुतार्थावबोधे,'सद्'=अव्यभिचारि, 'लिङ्गम्'=गमको हेतुः। किमेतावदेव? न इत्याह 'तद्भाववृद्धिश्च'=बोधभाववृद्धिश्च, 'काव्यभावज्ञवद्'= काव्यभावज्ञस्येव काव्ये इति दृष्टान्तः। 'अत एव'=यथावदनवबोधादेव, 'हिः'=स्फुटं, महामिथ्यादृष्टेः' उक्तलक्षणस्य, 'प्राप्तिः' अध्ययनादिरूपस्य श्रुतस्य, 'अप्राप्तिः'। कुत इत्याह 'तत्फलाभावाद्'=यथावदवबोधरूपफलाभावात्। किंवदित्याह 'अभव्यचिन्तामणिप्राप्तिवद्'—यथा हि अतिनिर्भाग्यतयाऽयोग्यस्य चिन्तामणिप्राप्तावपि तद्ज्ञानवत्त्वा(प्र०....ज्ञानयत्ना)भावान्न तत्फलं, तथा अस्य श्रुतप्राप्तावपीति।

प्र०—महामिथ्यादृष्टि को श्रुत का यथार्थ अर्थबोध नहीं होता है यह कैसे जाना जाय?

उ०—किसी को भी श्रुत का यथार्थ अर्थबोध हुआ है इसका ज्ञापक तो प्रवृत्ति है। ऐसे अनुमान में प्रवृत्ति आदि अव्यभिचारी हेतु है। अव्यभिचारी हेतु का मतलब जहां जहां यह प्रवृत्ति आदि हेतु दिखाई पड़े वहां वहां श्रुत का यथार्थ अर्थबोध विद्यमान है ही। यहां 'प्रवृत्ति आदि' कर के प्रवृत्ति, विघ्नजय, सिद्धि एवं विनियोग ग्राह्य है।

उदाहरणार्थ, अहिंसा-क्षमा-शुभध्यानादि के पालन में प्रयत्न, यह 'प्रवृत्ति' है। पालन के बीच विघ्न न हो, या हो तो उसका विजय कर पालन अखण्डित रहे, ऐसा प्रयत्न, यह 'विघ्नजय'। आत्मा में अहिंसकभाव, क्षमाभाव, ध्यानसहजता सिद्ध हो, आत्मसात् हो, यह 'सिद्धि'। दूसरों को अहिंसादि गुणों का दान अर्थात् अहिंसा-क्षमा-ध्यान-में प्रवर्तन यह 'विनियोग'।

अब देखिए कि ऐसी अहिंसादि की प्रवृत्ति वगैरह न हो वहां अहिंसादि के शास्त्र (श्रुत) का यथार्थ अर्थबोध हुआ कैसे कहा जाय? श्रुत का अर्थ प्रस्तुत में अहिंसादि है, उसका बोध यह प्रकाश है; इससे अहिंसादि का अन्धकार यानी हिंसादि का मिथ्याज्ञान दूर होता है। अगर यह अन्धकार दूर हुआ तब तो हिंसादि की प्रवृत्ति छोड़ कर अहिंसादि की प्रवृत्त्यादि अवश्य करेगा ही। अगर नहीं करता है तब मानना चाहिए कि श्रुत पढ़ तो लिया, लेकिन हृदय में प्रकाश प्रस्फुरित नहीं हुआ है; भले ही शास्त्रपंक्ति के अर्थ का ज्ञान मात्र हुआ हो। श्रुत के यथावत् बोध का ज्ञापक प्रवृत्ति आदि है, एवं बोधभाव की वृद्धि है; जैसे कि प्रवृत्त्यादि से बोधभाव बढ़ता रहे इससे निश्चित होता है कि श्रुत का यथार्थ अर्थबोध हुआ है।

(ल०–मिथ्यादृष्टेर्भावश्रुतयोग्यद्रव्यश्रुतप्राप्तिः–) मिथ्यादृष्टेस्तु भवेद् द्रव्यप्राप्तिः; साऽऽदरादिलिङ्गा अनाभोगवती; न त्वस्यास्थान एवाभिनिवेशः, भव्यत्वयोगात्; तच्चैवंलक्षणम् ।

(पं०–) भवतु नामैवं महामिथ्यादृष्टेः, मिथ्यादृष्टेस्तु का वार्त्ता ? इत्याह–'मिथ्यादृष्टेस्तु' धर्मबीजाधानार्हस्य, 'भवेत्'=स्यात्, 'द्रव्यप्राप्तिः'=भावश्रुतयोग्यद्रव्यश्रुतप्राप्तिः । कीदृग् इत्याह (प्र०.... स्यात् द्रव्यश्रुतप्राप्तिः ?) 'सा'–'आदरादिलिङ्गा'=आदरः करणे प्रीतिरित्यादिलिङ्गा, 'अनाभोगवती'=सम्यक् श्रुतार्थोपयोगरहिता । ननु मिथ्यादृष्टिमहामिथ्यादृष्ट्योरनाभोगावविशेषात् कः प्रतिविशेषः ? इत्याह–'न तु'=न पुनः 'अस्य'=मिथ्यादृष्टेः, 'अस्थान एव'=मोक्षपदप्रतिपन्थिन्येव भावे, 'अभिनिवेशः'=आग्रहः, स्थानाभिनिवेशस्यापि तस्य भावात् । कुत एवमित्याह-'भव्यत्वयोगात्'=भावश्रुतयोग्यत्वस्य भावात् । अस्थानाभिनिवेश एव हि तदभावात् (प्र०....तद्भावात्) अस्यैव हेतोः स्वरूपमाह 'तच्च'=तत्पुनर्भव्यत्वम्, 'एवंलक्षणम्'=अस्थाने स्थाने चाभिनिवेशस्वभावम्, इत्यनयोर्विशेषो ज्ञेयः ।

महामिथ्यादृष्टि को ऐसा कोई बोध न होने से सिद्ध होता है कि उसे श्रुत की प्राप्ति वास्तव में अप्राप्त ही है; उसका शास्त्राध्ययन वस्तुगत्या अध्ययन ही नहीं है क्यों कि यथावत् बोध रूप फल उसे होता ही नहीं । इसका दृष्टान्त है अयोग्य को चिन्तामणि रत्न की प्राप्ति । जिस प्रकार अति भाग्यहीनता के कारण बेचारे अयोग्य पुरुष को कदाचित् हो गई भी चिन्तामणि रत्न की प्राप्ति, उसका ज्ञान या ज्ञान का यत्न ही न होने से प्राप्ति ही नहीं है, क्यों कि चिन्तामणि की पहिचान एवं उपासना न होने से ऐसी महान प्राप्ति के अनुरूप फल उसे नहीं मिलता है, इस प्रकार महामिथ्यादृष्टि को श्रुताध्ययन प्राप्त होते हुए भी श्रुत का फल प्राप्त नहीं होता है ।

मिथ्यादृष्टि को द्रव्यश्रुतप्राप्ति स्थानास्थानरागः—

अचरमावर्ती जीव महामिथ्यादृष्टि की ऐसी स्थिति है; जब कि चरम (अन्तिम)पुद्गलपरावर्तकालवर्ती मिथ्यादृष्टि जीव जो धर्म बीजाधान के लिए योग्य है, उसे भावश्रुतयोग्य द्रव्यश्रुत की प्राप्ति होती है। भावश्रुत अर्थात् श्रुत का यथार्थ बोध तो सम्यग्दृष्टि जीव को ही भावतः प्राप्त होता है उसको लाने वाली द्रव्यत. श्रुतप्राप्ति धर्मबीजाधान योग्य मिथ्यादृष्टि को होती है ।

प्र०–भावश्रुतयोग्य द्रव्यश्रुतप्राप्ति कैसी होती है ?

उ०–योग्य द्रव्यश्रुतप्राप्ति आदरादि लक्षण वाली होती है। 'आदरः करणे प्रीतिरविघ्नः संपदागमः ।'—अर्थात् आदर,करने मे प्रीति, निर्विघ्नता, संपत्तियों का आगमन....इत्यादि लक्षणों से वह प्रधान द्रव्यश्रुतप्राप्ति हुई ऐसा अवगत होता है । ऐसे लक्षण होने पर भी वह भावश्रुतप्राप्ति नहीं किन्तु द्रव्यश्रुतप्राप्ति इसलिए कही जाती है कि वहां सम्यक् श्रुत के अर्थ का उपयोग यानी इसमें दत्तचित्तता नहीं है । शास्त्र कहता है 'अणुवओगो दव्वम्'–अनुपयोग, चित्त का अलक्ष, यह 'द्रव्य' है; 'उपयोग' यह भाव है । महामिथ्यादृष्टि को भी सम्यक्श्रुतार्थ-उपयोग से रहित अप्रधान द्रव्यश्रुत-प्राप्ति तो हो सकती है, फिर भी इसकी अपेक्षा धर्मबीजाधान-योग्य मिथ्यादृष्टि की प्राप्ति में इतनी विशेषता है कि उसे केवल अस्थान में आग्रह है ऐसा नहीं, सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र स्वरूप मोक्षमार्ग के केवल

(ल०—अनन्तशो द्रव्यश्रुतमूलकग्रैवेयकप्राप्तिः—)प्राप्तं चैतदभव्यैरप्यसकृत्, वचनप्रामाण्यात्। न च ततः किञ्चित्, प्रस्तुतफललेशस्याप्यसिद्धेः। परिभावनीयमेतदागमवचनानुसारेणेति। एवमन्येषामपि सूत्राणामर्थो वेदितव्य इति दिग्मात्रप्रदर्शनमेतत्।

(पं०—) महामिथ्यादृष्टेः प्राप्तिरप्यस्यासंभविनी, कुतस्तस्य फलचिन्ता? इत्याह-'प्राप्तं' = लब्धं, 'च' कारः उक्त(प्र०....अनुक्त)समुच्चये, 'एतत्' = श्रुतम्, 'अभव्यैरपि' = एकान्तमहामिथ्यादृष्टिभिः किं पुनरन्यमिथ्यादृष्टिभिः, 'असकृद्' = अनेकशः, कुत इत्याह 'वचनप्रामाण्यात्' = सर्वजीवानामनन्तशो ग्रैवेयकोपपातप्रज्ञापनाप्रामाण्यात्। एवं तर्हि तत्फलमपि तेषु भविष्यतीत्याह, 'न च' = नैव, 'ततः' = श्रुतप्राप्तेः, 'किञ्चित्' फलमिति गम्यते। कुत इत्याह 'प्रस्तुतफललेशस्यापि' = प्रकृतयथावद्बोधरूपफलांशस्यापि, आस्तां सर्वस्य, 'असिद्धेः' = अप्राप्तेः। तत्सिद्धावल्पकालेनैव सर्वमुक्तिप्राप्तिप्रसङ्गात्।

विरोधी भावों में ही आग्रह है ऐसा नहीं, किन्तु स्थान रूप मोक्षमार्ग के प्रति भी आग्रह है; तात्पर्य, उसे स्थान-अस्थान दोनों का राग है; क्योंकि उसमें भव्यत्व यानी भावश्रुत की योग्यता है।

प्र०—भावश्रुत की योग्यता है इसीलिए स्थान-अस्थान दोनों का आग्रह है,—ऐसा नियम क्यों?

उ०—यह नियम इसलिए है कि केवल अस्थान-आग्रह यानी मोक्षमार्ग-विरोधी भावों का ही आग्रह होने पर भावश्रुतयोग्यता होती ही नहीं है। भावश्रुतयोग्यता वस्तु ही ऐसी है कि यह केवल अस्थान आग्रह नहीं किन्तु स्थान, अस्थान दोनों के प्रति आग्रह कराती है। मोक्षमार्गविरोधी, तत्त्व के एकान्त आग्रह में से खिसक कर जीव जब मोक्षमार्ग के अनुकूल तत्त्व के भी राग में आता है अर्थात् उन तत्त्वों के प्रति आकर्षित होता है तभी भावश्रुत की योग्यता होती है। चरमावर्ती मिथ्यादृष्टि जीव में यह होने से स्थान, अस्थान दोनों का आग्रहसिद्ध है; लेकिन महामिथ्यादृष्टि में केवल अस्थान का आग्रह होता है—यह फर्क है।

अनन्तशः द्रव्यश्रुतप्राप्तिमूलक ग्रैवेयकस्वर्ग-प्राप्तिः—

महामिथ्यादृष्टि को भावश्रुतयोग्यता की प्राप्ति का भी होना असंभव है, तब फिर उस योग्यता के फलनिष्पादन न होने का तो पूछना ही क्या? कारण यह है कि अन्य मिथ्यादृष्टिओं की तो क्या बात किन्तु महामिथ्यादृष्टिओं को भी द्रव्यश्रुत यानी जिनागम का पठनमात्र एवं द्रव्यतः जैनचारित्रादि अनेक बार प्राप्त हैं फिर भी उन महामिथ्यादृष्टिओं को उस द्रव्यश्रुत की प्राप्ति का कुछ भी फल प्राप्त नहीं हुआ है; क्योंकि द्रव्यश्रुत के फल का प्रस्तुत एक अंश, श्रुतार्थ का यथावत् बोध भी उन्हें प्राप्त नहीं है; समस्त फल की बात तो दूर रही। अगर श्रुतार्थ का यथावत् बोध यानी भावश्रुत उन सभी मिथ्यादृष्टिओं को प्राप्त हुआ होता, तब तो अल्प काल में ही सभी को मुक्ति हो गई होती। लेकिन आज भी अगण्य जीव संसार में ही बंधे हुए दिखाई पड़ते हैं, इससे यह मानना अनिवार्य है कि उन्हें पुद्गलपरावर्त काल के पहले भावश्रुत की प्राप्ति ही नहीं हुई।

प्र०—अगर भावश्रुत प्राप्त नहीं था, तब द्रव्यश्रुत भी अनेकश: प्राप्त हुआ था यह भी कैसे कह सकते हैं?

(लं०–'सुयस्स भगवओ...'व्याख्या–)एवं प्रणिधानं कृत्वैतत्पूर्विका क्रिया फलायेति श्रुतस्य कायोत्सर्गसंपादनार्थं पठति पठन्ति वा 'सुयस्स भगवओ करेमि काउस्सग्गमि'त्यादि यावद् वोसिरामि। व्याख्या पूर्ववत्; नवरं 'श्रुतस्ये'ति=प्रवचनस्य सामायिकादिचतुर्दशपूर्वपर्यन्तस्य, 'भगवतः'=समग्रैश्वर्यादियुक्तस्य।

(श्रुतं सिद्धं त्रिधा–) सिद्धत्वेन समग्रैश्वर्यादियोगः। न ह्यतो विधिप्रवृत्तः फलेन वञ्च्यते; व्याप्ताश्च सर्वे (प्र०..दे) प्रवादा एतेन; विधिप्रतिषेधा-ऽनुष्ठान-पदार्थाविरोधेन च वर्त्तते।

(पं०–) सिद्धत्वेने'ति, सिद्धत्वेन फलाव्यभिचार-प्रतिष्ठितत्व-त्रिकोटिपरिशुद्धिभेदेन। इदमेव 'न ह्यतो विधिप्रवृत्त' इत्यादिना वाक्यत्रयेण यथाक्रमं भावयति; सुगमं चैतत्; नवरं 'विधिप्रतिषेधानुष्ठानपदार्थाविरोधेन च' इति, विधिप्रतिषेधयोः, कषरूपयोः, अनुष्ठानस्य छेदरूपस्य, पदार्थस्य च तापविषयस्य, अविरोधेन=पूर्वापराबाधया, वर्त्तते, 'च'कार उक्तसमुच्चयार्थः।

उ०—अनेकशः द्रव्यश्रुत की प्राप्त हुई थी, इसमें आगम का उपदेश प्रमाण है। आगम में सूचित किया है कि पृथ्वीकायादि व्यवहारराशि में रहे हुए प्रायः सर्व जीवों को ग्रैवेयक नाम के स्वर्ग में अनन्त बार जन्म प्राप्त हुआ है। ग्रैवेयक यह वैमानिक १२ देवलोक के ऊपर का स्वर्ग है। अब देखिए कि ग्रैवेयक में उत्पत्ति जैन चारित्र के बिना हो ही नहीं सकती; तब यह फलित होता है कि अनन्तशः ग्रैवेयकगमन के पूर्व अनन्तशः जैनचारित्र एवं श्रुत प्राप्त हुआ ही था। वह भी, मोक्ष न होने के कारण मोक्षदायी भावचारित्र एवं भावश्रुत स्वरूप नहीं था, अर्थात् द्रव्यचारित्र और द्रव्यश्रुत ही अनन्तश. प्राप्त हुआ था,—यह सिद्ध होता है।

बिना विवेक के श्रुत का कोई उपयोग नहीं, महामिथ्यादृष्टि के निष्फल द्रव्यश्रुत की अनन्तशः प्राप्ति, मिथ्यादृष्टि को भावश्रुतयोग्य द्रव्यश्रुत की प्राप्ति, श्रुतवृद्धि की प्रार्थना का महत्त्व, यह सब आगमज्ञ पुरुषों से आगम वचन के अनुसार गम्भीर रूप से विचारणीय है। इस प्रकार अन्य सूत्रों के वाक्यार्थ-रहस्यार्थ समझ लेने योग्य है। यहां जो विचारणा बतलाई गई है वह तो मात्र दिग्दर्शन है।

'सुयस्स भगवओ' की व्याख्याः—

'धम्मो वड्ढउ....धम्मुत्तरं वड्ढउ'–इस वचन से श्रुतवृद्धि का प्रणिधान करने के बाद अब श्रुत के कायोत्सर्ग के संपादनार्थ,

'सुयस्स भगवओ करेमि काउस्सग्गं'

से लेकर 'वंदणवत्तियाए....इत्यादि 'वोसिरामि' तक एक या अनेक साधक पढते हैं। 'धम्मुत्तरं वड्ढउ' के बाद यह पढने का रहस्य यह है कि क्रिया अगर प्रणिधान पूर्वक हो तो सफल होती है, इसलिए यहां श्रुतवृद्धि का प्रणिधान करके श्रुत-कायोत्सर्ग किया जाता है। 'करेमि काउस्सग्गं....वोसिरामि' की व्याख्या पूर्व के मुताबिक है; किन्तु 'सुयस्स भगवओ' की व्याख्या इस प्रकार है:—'सुयस्स' अर्थात् श्रुत का, प्रवचन का। प्रवचन यानी अर्हत्प्रवचन, वह प्राथमिक आवश्यकसूत्र के प्रथमाध्ययन 'करेमि भंते सामाइयं....' इस सामायिक सूत्र से ले कर 'चौदह पूर्व' नामक आगम पर्यन्त स्वरूप है। 'भगवओ' का अर्थ है समग्र ऐश्वर्यादियुक्त।

ध्रुव=अर्हत्प्रवचन तीन रूप से सिद्ध हैः—

अर्हत्प्रवचन समग्र ऐश्वर्यादियुक्त होने का कारण यह है कि वह इन तीन प्रकारों से प्रमाणित है,—१. फलावश्यंभाविता अर्थात् फल का अवश्य होना, २. प्रतिष्ठितता और ३. त्रिकोटि-परिशुद्धता। ललितविस्तराकार महर्षि इन तीन प्रकार की प्रमाणितताओं को क्रमशः इन तीन वाक्यों से प्रदर्शित करते हैं,:—

● (१)'न ह्यतो विधिप्रवृत्तः फलेन वञ्च्यते'—अर्थात् अर्हत्प्रवचन के आदेशानुसार विधिपूर्वक प्रवृत्ति करने वाला पुरुष प्रवचनोक्त फल से वञ्चित नहीं होता है, फल अवश्य पाता है। प्रवचनोक्त प्रवृत्तियों से तदुक्त फल का अचूक होना, यह 'सिद्ध प्रवचन' का सूचक है।

● (२) 'व्याप्ताश्च सर्वे प्रवादा एतेन',—अर्थात् विश्व के समस्त युक्तियुक्त मत अर्हत्प्रवचन से ही व्याप्त हैं। कारण, अन्य सभी मत एकान्तवादी हैं; इनमें से किसी भी मत से और मत व्याप्त नहीं हैं, क्यों कि एकपक्षीय मान्यता करने से दूसरे विरुद्धपक्षीय मान्यता वाले 'मत को वह व्याप' नहीं सकता; उदाहरणार्थ, एकान्त-क्षणिकवादी बौद्धमत, एकान्त नित्य आत्मादिवादी न्यायमत पर कैसे व्याप्त हो सके? लेकिन अर्हत्प्रवचन अनेकांतवादी होने से कथंचित् क्षणिकता एवं कथंचित् नित्यता आदि धर्मों का स्वीकार करने वाला होने से समस्त एकान्तवादी दर्शनों के युक्तियुक्त नयसंमत मतों को व्याप सकता है। तात्पर्य सर्व मत जैन मत के अंशभूत हैं ऐसा यह प्रतिष्ठित है। यह व्यापकता-प्रतिष्ठितता भी 'सिद्ध प्रवचन' की ज्ञापक है।

●(३) 'विधिप्रतिषेधा-ऽनुष्ठान-पदार्थाविरोधेन च वर्तते'—अर्थात् अर्हत्प्रवचन यह योग्य विधि-निषेध, तदनुकूल आचार-अनुष्ठान, एवं तत्संगत पदार्थ-व्यवस्था से युक्त होने का कारण विधिनिषेधादि तीनों में परस्पर अबाधितता रखता है। सुवर्ण के कष-छेद-ताप-परीक्षा की तरह ये विधिनिषेध शास्त्रों की परीक्षाविधि हैं। इन तीनों में पूर्वापर बाधा न हो तो शास्त्र त्रिकोटिपरिशुद्ध कहा जाता है। इसका विवेचन पहले किया गया है। जगत में एकमात्र अर्हत्प्रवचन ही त्रिकोटिपरिशुद्ध है।

त्रिविध परीक्षार्थ शास्त्रवचनयुगल के दृष्टान्तः—

अर्हत्प्रवचन में प्रतिपादित विधि-निषेध, अनुष्ठान-चर्या एवं पदार्थ-तत्त्व, इन तीनों में पूर्वापर बाध यानी विरोध नहीं है। अर्थात् विधि-निषेध पहले कुछ किया, और बाद में अनुष्ठान, चर्या, आचार इससे विरुद्ध कुछ के कुछ फरमाए गए, अथवा पदार्थतत्त्व का स्वरूप तथा व्यवस्था ही ऐसी स्थापित की गई जिससे विधि-निषेध या अनुष्ठान सङ्गत न हो सके;—ऐसी कोई भी पूर्वापरबाधा अर्हत्प्रवचन-विहित विधि-निषेध, अनुष्ठान, एव पदार्थ, इन तीनों में लेश भी नहीं है। यहां इनके दृष्टान्त रूप से अर्हत्प्रवचन का एक विधिवाक्य, एक निषेधवाक्य, इन दोनों से अविरुद्ध अनुष्ठान-वाक्य, एवं अविरुद्ध पदार्थवाक्य,—इस प्रकार विधिनिषेध, अनुष्ठान और पदार्थ, तीनों के प्रत्येक के दो दो उदाहरणभूत वाक्य बतलाए जाते हैं।

विधिवाक्यः—'स्वर्गकेवलार्थिना तपोध्यानादि कर्तव्यम्'—अर्थात्, स्वर्ग यानी सद्गति के अर्थी द्वारा तप, परमात्मपूजन आदि और मोक्ष के अभिलाषी द्वारा ध्यान-शास्त्राध्ययन इत्यादि 'किये जाने' योग्य हैं, कर्तव्य है।

(ल०—त्रिकोटिवाक्यानि—) (१) 'स्वर्गकेवलार्थिना तपोध्यानादि कर्त्तव्यम्'; 'सर्वे जीवा न हन्तव्या' इतिवचनात्; (२) 'समितिगुप्तिशुद्धा क्रिया असपत्नो योग' इतिवचनात्; (३) 'उत्पादविगमध्रौव्ययुक्तं सत्, एकद्रव्यमनन्तपर्यायमर्थः' इतिवचनादिति।

कायोत्सर्गप्रपञ्चः प्राग्वत्, तथैव च स्तुतिः, यदि परं श्रुतस्य, समानजातीयत्वं हकत्वात्। अनुभवसिद्धमेतत् तज्ज्ञानां;चलति समाधिरन्यथेति प्रकटम्। ऐतिह्यं चैतदेवमतो न बाधनीयम्। इति व्याख्यातं 'पुष्करवरद्वीपार्द्धे' इत्यादिसूत्रम्॥

(पं०—) अमुमेवाविरोधं त्रिकोटिपरिशुद्धिलक्षणं द्वाभ्यां वचनाभ्यां दर्शयति 'स्वर्गे'त्यादिना; सुगमं चैतत्, किन्तु स्वर्गार्थिना तपोदेवतापूजनादि, केवलार्थिना तु ध्यानाध्ययनादि कर्त्तव्यम्। 'असपत्नो योगः' इति, 'असपत्नः'=परस्पराविरोधी, स्वस्वकालानुष्ठानाद्, 'योगः'=स्वाध्यायादिसमाचारः। 'ऐतिह्यं चैतदि'ति=संप्रदायश्चायं यदुत तृतीया स्तुतिः श्रुतस्येति।

॥ इति श्रीमुनिचन्द्रसूरिविरचितायां ललितविस्तरापञ्जिकायां श्रुतस्तवः समाप्तः॥

निषेधवाक्य—'सर्व्वे जीवा न हन्तव्याः'—अर्थात् किसी भी जीव की हिंसा देवभक्ति आदि से पुण्यबन्ध होता है तो इसमे स्वर्ग मिलता है। ध्यान-अध्ययनादि के से मोक्ष प्राप्त होता है। और जीवहिंसा से दु[illegible]ती है। इसलिए ऐसे विधि-नि[illegible]

विधि से अविरुद्ध [illegible] अर्थात् स्वाध्यायादि परस्पर को बाध न पहुँचावे इस ढंग से [illegible] जानी चाहिए। [illegible] से, आवश्यक क्रिया ऐसे अकाल में करे या [illegible] लगावे कि [illegible] दे। ठीक काल में आवश्यक, एवं ठीक [illegible] परस्पर अध्ययनादि की विधि का पालन अबाधित [illegible] पालित नहीं होगी। जिस धर्म में ऐसे [illegible] न नें पर यदि जोर दिया है वहां विधि-पालन

इस प्रकार जीवहिंसा के निषेधवाक्य से अर्थात् सभी क्रिया पांच समिति एवं तीन गुप्ति के

(१) ईर्यासमिति = गमनागमन-उठना बैठना सोना,

(२) भाषासमिति = बोलने में मुखवस्त्रिका,

(३) एषणासमिति = आहार-पानी-उपकरण में ४२ दोष

(४) आदानभण्डमत्त निक्षेपणा समिति = पात्र-मात्रकादि मृदु रजोहरणादि से प्रमार्जन का उपयोग रखना, अहिंसार्थ,

(५) पारिष्ठापनिकासमिति = मल-मूत्रादि के

(१-३) मनोगुप्ति-वचनगुप्ति

देना अर्थात् ऐसे विचार वाणी और वर्तन करने से रुक जाना और निष्पाप, निर्दोष शुभ विचारादि में मग्न रहना। सभी क्रियाएं समिति-गुप्ति के संपूर्ण पालन का ध्यान रख कर की जाएं। ऐसा हो तभी मूल हिंसानिषेध के साथ आचार-अनुष्ठान का कुछ विरोध उपस्थित नहीं हुआ ऐसा कह सकते हैं। इस प्रकार,

● विधिनिषेध एवं अनुष्ठानवचन से अविरुद्ध पदार्थवर्णन,–'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्', 'एकं द्रव्यम् अनन्तपर्यायम् अर्थः'–अर्थात् सत् वही है जो उत्पत्ति, नाश और स्थैर्य से युक्त है। पदार्थ द्रव्यरूप है जो कि त्रिकाल-स्थिर आश्रयव्यक्ति रूपसे एक है और अनन्त पर्याय-युक्त है, अनन्तपर्यायात्मक है। पर्याय रूप से अनन्त है।

द्रव्य और पर्याय:—

वस्तु वस्तु में कई धर्म होते हैं, उन धर्मों की आधारभूत उस वस्तु को 'द्रव्य' कहते हैं, और उन धर्मों को पर्याय कहते हैं। विश्व में सत् पदार्थ मात्र उत्पत्ति-नाश-स्थैर्य, इन तीनों स्वभाव से युक्त होते हैं; क्यों कि सत् पदार्थ एकानेक रूप होता है, अपने में रहे हुए धर्मों के आश्रय रूप से एक, और आश्रित अनंत धर्म रूप से अनेक। धर्म, पर्याय, अवस्था, स्वतंत्र तो रह सकते नहीं, कहीं न कहीं आश्रित ही रहते हैं। धर्म जिसमें आश्रित है वह द्रव्य कहा जाता है, और धर्म स्वयं पर्याय कहे जाते हैं। ये धर्म भी द्रव्य में भेदाभेद सबन्ध से है, क्यों कि आश्रय द्रव्य से वे एकान्ततः भिन्न नहीं है, और एकान्ततः अभिन्न भी नहीं है, किन्तु भिन्नाभिन्न है–कथंचित् भिन्न, कथंचित् अभिन्न। उदाहरणार्थ शक्कर में मधुरता जो है वह आश्रयद्रव्य शक्कर से एकान्ततः भिन्न नहीं क्यों कि शक्करादि को छोड़कर मधुरता स्वतंत्र कहीं भी दिखाई नहीं पड़ती है, जो शक्कर है वही मधुरता है इसलिए वह अभिन्न माननी होगी एवं एकान्ततः अभिन्न भी नहीं क्यों कि (१) 'शक्कर' 'मधुरता' इस प्रकार नाम भिन्न भिन्न है, (२) ऐसे ही उनके कार्य भिन्न भिन्न होते हैं जैसे कि शक्कर का कार्य पानी में पिघल जाना; मधुरता का कार्य मधुर बनाना। (३) द्रव्य ठहरते हुए भी धर्म आते जाते है; एवं (४) दोनों की सख्या भिन्न भिन्न है, द्रव्य एक है, उसमें धर्म अनेक है। इसलिए वे भिन्न भी है। अब, एकैक द्रव्य मे अनन्त धर्म होते हैं और वे जब कथंचित् अभेद रूप से द्रव्य में रहे हैं तब अभेद का अर्थ द्रव्य ही खुद अनन्त धर्म स्वरूप हुआ। इन आश्रित धर्म पर्यायों की दृष्टि से वस्तु अनेक रूप है, और खुद आधार द्रव्य की दृष्टि से एक रूप है।

उत्पत्ति–विनाश–स्थैर्य:—

अब देखिए कि सत पदार्थ के दो अंश हुए, एक द्रव्य अंश, दूसरा पर्याय अंश। द्रव्यांश स्थिर होता है, पर्यायांश अस्थिर यानी उत्पत्ति विनाश वाला होता है। जीव में जीवत्व स्थिर अंश है, शाश्वत सनातन है; वह द्रव्यांश है। और जीव में मनुष्यत्व आदि पर्याय उत्पन्न एवं नष्ट होने वाले होते हैं। स्थैर्य, उत्पत्ति, एवं विनाश,-तीनों ही जीव मे है। वही जीव जीवरूप से कायम होता हुआ, पर्याय मनुष्यत्वादि रूप से उत्पन्न होता है, नष्ट होता है। कहते हैं 'जीव खुद ही मनुष्य हुआ, अब देव नहीं रहा'। अतः सार यह निकला कि सत् पदार्थ उत्पत्ति नाश-स्थैर्य से युक्त होता है।

अगर पदार्थ-व्यवस्था ऐसी हो, तभी विधि-निषेध एवं अनुष्ठान सगत हो सकते हैं। कारण, विधिपालन और निषेधत्याग के एवं अनुष्ठान के फल जीव यदि नित्यानित्य हो तभी संगत हो सकते हैं। जीव नित्य होने से, पालन और त्याग जिसने किया वही जीव फल पा सकता है; और अनित्य होने से फलभोग के लिए वही जीव अवस्था भेद पा सकता है। यदि जीव एकान्त रूप से नित्य ही हो तब तो कोई

(ल०-त्रिकोटिवाक्यानि—) (१) 'स्वर्गकेवलार्थिना तपोध्यानादि कर्त्तव्यम्'; 'सर्वे जीवा न हन्तव्या' इतिवचनात्; (२) 'समितिगुप्तिशुद्धा क्रिया असपत्नो योग' इतिवचनात्; (३) 'उत्पादविगमध्रौव्ययुक्तं सत्, एकद्रव्यमनन्तपर्यायमर्थ' इतिवचनादिति।

कायोत्सर्गप्रपञ्चः प्राग्वत्, तथैव च स्तुतिः, 'यदि परं श्रुतस्य, समानजातीयं ह्येतत्!' अनुभवसिद्धमेतत् तज्ज्ञानां;चलति समाधिरन्यथेति प्रकटम्। ऐतिह्यं चैतदेवमतो न बाधनीयम्। इति व्याख्यातं 'पुष्करवरद्वीपार्द्धे' इत्यादिसूत्रम् ॥

(पं०-) अनुमेवाविरोधं त्रिकोटिपरिशुद्धिलक्षणं द्वाभ्यां वचनाभ्यां दर्शयति 'स्वर्गे'त्यादिना; सुगमं चैतत्, किन्तु स्वर्गार्थिना तपोदेवतापूजनादि, केवलार्थिना तु ध्यानाध्ययनादि कर्त्तव्यम्। 'असपत्नो योगः' इति, 'असपत्नः'=परस्पराविरोधी, स्वस्वकालानुष्ठानाद्, 'योगः'=स्वाध्यायादिसमाचारः। 'ऐतिह्यं चैतदि'ति=संप्रदायश्चायं यदुत तृतीया स्तुतिः श्रुतस्येति।

॥ इति श्रीमुनिचन्द्रसूरिविरचितायां ललितविस्तरापञ्जिकायां श्रुतस्तवः समाप्तः ॥

निषेधवाक्य —'सव्वे जीवा न हन्तव्वा'—अर्थात् किसी भी जीव की हिंसा मत करना। (तप, देवभक्ति आदि से पुण्यबन्ध होता है तो इससे स्वर्ग मिलता है। ध्यान-अध्ययनादि के द्वारा कर्मक्षय होने से मोक्ष प्राप्त होता है। और जीवहिंसा से दुर्गति मिलती है। इसलिए ऐसे विधि-निषेध फरमाये।)

विधि से अविरुद्ध अनुष्ठानवाक्य,—'असपत्नो योगः'—अर्थात् स्वाध्यायादि चर्याएँ असपत्न याने परस्पर को बाध न पहुँचाने इस ढंग से अपने अपने काल में की जानी चाहिए। वैसा नहीं कि, दृष्टान्त से, आवश्यक क्रिया ऐसे अकाल में करे या इतना ज्यादा समय इसमें लगावे कि वह स्वाध्यायकाल को दबा दे। ठीक काल में आवश्यक, एवं ठीक काल में स्वाध्याय करे, जिससे परस्पर बाधा न हो; तभी ध्यान-अध्ययनादि की विधि का पालन अबाधित रहेगा;अन्यथा स्वाध्याय में स्खलना करने से अध्ययन की विधि पालित नहीं होगी। जिस धर्म में ऐसे असपत्न (परस्पर अबाधक) अनुष्ठान न बतलाते हुए किसी एक पर यदि जोर दिया है वहां विधि-पालन अशक्य-दुःशक्य होगा। अर्हत्प्रवचन में ऐसा नहीं है।

इस प्रकार जीवहिंसा के 'निषेधवाक्य से अविरुद्ध अनुष्ठान वाक्य' कहा— 'समितिगुप्तिशुद्धाक्रिया' अर्थात् सभी क्रिया पांच समिति एवं तीन गुप्ति के पालन द्वारा शुद्ध होनी चाहिए। पांच समिति में,

(१) ईर्यासमिति = गमनागमन-उठना बैठना सोना, इत्यादि में सावधानी रखनी ता कि जीवहिंसा न हो।

(२) भाषासमिति = बोलने में मुखवस्त्रिका, सत्यता, पापरहितता, मधुरतादि का उपयोग रखना।

(३) एषणासमिति = आहार-पानी-उपकरण में ४२ दोष रहित गवेषणा करनी।

(४) आदानभण्डमत्त निक्षेपणा समिति = पात्र-मात्रकादि उपकरण लेते रखते वक्त चक्षु से निरीक्षण एवं मृदु रजोहरणादि से प्रमार्जन का उपयोग रखना, ता कि सूक्ष्म जीव को भी हिंसा न हो। वैसे ही अहिंसार्थ,

(५) पारिष्ठापनिकासमिति=मल-मूत्रादि के परित्याग करते वक्त पहले जीवरक्षादि के लिए स्थानादि देख लेना।

(१-३)मनोगुप्ति-वचनगुप्ति-कायगुप्ति = लेशमात्र भी पाप और दोष वाली प्रवृत्ति से मन-वचन-काया को हटा

देना अर्थात् ऐसे विचार वाणी और वर्तन करने से रुक जाना और निष्पाप, निर्दोष शुभ विचारादि में मग्न रहना। सभी क्रियाएं समिति-गुप्ति के संपूर्ण पालन का ध्यान रख कर की जाएं। ऐसा हो तभी मूल हिंसानिषेध के साथ आचार-अनुष्ठान का कुछ विरोध उपस्थित नहीं हुआ ऐसा कह सकते हैं। इस प्रकार,

● विधिनिषेध एवं अनुष्ठानवचन से अविरुद्ध पदार्थवचन,-'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्', 'एकं द्रव्यम् अनन्तपर्यायम् अर्थः'-अर्थात् सत् वही है जो उत्पत्ति, नाश और स्थैर्य से युक्त है। पदार्थ द्रव्यरूप है जो कि त्रिकाल-स्थिर आश्रयव्यक्ति रूपसे एक है और अनन्त पर्याय-युक्त है, अनन्तपर्यायात्मक है। पर्याय रूप से अनन्त है।

द्रव्य और पर्यायः—

वस्तु वस्तु में कई धर्म होते हैं, उन धर्मों की आधारभूत उस वस्तु को 'द्रव्य' कहते हैं, और उन धर्मों को पर्याय कहते हैं। विश्व में सत् पदार्थ मात्र उत्पत्ति-नाश-स्थैर्य, इन तीनों स्वभाव से युक्त होते हैं; क्यों कि सत् पदार्थ एकानेक रूप होता है, अपने में रहे हुए धर्मों के आश्रय रूप से एक, और आश्रित अनंत धर्म रूप से अनेक। धर्म, पर्याय, अवस्था, स्वतंत्र तो रह सकते नहीं, कहीं न कहीं आश्रित ही रहते हैं। धर्म जिसमें आश्रित है वह द्रव्य कहा जाता है, और धर्म स्वयं पर्याय कहे जाते हैं। ये धर्म भी द्रव्य में भेदाभेद संबन्ध से हैं, क्यों कि आश्रय द्रव्य से वे एकान्ततः भिन्न नहीं है, और एकान्ततः अभिन्न भी नहीं है, किन्तु भिन्नाभिन्न है-कथंचित् भिन्न, कथंचित् अभिन्न। उदाहरणार्थ शक्कर में मधुरता जो है वह आश्रयद्रव्य शक्कर से एकान्तत भिन्न नहीं क्यों कि शक्करादि को छोड़कर मधुरता स्वतंत्र कहीं भी दिखाई नहीं पड़ती है, जो शक्कर है वही मधुरता है इसलिए वह अभिन्न माननी होगी एवं एकान्ततः अभिन्न भी नहीं क्यों कि (१) 'शक्कर' 'मधुरता' इस प्रकार नाम भिन्न भिन्न है, (२) ऐसे ही उनके कार्य भिन्न भिन्न होते हैं जैसे कि शक्कर का कार्य पानी में पिघल जाना; मधुरता का कार्य मधुर बनाना। (३) द्रव्य ठहरते हुए भी धर्म आते जाते हैं; एवं (४) दोनों की संख्या भिन्न भिन्न है, द्रव्य एक है, उसमें धर्म अनेक है। इसलिए वे भिन्न भी है। अब, एकैक द्रव्य में अनन्त धर्म होते हैं और वे जब कथंचित् अभेद रूप से द्रव्य में रहे हैं तब अभेद का अर्थ द्रव्य ही खुद अनन्त धर्म स्वरूप हुआ। इन आश्रित धर्म पर्यायों की दृष्टि से वस्तु अनेक रूप है, और खुद आधार द्रव्य की दृष्टि से एक रूप है।

उत्पत्ति-विनाश-स्थैर्यः—

अब देखिए कि सत् पदार्थ के दो अंश हुए, एक द्रव्य अंश, दूसरा पर्याय अंश। द्रव्यांश स्थिर होता है, पर्यायांश अस्थिर यानी उत्पत्ति विनाश वाला होता है। जीव में जीवत्व स्थिर अंश है, शाश्वत सनातन है; यह द्रव्यांश है। और जीव में मनुष्यत्व आदि पर्याय उत्पन्न एवं नष्ट होने वाले होते हैं। स्थैर्य, उत्पत्ति, एवं विनाश,-तीनों ही जीव में हैं। वही जीव जीवरूप से कायम होता हुआ, पर्याय मनुष्यत्वादि रूप से उत्पन्न होता है, नष्ट होता है। कहते हैं 'जीव खुद ही मनुष्य हुआ, अब देव नहीं रहा'। अतः सार यह निकला कि सत् पदार्थ उत्पत्ति नाश-स्थैर्य से युक्त होता है।

अगर पदार्थ-व्यवस्था ऐसी हो, तभी विधि-निषेध एवं अनुष्ठान संगत हो सकते हैं। कारण, विधिपालन और निषेधत्याग के एवं अनुष्ठान के फल जीव यदि नित्यानित्य हो तभी संगत हो सकते हैं। जीव नित्य होने से, पालन और त्याग जिसने किया वही जीव फल पा सकता है; और अनित्य होने से फलभोग के लिए वही जीव अवस्था भेद पा सकता है। यदि जीव एकान्त रूप से नित्य ही हो तब तो कोई

परिवर्तन नहीं हो सकेगा, तब उसमें नयी फल-अवस्था कैसे आ सके ? एवं पुरानी अवस्था कैसे नष्ट हो ? एवं एकान्त अनित्य हो यानी पूर्वका समूल नष्ट और बिलकुल नया ही उत्पन्न यदि हो तब इसका अर्थ यह हुआ कि पालन किसी ने किया और फल कोई दूसरा ही भोगता है। अर्हत्प्रवचन में ही अनेकान्त पदार्थ-व्यवस्था है, इसलिए विधिनिषेध-अनुष्ठान पदार्थ इन तीनों में परस्पर कोइ विरोध का प्रसङ्ग नहीं होता है। एवं सकल नयमतों से व्याप्त एवं आराधक को फलदाता होने से प्रवचन-श्रुत ऐश्वर्ययुक्त एवं सर्वसमृद्धिमान याने भगवान कहलाता है।

इस श्रुत भगवान के वन्दनादि के लाभार्थ कायोत्सर्ग करना है, इसके बारे में सब विस्तार पूर्ववत् समझना; एवं पूर्ववत् स्तुति भी; लेकिन यह स्तुति श्रुत की स्तुति पढ़ी जाती है, क्यों कि अपने समान-जातीय श्रुतस्तव की यह समर्थक होती है, सजातीय का समर्थन सजातीय से होता है यह उसके ज्ञाता पुरुषों को अनुभवसिद्ध है। ऐसी सजातीय स्तुति से समर्थन न करे और विजातीय स्तुति पढ़े तब समाधि यानी चित्त-स्थैर्य नष्ट होगा, यह स्पष्ट है। तृतीय स्तुति श्रुत की ही होती है यह पूर्वाचार्यों का संप्रदाय है।

पुक्खरवरदीवड्ढे सूत्र यानी श्रुतस्तव की व्याख्या समाप्त।



सिद्धाणं बुद्धाणं० (सिद्धेभ्यो बुद्धेभ्य०)

पुनरनुष्ठानपरम्पराफलभूतेभ्यस्तथाभावेन तत्क्रियाप्रयोजकेभ्यश्च सिद्धेभ्यो नमस्करणायेदं पठति पठन्ति वा,—'सिद्धाणं' इत्यादि सूत्रम्—

['सिद्धाणं बुद्धाणं, पारगयाणं परंपरगयाणं। लोयग्गमुवगयाणं नमो सया सव्वसिद्धाणं ॥१॥]

अस्य व्याख्या,—सितं ध्मातमेषामिति सिद्धाः, निर्दग्धानेकभवकर्मेन्धना इत्यर्थः। तेभ्यो नम इति योगः। ते च सामान्यतः कर्मादिसिद्धा अपि भवन्ति, यथोक्तम्—'कम्मे सिप्पे य विज्जा य, मंते, जोगे य आगमे। अत्थ-जत्ता-अभिप्पाए, तवे कम्मक्खए इय ॥ १ ॥' इत्यादि अतः कर्मादिसिद्धव्यपोहायाह 'बुद्धेभ्यः'। अज्ञाननिद्राप्रसुप्ते जगत्यपरोपदेशेन जीवादिरूपं तत्त्वं बुद्धवन्तो बुद्धाः सर्वज्ञसर्वदर्शिस्वभावबोधरूपा इत्यर्थः, एतेभ्यः।

सिद्धाणं बुद्धाणं० (सिद्धों को, बुद्धों को०)

श्रुतस्तव के बाद अब मोक्षमार्ग के अनुष्ठानों की परंपरा के स्वयं फलभूत मोक्ष को प्राप्त किये हुए, और दूसरों को, इन 'अनुष्ठानों का ऐसा फल होता है' इस प्रकार दृष्टान्तरूप बन कर अनुष्ठान एवं फल-प्राप्ति में प्रयोजन होने वाले सिद्ध भगवान के प्रति नमस्कार करने के लिए एक या अनेक साधक यह सूत्र पढ़ते हैं,—

सिद्धाणं बुद्धाणं, पारगयाणं परंपरगयाणं। लोयग्गमुवगयाणं नमो सया सव्वसिद्धाणं ॥ १ ॥

अर्थः—सिद्ध, बुद्ध, पारगत, परंपरागत, और लोकाग्रप्राप्त, ऐसे समस्त सिद्धों को मैं सदा नमस्कार करता हूँ।

इसकी व्याख्याः—

'सिद्ध' अर्थात् सित = बंधे हुए ध्मात = जल गए हैं जिनके, तात्पर्य, अनेक भवों के बंधे हुए कर्म-इन्धन जला दिए हैं जिन्होंने, वे सिद्ध हैं। आगे 'नमो' पद आता है इसको यहां जोड़ देने से 'सिद्धाणं नमो'-सिद्धों को मैं नमस्कार करता हूँ, यह अर्थ हुआ। अब सामान्यतः सिद्ध तो कर्मसिद्ध आदि कई होते हैं; जैसे कि:—

कम्मसिप्पे य विज्जा य मंते जोगे य आगमे। अत्थ-जत्ता-अभिप्पाए तवे कम्मक्खए इय ॥'

अनेकविध सिद्धः—

बार बार अति अभ्यास से किसी कृषि आदि कर्म में निष्णात सिद्धहस्त हुआ पुरुष 'कर्मसिद्ध' कहलाता है, शिल्प में निष्णात 'शिल्पसिद्ध' प्रज्ञप्ति आदि विद्या वाला 'विद्यासिद्ध' गारुडीमंत्रादि वाला 'मंत्रसिद्ध' चूर्णादि-मिश्रण प्रयोग से पादलेप या नेत्राञ्जनादि द्वारा जल के उपर चलना, अदृश्य होना, इत्यादि में निष्णात ये 'योगसिद्ध'; स्वनामवत् आगमशास्त्र के परिचित ये 'आगमसिद्ध'; तत्त्व के पदार्थों में सिद्ध-विद्वान ये 'अर्थसिद्ध'; दीर्घ एवं शीघ्र प्रवास में पारगत ये 'यात्रासिद्ध'; दूसरों के अभिप्राय यथार्थ समझ लेने में निष्णात ये 'अभिप्रायसिद्ध'; कड़ी तपस्या में कर्मठ ये 'तपःसिद्ध'; और सर्वकर्मों का क्षय कर मुक्त हुए

(ल०-पारगयाणं परंपरगयाणं-) एते च संसारनिर्वाणोभयपरित्यागेन स्थितवन्तः कैश्चि-दिष्यन्ते, 'न संसारे न निर्वाणे स्थितो भुवनभूतये। अचिन्त्यः सर्वलोकानां चिन्तारत्नाधिको महान् ॥१॥' इति वचनात्। एतन्निरासायाह 'पारगतेभ्यः', पारं=पर्यन्तं संसारस्य प्रयोजनव्रातस्य वा गताः पारगताः, तथाभव्यत्वाक्षिप्तसकलप्रयोजनसमाप्त्या निरवशेषकर्तव्यशक्तिविप्रमुक्ता इति यदुक्तं भवति, एतेभ्यः।

एते च यदृच्छावादिभिः कैश्चिदक्रम सिद्धत्वेनापि गीयन्ते, यथोक्तम्—'नैकादिसङ्ख्या-क्रमतो वित्तप्राप्तिर्नियोगतः। दरिद्रराज्याप्तिसमा, तद्वन्मुक्तिः क्वचिन्न किम् ॥' इत्येतद्व्यपोहायाह 'परम्परगतेभ्यः'। परम्परया ज्ञानदर्शनचारित्ररूपया, मिथ्यादृष्टिसास्वादनसम्यग्मिथ्यादृष्ट्य-विरतसम्यग्दृष्टिविरताविरतप्रमत्ताप्रमत्तनिवृत्त्यनिवृत्तिबादरसूक्ष्मोपशान्तक्षीणमोहसयोग्ययोगिगुणस्थान-भेदभिन्नया, गताः परम्परगताः, एतेभ्यः।

ये 'कर्मक्षयसिद्ध'; इत्यादि कई प्रकार के सिद्ध होते हैं; इसलिए उनमें से कर्मसिद्धादि यहां ग्राह्य नहीं हैं किन्तु कर्मक्षयसिद्ध ही ग्राह्य हैं, इन कर्मसिद्ध आदि का निषेध करने के लिए कहा 'बुद्धाणं'

'बुद्ध' अर्थात् अज्ञान और मोहनिद्रा में जब जगत सोया हुआ था, तब अन्य के उपदेश के बिना ही मोहनिद्रा का त्याग कर जीव-अजीव आदि तत्त्व का प्रकाश प्राप्त करने वाले, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी स्वरूप ज्ञानी; उन्हें मैं नमस्कार करता हूँ। वैसे सिद्ध कर्मसिद्धादि नहीं होते हैं।

'पारगयाणं':—

अब कई एक लोगों का कहना है कि 'ऐसे सिद्ध-बुद्ध जीव संसार और मोक्ष दोनों का त्याग कर रहे हुए हैं'। उनका शास्त्र है,—

न संसारे न निर्वाणे स्थितो भुवनभूतये। अचिन्त्यः सर्वलोकानां चिन्तारत्नाधिको महान् ॥ १ ॥

अर्थात् 'वह परमात्मा न संसार में है, न मोक्ष में, किन्तु है सही, और वह जगत के कल्याण के लिए रहा हुआ है, उसका स्वरूप समस्त लोगों के लिए अचिन्त्य है, कल्पनातीत है, एवं वह चिन्तामणि रत्न से भी अधिक प्रभावशाली है'। लेकिन यह कथन युक्तियुक्त नहीं है,

इस कथन की अयुक्तता सूचित करने के लिए कहते हैं 'पारगयाणं' पारप्राप्त अर्थात् संसार या प्रयोजन समूह के पर्यन्त को प्राप्त; तात्पर्य, जो कहा जाता है कि तथाभव्यत्व के संपूर्ण परिपाकवश समस्त प्रयोजनों की समाप्ति होने से सकल कर्तव्य-शक्ति से रहित हुए हैं, अब उन्हें कुछ कर्तव्य ही नहीं रहा, ऐसे हैं सिद्ध पारगत। जब कि उपर्युक्त संसार-निर्वाण उभय से रहित, यानी मध्य में अवस्थित को, तो न कोई कर्तव्य है, या न कर्तव्यसमाप्ति; लेकिन यह विरुद्ध है, जीव की ऐसी कोई अवस्था ही नहीं हो सकती। अगर कर्तव्य समाप्त नहीं हुआ है तो संसार अवस्था ही है, फिर वह अगर मोक्ष में नहीं तब संसार में भी नहीं यह कैसे हो सकता है?

'परंपरगयाणं': 'अक्रमसिद्धत्व' मतखण्डनः—

ऐसे भी पारगत सिद्ध क्रम बिना ही सिद्ध हुए हैं,—ऐसा कई एक स्वेच्छावादी कहते हैं। उदाह-

रणार्थ, उनसे कहा गया है कि—

"नैकादिसङ्ख्याक्रमतो वित्तप्राप्तिर्नियोगतः। दरिद्रराज्याप्तिसमा, तद्वन्मुक्तिः क्वचिन्न किम् ? ॥"

अर्थात् "ऐसा कोई नियम नहीं है कि धनप्राप्ति एकैक आदि संख्या के क्रम से ही होती है, क्योंकि क्या किसी दरिद्र को कदाचित् एक ही साथ राज्यप्राप्ति नहीं होती है ? बस, इसी प्रकार क्वचित् क्रमशः उन्नति प्राप्त किये बिना मुक्ति क्यों न हो ? अवश्य हो सकती है।" इस मत के निषेधार्थ यहां कहा गया है 'परंपरगयाणं' अर्थात् परम्परा से मुक्ति प्राप्त किये हुए को। 'परम्परा' का अर्थ है ज्ञान-दर्शन-चारित्र का क्रम। यह क्रम मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थानक में विभक्त है;

१४. गुणस्थानकः—(१) मिथ्यादृष्टि गुणस्थानक में जीव सर्वज्ञोक्त तत्त्व की श्रद्धा से रहित उलट अरुचि वाला और मिथ्या तत्त्व की रुचि वाला, तथा अनंतानुबन्धि कषाय के उदय से ग्रस्त होता है। यहां मन्द मिथ्यात्व दशा में संसारवैराग्य एवं मोक्षरुचि होती है। (२) सास्वादन गुणस्थानक में जीव वान्ति किये गए सम्यग्दर्शन का कुछ आस्वाद रूप मिथ्यात्वाभाव एवं और अनंतानुबन्धी कषायोदय से संपन्न होता है (३)सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव उन अनंतानुबन्धी कषायों के उदय से मुक्त एवं तत्त्व,अतत्त्व दोनों के प्रति रुचि-अरुचि से रहित होता है। (४) अविरत सम्यग्दृष्टि जीव केवल सर्वज्ञोक्त तत्त्व की संपूर्ण श्रद्धा वाला होता है किन्तु अतत्त्व की लेश श्रद्धा वाला नहीं; फिर भी वह श्रद्धानुसार हिंसादि पापों से विरत नहीं। (५) विरताविरत याने देशविरति वाला जीव हिंसादि से अंशतः विरत एवं अविरत अर्थात् स्थूल अहिंसादिव्रत वाला होता है। (६) प्रमत्त जीव आगे बढकर सर्वथा विरत याने अहिंसादि महाव्रत वाला किन्तु प्रमादयुक्त होता है। (७) अप्रमत्त जीव संशय भ्रम, राग-द्वेषादि प्रमाद से भी रहित होता है। (८) निवृत्ति याने अपूर्वकरण वाला जीव मोहनीय कर्म में अपूर्व स्थितिघात-रसघात-गुणश्रेणि-गुणसंक्रम एवं अपूर्व स्थितिबन्ध करता है, और अंत में हास्य-शोक-रति-अरति भय और जुगुप्सा कर्म का उदय रोक देता है। (९) अनिवृत्ति वाला जीव वेदोदय और सूक्ष्म भी क्रोध-मान-माया के उदय का निग्रह करता है। (१०) सूक्ष्म-संपराय में जीव सूक्ष्म लोभ के उदय को भी अन्त में रोक देता है। (११) उपशान्तमोह में मोहनीय का सर्वथा उपशम रहने से वीतराग अवस्था होती है। (१२) क्षीणमोह में सत्ता में से भी मोहनीय सर्वथा क्षीण ऐसी वीतरागता होती है। (१३) सयोगि गुणस्थानक प्राप्त होने के पूर्व ज्ञानावरणीय आदि घाती कर्म नष्ट हो जाने से यहां सर्वज्ञ-सर्वदर्शी एवं अनन्त वीर्यादिसंपन्न अवस्था होती है, किन्तु योग यानी मन-वचन-काया की प्रवृत्ति रहती है। (१४) अयोगी गुणस्थानक में जीव उन योगों से सर्वथा रहित शैलेशी अवस्था वाला होता है, शैलेशी याने पर्वतराज मेरुवत् निष्प्रकम्प आत्मप्रदेश वाला होता है। यहां पांच ह्रस्वाक्षर के उच्चारण के काल जितने काल तक रह कर अवशिष्ट समस्त अघाती कर्मों का नाश करके मोक्ष प्राप्त करता है। सिद्ध परमात्मा इस क्रम की परंपरा से मुक्ति को प्राप्त हुए हैं अतः वे 'परम्परागत' हैं।

'लोअग्गमुवगयाणं': मुक्त का गमन कैसे?:—

ऐसे भी सिद्ध भगवान किसी नियत देश में नहीं रहते हैं,—ऐसा कई एक लोग मानते हैं। उनका वचन है।

"यत्र क्लेशक्षयस्तत्र विज्ञानमवतिष्ठते। बाधा च सर्वथास्येह तदभावान्न जातुचित् ॥"

अर्थात् जहां रागादि क्लेशों का क्षय होता है वहां अब शुद्ध विज्ञान बचता है; और बाधा का कारण क्लेश न होने से उसे अब यहां सर्वथा किसी प्रकार की बाधा नहीं हो सकती है। तात्पर्य, संसार के

(ल०-पारगयाणं परंपरगयाणं-) एते च संसारनिर्वाणोभयपरित्यागेन स्थितवन्तः कैश्चिदिष्यन्ते, 'न संसारे न निर्वाणे स्थितो भुवनभूतये। अचिन्त्यः सर्वलोकानां चिन्तारत्नाधिको महान् ॥१॥' इति वचनात्। एतन्निरासायाह 'पारगतेभ्यः', पारं=पर्यन्तं संसारस्य प्रयोजनव्रातस्य वा गताः पारगताः, तथाभव्यत्वाक्षिप्तसकलप्रयोजनसमाप्त्या निरवशेषकर्तव्यशक्तिविप्रमुक्ता इति यदुक्तं भवति, एतेभ्यः।

एते च यदृच्छावादिभिः कैश्चिदक्रम सिद्धत्वेनापि गीयन्ते, यथोक्तम्—'नैकादिसङ्ख्याक्रमतो वित्तप्राप्तिर्नियोगतः। दरिद्रराज्याप्तिसमा, तद्वन्मुक्तिः क्वचिन्न किम् ॥' इत्येतद्व्यपोहायाह 'परम्परगतेभ्यः'। परम्परया ज्ञानदर्शनचारित्ररूपया, मिथ्यादृष्टिसास्वादनसम्यग्मिथ्यादृष्ट्यविरतसम्यग्दृष्टिविरताविरतप्रमत्ताप्रमत्तनिवृत्त्यनिवृत्तिबादरसूक्ष्मोपशान्तक्षीणमोहसयोग्ययोगिगुणस्थानभेदभिन्नया, गताः परम्परगताः, एतेभ्यः।

ये 'कर्मक्षयसिद्ध'; इत्यादि कई प्रकार के सिद्ध होते हैं; इसलिए उनमें से कर्मसिद्धादि यहां माह्य नहीं हैं किन्तु कर्मक्षयसिद्ध ही माह्य हैं, इन कर्मसिद्ध आदि का निषेध करने के लिए कहा 'बुद्धाणं'

'बुद्ध' अर्थात् अज्ञान और मोहनिद्रा में जब जगत सोया हुआ था, तब अन्य के उपदेश के बिना ही मोहनिद्रा का त्याग कर जीव-अजीव आदि तत्त्व का प्रकाश प्राप्त करने वाले, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी स्वरूप ज्ञानी; उन्हें मैं नमस्कार करता हूँ। वैसे सिद्ध कर्मसिद्धादि नहीं होते है।

'पारगयाणं':—

अब कई एक लोगों का कहना है कि 'ऐसे सिद्ध-बुद्ध जीव संसार और मोक्ष दोनों का त्याग कर रहे हुए हैं'। उनका शास्त्र है,—

न संसारे न निर्वाणे स्थितो भुवनभूतये। अचिन्त्यः सर्वलोकानां चिन्तारत्नाधिको महान् ॥ १ ॥

अर्थात् 'वह परमात्मा न संसार में है, न मोक्ष में, किन्तु है सही, और वह जगत के कल्याण के लिए रहा हुआ है, उसका स्वरूप समस्त लोगों के लिए अचिन्त्य है, कल्पनातीत है, एव वह चिन्तामणि रत्न से भी अधिक प्रभावशाली है'। लेकिन यह कथन युक्तियुक्त नहीं है,

इस कथन की अयुक्तता सूचित करने के लिए कहते है 'पारगयाणं' पारप्राप्त अर्थात् संसार या प्रयोजन समूह के पर्यन्त को प्राप्त; तात्पर्य, जो कहा जाता है कि तथाभव्यत्व के संपूर्ण परिपाकवश समस्त प्रयोजनों की समाप्ति होने से सकल कर्तव्य-शक्ति से रहित हुए हैं, अब उन्हें कुछ कर्तव्य ही नहीं रहा, ऐसे हैं सिद्ध पारगत। जब कि उपर्युक्त संसार-निर्वाण उभय से रहित, यानी मध्य में अवस्थित को, तो न कोई कर्तव्य है, या न कर्तव्यसमाप्ति; लेकिन यह विरुद्ध है, जीव की ऐसी कोई अवस्था ही नहीं हो सकती। अगर कर्तव्य समाप्त नहीं हुआ है तो संसार अवस्था ही है, फिर वह अगर मोक्ष में नहीं तब संसार में भी नहीं यह कैसे हो सकता है?

'परंपरगयाणं': 'अक्रमसिद्धत्व'मतखण्डनः—

ऐसे भी पारगत सिद्ध क्रम बिना ही सिद्ध हुए हैं,-ऐसा कई एक स्वेच्छावादी कहते हैं। उदाह-

रणार्थ, उनसे कहा गया है कि—

"नैकादिसङ्ख्याक्रमतो वित्तप्राप्तिर्नियोगतः । दरिद्रराज्याप्तिसमा, तद्वन्मुक्तिः क्वचिन्न किम् ? ॥"

अर्थात् "ऐसा कोई नियम नहीं है कि धनप्राप्ति एकैक आदि संख्या के क्रम से ही होती है, क्योंकि क्या किसी दरिद्र को कदाचित् एक ही साथ राज्यप्राप्ति नहीं होती है ? बस, इसी प्रकार क्वचित् क्रमशः उन्नति प्राप्त किये बिना मुक्ति क्यों न हो ? अवश्य हो सकती है ।" इस मत के निषेधार्थ यहां कहा गया है 'परंपरगयाणं' अर्थात् परम्परा से मुक्ति प्राप्त किये हुए को । 'परम्परा' का अर्थ है ज्ञान-दर्शन-चारित्र का क्रम । यह क्रम मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थानक में विभक्त है;

१४. गुणस्थानकः--(१) मिथ्यादृष्टि गुणस्थानक में जीव सर्वज्ञोक्त तत्त्व की श्रद्धा से रहित उलट अरुचि वाला और मिथ्या तत्त्व की रुचि वाला, तथा अनंतानुबन्धि कषाय के उदय से ग्रस्त होता है। यहां मन्द मिथ्यात्व-दशा में संसारवैराग्य एवं मोक्षरुचि होती है। (२) सास्वादन गुणस्थानक में जीव वान्ति किये गए सम्यग्दर्शन का कुछ आस्वाद रूप मिथ्यात्वाभाव एवं और अनंतानुबन्धी कषायोदय से संपन्न होता है (३)सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव उन अनंतानुबन्धी कषायों के उदय से मुक्त एवं तत्त्व,अतत्त्व दोनों के प्रति रुचि-अरुचि से रहित होता है। (४) अविरत सम्यग्दृष्टि जीव केवल सर्वज्ञोक्त तत्त्व की संपूर्ण श्रद्धा वाला होता है किन्तु अतत्त्व की लेश श्रद्धा वाला नहीं; फिर भी वह श्रद्धानुसार हिंसादि पापों से विरत नहीं। (५) विरताविरत याने देशविरति वाला जीव हिंसादि से अंशतः विरत एवं अविरत अर्थात् स्थूल अहिंसादिव्रत वाला होता है। (६) प्रमत्त जीव आगे बढकर सर्वथा विरत याने अहिंसादि महाव्रत वाला किन्तु प्रमादयुक्त होता है। (७) अप्रमत्त जीव संशय भ्रम, राग-द्वेषादि प्रमाद से भी रहित होता है। (८) निवृत्ति याने अपूर्वकरण वाला जीव मोहनीय कर्म में अपूर्व स्थितिघात-रसघात-गुणश्रेणि-गुणसंक्रम एवं अपूर्व स्थितिबन्ध करता है, और अन्त में हास्य-शोक-रति-अरति भय और जुगुप्सा कर्म का उदय रोक देता है। (९) अनिवृत्ति वाला जीव वेदोदय और सूक्ष्म भी क्रोध-मान-माया के उदय का निग्रह करता है। (१०) सूक्ष्म-संपराय में जीव सूक्ष्म लोभ के उदय को भी अन्त में रोक देता है। (११) उपशान्तमोह में मोहनीय का सर्वथा उपशम रहने से वीतराग अवस्था होती है। (१२) क्षीणमोह में सत्ता में से भी मोहनीय सर्वथा क्षीण ऐसी वीतरागता होती है। (१३) सयोगि गुणस्थानक प्राप्त होने के पूर्व ज्ञानावरणीय आदि घाती कर्म नष्ट हो जाने से यहां सर्वज्ञ-सर्वदर्शी एवं अनन्त वीर्यादिसंपन्न अवस्था होती है, किन्तु योग यानी मन-वचन-काया की प्रवृत्ति रहती है। (१४) अयोगी गुणस्थानक में जीव उन योगों से सर्वथा रहित शैलेशी अवस्था वाला होता है, शैलेशी याने पर्वतराज मेरुवत् निष्प्रकम्प आत्मप्रदेश वाला होता है। यहां पांच ह्रस्वाक्षर के उच्चारण के काल जितने काल तक रह कर अवशिष्ट समस्त अघाती कर्मों का नाश करके मोक्ष प्राप्त करता है। सिद्ध परमात्मा इस क्रम की परंपरा से मुक्ति को प्राप्त हुए हैं अतः वे 'परम्परागत' हैं।

'लोअग्गमुवगयाणं': मुक्त का गमन कैसे?:—

ऐसे भी सिद्ध भगवान किसी नियत देश में नहीं रहते हैं,—ऐसा कई एक लोग मानते हैं। उनका वचन है।

"यत्र क्लेशक्षयस्तत्र विज्ञानमवतिष्ठते । बाधा च सर्वथास्येह तदभावान्न जातुचित् ॥"

अर्थात् जहां रागादि क्लेशों का क्षय होता है वहां अब शुद्ध विज्ञान बचता है; और बाद कारण क्लेश न होने से उसे अब यहां सर्वथा किसी प्रकार की बाधा नहीं हो सकती है। तात्पर्य, इस के

(ल०—'लोअग्गमुवगयाणं'—) एतेऽपि कैश्चिदनियतदेशा अभ्युपगम्यन्ते,—

'यत्र क्लेशक्षयस्तत्र, विज्ञानमवतिष्ठते । बाधा च सर्वथास्येह, तदभावान्न जातुचित् ॥'

—इति वचनात् । एतन्निराचिकीर्षयाऽऽह—'लोकाग्रमुपगतेभ्यः' । लोकाग्रम् ईषत्प्राग्भाराख्यम्, तदुप=सामीप्येन, निरवशेषकर्म्मविच्युत्या तदपराभिन्नप्रदेशतया, गताः उपगताः । उक्तं च,—

जत्थ य एगो सिद्धो तत्थ अणंता भवक्खयविमुक्का ।

अन्नोन्नमणाबाहं चिट्ठंति सुही सुहं पत्ता(प्र०....अन्नोन्नसमोगाढा पुट्ठा सव्वे य लोगंते)॥' तेभ्यः ।

आह,—'कथं पुनरिह सकलकर्म्मविप्रमुक्तानां लोकान्तं यावद्गतिर्भवति ? भावे वा सर्वदैव कस्मान्न भवतीति ?' अत्रोच्यते, पूर्वाविद्ध(प्र०...वेध)वशाद् दण्डादिचक्रभ्रमणवत् समयमेवैकम-विरुद्धेति न दोष इति; एतेभ्यः ।

मुताबिक अब किसी स्थान विशेष में निरुद्ध नहीं होना पड़ता।'

इस मत के विरुद्ध में यहां कहते हैं 'लोअग्गमुवगयाणं' 'लोअग्ग' = लोकाग्र = 'इषत्प्राग्भार' नाम की चौदह राजलोक के ऊपरवर्ती सिद्धशिला, 'उवगय' = समस्त कर्मों का क्षय होने पूर्वक उस सिद्ध-शिला के ऊपर उपगत, अर्थात् अन्य सिद्धों के साथ उनसे अवगाहित आकाशप्रदेश में ही अपने आत्मप्रदेश स्थापित कर मिले जुले प्राप्त हुए; जैसे एक ज्योति में ज्योति मिलती है। कहा गया है कि जिस आकाश खण्ड में एक सिद्ध भगवान रहे हैं उसी में संसार क्षीण होने से मुक्त हुए अनत सिद्ध भगवान रहे हुए हैं। वे भी अन्योन्य को कोई भी बाधा न करते हुए,अव्याबाध सुखसंपन्न होकर आसानी से परस्पर को प्राप्त हैं।

प्र०—यहां जब समस्त कर्मों से मुक्ति हो गई, तब अब लोकान्त तक जाने की गति कैसे हो सकती है ? और अगर होती है तब फिर सदा ही गति क्यों नहीं होती रहती है ?

उ०—जिस प्रकार दण्ड से चक्र को घुमाया, अब दण्ड हटा लेने पर भी चक्र पूर्व आवेश वश अल्प काल भ्रमण करता है इस प्रकार मुक्त जीव पूर्व आवेश वश एक समयमात्र ऊर्ध्व गति करता है, इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं है। इसलिए मुक्त जीव का लोकान्त तक गमन कहने में कोई दोष नहीं। फिर भी अब लोकाग्र से आगे भी जाने में सहायक धर्मास्तिकाय द्रव्य आगे नहीं है इसलिए आगे गति नहीं है। उन लोकाग्रप्राप्त के प्रति,—यह'लोअग्गमुवगयाणं' का अर्थ हुआ।

'नमो सया सव्वसिद्धाणं': १९ सिद्धः—

पूर्वोक्त सिद्ध, बुद्ध, पारगत, परंपरगत एवं लोकाग्रमुपगत को क्या? तब कहते हैं 'नमो सया सव्वसिद्धाणं। यहां 'नमो' यह क्रियापद है, अर्थ है 'मैं नमस्कार करता हूँ' । 'सया' अर्थात् सदा,सर्वकाल ।

'नमो सया' प्रणिधान से शुभभावपूरणः—

प्र०—सर्व काल तो नमस्कार होता रहता नहीं, फिर 'नमो सया' कहना निरर्थक होगा ?

उ०—निरर्थक नहीं है, सार्थक है; यह इस प्रकार,—जैसे किसीने नियम ग्रहण किया कि 'मैं ग्लान मुनि की सदा सेवाशुश्रूषा करूंगा'। अब नियम का विषय ग्लान मुनि सदा तो मिलता नहीं,न मिलने

(ल०—पंचदशविधसिद्धाः—)एवंभूतेभ्यः किमित्याह,—'नमः सदा सर्वसिद्धेभ्यः'। 'नमः' इति क्रियापदं, 'सदा'=सर्वकालं, प्रशस्तभावपूरणमेतदयथार्थमपि फलवत्; चित्राभिग्रहभाववदित्याचार्याः। 'सर्वसिद्धेभ्यः'=तीर्थसिद्धादिभेदभिन्नेभ्यः; यथोक्तम्,—१. तित्थसिद्धा, २. अतित्थसिद्धा, ३. तित्थगरसिद्धा, ४. अतित्थगरसिद्धा, ५. सयंबुद्धसिद्धा, ६. पत्तेयबुद्धसिद्धा, ७. बुद्धबोहियसिद्धा, ८. थीलिंगसिद्धा, ९. पुरिसलिंगसिद्धा, १०. नपुंसकलिंगसिद्धा, ११. सलिंगसिद्धा, १२. अण्णलिंगसिद्धा, १३. गिहिलिंगसिद्धा, १४. एगसिद्धा, १५. अणेगसिद्धा, इति।

(पं०—) 'चित्राभिग्रहभाववदि'ति,—यथा हि ग्लानप्रतिजागरणादिविषयश्चित्रोऽभिग्रहभावो नित्यमसंपद्यमानविषयोऽपि शुभभावापूरकस्तथा नमः सदा सर्वसिद्धेभ्य इत्येतत्प्रणिधानम्।

(ल०—) तत्र (१) तीर्थं प्राग्व्यावर्णितस्वरूपं तच्चतुर्विधः श्रमणसंघः, तस्मिन्नुत्पन्ने ये सिद्धास्ते तीर्थसिद्धाः। (२) अतीर्थे सिद्धा अतीर्थसिद्धाः तीर्थान्तरसिद्धा इत्यर्थः। श्रूयते च 'जिणंतरे साहुवोच्छेओ'त्ति तत्रापि जातिस्मरणादिनाऽवाप्तापवर्गमार्गाः सिध्यन्त्येव मरुदेवीप्रभृतयो वा अतीर्थसिद्धाः, तदा तीर्थस्यानुत्पन्नत्वात्। (३) तीर्थकरसिद्धाः तीर्थंकरा एव (४) अतीर्थंकरसिद्धा अन्ये सामान्यकेवलिनः। (५) स्वयंबुद्धसिद्धाः स्वयंबुद्धाः सन्तो ये सिद्धाः। (६) प्रत्येकबुद्धसिद्धाः प्रत्येकबुद्धाः सन्तो ये सिद्धाः।

से यह ग्लानमुनिसेवा हमेशा नहीं कर पाता है, तब प्रतिज्ञावचन यथास्थित नहीं रहा। फिर भी यह नियम प्रशस्त प्रणिधान स्वरूप होने से हृदय में शुभ भाव पैदा करने और बनाया रखने द्वारा सफल है; ठीक इसी प्रकार यहां सिद्ध-नमस्कार सर्व काल न होता रहने से 'नमो सया' वचन अयथास्थित-सा दिखाई पड़ने पर भी इसको बोलने में एक प्रशस्त प्रणिधान पैदा होता है, सिद्ध-नमस्कार में चित्त का तन्मयभाव होता है और यह हृदय में शुभ भावोल्लास का पूरक है इसलिए 'नमो सया ...'यह प्रणिधान निरर्थक नहीं सार्थक है; ऐसा आचार्यों का कथन है। केवल 'नमः' की अपेक्षा 'सदा नमः' कहने में अधिक शुभ भाव होता है यह अनुभव सिद्ध है।

'सव्वसिद्धाणं' अर्थात् तीर्थसिद्धादि पंद्रह प्रकार के सिद्धों के प्रति। शास्त्र में सिद्धों के १५ प्रकार इस रीति से कहे गए हैं, (१) तीर्थसिद्ध, (२) अतीर्थसिद्ध, (३) तीर्थंकरसिद्ध, (४) अतीर्थंकरसिद्ध, (५) स्वयंबुद्धसिद्ध, (६) प्रत्येकबुद्धसिद्ध, (७) बुद्धबोधितसिद्ध, (८) स्त्रीलिङ्गसिद्ध, (९) पुलिङ्गसिद्ध, (१०) नपुंसकलिंगसिद्ध, (११) स्वलिंगसिद्ध, (१२) अन्यलिंगसिद्ध, (१३) गृहिलिंगसिद्ध, (१४) एकसिद्ध, और (१५) अनेकसिद्ध,।

तीर्थसिद्ध आदि का स्वरूपः—

● (१) यहां 'तीर्थसिद्ध' वे कहे जाते हैं जो तीर्थ उत्पन्न होने के बाद सिद्ध हुए—केवलज्ञान पा कर मुक्त हुए। तीर्थ अर्थात् परमात्मा के द्वारा स्थापित किया गया पूर्वोक्त स्वरूपवाला श्रमणसङ्घ;—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकात्मक श्रमणप्रधान सङ्घ; अथवा, 'श्राम्यति इति श्रमणः' इस व्युत्पत्ति के

(ल०–) अथस्वयंबुद्ध-प्रत्येकबुद्धसिद्धयोः कः प्रतिविशेषः इति ? उच्यते, १.बोध्यु-२.पधि-३.श्रुत-४.लिङ्गकृतो विशेषः तथाहि,-स्वयंबुद्धा बाह्यप्रत्ययमन्तरेण बुध्यन्ते, प्रत्येकबुद्धास्तु न तद्विरहेण श्रूयते च बाह्यवृषभादिप्रत्ययसापेक्षा करकण्ड्वादीनां प्रत्येकबुद्धानां बोधिः नैवं स्वयंबुद्धानां जातिस्मरणादीनामिति । उपधिस्तु स्वयं बुद्धानां द्वादशविधः पात्रादिः, प्रत्येकबुद्धानां तु नवविधः प्रावरणवर्जः । स्वयंबुद्धानां पूर्वाधीतश्रुतेऽनियमः, प्रत्येकबुद्धानां तु नियमतो भवत्येव । लिङ्गप्रतिपत्तिः स्वयंबुद्धानामाचार्यसंनिधावपि भवति, प्रत्येकबुद्धानां तु देवता प्रयच्छतीत्यलं विस्तरेण ।

अनुसार मोक्षार्थ तपस्या करने वाला चतुर्विध श्रमणसंघ । ● (२) 'अतीर्थसिद्ध' वे हैं जो अन्य तीर्थ में सिद्ध हुए । सुना जाता है कि 'जिणंतरे साहुवोच्छेओ'–दो जिन के अंतरकाल में जहां पूर्व जिन का शासन लुप्त हो जाता है, वहां पूर्वकी साधुपरंपरा का विच्छेद होता है । उस अन्तरकाल में भी जातिस्मरण (पूर्वजन्म के स्मरण) आदि द्वारा जो मोक्षमार्ग प्राप्त कर सिद्ध होते हैं वे अतीर्थसिद्ध हैं । अथवा ऋषभदेव प्रमुख तीर्थंकर भगवान के तीर्थस्थापना के पूर्व मरुदेवी आदि सिद्ध हुए वे अतीर्थसिद्ध है, क्यों कि तब तीर्थ उत्पन्न ही नहीं हुआ था । ● (३) 'तीर्थंकरसिद्ध' तीर्थंकर भगवान ही हैं । ● (४) 'अतीर्थंकरसिद्ध' तीर्थंकर प्रभु से भिन्न सामान्य केवली हैं । ● (५) स्वयंबुद्ध सिद्ध वे हैं जो स्वयं बुद्ध हो सिद्ध हुए । ● (६) 'प्रत्येक बुद्ध सिद्ध' प्रत्येकबुद्ध हो जो सिद्ध होते हैं ।

प्र० – स्वयंबुद्धसिद्ध और प्रत्येकबुद्धसिद्ध में क्या अन्तर है ?

उ०—दोनों के बोधि, उपधि, श्रुत एवं लिङ्ग इन चार में भिन्नता होने से दोनों में अन्तर है । यह इस प्रकार ● (क) स्वयंबुद्ध जो होते हैं वे किसी बाह्य निमित्त के बिना ही बोध प्राप्त करते हैं, बुद्ध-जाग्रत् होते हैं, जबकि प्रत्येकबुद्ध उसके बिना नहीं । शास्त्र में सुना जाता है कि करकण्डु आदि प्रत्येकबुद्धों को बाह्य निमित्तभूत बैल,—पहले पुष्ट युवान और बाद में अतिकृश जराजीर्ण हुआ,—इत्यादि का अनुभव मिलने पर वैराग्य बढ़ गया, प्रतिबुद्ध हुए । स्वयबुद्धों को ऐसा नहीं, क्यों कि उन्हें जातिस्मरण-पूर्वजन्म का स्मरण, अवधिज्ञान, अथवा उत्कट वैराग्य संस्कार आदि होते हैं इसकी वजह से वे प्रतिबुद्ध होते हैं, कोई बाह्य निमित्त पा कर नहीं । ● (ख) दोनों में दूसरा फर्क यह है कि स्वयंबुद्ध के पास उपधि याने पात्र आदि धर्मोपकरण बारह प्रकार के होते हैं;पात्र, पात्रबन्ध, रजस्त्राण, पात्रकेसरिका,पात्रस्थापन,गोच्छक,और पटलक,–इन सात प्रकार का पात्रनियोग,८ रजोहरण.९.मुखवस्त्रिका,१०.कल्प(पांगरण वस्त्र),११.कम्बल और १२.कम्बल-अन्तरपट,जबकि प्रत्येकबुद्धों को अन्तिम तीन के सिवाय नौ प्रकार की उपधि होती है । ●(ग) स्वयंबुद्धों को पूर्वजन्म में पठित श्रुत का नियम नहीं है, जब कि प्रत्येकबुद्धों को यह अवश्य हो कर यहां उपस्थित होता है । ● (घ) स्वयंबुद्धों को साधुवेश का स्वीकार स्वत. या गुरु के समक्ष भी होता है, जब कि प्रत्येकबुद्धों को साधुलिङ्ग का प्रदान देव करता है । दोनों के बीच के अन्तर का विवेचन इतना यहां काफी है, विस्तार से क्या ? । अब आगे बुद्धबोधितसिद्ध आदि का विचार प्रस्तुत किया जाता है ।

● (७) बुद्धबोधितसिद्ध वे होते हैं जो बुद्ध याने आचार्य के द्वारा बोध प्राप्त कराने पर सिद्ध होते हैं, वे यहां ग्राह्य हैं । ● (८—१०) इन सभी में से कोई तो स्त्रीलिङ्गसिद्ध—याने स्त्री होकर सिद्ध हुए, कोई पुंल्लिङ्गसिद्ध—पुरुष होकर सिद्ध हुए, और कोई नपुंसकलिङ्ग सिद्ध होते हैं ।

प्र०–तब क्या तीर्थंकर भी कोई स्त्रीलिङ्ग सिद्ध होते हैं ?

उ०—हां, होते हैं, क्यों कि 'सिद्धप्राभृत' शास्त्र में कहा गया है कि सब से अल्प स्त्रीतीर्थंकरसिद्ध

(ल०)–●(७) बुद्धबोधितसिद्धा बुद्धा आचार्यास्तैर्बोधिताः सन्तो ये सिद्धास्ते इह गृह्यन्ते। ●(८) एते च सर्वेऽपि स्त्रीलिङ्गसिद्धाः केचित्, ●(९) केचित्पुंल्लिङ्गसिद्धाः, ●(१०) केचिन्नपुंसकलिङ्गसिद्धाः। आह,–'तीर्थकरा अपि स्त्रीलिङ्गसिद्धा भवन्ति ?'। भवन्तीत्याह, यत उक्तं सिद्धप्राभृते,—'सव्वत्थोवा तित्थयरिसिद्धा, तित्थयरितित्थे णोतित्थयरसिद्धा असंखेज्जगुणा, तित्थयरितित्थे णोतित्थयरिसिद्धा असंखेज्जगुणाओ'इति। (तीर्थकराः)न नपुंसकलिङ्गसिद्धाः। प्रत्येकबुद्धास्तु पुंल्लिङ्गा एव। (११) स्वलिङ्गसिद्धा द्रव्यलिङ्गं प्रति रजोहरणगोच्छगधारिणः,(१२) अन्यलिङ्गसिद्धाः परिव्राजकादिलिङ्गसिद्धाः, (१३) गृहिलिङ्गसिद्धा मरुदेवीप्रभृतयः। (१४) 'एगसिद्धा' इति एकस्मिन् समये एक एव सिद्धः, (१५) 'अणेगसिद्धा' इति एकस्मिन् समये यावदष्टशतं सिद्धम्; यत उक्तम्-'बत्तीसा अडयाला सट्ठी बावत्तरी य बोधव्वा। चुलसीई छण्णउई दुरहिय अट्ठुत्तरसयं च॥'

अत्राह चोदकः 'ननु सर्व एवैते भेदास्तीर्थसिद्ध-अतीर्थसिद्ध-भेदद्वयान्तर्भाविनः, तथाहि—तीर्थसिद्धा एव तीर्थकरसिद्धाः, अतीर्थकरसिद्धा अपि तीर्थसिद्धा वा स्युरतीर्थसिद्धा वा, इत्येवं शेषेष्वपि भावनीयमित्यतः किमेभिरिति ?'। अत्रोच्यते,–अन्तर्भावे सत्यपि पूर्वभेदद्वयादेवोत्तरोत्तरभेदाप्रतिपत्तेरज्ञातज्ञापनार्थं भेदाभिधानमित्यदोषः।

(पं०–) 'न नपुंसकलिङ्ग'इति, नपुंसकलिंगे तीर्थकरसिद्धा न भवन्तीति बोध्यम्।

होते हैं, इनसे असंख्यातगुण पुरुष-अतीर्थंकरसिद्ध स्त्रीतीर्थंकर के तीर्थ में होते हैं, इनसे असंख्यातगुण स्त्री-अतीर्थंकरसिद्ध स्त्रीतीर्थंकर के तीर्थ में होते हैं। कोई तीर्थंकर नपुंसकलिङ्गसिद्ध नहीं होते हैं और प्रत्येकबुद्धसिद्ध तो मात्र पुरुष ही होते हैं, न स्त्री, या न नपुंसक।

● (११) स्वलिङ्गसिद्ध वे हैं जो द्रव्यलिङ्ग रूप में रजोहरण-पात्रगोच्छक को धारण कर सिद्ध होते हैं। ● (१२) अन्यलिङ्गसिद्ध वे हैं जो परिव्राजकादि जैनेतर लिङ्ग में सिद्ध होते हैं। ● (१३) गृहलिङ्गसिद्ध मरुदेवी-प्रमुख गृहस्थलिङ्ग में सिद्ध हुए कहे जाते हैं। ● (१४) एकसिद्ध अर्थात् एक 'समय' नाम के अति सूक्ष्म काल में जो एक ही जीव सिद्ध हुआ। ● (१५) अनेकसिद्ध अर्थात् जो एक 'समय' में अनेक जीव सिद्ध हुए, यावत् अधिक से अधिक १०८ सिद्ध हुए; क्योंकि कहा है,—

'बत्तीसा, अडयाला, सट्ठी, बावत्तरी य बोधव्वा। चुलसीई, छण्णवई, दुरहिय अट्ठुत्तरसयं च॥१॥

—लगातार आठ समय तक सिद्ध होते रहे तो प्रत्येक समय में उत्कृष्टतः ३२-३२ सिद्ध हो सकते हैं। इस प्रकार सात समय तक उत्कृष्टत. ४८-४८, छः समय तक ६०-६०, पांच समय तक ७२-७२, चार समय तक ८४-८४, तीन समय तक ९६-९६, दो समय तक १०२-१०२ और एक समय में उत्कृष्टतः १०८ सिद्ध हो सकते हैं। बाद में अन्तर पड़ता है अर्थात् अनन्तर समय में कोई जीव सिद्ध नहीं होता है।

प्र०-ये पंद्रह प्रकार के सिद्धों का समावेश तीर्थसिद्ध एवं अतीर्थसिद्ध इन दो भेदों में हो जाता है। यह इस प्रकार,-तीर्थंकरसिद्ध तीर्थसिद्ध ही हैं, क्योंकि तीर्थ स्थापित होने के बाद ही सिद्ध होते हैं, और अतीर्थंकरसिद्ध तीर्थसिद्ध या अतीर्थसिद्ध होते हैं। इस रीति से अन्य प्रकार भी इन दोनों में समाविष्ट ही हैं। तब दो ही प्रकार कहिए, पंद्रह क्यों कहे गए ? यह क्या निरर्थक कथन नहीं ?

(ल०–'जो देवाण वि०...)इत्थं सामान्येन सर्वसिद्धनमस्कारं कृत्वा पुनरासन्नोपकारित्वाद् वर्तमानतीर्थाधिपतेः श्रीमन्महावीरवर्धमानस्वामिनः स्तुतिं कुर्वन्ति,–'जो देवाण वि देवो' इत्यादि ।

('जो देवाण वि देवो, जं देवा पंजली नमंसंति । तं देवदेवमहियं सिरसा वंदे महावीरं ॥')

अस्य व्याख्याः—'यो' भगवान् वर्द्धमानः, 'देवानामपि' भवनवास्यादीनां, 'देवः' पूज्यत्वात्,–'यं देवाः' 'प्राञ्जलयो नमस्यन्ति' = विनयरचितकरपुटाः सन्तः प्रणमन्ति, 'तं' 'देवदेवमहियं' देवदेवाः शक्रादयः, तैर्महितः=पूजितः, 'सिरसा'=उत्तमाङ्गेनेत्यादरप्रदर्शनार्थमाह, 'वन्दे', कं ? 'महावीरं' ईर गतिप्रेरणयोरित्यस्य विपूर्वस्य विशेषेण ईरयति कर्म्म गमयति, याति चेह शिवमिति वीरः, महांश्चासौ वीरश्च महावीरः । उक्तं च,–'विदारयति यत्कर्म्म तपसा च विराजते । तपोवीर्येण युक्तश्च, तस्माद् वीर इति स्मृतः ॥ १ ॥, तम् ।

उ०–सच है कि तीर्थसिद्ध-अतीर्थसिद्ध दो में अन्य प्रकार समाविष्ट हो जाते हैं, फिर भी मात्र इन दोनों से उत्तरोत्तर प्रकार का बोध नहीं हो सकता, इसलिए अज्ञात के ज्ञापनार्थ अन्य तेरह प्रकार बतलाए गए। अतः निरर्थक कथन जैसा कोई दोष नहीं है।

इस प्रकार 'सिद्धाणं बुद्धाणं०' गाथा से सामान्य रूप से समस्त सिद्धों को नमस्कार कर फिर भी निकट के उपकारी होने से वर्तमान शासन के अधिपति श्री महावीर स्वामी की स्तुति पढ़ते हैं,—

'जो देवाण वि देवो, जं देवा पंजली नमंसंति । तं देवदेवमहियं सिरसा वंदे महावीरं ॥'

अर्थः–जो देवों के भी (पूज्य) देव हैं, जिन्हें देवगण अंजलि लगा कर नमस्कार करते हैं, उन इन्द्रपूज्य महावीर स्वामि को मैं मस्तक से वंदना करता हूँ।

इसकी व्याख्याः—'जो' = जो, 'देवाण वि' = भवनपति आदि चारों निकाय के देवों के भी, 'देवो' = देव हैं, क्यों कि पूज्य हैं। और 'जं' = जिन्हे, 'देवा'=देवगण, 'पंजली नमंसंति' = विनय से अञ्जलि-करसंपुट लगा कर प्रणाम करते हैं। 'तं' = उन, 'देवदेवमहियं' = शक्रेन्द्रादि से पूजित, 'महावीर' को 'सिरसा' = मस्तक से, 'वंदे' = वन्दना करता हूँ। वन्दन मस्तक से ही होता है, फिर भी यहां 'मस्तक-से' यह जो कहा यह भगवान के प्रति आदर प्रदर्शित करने के लिए कहा गया है। 'महावीर' शब्द का अर्थ इस प्रकार है,—महान् ऐसे जो वीर यह महावीर; 'वीर'शब्द 'वि' पूर्वक 'ईर्' धातु से बना है; वि + ईर् = वीर; 'ईर्' का अर्थ गति एवं प्रेरणा होता है, तब 'वीर' अर्थात् विशेष रूप से जो कर्म को निकाल देते हैं और मोक्ष में जाते हैं। कहा गया है कि,——

विदारयति यत्कर्म्म, तपसा च विराजते । तपोवीर्येण युक्तश्च तस्माद् वीर इति स्मृतः ॥१॥

—अर्थात् जिस कारण से कर्म का विदारण करते हैं, तप से विराजमान हैं, और तपोवीर्य से संपन्न हैं, इसलिए यह 'वीर' इस संज्ञा से स्मरण में आते हैं। महान ऐसे वीर, महावीर को मैं नमस्कार करता हूँ।

(ल०-इक्को वि नमुक्कारो०'–) इत्यं स्तुतिं कृत्वा पुनः परोपकारायाऽऽत्मभाववृद्धये फलप्रदर्शनपरमिदं पठति पठन्ति वा,—'एक्को वि णमोक्कारो'इत्यादि ।
('एक्को वि णमोक्कारो जिणवरवसहस्स वद्धमाणस्स । संसारसागराओ तारेइ नरं व नारिं वा ॥३॥')

अस्य व्याख्या,–'एकोऽपि नमस्कारः' तिष्ठन्तु बहवः, 'जिनवरवृषभाय' वर्द्धमानाय यत्नात् क्रियमाणः सन् , किम् ? संसरणं 'संसारः' तिर्यग्नरनारकामरभवानुभवलक्षणः स एव भवस्थिति-कायस्थितिभ्यामनेकधावस्थानेनालब्धपारत्वात् 'सागर' इव संसारसागरः, तस्मात् 'तारयति'=अपनयतीत्यर्थः,'नरं व नारिं वा' पुरुषं वा स्त्रियं वा। पुरुषग्रहणं पुरुषोत्तमधर्मप्रतिपादनार्थं, स्त्रीग्रहणं तासामपि तद्भव एव संसारक्षयो भवतीति ज्ञापनार्थम् ।

'इक्को वि०' गाथा की व्याख्याः—

इस प्रकार एक या अनेक साधक श्रीमहावीर प्रभु की स्तुति नमस्कार करके नमस्कार का फल दिखलाने वाली इस 'एक्को वि०' गाथा पढते हैं। गाथा से फल का प्रदर्शन परोपकार के लिए किया जाता है, परोपकार यह कि यह पढ कर नमस्कार में नमस्कर्ता जीव के भाव की वृद्धि हो। एक भी नमस्कार का इतना उत्कृष्ट फल है यह याद करने से भावी नमस्कार में भावोल्लास की वृद्धि और किये गए नमस्कार की अनुमोदना के भाव में वृद्धि होना अनुभव सिद्ध है। गाथा यह है,—

'इक्को वि नमुक्कारो जिणवर वसहस्स वद्धमाणस्स । संसारसागराओ तारेइ नरं व नारिं वा ॥३॥'

अर्थः—जिनवर में वृषभ (उत्तम) ऐसे वर्द्धमान स्वामी को (किया गया) एक भी नमस्कार मनुष्य या स्त्री को संसारसागर से पार करता है।

अर्थात्, 'इक्को वि'=एक भी, बहुत की तो क्या बात ? 'नमुक्कारो'=नमस्कार, 'जिणवर-वसहस्स'=जिनवर याने अवधिजिन आदि में उत्तम ऐसे केवली जिन, उनमें वृषभ, श्रेष्ठ यह जिनवरवृषभ, ऐसे 'वद्धमाणसामिस्स'=वर्द्धमानस्वामी के प्रति विशिष्ट प्रयत्न पूर्वक किया जाता (एक भी नमस्कार) पुरुष या स्त्री को संसार सागर से पार करता है।

भवस्थिति-कायस्थितिः—

संसार अर्थात् संसरण; नारक-तिर्यंच-मनुष्य-देव भव में परिभ्रमण यह संसरण है, उसे संसार कहते हैं। वही समुद्र जैसा है, क्यों कि वह 'अनेक रूप' से अवस्थित होने से उसका पार नहीं पाया जाता है। यह 'अनेक रूप' भवस्थिति और कायस्थिति की अपेक्षा कहा जाता है। संसार में भवस्थिति याने आयुष्य के बंधन अंतर्मुहूर्त से लेकर तेत्तीस सागरोपम तक के अनेक प्रकार भोगने पड़ते हैं; एवं कायस्थिति याने वैसी-न वैसी पृथ्वीकायादि काया में लगातार जघन्यतः एक बार से लेकर उत्कृष्टतः अनंत काय (निगोद, साधारण वनस्पतिकाय जहां एक शरीर में अनन्त जीव उत्पन्न होते हैं उस) में अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल तक अनन्त बार जन्म-मरण करने पड़ते हैं।

श्री वर्धमान स्वामी के प्रति किया गया एक भी सामर्थ्ययोग का नमस्कार इन अनेकविध

(ल०–स्त्रीमुक्तौ यापनीयतन्त्रप्रमाणम्:–) यथोक्तं यापनीयतन्त्रे 'णो खलु इत्थी अजीवो (प्र०...अजीवे), ण यावि अभव्वा, ण यावि दंसणविरोहिणी(प्र०...विराहिणी), णो अमाणुसा, णो अणारिउप्पत्ती, णो असंखेज्जाउया, णो अइकूरमई, णो ण उवसन्तमोहा, णो ण सुद्धाचारा, णो असुद्धबोंदी, णो ववसायवज्जिया, णो अपुव्वकरणविरोहिणी(प्र०...विराहिणी), णो णवगुणठाणरहिया, णो अजोग्गा लद्धीए, णो अकल्लाणभायणं ति कहं न उत्तमधम्मसाहिग त्ति'' ।

तत्र 'न खलु' इति 'नैव स्त्री अजीवो वर्तते किन्तु जीव एव, जीवस्य चोत्तमधर्म्मसाधकत्वाविरोधस्तथादर्शनात् । न जीवोऽपि सर्व्व उत्तमधर्म्मसाधको भवति, अभव्येन व्यभिचारात् , तद्व्योपोहायाह 'न चाप्यभव्या' जातिप्रतिषेधोऽयम् । यद्यपि काचिदभव्या तथापि सर्व्वैवाभव्या न भवति, संसारनिर्वेदनिर्वाणधर्म्माद्वेषशुश्रूषादिदर्शनात् । भव्योऽपि कश्चिद्दर्शनविरोधी यो न सेत्स्यति तन्निरासायाह 'नो दर्शनविरोधिनी', दर्शनमिह सम्यग्दर्शनं परिगृह्यते तत्त्वार्थश्रद्धानरूपं, न तद्विरोधिन्येव, आस्तिक्यादिदर्शनात् ।

भवस्थिति-कायस्थितिमय दुस्तर भी संसारसागर से नर-नारी को उद्धरने वाला होता है। 'नर' का प्रथम ग्रहण इसलिए किया कि धर्म पुरुषप्रधान अर्थात् पुरुषों के मुख्य स्थान वाला है यह सूचित करना है। 'नारी' ग्रहण से यह बतलाना है कि स्त्रियों के भी उस संसार का अन्त हो सकता है।

स्त्रीमुक्ति में यापनीयतन्त्र का प्रमाणः—

जैसे कि यापनीयशास्त्र में कहा गया है कि "स्त्री कोई अजीव तो है ही नहीं, फिर वह उत्तम धर्म-मोक्षकारक चारित्रधर्म की साधक क्यों न हो सके ? वैसे ही वह अभव्य भी नहीं है, दर्शन-विरोधी नहीं है, अमनुष्य नहीं है, अनार्य देशोत्पन्न नहीं है, असंख्यवर्ष की आयु वाली नहीं है, अति क्रूर मति वाली नहीं है, मोह उपशान्त हो ही न सके ऐसी नहीं, वह शुद्ध आचार से शून्य नहीं है, अशुद्ध शरीर वाली नहीं है, परलोकहितकर प्रवृत्ति से रहित नहीं है, अपूर्वकरण की विरोधी नहीं है, नौ गुणस्थानक (छठवें से चौदहवें तक के गुणस्थानक) से रहित नहीं है, लब्धि के अयोग्य नहीं है, अकल्याण की ही पात्र है ऐसा भी नहीं, फिर उत्तम धर्म की साधक क्यों न हो सके ?"

इस शास्त्रकथन का विवेचनः—● स्त्री अजीव है ऐसा नहीं किन्तु जीव ही है, और जीव में उत्तमधर्म की साधकता होना कोई विरुद्ध नहीं है, क्योंकि ऐसा देखा जाता है कि जीव उत्तम धर्म का साधक होता है। तब, पुरुषजीव जब साधक हो सकता है तो स्त्रीजीव भी साधक होने में क्या विरोध है ? ● हां, जीव भी सभी ही उत्तम धर्म के साधक नहीं होते हैं क्योंकि उत्तमधर्मसाधकता का अभव्य जीव में व्यभिचार है, अर्थात् अभव्य तो जीव होता हुआ भी उत्तमधर्मसाधक नहीं, इसलिए स्त्री में अगर अभव्यत्व ही हो तब वह उत्तमधर्मसाधक न बन सके। किन्तु ऐसा नहीं है, अतः स्त्री में एकान्ततः अभव्यत्व ही होने का निषेध करने के लिए कहते हैं कि स्त्री अभव्यजाति की ही नहीं। अलबत्ता कोई स्त्री अभव्य भी होती है, लेकिन सभी स्त्री अभव्य ही होती हैं ऐसा नहीं, कोई भव्य भी होती हैं। कारण यह है कि स्त्री में भी भववैराग्य, मोक्षोपयोगी धर्म के प्रति अद्वेष,उस धर्मको सुनने की इच्छा,धर्मबोध इत्यादि

(ल०-) दर्शनाविरोधिन्यपि अमानुषी नेष्यत एव, तत्प्रतिषेधायाह 'नो अमानुषी', मनुष्यजातौ भावात् विशिष्टकरचरणोरुग्रीवाद्यवयवसंनिवेशदर्शनात्। मानुष्यप्यनार्योत्पत्तिरनिष्टा, तदपनोदायाह 'नो अनार्योत्पत्तिः' आर्येष्वप्युत्पत्तेः, तथादर्शनात्। आर्योत्पत्तिरप्यसंख्येयायुर्नाधिकृतसाधनायेत्येतदधिकृत्याह 'नो असंख्येयायुः' सैव, संख्येयायुयुक्ताया अपि भावात्, तथादर्शनात्। संख्येयायुरपि अतिक्रूरमतिः प्रतिषिद्धा तन्निराचिकीर्षयाह 'नातिक्रूरमतिः', सप्तमनरकायुर्निबन्धनरौद्रध्यानाभावात्।

(पं०-) 'सप्तमे'त्यादि, सप्तमनरकेऽतिक्लिष्टसत्त्वस्थाने आयुषो निबन्धनस्य रौद्रध्यानस्य तीव्रसंक्लेशरूपस्याभावात् स्त्रीणां, 'षष्ठीं च स्त्रियः' इतिवचनात्।

मात्र भव्य के सुलभ गुण दिखाई पड़ते हैं। अगर वह अभव्य ही होती तो यह संभवित ही नहीं। ● भव्य भी कोई जीव दर्शनविरोधी होता है जिससे वह मोक्ष नहीं पा सकता, लेकिन स्त्री में एकान्ततः ऐसी दर्शनविरोधिता ही है। इस बात का निषेध करने के लिए कहा गया कि यह दर्शनविरोधी ही है ऐसा नहीं। 'दर्शन' शब्द से यहां सम्यग्दर्शन याने तत्त्वार्थ श्रद्धान ग्राह्य है, उसका स्त्रीत्व के साथ कोई विरोध नहीं है, क्यों कि कई स्त्रीयों में भी सम्यग्दर्शन के लक्षण आस्तिक्य अर्थात् जिनवचन पर निःशङ्क श्रद्धा दिखाई देती है।

● सम्यग्दर्शन से विरोध न रखती हुई भी वह अगर मानवीय स्त्री न हो तब उत्तमधर्मसाधक नहीं हो सकती है इसलिए अमानवीपन का निषेध करने के लिए कहते हैं कि 'नो अमानुषी'-यह मानवीय स्त्री नहीं है ऐसा नहीं, क्योंकि मनुष्यजाति में उत्पन्न हुई है। यह मनुष्ययोग्य विशिष्ट अवयव जैसे कि हाथ, पैर, उरु,ग्रीवा आदि दिखाई पड़ने से सिद्ध है। ● मानवीय स्त्री भी अगर अनार्य देश-कुल में उत्पन्न हुई हो तो वह उत्तम धर्म की साधना के लिए योग्य नहीं, इसलिए उसके निषेधार्थ कहते हैं 'न अनार्योत्पत्तिः', क्योंकि आर्य देश-कुलों में स्त्री की उत्पत्ति है, ऐसा देखने में आता है। ● आर्य में जन्म होते हुए भी असख्यात वर्ष की आयु वाली स्त्री उत्तमधर्मसाधना के लिए समर्थ नहीं है, अतः उसके सम्बन्ध में कहते हैं कि यह असख्येय वर्ष की आयुवाली स्त्री प्रस्तुत में गृहीत नहीं है, क्योंकि उत्तम धर्मसाधक आर्य स्त्री संख्यात वर्ष के उम्र वाली होती है ऐसा देखते हैं। ● संख्यात वर्ष वाली भी यह अगर अतिक्रूर अध्यवसाय से युक्त हो तब अयोग्य है। प्रस्तुत में वैसा नहीं है यह 'न अतिक्रूरमतिः' शब्द से कहा गया। अति क्रूर अध्यवसाय न होने में कारण यह है कि सातवीं नरक,-जो कि अति संक्लेश वाले जीवों का स्थान है,-उसके आयुष्यकर्म का बन्ध कराने वाला जो तीव्र रागद्वेषमय संक्लेशभरा रौद्रध्यान, यह उसे होता नहीं है। यह वस्तु शास्त्र से प्रमाणित है, क्योंकि शास्त्र बतलाता है कि 'षष्ठीं च स्त्रियः' अर्थात् स्त्रियाँ उत्कृष्टतः छठवी नरक तक जा सकती हैं। इससे सिद्ध होता है कि उन्हें सप्तमनरकायु के योग्य तीव्र रौद्रध्यान नहीं हो सकता।

अति तीव्र रौद्रध्यान और उत्कृष्ट शुक्लध्यान की व्याप्ति नहीं:-

प्र०-तब तो प्रस्तुत रौद्रध्यान की भांति मोक्षदायी उत्कृष्ट शुभध्यान-शुक्लध्यान भी नहीं हो सकेगा, फिर उसे सर्वोत्तम धर्मसाधना एवं मुक्ति कैसे?

(ल०— स्त्रीणामशुभवदुत्कृष्टशुभध्यानमपि कथम् ?) तद्वत्प्रकृष्टशुभध्यानाभाव इति चेत् ? न, तेन तस्य प्रतिबन्धाभावात्, तत्फलवदितरफलभावेनानिष्टप्रसङ्गात् ।

(पं०—) 'तद्वत्'=प्रकृतरौद्रध्यानस्येव 'प्रकृष्टस्य'=मोक्षहेतोः'शुभध्यानस्य' शुक्लरूपस्य 'अभाव', 'इति'=एवं, 'चेत्' अभ्युपगमो भवतः, अस्य परिहारमाह'न'=नैवेतत्परोक्तं, कुत इत्याह 'तेन'=प्रकृतरौद्रध्यानेन 'तस्य'=प्रकृतशुभध्यानस्य, 'प्रतिबन्धाभावाद्'=अविनाभावायोगात् तत्प्रतिबन्धसिद्धौ हि व्यापककारणयोर्वृक्षत्वधूमध्वजयोर्निवृत्तौ शिंशपाधूमनिवृत्तिवत् प्रकृतरौद्रध्यानाभावे प्रकृष्टशुभध्यानाभाव उपन्यसितुं युक्तः । न चास्ति प्रतिबन्धः, कुत इत्याह 'तत्फलवत्' तस्य प्रकृष्टशुभध्यानस्य फलं मुक्तिगमनं, तस्येव,'इतरफलभावेन' प्रकृतरौद्रध्यानफलस्य सप्तमनरकगमनलक्षणस्य भावेन=युगपत्सत्तया, 'अनिष्टप्रसङ्गात्'=परमपुरुषार्थोपघातरूपस्यानिष्टस्य प्रसङ्गात् । प्रतिबन्धसिद्धौ हि शिंशपात्वे इव वृक्षत्वं, धूम इव वा धूमध्वजः, प्रकृष्टशुभध्यानभावे स्वफलकारिण्यवश्यंभावी प्रकृतरौद्रध्यानभावः स्वकार्यकारी, स्वकार्यकारित्वाद्वस्तुनः, स्वकार्यमाक्षिपत् कथमिव परमपुरुषार्थं नोपहन्यादिति।

उ०-ऐसा मत कहिए। उत्कृष्ट शुभध्यान नहीं हो सके ऐसा नहीं है, क्यों कि प्रस्तुत रौद्रध्यान के साथ उसकी कोई व्याप्ति नहीं है। व्याप्ति सिद्ध हो तब प्रस्तुत रौद्रध्यान के अभाव में उत्कृष्ट शुभध्यान के अभाव का उपन्यास करना योग्य है। उदाहरणार्थ वस्तु के साथ व्यापक या कारण की व्याप्ति होती है, पेड़पन यह शीशमपन का व्यापक धर्म है; तो दोनों की व्याप्ति है,–'जहां जहां शीशमपन है वहां वहां पेड़पन अवश्य है'; तब व्यापक धर्म पेड़पन के अभाव में शीशमपन के अभाव का उपन्यास किया जा सकता है, कह सकते हैं कि अगर पेड़ ही नहीं है तब शीशम नहीं हो सकता है। वैसे ही, अग्नि धुंआ का कारण है, उभय की व्याप्ति है, जहां जहां धुंआ है वहां वहां अग्नि अवश्य है, तब कह सकते हैं कि अग्नि अगर न हो तो धुंआ नहीं ही होगा। प्रस्तुत में ऐसी कोई व्याप्ति नहीं है कि जहां जहां उत्कृष्ट शुभध्यान है वहां वहां ऐसा तीव्र रौद्रध्यान होता ही है। कारण यह है कि,यदि दोनों ही है तब उत्कृष्ट शुभध्यान के फल मोक्षगमन की तरह प्रस्तुत रौद्रध्यान का फल सप्तमनरकगमन भी साथ ही साथ प्राप्त होगा और यह तो अनिष्ट है; क्यों कि नरकगमन तो परम पुरुषार्थ मोक्षगमन का घातक होने से नरकगमन के साथ मोक्ष होना किसी को इष्ट नहीं। अगर व्याप्ति सिद्ध हो तब तो जिस प्रकार शीशमपन होने पर पेड़पन, अथवा धुंआ होने पर आग, इत्यादि अवश्य होते ही है इसी प्रकार व्याप्य उत्कृष्ट शुभध्यान होने पर व्यापक प्रस्तुत रौद्रध्यान भी होना ही चाहिए; और वे दोनों ही अपना अपना कार्य करेंगे ही; कारण, वस्तु अपना कार्य करती ही है; तब तीव्र रौद्रध्यानका का कार्य भी अवश्य होगा। फलतः रौद्रध्यान, अपने कार्य नरकगमन को आकर्षित करता हुआ, मोक्ष प्राप्ति का विघातक क्यों न हो ? इसलिए फलित होता है कि जहां मोक्ष प्रापक शुक्लध्यान की योग्यता है वहां सप्तमनरक प्रापक रौद्रध्यान की योग्यता होने का कोई नियम नहीं है; अतः स्त्रियां सप्तम नरकगमन के योग्य न होने पर भी शुक्लध्यान के योग्य हो सकती हैं।

● क्रूर अध्यवसाय वाली न होती हुई भी अगर वह कामलंपट हो तब सुन्दर याने उत्तम धर्मसाधना के लिए योग्य नहीं; किन्तु स्त्रीमात्र में कामलंपटता ही होती है ऐसा नहीं, यह सूचित करने के लिए कहते हैं कि यह उपशान्तमोह हो ही नहीं सकती वैसा नहीं, क्यों कि किसी २ स्त्री का मोह शान्त हुआ भी देखते हैं। ● उपशान्त मोह वाली भी अगर अशुद्ध आचार युक्त हो तब निन्द्य है, लेकिन ऐसा

(ल०-) अक्रूरमतिरपि रतिलालसाऽसुन्दरैव, तदपोहायाह-'नो न उपशान्तमोहा', काचिदुपशान्तमोहापि संभवति, तथादर्शनात् । उपशान्तमोहापि अशुद्धाचारा गर्हिता, तत्प्रतिक्षेपायाह-'नो न शुद्धाचारा' काचित् (प्र०...कदाचित्) शुद्धाचारापि भवति, औचित्येन परापकरणवर्जना(प्र०...परोपकरणाज्जर्जना)द्याचारदर्शनात् । शुद्धाचारापि अशुद्धबोन्दिरसाध्वी तदपनोदायाह-'नो अशुद्धबोन्दिः'; काचित् शुद्धतनुरपि भवति, प्राक्कर्मानुवेधतः (प्र०...०नुरोधतः) संसञ्जनाद्यशुद्धयदर्शनात् कक्षास्तनादिदेशेषु । शुद्धबोन्दिरपि व्यवसायवर्जिता निन्दितैव, तन्निरासायाह-'नो व्यवसायवर्जिता'; काचित् परलोकव्यवसायिनी, शास्त्रात् (प्र०...शास्त्रादौ) तत्प्रवृत्तिदर्शनात् ।

(ल०-) सद्व्यवसायाप्यपूर्वकरणविरोधिनी विरोधिन्येव, तत्प्रतिषेधमाह 'नो अपूर्वकरणविरोधिनी', अपूर्वकरणसंभवस्य स्त्रीजातावपि प्रतिपादितत्वात् । अपूर्वकरणवत्यपि नवगुणस्थानरहिता नेष्टसिद्धये (इति) इष्टसिद्धयर्थमाह 'नो नवगुणस्थानरहिता', तत्संभवस्य तस्याः प्रतिपादितत्वात् । नवगुणस्थानसङ्गतापि लब्ध्ययोग्या अकारणमधिकृतविधेः, इत्येतत्प्रतिक्षेपायाह-'नायोग्या लब्धेः', आमर्षौषध्यादिरूपायाः कालौचित्येनेदानीमपि दर्शनात् ।

नहीं है यह 'नो न शुद्धाचारा' से सूचित किया जाता है; सभी स्त्री शुद्ध आचार वाली हो ही नहीं सकती ऐसा नहीं, कोई कोई स्त्री शुद्ध आचार वाली भी होती है। औचित्य-पालन पूर्वक दूसरों को अपकार न करना, हानि न पहुँचाना, ऐसे शुद्ध आचार किसी किसी स्त्री में दिखाई पड़ते हैं। ❂ शुद्धाचार वाली भी अगर अशुद्ध देह वाली हो तब ठीक नहीं, अतः उसके निषेधार्थ कहते हैं कि सभी स्त्री अशुद्ध ही शरीर वाली होती है ऐसा नहीं है, क्यों कि कोई स्त्री पवित्र शरीर वाली भी होती है। देखते हैं कि पूर्व कर्म के अनुरोध से कांख, स्तन आदि प्रदेश में दुर्गन्धयुक्त पसीना वगैरह अशुद्धि से रहित भी स्त्री जगत में होती है। ❂ शुद्ध शरीर वाली भी स्त्री अगर परलोकहितकारी प्रवृत्ति से रहित हो तब निन्द्य है, उत्तमधर्मसाधक नहीं; किन्तु सभी में ऐसा नहीं यह 'नो व्यवसायवर्जिता' शब्द से कहते हैं; कारण, कोई कोई स्त्री परलोक-व्यवसाय वाली भी दिखाई देती है, शास्त्र में स्त्रियों की परलोकहितार्थ प्रवृत्ति देखने में आती है।

❂ परलोकव्यवसाय वाली होने पर भी स्त्रीभाव के साथ अगर सम्यक्त्वसाधक अपूर्वकरण का विरोध हो तब चारित्र स्वरूप उत्तम धर्म की साधना, केवलज्ञान एवं मोक्ष का भी विरोध ही है, लेकिन इस विरोध का प्रतिषेध करते हैं,-'न अपूर्वकरणविरोधिनी.' अर्थात् अपूर्वकरण का स्त्री-भाव के साथ कोई विरोध नहीं, क्यों कि स्त्री-जाति में भी अपूर्वकरण का सद्भाव शास्त्र में प्रतिपादित है। ❂ यदि शङ्का हो कि अपूर्वकरण वाली भी स्त्री सम्यक्त्व याने चतुर्थ गुणस्थानक तो पा जाए किन्तु यदि वह ऊपर के नौ गुणस्थानक प्राप्त करने के लिए अयोग्य हो तब तेरहवा 'सयोगि केवली' नामक केवलज्ञान का गुणस्थानक भी नहीं प्राप्त कर सकती ! तब तो इष्ट मोक्ष सिद्धि के लिए भी कहां से समर्थ हो सके ? इसलिए इष्टसिद्धि हेतु कहते हैं कि वह नौ गुणस्थानकों से रहित ही होती है ऐसा नहीं, क्यों कि किसी किसी स्त्री में उनका सद्भाव शास्त्र में प्रतिपादित है। ❂ नौ गुणस्थानकों के योग्य होने पर भी स्त्री अगर लब्धियों के योग्य नहीं तब प्रस्तुत कैवल्यप्रापक उत्तमधर्मविधि की उत्पादक नहीं बन सकेगी, ऐसी शङ्का हो सकती है, अतः वैसी अयोग्यता का निषेध करने के लिए कहते हैं कि वह लब्धि के अयोग्य नहीं है; क्यों कि 'आमर्ष-

(ल०—द्वादशाङ्गवत्कैवल्यस्य कथं न बाधः ?) कथं द्वादशाङ्गप्रतिषेधः ? तथाविधविग्रहे ततो दोषात् ; श्रेणिपरिणतौ तु कालगर्भवद् भावतो भावोऽविरुद्ध एव। लब्धियोग्यापि अकल्याणभाजनोपघाता (प्र०...०नोपघातात्) नाभिलषितार्थसाधनायालमित्यत आह 'नाकल्याणभाजनं', तीर्थकरजननात् ; नातः परं कल्याणमस्ति। यत एवमतः कथं नोत्तमधर्म्मसाधिका ? इति उत्तमधर्म्मसाधिकैव।

अनेन तत्तत्कालापेक्षयैतावद्गुणसंपत्समन्वितैवोत्तमधर्म्मसाधिकेति विद्वांसः। केवलसाधकश्चायं, सति च केवले नियमान्मोक्षप्राप्तिरित्युक्तमानुषङ्गिकम्। तस्मान्नमस्कारः कार्य इति।

(पं०—) 'श्रेणी'त्यादि; 'श्रेणिपरिणतौ तु' = क्षपकश्रेणिपरिणामे पुनः वेदमोहनीयक्षयोत्तरकाले, 'कालगर्भवत्',काले=प्रौढे ऋतुमत्त्युचिते उदरसत्त्व इव, 'भावतो'=द्वादशाङ्गार्थोपयोगरूपात्, न तु शब्दतोऽपि'भावः'=सत्ता द्वादशाङ्गस्य, 'अविरुद्धो'=न दोषवान्। इदमत्र हृदयम्,—अस्ति हि स्त्रीणामपि प्रकृतयुक्त्या केवलप्राप्तिः, शुक्लध्यानसाध्यं च तत्, 'ध्यानान्तरिकायां शुक्लध्यानाद्यभेदद्वयावसान उत्तरभेदद्वयानारम्भरूपायां वर्तमानस्य केवलमुत्पद्यते' इति वचनप्रामाण्यात्। न च पूर्वगतमन्तरेण शुक्लध्यानाऽऽद्यभेदौ स्तः 'आद्ये पूर्वविदः' (तत्त्वार्थ० ९–३९) इतिवचनात्, 'दृष्टिवादश्च न स्त्रीणामि'तिवचनात्, अतस्तदर्थोपयोगरूपः क्षपकश्रेणिपरिणतौ स्त्रीणां द्वादशाङ्गभावः क्षयोपशमविशेषाददुष्ट इति।

औषधि' (स्पर्श मात्र से रोग हटाने वाली) लब्धि आदि उसमें होती है; वर्तमान काल में भी कालानुसार विशिष्ट शक्ति किसी किसी स्त्री में दिखाई पड़ती है।

__स्त्रियों को शुक्लध्यानसाधक पूर्वों का ज्ञान कहाँ से ?:—__

प्र०—स्त्रियों को समस्त द्वादशाङ्ग का निषेध क्यों ? अगर निषेध है तब पूर्वों का ज्ञान न होने से केवलज्ञान-साधक शुक्लध्यान कैसे होगा ?

उ०—स्त्रियों का शरीर ही ऐसा है इसलिए उसके द्वादशांग आगमों का अध्ययन निषिद्ध किया गया है ता कि कोई दोषापत्ति न हो। फिर भी यह तो शब्द रूप से ज्ञान करने का निषेध हुआ, किन्तु अर्थ रूप से नहीं; और वस्तुस्थिति ऐसी है कि स्त्रीवेदादि मोहनीय कर्म का क्षय हो जाने से क्षपक श्रेणि का विशिष्ट परिणाम होने पर मतिज्ञान श्रुतावरण के विशिष्ट क्षयोपशमवश 'भावतो भावः अविरुद्धः'—अर्थात् शुक्लध्यान के भाव से ज्ञानावरण-क्षयोपशमभाव याने द्वादशांग के अर्थ का बोधात्मक उपयोग प्रगट हो जाता है ; तब अर्थोपयोग रूप में द्वादशांग की सत्ता आ ही जाती है। यह अविरुद्ध है याने दोषावह नहीं है, क्यों कि पूर्वो के ज्ञाता और पुरुषों की तरह उनके मोहनीय का सर्वथा क्षय हो गया है। यहाँ तात्पर्य यह है कि स्त्रियों को भी प्रस्तुत युक्ति से केवलज्ञान की प्राप्ति होना भी उचित है, और केवलज्ञान शुक्लध्यान से होता है; क्यों कि यह शास्त्र वचन इसमें प्रमाण है कि 'ध्यानान्तरिका में वर्तमान जीव को केवलज्ञान उत्पन्न होता है; शुक्लध्यान के पहले दो प्रकार-'पृथक्त्व-वितर्क सविचार, एकत्ववितर्क अविचार' के अन्त में, और पिछले दो प्रकार-'सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति, व्युच्छिन्न क्रियाप्रतिपाति'-के प्रारम्भ होने पूर्व, होने वाली अवस्था को ध्यानान्तरिका कहते हैं। अब देखिए कि बारहवें अङ्ग 'दृष्टिवाद' के अन्तर्गत

(ल०–स्तुतिः किमर्थवादो, विधिवादो वा ?–) आह,–"किमेष स्तुत्यर्थवादो यथा–'एकया पूर्णाहुत्या (प्र०...पूर्णयाऽऽहुत्या) सर्वान् कामानवाप्नोती'ति ? उत विधिवाद एव यथा– 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम' इति ? किं चातः ? यद्याद्यः पक्षः, ततो यथोक्तफलशून्यत्वात् फलान्तरभावे च तदन्यस्तुत्यविशेषादलमिहैव यत्नेन । न च यक्षस्तुतिरप्यफलैवेति प्रतीतमेवैतत् । अथ चरमो विकल्पः, ततः सम्यक्त्वाणुव्रतमहाव्रतादिचारित्रपालना(प्र०...पालनादि)वैयर्थ्यम्, तत एव मुक्तिसिद्धेः । न च फलान्तरसाधकमिष्यते सम्यक्त्वादि, मोक्षफलत्वेनेष्टत्वात्, 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इतिवचनादिति (तत्त्वार्थ० १।१)"

(पं०–) 'स्तुत्यर्थवाद' इति, स्तुतये=स्तुत्यर्थं, अर्थवादः=प्रशंसा, स्तुत्यर्थवादः । विप्लावनार्थमपि अर्थवादः स्यात्, तद्व्यवच्छेदार्थं स्तुतिग्रहणमिति ।

'पूर्व' नाम के श्रुत का ज्ञान अगर न हो तो शुक्लध्यान के पहले दो प्रकार उत्पन्न नहीं हो सकते । तत्त्वार्थ-महाशास्त्र में कहा है 'आद्ये पूर्वविदः' = 'शुक्लध्यान के आद्य दो प्रकार पूर्व के ज्ञाता को हो सकते हैं । और शास्त्र यह भी कहता है कि स्त्रियों को दृष्टिवाद आगम का अध्ययन नहीं । और स्त्रियों को केवलज्ञान और इसका साधनभूत शुक्ल ध्यान तो होता है; इसलिए मानना दुर्वार है कि शब्द रूप से उन्हें अध्ययन न होने पर भी धर्मध्यान के आधार पर क्षपक श्रेणि के विशिष्ट परिणाम तक वह पहुँचती है, और वहां श्रुतज्ञानावरण कर्मों का एक ऐसा क्षयोपशम हो जाता है कि जिससे, शब्दतः नहीं सही, पदार्थबोध रूप से द्वादशाङ्ग श्रुत-प्राप्ति हो जाती है । ऐसा मानने में कोई दोष नहीं है ।

⑬ न अकल्याण भाजनम्—शायद प्रश्न होगा कि स्त्री लब्धि-योग्य होने से केवलज्ञान की लब्धि के योग्य भी हो, किन्तु वह अगर कल्याण का पात्र ही न हो तो इष्ट केवलज्ञान और मोक्ष सिद्ध करने के लिए कैसे समर्थ हो सकती है ? इसलिए यहां कहते हैं कि वह कल्याण पात्र भी नहीं है ऐसा नहीं; क्योंकि वह तीर्थंकर को जन्म देती है, और इससे बढ़कर कौन दूसरा कल्याण है ?

इस प्रकार स्त्री जब अजीव से लेकर अ-कल्याणभाजन तक नहीं है, तब वह केवलज्ञान और मोक्ष के उपयोगी उत्तम धर्म की साधक क्यों न हो ? अर्थात् स्त्री भी उत्तम धर्म साधक है ही ।

इससे विद्वज्जन कहते हैं कि वैसे वैसे काल की अपेक्षा अर्थात् भरत-ऐरवत क्षेत्र में अवसर्पिणी काल के तृतीय आरे के अन्त एवं चतुर्थ आरे में और उत्सर्पिणी काल के तीसरे आरे में एवं चौथे के प्रारम्भ में, तथा महाविदेह क्षेत्र में सर्व काल में, पूर्वोक्त इतनी गुणसंपत्ति से युक्त ही स्त्री उत्तमधर्म की साधक हो सकती है । यह उत्तमधर्म केवलज्ञान को प्रगट करता है, और केवलज्ञान होने पर अवश्य मोक्ष प्राप्ति होती है । इतना प्रसङ्गवश कहा गया ।

जब महावीर प्रभु के प्रति किया गया एक भी नमस्कार नर-नारी को संसार समुद्र से पार कर देता है, तब यह एक कर्तव्य बन जाता है कि यह नमस्कार करना चाहिए ।

स्तुति अर्थवाद है या विधिवाद ?:—

प्र०-यहां 'महावीर प्रभु के प्रति किया गया एक भी नमस्कार संसारोद्धारक है' ऐसी जो महावीर प्रभु की

(ल०-स्तुतिः विधिवादः) अत्रोच्यते -विधिवाद एवायं; न च सम्यक्त्वादिवैयर्थ्यं तरत्वतस्तद्भाव एवास्य भावात् । दीनारादिभ्यो भूतिन्याय एषः, तदवन्ध्यहेतुत्वेन तथा तद्भावोपपत्तेः । अवन्ध्यहेतुश्चाधिकृतफलसिद्धौ भावनमस्कार इति ।

(पं०-) 'तत्त्वत' इत्यादि । तत्त्वतो=निश्चयवृत्त्या, 'तद्भाव एव'=सम्यग्दर्शनादिभाव एव, 'अस्य'=नमस्कारस्य, 'भावात्' । द्रव्यतः पुनरन्यथाप्ययं स्यादिति तत्त्वग्रहणम् । इदमेव सदृष्टान्तमाह 'दीनारादिभ्यो'=दीनारप्रभृतिप्रशस्तवस्तुभ्यो, 'भूतिन्यायो'=विभूतिदृष्टान्तः, तत्सदृशत्वाद् भूतिन्यायः, 'एषः'=सम्यक्त्वादिभ्यो नमस्कारः । एतदपि कुत इत्याह 'तदवन्ध्यहेतुत्वेन', तस्य=नमस्कारस्य साध्यस्य, अवन्ध्यहेतुत्वेन=नियतफलकारिहेतुभावेन सम्यक्त्वादीनां, 'तथा'=भावनमस्कार(प्र०....नमस्कारभाव) रूपतया, 'तद्भावोपपत्तेः'=सम्यक्त्वादीनां परिणत्युपपत्तेः; भूतिपक्षे तु तस्याः=भूतेः, अवन्ध्यहेतुत्वेन दीनारादीनां, तथा=भूतितया, तेषां=दीनारादीनां, परिणतेः=घटनादिति योज्यमिति । भवतु नामैवं तथापि कथं प्रकृतसंसारोत्तारसिद्धिरित्याशङ्क्याह 'अवन्ध्यहेतुश्च'=अस्खलितकारणं च, 'अधिकृतफलसिद्धौ' मोक्षलक्षणायां, 'भावनमस्कारो' भावत्प्रतिपत्तिरूपः, इति कथं न मोक्षफलं सम्यग्दर्शनादि ? परम्परया मोक्षस्य तत्फलत्वादिति ।

स्तुति की गई यह क्या (१) स्तुति-अर्थवाद है या (२) विधिवाद ? (१) ● अर्थवाद दो प्रकार का होता है (१) प्रशंसावाक्य, और निन्दावाक्य । इनमें दूसरा अशुभ प्रसङ्ग आदि सूचित करने के लिए भी निन्दात्मक अर्थवाद वाक्य का प्रयोग किया जाता है; लेकिन यहां शुभसूचक प्रशंसात्मक अर्थवाद का प्रश्न है इसलिए पूछा जाता है कि यह क्या स्तुति-अर्थवाद है ? इसका उदाहरण यह,-एकया पूर्णाहुत्या सर्वान् कामान् अवाप्नोति'-अर्थात् एक संपूर्ण आहुति से सभी वांछित प्राप्त होते हैं। ध्यान में रहे यह कोई विधिवाक्य नहीं कि मात्र एक पूर्ण आहुति ही की जाए और दूसरा कुछ न करे फिर भी सर्व इच्छित सिद्ध होंगे;किन्तु पूर्ण आहुति प्रभावशाली है ऐसी प्रशंसा का द्योतक है यह विधिवाक्य । ● (२) विधिवाद' का दृष्टान्त यह कि 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः,—अर्थात् स्वर्ग की कामना वाला पुरुष अग्निहोत्र यज्ञ करे' । इसमें स्वर्गेच्छु के लिए अग्निहोत्र का विधान किया गया । प्रस्तुत में प्रश्न है कि 'इक्को वि नमुक्कारो' यह अर्थवाद है या विधिवाद ? कहिए इससे क्या मतलब है ? मतलब यह है कि,

अगर पहला पक्ष स्वीकृत है तब तो देखिए अर्थवाद में यथोक्त फल नहीं होता है; प्रशंसात्मक अर्थवाद वस्तुस्थिति का प्रतिपादक नहीं है इसलिए गाथा से यह विवक्षित होता नहीं कि एक ही नमस्कार से संसार पारगमन स्वरूप फल हो जाएगा । शायद आप कहेंगे 'मत हो, दूसरा कोई फल होगा' तब भी यह आया कि तादृश फलजनक किसी दूसरी स्तुति करने की अपेक्षा इस स्तुति करने में कोई विशेषता नहीं हुई, फिर इसी में प्रयत्न क्यों करे ? प्रयत्न उसी अन्य स्तुति में ही किया जाए; जैसे कि यज्ञ की स्तुति में । यज्ञस्तुति भी निष्फल ही होती है ऐसा नहीं है ।

अब अगर दूसरा पक्ष विधिवाद स्वीकृत है तब तो सम्यक्त्व एवं देशविरति-सर्वविरति आदि चारित्र का पालन करना व्यर्थ है, क्यों कि एक महावीर-नमस्कार से ही मोक्ष सिद्ध हो जाएगा ! सम्यक्त्वादि के द्वारा भी मोक्ष के सिवा दूसरा कोई फल तो इष्ट नहीं है, क्यों कि मोक्षसाधक रूप से ही वे अभिलषित हैं । तत्त्वार्थ अध्याय प्रथम का आद्य सूत्र यह है कि 'सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः'—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग्चारित्र (तीनों मिल कर) मोक्ष के उपाय हैं । लेकिन इनका प्रयत्न करना व्यर्थ है, मोक्ष तो एक ही वीरनमस्कार से सिद्ध हो जाएगा ।

(ल०-अर्थवादेऽप्युपपत्तिः) अर्थवादपक्षेऽपि न सर्वा स्तुतिः समानफलेत्यतो विशिष्टफल-हेतुत्वेनात्रैव यत्नः कार्यः; तुल्ययत्नादेव विषयभेदेन फलभेदोपपत्तेः; वञ्जुल-कल्पपादपादौ प्रतीत-मेतत् । भगवन्नमस्कारश्च परमात्मविषयतयोपमातीतो वर्त्तते; यथोक्तम् .—

'कल्पद्रुमः परो मन्त्रः, पुण्यं चिन्तामणिश्च यः । गीयते स नमस्कारस्तथैवाहुरपण्डिताः ॥१॥
'कल्पद्रुमो महाभागः, कल्पनागोचरं फलम् । ददाति न च मन्त्रोऽपि, सर्वदुःखविषापहः ॥२॥
'न पुण्यमपवर्गाय, न च चिन्तामणिर्यतः । तत्कथं ते नमस्कार एभिस्तुल्योऽभिधीयते ? ॥३॥

इत्यादि । एतास्तिस्त्रः स्तुतयो नियमेनोच्यन्ते । केचित्तु अन्या अपि पठन्ति, न च तत्र नियम इति न तद्व्याख्यानक्रिया ।

(पं०-) 'कल्पद्रुमे'त्यादिश्लोकः, 'कल्पद्रुमः'=कल्पवृक्षः, 'परो मन्त्रः'=हरिणैगमेषादिः, 'पुण्यं'=तीर्थंकरनामकर्मादि, 'चिन्तामणिः' मणिविशेषः, 'यो गीयते'=यः श्रूयते जगतीष्टफलदायितया, 'तथैव'=गीयमानकल्पद्रुमादिप्रकार एव 'स', भगवंस्तव 'नमस्कार', 'आहुः', अपण्डिताः=अकुशलाः, 'एतदि'ति शेषः ।

स्तुतिवाक्य विधिवाद होने का समर्थनः—

उ॰ —श्री वर्धमानस्वामी को किया गया एक भी नमस्कार संसारतारक है यह स्तुति-वचन विधि-वाद ही है, अर्थवाद नहीं कि जिससे वह निष्फल या प्रयत्नायोग्य हो । हां, विधिवाद होने से एक वीर-नमस्कार में ही मोक्षसाधकता का विधान प्रतिपादित हुआ, फलतः फिर सम्यग्दर्शनादि व्यर्थ हो जाने की आपत्ति खड़ी होगी ! लेकिन ऐसा नहीं है,-सम्यग्दर्शनादि व्यर्थ नहीं हैं; क्यों कि निश्चयदृष्टि से यह संसारतारक एक नमस्कार, वस्तुतः देखा जाए तो सम्यग्दर्शनादि होने पर ही हो सकता है । यहां निश्चयदृष्टि से ऐसा इसलिए कहा कि द्रव्यनमस्कार अर्थात् मोक्ष का असाधक भावशून्य नमस्कार तो बिना सम्यग्दर्श-नादि के भी हो सकता है । तात्त्विक नमस्कार में अति उच्च भाव की आवश्यकता है, और वह सम्यग्दर्श-नादि से संपन्न आत्मा को ही हो सकता है ।

सुवर्णमुद्रादि से विभूति का दृष्टान्तः—

सम्यग्दर्शनादि में से ऐसा तात्त्विक नमस्कार उत्पन्न होता है, यह समझने के लिए सुवर्णमुद्रादि से उत्पन्न विभूति का दृष्टान्त है । दोनों में समानता है, कारण यह है कि जिस प्रकार सुवर्णमुद्रादि ये वैभव के अवन्ध्य हेतु हैं, याने नियत कारण हैं, इसलिए वे ही वैभव रूप में परिणत होते हैं, वैभव स्वरूप बन जाते हैं, ठीक इसी प्रकार सम्यग्दर्शनादि भी साध्य तात्त्विक नमस्कार के अवश्य फलोत्पादक कारण हैं इसलिए वे बढ़ते बढ़ते तात्त्विक नमस्कार रूप से परिणत हो जाते हैं, तात्त्विक नमस्कार स्वरूप बन जाते हैं । ऐसा मत कहिए कि 'ठीक है ऐसा हो फिर भी प्रस्तुत संसारतरण कैसे सिद्ध होगा ?;' क्यों कि संसारपारगमन एवं मोक्षप्राप्ति स्वरूप फल के प्रति भावनमस्कार याने तात्त्विक नमस्कार, जो कि भगवत्-प्रतिपत्ति याने उत्कृष्ट जिनाज्ञापालन रूप है, वह अस्खलित कारण है, अतः इससे संसारोत्तार एवं मोक्ष अवश्य सिद्ध होता है । जब भावनमस्कार को पैदा करने द्वारा सम्यग्दर्शनादि मोक्षजनक हैं, तब वे निरर्थक कहां हुए ? क्यों कि परंपरा से उनका भी फल मोक्ष है ही ।

अर्थवाद में भी उपपादनः—

विधिवादपक्ष का समर्थन किया गया। अब अर्थवाद-पक्ष में भी उपपादन इस प्रकार किया जाता है,—यह जो आक्षेप किया था कि 'अर्थवाद तो मात्र प्रशंसावचन होने से वह वास्तविकता का प्रतिपादक नहीं, अर्थात् स्तुति उक्त फल की वस्तुतः जनक नहीं; और दूसरे किसी 'फल की जनक हो तब प्रयत्न तादृशफलजनक अन्य किसी यक्षस्तुति आदि में ही किया जाए, इस स्तुति में ही क्यों?'—यह आक्षेप उचित नहीं, क्यों कि सभी स्तुति समान ही फल की उत्पादक होती है ऐसा नियम नहीं है; और देवों की अपेक्षा देवाधिदेव त्रिलोकबन्धु वीतराग सर्वज्ञ श्री महावीरादि तीर्थंकर भगवान की स्तुति विशिष्ट फल पैदा करती है इसलिए इसी में प्रयत्न करना चाहिए। चाहे सराग देव की स्तुति की जाए या वीतराग देव की, लेकिन प्रयत्न, श्रम आयास तो दोनों स्तुतिओं में समान ही है' तब फिर इतने ही प्रयत्न को वीतराग स्तुति से विशिष्टफलदायी क्यों न बनाया जाए?

प्र०—जब प्रयत्न तुल्य है तब फल में तारतम्य कैसे?

उ०—विषय के भेद से फल में तारतम्य होता है। देखते हैं कि बबूल का वृक्ष और कल्पवृक्ष—इन दोनों के प्रति प्रयत्न समान ही किया जाए लेकिन प्रयत्न के फल में बड़ा अन्तर पड़ता है। बबूल के आगे प्रार्थना की जाए किन्तु फल कुछ नहीं जब कि कल्पवृक्ष के आगे प्रार्थना करें तो इच्छित फल प्राप्त होता है। महावीर भगवान के प्रति नमस्कार करने में नमस्कार का विषय परमात्मा है जो कि उपमातीत है; जगत में किसी विषय की उपमा परमात्मा को नहीं लगाई जा सकती। जैसे कि कहा गया है,—

(१) "जगत में इष्टफल के दाता रूप से जो कल्पवृक्ष, हरिणैगमेषी देव आदि का उग्र मन्त्र, तीर्थंकर-नामकर्मादि पुण्य, एवं चिन्तामणि रत्नविशेष सुने जाते हैं वे अर्हद्-नमस्कार ही हैं, अर्थात् अर्हन्नमस्कार ही कल्पवृक्ष है, महामन्त्र है;" इत्यादि अपण्डित लोग कहते हैं, अर्थात् नमस्कार को सुने जाते कल्पवृक्षादि स्वरूप कहने वाले अज्ञान हैं; क्यों कि

(२) महाप्रभावी भी कल्पवृक्ष तो प्रार्थी की मात्र कल्पनानुसार फल देता है; और मन्त्र भी विषनिवारणादि करता तो है लेकिन समस्त दुःख स्वरूप विष को नहीं हटा सकता है;

(३) अब पुण्य भी स्वर्गादि समृद्धि दे सकता है लेकिन मोक्षसंपत्ति देने के लिए समर्थ नहीं है, वैसे ही चिन्तामणि भी मोक्षप्रदान में समर्थ नहीं। जब ऐसा है तब, हे अरिहंत नाथ! आप के प्रति किये गये नमस्कार जो कि कल्पनातीत स्वरूप वाला अनन्त शाश्वत सुख देता है, सर्वदुःखविष का निवारक है, एवं मोक्षप्रदान में समर्थ है, वैसे नमस्कार को कल्पवृक्षादि के समान कैसे कहा जाए इत्यादि।

'सिद्धाणं बुद्धाणं,' 'जो देवाण वि,' 'इक्को वि नमुक्कारो,'— तीन स्तुतियां अवश्य पढ़ी जाती हैं, तब कि कई एक लोग 'उज्जित०' इत्यादि और भी स्तुतियां पढ़ते हैं, किन्तु उनको पढ़ने की नियतता नहीं है, इसलिए यहां उनकी व्याख्या करने का प्रयत्न नहीं किया जाता।



वेयावच्चगराणं०

(ल०-) एवमेतत्पठित्वो(प्र०...तो)पचितपुण्यसंभारा उचितेषूपयोगफलमेतदिति ज्ञापनार्थं पठन्ति-'वेयावच्चगराणं संतिगराणं सम्मद्दिट्ठिसमाहिगराणं करेमि काउस्सग्गमि'त्यादि यावद्वोसिरामि ।

व्याख्या पूर्ववत् ; नवरं वैयावृत्यकराणां=प्रवचनार्थं व्यापृतभावानां यथाम्बाकुष्माण्डयादीनां, शान्तिकराणां क्षुद्रोपद्रवेषु, सम्यग्दृष्टीनां सामान्येनान्येषां, समाधिकराणां स्वपरयोस्तेषामेव स्वरूपमेतदेवैषामिति वृद्धसंप्रदायः । एतेषां संबन्धिनं, सप्तम्यर्थे वा षष्ठी, एतद्विषयम्=एतान्(प्र०...एतान्वा)आश्रित्य । करोमि कायोत्सर्गमिति । कायोत्सर्गविस्तरः पूर्ववत् स्तुतिश्च ।

(पं०-) 'उचितेषूपयोगफलमेतदिति', 'उचितेषु'=लोकोत्तरकुशलपरिणामनिबन्धनतया योग्येष्वर्हदादिषु, 'उपयोगफलं'=प्रणिधानप्रयोजनम् , 'एतत्'=चैत्यवन्दनम् , 'इति'=अस्यार्थस्य, 'ज्ञापनार्थमि'ति ।

वेयावच्चगराणं०

इस प्रकार 'सिद्धाणं बुद्धाणं०' सूत्र पढ़ कर, संगृहीत हुए पुण्यसमूह वाले साधक अब 'वेयावच्चगराणं०' सूत्र पढ़ते हैं; यह यह सूचित करने के लिए कि यह चैत्यवन्दन सप्रयोजन है। चैत्यवन्दन का प्रयोजन है कि अरिहंत परमात्मा आदि जो कि लोकोत्तर कुशल परिणाम यानी अलौकिक शुभ आत्मपरिणति के असाधारण हेतु होने से योग्य हैं, उनमें प्रणिधान लगाना अर्थात् एकाग्र मनःस्थापन करना। यह विशिष्ट एवं उत्तम प्रयोजन है, क्योंकि चैत्यवन्दन से फल रूप में योग्य परमात्मा आदि में मन का जो उपयोग यानी प्रणिधान होता है, वह प्रणिधान विघ्नोपशम, विशिष्ट पुण्यबन्ध एवं कर्मक्षयोपशम का कारण है। चैत्यवन्दन में अब वैयावच्चकारी सम्यग्दृष्टि की भाववृद्धि हेतु जो अन्तिम कायोत्सर्ग किया जाता है इसमें भी लोकोत्तर शुभ भाव में कारणभूत योग्य आत्माओं का प्रणिधान ही किया जाता है। इससे यह सूचित होता है कि चैत्यवन्दन करने का प्रयोजन, अरिहंत आदि योग्य महानुभावों में मनः प्रणिधान करना, यह है।-इसलिए इस क्रिया में उद्देश यही रखना कि 'मेरा मन कैसे अरिहंतादि में ठीक लग जाय।' अब सूत्र,—

वेयावच्चगराणं संतिगराणं सम्मद्दिट्ठि-समाहिगराणं करेमि काउस्सग्गम् , (अन्नत्थ०...)

अर्थ.—वैयावच्च(सेवा) कारी, शांतिकर,एवं समाधिकारक सम्यग्दृष्टि संबन्धी कायोत्सर्ग मैं करता हूँ।

इसकी व्याख्या—'वेयावच्चगराणं'=जिनप्रवचन की सेवा रक्षा प्रभावना के लिए प्रवृत्तिशील, जैसे कि शासनदेवी अम्बिका, कुष्माण्डी आदि; 'संतिगराणं'=क्षुद्र उपद्रवों में शान्ति करने वाले 'सम्मद्दिट्ठि'=सामान्यतः अन्य सम्यग्दृष्टि जो कि 'समाहिगराणं'=स्व पर को समाधि करने वाले हैं। वृद्ध पुरुषों का संप्रदाय है कि उन सम्यग्दृष्टियों का वही समाधिकरत्व स्वरूप है। 'वेयावच्चगराणं' आदि पदों को षष्ठी विभक्ति लगी है; अतः अर्थ यह होता है कि उन वैयावच्चकारी आदि सम्बन्धी 'करेमि काउस्सग्गं'—मैं कायोत्सर्ग करता हूँ। अथवा षष्ठी विभक्ति सप्तमी के अर्थ में समझना; अब अर्थ होगा,—उनको विषय करने वाला अर्थात् उनका निमित्त करके कायोत्सर्ग करता हूँ। कायोत्सर्ग की विस्तृत विचारणा पूर्व के मुताबिक जानना, और ऊपर पढ़ने की स्तुति की भी विचारणा वैसी ही समझना।

(ल०—वैयावृत्त्यकर्त्रादिभिरज्ञातेऽपि पुण्यबन्धः) नवरमेषां वैयावृत्त्यकराणां तथा तद्भाववृद्धि-रित्युक्तप्रायम् । तदपरिज्ञानेऽप्यस्मात् तच्छुभसिद्धाविदमेव वचनं ज्ञापकम् । न चासिद्धमेतद्, अभिचारुकादौ तथेक्षणात् । सदौचित्यप्रवृत्त्या सर्वत्र प्रवर्तितव्यमित्यैदम्पर्यमस्य । तदेतत् सकल-योगबीजम् । 'वन्दनादिप्रत्ययम् (वंदणवत्तियाए)' इत्यादि न पठ्यते, अपि त्वन्यत्रोच्छ्वसितेन (अन्नत्थ ऊससिएणं) इत्यादि, तेषामविरतत्वात्, सामान्यप्रवृत्तेरित्थमेवोपकारदर्शनात्, वचनप्रा-माण्यादिति व्याख्यातं 'सिद्धेभ्यः (सिद्धाणं०)' इत्यादि सूत्रम् ।

(पं०—) 'तदपरिज्ञाने'त्यादि=तैः वैयावृत्त्यकरादिभिरपरिज्ञानेऽपि स्वविषयकायोत्सर्गस्य, 'अस्मात्'=कायोत्सर्गात्, ('तच्छुभसिद्धौ) तस्य=कायोत्सर्गकर्त्तुः,शुभसिद्धौ=विघ्नोपशमपुण्यबन्धादिसिद्धौ, 'इदमेव'=कायोत्सर्गप्रवर्त्तकं, 'वचनं', 'ज्ञापकं'=गमकम्, आप्तोपदिष्टत्वेनाव्यभिचारित्वात् । 'न च'=नैव, 'असिद्धं'=अप्रतिष्ठितं, प्रमाणान्तरेण 'एतद्'=अस्माच्छुभसिद्धिलक्षणं वस्तु, कुत इत्याह 'आभिचारुकादौ' दृष्टान्त-धर्म्मिण्याभिचारुके स्तोभन-स्तम्भन-मोहनादि फले कर्म्मणि, 'आदि'शब्दाच्छान्तिकपौष्टिकादिशुभफलकर्म्मणि च, 'तथेक्षणात्'=स्तोभनीयस्तम्भनीयादिभिरविज्ञानेऽपि आप्तोपदेशेन स्तोभनादिकर्म्मकर्त्तुरिष्टफलस्य स्तम्भनादेः प्रत्यक्षानुमानाभ्यां दर्शनात् । प्रयोगः,—यदाप्तोपदेशपूर्वकं कर्म्म तद्विषयेणाज्ञातमपि कर्त्तुरिष्टफलकारि भवति, यथा स्तोभनस्तम्भनादि कर्म्म, तथाचेदं वैयावृत्त्यकरादिविषय कायोत्सर्गकर्म्म(प्र०....करणम्) इति ।

किन्तु विशेष विवेचन इतना है कि वैयावच्चकारी आदि को प्रस्तुत कायोत्सर्ग द्वारा वैयावृत्त्य-शान्ति-समाधिकरण का भाव बढ़ता है, यह कथितप्राय है ।

प्र०—उनको 'मुझे उद्देश कर कायोत्सर्ग हो रहा है' ऐसा ज्ञानोपयोग बना ही रहता है ऐसा कोई नियम नहीं है; तब फिर संभव है इस कायोत्सर्ग का उन्हें ज्ञान न भी हो, तो ऐसी परिस्थिति में उन्हें भाववृद्धि कैसे हो सकती है ?

उ०—उन्हें स्वसंबन्धी कायोत्सर्ग का ज्ञान न होने पर भी उस कायोत्सर्ग से कायोत्सर्गकर्ता को विघ्नोपशम, शुभ कर्म बन्ध, इत्यादि प्राप्त होता है, जिस शुभ कर्म के बल पर उनमें वैयावच्चकारी आदि में वैयावच्चादि के भाव की वृद्धि होना युक्तियुक्त है । जीव के पुण्य बल से दूसरों को उनकी सेवा करने का भाव जागृत होता है यह सिद्ध है ।

प्र०—ठीक है, लेकिन कायोत्सर्गकर्ता को कायोत्सर्ग से विघ्नोपशम-पुण्योपार्जनादि स्वरूप शुभ सिद्ध होता है इसका ज्ञापक कौन है ?

उ०—ज्ञापक यही कायोत्सर्गप्रवर्तक सूत्रवचन है। वह आप्त पुरुष के द्वारा उपदिष्ट होने से व्यभिचारी अर्थात् निष्फल वचन नहीं हो सकता। इसलिए चाहे वैयावृत्त्यकर्ता में अज्ञान रहे तब भी कायोत्सर्गवश शुभ प्राप्त होना वचन से ही सिद्ध है। इतना ही नहीं, प्रमाणान्तर से भी यह असिद्ध नहीं है; जैसे कि जहां अभिचार कर्म अर्थात् स्तोभन, स्तम्भन, मोहन आदि कर्म अथवा शान्ति-पौष्टिकादि शुभफलदायी कर्म किया जाता है वहां प्रत्यक्ष या अनुमान से अवगत होता है कि उस स्तोभनादि क्रिया के उद्देश्य व्यक्ति को उस क्रिया का ज्ञान न रहने पर भी स्तोभनादि क्रिया के कर्ता को इष्ट फल स्तोभन-स्तम्भनादि प्राप्त होता है क्यों कि यह क्रिया तद्विषयक आप्त पुरुष के

द्वारा उपदिष्ट है। इस दृष्टान्त पर अनुमान प्रयोग इस प्रकार हो सकता है,—जो जो कर्म अन्य को उद्देश्य रखकर किया जाता हुआ आप्त पुरुष के उपदेश पर निर्भर है वह वह कर्म अपने उद्देश्यभूत व्यक्ति से अज्ञात रहने पर भी अपने कर्ता को इष्टफलकारी होता है, उदाहरणार्थ स्तोभन-स्तम्भन आदि कर्म। वैयावृत्त्यकारी आदि को उद्देश्य रख कर किया जाता कायोत्सर्गकर्म भी ऐसा ही है अर्थात् आप्तोपदिष्ट है, अतः कायोत्सर्ग के विषयीभूत व्यक्ति से अज्ञात रहने पर भी कर्ता को इष्टफल संपादक होता है।

इस प्रकार वेयावच्चगराणं० सूत्र'उचितेषु उपयोगफलम्'—उचितों में प्रणिधानजनक है अर्थात् सूत्र के द्वारा जिनप्रवचनार्थ प्रवृत्तिशीलता, शान्तिकरता, सम्यग्दृष्टित्व और समाधिकर्तृत्व गुणों से योग्य बने जीवों के स्मरण का लाभ मिलता है और वह करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि हमेशा सर्वत्र औचित्य से प्रवृत्ति करनी आवश्यक है। प्रस्तुत में योग्य आत्माओं का स्मरण एवं उनके भावशुद्धि हेतु कायोत्सर्ग करना यह उचित प्रवृत्ति है, औचित्य है। यह सार्वदिक और सार्वत्रिक औचित्यपालन समस्त योगों का बीज है। अध्यात्म-भावना-ध्यान-समता-वृत्तिसंक्षय,-ये पांचों योग या ज्ञानाचारादि पंचाचार रूप योग, अथवा दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मक रत्नत्रयी योग, या यमनियमादि एवं अद्वेष-जिज्ञासादि युक्त मित्रादि योग-दृष्टि स्वरूप योग, उन सब योगवृक्ष का बीज है औचित्यपालन।

यहां 'वेयावच्चगराणं०' सूत्र पढ़ कर 'पुक्खरवर०' सूत्र की तरह बाद में 'वंदणवत्तियाए०' सूत्र नहीं पढ़ा जाता है, क्यों कि वे वैयावृत्त्यादिकर सम्यग्दृष्टि जीव अविरति वाले होते हैं, और अविरति वालों को विरतिधर के द्वारा वन्दन पूजन कराना उचित नहीं। अतः वंदणवत्तियाए०' सूत्र छोड़कर 'अन्नत्थ ऊससिएणं०' सूत्र पढ़ा जाता है और तदनन्तर इष्ट कायोत्सर्ग किया जाता है।

प्र०—'वंदणवत्तियाए' इत्यादि अगर न पढ़ें तब स्वात्मा को शुभसिद्धि एवं तदधीन वैयावच्चकारी आदि को भावशुद्धि का उपकार कैसे होगा ?

उ०—सामान्यप्रवृत्ति द्वारा इसी प्रकार याने वंदणवत्तियाए इत्यादि न पढ़ते हुए भी उपकार होता है यह देखने में आता है। उदाहरणार्थ, सुना जाता है कि बिना वंदणवत्तियाए० बोले, शासनदेवतार्थ की गई कायोत्सर्ग की सामान्य प्रवृत्ति द्वारा उसे भावशुद्धि का उपकार होता था। तब यहां भी इसी रीति से उपकार होगा। इसमें शास्त्र प्रमाण है। जब बिना 'वंदणवत्तियाए०' पढ़े 'वेयावच्चगराणं०' के बाद सीधा अन्नत्थ पढ़ने का शास्त्र वचन है, तब यों ही उपकार होना शास्त्रप्रमाणित हो जाता है।

'सिद्धाणं बुद्धाणं' इत्यादि सूत्र की व्याख्या हुई।



'जय वीयराय०' (प्रणिधानसूत्रम्)

(ल०–योगमुद्रादित्रयस्वरूपम्–) पुनः स ते वा संवेगभावितमतयो विधिनोपविश्य पूर्ववत् प्रणिपातदण्डकादि पठित्वा स्तोत्रपाठपूर्वकं ततः सकलयोगाक्षेपाय प्रणिधानं करोति कुर्वन्ति वा मुक्ताशुक्त्या; उक्तं च,—

'पंचंगो पणिवाओ, थयपाढो होइ जोगमुद्दाए । वंदण जिणमुद्दाए, पणिहाणं मुत्तसुत्तीए ॥१॥
दो जाणू दोण्णि करा, पंचमगं होइ उत्तमंगं तु । संमं संपणिवाओ, णेओ पंचंगपणिवाओ ॥२॥
अण्णोण्णंतरियंगुलि-कोसागारेहिं दोहिं हत्थेहिं । पिट्टोवरिकोप्पर-संठिएहिं तहजोगमुद्दत्ति ॥३॥
चत्तारि अंगुलाइं,पुरओ ऊणाहिं जत्थ पच्छिमओ । पायाणं उस्सग्गो, एसा पुण होइ जिणमुद्दा ॥४॥
मुत्तासुत्ती मुद्दा,समा जहिं दोवि गब्भिया हत्था । ते पुण निडालदेसे, लग्गा अन्ने अलग्गत्ति ॥५॥'

'जय वीयराय०' (प्रणिधानसूत्र)

३ मुद्रा : योगमुद्रा-जिनमुद्रा-मुक्ताशुक्तिमुद्राः–

पुनः संवेग से भावित मति वाले एक या अनेक साधक कायोत्सर्ग एवं स्तुति के अनन्तर विधि-पूर्वक बैठ कर पूर्व कहे अनुसार प्रणिपातदण्डक (नमुत्थुणं०) सूत्र पढ़ते हैं। बाद में स्तोत्र पढ़ कर समस्त समाधि का आकर्षण करने के लिए प्रणिधान करते हैं;–प्रभु के आगे अनेक शुभ आशंसाओं को प्रगट करनी है तब इनमें एकाग्र मनःस्थापन करते हैं, और इनका सूत्र–'जयवीयराय' इत्यादि पढते हैं। इसी-लिए यह प्रणिधानसूत्र कहा जाता है। यह सूत्र पढना 'मुक्ताशक्ति-मुद्रा' से किया जाता है। मुद्रा तीन प्रकार की होती हैं। इसके संबन्ध में चैत्यवन्दन-महाभाष्य में कहा गया है कि–

(१) पंचांग-प्रणिपात एवं स्तवपाठ 'योगमुद्रा' रख कर किये जाते हैं। 'वन्दणवत्तियाए०' इत्यादि पढ कर कायोत्सर्ग 'जिनमुद्रा' से किया जाता है। और प्रणिधान सूत्र 'मुक्ताशुक्तिमुद्रा' से पढा जाता है (पचाङ्गप्रणिपात एवं मुद्राओं का यह स्वरूप है:—)

(२) दो जानू , दो हाथ, और एक मस्तक,–इन पांचो अङ्गों को भूमि पर लगा कर सम्यक् रीति से किया जाता नमस्कार यह पंचांग-प्रणिपात है।

(३) दोनों हाथों की अङ्गुलियों को परस्पर अन्तर में रख कर दोनों हाथों को कमल-कोशाकार बनाया जाए और कोप्पर (कोहनी) को पेट के उपर स्थापित किया जाए (और कोशाकार हाथों को मुख के सामने रखा जाए) यह योगमुद्रा है।

(४) खडे रहकर पैरों को, आगे चार अंगुल के अन्तर से और पिछे चार से कुछ न्यून अन्तर से, जहां रखा जाता है और कायोत्सर्ग किया जाता है, यह जिनमुद्रा होती है।

(५) जहां दोनों हाथों को मौक्तिक की सीप की तरह अंगुलि-अग्रों को सामने सामने लाकर समान रूप में योजित किया जाता है, और वे हाथ ललाटप्रदेश पर लगाये जाते हैं, यह 'मुक्ताशुक्तिमुद्रा' है; अन्य कहते हैं ललाट से स्पर्श न कराते हुए उससे आगे रखे जाते हैं।

(ल०–प्रणिधानेन समाधिलाभः–)प्रणिधानं यथाशयं, यद् यस्य तीव्रसंवेगहेतुः। ततोऽत्र सयोगलाभः। यथाहुरन्ये,–'तीव्रसंवेगानामासन्नः समाधिः मृदुमध्याधिमात्रत्वात्, ततोऽपि विशेष इत्यादि'। प्रथमगुणस्थानस्थानां तावदेवंविधमुचितमिति सूरयः।

(पं०–) 'तत्रोऽत्रे'त्यादि, ततः=तीव्रसंवेगादुत्कटरूपाद्, अत्र=प्रणिधाने, 'सयोगलाभः'=शुद्धसमाधिप्राप्तिः। परसमयेनापि समर्थयन्नाह 'यथाहुः', 'अन्ये'=पतञ्जलिप्रभृतयः। यदाहुस्तदेव दर्शयति,–'तीव्रसंवेगानां'=प्रकृष्टमोक्षवाञ्छानाम्, 'आसन्नः'=आशुभावी, 'समाधिः'=मनःप्रसादः, 'यतः' इति गम्यते। अत्रापि तारतम्याभिधानायाह,–'मृदुमध्याधिमात्रत्वात्', मृदुत्वात् सुकुमारतया, मध्यत्वाद् अजघन्यानुत्कृष्टतया, अधिमात्रत्वात् प्रकृष्टतया, तीव्रसंवेगस्य। 'ततोऽपि'=तीव्रसंवेगादपि,किं पुनर्मन्दान्मध्याद्वा संवेगाद्, 'विशेषः' त्रिविधः समाधिरासन्नासन्नतरासन्नतमरूपः, 'आदि'शब्दान्मृदुना मध्येनाधिमात्रेण चोपायेन यमनियमादिना (प्र०....नियमादि)समवाय(प्र०....समय)वशात् प्रत्येकं मृदुमध्याधिमात्रभेदभिन्नतया त्रिविधस्य समाधेर्भावात् नवधासौ वाच्य इति।

आशय–प्रणिधान-तीव्रसंवेग-समाधि क्रमशः–

यहां जो प्रणिधान किया जाता है, वह जैसा अपना शुभाशय होगा वैसा बनेगा। इसलिए उच्चतम प्रणिधान के लिए उच्चतम शुभाशय बनाना आवश्यक है। शुभाशय कहिए, शुभ परिणति, शुभ अध्यवसाय, या शुभ भाव कहिए. एक ही चीज है; जितना वह उत्तम होगा उतना ही इस सूत्र में वर्णित भवनिर्वेदादि की आशंसा में प्रणिधान उत्तम होगा। लेकिन एक बात है कि यह प्रणिधान जिस प्रकार तीव्र संवेग याने मोक्षाभिलाषा का जनक बने वैसा करना चाहिए। सामान्य मोक्षेच्छा होने पर भी भवनिर्वेदादि की आशंसा हो सकती है, लेकिन अब प्रणिधान अर्थात् उसमें एकाग्र मनःस्थापन करने से मोक्षाभिलाषा बढ़ती है। तीव्र संवेगार्थ तीक्ष्ण प्रणिधान करना चाहिए। तभी वैसे प्रणिधान से तीव्र संवेग द्वारा सम्यग् योग अर्थात् शुद्ध समाधि प्राप्त होती है।

इतर शास्त्रों में भी इसका समर्थन मिलता है; जैसे कि योगदर्शनकार पतञ्जलि आदि कहते हैं,–'तीव्र संवेग याने अत्युत्कट मोक्षाभिलाषा वालों को समाधि शीघ्रभावी होती है। समाधि यह निर्मल मनःप्रसाद है। संवेग एवं समाधि की कई कक्षाएं होती हैं; इसलिए इनमें तारतम्य रहता है। तीव्र संवेग भी अगर सुकुमार हो तो मन्द, अगर जघन्य भी नहीं और उत्कृष्ट भी नहीं तब मध्यम, और यदि तेजस्वी हो तो उत्कृष्ट होता है। अब देखिए कि मन्द और मध्य से तो क्या किन्तु तीव्र संवेग से भी यह विशेष होता है कि समाधि शीघ्रभावी, अधिक शीघ्रभावी और अति शीघ्रभावी होती है। यहां 'इत्यादि' पद दिया है, इसमें 'आदि' पद से यह समझने का है कि संवेग की तरह यम-नियमादि कारणों से भी जो समाधि याने मनःप्रसाद प्राप्त होता है, वहां भी प्रत्येक मृदु, मध्य और उत्कृष्ट यमनियमादि से शीघ्र, शीघ्रतर और शीघ्रतम समाधि प्राप्त होती है। इस प्रकार संवेगाधीन त्रिविध समाधि प्रत्येक के भी यमनियमादि पालनवश त्रिविध त्रिविध भेद लेने से समाधि नौ प्रकार की भी कहनी चाहिए।

आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार का प्रणिधान पहले मिथ्यात्व-गुणस्थानक में रहे हुए मन्द मिथ्यादृष्टि जीवों को होना अशक्य नहीं, युक्तियुक्त है। सर्वज्ञकथित तत्त्वों की बोधि न पाने से मिथ्यात्व उनका हटा नहीं है लेकिन ऐसा प्रणिधान करने से आगे बढ़ने पर बोधि पा सकते हैं।

(ल०–) 'जय वीयराय ! जगगुरु ! होउ मम तुहप्पभावओ भयवं ! ।
भवनिव्वेओ मग्गाणुसारिआ इट्ठफलसिद्धी ॥ १ ॥
लोयविरुद्धच्चाओ, गुरुजणपूया परत्थकरणं च ।
सुहगुरुजोगो तव्वयणसेवणा आभवमखण्डा ॥ २ ॥'

अस्य व्याख्या,–'जय वीतराग ! जगद्गुरो ।'–भगवतस्त्रिलोकनाथस्यामन्त्रणमेतद् भावसन्निधानार्थम् । 'भवतु मम त्वत्प्रभावतो'–आयतां मे त्वत्सामर्थ्येन; 'भगवन् !', किं तदित्याह 'भवनिर्वेदः'–संसारनिर्वेदः, न ह्यतोऽनिर्विण्णो मोक्षाय यतते, अनिर्विण्णस्य तत्प्रतिबन्धात्, तत्प्रतिबद्धयत्नस्य च तत्त्वतोऽयत्नत्वात्; निर्जीव(प्र०...निर्बीज)क्रियातुल्य एषः । तथा 'मार्गानुसारिता'–असद्ग्रहविजयेन तत्त्वानुसारितेत्यर्थः । तथा 'इष्टफलसिद्धिः'=अविरोधिफलनिष्पत्तिः, अतो हीच्छाविघाताभावेन सौमनस्यं, तत उपादेयादरः, न त्वयमन्यत्रानिवृत्तौत्सुक्यस्य, इत्ययमपि विद्वज्जनवादः ।

(पं०–) 'अतोही'त्यादि, अतः=इष्टफलसिद्धेः, हिः=यस्माद्, 'इच्छाविघाताभावेन'=अभिलाषभङ्गनिवृत्त्या, किमित्याह 'सौमनस्यं'=चित्तप्रसादः, 'ततः'=सौमनस्याद्, 'उपादेयादरः', उपादेये–देवपूजनादौ,आदरः=प्रयत्नः । अन्यथापि कस्यचिदयं स्यादित्याशङ्क्याह 'न तु'=न पुनः, 'अयम्'=उपादेयादरः, 'अन्यत्र'=जीवनोपायादौ, 'अनिवृत्तौत्सुक्यस्य=अव्यावृत्ताकाङ्क्षातिरेकस्येति, तदौत्सुक्येन चेतसो विह्वलीकृतत्वात् ।

अब प्रणिधान-सूत्र और इसका भाव बतलाया जाता है,—

'जय वीयराय ! जगगुरु ! होउ मम तुहप्पभावओ भयवं ! ।
भवनिव्वेओ मग्गाणुसारिआ इट्ठफलसिद्धी ॥ १ ॥'

हे वीतराग ! हे जगद्गुरु ! आप विजयवंत रहें । आप की सामर्थ्य से हे भगवंत ! मुझे यह हो,– भवनिर्वेद, मार्गानुसारिता, इष्टफलसिद्धि ।

यहां 'हे वीतराग' कह कर वीतराग प्रभु से संबोधन इसलिए किया है कि द्रव्य से तो वे मोक्ष या महाविदेह में हैं लेकिन वे भाव से सन्निहित रहें अपने हृदय में रहें, अपने दिल के रागादि आभ्यन्तर शत्रुगण पर विजय प्रसाधित करें । अथवा भावसंनिधानार्थ अर्थात् भवनिर्वेदादि भावों के सहज-सरल नैकट्य के लिए वीतराग प्रभु से संबोधन किया गया है । वीतराग अर्हत्परमात्मा की ऐसी अचिंत्य सामर्थ्य है, महिमा है, कि जिससे जीवों को भवनिर्वेदादि प्राप्त होते हैं, इसलिए 'होउ मम' इत्यादि प्रार्थना की । (१) 'भवनिर्वेद' का अर्थ संसार से उद्वेग होता है । जो संसार से उद्विग्न नहीं है वह मोक्ष के लिए प्रयत्न नहीं करता ; क्यों कि अनुद्विग्न को संसार पर ममत्व रहता है; तब संसार से मुक्त होने के लिए क्यों प्रयत्न करे ? और कदाचित् प्रयत्न दिखाई पड़े तो संसारासक्त का वह प्रयत्न वास्तव में मोक्षार्थ प्रयत्न ही नहीं है; वह तो निर्जीव की क्रियातुल्य है । (२) तथा 'मार्गानुसारिता' यह असद्ग्रह पर विजय प्राप्त

(ल०-) तथा 'लोकविरुद्धत्यागः' लोकसंक्लेशकरणेन तदनर्थयोजनया महदेतदपायस्थानम् । तथा 'गुरुजनपूजा' मातापित्रादिपूजेतिभावः । तथा 'परार्थकरणं च' सत्त्वार्थकरणं च, जीवलोकसारं पौरुषचिह्नमेतत् । सत्येतावति लौकिके सौन्दर्ये लोकोत्तरधर्माधिकारीत्यत आह 'शुभगुरुयोगो'=विशिष्टचारित्रयुक्ताचार्यसम्बन्धः, अन्यथाऽपान्तराले सदौपपथ्यलाभतुल्योऽयमित्ययोग एव । तथा 'तद्वचनसेवना'=यथोदितगुरुवचनसेवना, न जातुचिदयमहितमाहेति । न सकृत् नाप्यल्पकालमित्याह 'आभवमखण्डा' आजन्म आसंसारं वा संपूर्णा भवतु ममेति । एतावत्कल्याणावाप्तौ द्रागेव नियमादपवर्गः, फलति चैतदचिन्त्यचिन्तामणेर्भगवतः प्रभावेनेति गाथाद्वयार्थः ।

कर अर्थात् असत्त्व के पक्षपात को हटा कर प्राप्त की जाती तत्त्वानुसारिता स्वरूप है । यथार्थ वस्त्व एवं मोक्षमार्ग का अनुसरण यह मार्गानुसारिता यहां आशंसनीय है । ● 'इष्टफलसिद्धि' यह अविरोधी फल की निष्पत्ति स्वरूप है । 'अविरोधी फल से उपादेय देवपूजनादि-साधना के लिए अप्रतिकूल आजीविकादि उपाय विवक्षित है । इसकी सिद्धि इसलिए प्रार्थित है कि वह सिद्ध होते रहने से उसकी इच्छा का भङ्ग न हो और सौमनस्य, चित्तप्रसाद बना रहे । जीवन है इसलिए उसके निर्वाह के उपायों की आवश्यकता एवं अभिलाषा बनी ही रहेगी । अभिलाषा की पूर्ति होने से अर्थात् जीवनोपाय स्वरूप इष्ट फल सिद्ध होने से चित्त प्रसन्न रहेगा, स्वस्थ रहेगा; इससे इस मानवजन्म में उपादेय देवपूजन, गुरुसेवा इत्यादि में ठीक प्रयत्न हो सकेगा । शायद यह शङ्का होनी संभवित है कि 'क्या यों भी उपादेय में प्रयत्न नहीं हो सकता है ?' लेकिन यह सोचना जरूरी है कि जीवनोपाय की उत्सुकता न मिटने पर चित्त स्वस्थ कैसे बने ? चित्त विह्वल ही रहेगा, विह्वल चित्तवश उपादेय आत्मसाधना में स्वस्थ प्रयत्न नहीं हो सकता है । इसलिए ऐसे प्रयत्न के लिए इष्टफलसिद्धि आवश्यक है ।

यहां इष्टफल कर के अप्रतिकूल जीवनोपायादि लिया, इसका तात्पर्य यह है कि शुद्ध जीवनोपायादि के अलावा अपेक्ष्यमाण अन्यान्य वस्तु यह इष्ट फल नहीं है, क्यों कि वह तो रागादिवर्धक होने से उपादेय की साधना में प्रतिकूल है; उसकी सिद्धि होने पर भी निर्मल चित्तप्रसाद नहीं, वरन् चित्तोन्माद होता है ।

अब दूसरी गाथा और इसकी व्याख्याः—

लोगविरुद्धच्चाओ गुरुजणपूया परत्थकरणं च ।
सुहगुरुजोगो तव्वयणसेवणा आभवमखंडा ॥ २ ॥

—●'लोकविरुद्धत्याग' अर्थात् लोकविरुद्ध प्रवृत्ति का त्याग; क्यों कि ऐसी प्रवृत्ति करने से लोगों के चित्त में संक्लेश होता है, द्वेष होता है, और इससे उनको अनर्थ में गिराना होता है, जिसके द्वारा लोकविरुद्ध प्रवृत्ति एक बडा अनर्थस्थान हो जाती है । ● 'गुरुजनपूजा' अर्थात् माता पिता विद्यागुरु आदि की पूजा भक्ति । (इसमें कृतज्ञता एवं विनय का पालन है जो कि लोकोत्तर धर्म के लिए प्रथमतः आवश्यक गुण हैं ।) ● तथा 'परार्थकरण' अर्थात परोपकार । स्वार्थ-साधना तो क्षुद्र जन्तु भी करते हैं किन्तु अन्यार्थ प्रवृत्ति करना, परहितकर प्रवृत्ति करना, यह जीवन का सार एवं पुरुषार्थ का एक लक्षण है ।

● लोकविरुद्धत्याग, गुरुजनपूजा एवं परार्थकरण, इतना लौकिक जीवन का सौन्दर्य है । यह

(ल०-१. २.-प्रणिधानस्य आवश्यकताफले-) सकलशुभानुष्ठाननिबन्धनमेतद् अपवर्गफलमेव । (३. निदान वैलक्षण्यम्-) अनिदानम् , तल्लक्षणयोगादिति दर्शितम् । असङ्गतासक्तचित्तव्यापार एष महान् । (४. सिद्धयर्थमाद्यसोपानं-) न च प्रणिधानाद् ऋते प्रवृत्त्यादयः । एवं कर्तव्यमेवैतदिति, प्रणिधान-प्रवृत्ति-विघ्नजय-सिद्धि-विनियोगानामुत्तरोत्तरभावात् । आशयानुरूपः कर्म्मबन्ध इति । न खलु तद्विपाकतोऽस्यासिद्धिः स्यात् । युक्त्यागमसिद्धमेतत् , अन्यथा प्रवृत्त्याद्ययोगः, उपयोगाभावादिति ।

प्राप्त होने पर ही लोकोत्तर जीवन का सौन्दर्य प्राप्त होता है,लोकोत्तर धर्म याने श्री जिनोक्त धर्म का अधिकारी बना जा सकता है। इसलिए अब कहते हैं,-'शुभगुरुयोग' अर्थात् विशिष्ट चारित्र से संपन्न धर्माचार्य का संबन्ध। अगर लौकिक सौन्दर्य प्राप्त न हुआ हो और शुभ गुरु का योग मिल जाए तब यह ज्वरादि-दोषयुक्त को पथ्य पौष्टिक आहार के लाभ की तरह सदोष को लाभ रूप होगा। तब तो वह निरर्थक ही क्या, अधिक दोषकारी होगा। अधिकारी को भी मात्र शुभ गुरु का योग पर्याप्त नहीं है इसलिए कहते हैं 'तद्वचनसेवना' अर्थात् चारित्रयुक्त धर्माचार्य के उपदेश का पालन। यह हितकारी होता है, क्यों कि वे धर्माचार्य सचमुच अहितकारी नहीं कहते हैं।

उपर्युक्त आठ में भवनिर्वेद से लेकर तद्वचनसेवना तक की प्राप्ति भी एक ही बार या मात्र अल्प ही काल के लिए काफी नहीं है इसलिए कहते हैं 'आभवमखण्डा' अर्थात् 'हे भगवन्! मुझे ये सब जीवन भर या संसारकाल तक के लिए संपूर्ण रूप से प्राप्त हों। ये भवनिर्वेदादि कल्याण स्वरूप हैं और इतने कल्याण की प्राप्ति होने पर अवश्य झटिति मोक्ष होता है। वीतराग प्रभु के आगे इनकी आशंसा इसलिए की जाती है कि यह आशंसा अचिन्त्य चिन्तामणि सम वीतराग भगवान के प्रभाव से फलवती है, और उनही के प्रभाव से यह कल्याणप्राप्ति मोक्षदायी बनती है। यह दो गाथाओं का अर्थ हुआ।

प्रणिधान

अब यहां ललितविस्तराकार महर्षि प्रणिधान के विषय पर भव्य प्रकाश डालते हैं। यह इस प्रकार,

(१)— 'सकलशुभानुष्ठाननिबन्धनं' पद से प्रणिधान की आवश्यकता;
(२)— 'अपवर्गफलं' पद से प्रणिधान का अन्तिम फल;
(३)— 'असङ्गतासक्त-चित्तव्यापार' पद द्वारा प्रणिधान का निदान से वैलक्षण्य;
(४)— 'न च प्रणिधानाद् ऋते प्रवृत्त्यादय' पद से किसी भी गुणसिद्धि या धर्मसिद्धि करने में प्रणिधान यह आद्य सोपान,
(५)— 'नानधिकारिणामिदं' पद से प्रणिधान के अधिकारी;
(६)— 'विशुद्धभावनासारं' श्लोक से प्रणिधान का लक्षण स्वरूप;
(७)— 'स्वल्पकालमपि ...सकलकल्याण ...' इत्यादि पदों से प्रणिधान की अति प्रबल सामर्थ्य;
(८)— 'अतो हि प्रशस्तभाव ..' इत्यादि पद से प्रणिधान का पारलौकिक फल;
(९)— 'दीर्घकाल....श्रद्धावीर्य....वृद्धया' पदों के द्वारा प्रणिधान का प्रत्यक्ष फल;
(१०)- 'सेयं भवजलधिनौः ...' इत्यादि पदों से प्रणिधान का माहात्म्य और रहस्य;
(११)- 'अस्य....सदुपदेशः'.... पदों से प्रणिधान के उपदेश का प्रभाव प्रकाशित किया जाता है।

इसका सार इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है;

प्रणिधान की आवश्यकता आदि का दर्शक यन्त्र

(१) आवश्यकता	समस्त शुभ अनुष्ठानों में प्रथम आवश्यक कारण प्रणिधान।
(२) अन्तिम फल	मोक्ष।
(३) निदान से वैलक्षण्य	निदान में चित्त आसक्ति-मग्न है, प्रणिधान में अनासक्ति सन्मुख।
(४) सिद्धि में आद्य सोपान	कोई भी गुणसिद्धि या धर्मसिद्धि प्रणिधान-प्रवृत्ति-विघ्न-जयसिद्धि-विनियोग, इस क्रम से होती है।
(५) अधिकारी	प्रणिधान के बहुमान वाला, विधितत्पर और उचितवृत्ति वाला, यह प्रणिधान का अधिकारी है।
(६) स्वरूप	विशुद्ध भावनाप्रधान हृदय और प्रस्तुत विषय में अर्पित मन से युक्त यथाशक्ति शुभ क्रिया यह प्रणिधान।
(७) सामर्थ्य	अत्यल्प भी सम्यक् प्रणिधान सकल कल्याणों का आकर्षक है।
(८) पारलौकिक	प्रशस्त भाव से निर्मित पापक्षय-पुण्यबन्ध द्वारा धर्मकाय-उत्तमकुल-कल्याणमित्रादि की प्राप्ति।
(९) प्रत्यक्षफल	प्रशस्त भाव एवं दीर्घकाल सतत सादर सेवन से श्रद्धा-वीर्य-स्मृति-समाधि-प्रज्ञा की वृद्धि।
(१०) माहात्म्य, रहस्य	संसारसागर पार करने की नौका; रागादि-प्रशमन का वर्तन।
(११) उपदेशप्रभाव	प्रणिधान का उपदेश बोधजनक, हृदयानन्दकारी, अखण्डित भाव का निर्वाहक, एवं मार्गगमन का प्रेरक।

१-२. प्रणिधान की आवश्यकता और फलः-

प्र०—भगवान के प्रभाव से भवनिर्वेदादि का प्रणिधान अगर सफल हो भी, लेकिन बात तो यह है कि इनका प्रणिधान करना ही क्यों ? इनमें प्रवृत्ति ही की जाए।

उ०—प्रार्थना रूप में प्रणिधान यह समस्त शुभ अनुष्ठान का मूलभूत कारण है, और अन्त में जा कर मोक्ष रूप फल को उत्पन्न किये बिना प्रणिधान कोई प्रवृत्ति सत् ही नहीं है; विद्यार्जन, व्यापार आदि में यह प्रतीत है।

३. प्रणिधान यह निदान से विलक्षण क्यों ?ः—

प्र०—प्रार्थना प्रणिधान तो आशंसा स्वरूप होने से एक प्रकार का निदान (नियाणु) है और

निदान तो मोक्ष में प्रतिबन्ध करेगा,

उ०—ऐसा मत समझना, क्यों कि पहले कह आये हैं कि निदान के लक्षण जो पौद्गलिक आशंसादि-रूपता है वह इसमें न होने से यह प्रणिधान मोक्ष का प्रतिकूल नहीं है। प्रार्थना-प्रणिधान की प्रवृत्ति तो समस्त पौद्गलिक सङ्ग से विनिर्मुक्त असङ्गभाव में लगे हुए चित्त की एक महान प्रवृत्ति है। ऐसा मोक्षासक्त चित्तव्यापार तो मोक्ष के लिए मात्र अप्रतिकूल ही नहीं किन्तु अनुकूल है; क्यों कि भवनिर्वेदादि की आशंसा-प्रवृत्ति प्रणिधान रूप है, और बिना प्रणिधान प्रवृत्ति, विघ्नजय आदि आशय सिद्ध नहीं हो सकते हैं'। इसलिए ऐसी प्रार्थना प्रणिधान करने ही चाहिए।

४. प्रणिधान यह सिद्धि का आद्य सोपानः—

कहा गया है कि कोई भी अहिंसादि धर्म आत्मसात् करने में प्रणिधान से प्रारम्भ कर प्रवृत्ति, विघ्नजय, सिद्धि एवं विनियोग,—ये पांच आशय जरूरी है; और ये पांच क्रमशः उत्तरोत्तर प्राप्त होते हैं; क्यों कि वे उत्तरोत्तर अधिकाधिक प्रकर्षशाली चित्तोपयोग याने मानस परिणाम स्वरूप हैं।

प्र०—प्रणिधान तो विशुद्धभावनायुक्त कर्तव्यनिर्णय एवं कर्तव्य में मन के समर्पण स्वरूप होने से मानसोपयोग रूप हुआ, लेकिन प्रवृत्ति, विघ्नजय आदि तो बाह्य चेष्टा रूप होने से मानसोपयोग स्वरूप कैसे ?

उ०—प्रवृत्ति, विघ्नजय, वगैरह मात्र बाह्य चेष्टात्मक नहीं किन्तु तथाविध आभ्यन्तर मानस-परिणतियुक्त बाह्य चेष्टात्मक हैं। आन्तर तथाविध मनोभाव अगर न हो तब तो बाह्य चेष्टा निर्जीव क्रियातुल्य हो जाती है। इसलिए तथाविध मनोभाव अति आवश्यक है; इतना ही नहीं बल्कि प्रवृत्ति, विघ्नजय आदि में मुख्यतः तो अंतरात्मा में जो तदनुरूप कुशल परिणति पैदा होती है वह है। इसलिए प्रवृत्ति आदि को भी आशय कहते हैं। 'षोडशक' शास्त्र में इनका स्वरूप इस प्रकार कहा गया है,—

प्रणिधानादि पांच आशयों का स्वरूपः—

❶ 'प्रणिधान' आशय इस प्रकार का मानसिक शुभ परिणाम है जिसमें, (१) स्वीकार्य अहिंसादि धर्मस्थान की मर्यादा में अविचलितता हो, (२) उस धर्मस्थान से अध:वर्ती जीवों के प्रति करुणाभाव हो, किन्तु द्वेष नहीं, (३) सत्पुरुषों के 'स्वार्थ गौण, परार्थ मुख्य' स्वभावानुसार परोपकार-करण प्रधान हो, (४) प्रस्तुत धर्मस्थान सावद्य (सपाप) विषय से रहित निरवद्य वस्तु संबन्धी हो और इसमें मनका लक्ष हो।

❷ 'प्रवृत्ति' नाम के आशय में (१) प्रस्तुत अहिंसादि धर्मस्थान के प्रतिलेखना (जीवनिरीक्षण) आदि उपायों में निपुण प्रवृत्ति, (२) उन्हीं में अप्रमाद भावना से उत्पन्न अतिशय प्रयत्न, और (३) अकाल फलवाञ्छा रूप उत्सुकता का अभाव, इन तीनों से संपन्न शुभ चित्तपरिणाम होना चाहिए।

❸ 'विघ्नजय' संज्ञक आशय में जघन्य मध्यम-उत्कृष्ट, इन त्रिविध विघ्नों का विजय करना आवश्यक है। जिस प्रकार प्रवास में कण्टक-ज्वर-दिग्व्यामोह, इन त्रिविध विघ्नों के जय के लिए क्रमशः निष्कण्टक मार्ग स्वीकार, नीरोगी शरीर, एवं मार्ग का यथार्थ-ज्ञान-अन्य ज्ञाता पर श्रद्धा और पूर्ण उत्साह आवश्यक है, तथा इनके द्वारा विघ्नजय हो सकता है फिर अस्खलित अव्याकुल एवं नियत दिग्गमन से यथेष्ट नगरादि में पहुँच जाता है, इसी प्रकार प्रस्तुत धर्मस्थान की प्रवृत्ति में बाधाकारी (१) कण्टक स्थानीय शीतोष्णादि

(ल०-५-६-७.प्रणिधानाधिकारित्वलक्षण-महत्त्वानि:-) ५.नानधिकारिणामिदम् । अधिकारिणश्चास्य य एव वन्दनाया उक्ताः, तद्यथा-एतद्बहुमानिनो विधिपरा उचितवृत्तयश्चोक्तलिङ्गा एव । प्रणिधान-लिङ्गं तु विशुद्धभावनादि; यथोक्तं,६.-'विशुद्धभावनासारं तदर्थार्पितमानसम् । यथाशक्तिक्रियालिङ्गं, प्रणिधानं मुनिर्जगौ ॥१॥' इति । ७. स्वल्पकालमपि शोभनमिदं, सकलकल्याणाक्षेपात् ।

(पं०–) 'स्वल्पे'त्यादि, 'स्वल्पकालमपि'=परिमितमपि कालं, 'शोभनम्' उत्तमार्थहेतुतया, 'इदं' प्रणिधानम् । कुत इत्याह 'सकलकल्याणाक्षेपात्'=निखिलाभ्युदयनिःश्रेयसावन्ध्यनिबन्धनत्वात् ।

परीसहों का तितिक्षा से जय, (२) ज्वरस्थानीय रोगादिविघ्नों का आरोग्यसंपादक शास्त्रोक्त आहारादिविधि के पालन से जय, एवं (३) दिङ्मोहस्थानीय मिथ्यात्व रूप विघ्न का मनोविभ्रमनिवारक सम्यक्त्वभावना से जय करना जरूरी है। त्रिविधविघ्न जय करने से प्रस्तुत धर्मस्थानोपाय में अस्खलित, अव्याकुल एवं नियत स्वरूप वाली प्रवृत्ति बनी रहती है।

❸'सिद्धि' नामक आशय प्रस्तुत अहिंसादि धर्मस्थान के आत्मसात्करण रूप याने तात्त्विक प्राप्ति स्वरूप है,'तात्त्विक' इसलिए कि ऐसे सिद्ध अहिंसादि वाले के संनिधान में नित्यवैरी जीवों का भी वैरत्याग इत्यादि फल सिद्ध होता है। यह सिद्धि (१) सूत्रार्थनिष्णात व भावनादिमार्गाभ्यासी तीर्थंमतान गुरु के प्रति विनय-वैयावृत्त्य-बहुमानादि से संपन्न, और (२) हीनगुण या निर्गुण के प्रति दया दान-दु:खोद्धारादि से युक्त होती है।

❹'विनियोग'आशय में सिद्धि के अनन्तर अन्य जीवों को सिद्ध अहिंसादि धर्मस्थान प्राप्त कराने की प्रवृत्ति होती है। इससे जन्मान्तरों में अपने को उस धर्मस्थान की उत्तरयुक्त परंपरा चलती रहती है यावत् उत्कृष्ट धर्मस्थान स्वरूप शैलेशी प्राप्त हो अपना मोक्ष हो जाता है।

प्रार्थना परिणधान से यथायोग्य शुभ कर्म का उपार्जन होता है; और बाद में उस शुभ कर्म के विपाक द्वारा धर्मसिद्धि अवश्य होती है। ऐसा अगर न होता हो तब तो प्रवृत्ति आदि शेष सिद्ध ही नहीं होंगे; क्यों कि प्रणिधान का तो शुद्ध उपयोग ही नहीं हुआ, फिर प्रवृत्ति आदि कैसे सिद्ध हो सके ? इसलिए युक्ति से एवं आगम से यह सिद्ध है कि आशयानुरूप कर्मबन्ध एवं उसके विपाक द्वारा धर्मसिद्धि होती है। अतः यहां भवनिर्वेदादि का प्रणिधान सफल है यह सिद्ध होता है।

(५) प्रणिधान का अधिकारी

❺यह प्रणिधान अनधिकारी जीव यथार्थ नहीं कर सकता है। तब प्रश्न होगा की इसके अधिकारी कौन ? अधिकारी वे ही हैं जो चैत्यवन्दन के अधिकारी कहे गये हैं। यह इस प्रकार कि प्रणिधान के बहुमान करने वाले, विधितत्पर एवं उचित जीविकावृत्ति वाले ये अधिकारी हैं। इन तीन के अनन्तर लक्षण पूर्व कहे मुताबिक ही हैं। ❻ प्रणिधान का स्वरूप विशुद्ध भावना आदि है; जैसे कि कहा गया है,—

(६) प्रणिधान का स्वरूपः—

१. विशुद्धभावनासारं २. तदर्थार्पितमानसम् । ३. यथाशक्ति क्रियालिङ्गं प्रणिधानं मुनिर्जगौ ॥

अर्थात् जहां (१) विशुद्ध भावना प्रधान है,
(२) मन प्रस्तुत विषय में समर्पित है, एवं
(३) उसकी ज्ञापक बाह्य क्रिया यथाशक्ति हो रही है।
वहां प्रणिधान हुआ ऐसा महर्षि कहते हैं।

(१) भावना में विशुद्धि क्या ?

इसके लिए 'योगदृष्टि ०' शास्त्र में वर्णित प्रणामादि की इस प्रकार की सशुद्धि यहां दे सकते हैं।

१. उपादेयधियात्यन्तं २. संज्ञाविष्कम्भणान्वितम् । ३. फलाभिसन्धिरहितं संशुद्धमेतदीदृशम् ॥

—अर्थात् प्रणिधान में प्रधान रूप से जो शुभ भावना करनी है वहां यह आवश्यक है कि ● (१) अभिप्रेत शुभानुष्ठान अतिशय कर्तव्यबुद्धि से किया जाता हो। 'प्रस्तुत शुभानुष्ठान से विपरीत पापानुष्ठान बिलकुल कर्तव्य नहीं, त्याज्य है, और प्रस्तुत शुभानुष्ठान ही कर्तव्य है, यही उपादेय है,' ऐसी दृढ प्रतीति होनी चाहिए, ताकि वह रस, ममरस और अनुपम आनन्द के साथ किया जाए। ● (२) आहार-विषय परिग्रह-निद्रा०, एव क्रोध मान माया लोभ०, लोक० और ओघ०, इन दश संज्ञाओं का निग्रह किया जाए, ता कि वे अनुष्ठान काल में उठ उठ कर अनुष्ठान की एकाग्र तन्मय साधना-धारा को खण्डित न कर दें; तथा ● (३) अनुष्ठान के फल रूप में किसी भी धन-माल, सत्ता-सन्मान, यशकीर्ति आदि की आशंसा अपेक्षा न हो, ता कि अनुष्ठान अनासक्त भाव से होता रहे और अनादिलग्न मलिन पुद्‌गलासक्ति का पुनः शुभानुष्ठान से ही पोषण न हो किन्तु ह्रास हो। ● (४) इन तीनों के साथ साथ परोपकार-भावना एवं हीन क्रिया वालों के प्रति द्वेष नहीं किन्तु दयाभाव भी रखना जरूरी है; ऐसा 'षोडशक' शास्त्र में प्रणिधान के स्वरूप में कहा है, इन सब से युक्त शुभभावोल्लास यह विशुद्ध भावना है।

(२) मनसमर्पण —सब प्रणिधान में, पहले तो अनुष्ठान पर परम कर्तव्य बुद्धि, संज्ञानिग्रह और निराशंसभाव से संपन्न शुभ भावोल्लास प्रधान बना रहना चाहिए; दूसरा यह कि मात्र हृदय ईदृश भावना शाली होना पर्याप्त नहीं है किन्तु साथ में मन की प्रस्तुत अनुष्ठान में एकाग्रता एवं लंपटता भी आवश्यक है। इसके लिए मन को प्रस्तुत-अनुष्ठान विषय में समर्पित कर देना चाहिए। अनुष्ठान अगर चैत्यवन्दन आदि का हो तो इसके सूत्र से वाच्य पदार्थ में मन एकाग्रता से ठीक लगा हुआ रहना चाहिए।

(३) यथाशक्ति क्रिया —प्रणिधान में विशुद्ध भावना और अर्थ-समर्पित मन के अलावा सभी भावना की द्योतक यथाशक्ति क्रिया का आचरण भी आवश्यक है; 'यथाशक्ति' मतलब वीर्य का कोई गोपन या उल्लंघन किये बिना यह यथाशक्ति क्रियापालन प्रणिधान का लिङ्ग है। इससे सूचित होता है कि तात्त्विक प्रणिधान केवल आन्तरिक भावात्मक नहीं है किन्तु बाह्य क्रिया से युक्त होता है।

(७) प्रणिधान की प्रबल सामर्थ्यः—

● प्रणिधान को इतनी प्रबल सामर्थ्य है कि यह प्रणिधान अति अल्प काल के लिए भी किया जाए तब भी वह सुन्दर है, क्यों कि वह उत्तम पदार्थ का साधक है; प्रणिधान स्वर्गादि समस्त अभ्युदय एवं निःश्रेयस मोक्ष को खिंच लाता है।

(ल०-८. ९.-प्रणिधानप्रत्यक्षपरोक्षलाभौः-) अतिगम्भीरोदार(प्र०...०दाररूप)मेतत् । अतो हि प्रशस्तभावलाभाद्विशिष्टक्षयोपशमादिभावतः प्रधानधर्मकायादिलाभः । तत्रास्य सकलोपाधिशुद्धिः(प्र०...विशुद्धिः), दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवनेन श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञावृद्धया ।

(पं०-)इदमेव भावयति 'अतिगम्भीरोदारमि'ति प्राग्वत्, 'एतत्'=प्रणिधानं, कुत इत्याह 'अतः'= प्रणिधानाद्, 'हिः'=यस्मात्, 'प्रशस्तभावलाभात्=रागद्वेषमोहैरन्त्थुप्तपरिणामप्राप्तेः, किमित्याह 'विशिष्टस्य' मिथ्यात्वमोहनीयादेः शुद्धमनुजगतिसुसंस्थानसुसंहननादेश्च कर्मणो यथायोगं 'क्षयोपशमस्य'=एकदेशक्षयलक्षणस्य, 'आदि'शब्दाद् बन्धस्य, 'भावतः'=सत्तायाः, प्रेत्य 'प्रधानधर्मकायादिलाभः', प्रधानस्य'=दृढसंहननशुभसंस्थानतया सर्वोत्कृष्टस्य, 'धर्मकायस्य'=धर्माराधनार्हशरीरस्य, 'आदि'शब्दादुज्ज्वलकुलजात्यायुर्देश(प्र०....जात्यायंदेश)कल्याणमित्रादेः, 'लाभः'=प्राप्तिः । ततः किमित्याह,-'तत्र'= धर्मकायादिलाभे, 'अस्य'=प्रणिधानकर्तुः, 'सकलोपाधिविशुद्धिः'=प्रलीननिखिलकलङ्कस्थानतया सर्वविशेषणशुद्धिः । कथमित्याह,-'दीर्घकालं'-पूर्वलक्षादिप्रमाणतया, 'नैरन्तर्येण'=निरन्तरायसातत्येन, 'सत्कारस्य'= जिनपूजायाः, 'आसेवनम्'=अनुभवः, तेन, 'श्रद्धा'=शुद्धमार्गरुचिः, वीर्यम्'=अनुष्ठानशक्तिः, 'स्मृतिः'= अनुभूतार्थविषया ज्ञानवृत्तिः, 'समाधिः'=चित्तस्वास्थ्यं, 'प्रज्ञा'=बहुबहुविधादिगहनविषयावबोधशक्तिः, तासां 'वृद्धया'=प्रकर्षेण । अनासेवितसत्कारस्य हि जन्तोरदृष्टकल्याणतया तदाकाङ्क्षाऽसंभवेन चेतसोऽप्रसन्नत्वात् श्रद्धादीनां तथाविधवृद्धयभाव इति ।

(८.९.) प्रणिधान का प्रत्यक्ष और परोक्ष उत्तम लाभः-

अति अल्प काल भी प्रणिधान हो, तब भी यह सुन्दर है; क्यों कि यह अति गंभीर और अति उदार है । प्रणिधान में अति गांभीर्य औदार्य पूर्वोक्तानुसार समझ लेना । यह इसलिए कि प्रणिधान के द्वारा प्रत्यक्ष में राग-द्वेष-मोह से नहीं छुआ हुआ शुभ आत्म परिणाम होता है ।

ऐसे शुभ परिणाम से परोक्ष लाभ रूप में (१) विशिष्ट मिथ्यात्वमोहनीयादि कर्मों का क्षयोपशम याने एकदेश क्षय एवं (२) विशिष्ट शुद्ध मनुष्यगति, शुभ शरीर-संस्थान-संघयण (हड्डीसंबन्ध) आदि पुण्य-कर्मों का उपार्जन होता है । इससे परलोक में प्रधान धर्मकायादि की प्राप्ति होती है । 'प्रधान' अर्थात् दृढ संघयण एवं शुभ संस्थान से संपन्न होने की वजह से सर्वोत्कृष्ट; 'धर्मकाय' अर्थात् धर्मसाधना के लिए योग्य शरीर । 'आदि' शब्द से उज्ज्वल कुल-जाति-आयुष्य-देश-कल्याणमित्रादि की भी प्राप्ति होती है ।

प्रधान धर्मकायादि के लाभ से उस कायादि में प्रणिधानकर्ता जीव को समस्त कलङ्कस्थान नष्ट हो जाने से निखिल विशेषणों की विशुद्धता प्राप्त होती है; अर्थात् अब जो विशेषताएं प्राप्त होती हैं वे सभी के सभी विशिष्ट धर्मसाधना में उपयुक्त हो वैसी प्राप्त होती हैं । यह इस प्रकार,-लाखों पूर्व (१ पूर्व = ७०५६० अब्ज वर्ष) जैसे दीर्घ काल तक जिनपूजा का, बिना अन्तराय, सतत रूप से अनुभव करने से उसे श्रद्धा-वीर्य-स्मृति-समाधि-प्रज्ञा की वृद्धि होती है; इसलिए कहा जाता है कि उसे समस्त विशेषणों की विशुद्धता प्राप्त होती है ।

यहां 'श्रद्धा' = सम्यग्दर्शनादि शुद्ध मोक्षमार्ग की रुचि;
'वीर्य' = मोक्षमार्ग के अनुष्ठानों को पालने की शक्ति;
'स्मृति' = अनुभूत अनुष्ठानादि पदार्थों का स्मरण;
'समाधि' = चित्त की स्वस्थता;
'प्रज्ञा' = गहन विषयों का बहु, बहुविध, शीघ्र, सहज, असंदिग्ध एवं स्थिर बोध करने की शक्ति
इन पांचों की 'वृद्धि' = उत्कर्ष।

वीतराग सर्वज्ञ विश्वोपकारक श्री तीर्थंकर भगवान की लगातार पूजा एवं सत्कार सत् प्रणिधान पूर्वक करते रहने से चित्त में एक ऐसी प्रसन्नता प्रादुर्भूत होती है कि जिससे श्रद्धादि पांच गुणों की वृद्धि हो अर्थात् मोक्षमार्ग की रुचि, मोक्षमार्ग पालन करने की शक्ति, अनुभूत किये गए पवित्र अनुष्ठानादि का सुखद संस्मरण, चित्त की स्वस्थता, एवं गहन विषयों का बहु बहुविध इत्यादि बोध करने की शक्ति वृद्धिंगत होती है। जो जिनपूजासत्कार से पराङ्मुख है ऐसा जीव बेचारा अदृष्टकल्याण होता है, कल्याण के प्रति उसकी दृष्टि ही नहीं होती है; फिर उसकी आकांक्षा होने की तो बात ही क्या? फलतः कल्याणदृष्टि एवं जिनपूजासत्कार के अभाव से चित्त में निर्दोष प्रसन्नता असंभवित हो जाती है; अतः उसे तदधीन श्रद्धादि गुणों की वृद्धि होनी भी असंभवित ही है। (यहां इतना समझना जरूरी है कि जिन पूजासत्कार न करने वाला पुरुष उसे द्रव्यव्यय के लोभ से नहीं करता है या मिथ्या मान्यता से नहीं करता है। वहां, (१) अगर द्रव्यव्यय के भय से जिनपूजासत्कार नहीं करता है तब जिनेन्द्र देव की अपेक्षा धन पर अत्यधिक राग होने से चित्तप्रसन्नता एवं श्रद्धादिवृद्धि होना अशक्य है; अथवा, (२) अगर मिथ्या मान्यता वश पूजासत्कार नहीं करता है तब मिथ्यात्व वश उनमें प्रसन्नता तथा श्रद्धादि का आविर्भाव होना नितान्त असंभवित है।)

प्रणिधान के प्रत्यक्ष-परोक्ष फल और दोनों के समन्वय का रहस्यः—

यहां ललितविस्तराकार महर्षिने 'अतो हि प्रशस्त भावलाभाद् विशिष्टक्षयोपशमादिभावतः प्रधान-धर्मकायादिलाभ., तत्रास्य सकलोपाधिविशुद्धिः, दीर्घकाल-नैरन्तर्य सत्कारासेवनेन श्रद्धा वीर्य-स्मृति-समाधि-प्रज्ञावृद्धया',—इन पदों से प्रणिधान का प्रत्यक्ष एवं परोक्ष फल दिखलाते हुए दोनों फलों के बीच का सुन्दर समन्वयरहस्य और उच्च साधना की कुंजी प्रदर्शित की। वह इस प्रकार, शुभानुष्ठान मात्र में किये गए प्रणिधान से प्रत्यक्ष फलरूप में शुभ आत्म-परिणति एवं मिथ्यात्वमोहादि-क्षयोपशम सहित पुण्यानुबन्धी पुण्य प्राप्त होता है और परोक्ष फल रूप में ऐसा प्रधान धर्मकायादि का लाभ होता है कि जहां पुनः आराधना प्रारम्भ करने के लिए आवश्यक एक साधक आत्मा के विशेषण सभी उपस्थित रहते हैं। पूर्वोत्तर फलों के बीच सुंदर अनुरूपता के अलावा उत्तर में अधिकता भी संपादित होती है। इसका यही रहस्यमय कारण है कि साधना साधक के द्वारा प्रणिधानपूर्वक की गई है।

उच्च साधना की कुंजीः—

ग्रन्थकार महर्षि द्वारा प्रदर्शित किए गए प्रणिधान-माहात्म्य के साथ दीर्घकाल, नैरन्तर्य-इत्यादि का प्रतिपादन उच्च साधना की कुंजी दे जाता है; कहा जाता है कि अगर उच्च कक्षा की साधना अभिलषित हो, तब इसके लिए अनुष्ठान में आवश्यक है,—

(१) प्रणिधान;
(२-४) दीर्घकाल आसेवन, निरन्तर आसेवन, और सत्कार बहुमान युक्त आसेवन; एवं

(५-६) श्रद्धा-वीर्य-स्मृति-समाधि-प्रज्ञा की वृद्धि।

(१) प्रणिधानः—जिस किसी भी परार्थवृत्ति या क्षमादि गुण की अथवा प्रभु-भक्ति, दानशीलादि या अहिंसादि धर्म की साधना करनी हो, इसमें प्रणिधान पहला आवश्यक है; पूर्वोक्तानुसार प्रणिधान यह कि परमकर्तव्यबुद्धि-संज्ञानिग्रह-निराशंसभाव एवं परोपकार-दयाभाव से युक्त शुभ भावोल्लास, विषय-समर्पित मन तथा यथाशक्ति क्रिया।

(२) दीर्घकाल आसेवनः—अनुष्ठान का आसेवन दो चार वक्त करने से पर्याप्त नहीं है, किन्तु दीर्घ काल पर्यन्त करते रहना चाहिए। तभी प्रारम्भ प्रारम्भ में खास तौर पर मन लगा कर की जाती साधना आगे जा कर सहज हो जाती है, साधना का ही दिल बन जाता है, साधना आत्मसात् होती है। साधना के दीर्घकाल तक चढ़ते हुए संस्कारों में साधना को सहज, निर्दोष और श्रवलम्ब बनाने की सामर्थ्य है।

(३) निरन्तर आसेवनः—दीर्घकाल तक करने की साधना भी सतत निरन्तर रूप से करनी चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं कि बीच बीच में अनियत अन्तर पड़ जाए, जैसे कि साधना आज की और चार दिन नहीं की, फिर दो दिन साधना पर टूट पड़े और आठ दिन की ही नहीं। ऐसा नहीं,किन्तु प्रतिदिन तो प्रतिदिन, दिनान्तरसे तो दिनान्तर से, सुबह शाम तो रोज सुबह शाम, ऐसी निरन्तर धारा से साधना होती रहनी चाहिए। तभी साधना का अच्छा संस्करण आत्मा में हो सकता है, जिससे आगे जा कर उच्च कक्षा की साधना संपन्न हो सके।

(४) सत्कारयुक्त आसेवनः—दीर्घकाल एवं सतत साधना भी हृदय के उच्च आदर-सद्भाव वाली एवं कायिक-वाचिक विनय-भक्ति-बहुमान से संपन्न होनी चाहिए; क्यों कि इनके बिना तो कितनी ही साधना केवल द्रव्यसाधना होती है, भावसाधना नहीं। हृदय के भाव एवं कायिक मर्यादा-पालन से रहित साधना की क्या कीमत ? शुभ संस्करण में ये प्रथमतः आवश्यक हैं।

(५-९) श्रद्धा-वीर्य-स्मृति-समाधि-प्रज्ञा का विकासः—शुभानुष्ठान का प्रणिधान पूर्वक दीर्घकाल निरन्तर सादर आसेवन करते करते यह भी ध्यान रखने योग्य है कि श्रद्धा-वीर्य-स्मृति-समाधि एवं प्रज्ञा का विकास होता रहे।

(५) श्रद्धावृद्धिः—पहले श्रद्धा, शुद्ध मार्ग की रुचि बढ़ाने की है। अनुष्ठान का आसेवन तो करते हैं लेकिन पहले से ही यह अनुष्ठान निरतिचार निर्दोष शुद्ध संपूर्ण शास्त्रयोग-वचनानुष्ठान स्वरूप और सामर्थ्ययोग-असंगयोग रूप नहीं होता है; यह यों कई काल, कई जन्म तक इच्छायोग एवं प्रीति-भक्ति अनुष्ठान स्वरूप होता रहता है; लेकिन शुद्ध मार्ग की रुचि-श्रद्धा-तीव्राभिलाषादि द्वारा शुद्ध शास्त्रयोग-वचनानुष्ठान और आगे सामर्थ्ययोग-असङ्गानुष्ठान के निकट ले जाता है।

(६) वीर्यवृद्धिः—शुद्ध मार्ग की रुचि के साथ साथ अनुष्ठानशक्ति का भी विकास करने योग्य है। अतः वर्तमान अनुष्ठानासेवन ऐसा खेदादि दोषयुक्त नहीं चाहिए, ताकि अनुष्ठानशक्ति घटती रहे। यह बढ़ती बढ़ती ही अन्तिम सामर्थ्ययोग-असङ्गानुष्ठान तक पहुँचाएगी।

(७)स्मृतिवृद्धिः—अनुष्ठान का आसेवन करते चलते हैं, वहां यह भी ध्यान रहे कि अनुभूत मार्ग एवं तत्त्व का स्मरण सतेज होता रहना चाहिए। इसके लिए सांसारिक वैषयिक विचारणा कम करते रहना होगा, और इसमें कुवासना मन्द मन्दतम होती हुई सुसंस्कार की वृद्धि होती रहेगी।

(ल०-(१०-११) प्रणिधानमाहात्म्योपदेशौः-) न हि समग्र सुखभाक् तदङ्गहीनो भवति, तद्वैकल्येऽपि तद्भावेऽहेतुकत्वप्रसङ्गात् ; न चैतदेवं भवतीति योगाचार्यदर्शनम् । 'सेयं भवजलधिनौः प्रशान्तवाहिते'ति परैरपि गीयते । 'अस्य (प्र०...अयम्) अज्ञातज्ञापनफलः सदुपदेशो हृदयानन्दकारी परिणमत्येकान्तेन, ज्ञाते त्वखण्डन(प्र०...न खण्डन)मेव भावतः, अनाभोगतोऽपि मार्गगमनमेव सदन्धन्यायेन,' इत्यध्यात्मचिन्तकाः ।

तदेवंविधशुभफलप्रणिधानपर्यन्तं चैत्यवन्दनम् । तदनु आचार्यादीनभिवन्द्य यथोचितं करोति कुर्वन्ति वा कुग्रहविरहेण ।

(पं०-) इदमेव व्यतिरेकतः प्रतिवस्तूपन्यासेनाह,-'न'=नैव, 'हिः'=यस्मात्, 'समग्रसुखभाक्'= संपूर्णवैषयिकशर्मसेवकः, 'तदङ्गहीनः', तस्य=समग्रसुखस्य, अङ्गानि=हेतवो वयोवैचक्षण्य-दाक्षिण्य-विभवौदार्य-सौभाग्यादयः, तैः, हीनो=रहितो, भवति । विपक्षे बाधकमाह-'तद्वैकल्येऽपि'=तदङ्गाभावेऽपि, 'तद्भावे'= समग्रसुखभावे, 'अहेतुकत्वप्रसङ्गात्'=निर्हेतुकत्वप्राप्तेरिति ।

'सेयमि'ति प्रणिधानलक्षणा । 'प्रशान्तवाहिता' इति, प्रशान्तो=रागादिक्षयक्षयोपशमोपशमवान्, वहति=वर्त्तते, तच्छीलश्च यः स तथा तद्भावस्तत्ता ।

---

(८) समाधिवृद्धिः—उच्च कक्षा की साधना के लिए दीर्घकाल निरन्तर सादर आसेवन द्वारा श्रद्धा-वीर्य-स्मृति बढाते हुए साथ साथ समाधि याने चित्तस्वास्थ्य, मानसिक स्वस्थता की वृद्धि करते रहना चाहिए । समाधिवृद्धि यह साधना में कौशल्य का प्रतीक है ।

(९) प्रज्ञावृद्धिः—अनुष्ठानासेवन द्वारा श्रद्धादि की वृद्धि करते हुए प्रज्ञा बढाते याने अनुष्ठान एवं तत्त्व की सूक्ष्मताओं को बहु, बहुविध, शीघ्र, स्वत.निश्चित इत्यादि रूप से जानने की शक्ति भी बढाते रहना चाहिए । फलतः कैवल्यसाधक असंगानुष्ठान की सामर्थ्य बढेगी ।

मूल प्रणिधान पर ही यह सब शक्य है ।

सकल विशेषण-शुद्धि की विपरीत रूप से सिद्धिः-

दीर्घकाल निरन्तर जिनपूजासत्कार के आसेवन में प्रणिधान के द्वारा श्रद्धा-वीर्यादि की वृद्धि होने से सकल विशेषणों की शुद्धि कही गई । अब इसी बात को विपरीत रूप से कहने के लिए किसी प्रति-पक्ष वस्तु का उदाहरण लेकर कहा जाए तो ऐसा कह सकते हैं कि जो संपूर्ण ही वैषयिक सुख का भोक्ता है, वह उस सुख के कारणभूत योग्य वय, विचक्षणता, दाक्षिण्य, विपुल वैभवसामग्री, सौभाग्य आदि साधनों से रहित होता ही नहीं है । इन कारणभूत अङ्गों में से एक भी अङ्ग की त्रुटि हो, तब संपूर्ण सुख का उपभोग हो ही सकता नहीं । अगर कहें 'एकाध अङ्ग कम होने पर भी संपूर्ण सुख का उपभोग होने में क्या बाधा है ? तब ऐसा कहने का अर्थ तो यह हुआ कि संपूर्ण सुख उन समग्र कारणों के अधीन न रहा ! अर्थात् यह निर्हेतुक हो गया ! किन्तु ऐसा मानना तो उचित नहीं, क्यों कि कोई भी कार्य निर्हेतुक हो ही सकता नहीं; अगर कार्य हुआ तब वहां पूर्व काल में कारणसामग्री अवश्य होनी चाहिए ।'-ऐसा योगाचार्य का दर्शन बतलाता है ।

इसके उपनय में सिद्ध होता है कि ठीक इसी प्रकार धर्मकार्य में प्राप्त सकलोपाधिशुद्धि का सुख भी दीर्घकालीन निरन्तर जिनसत्कारासेवन से जनित श्रद्धा-वीर्यादि वृद्धि स्वरूप अंगों से हीन नहीं हो सकता है; सुख है तो सुख के अङ्ग भी है। प्रणिधान का यह महत्त्व है कि वह ऐसी शुभ पारलौकिक स्थिति पैदा करता है।

(१०-११) प्रणिधान का माहात्म्य एवं उपदेशफल:—

यह प्रणिधान तो 'प्रशान्तवाहिता' है, 'प्रशान्त' अर्थात् राग द्वेषादि की ज्वालाओं के उपशम वाला, रागादि के क्षय-उपशम-क्षयोपशम वाला। उसकी 'वाहिता' = वर्तन। क्यों कि पहले कह आये प्रणिधान में 'विशुद्धभावनासारं' इत्यादि लक्षण के मुताबिक पवित्र भावनाशील हृदय,शुभ में अर्पित मन,एवं शुभ क्रिया-प्रवृत्त देह प्रवर्तमान रहने से रागद्वेषादि का प्रशमन विद्यमान रहता है। यह प्रशान्तवाहिता संसारसागर तैरने में नौका का कार्य करती है, कहिए यह भवसमुद्रनावा है, ऐसा दूसरों ने भी कहा है। इस प्रणिधानादि का सदुपदेश जो कि अज्ञात तत्त्व-मार्ग का बोध कराता है वह अध्यात्माओं को अपूर्व दर्शन द्वारा हृदय को आनन्द प्रदान करता है और वह अन्तरात्मा में एकान्त रूप से परिणत हो जाता है।

प्र०-जिसे तत्त्वमार्ग ज्ञात है उसे सदुपदेश से क्या लाभ ?

उ०-ज्ञाता को भी सदुपदेश सुनने से उत्तम शुभ भाव अखण्डित रहता है, द्रव्य से आराधना यदा-कदा होने पर भी भाव से वह धाराबद्ध बनी रहती है; यह महान लाभ सदुपदेशश्रवण का है। ऐसा मनुष्य बीच बीच में लौकिक पुण्य का फलभोग भी करता हो, फिर भी सदुपदेश का पुनः पुनः श्रवण उसके अन्तर को शुभ भाव में इतना मग्न रखता है कि लौकिक पुण्यफल के भोग के प्रति वह दत्तचित्त नहीं रहता, अर्थात् फलभोग अज्ञान सा पसार होता है। ऐसे अनजान फलभोग से भी उसका मोक्षमार्ग-गमन स्खलित नहीं होता है; मोक्षमार्ग याने सम्यग् ज्ञानादि की परिणति में अस्खलित प्रयाण ही चालू रहता है। यह सदन्धन्याय से सुज्ञेय है। सदन्धन्याय इस प्रकार है-भाग्यवान सावधान अन्ध पुरुष रास्ते को न देखता हुआ भी सद्भाग्यवश सत्य मार्ग पर चला जाता है। इसी दृष्टान्त के अनुसार सदुपदेशलब्ध सतत जागृति वाला पुरुष, पुण्यफल का रसशून्य हृदय से भोग करता हुआ भी, मोक्षमार्ग में ही अविरत गमन वाला होता है;-ऐसा अध्यात्म-चिन्तक लोगों का मन्तव्य है। बाह्य भौतिक दृष्टि नहीं किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करने वाले तो यही देखते हैं कि किसी भी कायिक प्रवृत्ति,निवृत्ति या उदासीनता में अन्तरात्मा की परिणति किस प्रकार चल रही है। अगर वह पुण्यफल-भोग के प्रति उदासीन उद्विग्न एवं शम-संवेगयुक्त जगत्तत्त्व चिन्तन प्रमुख किसी शुभ भाव से वासित है तब वहां मोक्षमार्ग-गमन ही है।

चैत्यवन्दन के अनन्तर:—

इस प्रकार प्रशस्त फल देने वाले प्रणिधान सूत्र ('जयवीयराय'८) पढने तक चैत्यवन्दन का अनुष्ठान हुआ। उसके बाद एक या अनेक साधक आचार्य आदि को वन्दन कर कुग्रहविरह याने कदाग्रह मिथ्यामति, विपर्यास आदि से रहित हो यथोचित कर्तव्य करे। यहां 'कुग्रह-विरह' में 'विरह' शब्द श्री हरिभद्रसूरिजी महाराज के अपने नाम का गूढ संकेत है।

(ल०—चैत्यवन्दनाद्यर्थं ३३ कर्त्तव्यानि)—

एतत्सिद्ध्यर्थं (प्र०...०सिद्धये) तु,—

१. यतितव्यमादिकर्म्मणि
२. परिहर्त्तव्यो अकल्याणमित्रयोगः
३. सेवितव्यानि कल्याणमित्राणि
४. न लङ्घनीयोचितस्थितिः
५. अपेक्षितव्यो लोकमार्गः
६. माननीया गुरुसंहतिः
७. भवितव्यमेतत्तन्त्रेण
८. प्रवर्त्तितव्यं दानादौ
९. कर्त्तव्योदारपूजा भगवतां
१०. निरूपणीयः साधुविशेषः
११. श्रोतव्यं विधिना धर्मशास्त्रं
१२. भावनीयं महायत्नेन
१३. प्रवर्त्तितव्यं विधानतः
१४. अवलम्बनीयं धैर्यं
१५. पर्यालोचनीया आयतिः
१६. अवलोकनीयो मृत्युः
१७. भवितव्यं परलोकप्रधानेन
१८. सेवितव्यो गुरुजनः
१९. कर्त्तव्यं योगपटदर्शनं (प्र०..योगपट्ट०)
२०. स्थापनीयं तद्रूपादि चेतसि
२१. निरूपयितव्या धारणा
२२. परिहर्त्तव्यो विक्षेपमार्गः
२३. यतितव्यं योगसिद्धौ (प्र०...शुद्धौ)
२४. कारयितव्या भगवत्प्रतिमाः
२५. लेखनीयं भुवनेश्वरवचनं
२६. कर्त्तव्यो मङ्गलजापः
२७. प्रतिपत्तव्यं चतुःशरणं
२८. गर्हितव्यानि दुष्कृतानि
२९. अनुमोदनीयं कुशलं
३०. पूजनीया मन्त्रदेवताः
३१. श्रोतव्यानि सच्चेष्टितानि
३२. भावनीयमौदार्य्यं
३३. वर्त्तितव्यमुत्तमज्ञातेन ।

चैत्यवन्दन की सिद्धि के लिए ३३ कर्तव्यः—

चैत्यवन्दन सम्यग् रूप से सिद्ध हो इसलिए ३३ कर्तव्य याने गुणों की आवश्यकता है। चैत्यवन्दन महायोग है यह परिणत आत्मा में सिद्ध हो सकता है। आत्मा को ये ३३ कर्तव्य यथायोग्य परिणत बना सकते हैं। अरिहंत परमात्मा को वन्दना करने का महायोग सिद्ध करने में जरूरी ३३ गुणों की साधना का उपन्यास ग्रन्थकार करते हैं। इसमें, (१) आदिकर्म याने आदिधार्मिक के कर्तव्यों के पालन में यत्नशील रहना चाहिए। (२) अकल्याणमित्र याने आत्महित के शत्रु से, आत्महित को हानि पहुँचाने वाले के संसर्ग से दूर रहना चाहिए। 'संसर्गजन्या गुण-दोषजाता.' शुभ सङ्ग या अशुभ सङ्ग से गुणसमूह या दोषसमूह पैदा होता है; तब अकल्याणमित्र के संसर्ग से तो इस गुणप्राप्तिसुलभ मानव भव में, उलट, दोषों एवं पापों की सुलभता और गुणनाश बन जायगा। (३) कल्याण मित्रों का समागम-सत्सङ्ग करना चाहिए। आत्महितकारी पुरुषों का संसर्ग रख कर उनसे आत्महितकर प्रेरणा ग्रहण करते रहना चाहिए। (अपनी आत्मा को बिना सहाय सदा अकर्तव्य-पराङ्मुख एवं सदा कर्तव्यपथबद्ध रहना मुश्किल है, कल्याणमित्र के सहयोग से यह सुलभ हो जाता है।) (४) कभी उचित व्यवहार का उल्लंघन नहीं करना; औचित्यभङ्ग नहीं करना। (औचित्यपालन धर्मजीवन का प्राथमिक गुण है। औचित्य के उल्लंघन से कई अनर्थ उपस्थित हो जाते हैं।) (५) लोकव्यवहारसापेक्ष रहना चाहिए। (लोकव्यवहार से निरपेक्ष बनने पर करुणार्ह लोगों के हृदय को आघात, उनको धर्मप्रशंसा में विक्षेप, यावत् उन्हें धर्मनिन्दा का अवकाश मिल जाता है।) (६) माता-पितादि, विद्यागुरु, एवं धर्माचार्य, इन गुरु वर्ग को मान्य रखना उनका सत्कार-सम्मान करना चाहिए। (मान्य रखने से मन पर

सुयोग्य भार रहता है, सत्कार सन्मान करने से 'विनय एवं पूज्यपूजा' रूप महाधर्म का पालन होता है।) ● (७) गुरुजनों के अधीन रहना चाहिए। (अन्यथा उद्धतपन, अविचारित कार्य, इत्यादि त्रुटियों के वश जीवन अनर्थभरपूर हो जाता है।) ● (८) दान आदि शुभ प्रवृत्तियों में प्रवृत्ति रखनी। (दानादि प्रवृत्ति से सहृदयता, उदारता, लोकप्रियता, चित्तस्वस्थता आदि गुण प्राप्त होने से सुख शान्ति का अनुभव होता है।) ● (९) परमात्मा का, उदार धन व्यय से, पूजन करना। (इससे शुभभाववृद्धि और पुण्यलाभ होता है।) ● (१०) अच्छे साधु का अन्वेषण करना। (ता कि कुगुरु के फन्दे में न फंसा जाए, और सुसाधु मिल जाने से धर्म-तत्त्वशिक्षा आदि का लाभ हो।) ● (११) सुसाधु के पास विनय-एकाग्रता-संभ्रमादि विधिपूर्वक धर्मशास्त्र सुनना जरूरी है। क्यों कि संसार के अनेकविध जन्मों के भीतर मानवजन्म में ही धर्मशास्त्रश्रवण सुलभ होता है; और इससे आत्मभान एवं कर्त्तव्यशिक्षा मिलने से अनंत सुख का मार्ग खुल जाता है) ● (१२) धर्मशास्त्र की सुनी हुई बातों पर महान प्रयत्न से चिंतन-मनन कर उनसे अन्तःकरण को भावित-वासित करना चाहिए। (भावित किये बिना श्रवण निष्फल हो जाता है, इतना ही नहीं प्रत्युत बहुमूल्य शास्त्रवचन सामान्य-सा प्रतीत हो अनादि वासना विवश मन धृष्ट-सा हो जाने से भावी भावितता के लिए अयोग्य होता है। भावित करने से पापसंज्ञाओं के बन्धन शिथिल हो जाते हैं, अच्छा आत्मपरिवर्तन होता है।) ● (१३) शास्त्रोपदेश को मात्र भावित ही नहीं किन्तु सविधि आचरणबद्ध भी करना चाहिए अर्थात् त्याज्य का त्याग और आदरणीय का आदर करने में प्रयत्नशील रहना चाहिए। (जीवन का ठीक उत्थान आचरण के अधीन है।) ● (१४) किसी भी आपत्ति में धैर्य रखना, विह्वल न होना। (आपत्ति में 'है क्या ? क्या होने वाला है?' ऐसी हिम्मत रखने से मन पर दुःख का भार कम रहता है, योग्य प्रतिकार की विचारणा को अवकाश रहता है, अधिक अनर्थ से बच जाता है।) ● (१५) भविष्य का पर्यालोचन करना, कार्यमात्र में केवल तत्काल का नहीं किन्तु भावी परिणाम को पूर्ण रूप से सोच लेना एवं दीर्घ परलोक-काल पर ठीक दृष्टि रखना,—'वर्तमान प्रवृत्ति से भावी काल उज्ज्वल होगा या अन्धकारमय ?' इसकी आलोचना करना। (भावी की विचारणा करने से अनर्थकारी प्रवृत्ति रुक जाती है, और संभवित अनर्थ एवं पश्चात्ताप से बच जाता है।) ● (१६) मृत्यु का ख्याल रखना। (इससे सत्कृत्य में विलम्ब न करने का एवं पापों से यथाशक्य बचने का ध्यान रहता है; क्यों कि क्या पता मृत्यु शीघ्र ही आ गई तब ? सुकृतकाल का क्षय होने पर पापों का भार ले कर चलना होगा।) ● (१७) प्रत्येक वाणी-विचार-आचरण में प्रधान रूप से परलोक पर दृष्टि रखना। जीवन इस लोकप्रधान नहीं किन्तु परलोकप्रधान जीने से पवित्रता सुलभ होती है, स्वार्थरसिकता-तृष्णा-ममत्वादि कम हो परार्थता-परमात्मसेवा इत्यादि से जीवन सफल होता है।) ● (१८) गुरुजन की सेवा उपासना करनी। (माता पितादि एवं विद्यागुरु की सेवा से कृतज्ञता का पालन एवं धर्मगुरु की सेवा से 'साधूनां दर्शनं पुण्यं ...' इत्यादि अनुसार दर्शन-वंदन पर्युपासना द्वारा पुण्य एवं सद्बोध-सच्चारित्र का लाभ मिलता है।) ● (१९) आध्यात्मिक भाव वर्द्धक, मन्त्राक्षरादिसहित इष्टदेवादि के चित्रमय योगपट्ट का बार बार दर्शन करना चाहिए। (भावपूर्ण एकाग्र दर्शन से श्रद्धाबल, एकाग्रता आदि बढ़ता है।) ● (२०) उस योगपट्ट में आलेखित किये हुए का ठीक अवधारण द्वारा चित्त में स्थापन करना चाहिए। ● (२१) वह चित्त में हूबहू धारित हुआ कि नहीं उसकी जांच करते रहना। ● (२२) योगपट्ट की धारणा करते समय विक्षेप याने चित्तस्खलन न हो इस-लिए चित्तविक्षेप के निमित्त का त्याग करना, विक्षेप का मार्ग छोड़ देना। (योगपट्ट की विक्षेप रहित धारणा चित्त में स्थिर हो जाने से निवृत्ति पाने पर एवं कभी भी चित्तसंक्लेश होने पर उस योगपट्ट का स्मरण एक महान शान्ति स्फूर्तिप्रद पुण्यवर्धक आलम्बन होता है।) ● (२३) योग की सिद्धि करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। (इससे बहिर्भाव का नाश एवं आध्यात्मिक भाव की वृद्धि होती है।, आन्तरभाव बढ़ता बढ़ता परमात्मभाव तक पहुँच सकता है।) ● (२४) परमात्मा की प्रतिमाओं का निर्माण कराना

(ल०—अपुनर्बन्धकप्रवृत्तिः सत्प्रवृत्तिः—) एवंभूतस्य या इह प्रवृत्तिः सा सर्वैव साध्वी। मार्गानुसारी ह्ययं नियमादपुनर्बन्धकादिः, तदन्यस्यैवंभूतगुणसम्पदोऽभावात्। अत आदित आरभ्यास्य प्रवृत्तिः सत्प्रवृत्तिरेव नैगमानुसारेण चित्रापि प्रस्थकप्रवृत्तिकल्पा। तदेतदधिकृत्याहुः—'कुठारादिप्रवृत्तिरपि रूपनिर्म्माणप्रवृत्तिरेव। तद्वदादिधार्म्मिकस्य धर्म्मे कात्स्न्येन तद्गामिनी, न तु तद्बाधिनीति हार्दाः।

(पं०—) 'कुठारे'त्यादि, 'कुठारादिप्रवृत्तिरपि', कुठारादौ=प्रस्थकोचितदारुच्छेदोपयोगिनि शस्त्रे, प्रवृत्तिः=घटन-दण्डसंयोग-निशातीकरणादिका, अपि, आस्तां प्रस्थकोत्किरणादिका, 'रूपनिर्म्माणप्रवृत्तिरेव'=प्रस्थकाद्याकारनिष्पत्तिव्यापार एव; उपकरणप्रवृत्तिमन्तरेण उपकर्त्तव्यप्रवृत्तेरयोगात्। 'तद्वत्'=कुठारादिप्रवृत्तिवद् रूपनिर्म्माणे, 'आदिधार्म्मिकस्य'=अपुनर्बन्धकस्य, 'धर्म्मे'=धर्म्मविषये, या प्रवृत्तिः देवताप्रणामादिका सदोषापि सा, 'कार्त्स्न्येन'=सामस्त्येन, 'तद्गामिनी'=धर्म्मगामिनी, 'न तु'=न पुनः, 'तद्बाधिनी'=धर्म्मबाधिका, 'इति'=एवं, 'हार्दाः'=ऐदम्पर्यान्तगवेषिणः; आहुरिति शेषः।

चाहिए। (जिनबिम्ब भराने से परभव में बोधिलाभ होता है।) ● (२५) त्रिभुवनगुरु भगवान के शास्त्र लिखने या लिखवाने चाहिएं। (लिखीत शास्त्र भावी दीर्घ काल तक धर्म-परंपरा चलाने में प्रबल आधार होते हैं। प्रतिमा एवं शास्त्र के निर्माण से भगवत् के परम उपकार प्रति कृतज्ञता का पालन भी होता है।) ● (२६) मंगलमय जप करना। (जप करने से त्रिकरणशुद्धि हो आत्मबल बढता है, विघ्नों का शमन होता है, इष्टसिद्धि होती है।) ● (२७-२८-२९) प्रतिदिन त्रिसंध्य चतु.शरणगमन, दुष्कृतगर्हा, और सुकृतानुमोदन करना चाहिए। चार शरण; अरिहंत, सिद्ध, साधु एवं सर्वज्ञभाषित धर्म,—इन को हृदय से अङ्गीकार करना। जन्म-जन्मान्तर के सभी दुष्कृत्यों की निन्दा-गर्हा-जुगुप्सा करनी। अरिहंत प्रभु आदि समस्त के सद्गुण व सत्कृत्यो की अनुमोदना करनी। यों तो त्रिसंध्य, किन्तु विशेष में जब जब चित्त में राग-द्वेषादि का संक्लेश हो तब तब ये तीन करने चाहिए। (इससे तथाभव्यत्वादि का परिपाक हो, पाप प्रतिघात-गुणबीजाधान होता है।) ● (३०) मन्त्र देवताओं की पूजा करनी चाहिए। (मन्त्र-देवता के अचिन्त्य प्रभाव से समाधिवर्धक अनुकूलता होती है।) ● (३१) सत् पुरुषों के सुन्दर आचरणों का बार बार श्रवण करना चाहिए। (इससे सत्कृत्यों की प्रेरणा एवं गुणानुमोदना लब्ध होती है।) ● (३२) उदारता से दिल भावित करने योग्य है। (इससे स्वभाव उदार बन जाए, तब वाणी, वर्तन, व्यवहार, उदार हो सर्वतोमुखी लाभ होता है।) ● (३३) जीवनवर्तन उत्तम पुरुषों के दृष्टान्त अनुसार करना चाहिए। (इससे स्वयं उत्तमता एवं जगत में यश मिलता है।)

इन तेत्तीस कर्तव्यों का संग्रहः—

१. आदिकर्म	९. उदार भगवत्पूजा	१८. गुरुजन-सेवा	२७. चतुः शरण
२. अकल्याणमित्र-त्याग	१०. साधु-अन्वेषण	१९. योगपट्ट-दर्शन	२८. दुष्कृतगर्हा
३. कल्याणमित्रसंग	११. सविधि धर्मश्रवण	२०. चित्ते योगपट्ट स्थापन	२९. शुभानुमोदन
४. औचित्य	१२. धर्मभावितता	२१. धारणा-परीक्षण	३०. मन्त्र-देवता पूजा
५. लोकापेक्षा	१३. सविधि धर्मप्रवृत्ति	२२. विक्षेपत्याग	३१. सत्कार्य-श्रवण
६. गुरुवर्गसन्मान	१४. धैर्य	२३. योगसिद्धियत्न	३२. औदार्यभावन
७. गुरु-पारतन्त्र्य	१५. भावी-आलोचन	२४. प्रभुमूर्ति निर्माण	३३. उत्तम दृष्टान्तानुकरण।
८. दानादि	१६. मृत्यु-विचार	२५. शास्त्रलेखन	
	१७. परलोक-दृष्टि	२६. मंगलजप	

अपुनर्बन्धक की देवादिप्रणाम-प्रवृत्ति सत्प्रवृत्ति कैसे ? :—

इन तेत्तीस गुणों से जो संपन्न है उसकी यहां जो देवादि को प्रणाम आदि प्रवृत्ति हैं वे सभी सत्प्रवृत्ति हैं;कारण यह कि दुराग्रहरहित वह शुद्ध देवादि तत्त्व की उपासनाप्रवृत्ति की ओर प्रयाण कर रहा है, आगे जा कर वह शुद्ध देवादि की उपासना प्राप्त करेगा।

ऐसा गुणसंपन्न जीव मार्गानुसारी कहलाता है; मार्गानुसारी अर्थात् सम्यग्दर्शनादि स्वरूप मोक्ष-मार्ग के प्रति अनुसरण करने वाला। वह अवश्य अपुनर्बन्धकादि की कक्षा को प्राप्त हुआ ही होता है। जो ऐसी कक्षा को प्राप्त नहीं है उसमें ऐसी गुणसंपत्ति विद्यमान हो ही नहीं सकती। अपुनर्बन्धकादि अवस्था के उपयोगी मिथ्यात्वादि-मन्दता या मिथ्यात्वादि-क्षयोपशम हुआ हो तभी उक्तगुणसंपत्ति का आकर्षण एवं प्राप्ति हो सकती है। अब यहां शुद्ध तत्त्व की अभिलाषा से हो रही देवादिपूजा वगैरह प्रवृत्ति समग्र रूप से देखी जाए तब सत्प्रवृत्ति प्रतीत होती है।

प्र०–यह कैसे ? आदिधार्मिक को तो जहां तक शुद्ध देव गुरुधर्म प्राप्त नहीं हैं वहां तक तो वह मिथ्या देवगुरुधर्म की उपासनादि करता है; तब ऐसी उपासनादि प्रवृत्ति कैसे सत्प्रवृत्ति कही जा सके ?

उ०–सत्प्रवृत्ति का कथन नैगमनय के अनुसार किया गया है। नैगमनय की दृष्टि से लोक में कई व्यवहार रूढ है और वे सत्य व्यवहार है। पर्वत पर का घास जलने पर 'देखो' पर्वत जल रहा है,' कुण्डी के छिद्र में से पानी गिलने पर 'कुण्डी गिलती है,' कपडे बनाने हेतु बुनने वाले की यन्त्र-सज्जीकरण क्रिया पर 'यह कपडा बनाता है'.... ...ऐसा एसा सच्चा प्रतिपादन होता है। ये सब नैगमनय की दृष्टि से लोक में मान्य रहते हैं, और ऐसे वाक्य प्रयोग से किसीको भ्रान्ति नहीं होती है। नैगमनय पूर्वतम कारण अथवा अतिसंबद्ध को देखता है, इसमें कार्य की आद्यभूमिका यानी दीर्घ निष्पत्तिव्यापार का प्रारम्भ देखने से वहां बहु पूर्व के कारण में भी 'कार्य हो रहा है' ऐसा ठीक ही समझ रहा है। अनुयोगद्वार आगम में नैगम-नय के तीन दृष्टान्त–वसति, प्रदेश और प्रस्थक के आते हैं। इसमें से प्रस्थक के दृष्टान्त पर यहां अपुन-र्बन्धक आत्मा को इतरदेवप्रणामादि प्रवृत्ति को सत्प्रवृत्ति कही जाती है।

जिस प्रकार 'प्रस्थक' नामक काष्ठ का एक धान्य नापने वाला नापविशेष बनाने के लिए कोई आदमी पहले तो पेड़ से काष्ठ प्राप्त करने के लिए पेड़ पर कुठाराघात करता है। वहां अगर कोई पूछे कि 'क्या कर रहा है ?' तो वह कहेगा 'मैं प्रस्थक बनाता हूं।' नैगमनयानुसार कुठाराघातकी प्रवृत्ति भी प्रस्थक निर्माण की ही प्रवृत्ति है वैसा लोग मान्य करते हैं; एवं प्रस्थक के भीतरी भाग के उत्कीरणार्थ शस्त्र कुठार सज्ज करने की प्रवृत्ति करते समय भी ' प्रस्थक बना रहा हूँ' ऐसा कहा जाता है, ठीक इसी प्रकार मार्गा-नुसारी की प्रारम्भिक प्रवृत्ति भी सत् मार्ग प्रवृत्ति पर ले चलने वाली है इसलिए प्रस्थक प्रवृत्ति से संबोधित आद्य कुठार प्रवृत्ति के समान आद्य मार्गानुसारी प्रवृत्ति को भी सत्प्रवृत्ति से संबोधित करना, यह नैगम-नयानुसार कुछ भी असंगत नहीं है। आदि से लेकर इसकी प्रवृत्ति, भिन्न भिन्न धर्म के अनुयायी की अपेक्षा विचित्र होने पर भी नैगम नयमतानुसार प्रस्थकप्रवृत्ति की तरह सत्प्रवृत्ति ही है।

अतः इसके संबन्ध में कहा गया है कि 'कुठारादिप्रवृत्तिरपि रूपनिर्माणप्रवृत्तिरेव'—इत्यादि। इसका भाव यह है कि प्रस्थक रूप नापविशेष बनाने में काष्ठ के भीतर प्रस्थक का आकार खुदने की तो बात क्या, किन्तु योग्य काष्ठ का छेदन करने के लिए उपयुक्त कुठार (कुदाली) रूप शस्त्र की-निर्माण-प्रवृत्ति, जैसे कि उसे घडना, उसमें दण्ड लगाना, उसकी धार तीक्ष्ण बनाना यह भी प्रस्थक के आकार-निर्माण की ही प्रवृत्ति है; क्यों कि साधनभूत उपकरण सज्ज करने की प्रवृत्ति किये बिना कर्त्तव्य कार्य के निर्माण की

(ल०–सत्प्रवृत्तिस्तत्त्वाविरोधिहृदयमूला–) तत्त्वाविरोधकं हृदयमस्य; ततः समन्तभद्रता; *तन्मूलत्वात् सकलचेष्टितस्य (अस्य)।*

(पं०–) कुत इदमित्थमित्याह 'तत्त्वाविरोधकं'=देवादितत्त्वा(प्र०....देवत्वा)प्रतिकूलं, यतो 'हृदयम्,' 'अस्य'=अपुनर्बन्धकस्य, न तु प्रवृत्तिरपि; अनाभोगस्यैव तत्रापराधित्वात्। 'ततः'=तत्त्वाविरोधकात् हृदयात्, 'समन्तभद्रता'=सर्वतः कल्याणता, ननु प्रवृत्तेः केवलायाः, कुशलहृदयोपकारित्वात् तस्याः, तस्य च तामन्तरेणापि क्वचित् फलहेतुत्वात्। कुत इत्याह 'तन्मूलत्वात्'=तत्त्वाविरुद्धहृदयपूर्वकत्वात्, 'सकलचेष्टितस्य, शुभाशुभरूपपुरुषार्थप्रवृत्तिरूपस्य, (अस्यापुनर्बन्धकस्य)।

प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। तब प्रस्थकाकार बनाने में कुठार-सज्जीकरण की प्रवृत्ति के समान अपुनर्बन्धक की देवताप्रणामादि धर्मसंबन्धी प्रवृत्ति सदोष होने पर भी दुराग्रहरहित होने की वजह समष्टि रूप से शुद्ध धर्म के प्रति ही प्रयाण कर रही है किन्तु धर्म-प्रतिकूल नहीं है। धर्म का बीज ऐसी देवप्रणामादि प्रवृत्ति में पड़ा है, नहीं कि हिंसादि या विषयपरिग्रहादि की प्रवृत्ति में। इसलिए नैगमनय से यह भी सत्प्रवृत्ति है;—ऐसा ऐदंपर्य का अन्त खोजने वाले कहते हैं।

तत्त्वाविरोध हृदय का उच्च महत्त्वः—

प्र० –अपुनर्बन्धक की सराग देवादि को की जाती प्रणामादि प्रवृत्ति शुद्ध धर्मगामिनी कैसे ?

उ०—यहां प्रवृत्ति का स्वरूप देखने के बजाय हृदय का परिणाम देखने योग्य है। अपुनर्बंधक का हृदय देवादि-तत्त्व के प्रति प्रतिकूल नहीं है, अविरोधी है, भले ही अशुद्ध देवादि के प्रति की गई प्रणामादि प्रवृत्ति शुद्ध देवादि-तत्त्व से प्रतिकूल दिखाई पड़ती हो, किन्तु हृदय तत्त्वविरोधी नहीं है। पूछिए तब प्रवृत्ति ऐसी क्यों ? इसीलिए कि हृदय ऐसा होने पर भी प्रवृत्ति प्रतिकूल होने में अपराध अनजानपन का है। शुद्ध तत्त्व का परिचय न होने के कारण ही प्रवृत्ति मिथ्या हो रही है, हृदय तत्त्व का विरोधी नहीं है। और समंतभद्रता याने सर्वतोमुखी कल्याणता केवल धर्मप्रवृत्ति से संपादित नहीं होती है। धर्म की प्रवृत्ति तो मलीन हृदय वाले की भी हो सकती है; इस से समंतभद्रता सिद्ध नहीं होगी; यह तो तत्त्वाविरोधी हृदय से सम्पादित होगी। अगर प्रश्न हो कि तब कुशल प्रवृत्ति का समंतभद्रता में क्या उपयोग ? उत्तर यह, कि कुशल प्रवृत्ति कुशल हृदय रखने में उपकारक है। प्रवृत्ति शुद्ध हो तब हृदय पवित्र याने तत्त्वाविरोधी रखने में सुविधा होती है। बाकी फल का आधार कुशल हृदय है। कचित् ऐसा भी हो सकता है कि बाह्य कुशल प्रवृत्ति विना भी तत्त्वाविरोधी कुशल हृदय समन्तभद्रता स्वरूप फल की उत्पत्ति में कारणभूत हो। इसका कारण यह है कि दरअसल अपुनर्बन्धक की समस्त शुभाशुभ पुरुषार्थप्रवृत्ति तत्त्वाविरोधी हृदय पूर्वक होती है यहां मिथ्या देवादि की उपासनात्मक अशुभ प्रवृत्ति के मूल में भी तत्त्वाविरोधी हृदय ही कार्य करता है, और नैगमनय से यह समंतभद्रता में कारणभूत अवश्य है।

'सुप्तमण्डित–प्रबोधदर्शन' आदि दृष्टान्तः—

जैनदर्शन से ही अलग हुए भिन्न भिन्न प्रवाद के अनुसार अर्थात् प्रवाद में कथित 'सुप्तमण्डित-प्रबोधदर्शन' आदि सब दृष्टान्त *यहां प्रस्थक के दृष्टान्त की तरह लगा सकते हैं।* 'सुप्तमण्डितप्रबोधदर्शन' का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार किसी सोये हुए पुरुष को कुंकुमादि से विभूषित कर दिया; अब उसे

(ल०–सुप्तमण्डितप्रबोधदर्शनादि–) एवमतोऽपि विनिर्गततत्तद्दर्शनानुसारतः सर्वमिह योज्यं सुप्तमण्डितप्रबोधदर्शनादि । न ह्येवं प्रवर्तमानो नेष्टसाधक इति । भग्नोऽप्येतद्यत्नलिङ्गोऽपुनर्बन्धकः, इति तं प्रत्युपदेशसाफल्यम् ।

(पं०–) 'एवं'=प्रस्थकदृष्टान्तवद्, 'अतोऽपि'=जैनदर्शनादेव, 'विनिर्गतानि'=पृथग्भूतानि, 'तानि तानि', यानि 'दर्शनानि'=प्रवादाः (प्र०....नयवादाः),तेषामनुसारतः =तत्रोक्तमित्यर्थः, 'सर्वं'=दृष्टान्तजालम्, 'इह' दर्शने, 'योज्यम्', किंविशिष्टमित्याह 'सुप्तमण्डितप्रबोधदर्शनादि',=यथा कस्यचित् सुप्तस्य सतो मण्डितस्य कुङ्कुमादिना, प्रबोधे=निद्रापगमे, अन्यथाभूतस्य सुन्दरस्य चात्मनो, दर्शनम्=अवलोकनम्, आश्चर्यकारि भवति, तथाऽपुनर्बन्धकस्यानाभोगवतो विचित्रगुणालङ्कृतस्य सम्यग्दर्शनादिलाभकाले विस्मयकारि आत्मनो दर्शनमिति । 'आदि'शब्दान्नावादिना सुप्तस्य सतः समुद्रोत्तीर्णस्य बोधेऽपि तीर्णदर्शनादि ग्राह्यमिति । दार्ष्टान्तिकसिद्ध्यर्थमाह 'न'=नैव, 'हिः'=यस्माद्, 'एवं'=प्रस्थककर्तृ(प्र०....कर्तन)न्यायेन, 'प्रवर्तमानो'-ऽपुनर्बन्धको,'न'=नैव,'इष्टसाधकः'=प्रस्थकतुल्यसम्यक्त्वादिसाधकः,अपि तु साधक एवेति । अपुनर्बन्धकस्यैव लक्षणमाह 'भग्नोऽपि'=अपुनर्बन्धकोचितसमाचारात् कथंचित् च्युतोऽपि, 'एतद्यत्नलिङ्गः'=पुनः स्वोचिताचार-प्रयत्नावसेयो, 'अपुनर्बन्धकः'=आदिधार्मिकः, 'इति' ।

निद्रा हट जाने पर अपना परिवर्तित सुन्दर रूप का दर्शन आश्चर्य कराता है, जैसे कि 'यह क्या ? मैं सोया तब तो विभूषित नहीं था, तब यह कैसे हुआ ?' इस दृष्टान्तानुसार अपुनर्बन्धक जीव को भी सम्यग्दर्शन की जागृति आने पर अपना विलक्षण गुणसंपन्न स्वरूप देख कर आश्चर्य होता है कि यह क्या ! कैसे मैं गुणहीन पुरुष इन सब अद्भुत गुणों से संपन्न हो गया !' दरअसल सम्यक्त्व काल में दिखाई पड़ते गुण सहसा ही बिलकुल नये उत्पन्न नहीं हुए हैं,किन्तु पूर्वकाल से क्रमशः प्रकट होते आये हैं । मात्र उसे अपुनर्बन्धक अवस्था में पता नहीं था कि मुझ में सम्यग्दर्शन के गुणों का पूर्व रूप तय्यार हो रहा है' । बात तो सचमुच यही थी कि उत्तर काल के गुणों का निर्माण-प्रारम्भ पूर्व काल से ही चालू हो गया था; जैसे कि सम्यग्दर्शन काल के देवाधिदेव अर्हत्प्रभु के प्रति विशिष्ट रागगुण का निर्माणप्रारम्भ अपुनर्बन्धक काल में ही विद्यमान संसारापेक्षा नि सीम देव-ममत्व नाम के गुण से हो ही गया है । अब तो ममत्व का मात्र विषय ही बदलता है ।

सुप्तमण्डितप्रबोधदर्शन आदि में 'आदि' पद से दूसरे दृष्टान्त सुप्ततीर्णदर्शनादि ले सकते हैं । जैसे कि सोये हुए आदमी को नौका में लेकर समुद्र पार करा दिया; अब वहां जागृत होने पर उसे अपना पारदर्शन आश्चर्यकारी होता है.–'मैं तो वहां था, यहां समुद्रपार कैसे आ गया !' निद्रा में समुद्रतरण की प्रवृत्ति जारी होने पर भी उसे पता नहीं था कि 'मैं समुद्र पार कर रहा हूँ;' लेकिन वस्तुस्थिति यही थी ।

ठीक इसी प्रकार अपुनर्बन्धक अवस्था में तत्त्वाविरुद्ध हृदय होने से, प्रवर्तमान देवप्रणामादि प्रवृत्ति, यह सत्य प्रवृत्ति की ही पूर्वभूमिका चालू हो गई है । प्रस्थक बनाने के दृष्टान्त से कहिए कि यह अपुनर्बन्धकादि भव्य जीव प्रस्थकतुल्य इष्ट सम्यक्त्वादि भाव को नहीं साध रहा है ऐसा नहीं, किन्तु साध ही रहा है । अपुनर्बन्धक अवस्था एक ऐसी अवस्था है कि किसी प्रकार कभी वह अपने उचित आचार से भ्रष्ट भी हुआ हो, तब भी अपुनर्बन्धक-योग्य आचार के सम्मुख प्रयत्न से जाना जाता है कि वह अपुनर्बन्धक है ।

(ल० –दर्शनान्तरेषु आदिधार्मिकाः–) 'नानिवृत्ताधिकारायां प्रकृतावेवंभूत' इति कापिलाः। 'न अनवाप्तभवविपाक' इति च सौगताः। 'अपुनर्बन्धकास्त्वेवंभूता' इति जैनाः। तच्छ्रोतव्यमेतदादरेण, परिभावनीयं सूक्ष्मबुद्धया। शुष्केक्षुचर्वणप्रायमविज्ञातार्थमध्ययनम्, रसतुल्यो ह्यत्रार्थः। स खलु प्रीणयत्यन्तरात्मानं, ततः संवेगादिसिद्धेः; अन्यथात्वदर्शनात्। तदर्थं चैष प्रयास इति न प्रारब्धप्रतिकूलमासेवनीयं। प्रकृतिसुन्दरं चिन्तामणिरत्नकल्पं संवेगकार्यं चैतद्, इति महाकल्याणविरोधि न चिन्तनीयम्। चिन्तामणिरत्नेऽपि सम्यग्ज्ञातगुण एव श्रद्धाद्यतिशय(प्र०...याशय)-भावतोऽविधिविरहेण(प्र०...ऽवधिविरहेण) महाकल्याणसिद्धि(प्र०...सिद्धे)रित्यलं प्रसङ्गेन।

(पं०–) 'एतदिति'=इदमेव प्रकृतं चैत्यवन्दनव्याख्यानम् इति, 'महे'त्यादि, महतः=सच्चैत्यवन्दनादेः, कल्याणस्य=कुशलस्य, विरोधि=बाधकम् अवज्ञाविप्लवादि, 'न'=नैव, 'चिन्तनीयम्'=अध्यवसेयं, कुत इत्याह 'चिन्तामणी'त्यादि सुगमम्।

। इति श्री मुनिचन्द्रसूरिविरचितायां ललितविस्तरापञ्जिकायां सिद्धमहावीरादिस्तवः समाप्तः।

॥ तत्समाप्तौ समाप्ता चेयं ललितविस्तरापञ्जिका ॥

कष्टो ग्रन्थो, मतिरनिपुणा, संप्रदायो न तादृक्,
शास्त्रं तन्त्रान्तरमतगतं सन्निधौ नो तथापि।
स्वस्य स्मृत्यै परहितकृते चात्मबोधानुरूपं,
मागामागःपदमहमिह व्यापृतश्चित्तशुद्ध्या ॥ १ ॥

ग्रन्थक्षरं निरूप्यास्य ग्रन्थमानं विनिश्चितम्।
अनुष्टुपे सहस्रे द्वे पञ्चाशदधिके तथा (२०५०) ॥
मङ्गलमस्तु। शुभं भवतु।

ऐसे अपुनर्बन्धकादि के प्रति उपदेश करना सफल होता है। कारण, उपदेश ग्रहण करने की इसमें योग्यता है; उपदेश पर वह श्रवण-मनन-परिणमन आदि इससे किया जाता है।

विभिन्नदर्शन-मान्य आदिधार्मिकः—

● कपिलमतानुयायी सांख्यदर्शन वाले कहते हैं कि 'सत्त्व रजस्-तमस् त्रिगुणात्मक प्रकृति का पुरुष (आत्मा) पर से अधिकार उठ गये बिना ऐसा गुणसंपन्न और उपदेशपात्र आदिधार्मिक नहीं बन सकता है।' ● बुद्धमतानुयायी बौद्धदर्शन वाले कहते हैं कि जब तक भवविपाक नहीं होता है तब तक आदिधार्मिक बना जा सकना नहीं। भवपरिपाक होने पर आदिधार्मिकता आ सकती है। ● जैनदर्शन वाले कहते हैं कि अपुनर्बन्धक जीव ही ऐसे गुणसंपन्न आदिधार्मिक की कक्षा में उपदेशपात्र होते हैं।'

इसलिए यह चैत्यवन्दन-व्याख्यान आदर से, बहुमानयुक्त सावधान प्रयत्न से सुनना चाहिए, और सूक्ष्म निपुण बुद्धि से इसके पदार्थों पर मनन करना चाहिए। केवल सूत्र पढ लेना पर्याप्त नहीं है; क्यों कि

(ल०—ग्रन्थकारान्तिमाभिलाषः—)

आचार्यहरिभद्रेण दृब्धा सन्न्यायसंगता । चैत्यवन्दनसूत्रस्य वृत्तिर्ललितविस्तरा ॥१॥
य एनां भावयत्युच्चैर्मध्यस्थेनान्तरात्मना । स वन्दनां सुबीजं वा नियमादधिगच्छति ॥२॥
पराभिप्रायमज्ञात्वा तत्कृतस्य न वस्तुनः । गुणदोषौ सता वाच्यौ प्रश्न एव तु युज्यते ॥३॥
प्रष्टव्योऽन्यः परीक्षार्थमात्मनो वा परस्य वा । ज्ञानस्य वाभिवृद्ध्यर्थं त्यागार्थं संशयस्य वा ॥४॥
कृत्वा यदर्जितं पुण्यं *मयैनां शुभभावतः । तेनास्तु सर्व्वसत्त्वानां मात्सर्यविरहः परः ॥५॥

(*प्र०...मयैनां श्रुतभावतः)इति ललितविस्तरानाम चैत्यवन्दन(प्र०..वन्दना)वृत्तिः समाप्ता। कृतिर्द्धर्म्मतो याकिनीमहत्तरासूनोराचार्यहरिभद्रस्येति ।

(ग्रन्थाग्रं १५४५, पञ्जिकाग्रन्थः २१५५, उभयोर्मीलने ३७०० श्लोकमानम्)

अर्थबोध रहित अध्ययन मात्र तो सूखी ईख के चर्वणतुल्य है; इससे रसास्वाद नहीं मिल सकता। अध्ययन किये हुए सूत्र का अर्थ रसतुल्य है; वही ठीक ज्ञात हुआ अन्तरात्मा को प्रसन्न करता है; क्यों कि अर्थबोध से संवेग याने शुद्ध धर्म की प्रीति उत्पन्न होती है; अन्यथा बिना सम्यग् अर्थबोध संवेग हुआ दिखाई पड़ता नहीं है।

यह चैत्यवन्दन-व्याख्यान का प्रयास सम्यग् अर्थबोध कराने के लिए किया गया है;इसलिए प्रारब्ध के प्रतिकूल इस की अवज्ञा अवमूल्यांकन आदि करने योग्य नहीं। चैत्यवन्दन सूत्रों में गर्भित भावों का विशिष्ट विवेचन सहज सुन्दर है, संवेग को उत्पन्न करता है, और प्राप्त संवेग की अभिवृद्धि करता है;अतः यह चिन्तामणिरत्न समान है।

प्रस्तुत चैत्यवन्दनव्याख्यान से जब चैत्यवन्दन का महान प्रभाव एवं वैशिष्ट्य ज्ञात होता है, तब यह ध्यान रखने योग्य है कि ऐसे महाकल्याण स्वरूप सम्यक् चैत्यवन्दन की अवज्ञा, उपहास, तिरस्कारादि मन में भी न लाया जाय। ऐसे ही उसका अर्थ-व्याख्यान भी लेशमात्र उपेक्षणीय-अवगणनीय नहीं है; क्यों कि जैसे चिन्तामणिरत्न के भी गुण सम्यग् रूप से अवगत हो तभी उस पर अत्यन्त श्रद्धा हो अविधिरहित उपासना के द्वारा महाफलसिद्धि होती है, उसी प्रकार चैत्यवन्दन का सम्यग् अर्थबोध होने पर ही उस पर अतिशयित श्रद्धा हो उसके अनुष्ठान द्वारा महाकल्याण की सिद्धि होती है। इतनी चर्चा पर्याप्त है।

ग्रन्थकार की अन्तिम अभिलाषाः—

अब यहां ललितविस्तराकार महर्षि आचार्य भगवान श्री हरीभद्रसूरीश्वरजी महाराज ग्रन्थ-समाप्ति में कहते हैं कि.—

(१) रचयिताः—चैत्यवन्दनसूत्र की ललितविस्तरा नाम की समीचीन युक्ति-दृष्टान्तों से गर्भित विवेचना की रचना आचार्य हरिभद्र के द्वारा की गई।

(२) विवेचनाप्रभावः—जो (पुरुष) इस विवेचना का मध्यस्थ अन्तःकरण से चिंतन करता है, सो अवश्य वन्दन को या मोक्षमार्ग के बीज को प्राप्त करता है।

(३) अविचारित गुण दोष कथन निषेधः—"अन्य का आशय सोचे बिना, उससे निर्मित वस्तु में

गुण दोष का उद्भावन सज्जन न करे। (इस ललितविस्तरा के संबन्ध में भी यही ध्यान रखें।) हां, प्रश्न उठाना अयोग्य नहीं।

(४) प्रश्न के हेतुः— 'दूसरे के प्रति प्रश्न इन चार कारण से कर सकते हैं,-१. अपने बोध की परीक्षा के लिए, २. सामने वाले के बोध की परीक्षा हेतु; ३. अपने ज्ञान की वृद्धि के निमित्त; अथवा ४. अपना संशय दूर करने के लिए।

(५) ग्रन्थकरण पर अभिलाषाः— "यह विवेचना बना कर शुभ भाव से मैंने जो पुण्य कमाया, इससे सर्व जीवों का मात्सर्य सम्पूर्ण नष्ट हो जाय।

इस प्रकार चैत्यवन्दन सूत्र की ललितविस्तरा नामक विवेचना समाप्त हुई। यह कृति याकिनी महत्तरा के धर्मपुत्र आचार्य हरिभद्र की है।"

श्री ललितविस्तरा महाशास्त्र की पंजिकाविवेचना के रचयिता महर्षि आचार्यदेव श्री मुनिचन्द्रसूरीश्वरजी महाराज पंजिका की समाप्ति में लिखते हैं कि—

"इस प्रकार श्री मुनिचन्द्रसूरि से रचित ललितविस्तरा पंजिका में सिद्ध-महावीरादिस्तव ('सिद्धाणं बुद्धाणं' सूत्र) हुआ। इस की पंजिका समाप्त होने पर यह ललितविस्तरा पंजिका ग्रन्थ भी समाप्त हुआ।

"ललितविस्तरा ग्रन्थ कठिन है, (उसे समझने की कोशिश करती हुई मेरी) बुद्धि निपुण नहीं है, अर्थात सूक्ष्म भाव-ग्राहक नहीं है। और मुझे उस प्रकार के सूक्ष्मार्थ-बोध की गुरु परंपरा भी मिली नहीं है; (तथा जिन दर्शनान्तरो के मत का निराकरण इस ललितविस्तार में किया गया है उन) अन्य दर्शनों के मत सम्बन्धी शास्त्र भी मेरे पास नहीं हैं; फिर भी अपने स्मरण की सुविधा एवं परहित-संपादन के लिए अपने बोध के अनुसार इस पंजिका निर्माण में चित्त की निर्मलता के साथ प्रवृत्त हुआ हूँ। अत: मैं अपराधपात्र न हो (ऐसी अभिलाषा रखता हूँ; क्यों कि स्वस्मृति एवं परहित के उद्देश्य वश निर्मल अन्त:करण से किया गया प्रयत्न उपालम्भ-योग्य नहीं है।)

प०पू० सिद्धान्तमहोदधि गुरुदेव आचार्यदेव **श्रीमद् विजयप्रेमसूरीश्वरजी**
महाराज के सुप्रसाद से पंन्यास **भानुविजय** गणी के द्वारा
श्री ललितविस्तरा महाशास्त्र की पंजिका-
नुसार रची हुई संक्षिप्त हिन्दी–
विवेचना समाप्त।

॥ श्री ललितविस्तरा महाशास्त्र समाप्त ॥

